श्रीब्रह्मसूत्रगोविन्दभाष्यम्

हिन्दीभाषानुवादसहितम्

—श्रीबलदेवविद्याभूषणमहोदयविरचितम्

❀ श्रीश्रीगौरांगमहाप्रभुर्जयति ❀

श्रीमाध्वगौड़ेश्वरग्रन्थमाला–२८

श्रीब्रह्मसूत्रगोविन्दभाष्यम्

हिन्दीभाषानुवादसहितम्

श्रीबलदेवविद्याभूषणमहोदयविरचितम्

अर्थसहायक :—

[१] चतु:सम्प्रदाय के अन्तर्गत माध्वगौड़ेश्वरसम्प्रदाय [खालसा] के श्रीमहन्त तथा मालसर स्थान सत्यनारायणजी मन्दिर के श्रीमहन्त माननीय श्रीश्री रासबिहारीदासजी महाराज।

[२] सन्तसेवी, बम्बई पंचमुखीहनुमानजी स्थान के श्रीमहन्त, उदारहृदय, श्रीनरसिंहदास जी महाराज।

प्रथ[illegible]त्ति–१०००
[illegible] समय–
[illegible]तीया
[illegible]२०११

अनुवादक तथा प्रकाशकः–
कृष्णदास,
कुसुमसरोवरवाले।

मूल्य 10)00

मुद्रकः- रमनलाल बंसल, पुष्पराज प्रेस, मथुरा।

श्रीश्रीगुरुपरम्परा

(१) श्रीश्रीकृष्णचैतन्यमहाप्रभु जी
(२) श्रीलोकनाथगोस्वामी जी
(३) श्रीनरोत्तमठाकुरमहाशयजी
(४) श्रीगंगानारायणचक्रवर्त्ती जी
(५) श्रीहरिगोविन्दठाकुर जी
(६) श्रीनन्दलालठाकुर जी
(७) श्रीवृन्दाबनचन्द्रठाकुर जी
(८) श्रीयुगलकिशोरठाकुर जी
(९) श्रीरासविहारीठाकुर जी
(१०) श्रीमहामायाठाकुराणी जी
(११) श्रीबनमालाठाकुराणी जी
(१२) श्रीवैद्यनाथठाकुरजी
(१३) श्रीगोविन्ददासजी महाराज
(१४) श्रीभक्तिचरणदासजी महाराज
(१५) श्रीमाधवदासजी (परमहंसजी)

(१) श्रीगोपालदासजी माध्वगौड़ेश्वर चारसम्प्रदाय(खालसा) के श्रीमहन्त (मालसर)

(२) श्रीकेशवदासजी महाराज
श्रीरासविहारीदासजी माध्वगौडेश्वर चारसम्प्रदाय (खालसा) के वर्त्तमान श्रीमहन्त (स्वस्थान–मालसर)

(१) श्रीश्रीकृष्णचैतन्यमहाप्रभुजी
(२) गोस्वामिवक्रेश्वरपण्डित जी
(३) गोस्वामिगोपालगुरु जी
(४) गोस्वामिध्यानचन्द्र जी
(५) गोस्वामि बलभद्र जी
(६) श्रीरघुनाथदासजी महाराज
(७) श्रीनित्यानन्ददासजी महाराज
(८) श्रीकृष्णदासजी गुदड़बाबा (बम्बई)
(९) श्रीजमुनादासजी महाराज
(१०) श्रीगंगादासजी महाराज
(११) श्रीसीतारामजी महाराज

(१) श्रीविहारीदासजी महाराज चारसम्प्रदाय स्थान (नासिक)
विद्यमान महन्तदीनबन्धुदासजी

(२) महन्त श्रीनर[सिंह]दासजी पञ्चमु[खी] हनुमानजी (बम्बई)
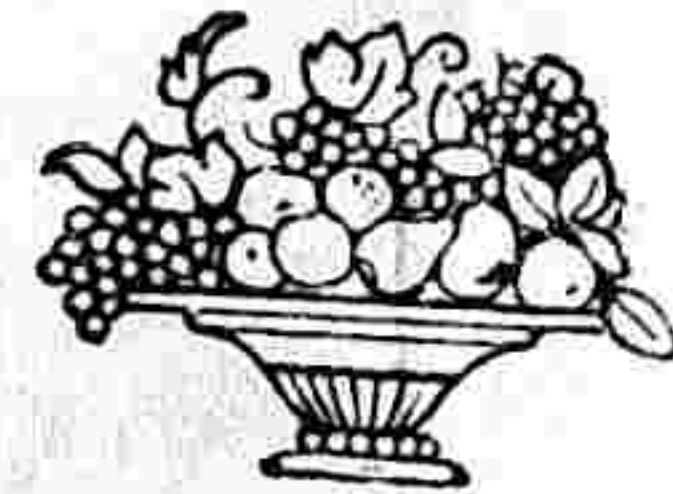
यह पुस्तक तथा प्रकाशित अन्य पुस्तकें मिलने का पता—

१–श्रीरामनिवास खेतान की दूकान सवामनशालग्रामजी मन्दिर के नीचे (लोई बाजार) वृन्दावन। अनुपस्थिति में–इस मन्दिर के भीतर।
२–मोतीराम गुप्ता, भगवानभजनाश्रम, बल्लीगंज, वृन्दावन।
३–राधेश्यामगुप्ता, बुकसेलर, पुराना शहर, वृन्दावन।
४–मुरारीलाल बुकसेलर असकुंडाघाट, मथुरा

कृतज्ञताप्रकाश

भज–निताइ गौर राधेश्याम। जप–हरेकृष्ण हरेराम॥

(१) भाष्यकार के द्वारा विरचित "सूक्ष्माटीका" के साथ तथा श्रीश्यामलालगोस्वामि सिद्धान्तवाचस्पति महोदय के द्वारा विरचित गोविन्दभाष्य-विवृति नामक बंगानुवाद के साथ बंगाक्षर में इस ग्रन्थ के पूर्वप्रकाशक व सम्पादक श्रीकृष्णगोपालभक्तमहाशय।

(२) इस भाष्य के गोविन्दभाष्य विवृतिनामक बंगानुवादकारी, नित्यधाम निवासी उक्त श्रीश्यामलालगोस्वामिसिद्धान्त वाचस्पतिमहोदय। आप ने अथक परिश्रम के द्वारा इस भाष्य का अनुवाद कर वैष्णवजगत् का महान् उपकार किया। इन्हीं के ही वचनामृतरूप अनुवाद की सहायता से हम इस भाष्य का हिन्दी अनुवाद करने में समर्थ हुए।

(३) इस ग्रन्थ के प्रकाशन कार्य्य में अर्थसहायक–चतुःसम्प्रदाय(खालसा) के अन्तर्गत माध्वगौड़ेश्वरसम्प्रदाय के श्रीमहन्त तथा मालसर स्थान के श्री महन्त उदारचरित रासविहारीदासजी महाराज। आपने अपनी त्यागमयी-वृत्ति से गुजरातप्रान्त में महाप्रभु गौरांगदेव के प्रेम का नवीन पाठ पढ़ा कर हजारों को गौरभक्त बनाया। जो वर्त्तमान साधुसमाज के मनोनीत नेता हैं जिन का जीवन आदर्शमय तथा अनुकरणीय है।

(४) अर्थसहायक–बम्बई पंचमुखीहनुमानजी स्थान के श्रीमहन्त नरसिंहदासजी महाराज। आप की वैष्णवसेवा आदरणीया है।

(५) परमहंसजी महाराज के शिष्य, वालासिनोरस्टेट के अन्तर्गत 'कोठरी' ग्राम के निवासी, सम्प्रति बम्बई में रहने वाले, मालसर स्थान के ट्रष्ट, प्रेम-प्रतीक श्रीमान् विष्णुप्रसाद दलपतरामत्रिवेदी [विष्णुभैया] आप की हार्दिक सौहार्दता तथा चेष्टा से हम इस भाष्यरत्न के प्रकाशन में समर्थ हुए।

(६) पं० श्रीनारायणदेव कौशिकजी गौघाट, मथुरा। आप ने अनुवाद संशोधन कार्य्य में सहायता देकर चिरबाधित किया।

परमाराध्य, नित्यधामप्राप्त, "श्रीरामदासजी" इस नाम से प्रसिद्ध, गुरुदेव, बाबाजिमहाराज के स्मरणार्थ यह ग्रन्थ समर्पित है। –कृष्णदास

श्रीश्रीगौरांगविधुर्जयति

★ अवतरणिका ★

इस अनादि संसार में अनादि काल से दुःख का परिहार तथा सुख प्राप्तिरूप प्रवृत्ति सब के हृदय में देखने में आती है। अर्थात् सब कोई यह चाहता है कि सुख की प्राप्ति हो तथा दुःख का नाश हो। इसलिये ही ऋषि मुनियों ने अपनी बुद्धि वैचित्री के अनुसार लोकों के उपकारार्थ अनेकानेक शास्त्रों की रचना कर निज निज मत का प्रचार किया है। हमारे देश में दर्शनशास्त्र का बहुल प्रचार है। यथार्थ तत्त्वनिर्णायक शास्त्र दर्शन शास्त्र नाम से कहा जाता है। अध्यात्मतत्त्ववेत्ता आर्य्य-मनीषिगण ने समाधिवल से अथवा बहुदर्शितादि बल से जिन तत्त्वों का प्रकाश किया है वे सब तत्त्व सञ्चित होकर दर्शन नाम से अभिहित है। जगत् का कारण तथा मुक्ति के उपाय निरूपण के लिये साधारणतः समस्त दर्शन आलोच्य विषय है। सांख्य, पातञ्जल, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, तथा वेदान्त ये षड्दशन प्रसिद्ध हैं। और भी चार्व्वाक, बौद्ध, आर्हत, नकुलीशपाशुपत, शैव, पूर्णप्रज्ञ, रामानुज, रसेश्वर, पाणिनि तथा प्रत्यभिज्ञादि दर्शनशास्त्र प्रचलित हैं। माधवाचार्य्य प्रणीत "सर्वदर्शनसंग्रह" में इन सब का संक्षेप विचार किया गया है।

(१) चार्व्वाकदर्शन—यह नास्तिक दर्शन है, इस के रचयिता चार्व्वाक हैं। इन के मत में देह ही आत्मा है। कामिनीसम्भोग, भोगविलास, उत्तम वसन-परिधानादि के द्वारा सुख ही परम पुरुषार्थ है। प्रत्यक्ष एक मात्र प्रमाण है। भूमि, जल, अग्नि तथा पवन इन भूतचतुष्टय के संघात से शरीर चेतन प्राप्त होकर आत्मा नाम से प्रसिद्ध लाभ करता है। इन के मत में वेद पौरुषेय तथा किसी प्रतारक व्यक्ति के द्वारा लोकप्रतारणार्थ रचित हैं।

(२) बौद्धदर्शन—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक भेद से यह चार प्रकार है। ये चार बुद्ध के शिष्य हुए। वे सब अपनी २ बुद्धि प्रतिभा से इन मतों की सृष्टि की। इन धर्म्मों का उपदेष्टा बुद्धदेव हैं। माध्यमिक के मत में कुछ नहीं, समस्त शून्य है। स्वप्नदृष्ट वस्तु जिस प्रकार जाग्रत् अवस्था में नहीं ठहरती है, उसी प्रकार जाग्रत् काल में दृश्यमानवस्तु की सत्ता स्वप्नावस्था में तथा स्वप्नावस्था की सत्ता सुषुप्ति में उपलब्धि नहीं है। योगाचार के मत में वाह्यवस्तु मात्र ही अलीक है। एकमात्र क्षणिकविज्ञान रूप आत्मा सत्य है। प्रवृत्तिविज्ञान तथा आलयविज्ञान भेद से विज्ञान दो प्रकार है। जाग्रत् तथा स्वप्नावस्था में जो ज्ञान है वह प्रवृद्धिविज्ञान और सुषुप्तिकाल में जो ज्ञान वह आलयविज्ञान है। सौत्रान्तिक के मत में वाह्यवस्तु सत्य तथा अनुमान सिद्ध है। वैभाषिकमत में—वाह्यवस्तु समूह प्रत्यक्ष सिद्ध है। बौद्ध के मत में "सुगत" देवता है, जगत् क्षणभंगुर है। इनके मत में प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण रूप माना जाता है। बौद्धभिक्षुगण के चर्म्मासन कमण्डल, मुण्डन, चीर, पूर्व्वान्हभोजन, संघ तथा रक्ताम्बरादि धर्म्माङ्ग है।

(३) आर्हतदर्शन—(जैन) इन के मत में आत्मा चिरस्थायी तथा जीव का परिमाण देहसदृश है। सर्व्वज्ञ, रागद्वेषादि शून्य, आर्हत ही परमेश्वर है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र ये तीन "रत्नत्रय" हैं। जिन देवके द्वारा कहे हुए तत्त्वों में विपरीत ज्ञान तथा संशयादि निवारणरूप सम्यक् श्रद्धा सम्यक् दर्शन है। तत्त्वों का संक्षेप अथवा विस्तारित भाव से जो ज्ञान उस को सम्यकज्ञान तथा निन्दित कर्म्मों का त्याग सम्यक्चारित्र कहा जाता है। अहिंसा, अस्तेय, सूनृत, ब्रह्मचर्य्य तथा अपरिग्रह भेद से चारित्र पाँच प्रकार है। स्थावर जंगमात्मक प्राणिमात्र का अविनाश अहिंसा, दत्तातिरिक्त वस्तु का अग्रहण अस्तेय, हितकर-प्रिय-[illegible]वचन सूनृत, काम-क्रोधादिकों का परिहार ब्रह्मचर्य्य तथा सर्व प्रकार से मोहत्याग अपरिग्रह है। ये पाँच [illegible]त हैं। रत्नत्रय की साधना से परमपद लाभ होता है। इन के अनेक मतभेद हैं। एक के मत में जीव [illegible]जीव दो तत्त्व हैं। जीव वोधात्मक तथा अजीव अवोधात्मक है। दूसरे के मत में—जीव, आकाश, धर्म,

अधर्म तथा पुद्गल ये पाँच तत्त्व हैं। ये सब अस्तिकाय-शब्दवाच्य हैं। तीसरे के मत में-जीव, अजीव,आस्रव, वन्ध, संवर, निर्जर तथा मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। अन्य के मत में पुण्ययुक्त जीव तथा पापयुक्त अजीव इन दोनों तत्त्व का समावेश कर नौ तत्त्व माने जाते हैं। ये सब सप्तभंगीनय की अवतारणा करते हैं। श्वेताम्वर तथा दिगम्बर भेद से जैन दो प्रकार है।

(४) नाकुलीशपाशुपत दर्शन—वैष्णवमत के दासत्वादि परतन्त्रता को दुःखरूप समझ कर उस से ईप्सित-लाभ नहीं होता है, ऐसा मान कर यह सम्प्रदाय दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति तथा परम ऐश्वर्य्य प्राप्ति ही मुक्ति ऐसा स्वीकार करते हैं। इन के मत में प्रधान धर्म्म साधन चर्य्याविधि है। वह व्रत और द्वार भेद से दो प्रकार है। तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है। कार्य्यसमूह नित्य तथा परमेश्वर स्वतन्त्र कर्त्ता हैं। दृक्शक्ति तथा क्रियाशक्तिरूप पारमैश्वर्य्य मुक्ति में क्रमशः सूक्ष्म, व्यवहित अथवा दूरस्थवस्तु, उन के दोष गुणादि प्रत्यक्ष होते हैं। इन के मत में इच्छामात्र से समस्त कार्य्य सुसम्पन्न होता है तथा परमेश्वर का कर्मादि निरपेक्ष कर्त्तृत्व स्वीकार किया जाता है।

(५) शैवदर्शन—इन के मत में ईश्वर कर्म्मानुसार फल के दाता, जीव की तरह प्राकृत शरीर से रहित हैं। पञ्चमन्त्रात्मक शक्ति ही उन का शरीर है। ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव तथा सद्योजात ये पाँच मन्त्र उन का क्रम से मस्तक, वदन, हृदय, गुह्य तथा पाद स्वरूप हैं। जगत्कर्त्ता के अस्तित्व अनुमानगम्य है। पति, पशु तथा पाश भेद से पदार्थ तीन प्रकार है। पतिपदार्थ शिव हैं। शिवत्व पदप्राप्त व्यक्ति पशुपदार्थ है। वह जीवात्मा, देहादिभिन्न, सर्व्वव्यापक, नित्य, अपरिच्छिन्न, दुर्ज्ञेय, कर्त्तास्वरूप हैं। पशुपदार्थ विज्ञानाकल, प्रलयाकल तथा सकल भेद से तीन प्रकार है। मलपाश से युक्त जीव विज्ञानाकल, मल तथा कर्म्मरूप दोनों पाश से युक्त प्रलयाकल, मल-कर्म्म तथा माया तीनों पाश से युक्त सकल हैं। पाश चार प्रकार है। मल, कर्म माया तथा रोध है। दृक्शक्ति तथा क्रियाशक्ति के आच्छादक स्वाभाविक अशुचि रूप मल, धर्म अधर्म रूप कर्म्म है। जिस से सृष्टि वा प्रलयादि होते हैं वह माया, पुरुष तिरोधायक शक्ति रोध है। समाप्तकलुष तथा असमाप्तकलुष भेद से विज्ञानाकल जीव दो प्रकार है। प्रलयाकल जीव भी पक्वपाशद्वय तथा अपक्वपाशद्वय भेद से दो प्रकार है। प्रथम की मुक्तिपद प्राप्ति होती है। दूसरा पुर्य्यष्टक देहधारी, कर्म्मानुसार तिर्य्यग् मनुष्यादि देह का धारण करता है। सकल जीव भी दो प्रकार है। पक्वकलुष तथा अपक्वकलुष। पहिला तो महादेव के द्वारा महेश्वरत्व, दूसरा संसारकूप की प्राप्ति करता है।

(६) प्रत्यभिज्ञादर्शन—इन के मत में महेश्वर ही जगदीश्वर जगत्कारण हैं। वे स्वइच्छा से स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् का निर्म्माण कर उन उन रूप से अवस्थान करते हैं। इसलिये जगत् ईश्वरात्मक है। परमेश्वर आनन्दस्वरूप, ज्ञाता तथा ज्ञानरूप हैं। अतएव घट पदादि विषयक ज्ञान भी ईश्वर स्वरूप है। परमात्मा के साथ जीवात्मा का अभेद ज्ञान प्रत्यभिज्ञा है उस से मुक्ति होती है। परमात्मा स्वतः प्रकाशी है। गुरुवाक्य श्रवणादि के द्वारा जीवात्मा का "सर्वज्ञत्वादि ईश्वर धर्म्म मुझ में है" इस प्रकार ज्ञानोदय होने पर पूर्णभाव का आविर्भाव होता है।

(७) रसेश्वरदर्शन—इन के मत में जीवात्मा तथा परमात्मा अभेद है। महादेव जी परमेश्वर माने जाते हैं। देहस्थैर्य्य सम्पादक एकमात्र पारद रस के साहाय्य से योगाभ्यास के बल से मुक्ति साधन निष्पन्न होता है। पारदरस महादेव जी का स्वरूप (वीजात्मक) तथा अभ्रक पार्व्वतीस्वरूप (रजः) है। समस्त रसों से श्रेष्ठ होने के कारण पारद को रसेश्वर कहा जाता है। इसी से चतुर्वर्ग लाभ होता है। इस का ही गुणगण वर्णन होने के कारण यह शास्त्र रसेश्वरदर्शन से प्रसिद्ध है।

(८) पाणिनिदर्शन—पाणिनिकृत व्याकरण शास्त्र मूलग्रन्थ है। इस के अध्ययन से संस्कृतभाषा में व्युत्पत्ति होती है तथा शास्त्रों में अधिकार होता है। अतएव यह शास्त्र मुक्ति का द्वार स्वरूप है। इन के मत में

नित्य-अनित्य भेद से शब्द दो प्रकार है। वर्णात्मक शब्द अनित्य तथा एकमात्र स्फोट नित्य है। स्फोट न होने पर वर्णात्मक शब्द समष्टि के द्वारा वाक्यार्थ ग्रहण नहीं होता है। वर्णसमूह उच्चारित होकर द्वितीयक्षण में ध्वंस हो जाते हैं। अतएव स्फोटवाद का स्वीकार परम आवश्यक होता है। यह स्फोट सच्चिदानन्द ब्रह्म वस्तु है।

(१) सांख्यदर्शन—इस के रचयिता महर्षि कपिल जी हैं। इन के मत में-मूल प्रकृति, महत्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्र, ग्यारह इन्द्रियाँ, पञ्चमहाभूत तथा पुरुष ये पच्चीसतत्त्व हैं। प्रकृति के परिणाम से जगत की उत्पत्ति है। मूलप्रकृति सत्त्व-रज-स्तमो गुणात्मिका, सक्रिय, नित्य, अचेतन, परिणामी है। पुरुष नित्य, त्रिगुणातीत, चेतन, साक्षी तथा शरीर भेद से नाना प्रकार हैं। प्रकृति का विपरिणाम से महत्तत्त्वादि क्रम से पञ्चमहाभूत पर्य्यन्त की सृष्टि होती है। अंध-पंगु न्याय से अर्थात् जिस प्रकार अन्धे के कन्धे पर पंगु बैठ कर चलन कार्य्यक्षम होता है, परन्तु यह कार्य्य सम्पादन दोनों का परस्पर साहाय्य से है, ठीक उसी प्रकार प्रकृति पुरुष का सापेक्ष्य तथा पुरुष प्रकृति के सापेक्ष्य से कार्य्यक्षम होता है। इन के मत में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द ये तीन प्रमाण हैं। समस्त कार्य्य सत् अर्थात् उत्पत्ति के पहले निज निज कारण में सूक्ष्मभाव से नियुक्त रहते हैं। उन का आविर्भाव तथा तिरोभाव, उत्पत्ति तथा नाश शब्दवाच्य होता है। त्रिविध दुःख की अत्यन्त निवृत्ति परम पुरुषार्थ अथवा मोक्ष है। प्रकृति-पुरुष के विवेक से वह मोक्ष होता है।

(२) पातञ्जलदर्शन—यह भगवान् पतञ्जलि के द्वारा विरचित, योगदर्शन नाम से विख्यात है। पदार्थ निर्णयांश में सांख्यदर्शन के साथ एक मत होने के कारण इस को सांख्यप्रवचन भी कहा जाता है। पञ्चविंशति तत्त्व से उपरान्त पुरुष से अतिरिक्त परमेश्वर का अस्तित्व स्वीकृत होने के कारण यह स्वेश्वर सांख्यरूप भी माना जाता है। इस दर्शन में चार अध्याय हैं। इन में योग, समाधि, योगोपाय,ईश्वरस्वरूप,प्रमाण,उपासना, दुःख तथा उस के निराकरण का उपाय, तत्त्वज्ञान, यम-नियमादि अष्टांग, सिद्धिपञ्चक ये सब दिखलाये गये हैं। परमेश्वर क्लेशादि से रहित हैं। वे स्वेच्छा से जगत् निर्म्माण के लिये शरीरधारण कर संसार के प्रवर्त्तक और अन्तर्य्यामी होते हैं तथा अनुग्राहक योग के द्वारा उन को जाना जाता है। क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, निरुद्ध तथा एकाग्र भेद से चित्त की पाँच अवस्था हैं। चित्त की अवस्था विशेष चित्तवृत्ति है। वह भी प्रमाण, विपर्य्यय (मिथ्याज्ञान), बिकल्प, निद्रा तथा स्मृति भेद से पाँच प्रकार है। चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग कहा जाता है। इन के मत में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम ये तीन प्रमाण हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा तथा समाधि ये आठ योग के अङ्ग हैं। अणिमादि अष्टसिद्धियाँ हैं। प्रकृति-पुरुष का संयोग संसार का कारण होता है, वह अविद्या से उत्पन्न है तथा विवेक ख्याति से अविद्या का नाश होता है।

(३) वैशेषिकदर्शन—इस के रचयिता महर्षि कणाद हैं। इस मत में विशेष करके एक स्वतन्त्र पदार्थ को स्वीकार किया गया है, इसलिये इस को वैशेषिक दर्शन कहा जाता है। वह विशेष पदार्थ नित्य है। आकाश-परमाणु आदिक नित्य द्रव्यों में एक एक विशेष पदार्थ है। नहीं तो परमाणु समूह की परस्पर विभिन्नता कभी निश्चित नहीं होती। अत्यन्त दुःखनिवृत्ति का नाम मुक्ति है। आत्मसाक्षात्कार तत्त्वज्ञान के बिना वह मुक्ति नहीं होती है। श्रवण,मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा तत्त्वज्ञान होता है। इन के मत में प्रत्यक्ष, अनुमान प्रमाण है। पदार्थ दो प्रकार हैं। भाव तथा अभाव। द्रव्य, गुण, कर्म, जाति, विशेष, समवाय ये छै भाव पदार्थ है। यह सप्तपदार्थवादी है।

(४) न्यायदर्शन—महर्षि गौतम इस के रचयिता है। इस का अपर नाम तर्कशास्त्र है। इस को अक्षपाद दर्शन भी कहा जाता है। समस्त शास्त्रों में इस की उपयोगिता है इसलिये इस को द्वाररूप कहा जाता है। इस में पाँच अध्याय तथा प्रत्येक अध्याय में दो आन्हिक मौजूद हैं। इन के मत में प्रमाण,प्रमेयादि क्रम से सोलह पदार्थ हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द ये चार प्रमाण हैं। न्याय षोडश पदार्थवादी है। उन सोलह पदार्थों के

तत्त्वज्ञान से आत्मतत्त्वज्ञान होता है। उस से वस्तु का स्वरूप उपलब्ध तथा आत्मा का शरीरादि से पृथकत्व प्रतीयमान होता है। शरीरादि में आत्मत्व बुद्धिरूप मिथ्याज्ञान का अभाव से तथा राग-द्वेषादि उत्थित धर्म्म-अधर्म्मादि प्रवृत्ति का अभाव से जन्म-मृत्यु ध्वंसरूप मुक्ति होती है। न्याय वैशेषिक दोनों शास्त्र परमाणुवादी हैं।

(५) मीमांसादर्शन--इसके रचयिता महर्षि जैमिनि जी हैं। इस में द्वादश अध्याय है तथा वह सहस्र अधिकरण में विभक्त है। प्रत्येक अधिकरण में पाँच अङ्ग हैं। विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष तथा निर्णय। प्रत्येक अधिकरण में एक एक विरोध का समाधान किया गया है। इन के मत में वेद अपौरुषेय तथा स्वतः प्रमाणित है। देवतागण शरीरी अथवा सचेतन नहीं होते हैं। मन्त्र ही उन का स्वरूप है। वे सब मन्त्रमय हैं। मन्त्र के अतिरिक्त उन का कोई सत्त्व नहीं है। वेद का तात्पर्य्य निर्णय, श्रुति समूह की अस्पष्टता तथा विरोध-भञ्जन, श्रुति-स्मृति की विप्रतिपत्ति समाधान इस शास्त्र का विशेषत्व है। इस में कर्म्म को प्राधान्य दिया गया है।

(६) वेदान्तदर्शन--समस्त दर्शनशास्त्र का शिरोमणि स्वरूप. भगवदवतार महर्षि कृष्णद्वैपायनवेदव्यास के द्वारा ब्रह्मनिर्णयार्थ सूत्ररूप से विरचित है। इस में समस्त शास्त्रों की मीमांसा की गई, इसलिये इस का नाम उत्तर-मीमांसा भी है। इसमें सूत्रों का संक्षेप से निबद्ध देख कर करुणामय वेदव्यास जी ने स्वयं ही "श्रीमद्भागवत महापुराण" नामक इस के अपौरुषेय भाष्य की रचना की ऐसा गरुड़पुराण तथा अन्यत्र भी उल्लेख है— "अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः। गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थ-परिबृंहितः ॥ श्रीपादजीवगोस्वामिचरन ने तत्त्वसन्दर्भ की टीका में कहा—"ब्रह्मसूत्राणामर्थः तेषामकृत्रिमभाष्यभूत इत्यर्थः। यह भागवतरूप भाष्यग्रन्थ श्रीवेदव्यास जी की समाधिलब्ध वस्तु है। महाभारत, इतिहास, अष्टादशपुराण,ब्रह्मसूत्र आदिक रचना के उपरान्त अतृप्त हृदय होकर परम भागवत देवर्षि श्रीनारद जी के उपदेशानुसार उन्होंने समाधियोग में उस भाष्यग्रन्थ का लाभ कर सर्व साधारण के ज्ञात के लिये जगत् में प्रचार कर संतृप्ति लाभ की, ऐसा उस भाष्यग्रन्थ में कथन है। कालक्रम से अनेकानेक पण्डित आचार्य्यगण धराधाम में जन्मग्रहण कर निज निज सम्प्रदाय के अनुरोध से निज निज बुद्धि विवेचना के अनुसार उन सूत्रों की भाष्य रचना कर गये। प्रचलित भाष्यों में से श्रीरामानुज, श्रीमाध्व, श्रीविष्णुस्वामी तथा श्रीनिम्बादित्य इन चार वैष्णवसम्प्रदाय में चार भाष्य तथा श्रीशंकराचार्य्य के द्वारा एक भाष्य सुप्रसिद्ध है। ब्रह्मसूत्र का श्रीमद्भागवतरूप अकृत्रिमभाष्य रहते हुए तादृश भाष्यान्तर का प्रयोजन न देख कर भगवान् श्रीकृष्णचैतन्यमहाप्रभु ने कोई भाष्य का प्रणयन के लिये किसी को प्रेरणा नहीं दी। उन्होंने श्रीमन्माध्वमुनि के द्वारा रचित भाष्य को ही अपेक्षाकृत श्रीभागवत का अनुमोदित देख उसे अपने सम्प्रदाय का भाष्य करके एक प्रकार स्वीकार किया। फलतः श्रीरूप-सनातन-श्रीजीवादि गोस्वामिगण नूतन भाष्य रचना में प्रवृत्त नहीं हुए। माध्वभाष्य के जिन जिन अंश में आपाततः श्रीमद्भागवत का विरोध प्रतीयमान होता है, उन उन स्थलों में महाप्रभु ने सरल अर्थ आविष्कार कर सामञ्जस्य कर दिया। वे सब सिद्धान्त ग्रंथाकार में नहीं थे। परन्तु श्रीवलदेवविद्याभूषण की उन सब सिद्धान्तों को लेकर स्वतन्त्र भाष्यरूप से प्रकाश करने की इच्छा थी। जयपुर में विचार के उपरान्त जब पण्डित समाज ने उनसे उस प्रकार सिद्धान्त पोषक भाष्य देखने को माँगा, तब वे पण्डित समाज को अवकास देकर, कुछ चिन्तित होकर शयन कर रहे थे, स्वप्नयोग में श्रीगोविन्द जी ने दर्शन देकर भाष्यरचना करने की आज्ञा दी। वे दीनता के कारण अपने को इस विषय में अयोग्य मान कर जब उदासीन भाव दिखाने लगे, तब श्रीगोविन्द जी ने पुनर्व्वार दर्शन देकर आदेश किया "बलदेव! मेरी आज्ञा है। तुम केवल निमित्तमात्र हो। मैं ही मेरा भाष्य को स्वयं लिखूँगा। इसलिये इस भाष्य का नाम गोविन्दभाष्य होगा और इस की रचना के कारण तुम विद्याभूषण नाम से प्रसिद्ध होगे"। इस भाष्य के परिशिष्ट में ग्रन्थकार ने कहा—

विद्यारूपं भूषणं मे प्रदाय ख्यातिं निन्ये तेन यो मामुदारः।
श्रीगोविन्दः स्वप्ननिर्दिष्टभाष्यो राधाबन्धुर्बन्धुरांगः स जीयात् ॥

श्रीवलदेवविद्याभूषण जी श्रीमाध्वगौड़ेश्वर सम्प्रदाय में उस समय अद्वितीय पण्डित थे। दर्शनशात्र में विशेषतः भक्तिशास्त्र में उन की असाधारण व्युत्पत्ति थी। उन की विद्वत्ता का परिचय इस भाष्य से ज्ञात होता है। यह भाष्य माध्वभाष्य तथा अन्यान्यभाष्य से प्राञ्जल है और श्रीमद्भागवत का संक्षेप रूप है। इस में श्रीमन्महाप्रभु के पार्षद गोस्वामिओं के मत के अनुमोदित किया गया है फलतः श्रीमहाप्रभु का मतानुमोदित यह भाष्य सुसिद्ध है। इस में तर्क, युक्ति, सिद्धान्त समूह का अद्भुतभाव से सन्निवेश किया गया है। इस का मूलसिद्धान्त "अचिन्त्यभेदाभेद" है।

गोविन्दभाष्य के रचयिता श्रीवलदेवविद्याभूषण जी का जन्म अष्टादशशताब्दी के शेष भाग में उड़ीसा देश में बालेश्वर के अन्तवर्त्ति रेमुणा के निकट किस ग्राम पर सम्भ्रान्त वंश में हुआ था। आप बाल्यकाल से ही विद्या उपार्ज्जन में नियुक्त होकर व्याकरण अलङ्कार आदिक पढ़ लिया पश्चात् न्यायशास्त्र में विशेष परिश्रम उठा कर पारङ्गत हो गये। अनेक दिवस वेद-वेदान्त का अध्ययन कर बड़े दार्शनिक पण्डित हुए। वेदान्तविसारद बलदेव जी ने अल्पकाल में ही दाक्षिणात्य–आर्य्यावर्त्त आदिक देशों में पण्डितों को विद्याप्रतिभा से पराजित कर दिग्विजयी उपाधि ले ली। पण्डित श्रीराधादामोदरदास जी से षट्सन्दर्भादि भक्ति ग्रन्थ का अध्ययन कर वैष्णव-गोस्वामि शास्त्रों में भी प्रचुर व्युत्पत्तिवान हो गये। श्रीराधादामोदरदास जी ही उन के विद्यागुरु थे। वे श्यामानन्द परिवार में पञ्चम अधस्तन शिष्य थे। श्रीबलदेव जी पुरुषोत्तम क्षेत्र से नवद्वीप दर्शन करते हुए श्रीधाम-वृन्दावन में पहुँचे, वहाँ देवालय श्यामसुन्दर जी में उन का अवस्थान रहा। तात्कालीन गौड़ीय वैष्णव समाज के परम अध्यक्ष रहे। श्रीविश्वनाथचक्रवर्त्ति जी उस समय वृद्ध रहे तथा राधाकुण्ड में वास करते थे। उस समय जयपुर में एक महान् विवाद खड़ा हो गया। जयपुर के राजा गौड़ीयसम्प्रदाय के अनुगत थे। वहाँ नारायण के पहले श्रीगोविन्द की पूजा होती थी। अन्य सम्प्रदाय के कुछ सन्त-महन्त जयपुर के महाराज को परामर्श देकर श्रीकृष्णपूजा के पहले नारायणपूजा की व्यवस्था देने लगे। दूसरा विवाद यह था कि जयपुर के मन्दिर में बंगाली गौड़ीय सेवकगणों को असम्प्रदायी कह कर कुछ पंडित सन्त-महन्तों ने सेवाच्युत किया। वह सम्वाद चक्रवर्त्ती के कानोंमें पड़ा। ब्रजके गौड़ीय वैष्णवों में भारी आन्दोलन होने लगा। तीसरा विवाद यह था कि कुछ अवैष्णव पण्डितों ने महाराज को परामर्श देकर श्रीराधिका विग्रह को गोविन्द जी से पृथक् करवाया। सदाचारी राजा किन्तु राधाविग्रह को पृथक् मन्दिर में रखवाय कर सेवा कराने लगे। पण्डितों की युक्ति से राजा की धारणा ऐसी हो गई थी कि गोविन्द के वाम भाग में श्रीजी की पूजा अवैदिक है। अस्तु यह संवाद ब्रज में पहुँचा। चक्रवर्त्ती जी ने सुना, वे परिहास करते हुए कहने लगे। गोविन्द जी की ऐसी इच्छा है, श्रीजी ने उन से मान किया है। वृन्दावन के वैष्णवगण गोविन्द जी के मन्दिर में गौड़ियों की मर्य्यादा रखने के लिये व्याकुल हो गये। उन्होंने चक्रवर्त्ती जी को अनुरोध किया। चक्रवर्त्ती जी अति वृद्ध होने के कारण ब्रज छोड़ कर बाहिर जाने का अस्वीकार करने लगे। आप ने बलदेव जी को शक्ति देकर जयपुर के लिये भेजा। संग में श्रीचक्रवर्त्ती जी के शिष्य पण्डित कृष्णदेवसार्व्वभौम सहाय के लिये रहे। बलदेव जी के हाथ में कमण्डलु, गले में गूदड़ी, कमर में कौपीन-बहिर्वास मात्र था। जयपुर में पहुँच कर उन ने राजा से मिलने के लिये संवाद दिया। उन का अकिञ्चन वेश देख कर राजा ने तो पहले उन का पाण्डित्य का अविश्वास किया। बलदेव जी का अन्यान्य वैष्णवों के साक्षात् भी हुआ। महती सभा हुई। बड़े बड़े राजा–महाराज मध्यस्थ रहे। बलदेव ने अवशेष में पण्डित मण्डली को विचार के द्वारा परास्त किया। श्रीजी की मूर्त्ति पुनर्वार श्रीगोविन्द के बायें में विराजमान की गई। गौड़ीय वैष्णवगण स्वच्छन्दता के साथ गोविन्द जी की सेवा करने लगे। पंडितों ने कहा–आप किस भाष्य के

आधार से विचार करते हैं। उस भाष्य को दिखाइये। बलदेव जी ने भाष्य दिखाने का अवसर माँगा। वे चिन्तित होकर गोविन्द जी के आगे शयन करने लगे। निद्रायोग में श्रीगोविन्द जी दो बार आकर भाष्य-रचना में उन्हें प्रवर्त्तित कर अन्तर्द्धित हुए। वहाँ ही आप ने गोविन्दभाष्य की रचना की।

विद्याभूषण के द्वारा विरचित ग्रन्थावली—(१) गोविन्दभाष्य, (प्रस्तुत ग्रन्थ) (२) सिद्धान्तरत्न व भाष्य-पीठक, (३) वेदान्तस्यमन्तक, (४) प्रमेयरत्नावली, (५) सिद्धान्तदर्पण, (६) साहित्यकौमुदी, (७) छन्दः-कौस्तुभ, (८) काव्यकौस्तुभ, (९) ऐश्वर्य्यकादम्बिनी।

टीका वा भाष्य ग्रन्थ—(१) षट्सन्दर्भ की टीका, (२) लघुभागवतामृत की टीका, (३) श्यामानन्द-शतक की टीका, (४) नाटकचन्द्रिका की टीका, (५) समग्रभागवत की टीका, (६) गोपालतापनी की टीका, (७) स्तवमाला की टीका, (८) गीता-भाष्य।

(१) गोविन्दभाष्य—इस में ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म्म ये पाञ्च तत्व स्वीकृत किये गये हैं। (क) ईश्वर-स्वतन्त्र, सर्वकर्त्ता, सर्व्वज्ञ, मुक्तिदाता, विज्ञानस्वरूप, विभुचैतन्य, नित्यज्ञानादिगुण विशिष्ट अस्मदर्थ-वाच्य हैं। वे स्वरूपशक्तिमान हैं तथा प्रकृति आदिक में अनुप्रवेश और नियमनादि के द्वारा जगत् रचना करते हैं। जीव का भोग और मुक्ति का विधानकर्त्ता हैं। ईश्वर एक और वहुभाव में अभिन्न होने पर भी गुण-गुणी तथा देह-देही भाव से ज्ञानि का प्रतीति गोचर होते हैं।

वे अव्यक्त होने पर भी भक्तिग्राह्य हैं और एकरस होने पर भी चिदानन्द स्वरूप का प्रदान करते हैं। ब्रह्म एकमात्र ज्ञान गम्य, अक्षय-अनन्त सुख स्वरूप, नित्यज्ञानादि गुणविशिष्ट है। ब्रह्म की शक्ति स्वाभाविक है। शक्ति तीन हैं सम्वित्, सन्धिनी तथा ल्हादिनी। ब्रह्म निर्गुण होने पर भी शंकराचार्य्य के मत की भाँति गुण-हीन नहीं है। परन्तु प्राकृत सत्त्व-रजः-तम त्रय रहित, स्वरूपानुबन्धि अप्राकृत गुणगण विशिष्ट है।

(ख) जीव-यह अणुचैतन्य है ईश्वर के द्वारा नियम्य है। ईश्वर की तरह यह भी नित्यज्ञानादि गुण विशिष्ट अस्मदर्थवाच्य है। जीवात्मा नाना अवस्था सम्पन्न बहुत है। ईश्वर वैमुख्य से जीव का बन्धन होता है। तद्-स्वरूपावरण और तद्गुणावरण रूप दो प्रकार बन्धन मोचन पूर्वक ईश्वर साम्मुख्य ही स्वरूप साक्षात्कार है। जीव ईश्वर की शक्ति है। भोगविषय में मुक्तजीव का ब्रह्म के साथ समानता रहने पर भी स्वरूप तथा सामर्थ्य में नित्य पृथकता है।

(ग) सत्त्व-रजः और तमोगुण की समाना अवस्था प्रकृति है। वह तमो-मायादि शब्दों के द्वारा कही जाती है तथा ईश के ईक्षण से उद्बुद्ध होकर विचित्र जगत् उत्पादन करने में सामर्थ्यवती होती है। प्रकृति नित्य, ईश्वर की आश्रिता तथा वश्या है। वह ब्रह्म की शक्ति है। सांख्य की तरह स्वतन्त्रता नहीं है।

(घ) काल-भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान, युगपत्, चिर, क्षिप्र प्रभृति शब्दों के द्वारा व्यवहार का कारण, क्षणादि परार्द्धान्त, चक्र की भाँति परिवर्त्तनशील, प्रलय-सर्गादि निमित्तरूप, जड़ द्रव्यविशेष है।

(ङ) जड़, अदृष्टादि शब्दों के द्वारा व्यपदेश्य, अनादि तथा विनश्वर, अनित्य अर्थात् विनाशशील ईश्वर की शक्ति कर्म्म है।

(१) सब के हेतु, विभुचैतन्य-आनन्दादि गुणविशिष्ट नित्यलक्ष्म्यादिशाली, श्रीकृष्ण परतम वस्तु ईश्वर हैं, (२) वे निखिल निगम वेद्य हैं, (३) जीव सत्य, (४) ब्रह्म और विश्व में भेद सत्य, (५) जीव अणु-चैतन्य, सत्य, नित्य तथा श्रीकृष्ण के दास, (६) जीव का साधन, (७) श्रीकृष्णचरण प्राप्ति ही मोक्ष, (८) पराभक्ति ही साधन, (९) प्रत्यक्ष-अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण, इस प्रकार नौ प्रमेय स्वीकार किया गया है।

ये नव प्रमेय श्रीमध्वाचार्य्य के द्वारा स्वीकृत किये गये हैं। श्रीमाधवेन्द्रपुरीपाद के शिष्य श्रीमाधवदास जी के शिष्य श्रीहरिरामव्यास जी ने भी मध्व का नव प्रमेय का उत्तोलन (उद्धृत) करते हुए "नवरत्न" नामक ग्रन्थ की

रचना की। जो कि हाल में प्रकाशित हुआ है। श्रीबलदेव ने भी उन्हीं नौ प्रमेय का आधार लेकर प्रमेयरत्नावली निर्म्माण किया है। श्रीमध्वमत की प्रतिध्वनि ही प्रमेयरत्नावली है। बलदेव के मत में ब्रह्म ही जगत का निमित्त-कारण तथा उपादान कारण है। वह अविचिन्त्यशक्ति बल से जगद्रूप से परिणत होने पर भी स्वरूपतः अविकृत रहता है। मुक्तावस्था में जीव ब्रह्म से पृथक् रहता है तथा ब्रह्म समान आनन्द लाभ करता है। वह अणुरूप होने के कारण अनन्त-आनन्दशाली नहीं हो सकता है। भोगविषय मात्र में जीव का ब्रह्म के साथ साम्य है परन्तु स्वरूपगत तथा सामर्थ्यगत पार्थक्य सर्वदा अवश्य रहता है। वह मुक्ति भगवान के अनुग्रह से मिलती है। इन के मत में भक्ति ही मुख्य साधन है। वह भक्ति सर्वनिरपेक्ष, एक मात्र पुरुषार्थप्रापिका तथा ल्हादिनी और सम्वित् शक्ति साररूपा है। रुचिपूर्वा तथा विधिपूर्व्वा रूप से भक्ति दो प्रकार की है। गुरुकृपा के साथ भगवत् उपासना से मोक्ष की सम्भावना होने पर भी महत् उपासना अवश्य कर्त्तव्य है। पहले साधुसंग और सेवा, उन से निज स्वरूपज्ञान, परमेश्वर स्वरूपज्ञान तथा दोनों का सम्बन्धज्ञान, उस के पश्चात् ब्रह्म भिन्न वस्तु में वैतृष्ण्य पूर्व्वक भगवद्भक्ति, उस के द्वारा प्रेष्ठरूप से अर्थात् शान्त-दास्स-सख्य-वात्सल्य तथा मधुर भावोचित किसी एक प्रियतारूप से वरण, उस से भगवत् साक्षात्कार होता है।

इस ग्रन्थ में अनुबन्ध चतुष्टय का निर्णय किया गया है। (१) अधिकारी, (२) सम्बन्ध, (३) विषय, (४) प्रयोजन, ये अनुबन्ध चतुष्टय हैं। (क) निष्कामी, निर्म्मलचित्त, सत्प्रसंगलुब्ध, श्रद्धालु, शमदमादिवान् अधि-कारी है। शिक्षादि षडंग के साथ समग्रवेद का अध्ययन कर आपाततः सब का अर्थ जान कर तत्ववित् आचार्य्य प्रसंग से अनित्य जगत् से भिन्न नित्यब्रह्म की अवगति के लिये ब्रह्मसूत्र में प्रवर्त्तमान होवें। शंकर के मत में नित्यानित्य वस्तु विवेकादि साधन चतुष्टय सम्पन्न व्यक्ति ब्रह्मजिज्ञासा के अधिकारी है। बलदेव के मत में यह असंगत है। क्यों कि तत्वज्ञ सत्व्यक्ति प्रसंग के पहले यह साधनसम्पत्ति दुर्लभ रहती है। सत्प्रसंग के द्वारा प्राप्त विद्य व्यक्ति फिर तीन प्रकार का है। निष्ठा के साथ कर्म्मआचरणकारी "सनिष्ठ", लोकसंग्रह की इच्छा रखता हुआ कर्म्म करने वाला "परिनिष्ठित," केवल ध्यानावलम्बी निरपेक्ष" है। इन के मत में सत्प्रसंगकारी का प्रधानता है। (ख) शास्त्र स्वयं वाचक और ब्रह्म इस का वाच्य-यह सम्बन्ध है। शंकरमत में "वाच्य-वाचक भाव" यद्यपि अंगीकृत है तो भी उन के मत में वह अन्य प्रकार है। शंकराचार्य्य ने ब्रह्म का दो प्रकार स्वीकार कर सगुण सो-पाधिक ब्रह्म को वाच्य तथा निर्गुण निरुपाधि ब्रह्म को ज्ञेय अथवा लक्ष्य करके कहा है। बलदेवजी के मत में ब्रह्म शब्द का अवाच्य नहीं है। "औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इस श्रुतिप्रमाण बल से जिज्ञास्य ब्रह्म का उपनिषद्वे-द्यत्व सुस्थिर है। "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" इस श्रुति का समाधान "देवदत्त काशी से निवृत्त हुआ अर्थात् काशी गमन पूर्वक पश्चात् निवृत्त हुआ" इस प्रयोग की तरह होता है। वाक्य समूह जिस को नहीं प्राप्त होकर निवृत्त होता है, इस का समाधान-किञ्चित् ज्ञात होकर अर्थात् सर्वांश से नहीं जान कर निवृत्त होता है।

(ग) विषय—निरवद्य, विशुद्ध अनन्त गुणगण सम्पन्न, अचिन्त्य, अनन्त शक्तिशाली, सच्चिदानन्द, पुरु-षोत्तम श्रीकृष्ण शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है।

(घ) अशेष दोष विनाश पूर्वक श्रीकृष्णसाक्षात्कार प्रयोजन है। इन के मत में—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीनों प्रमाण हैं। अपौरुषेय श्रुति सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है। उस का कभी व्यभिचार नहीं है। प्रत्यक्ष तथा अनुमान कहीं २ व्यभिचार को प्राप्त हो जाता है।

(२) सिद्धान्तरत्न अथवा भाष्यपीठक—यह ग्रन्थ श्रीगोविन्दभाष्य का परिपोषक रूप प्रकरण ग्रन्थ है। जयपुर में गलता पर विभिन्न सम्प्रदाय के साथ बलदेव का जो विचार हुआ था, उस का निदर्शन स्वरूप इसे जानना। इस में आठअध्याय (पाद) हैं। प्रथमपाद में जीव का परम पुरुषार्थ, द्वितीयपाद में भगवान् का ऐश्वर्य्य, तृतीय में विष्णु का परतमत्व, चतुर्थ में उन का सर्ववेद-वेद्यत्व, पञ्चम तथा षष्ठ में केवल अद्वैतवाद का निरासन,

सप्तम में केवल अनुभूतिमत का खण्डन, अष्टम में परम पुरुषार्थ का सिद्धान्तपक्ष स्थापन है। इस ग्रन्थ का नाम भाष्यपीठक होने का कारण स्वयं ग्रन्थकार ने उपसंहार में कहा है। ब्रह्मसूत्र में हरि-पारतम्यादि नवप्रमेय विशिष्ट कृष्णात्मक जो गोविन्दभाष्य विराजमान है, उस के उपवेशन के लिये यह सिद्धान्तरत्न नामक सुवर्णपीठ स्वरूप है। तात्पर्य्य यह है यह गोविन्दभाष्य की भित्ति रूप है। इस को जानने पर गोविन्दभाष्य का अर्थ सहजगम्य हो जाता है। इस में अध्यायों का नाम क्रम से पाञ्चजन्य, कौमोदकी, सुदर्शन, तार्क्ष, वामन, त्रिविक्रम, नन्दक और पद्मक है। वह ग्रन्थ सानुवाद वंगाक्षर में तथा काशी चौखम्बा, पुस्तकसीरीज से श्रीदामोदरलालगोस्वामी महोदय के द्वारा देवाक्षर में प्रकाशित हो गया है।

(३) वेदान्तस्यमन्तक—यह ग्रन्थ आकार में छोटा होने पर भी निजगुण गरिमा से व्यापकरूप है। इस से गोविन्दभाष्य में सहज व्युत्पत्ति हो जाती है। गोविन्दभाष्य का रहस्य जिज्ञासा करने वालों के लिये यह ग्रन्थ परम उपादेय है। इस में छै किरण अर्थात् अध्याय हैं। प्रथम किरण में प्रत्यक्ष-अनुमान-शाब्द-अर्थापत्ति-अनुपलब्धि-सम्भव और ऐतिह्य इन आठों प्रमाण का उल्लेख कर उन में से प्रत्यक्ष-अनुमान तथा शब्द प्रमाणों को स्वीकार किया गया और अन्य सब का निराकरण कर प्रत्यक्ष-अनुमान का भी व्यभिचारत्व बतलाया गया है। इस में शब्द प्रमाण ही मुख्यरूप से माना गया है। द्वितीय में-ईश्वर-जीव-प्रकृति-काल-कर्म्म ये पाँच प्रकार प्रमेय का निरूपण है। तृतीय में-जीव अणुचैतन्य, नित्यज्ञानविशिष्ट, (अस्मदर्थ) देहादिविलक्षण, षड्भाव विकार रहित, भगवद्दास, श्रीगुरुचरण आश्रय से हरिभक्ति के द्वारा कृतार्थत्व, ईश्वर तथा जीव का भेद नित्यसिद्ध इत्यादि विषयक विचार है। चतुर्थ में-प्रकृति तत्त्व का विचार है। पञ्चम में कालतत्व का तथा षष्ठ में कर्म्म का निरूपण है। कर्म्म अनादिसिद्ध है। शुभ-अशुभ रूप से उस का दो भेद है। काम्य-नित्य-नैमित्तिक भेद से फिर वह तीन प्रकार है। ज्ञान का उदय में सञ्चित-प्रारब्ध दोनों का विनाश और विश्लेष होता है। वह ज्ञान, परोक्ष-अपरोक्ष रूप से दो प्रकार है। शास्त्रज्ञान परोक्ष तथा भक्ति अपरोक्ष है। यह ग्रन्थ श्रीश्यामलालगोस्वामि-महोदय के द्वारा वंगाक्षर में सानुवाद तथा वृन्दावन से सानुवाद देवाक्षर में प्रकाशित हो गया है।

(४) प्रमेयरत्नावली—यह एक प्रकरण ग्रन्थ है। इस में श्रीमध्वाचार्य्य जी को गौड़ीयवैष्णव सम्प्रदाय का मूलाचार्य्य रूप से संस्थापना पूर्वक उन के नौ प्रमेय का स्वीकार तथा विचार किया गया है। प्रथम प्रमेय में-श्रीकृष्ण ही पारतम्य, सर्वहेतु, विभुचैतन्य, सर्व्वज्ञ, प्रभु, सुहृत, ज्ञानद, मोक्षद माधुर्य्यपूर्ण तथा पराशक्तिलक्ष्मी जी से सेवित हैं इस विषय का विचार है। द्वितीय में उन का अखिलशास्त्रवेद्यत्व का विनिर्णय किया गया है। तृतीय में विश्व सत्य है,किन्तु वह नश्वर रूप है,असत्य उक्ति वैराग्य उत्पादन के लिये है इत्यादि विषय का सुन्दर विचार है। सृष्टिके पहले जो असदुक्ति है वह रात्रि में वन में लीन पक्षी की तरह जानना चाहिये। चतुर्थ में ईश्वर जीव का भेद काल्पनिक नहीं है तात्त्विक है, इस का निर्णय है। परिच्छेदवाद तथा प्रतिविम्ववाद का निराकरण भी किया गया है। पञ्चम में जीव भगवान् का नित्यदास है, ब्रह्मादि देवतागण भगवान की आराधना करते हैं इत्यादि विषय का विचार है। षष्ठ में जीव का तारतम्य बतलाया गया है। सप्तम में श्रीकृष्णचरणप्राप्ति ही मोक्ष है तथा भगवान् की उपासना से नित्यसुख है, अष्टम में निष्काम भक्ति का याजन, श्रवण-कीर्त्तनादि नवधा भक्ति की आवश्यकता, तापादि पञ्च संस्कार, वैधी-रागानुगा भक्ति परम श्रेयरूपा इत्यादि बातों का विचार है। नवम में प्रत्यक्ष-अनुमान-शब्द तीन प्रकार प्रमाण ग्राह्य, प्रत्यक्ष-अनुमान का कहीं कहीं व्यभिचार दीख जाने के कारण "शब्द प्रमाण के सर्व श्रेष्ठत्व" इस का विचार है। इस प्रमेय रत्नावली की कृष्णदेवसार्वभौम-वेदान्तवागीश कृत कान्तिमाला नामक टीका है। यह ग्रन्थ मूल-टीका-वंगानुवाद के साथ वंगाक्षर में गोकुलचंद्र-गोस्वामी के द्वारा, गौड़ीय मिशन के द्वारा और हिन्दी अनुवाद-टीका के साथ देवाक्षर में श्रीगौरकृष्णगोस्वामी, श्री वृन्दावन के द्वारा, अक्षयकुमारशास्त्री साहित्यपरिषद् कलिकत्ता के द्वारा, शरच्चन्द्रवसु, इलाहाबाद के द्वारा

अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशित हुआ है।

(५) सिद्धान्तदर्पण—यह भी एक प्रकरण ग्रन्थ है। इस में सात प्रभा (अध्याय) हैं। प्रथमप्रभा में वेद का अपौरुषेयत्व प्रतिपादन के द्वारा सांख्य-बौद्धादिकों का मत निरासन किया गया है। द्वितीयप्रभा में-श्रीवेदव्यास के द्वारा प्रकटित इतिहास-पुराणादि की भी अपौरुषेयता की स्थापना की गई है। तृतीय से सप्तम प्रभा में श्री-भागवत् के विरोधी अन्यान्य पुराण तथा तार्किकों की कुयुक्ति का निराकरण पूर्वक श्रीमद्भागवत को सर्व-प्रमाणचूडामणि रूप से स्थापित किया गया है। इस के टीकाकार श्रीनन्दमिश्र हैं। यह ग्रन्थ गौड़ीयमिशन से अनुवाद के साथ वंगाक्षर में तथा श्रीहरिदासदास, नवद्वीपवासी के द्वारा टीका-वंग अनुवाद के साथ नागराक्षर में प्रकाशित हुआ है।

(६) साहित्यकौमुदी—यह ग्रन्थ अलङ्कार शास्त्र विशेष है। इस में ग्यारह परिच्छेद हैं। प्रथमपरिच्छेद में काव्यप्रयोजन, उस का स्वरूप, उत्तमादि काव्यभेद का विचार है। द्वितीय में शब्दार्थभेद, वाचकादि का स्वरूप विभेद, तृतीय में-अर्थव्यञ्जकतादि, चतुर्थ में-ध्वनिभेद-रसस्वरूप-रसविशेष-स्थायिभाव-व्यभिचारीभाव-रसाभासादि-लक्ष्य व्यङ्ग्य का क्रमविभाग, पञ्चम में-गुणीभूतव्यङ्ग्य भेद, षष्ठ में शब्दार्थ-चित्रकाव्य,सप्तम में दोषनिरूपण, अष्टम में गुणविचार, नवम में शब्दालङ्कार, दशम में अर्थालङ्कार, एकादश में भरतमुनि के द्वारा अनुक्त कुछ शब्दार्थालङ्कार का निर्णय है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की कारिकाओं का व्याख्यास्वरूप यह ग्रन्थ है। इस में उदाहरण समूह गोस्वामिग्रन्थों की श्लोकावली से उद्धृत है। श्रीराधाकृष्ण के दिव्यरस का इस में निर्णय किया गया है। यह पहले बम्बई में काव्यमाला से सटीक मुद्रित हुई है। इस की टीका का नाम कृष्णनन्दिनी है।

(७) छन्दःकौस्तुभ—यह ग्रन्थ छन्दः शास्त्र विषयक है तथा बलदेव जी के दीक्षागुरु श्रीराधादामोदर प्रभु के द्वारा विरचित है। इस के भाष्यकार बलदेव जी हैं। छन्दोमञ्जरी के आधार पर यह ग्रन्थ लिखा गया है। सप्तमप्रभा में रोलादि पन्द्रह छन्दों का, अष्टम में वर्णप्रस्तारादि, नवम में मात्राप्रस्तारादि अतिरिक्त है। इस में नौ प्रभा हैं। प्रथम में संज्ञानिबद्ध, द्वितीय में समवृत्तभेद, तृतीय में अर्द्धसमवृत्तभेद, चतुर्थ में विषमवृत्तभेद, पञ्चम में वक्त्र निरूपण, षष्ठ में मात्रावृत्त पर आर्य्या तथा वैतालीय निरूपण, सप्तम में पज्झटिका से लेकर रोलादि पन्द्रह छन्दः, अष्टम में-वर्णप्रस्तार, नवम में मात्राप्रस्तार का समावेश है। बलदेव ने इस के भाष्य में अनुकूल, इन्दिरा, कज्जगीत, कलितभृङ्ग, कान्तिडम्बर, कुसुमाली, कोरक, गुच्छक, द्विपदी, भृङ्गार, मुखदेव, मुग्धसौरभ, संपुल्लक, हारिहरिण आदिक छन्दों का लक्षण दिया है। श्रीयुक्त हरिदासदास महोदय के द्वारा भाष्य के साथ देवाक्षर में प्रकाशित हुआ है।

(८) काव्यकौस्तुभ—यह भी अलंकार ग्रन्थ है। इस में नौ प्रभा हैं। स्वाधीनभाव से यथायथ इस में विचार किया गया है। विषादन, प्रमाण आदिक कतिपय नवीन अलंकार का इसमें सन्निवेश है। इसके उदाहरण समूह प्राय कर के पूर्वाचार्य्य गोस्वामियों के ग्रन्थ समूह से उद्धृत है। जयपुर-गलतामठ से इस ग्रन्थ की प्राचीन लिपी मुझे मिली थी। श्रीयुक्त हरिदासदास महोदय के द्वारा यह ग्रन्थ देवाक्षर में वृत्ति के साथ प्रकाशित हुआ है। आप ने इस की प्राप्ति करने के लिये बहुत परिश्रम उठाया था।

(९) ऐश्वर्य्यकादम्बिनी—इस में सात वृष्टि (अध्याय) हैं तथा १३७ श्लोक से परिरक्षित हैं-(१) त्रिपाद्-विभूति, (२) पादविभूतिगतपुरुषादि, (३) वसुदेव-नन्दादि के वंशादि, (४) श्रीनन्दराजधानी, (५) श्रीकृष्ण का जन्मोत्सव, (६) श्रीकृष्ण की क्रम से बाल्यादिलीला, (७) द्वारका से पुनर्वार व्रजागमन का वर्णन है। यह चक्रवर्त्ती महोदय के द्वारा विरचित ऐश्वर्य्यकादम्बिनी से पृथक् ग्रन्थ है। श्रीयुक्त-हरिदासदासमहोदय के द्वारा वंगाक्षर में प्रकाशित है।

समस्त भागवत की टीका में से दशमस्कन्ध की टीका मणीन्द्र बहादुर के द्वारा अन्य टीकाओं के साथ वंगाक्षर में छप चुकी है। प्रथमस्कन्ध की टीका हाल में श्रीयुक्त हरिदासदास जी के द्वारा छपी है। वे अन्य स्कन्धों की टीका के अनुसन्धान में हैं। "गीताभाष्य" गौड़ीयमिशन से वंगाक्षर में मुद्रित हुआ है। ईशावास्यादि द्वादश उपनिषदों की टीका इन के द्वारा लिखी गई है। परन्तु अभी तक उन का अनुसन्धान नहीं मिला है। ईशावास्य के भाष्य-टीका एवं श्रीगोविन्दभाष्य पाणिनी ऑफिस इलाहाबाद में अँग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशित हुआ है।

वेदान्तसिद्धान्त में श्रीशंकराचार्य्य तथा अद्वैतवाद।

श्रीआचार्य्य शंकर ने निज अद्वैतवाद की दृढ़ता के लिये शारीरिकभाष्य की रचना की। इन के मत में एक मात्र ब्रह्म ही सत्य और सब मिथ्या हैं। जीव ही ब्रह्म है तथा जगत मिथ्या है। सर्प में रज्जु की भाँति जो पहले सत्य रूप से प्रतीयमान हो कर पश्चात् वाधित हो जाता है उसे मिथ्या कहते हैं। उन के मत में ब्रह्म निर्विशेष अर्थात सजातीय-विजातीय-स्वगत भेद से रहित है। ब्रह्म में गुण विशेष को आरोपित करने पर वह ससीम हो उठता है अतएव ब्रह्म असीम-निर्गुण है। व्यावहारिक में मायिक उपाधि विशिष्ट ब्रह्म ईश्वर है। वह सगुण, जगत् की सृष्टि-पालन तथा ध्वंसके कर्त्ता है। पारमार्थिक दृष्टि में ब्रह्म मायागन्धहीन,स्रष्टादिगुणरहित,निर्गुण, निर्विशेष, निरञ्जन,निष्क्रिय है। सृष्ट जगत् की भांति ईश्वर भी मिथ्या मायामात्र है। ब्रह्म का स्वरूप लक्षण सत् चित् तथा आनन्दस्वरूप और जगत्कर्तृत्वादि तटस्थ लक्षण है। शंकराचार्य्य के मतमें जीव तथा जगत् विवर्त्त हैं परिणाम नहीं हैं। रज्जु में सर्प की भांति ब्रह्म में जीव तथा जगत् का भ्रम रूप विवर्त्त होता है। यह मिथ्या मायामय है। सत्-असत् से रहित, अनिवर्चनीय, सनातनी, भावरूपी, त्रिगुणात्मक तथा ज्ञानविरोधी माया है। इस लिये जगत् भी सत्-असत् से विलक्षण अनिवर्चनीय है। पारमार्थिक दृष्टि में जीव तथा ब्रह्म अभिन्न है, परन्तु व्यवहार में जीव ब्रह्म से भिन्न है। जीव का कर्तृत्व, भोक्तृत्व, अणुत्व,असंख्यत्वादि मायाउपाधि से होता है। जिस प्रकार निर्मल स्फटिकपात्र जवापुष्प की रक्तिमा से प्रतिविम्बित हो कर रक्तवर्ण हो जाता है ठीक उसी प्रकार निर्मल ब्रह्म ज्ञातृत्व-भोक्तृत्वादि जड़मय वृत्ति से प्रतिविम्वित होकर उस प्रकार होता है। इस प्रकार मत को प्रतिविम्ववाद कहते हैं। पारमार्थिकदृष्टि से जीव तथा जगत् ब्रह्म के साथ अभिन्न हैं। जिस प्रकार एक घटाकाश दूसरे घटाकाश अथवा वाहिर व्यापी मठाकाश से अभिन्न होने पर भी घटरूप उपाधि के द्वारा भेद को प्राप्त होता है ठीक उसी प्रकार एक जीवात्मा अपरजीवात्मा से तथा परमात्मा ईश्वर से अभिन्न होने पर भी मायारूप उपाधि के द्वारा भेद प्राप्त होता है। उपाधि नाश से दोनों का अभिन्न सुस्थिर है। शंकराचार्य्य जी जगत को ब्रह्म का विवर्त्त स्वीकार करते हैं। दुग्ध के विकार दधि सत्य है भ्रमात्मक नहीं है अतएव ब्रह्म का विकार तथा जगत् का सत्यत्व आ जाता है इस भय से वे परिणामवाद को नहीं मानते हैं। बौद्धादिकों के प्रवल पराक्रम प्राप्त मतों का निरासन तथा वैदिकमत की स्थापना के लिये श्रीशंकराचार्य्य जी का धराधाम में अवतार हुआ था। इन के मत में निर्विशेष ज्ञान ही परम उपाय है।

श्रीरामानुज तथा विशिष्टाद्वैतवाद

श्रीरामानुजस्वामि जी से श्रीसम्प्रदाय का समधिक प्रसार प्रतिपत्ति लाभ किया है। इन के पहले वौधायन,द्रमिड़, टंकु गुहदेव, शठकद्मन, नाथमुनि, यामुनाचार्य्य आदिक प्राचीन मनस्वीगण ने विशिष्टाद्वैतवाद का समर्थन किया। श्रीरामानुजचरण ने उसको सुदृढ़ किया। श्रीशंकराचार्य्य जी के विरोध में जो सब आचार्य्यगण खड़े हुए उन सब में श्रीरामानुज का सर्व्वोच्च स्थान है। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का अर्थ-चेतन-अचेतन विभाग विशिष्ट ब्रह्म का अभेद अर्थात् एकत्व निरूपक सिद्धान्त। अथवा ब्रह्म दो प्रकार का है एक तो स्थूल चेतन-अचेतन विशिष्ट अपर सूक्ष्म चेतन-अचेतन विशिष्ट। इन दोनों प्रकार के ब्रह्म का अद्वैत् अर्थात् एकत्व निवन्धन "विशि-

ष्टाद्वैतवाद" है। इन के मत में चित् (जीव) अचित् (जड़) ईश्वर ये तीन पदार्थ हैं। जो तत्त्वत्रय नाम से प्रसिद्ध हैं। अनन्त जीवात्मा चित्, जड़ जगत् अचित्,निखिल कल्याणगुणाकर, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, स्वप्रकाश विशिष्ट जगत्प्रभु वासुदेव ईश्वर हैं। अनन्त जीव-जगत् उन का शरीर हैं। श्रीरामानुजचरण ने श्रीभाष्य में जिन सब विषयों की आलोचना के द्वारा स्थापना की, वे सब संक्षेपतः ये हैं-

(१) स्थूल-सूक्ष्म-चेतन अचेतन विशिष्ट ब्रह्म का एकत्व,(२) द्वैत तथा अद्वैत श्रुति का विरोध,(३)ब्रह्म का सगुण तथा विभुत्वादि सविशेषभाव,(४)निर्गुण-निर्विशेषवादका खण्डन (५)जीवका अणुत्व-ब्रह्मस्वभावत्व तथा सेवकत्व,(६)जीव का अविद्या से बन्धन तथा विद्या से मोक्ष,(७)भक्ति का मोक्षसाधनत्व,(८)उपासनाओं में उसका श्रेष्ठत्व,(९)मोक्षदशा में ब्रह्मभाव प्राप्ति का निरासन, (१०)मायावादखण्डन,(११) जगत् का तुच्छत्वखण्डन तथा सत्यता स्थापन,(१२)जीव तथा जगत् का ब्रह्मशरीररूप से निरूपण। इनके मतमें भगवान् अर्च्चा(प्रतिमा),विभव (मत्स्यादिअवतार), व्यूह (वासुदेव-संकर्षण-प्रद्युम्न अनिरुद्ध), सूक्ष्म (वासुदेवाख्य परब्रह्म), अन्तर्य्यामि इन पाँच प्रकार से आत्म प्रकट करते हैं। वे सब विरज, विमृत्यु, विशोक, विजिघित्स, सत्यकाम तथा सत्यसङ्कल्प षड्गुण विशिष्ट हैं। इन के मत में उपासना पाँच प्रकार है—अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय, याग। देवतागृह गमन-पथमार्जन-अनुलेपनादि अभिगमन है। पूजोपकरणादि का आहरण उपादान, भगवत् पूजा इज्या, अर्थ बोध के साथ मन्त्रजाप, स्तोत्रपाठादि स्वाध्याय, ध्यान-धारणा-समाधि योग है। इन से वैकुण्ठप्राप्तिरूप फल मिलता है। श्रीवैकुण्ठ उन का परम धाम है। श्रीरामानुज ने अद्वैतवाद के विरोध में महान् संग्राम कर निज पाञ्चरात्र (वैष्णव उपासना) मत का उद्धार किया। शंकराचार्य्य के पहले पाञ्चरात्र तथा भागवत् मत का प्रचलन था। महाभारत में पञ्चरात्रागम तथा सात्त्वतमत का उल्लेख है।

श्रीमध्वाचार्य्य तथा द्वैतवाद।

श्रीमध्वाचार्य्य जी का नामान्तर आनन्दतीर्थ तथा पूर्णप्रज्ञ है। इन्होंने श्रीमद् ब्रह्मसूत्रभाष्य, अनुव्याख्यान वा अनुभाष्य, अणुभाष्यादि भाष्य में श्रुति-स्मृति-पुराण-पञ्चरात्रादि प्रमाण के द्वारा केवल द्वैतवाद का प्रतिपादन किया है। यह भेद पाँच प्रकार का है। जीव ईश्वर भेद, जड़ ईश्वर भेद, जीव जीव में भेद, जड़-जीव में भेद, जड़ में जड़ में भेद। इन के मत में तत्त्व द्विविध है। स्वतन्त्र तथा अस्वतन्त्र। भगवान् विष्णु अशेष सद्-गुणों से युक्त, निर्दोष स्वतन्त्र हैं। उन से भिन्न अन्य अस्वतन्त्र है। जीवात्मा विष्णु का निरुपाधिक प्रतिबिम्ब है। प्रतिबिम्वांश तथा स्वरूपांश भेद से परमेश्वर के दो प्रकार के अंश हैं। उन में से अनन्त जीवात्मा प्रतिविम्वांश और मत्स्यादि अवतारगण स्वरूपांश हैं। जीव समूह श्रीहरि के नित्य अनुचर, स्वल्पज्ञानानन्दात्मक विग्रह विशिष्ट,प्रयोज्यकर्त्ता है। विष्णु पूर्णज्ञानानन्दात्मक विग्रहशाली,नित्यसेव्य,प्रयोजककर्त्ता तथा जगत् का निमित्त-कारण हैं। प्रपञ्च सत्य तथा अनादि सिद्ध है। जीव-जगत् दोनों भगवान् के अधीन हैं। भगवान् उन दोनों से पृथक् हैं। मध्वमत में प्रलयकाल में भी रात्रि में वन में लीन (सुप्त) विहंग की भांति नित्यभेद रहता है। ये शंकर के महान् प्रतिद्वन्दी रहे। शंकर के मत के निराकरणार्थ ही श्रीमध्व का प्राकट्य हुआ था। इन्होंने शंकरके अद्वैत मत का निराकरण कर सात्त्वतसिद्धान्त की स्थापना की।

श्रीवल्लभाचार्य्य जी तथा विशुद्धाद्वैतवाद।

श्रीयुक्त वल्लभाचार्य्य जी ने अपने अणुभाष्य में शुद्धाद्वैतवाद की स्थापना की। इस में अशुद्ध केवलाद्वैतवाद का निराकरण किया गया है। इन के मत में परब्रह्म सर्व्वधर्म्मविशिष्ट, सच्चिदानन्द, व्यापक, अव्यय, सर्वशक्तिमत्, स्वतन्त्र, प्राकृतगुणरहित, देश-कालादि से अपरिच्छिन्न, स्वजातीय-विजातीय-स्वगत भेद वर्जित, निर्गुण होता हुआ भी सगुण,निराकार होता हुआ भी साकार है। ईश्वर का कर्तृत्व माया के द्वारा है अथवा आ-

रोपित नहीं है। जीव चित्कण, सूक्ष्म, परिच्छिन्न, चित्प्रधान तथा आनन्दस्वरूप नित्य है। परन्तु वह नित्यता अलीक है। जीव का कर्तृत्व, भोक्तृत्व, अंशत्वादि आलोचित होने पर जीव तथा ब्रह्म का अभेद कल्पित होता है। ब्रह्म चित् तथा पूर्ण प्रकटानन्द है। जीव तिरोहितानन्द होने पर भी शुद्ध जीव तथा ब्रह्म वस्तु से भिन्न न होकर एक ही पदार्थ है। जगत् सत्य, नित्य, भगवद्रूप तथा भगवान् से अनन्य है। स्थूल-सूक्ष्म अचित् पदार्थ तथा स्थूल-सूक्ष्म जीव दोनों वस्तु प्रलयकाल में भी ब्रह्म से अभिन्न नित्य सत्यरूप से रहती है। अणुभाष्य में ब्रह्म का सर्व्वधर्म्मत्व, विरुद्धसर्वधर्म्माश्रयत्व, सर्वकर्त्ता, ब्रह्मगत नैर्घृण्य दोष परिहार, ब्रह्म से जगत् का अनन्यत्व, जीवस्वरूप,जीव का नित्यत्व-ज्ञातृत्व–परिमाणत्व–भोक्तृत्व–अंशत्व, जीव ब्रह्म का अभेदत्व, जगत्सत्य, यह सब आलोचित हुए हैं। इन के मत में सायुज्यमोक्ष को स्वीकार किया गया है। इन के सम्प्रदाय के आदि आचार्य्य विष्णुस्वामी हैं तथा श्रीरुद्र जी से यह सम्प्रदाय प्रवर्त्तमान हुआ है। श्रीवल्लभाचार्य्य जी ने इस मत को अकाटय शास्त्र युक्तियों के द्वारा सुदृढ़ किया।

श्रीनिम्बार्क तथा स्वाभाविकद्वैताद्वैतवाद।

सुदर्शनावतार श्रीनिम्बार्काचार्य्य ने औडुलौमि प्रणीत वेदान्तसूत्रवृत्ति का अवलम्बन कर वेदान्तपारिजात-सौरभ नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। श्रीनिवासाचार्य्य कृत "वेदान्तकौस्तुभ" इस सम्प्रदाय का भाष्य है। श्री-केशवकाश्मीरिप्रणीत "कौस्तुभप्रभावृत्ति" तथा माधवकवि विरचित "परपक्षगिरिवज्र"महापाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ हैं। इन के मत में भगवान् वासुदेव पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ब्रह्म हैं। तत्व चित्-अचित्-ब्रह्म भेद से तीन प्रकार है। चित–अचित् ब्रह्म से भिन्न होने पर भी अभिन्न हैं। जीव-अचिद्वर्ग से भिन्न, ज्ञानस्वरूप, ज्ञातृत्व-कर्त्तृत्वादि धर्म्मविशिष्ट, अणु, प्रति शरीर से भिन्न, भगवान् के अधीन, मोक्षार्ह चित् पदार्थ है। अचित् पदार्थ-प्राकृत-अप्राकृत-कालभेद से तीन प्रकार का है। गुणत्रय के आश्रयभूत द्रव्य प्राकृत है,वह नित्य तथा परिणामादि विकारी है। अप्राकृत अचित् पदार्थ त्रिगुणा प्रकृति तथा काल से अत्यन्त भिन्न तथा अचेतन है। वह सब प्रकृति मण्डल से भिन्नदेशवर्त्ती, नित्यविभूति शाली, परव्योम, परमपद ब्रह्मलोकादि है। प्राकृत-अप्राकृत भिन्न कालपदार्थ नित्य-विभु है। उन के मत में ब्रह्म केवल चेतन, अजड़, अस्थूल, नित्यशुद्ध, कारण, सर्व शक्तिमान, समग्रसत्ताविशेष, ध्येय, ज्ञेय, प्राप्तव्य, सृष्टि-स्थिति-प्रलय के कर्त्ता, सर्वव्यापी, पूर्ण, स्वाधीन है। जीव तथा जगत्-कार्य्य, शक्ति विशिष्ट, क्षुद्र से क्षुद्र अंश है। जीव ध्याता, ज्ञाता, प्रापक, सृष्टयादिशक्ति रहित, अणु तथा शासित है। दोनों में कारण तथा कार्य्य, शक्ति-शक्तिमान, अंशी-अंशादिक भेद वास्तविक, स्वाभाविक तथा नित्य है। जगत् अचेतन, जड़, स्थूल, अशुद्ध है। ब्रह्म तथा जीव-जगत् में जिस प्रकार स्वाभाविक भेद सत्य है ठीक उसी प्रकार स्वाभाविक अभेद ही समान भाव से सत्य है। कार्य्य कारण से जिस प्रकार गुणतः तथा कार्य्यतः भिन्न है, परन्तु स्वरूप से अभिन्न है, ठीक उसी प्रकार कारण भी कार्य्य के अतिरिक्त रूप से कार्य्य से भिन्न परन्तु कार्य्य-लीन तथा कार्य्यस्वरूप में कार्य्य से अभिन्न है।

श्रीगौडीयसम्प्रदाय तथा अचिन्त्यभेदाभेदवाद।

इस प्रकार भारतवर्ष के विभिन्न सम्प्रदाय के आचार्य्यगण ने ब्रह्मसूत्र का भाष्य प्रणयनके द्वारा निज २ सम्प्रदाय की दार्शनिकभित्ति को सुदृढ़ किया। श्रीमन् महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव ने पुरातन नूतन,एकत्व-बहुत्व,अनुकूल-प्रतिकूल में एक अचिन्त्य,अत्यद्भुत सामञ्जस्य विधान कर समस्त वेदान्ततत्त्व की सुमीमांसा के द्वारा अचिन्त्यभेदाभेद सिद्धान्त का स्थापन किया। यद्यपि प्रेमावतार प्रभु ने इस मत को लेकर स्वतन्त्र किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की, क्योंकि प्रेमदानार्थ उनका अवतार था तो भी श्रीजीवादिक गोस्वामियोंने उन प्रभुका उपदेशको अपने ग्रन्थोंमें बहुल रूप से सन्निवेश किया। उन के परवर्त्ति काल में श्रीपादबलदेवविद्याभूषण जी ने उन सब सिद्धान्त को स्वतन्त्र

भाष्यरूप से सङ्कलित कर गोविन्दभाष्य की रचना की। अचिन्त्यभेदाभेद का निर्णय इस प्रकार है। एक सम्प्रदायी वेदान्ती कहते हैं–तर्क का अप्रतिष्ठान के हेतु भेद तथा अभेद में निखिलदोष दर्शन से भिन्नतारूप चिन्ता के द्वारा भेद साधन करना असम्भव हो उठता है, ठीक उसी प्रकार अभिन्नभाव चिन्ता के द्वारा अभेद साधन करना दुष्कर होता है। इस प्रकार भेदाभेद उभय साधन करते हुए इन उभय भेदाभेद साधन चिन्ता की असमर्थ उपलब्धि में अचिन्त्यभेदाभेदवाद का स्वीकार करते हैं। परमतत्व अचिन्त्य-शक्तिमय होने के कारण निजमत में अचिन्त्यभेदाभेदवाद सुसिद्धान्त होता है। श्रीजीवचरण ने सर्वसम्वादिनी में कहा है–

अपरे तु तर्काप्रतिष्ठानात् भेदेऽप्यभेदेपि निर्मर्य्याददोषसन्ततिदर्शनेन भिन्नतया चिन्तयितुमशक्यत्वाद् भेदं साधयन्तः तद्वदभिन्नतया चिन्तयितुमशक्यत्वादभेदमपि साधयन्तोऽचिन्त्यभेदाभेदवादं स्वीकुर्व्वन्ति। स्वमते त्वचिन्त्यभेदाभेदावेव। अचिन्त्यशक्तिमयत्वादिति।

जिस प्रकार समुद्र के एक प्रदेश से उत्थित तरङ्गावली एक प्रदेश में लय होती है। तरङ्गावली जलमय आदिक गुण के द्वारा समुद्र के साथ अभिन्न होने पर भी गम्भीरता तथा रत्नाकरत्वादि समुद्रगुण के अभाव के वश भिन्नता लाभ करती है, ठीक उसी प्रकार चित्कण जीव अनन्तसुखघन परब्रह्म से चिदंश में अभिन्न होने पर भी गुणादि अंश में भिन्न है। इसलिये मुक्ति में भी जीव का ब्रह्म के साथ पृथक् भाव से दर्शन के अभाव के कारण अभिन्न तथा किसी अंश में परिच्छिन्न रूप से रहने के कारण उसे भिन्न दिखलाया गया है।

यथा समुद्रस्य प्रदेशादेकस्मादेव जयमानास्तरङ्गा एकस्मिन्नेव देशे लीयमाना जलमयत्वादिना समुद्रादभिन्ना गाम्भीर्य्य-रत्नाकरत्वादि गुणाभावद् भिन्नाश्च केवलं तस्मिल्लयात् पृथक्त्वेनादृश्यमाना ऐक्यं गताः समुद्रस्वरूपं प्राप्ता इत्युच्यते तथा स्वकारणे ब्रह्मांशे तेजआदिस्थानीये मुक्त्या लीयमाना जीवा ब्रह्मैक्यं गता इत्युच्यते न त्वपरिच्छिन्नसुखघनब्रह्मताप्राप्तिस्तेषां स्वभावेनैव परिच्छिन्नत्वात्। अतो मुक्तावपि पृथगदर्शनादभिन्नत्वं कस्मिंश्चिद् भागे परिच्छिन्नत्वेन लीनतयावस्थानाद् भिन्नत्वञ्च। (बृहद्भागवतामृतग्रन्थस्य टीकायां श्रीसनातनचरणैः)

"वैष्णवाचार्य्यों के मत में"तत्व"नाम से जो प्रसिद्ध है उस की आख्या से अद्वैतहानि प्रसंग हो उठता है। क्योंकि जीव, जगत् आदिक अनेक तत्त्व हैं। उन सब को श्रौतसिद्धान्त के अनुसार शक्ति कर के स्वीकार करने पर अद्वयतत्त्व की हानि नहीं होती है" ऐसा सिद्धान्त कर श्रीजीवगोस्वामि परतत्त्व का अद्वयत्व स्थापन करते हैं। परतत्त्व को निर्विशेष वा निःशक्तिक कहने पर सर्वशक्तिमान् परब्रह्म की पूर्णता की हानि होती है। अतएव सशक्तिक परतत्त्व ही परब्रह्म है यह सिद्धान्त है। श्रीचैतन्यचरितामृत में कहा "बृहद्वस्तु ब्रह्म कहि श्रीभगवान्। षड्विधैश्वर्य्य पूर्ण परतत्त्वधाम॥ स्वरूप ऐश्वर्य्ये ताँर नाहि मायागन्ध। सकल वेदेर हय भगवान् ते सम्बन्ध॥ ताँरे निर्विशेष कहि चिच्छक्ति ना मानि। अर्धस्वरूप ना मानिले पूर्णता हय हानि"। गौड़ीय आचार्य्यगण शक्ति तथा शक्तिमान् को पृथक् नहीं किया जा सकता है, इसलिये अद्वितीय तत्त्व कर के कहते हैं। स्वरूप से अभिन्न रूप में शक्ति की चिन्ता नहीं की जाती है, इसलिये भेद तथा भिन्न रूप से चिन्ता नहीं की जाती है इस से अभेद अतएव शक्ति-शक्तिमान् का भेदाभेद सुसिद्ध है,वह अचिन्त्य अर्थात् तर्क-युक्ति से अगम्य केवल शास्त्रगम्य है। श्रीजीवचरण ने सर्वसम्वादिनी में कहा– "स्वरूपादभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद्भेदः भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वादभेदश्च प्रतीयत इति शक्ति-शक्तिमतोर्भेदाभेदावेवाङ्गीकृतौ तौ च अचिन्त्यौ इति स्वमते त्वचिन्त्यभेदाभेदावेव अचिन्त्यशक्तिमयत्वादिति।

जो समस्तभाव अचिन्तनीय है उन्हें तर्क के द्वारा योजना नहीं किया जाता है। जो प्रकृति से अतीत अर्थात् अप्राकृत है वह अचिन्त्य का लक्षण है, तात्पर्य्य–केवल शब्दप्रमाण वेद्यवस्तु अचिन्त्य है। श्रीधरस्वामिचरण ने कहा है–"अपरिमितमहिमत्वादचिन्त्यरूपम्" अर्थात् अपरिमित माहात्म्य किम्वा अनन्त माहात्म्य के कारण उन का अचिन्त्यरूप है। परतत्त्व तथा उन के शक्तिरूप जीव-जगत् के साथ युगपत् जो भेद-अभेद सम्बन्ध है वह

अचिन्त्य है । अर्थात् जीवबुद्धि में अगम्य है । श्रीजीवचरण भगवत्सन्दर्भ में अचिन्त्यशब्द का अर्थ इस प्रकार कहते हैं । "दुर्घटघटकत्वं ह्यचिन्त्यत्वम्" अर्थात् जो दुर्घट विषय का साधक है वह अचिन्त्य शब्दवाच्य है । गौड़ीय-आचार्य्यगण अचिन्त्यभेदाभेद सिद्धान्त में "कस्तूरी तथा उस की गन्ध" "अग्नि तथा उस की दाहिकाशक्ति" "समुद्र तथा उस की तरंगावली" प्रभृति दृष्टान्त का उदाहरण देते हैं । उस शक्ति-शक्तिमान् का भेदाभेद सिद्धान्त अचिन्त्यरूप से सुस्थिर होता है ।

श्रीसनातनगोस्वामिचरण ने वृहद्भागवतामृत ग्रन्थ में ऐसा निर्णय किया है-जीव का सच्चिदानन्द निज स्वरूप के साक्षात् अनुभव से जो सुख होता है, वह सुख स्वल्प है क्योंकि जीव का स्वरूप ही अणुचैतन्य है । शुद्ध आत्मतत्व जो वस्तु है, वह ब्रह्म कर के कहा जाता है । वह निर्गुण, निर्विकार, निश्चेष्ट होने के कारण करुणादि गुणों के प्राकट्य करने में असमर्थ है । भगवान् परात्मा, परब्रह्म, परमेश्वर, घन-सच्चिदानन्दविग्रह, महिमा के सागर हैं । उन में अचिन्त्यशक्ति योग के कारण सगुण-अगुणादि विरोधधर्म्म का सन्निवेश होता है । ब्रह्म भगवान् की विभूति है । दोनों में यह भेद प्रसिद्ध है । भगवान् निविड आनन्दस्वरूप होने के कारण उन का श्रीचरणकमल भी तद्रूप है, वह केवल भक्ति के द्वारा अनुभूत होता है । भगवान् शर्करापिण्ड की भाँति तथा ब्रह्म केवल सुख रूप है । ब्रह्मसुख से भगवत् सुख अनन्त गुण है । यथा—

जीवस्वरूपभूतस्य सच्चिदानन्दवस्तुनः । साक्षादनुभवेनापि स्यात्तादृक् सुखमल्पकम् ॥
शुद्धात्मतत्त्वं यद्वस्तु तदेव ब्रह्म कथ्यते । निर्गुणं तच्च निःसङ्गं निर्व्विकारं निरीहितम् ॥
भगवांस्तु परब्रह्म परात्मा परमेश्वरः । सुसान्द्रसच्चिदानन्दविग्रहो महिमार्णवः ॥
सगुणत्वागुणत्वादिविरोधाः प्रविशन्ति तम् । महाविभूतिर्ब्रह्मास्य प्रसिद्धेत्थं तयोर्भिदा ॥
अतः सान्द्रसुखं तस्य श्रीमत्पादाम्बुजद्वयम् । भक्त्यानुभवता सान्द्रं सुखं सम्पद्यते ध्रुवम् ॥
सुखरूपं सुखाधारः शर्करापिण्डवन्मतम् । श्रीकृष्णचरणद्वन्द्वं सुखं ब्रह्म तु केवलम् ॥

कोई कोई कहते हैं कि जीव का स्वरूप जो है वह यदि परब्रह्म है तो वह सच्चिदानन्दघन भगवान् भी है । तो भी जीवतत्त्व भगवान् के अंश है, ऐसा पराशरादिक कहते हैं । जिस प्रकार घनतेजःमंडल विशिष्ट सूर्य्य का तेजोजाल अंश है, ठीक उसी प्रकार जीव भगवान् का अंश है । अतः रवि की किरण, अग्नि का विस्फुलिंग, समुद्र की तरंग की भाँति जीव ब्रह्म से नित्यसिद्ध भेद प्राप्त है । अनादिसिद्ध, चिद्विलासस्वरूप, महायोग नामक शक्ति के द्वारा जीवों का ब्रह्म से नित्यभेद है । अतः इस शक्ति विशेषकृत भेद से जीव परब्रह्म से सच्चिदानन्दत्वादि ब्रह्मसाधर्म्य से अभिन्न होने पर भी अंशादि के द्वारा भिन्न है । वह भेद मुक्ति हो जाने पर भी अवश्य ठहरता है । यथा-

जीवस्वरूपं यद्वस्तु परं ब्रह्म तदेव चेत् । तदेव सच्चिदानन्दघनं श्रीभगवांश्च तत् ॥
तथापि जीवतत्त्वानि तस्यांशा एव सम्मताः । घनतेजसमूहस्य तेजो जालं यथा रवेः ॥
नित्यसिद्धास्ततो जीवा भिन्ना एव यथा रवेः । अंशवो विस्फुलिङ्गाश्च वन्हेर्भङ्गाश्च वारिधेः ॥
अनादिसिद्धया शक्त्या चिद्विलासस्वरूपया । महायोगाख्यया तस्य सदा ते भेदितास्ततः ॥
अतस्तस्मादभिन्नास्ते भिन्ना अपि सतां मताः । मुक्तौ सत्यामपि प्रायो भेदस्तिष्ठेदतो हि सः ॥

सच्चिदानन्दस्वरूप जीवों का अनादि, अविद्या, कृष्ण की माया के द्वारा निजस्वरूप-ज्ञान विस्मृति रूप भ्रम होता है । वह भ्रम मुक्तिकाल में निज स्वरूपज्ञान से माया के दूर होने पर अपसारित होता है तथा घनानन्द-स्वरूप ब्रह्मांश का अनुभव होता है । इस लिये स्वरूप ज्ञान साध्य मोक्षावस्था में अल्प फल माना जाता है ।

सच्चिदानन्दरूपाणां जीवानां कृष्णमायया । अनाद्यविद्यया तत्त्वविस्मृत्या संसृतिर्भ्रमः ॥
मुक्तौ स्वतत्त्वज्ञानेन मायापगमतो हि सः । निवर्त्तते घनानन्दब्रह्मांशानुभवो भवेत् ॥

स्वसाधनानुरूपं हि फलं सर्व्वत्र सिद्ध्यति । अतः स्वरूपज्ञानेन साध्ये मोक्षेऽल्पकं फलम् ॥

अपने मत में-भेदत्रय का नाश इस प्रकार होता है । जो परमात्मा परब्रह्म है वह परमेश्वर है, इस प्रकार इन का ऐक्य से सजातीयभेद, सदा वैजात्य प्राप्त जीवों का तत्त्वतः अंश होने पर भी अभिन्न है, अतएव विजातीय भेद हत होता है । ब्रह्म देह-देही भेदादिभाव से रहित है, अतः स्वगतभेद हत सुस्थिर है । यथा-

परमात्मा परब्रह्म स एव परमेश्वरः । इत्येवमेवामैक्येन सजातीयभिदा हता ॥
सदा वैजात्यमाप्तानां जीवानामपि तत्त्वतः । अंशत्वेनाप्यभिन्नत्वाद्विजातीयभिदा मृता ॥
अस्मिन् हि भेदाभेदाख्ये सिद्धान्तेऽस्मत् सुसम्मते । युक्त्यावतारिते सर्व्वं निरवद्यं ध्रुवं भवेत् ॥

ब्रह्म जिस प्रकार चिद्वस्तु है जीवात्मा ठीक उसी प्रकार चिद्वस्तु, सजातीय है । परन्तु समजातीय होने पर भी परतत्व का सापेक्ष्य है । परतत्त्व स्वयंसिद्ध है । अतएव जीव के साथ ब्रह्म का सजातीयभेद नहीं ठहरता है, सुतरां ब्रह्म सजातीयभेदरहित सुसिद्ध है । जड़ब्रह्माण्ड ब्रह्म की अचित् शक्ति से उत्पन्न होता है । अतः जड़-ब्रह्माण्ड के साथ चित्स्वरूप ब्रह्म का विजातीय भेद आ पड़ता है । किन्तु ब्रह्माण्ड भी मायाशक्ति युक्त ब्रह्म से होने के कारण स्वयंसिद्ध वस्तु नहीं है । अतएव ब्रह्म विजातीयभेद शून्य सुसिद्ध है । सच्चिदानन्द, परतत्व ब्रह्म वस्तु का देह-देही भेद नहीं है । वे समस्त ही नित्य, सत्य, पूर्णानन्दमय हैं । उन में उपादानगत भेद नहीं है । अतएव ब्रह्म स्वगतभेदरहित है । श्रीजीवगोस्वामिचरण ने सर्व-सम्वादिनी में कहा है—

"तत्स्वरूप-वस्त्वन्तराणां च तच्छक्तिरूपत्वान्न तैः सजातीयोऽपि भेदः । न चाव्यक्तगतजाड्यदुःखादिभिर्विजातीयो भेदः । अव्यक्तस्यापि तच्छक्तिरूपत्वात् ।" "तदेवं स्वगतभेदे त्वपरिहार्य्ये स्वर्णरत्नादिघटितैककुण्डलवद् वस्त्वन्तराप्रवेशेनैव स प्रतिषेध्यत इतिस्थितम्" । इस प्रकार भेदत्रय से रहित ब्रह्म वस्तु अद्वयतत्व करके सुसिद्ध है । श्रीजीव ने तत्त्वसन्दर्भ में कहा है । "अद्वयत्वञ्चास्य स्वयंसिद्ध-तादृशातादृशतत्वान्तराभावात् स्वशक्त्येकसहायत्वात्" । भगवान् की शक्ति अचिन्त्य है । श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थ में श्री कविराजगोस्वामिचरण ने इस विषय में कहा है--

अविचिन्त्य शक्तियुक्त श्रीभगवान । इच्छाय जगद्रूपे पाय परिणाम ॥
तथापि अचिन्त्यशक्त्ये हय अधिकारी । प्राकृत चिन्तामणि ताहे दृष्टान्त धरि ॥
नानारत्नराशि हय चिन्तामणि हैते । तथापि ह मणि रहे स्वरूपे अविकृते ॥
प्राकृतवस्तुते यदि अचिन्त्य शक्ति हय । ईश्वरेर अचिन्त्य शक्ति इथे कि विस्मय ॥

जिस प्रकार अग्निराशि अग्निकण दोनों स्वरूपतः एक ही वस्तु हैं, ठीक उसी प्रकार ईश्वर तथा जीव दोनों स्वरूपतः चेतन हैं । परन्तु परमेश्वर विभुचैतन्य तथा जीव अणुचैतन्य हैं । चेतनांश में दोनों का अभेद होने पर भी विभुत्व-अणुत्व-विचार में भेद है । चिन्मयधर्मांश में जीव भगवान् का अभेद प्रकाश तथा अणु चैतन्य धर्म्मी होने के कारण विभुचैतन्यस्वरूप भगवान् का भेद प्रकाशयुक्त है । यह भेद-अभेद उभय प्रभु की अचिन्त्यशक्ति बल से एक ही समय सिद्ध होता है ।

परब्रह्म स्वयं अविकृत होकर अचिन्त्यशक्तिबल से जगद्रूप में परिणत होता है । परब्रह्म की वहिरंगा उपादानरूपशक्तिद्रव्य ही जगद्रूप में परिणत होता है परन्तु स्वरूप में परब्रह्म का परिणाम नहीं है । अतएव शक्तिपरिणामवाद अचिन्त्यभेदाभेद सिद्धान्त की मूलभित्ति है ।

श्रीकृष्ण की स्वाभाविक अनन्त शक्तियाँ हैं । चिच्छक्ति, जीवशक्ति, मायाशक्ति ये तीन प्रधान शक्तियाँ हैं । ये क्रम से अन्तरंगा, तटस्था, वहिरंगा रूप से मानी जाती हैं । भगवान्-भगवान् के धामादि अन्तरंगा शक्ति की वृत्ति है । जिसे त्रिपाद विभूति कहते हैं । वह शक्ति स्वरूपशक्ति नाम से भी कही जाती है । वहिरंगा माया-शक्ति जड़रूपा तथा अन्तरंगा की छायारूप है । जिस से जगत् की सृष्टि होती है, जीवशक्तियुक्त भगवान् का

शक्त्यंश अनन्तकोटि जीव है। वह तटस्थाशक्ति है। तट जिस प्रकार विचार से नदी के अन्तर्गत नहीं होता है, अथच तीरभूमि का अन्तर्गत भी नहीं है, ठीक उसी प्रकार जीव स्वरूपशक्ति नहीं है, अथच मायाशक्ति भी नहीं है। जीव सूर्य्यरूप भगवान् का विभिन्नांश रश्मि-परमाणु स्थानीय है। स्वरूपशक्तिविशिष्ट भगवान् स्वांश तथा जीवशक्तिविशिष्ट भगवान् का अंश विभिन्नांश है। चतुर्व्यूह, परव्योमस्थ सकल अवतार, पुरुषावतार, लीलावतारादि ये सब स्वांश हैं। श्रीचैतन्यचरितामृत में कहा है—

(क) चिच्छक्ति स्वरूपशक्ति अन्तरंगा नाम। ताहार वैभव अनन्त वैकुण्ठादि धाम॥
मायाशक्ति बहिरंगा जगत कारण। ताहार वैभव अनन्त ब्रह्माण्डेरगण॥
जीवशक्ति तटस्थाख्य नाहि जार अन्त। मुख्य तिन शक्ति, तार विभेद अनन्त॥
(ख) अद्वय ज्ञान तत्त्व कृष्ण स्वयं भगवान। स्वरूप शक्तिरूपे ताँर हय अवस्थान॥
स्वांश विभिन्नांश रूपे हञा विस्तार। अनन्त वैकुण्ठ, ब्रह्माण्डे करेन विहार॥
स्वांश विस्तार चतुर्व्यूह, अवतारगण। विभिन्नांश जीव-ताँर शक्तिते गणन॥

जीव का स्वरूप श्रीहरि के नित्यदासत्व है। वह जीव तटस्था शक्तिरूप, "भेदाभेद प्रकाश" विशिष्ट है।

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर "नित्यदास"। कृष्णेर तटस्थाशक्ति "भेदाभेदप्रकाश"॥

जीव निजप्रभु श्रीकृष्ण को भूल कर अनादिकाल से बहिर्मुख होकर माया के द्वारा संसार के सुख-दुःख रूप भोग उठाता है। साधु-शास्त्र की कृपा से यदि वह कृष्ण के उन्मुख होता है तब माया छूट जाती है और जीव निजदास्यता स्वरूप में आकर उन प्रभु को प्राप्त करता है। तत्रैव श्रीचैतन्यचरितामृते—

कृष्ण भुलि सेइ जीव-अनादि बहिर्मुख। अतएव माया तारे देय संसार दुःख॥
साधु-शास्त्र कृपाय यदि कृष्णोन्मुख हय। सेइ जीव निस्तरे माया ताहारे छाडय॥

श्रीभगवान् में एक विरोधभञ्जिका अचिन्त्यशक्ति नित्य विराजमाना रहती है। जिस से उन में विरोध धर्म का युगपत् समावेश होता है। श्रीरूपगोस्वामिचरण ने लघुभागवतामृत में कहा है—

"विरोधभञ्जिकाशक्तियुक्तस्य सच्चिदात्मनः। वर्त्तन्ते युगपद्धर्माः परस्परविरोधिनः॥"
"अतोऽचिन्त्यात्मशक्तिं तां मध्येकृत्यात्र दुर्घटः। कोऽन्वर्थः स्याद्विरुद्धोऽपि तथैवास्या ह्यचिन्त्यता॥
सा च नानाविरुद्धानां कार्य्याणामाश्रयान्मता। श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् इति च ब्रह्मसूत्रकृत्॥"

इस विषय में श्रीमध्वाचार्य्यचरण की सम्मति भी स्पष्ट देखने में आती है। उन्होंने अचिन्त्यभेदाभेद का इङ्गीत करते हुए निज भाष्य में ब्रह्मतर्क के श्लोकों को प्रमाणरूप से उद्धृत किया है।

यथा—अवयव्यवयवानां गुणानां गुणिनस्तथा। शक्तिशक्तिमतोश्चैव क्रियायास्तद्वतस्तथा॥
स्वरूपांशांशिनोश्चैव नित्याभेदो जनार्द्दने। जीवस्वरूपेषु तथा तथैव प्रकृतावपि॥
चिद्रूपायामतोऽनंशा अगुणा अक्रिया इति। हीना अवयवैश्चेति कथ्यन्ते तु त्वभेदतः॥
पृथग्गुणाद्यभावाच्च नित्यत्वादुभयोरपि। विष्णोरचिन्त्यशक्तेश्च सर्वं सम्भवति ध्रुवम्॥
क्रियादेरपि नित्यत्वं व्यक्तव्यक्तिविशेषणम्। भावाभावविशेषेण व्यवहारश्च तादृशः॥
विशेषस्य विशिष्टस्याप्यभेदस्तद्वदेव तु। सर्वं चाचिन्त्यशक्तित्वाद् युज्यते परमेश्वरे॥
तच्छक्त्यैव तु जीवेषु चिद्रूपप्रकृतावपि। भेदाभेदौ तदन्यत्र ह्युभयोरपि दर्शनात्॥
कार्य्यकारणयोश्चापि निमित्तं कारणं विना॥

अतएव "अचिन्त्यभेदाभेदवाद" ही हम सब का शरण है। जिस से समस्त विरोध अविरोध मत का सामञ्जस्य होता है।

—कृष्णदास।

वेदान्तदर्शनम्

(श्री श्री गोविन्दभाष्यम्)

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणकृतम्।

श्रीकृष्णो जयति

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म शिवादिस्तुतं भजद्रूपम्।
गोविन्दं तमचिन्त्यं हेतुमदोषं नमस्यामः॥
सूत्रांशुभिस्तमांसि व्युदस्य वस्तूनि यः परीक्षयते।
स जयति सात्यवतेयो हरिरनुवृत्तो नतप्रेष्ठः॥

द्वापरे वेदेषु समुत्सन्नेषु संकीर्णप्रज्ञैर्ब्रह्मादिभिरभ्यर्थितो भगवान् पुरुषोत्तमः कृष्णद्वैपायनः सन् तान् उद्धृत्य विवभाज। तदर्थनिर्णेत्रीं चतुर्लक्षणीं ब्रह्ममीमांसामाविश्चकार इत्यस्ति कथा स्कान्दी। वेदेषु खलु कर्मणो निखिलपुमर्थहेतुत्वं विष्णोस्तु कर्माङ्गत्वं, स्वर्गादेः कर्मफलस्य नित्यत्वं, जीवस्य प्रकृतेश्च स्वतः कर्त्तृत्वम्, परिच्छिन्नस्य प्रतिबिम्बस्य भ्रान्तस्य वा ब्रह्मण एव जीवत्वं,चिन्मात्रब्रह्मालकत्वधीमात्रादेवास्य जीवस्य संसृतिविनि-

---

वेदान्तदर्शनम्

श्री गोविन्दभाष्यानुवादम्

श्रीनित्यानन्दविधुर्जयति। श्रीकृष्णचैतन्यमहाप्रभुर्जयति॥

गुरून्नत्वा तथा प्रेष्ठं गोविन्दं श्रीमहाप्रभुम्। वैष्णवानन्दिनी नाम्नी भाषाऽत्र क्रियते मया॥

अथ वैष्णवाग्रगण्य, दार्शनिकधुरन्धर, पण्डितप्रवर, श्रीमाध्वगौडीयवीथीपथिक, श्रीकृष्णचैतन्य-महाप्रभुचरणानुग, महानुभाव श्रीबलदेवविद्याभूषण जी, श्रीगोविन्द जी की आज्ञा से "गोविन्दभाष्य" नामक इस सरस भाष्य रचना कार्य्य में प्रवृत्त होकर उसका निर्विघ्नरूप से परिसमाप्ति के लिये शिष्टाचार परम्परा प्राप्त इष्टदेव नमस्कारात्मक मंगलाचरण करते हैं।

हम सत्यस्वरूप, ज्ञानमय, अनन्त, शिव-ब्रह्मादिस्तुत,भजनीय सुन्दर रूप धारण करने वाले, अचिन्त्य, जगत्कारणरूप, विकारों से रहित श्रीगोविन्ददेव का नमस्कार करते हैं।

जो सत्यवतीनन्दन कृष्णद्वैपायन रूप महान् सूर्य्य ने ब्रह्मसूत्र रूप किरण समूह से अज्ञानान्धकार नाश करते हुए जगत् में वस्तुतत्व को दिखलाया है उन भक्तप्रिय, सर्वव्यापक, सर्वस्तुत्य, हरिरूप श्रीवेदव्यास को नमस्कार है।

स्कन्दपुराण में ऐसा कथन है कि—द्वापरयुग में वेद-समूह के उत्सन्न प्राप्त (छिन्न-भिन्न) हो जाने पर संकीर्णबुद्धि वाले ब्रह्मादि देवताओं से प्रार्थित होकर भगवान् पुरुषोत्तम ने कृष्णद्वैपायन रूप में अवतीर्ण होकर वेदों का उद्धार कर उनका विभाग किया तथा वेदों का अर्थनिर्णयकारी चतुर्ध्यायी रूप ब्रह्मसूत्र का आविष्कार किया।

वृत्तिरित्यापाततोऽर्था दुर्म्मतिभिः प्रतीयन्ते । तानिमान् पूर्वपक्षान् विधाय परस्य विष्णोरिह स्वातन्त्र्यसर्वकर्तृत्वसा- र्वज्ञ्यपुमर्थत्वादिधर्मकविज्ञानस्वरूपत्वं निरूप्यते । तथाहि, ईश्वर-जीव-प्रकृति-काल-कर्माणि पञ्चतत्त्वानि श्रूयन्ते। तेषु विभुचैतन्यमीश्वरोऽणुचैतन्यन्तु जीवः । नित्यज्ञानादिगुणकत्वमस्मदर्थत्वञ्चोभयत्र । ज्ञानस्यापि ज्ञातृत्वं प्रका- शस्य स्वप्रकाशकत्ववदविरुद्धम् । तत्रेश्वरः स्वतंत्रः स्वरूपशक्तिमान् प्रवेशनियमनाभ्यां जगद्विदधत् क्षेत्रज्ञभोगापवर्गौ वितनोति । एकोऽपि वहुभावेनाभिन्नोऽपि गुणगुणिभावेन च विद्वत्प्रतीतेर्विषयोऽव्यक्तोऽपि भक्तिव्यंग एकरसः प्रयच्छति चित्सुखं स्वरूपम् । जीवात्मानस्त्वनेकावस्था बहवः । परेशवैमुख्यात्तेषां बन्धस्तत्सान्मुख्यात्तु तत् स्वरूपतद्गुणावरणरूपद्विविधबन्धविनिवृत्तिस्तत्स्वरूपादि साक्षात्कृतिः । प्रकृतिः सत्त्वादिगुणसाम्यावस्था तमोमायादि शब्दवाच्या तदीक्षणावाप्तसामर्थ्या विचित्रजगज्जननी । कालस्तु भूतभविष्यद्वर्त्तमानयुगपच्चिरक्षिप्रादिव्यवहार- हेतुः क्षणादिपरार्द्धान्तश्चक्रवत् परिवर्त्तमानः प्रलयसर्गनिमित्तभूतो जडद्रव्यविशेषः । ईश्वरादयश्चत्वारोऽर्था नित्याः । 'नित्यो नित्यानां चेतनः चेतनानामिति' 'गौरनाद्यन्तवतीति'। 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इति श्रुतेः। जीवादयस्तु तद्वश्याश्च 'स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः । प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः' इति श्वेताश्वतरवचनात् । कर्म च जडमदृष्टादिशब्दव्यपदेश्यमनादि विनाशि चं भवति । चतुर्णामेषां ब्रह्मशक्तित्वादेकं

कुछ पण्डिताभिमानी अज्ञव्यक्ति वेद के वास्तविक अर्थ को जानने में असमर्थ होकर आपाततः इस प्रकार अर्थ किया करते हैं। यथा-वेदों में कर्म ही समस्त पुरुषार्थ का कारण है, श्रीविष्णु कर्म्म का अंग रूप हैं, स्वर्गादिक कर्मफल नित्य हैं, जीव तथा प्रकृति स्वयं कर्ता हैं, ब्रह्म परिच्छिन्न प्राप्त होकर किम्वा प्रतिविम्बित हो अथवा भ्रान्त होकर जीव हो जाता है, जीव को "मैं चिन्मात्र ब्रह्म हूँ" इस प्रकार ज्ञान हो जाने पर उसका संसार नाश वा मोक्ष होता है इत्यादि । इस ब्रह्मसूत्र बेदान्तदर्शन में इन मतों को पूर्वपक्ष करते हुए परमपुरुष विष्णु ही स्वतन्त्र, सर्वकर्त्ता, सर्वज्ञ, मुक्तिदाता, विज्ञानस्वरूप ये सब निरूपित किये जायेंगे ।

सिद्धान्त—ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल, कर्म्म ये पाँच प्रकार के तत्व शास्त्र में सुनने में आते हैं। उनमें से विभुचैतन्य ईश्वर तथा अणुचैतन्य जीव हैं। दोनों नित्यज्ञानादि गुण विशिष्ट तथा अस्मदृशब्दवाच्य हैं। प्रकाश के स्वप्रकाश की तरह ज्ञान के ज्ञातृत्व में कोई विरोध नहीं है। उनमें ईश्वर स्वतन्त्र, स्वरूप शक्तिविशिष्ट हैं। वे प्रकृत्यादि में अणुरूप से प्रवेश तथा उनका नियमन के द्वारा जगत् की सृष्टि करते हैं तथा जीव के भोग- अपवर्ग के दाता भी हैं। आप एक होकर भी विभिन्नभाव से तथा अभिन्न होकर भी गुण-गुणी और देह- देही भाव से ज्ञानियों के प्रतीति विषय होते हैं।

वे व्यापक होकर भी प्रेम कज्वल युक्त भक्तिनेत्रों से ग्रहणीय हैं। अखण्ड एकरस होकर भी स्वरूप- भूत चितसुख अर्थात् ज्ञानानन्द को प्रदान करते हैं। जीवात्मा बहु तथा अनेक अवस्था में युक्त है। ईश्वर- वैमुख्य के कारण जीव का बन्धन और सामुख्य से स्वरूपावरणकारी तथा गुणों का आवरणकारी उन दोनों प्रकार के बन्धन के नाश हो जाने पर स्वरूपसाक्षात्कार होता है। प्रकृति, सत्व-रज-तमोगुण की समान अवस्था है। वह प्रकृति तमो-मायादि शब्द के द्वारा कही जाती है और वह ईश्वर के ईक्षण से सामर्थ्यवती होकर विचित्र जगत् की सृष्टि करती है। भूत, भविष्यत्, वर्तमान, युगपत्, चिर-क्षिप्र प्रभृति व्यवहार का कारण स्वरूप तथा क्षण से परार्द्ध पर्य्यन्त उपाधि युक्त, चक्र की भाँति परिवर्त्तनशील, प्रलय और सृष्टि के निमित्तरूप, जडद्रव्य विशेष ही काल है। ईश्वर-जीव-प्रकृति-काल ये चारों पदार्थ नित्य हैं।

"नित्यों का नित्य चेतनों का चेतन" "गौरनाद्यन्तवती" "सृष्टि के पहले ही सत था" इत्यादि वेदवाक्य से यह सब जाना जाता है। जीव-प्रकृति-काल ये ईश्वर के आधीन हैं। "वे ईश्वर विश्व के कर्त्ता तथा वेत्ता हैं

शक्तिमद्ब्रह्मेत्यद्वैतवाक्येऽपि संगतिरितीमेऽर्थाश्चतुर्लक्षण्यामस्यां यथास्थलं प्रकाश्यन्ते । लक्षणान्यध्यायाः । तद- र्थात्मके श्रीभागवते विव्रियते । 'भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले । अपश्यत्पुरुषं पूर्णं मायां च तदपाश्रयाम् । यया संमोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम् । परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते ॥ अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्ति- योगमधोक्षजे । लोकस्याजानतो व्यासश्चक्रे सात्वतसंहिताम्' इति ॥ 'द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च । यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया' इति चैवमादिभिः । अस्य सूत्रार्थ्यत्वं च स्मर्यते । 'अर्थोऽयं ब्रह्मसू- त्राणामिति । तत्र प्रथमे लक्षणे सर्वेषां बेदानां ब्रह्मणि समन्वयः । द्वितीये सर्वशास्त्राविरोधः । तृतीये ब्रह्माप्तिसा- धनानि । चतुर्थे तु तदाप्तिः फलमिति । यत्र निष्कामकर्मनिर्मलचित्तः सत्प्रसंगलुब्धः श्रद्धालुः शान्त्यादिमान् अधिकारी । संबन्धो वाच्यवाचकभावः । विषयो निरवद्यो विशुद्धानन्तगुणगणोऽचिन्त्यानन्त-शक्तिः सच्चिदानन्दः पुरुषोत्तमः । प्रयोजनन्त्वशेषदोषविनाशपुरःसरस्तत्साक्षात्कार इत्युपरि स्पष्टं भावि । यस्यां खलु विषय-संशय- पूर्वपक्ष-सिद्धांत-संगति भेदात् पञ्च न्यायांगानि भवन्ति । न्यायोऽधिकरणम्, विषयो विचारयोग्यवाक्यं, संगतिरिह शास्त्रादिविषयतया बहुविधाऽपि न वितायते, विषयावगतौ स्वयमेव विद्योतनात् । इत्येवं स्थिते ब्रह्मजिज्ञासाधिकरणं

और जीवात्मा का कारण, सर्वज्ञ, काल का भी कर्त्ता हैं। वे सुन्दर गुणों से युक्त, निखिलकला में कुशल, प्रकृति तथा जीव के स्वामी, सत्त्वादि गुणों का नियामक, संसार के बन्धन-स्थिति तथा मोक्ष का कारण रूप हैं" इत्यादि श्वेताश्वतरउपनिषद् में कथन है। कर्म-अदृष्टादि शब्द से व्यवहारप्राप्त, अनादि, अविनाशी, जड़ पदार्थ है। जीवादि चारों पदार्थ ब्रह्म की शक्ति के कारण ब्रह्म ही शक्तिमान् अद्वितीय वस्तु है। इससे अद्वितीय अर्थात् अद्वैतवाक्य की संगति हो जाती है। यह सब चतुरध्यायी रूप वेदान्तसूत्र में यथा स्थान तथा प्रकार विस्तार होगा। श्रीमद्भागवतशास्त्र ही ब्रह्मसूत्र का अप्राकृतभाष्य रूप है तथा उस में ब्रह्मसूत्र के अर्थों का विचार है। उसमें ऐसा कथन है—"श्रीव्यासजी ने भक्तियोग के द्वारा समाधि अवस्था में निर्म्मल मन हो जाने पर पूर्ण पुरुष श्रीभगवान् तथा भगवान् के आश्रय में दूर पर रहने वाली माया को देखा। जीव स्वयं परमेश्वर का अंश रूप होने पर भी उस माया के द्वारा मोहित होकर अपने को त्रिगुणात्मक समझ कर अनर्थ को प्राप्त होता है। भगवान् के भक्तियोग से ही वह अनर्थ नाश हो जाता है ऐसा अज्ञानजीवों को जताने के लिये श्रीव्यासदेव ने सात्वतसंहिता श्रीभागवत का आविष्कार किया" इत्यादि। और भी—"द्रव्य-काल-कर्म-स्वभाव तथा जीव जिनके अनुग्रह से ठहरते हैं तथा जिन की उपेक्षा से नहीं रह सकते हैं वह परमपुरुष श्रीहरि ही हैं" इत्यादि। श्रीमद्भागवत ब्रह्मसूत्र का भाष्य रूप है—यह गरुडपुराण में वर्णित है। "यह ब्रह्मसूत्र का अर्थ रूप, भारत का अर्थ निर्णयकारी, गायत्रीभाष्य स्वरूप, बेदार्थ से युक्त, पुराणों में श्रेष्ठ, साक्षात् भगवान् के द्वारा कथित, भागवत नामक महारत्न है" इत्यादि। इस ब्रह्मसूत्र में चार अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में समस्त वेद का ब्रह्म में सम- न्वय, द्वितीय अध्याय में अन्य शास्त्रों का विरोध परिहार, तृतीय अध्याय में ब्रह्म प्राप्ति का साधन, चतुर्थ अध्याय में ब्रह्मप्राप्ति ही फलरूप परमपुरुषार्थ, यह सब दिखलाये जायेंगे। निष्काम कर्म से निर्मलचित्त, सत्प्रसंग में लुब्ध, श्रद्धाशील, शम-दमादि सम्पन्न जीव इस शास्त्र का अधिकारी है। ब्रह्म वाच्य तथा शास्त्र स्वयं वाचक है। यह वाच्य वाचक सम्बन्ध है। अनवच्छिन्न, विशुद्ध अनन्त गुणों से युक्त, अचिन्त्य अनंत शक्तिशाली, सच्चिदानन्दमय, परब्रह्म पुरुषोत्तम श्री गोविन्द शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय हैं। अशेष दोष-विनाश के साथ भगवत् साक्षात्कार परम प्रयोजन है। इस शास्त्र में विषय-संशय-पूर्वपक्ष-सिद्धान्त तथा संगति ये पाँच न्याय अर्थात् विचार के अंग हैं। न्याय शब्द का अर्थ अधिकरण है। विचार योग्य का नाम विषय है। एक प्रकार धर्म में परस्पर विरोधी नाना प्रकार के अर्थ विचार संशय है। प्रतिकूल अर्थ का नाम पूर्वपक्ष है। प्रामाणिक रूप से

तावत् प्रवर्तते। 'यो वै भूमा तत् सुखं नान्यत्सुखमस्ति, भूमैव सुखं, भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य' इति । 'आत्मा
वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयीति' च श्रूयते। निदिध्यासितव्यो जिज्ञासितव्यः । इति
भवति संशयः, अधीतवेदस्य पुंसो धर्मज्ञस्य ब्रह्मजिज्ञासा युक्ता न युक्ता वेति ? अपामसोमममृता अभूम, अक्षय्यं
ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवतीत्यादिषु धर्मैरमृतत्त्वाक्षय्यसुखत्वश्रवणान्न युक्तेति पूर्वस्मिन् पक्षे प्राप्ते भगवान्
बादरायणो व्यासः प्रारिप्सितस्य शास्त्रस्यादिमं सूत्रमिदमवतारयति ।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ।। १ ।।

अथातः शब्दावत्रानन्तर्य्यहेतुभावयोर्भवतः। अथानन्तरमतो ब्रह्मजिज्ञासा युक्तेत्यक्षरयोजना । विधि-
नाधीतवेदस्यापाततोऽधिगततदर्थस्याश्रमसत्यादिभिश्च विमृष्टसत्त्वस्य लब्धतत्त्ववित्प्रसंगस्याथ तत्प्रसंगानन्तरमतः
काम्यकर्माणि परिमितानित्यफलानि, ब्रह्मस्वरूपं तु ज्ञानलभ्यमक्षयानन्तचित्सुखं नित्यज्ञानादिगुणकं नित्यसुखहेतु-
रिति प्रत्ययात्काम्यकर्मप्रहाणपुरः सरा चतुर्लक्षण्या जिज्ञासा युक्तेत्यर्थः। नन्वधीताद्वेदादेव तत्तदवगतिः स्याद-
ध्ययनस्यार्थावबोधनपर्यन्तत्वात्। ततस्तत्प्रहाणे तदुपासने च धीः प्रवर्तते, किमनया चतुर्लक्षण्येति चेदुच्यते।
आपाततः प्रतीतादर्थाद्वास्तवादपि संशयविपर्य्ययाभ्यां धीर्विभ्रंशते। सोपपत्तिकया तया तु अधीतया तावतिवर्त्य

अर्थ का उपस्थित सिद्धान्त है। पूर्वोत्तर दोनों अर्थ का अविरोध संगति है। संगति बहु प्रकार है । विस्तारभय से
उस का वर्णन नहीं किया जाता है। स्थान-स्थान पर उसका वर्णन होगा। अब ब्रह्म जिज्ञासा रूप अधिकरण का
प्रारम्भ किया जाता है। शास्त्र में कहा गया "जो विपुल सुख रूप है वह वास्तविक सुख स्वरूप है वह श्रीहरि हैं,
उनसे अतिरिक्त और कोई सुख नहीं है भूमा पुरुष ही सुख स्वरूप हैं वे जिज्ञास्य हैं""हे मैत्रेयि! आत्मा ही अर्थात्
परमेश्वर ही देखने का विषय है, सुनने का विषय तथा मनन करने के योग्य और निधिध्यासन का विषय है।"
यहाँ निधिध्यासन जिज्ञासा है। अर्थात् वह ब्रह्म जिज्ञासा के विषय है। यहाँ संशय यह होता है कि वेद को पढ़ने
वाला तथा धर्म को जानने वाले पुरुष की ब्रह्म-जिज्ञासा उचित है किम्बा नहीं है। जब "सोमपान से अमर होता
है" "चातुर्म्मास्ययाजी अक्षय सुकृतशाली होता है" इत्यादि श्रुतिवचनों से धर्म्मों के द्वारा अमृतत्व तथा नाश
रहित सुख की प्राप्ति सुनने में आती है अतएव ब्रह्म जिज्ञासा आवश्यक नहीं है इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर
भगवान् व्यास जी शास्त्र के पहले इस सूत्र का अवतारण करते हैं ।।

यहाँ अथ और अत शब्द क्रम से अनंतर तथा हेतुभाव में हैं। अनंतर इस कारण से ब्रह्मजिज्ञासा
उचित है यह अक्षरयोजना है। जिसने विधि पूर्वक वेद का अध्ययन किया है, तथा जिसने आपाततः वेद का अर्थ
जान लिया है, जिसका चित्त आश्रम विहित कर्म्मों से तथा अग्निहोत्रादिक से विशुद्ध हो गया है तथा जिसने
तत्ववित्-प्रसंग प्राप्त होकर "पुत्रादि काम्यफल समूह परिमित अनित्य फल दायक हैं तथा ब्रह्म स्वरूप ज्ञान के
द्वारा लब्ध-अक्षय अनंत चित् सुख रूप, नित्यज्ञानदि गुण विशिष्ट, तथा नित्यसुख का कारण हैं" ऐसा जान
लिया है, उस विद्वान के लिये काम्यकर्मों का परित्याग कर चतुर्लक्षण ब्रह्मसूत्र से ब्रह्मजिज्ञासा उचित है। अच्छा?
वेद के अध्ययन से ही यह प्रतीति हो सकती है, अध्ययन से ही अर्थ का बोध होता है, उसके पश्चात् काम्यकर्म
परित्याग में तथा ब्रह्म की उपासना में बुद्धि प्रवर्त्तित होती है। तब ब्रह्मसूत्र की आवश्यकता क्या है ? यदि ऐसे
कहोगे तो उसका समाधान यह है—अपाततः प्रतीयमान अर्थ में संशय-विपर्य्यय रहता है। उस से वास्तविक
वस्तु में बुद्धि का प्रवेश नहीं हो सकता है। बोध के साथ अध्ययन के द्वारा संशय-विपर्य्यय नाश हो जाने पर
परमार्थ वस्तु में बुद्धि की दृढ़ता हो जाती है इसलिये अध्ययन आवश्यक रहता है। इस का तात्पर्य्य यह है—

परमार्थे तस्मिन्नसौ स्थिरीभवतीत्यावश्यकं तदध्ययनम् । अयमर्थः, आश्रमकर्माणि चित्तशोधकतया ज्ञानाङ्गानि
भवन्ति। "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानशनेन" इति बृहदारण्यश्रुतेः। सत्यतपो-
जपादीनि च "सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यक् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यमिति" मण्डूकश्रुतेः। "जप्येनैव च
संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः। कुर्यादन्यन्नवा कुर्य्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यत" इत्यादिस्मृतेश्च। तत्त्ववित्प्रसङ्गः खलु
ज्ञानहेतुः, नारदादीनां सनत्कुमारादिप्रसंगेन ब्रह्मजिज्ञासादर्शनात्, "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदे-
क्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन" इति स्मृतिभ्यश्च। काम्यकर्माण्यनित्यफलानि "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते
एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयत" इति छान्दोग्यश्रुतेः। ब्रह्मैव तु ज्ञानैकगम्यम्, "परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्
ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमिति" मण्डूक-
श्रुतेः। अक्षयानन्तसुखं च "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म," "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानादिति" तैत्तिरीयकात्। नित्यज्ञानादि-
गुणकं च "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" "सर्वस्य शरणं सुहृत्" "भावग्राह्यमनी-
डाख्यम्" इत्यादि श्वेताश्वतरवचनात्। नित्यसुखदत्वं च "तं पीठस्थं ये तु यजन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरे-
षाम्" इति गोपालोपनिषदुक्तेः। काम्यकर्मणां हेयता तु तृतीये वक्ष्यते। तथा च। साङ्गं सशिरस्कं च वेदमधीत्य
तदर्थानापाततोऽधिगम्य तत्त्ववित्प्रसङ्गेन नित्यानित्यविवेकतोऽनित्यवितृष्णो नित्यविशेषावगतये चतुर्लक्षण्यां
प्रवर्त्तेत इति। न चात्र कर्मसंपत्त्यानन्तर्यं शक्यं वक्तुं, तद्वतामपि सत्संगविरहिणां ब्रह्मजिज्ञासाया अदर्शनात्,

---

आश्रम कर्म्मसमूह चित्तशोधक होने के कारण ज्ञान के अंग रूप हैं। बृहदारण्यकश्रुति में कहा "उस परमात्मा को
ब्रह्मचारिगण वेदानुवचन के द्वारा, गृहिगण दान तथा यज्ञ के द्वारा, वनवासिगण तप और अनाहार के द्वारा प्राप्त
करते हैं" इत्यादि । मण्डूकश्रुति में भी कहा है "सत्य-तपस्या-जपादिक ज्ञानांग समूह सत्य वचन से और पर-
मात्मा सम्यक् ज्ञान तथा तपस्या से प्राप्त होते हैं" । मनु जी ने भी कहा—"मन्त्र जप के द्वारा ब्राह्मण कृतार्थ हो
जाता है"। तत्ववित्प्रसंग भी ज्ञान का कारण होता है। नारदादि मुनि-ऋषिगण ने सनत्कुमारादि के प्रसंग से
ब्रह्म ज्ञान प्राप्त किया है। शास्त्र में कहा—"ज्ञानी तत्वविद्गण उस ज्ञान का उपदेश करते हैं। बार-बार प्रण-
मादि के द्वारा, प्रश्न के द्वारा, सेवा के द्वारा उस ब्रह्म को जानो" इत्यादि। काम्यकर्म समूह अनित्यफल को देने
वाले होते हैं। छान्दोग्यश्रुति में कहा है। "इस पृथिवी में कर्म्मार्जित फल जिस प्रकार क्षय को प्राप्त होता है
ठीक उसी प्रकार परलोक में स्वर्गादि पुण्यफल क्षयशील होता है। केवल एकमात्र ज्ञान से ही ब्रह्म प्राप्ति होती
है।" मण्डूकश्रुति में-"कर्म-उपार्जनकारी लोगों की परीक्षा के द्वारा उनके कर्म्म को अनित्य जान कर वेदवेत्ता गुरु के
निकट जाकर उपार्जित ज्ञान के द्वारा ब्रह्म प्राप्ति करें।" अनित्य कर्म्म के द्वारा नित्यवस्तु ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो
सकती है। तैत्तिरीयश्रुति में कहा है—"ब्रह्म अक्षय अनन्त सुख स्वरूप है, अनन्त ज्ञान रूप ब्रह्म है, आनन्द
रूप ब्रह्म है" इत्यादि। ब्रह्म के नित्यज्ञानादिक गुण समूह श्वेताश्वतर में कहे गये हैं। "भगवान् की स्वाभाविकी,
ज्ञान-बल-क्रिया आदिक विविध पराशक्ति सुनने में आती हैं" "वे सब के शरण्य तथा सुहृद् भी हैं, विभु हैं,
परन्तु भाव से ग्रहणीय भी हैं"। गोपालतापिनी में नित्यसुखद गुण का प्रमाण मौजूद है—"जो धीर योगपीठस्थ
उन परब्रह्म श्रीकृष्ण का याजन करते हैं उन को ही नित्यसुख मिलता है, अन्य के लिये नहीं है" । तृतीय अध्याय
में काम्यकर्म्मों की हेयता कही जायेगी। अतएव शिक्षादि षडंग के द्वारा तथा उपनिषद् के साथ वेद समूह का
अध्ययन कर आपातत उस का अर्थ अवगत होकर तत्ववित् प्रसंग से जगत् को अनित्य जान उसमें विरक्त हो,
उस से भिन्न तथा नित्य ब्रह्म को विशेष रूप से जानने के लिये इस चतुरध्यायी ब्रह्मसूत्र में प्रवृत्त होवें।

यहाँ यज्ञादिक कर्म्म के अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा उचित इस प्रकार नहीं कह सकते हो। क्योंकि कर्म्मा-

तच्छून्यानामपि सत्यादिपूतानां सत्प्रसङ्गिनां दर्शनाच्च । न च नित्यानित्यविवेकादि, साधनचतुष्टयसंपत्त्यानन्तर्य्यं शक्यं वक्तुम्।प्राक् तस्या दौर्लभ्यात्सत्प्रसङ्गशिक्षापरभाव्यत्वाच्च । तदवाप्तज्ञानाः खलु देशिकभावानुसारिणः सनिष्ठादिभेदात् त्रिधा भवन्ति । निष्ठया कर्माण्याचरन्तः सनिष्ठाः । लोकसंजिघृक्षया तान्याचरन्तः परिनिष्ठिताः । ध्यानमेवानुतिष्ठन्तो निरपेक्षाश्च । सर्वे ह्येते ब्रह्मविद्ययैव स्वभावानुसारि परं ब्रह्म गच्छन्तीत्युपर्यु परि विशदीभविष्यति । "नन्वोंकारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं भित्वा विनिर्जातौ तेन माङ्गलिकावुभौ", इति स्मृतेर्मङ्गलमेवाथशब्दार्थः, शास्त्रारम्भे हि शिष्टा विघ्ननाशाय तदाचरन्तीति चेन्नैवम् ,ईश्वरस्य विघ्नाशंकाविरहात् । तस्येश्वरत्वं तु, "कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुमिति" स्मृतेः । तथापि मङ्गलात्मकत्वात्तस्मात् कम्बुस्वनादिवत् तत्संभवेदिति तेनैव लोकोऽपि संगृहीतः । तस्मात्तादृशस्य पुंसस्तदनन्तरं तज्जिज्ञासा युक्तेति । अविन्दुमस्तको योऽङ्कः सूत्रतो बृत्तितो ऽपि सः । द्विविन्दुमस्तकस्त्वेष बोध्योऽधिकरणाश्रितः ॥ १ ॥

ननु पूर्वत्र भूमशब्देन च जीवमभ्युपेत्य ब्रह्मशब्देनापि तमेवाह । प्राक् प्राणप्रक्रियया पतिजायादिप्रीतिसंसूचनया च तस्यैव प्रत्ययत्वात् बृहज्जातिजीवकमलासनशब्दराशिष्विति ब्रह्मशब्दस्य च तत्र रूढेरित्येतां भ्रान्तिमपनेतुमारम्भः । तैत्तिरीयके, "भृगुर्वै वारुणिर्वरुणं पितरमुपससार अधीहि भो भगवो ब्रह्म" इत्युपक्रम्य पठन्ते ।

दिक करने वालों का भी सत्संग के रहित होने का करण ब्रह्मजिज्ञासा नहीं देखने में आती है और कर्म्म से रहित अथच सत्-आचरण के द्वारा सत्संग के वल से ब्रह्मजिज्ञासा देखने में आती है । अद्वैतवादीगण कहते हैं नित्यानित्यवस्तु का विवेक, इह-अमुत्र फलभोग से विराग, शम-दमादि गुणसम्पन्न और मुमुक्षुत्व इन साधन चतुष्टय के अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा उचित है,सो भी नहीं कह सकते हैं । क्योंकि तत्वज्ञ सत्प्रसंग के पहिले उक्त चार प्रकार साधन का सम्भव नहीं है किन्तु साधुसंग और वेदाध्ययन शिक्षा के पीछे साधनसम्पति का लाभ होता है । सत्प्रसंग प्राप्त जीव आचार्य्य के भावानुसार सनिष्ठादि भेद से तीन प्रकार का है । निष्ठा के साथ कर्म्म करने वाला सनिष्ठ, लोकसंग्रह की इच्छा से कर्म्म करने वाला परिनिष्ठित, ध्यानमात्र अवलम्वनकारी निरपेक्ष है । यह सव ब्रह्मविद्या के वल से स्वस्वभावानुसार परब्रह्म को प्राप्त होते हैं । यह विषय आगे विस्तार से वर्णन होगा । अच्छा ? "ओंकार और अथशब्द दोनों पहिले ब्रह्मा जी के कण्ठ को भेद कर निकलने के कारण दोनों मांगलिक शब्द हैं । अतः अथ शब्द मंगलवाची है । शास्त्र के आरम्भ में शिष्टगण विघ्न नाश के लिये व्यवहार करते हैं" यह भी ठीक नहीं है—साक्षात् नारायण कृष्णद्वैपायन श्रीव्यास में विघ्न की शंका कहाँ है । स्मृति में कृष्णद्वैपायन व्यास को "नारायण जानना" इस प्रकार कहा है । तो भी अर्थात् अनभिप्रेत होने से भी अनन्तर अर्थ में व्यवहृत मांगलिक अथ शब्द, शंख ध्वनि की भाँति मंगल की सूचना कर लोकसंग्रह रूप उपदेश को प्रदान करता है । इसलिये निष्काम कर्म्मादि के द्वारा विशुद्ध चित्त पुरुष का सत्संग के अनन्तर मंगलमय ब्रह्मजिज्ञासा उचित है । सूत्र और वृत्ति से विन्दु मस्तक में जो अंक नहीं है सो अधिकरण से आश्रित होकर द्विविन्दु युक्त होता है ॥ १ ॥ (इति जिज्ञासाधिकरणम्)

अच्छा, पहिले भूमाशब्द से तथा आत्माशब्द से जिस प्रकार जीव को समझा जाता है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्मशब्द से जीव को समझा जावे । भूमावाक्य का पहिले जो प्राणप्रक्रिया का वर्णन है उसके द्वारा और आत्मवाक्य का पहिले जो पतिजायादि प्रीति सूचक वर्णन है उसके द्वारा उक्त-उक्त स्थान पर जीव ही समझा जाता है । ब्रह्मशब्द से बृहत् , जाति, जीव, कमलासन और वेद कहा जाता है । उनमें से कौन को समझें ? इस प्रकार आशंका होने पर उसके निराकरण के लिये कहते हैं । तैत्तिरीयश्रुति में कहा है "वारुणि भृगुजी ने अपने पिता वरुण जी के पास जाकर कहा । पिता ! मुझे ब्रह्म उपदेश कीजिये" तब वरुण जी

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म तद् विजिज्ञासस्वेति" । इह संशयः, जिज्ञास्यं ब्रह्म जीवः सर्वेश्वरो वेति ? 'विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति । शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वान् कामान् समश्नुते' इति तत्रैव जीवेऽपि ब्रह्मत्वध्येयत्वादि–श्रवणाददृष्टद्वारा भूतोत्पत्त्यादिहेतुत्वसंभवाच्च जीवः स्यादिति प्राप्ते जिज्ञास्यस्य ब्रह्मणो लक्षणमाह :—

जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥

जन्मादीति । तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिणा जन्मस्थितिभङ्गादि बोध्यते । अस्य चतुर्दशभुवनात्मकस्य विरिञ्च्यादिस्थावरानन्तकर्तृभोक्तृयुक्तस्य नानाविधकर्मफलायतनस्य जीवातर्क्यातिविचित्ररचनस्य विश्वस्य यतो यस्मात्परात् वा अविचिन्त्यशक्तिकात् स्वयं–कर्त्तादिरूपादुपादानरूपाच्च जन्मादि भवति तद् ब्रह्मात्र जिज्ञास्यमित्यर्थः । भूमात्मशब्दौ व्याप्तिगुणयोगेन भगवति मुख्यवृत्तौ भूमाधिकरणे वाक्यान्वयाधिकरणे च तथैव निर्णेष्यमाणत्वात् ब्रह्मशब्दस्तु निःसीमातिशयगुणयोगात् तत्रैव वर्तते । 'अथ कस्मादुच्यते ब्रह्मेति बृहन्तो ह्यस्मिन् गुणा' इति श्रौतनिर्वचनात् अतोऽयं तत्रैव मुख्यः । ततोऽन्यत्र तु तद्गुणांशयोगात् भाक्त एव राजादिवत् । स एव स्वाश्रितवात्सल्यनीरधिस्तापत्रयविप्लुष्यमाणैर्जीवैर्निश्रेयसाय जिज्ञास्यः अतः परब्रह्माभिधानः पुरुषोत्तम एव जिज्ञासाकर्मभूतः । न चात्र गुणाध्यासो वक्तुं युक्तः वस्तुतो ब्रह्त्वप्रसंगात् । जिज्ञासा च ज्ञानेच्छैव । ज्ञानं च परोक्षापरोक्षरूपं द्विविधं, विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीतेति श्रुतेः । तत्र परमेव प्रापकं, पूर्वं तु तत्र द्वारमिति स्फुटीभविष्यति ।

पढ़ने लगे । "जिससे यह समस्त जगत् उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा जात जगत्-समूह ठहरता है और प्रलय के समय समस्त जगत् जिसमें प्रवेश करता है, वह ब्रह्म है उसकी जिज्ञासा करो ।" यहाँ संशय है कि जिज्ञास्य ब्रह्म, जीव किम्वा सर्वेश्वर है ? "विज्ञान ब्रह्म अर्थात् जीव रूप ब्रह्म के अवगत होने पर जीव विधूत पाप होकर सर्वेश्वरत्व लाभ करता है, तव उस को प्रमादग्रस्त नहीं होना पड़ता है ।" यहाँ जीव का ब्रह्मत्व तथा ध्येयत्वादिक सुनने में आता है और उससे भूतजगत्प्रभृति की उत्पत्ति आदिक की सम्भावना है अतः जिज्ञास्य ब्रह्म जीव ही हो इस प्रकार संशय समूह के निराकरण के लिये जिज्ञास्यब्रह्म का लक्षण निर्देश करते हैं ।

जिससे जन्मादिक होता है वह ब्रह्म है । यहाँ तद्गुणसम्विज्ञान बहुव्रीहिसमास से जन्म-स्थिति-नाशादिक जानना । यह चौदह भुवनात्मक, ब्रह्मा से लेकर स्तम्भ पर्य्यन्त, अनन्त कर्तृत्व भोक्तृत्व से युक्त, नाना प्रकार के कर्म्म फल का आधार, जीव के विचार से भी परे, अति विचित्र रचनामय, विश्व का जन्म-स्थिति-नाशादिक जिस अचिन्त्य शक्तिशाली, स्वयं कर्त्ता भोक्तादिरूप, और उपादान (मूलकारण) स्वरूप परम पुरुष से होता है वह ब्रह्मवस्तु ही जिज्ञास्य है । व्यापकधर्म्म गुण के कारण भूमा और आत्मा शब्द की मुख्यवृत्ति भगवान्‌ में है यह सब बात भूमाधिकरण तथा वाक्यान्वयाधिकरण में आगे निर्णय होगी । ब्रह्मशब्द सीमारहित अतिशय गुणयोग के हेतु भगवान् में मुख्य है । "किस लिये ब्रह्म कहा जाता है ? विशालगुण समूह रहने का कारण" यह श्रुति के वचन से ब्रह्मशब्द भगवान् में मुख्य है । अन्य स्थल में राजसेवकों में राजा शब्द के प्रयोग की तरह भगवान् के गुणों की स्थिति अंश रूप से रहने का कारण भान अर्थात् उपचार है । अपने आश्रितजनों के वात्सल्य सागररूप वह परब्रह्म नामक पुरुषोत्तम, त्रिताप से पीड़ित जीवों के उद्धार के लिये जिज्ञास्य कर्म रूप हैं । यहाँ भगवान् में गुणों का अध्यास है—ऐसा नहीं कह सकते हो । क्योंकि यहाँ वास्तविक ब्रह्मत्व का प्रसंग है । जिज्ञासा शब्द का अर्थ है जानने की इच्छा । ज्ञान परोक्ष और अपरोक्ष रूप से दो प्रकार का है । "ब्रह्म को वेद से जान कर उसकी उपासना करें" इस प्रकार श्रुतिवाक्य से परोक्ष ज्ञान और भक्ति-उपासना प्रभृति उसका साधन है यहाँ अपरोक्ष ज्ञान जानना । ब्रह्मज्ञान के विषय में जीव का अपने जो स्वरूप ज्ञान का उपयोगित्व है उसे कहते

विज्ञानं ब्रह्म चेत्यादिकं तु जीवस्वरूपज्ञानमिहोपयोगीतीहैव वक्ष्यते च,इह ब्रह्मणो जीवेतरत्वप्रतिपादनात् तयोरद्वैतं नाभिमतं" नेतरोऽनुपपत्तेर्भेदव्यपदेशाच्च मुक्तोपसृप्यव्यपदेशादाकाशोऽर्थान्तरत्वादि व्यपदेशाद्भेदमात्रसाम्यलिङ्गाच्चेति सूत्रे मोक्षेऽपि तयोर्द्वैतनिरूपणाच्च ॥ २॥

"उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्य्यनिर्णये।' इति यानि शास्त्रतात्पर्य्यनिर्णेतृणि षड्विधानि लिङ्गानि स्मृतानि तान्यपि द्वैत एव विलोक्यन्ते। तथाहि श्वेताश्वतराः, द्वा सुपर्णेत्युपक्रमः, अन्यमीशमित्युपसंहारः, तयोरन्योऽनश्नन्नन्योऽन्यमीशमिति अभ्यासः। ईश्वरसंबन्धिभेदस्य शास्त्रं विना अप्राप्तेरपूर्वता, वीतशोक इत्यादि फलं, अस्य महिमानमेतीत्यर्थवादः, अन्योऽनश्नन्नित्युपपत्तिश्चेत्येवमन्यत्राप्येतानि मृग्याणि। ननु फलवत्यज्ञातेऽर्थे शास्त्रतात्पर्यात् तादृशमद्वैतं तस्य गोचरः, वैकल्याज्ज्ञातत्वाच्च द्वैतं न तद्गोचरः, किंतु अनूद्यमानमेव तदिति चेन्नैवम्। 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेतीत्यादिना श्वेताश्वतरैस्तत्र फलस्योक्तेः। विरुद्धधर्म्मावच्छिन्नप्रतियोगिकतया लोके तस्याज्ञातत्वाच्च। अद्वैतं त्वफलमस्वीकारादज्ञातं च शशशृङ्गवदसत्वात्। यानि च तदद्वैतबोधकानि वाक्यानि क्वचिद्वीक्ष्यन्ते तानि तन्मात्रायत्तवृत्तिकत्वतद्व्याप्यत्वादिभिः शास्त्रकृतैव संगमयिष्यन्ते।' शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववदित्युपरिष्टात। अथ

हैं। "ब्रह्म से जीव अन्य है" इस प्रकार प्रतिपादन होने के कारण दोनों का अद्वैत अभिमत नहीं है। "नेतरोऽनुपपत्तेः" "भेदव्यपदेशात्" "मुक्तोपसृप्यं व्यपदेशात्" "आकाशो अर्थान्तरत्वात्" इत्यादि सूत्रों की व्याख्या में जीव और ब्रह्म का द्वैतत्व तथा केवल शब्द मात्र से वेद्यत्व प्रभृति व्यक्त हुआ है। अतः मोक्ष अवस्था में भी दोनों का भेद निरूपित हुआ है ॥२॥

शास्त्र का तात्पर्य्य जानने के लिये छः प्रकार के कारण होते हैं। वे उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वताफल, अर्थवाद, उपपत्ति हैं। द्वैत में भी उक्त छः प्रकार के तात्पर्य्य देखने में आते हैं। श्वेताश्वतर श्रुति में कहा है "परमेश्वर और जीव दोनों पक्षी एक स्थान पर समान भाव से देहरूप एक वृक्ष में आश्रय लेकर रहते हैं। उनमें से जीवरूप पक्षी नाना प्रकार सुख दुःख रूप कर्म्म फल का भोग करता है। अपर ईश्वर रूप पक्षी फल भोगी न होकर निर्लिप्त भाव से रहता है। देहरूप वृक्ष में जीव निमग्न होकर माया के द्वारा मोहित हो जाने के कारण अशेष दुःख, शोक को भोगता है। अनन्तर जब अपने से भिन्न ईश्वर को सेव्य रूप और अपने को सेवक रूप मानता है, तब भगवान् की महिमा-समूह को अवगत कर वीतशोक होता है। यहाँ परमेश्वर और जीव रूप दोनों पक्षी यह उपक्रम है, अपर ईश्वररूप पक्षी उपसंहार है, उनमें से एक फल भोगी अपर फल भोगी नहीं है यह अभ्यास है, शास्त्रमात्रवेद्य अणु बृहत्वादि नित्य भेद अपूर्वता है, वीतशोक यह फल है, उनकी महिमा को जानता है यह अर्थवाद है, अपर फल भोगी नहीं है यह उपपत्ति है। इस प्रकार अन्यत्र भी जानना। अच्छा, यदि कोई शंका करे कि फल देने वाला अज्ञात विषय ही शास्त्र का उद्देश्य है, अतएव फलवत् अज्ञात अद्वैत ब्रह्म ही शास्त्र में कहा गया है और फलरहित ज्ञात द्वैत ब्रह्म शास्त्र का विषय नहीं है। भेदोक्ति अनुवाद मात्र है। उसका उत्तर देते हैं। "जीव, निज स्वरूप आत्मा तथा उसके प्रवर्त्तक ईश्वर को भिन्न जान कर भजन के द्वारा मुक्ति लाभ करता है" यह श्वेताश्वतर में द्वैत ज्ञान का फल कहे जाने का कारण और जीव से विरोधीधर्म्म वाले ब्रह्म का विशिष्टरूप, लोकों के ज्ञान में न प्राप्त होने का कारण केवल अद्वैत ब्रह्म ही शास्त्र का विषय है ऐसा नहीं कहा जा सकता है। वास्तविक अद्वैतज्ञान, शशक-शृङ्ग की तरह अलोक (मिथ्या) होने के कारण अज्ञात, और उसमें फल के स्वीकार नहीं होने के कारण निष्फल है। आपाततः अद्वैत बोध कराने वाली जो श्रुतियाँ हैं उनका समाधान "विश्व ब्रह्म का अधीन और व्याप्य है" इत्यादि

जगज्जन्मादिहेतुः पुरुषोत्तमोऽविचिन्त्यत्वाद्वेदान्तेनैव बोध्यो न तु तर्कैरिति वक्तुमारम्भः। "सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे। नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे" इति गोपालतापन्यां, "तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामीति" बृहदारण्यके पठ्यते च। इह संशयः। उपास्यो हरिरनुमानेनोपनिषदा वा वेद्य इति। गौतमाद्यैर्मन्तव्य इति श्रुत्या चाभ्युपगमादनुमानेन स वेद्य इति प्राप्ते :—

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

ईक्षतेर्नेत्यतो नेत्याकृष्यम्। मुमुक्षुभिरसौ नानुमेयः, कुतः, शास्त्रेति। शास्त्रमुपनिषद् योनिर्बोधहेतुर्यस्य तत्त्वात् उपनिषद्बोध्यत्वश्रवणादित्यर्थः। अन्यथौपनिषदसमाख्याविरोधः। मन्तव्य इति श्रुत्या तु स्वानुसारितर्कोऽभ्युपगतः। 'पूर्वापराविरोधेन कोऽर्थोऽत्राभिमतो भवेत्। इत्याद्यमूहनं तर्कः शुष्कतर्कं तु वर्जयेत्।' इत्यादि श्रुतेः। गौतमादि-शुष्कतर्कहेयत्वं तु वक्ष्यते, तर्काप्रतिष्ठानादिति। तस्मात् वेदान्तात् विदित्वासौ ध्येय इति। इदमेवादुष्टं प्रमाणमिति सूत्रयति। श्रुतेस्तुशब्दमूलत्वादिति। इत्थं च हरेरात्ममूर्त्तित्वमनभूतेरनुभवितृत्वं स्वात्मकधर्माधिष्ठानशालित्वं जगत्कर्तृ निर्विकारत्वं चेत्यादि-श्रूयमाणरूपतया तस्योपासनं सिध्यति। तत्राह न खलु तावद्वेदांतवाक्यगणः प्रयोगयोग्यः सिद्धार्थबोधकत्वेन प्रयोजनशून्यत्वात्, सप्तद्वीपावसुन्धरेत्यादि वाक्यवत। प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपसाध्यार्थबोधकानि वाक्यानि प्रयोजनवत्त्वात् प्रयोगयोग्यानि दृष्टानि। "अर्थलिप्सुर्नृपं गच्छेत्" "मन्दाग्निर्न जलं पिबेत्" इति लोके, "स्वर्गकामो यजेत", "सुरां न पिबेदिति वेदे च। न हि प्रयोजनमनुद्दिश्य वाक्यप्रयोगः

ब्रह्माधीनवृत्ति तथा उसमें ब्रह्म की व्यापकता के कारण हो सकता है। "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्" इत्यादि सूत्र बल से यह जाना जाता है। अब जगत् के जन्मादिकों के कारण, अचिन्त्य शक्तिशाली, पुरुषोत्तम, वेदान्त शास्त्रों से जाने जाते हैं, तर्क द्वारा नहीं इस विषय का आरम्भ करते हैं। "सच्चिदानन्द स्वरूप,संकल्पमात्र से ही जगत् सृष्टि करने वाले, वेदान्तवेद्य, बुद्धिवृत्ति के प्रवर्त्तक, जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार है", यह गोपालतापिनी के तथा "उपनिषत्प्रतिपाद्य पुरुष को जानने के लिये इच्छा करता हूँ" यह बृहदारण्यक के वचन पढ़ जाते हैं। यहाँ संशय होता है कि उपास्य ब्रह्म श्रीहरि अनुमान से जाने जाते हैं किम्वा उपनिषद् द्वारा? गौतमादि मुनिगण "ब्रह्म अनुमानाधीन चिन्ता के द्वारा अनुमेय है" ऐसा कहते हैं। भगवान् श्रीव्यास उसके खण्डन के लिये तृतीयसूत्र की अवतारणा करते हैं। यथा—

"ईक्षतेर्न" सूत्र से न का आकर्षण है। हरि मुमुक्षुगण के द्वारा अनुमेय नहीं हैं, क्योंकि केवल शास्त्र द्वारा ही उनको जाना जाता है। शास्त्र अर्थात् उपनिषद् जिसके बोध का मूल कारण है। नहीं तो "उपनिषद् वेद्य पुरुष को जानने की इच्छा करता हूँ"—इस उक्ति के साथ विरोध होता है। "मन्तव्य" शब्द का अर्थ ब्रह्मज्ञान में अनुकूल तर्क विशेष है। स्मृति में कहा है कि–पूर्वापर दोनों का अविरोध होने पर कौन अर्थ अभिमत है इस प्रकार ऊहन तर्क है। वेदान्त शास्त्र में इसी प्रकार का तर्क ग्राह्य है। शुष्कतर्क सर्वदा वर्जनीय है। गौतमादि ऋषियों के शुष्कतर्क में प्रतिष्ठा नहीं है। यह आगे "तर्काप्रतिष्ठानात्" इस सूत्र में कहेंगे। अतएव वेदान्तादि शास्त्रों से ब्रह्म को जान कर ध्यान करें। शब्द ही निर्दोष प्रमाण है। यह "श्रुतिमूलक" इस वक्ष्यमाण सूत्र में विशेष वर्णित होगा। इस प्रकार हरि के आत्मविग्रहस्वरूपत्व, साक्षित्व, अपने से अभिन्न गुण धाम विशिष्टत्व, निर्विकारत्व, सृष्टिकर्तृत्वादि शास्त्रोक्त वचनों से उनकी उपासना सिद्ध होती है। इस विषय में कोई कोई कहते हैं कि समस्त वेदान्तवाक्य प्रयोगयोग्य नहीं हैं। क्योंकि "सप्तद्वीपा वसुन्धरा" इत्यादि वाक्य की तरह सिद्धार्थ का बोध होने के कारण प्रयोजन का अभाव होता है। प्रवृत्ति किम्वा निवृत्ति रूप साध्यार्थबोधक वाक्य समूह प्रयोजनीय होने के कारण प्रयोगयोग्य है। जिसको धन का प्रयोजन है वह राजा के पास जावे।

संभवति। तच्च प्रवृत्तिनिवृत्तिसाध्येष्टाप्तिपरिहारात्मकमवगतं। ब्रह्म खलु परिनिष्पन्नं वस्तु। तद्बोधकस्य सत्यं ज्ञानमनन्तमित्यादिवाक्यस्य तच्छून्यत्वान्न तद्योग्यत्वम्। यदि कश्चित् तं प्रयुयुक्षुर्भवेत् तर्हि प्रयोजनवद्वाक्यैकवाक्यतया तं प्रयुञ्जानस्तस्यापि तद्वत्त्वं ब्रूयात्। तस्मात् क्रतुदेवताकर्तृप्रतिपादनेन तद्वान् तद्वाक्यगणस्तद्योग्यो भवतीति। आह चैवं जैमिनिः। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यत्वमुच्यते तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वादिति'। मैवं भ्रमितव्यं। प्रवृत्तिनिवृत्तिबोधकताविरहेऽपि परमपुमर्थरूपब्रह्मास्तित्वबोधनेनैव तस्य तद्वत्त्वात् निधिसत्तावबोधकवाक्यवत्। यथा त्वद्गृहे निधिरस्तीत्याप्तवाक्यात् तत्प्राप्त्येकलक्षणः पुमर्थस्तथाऽक्षयानन्दचिद्रूपं निरवद्यसर्वसुहृदात्मप्रदं मदंशि ब्रह्मास्तीति तत्सत्त्वप्रत्ययादेव स इति न तद्वत्त्वविरहः। पुत्रस्ते जातो नायं सर्पो रज्जुरेवेत्यादिषु स्वरूपपरेष्वपि वाक्येषु हर्षभयनिवृत्तिरूपफलवत्त्वं दृष्टं। किं च स्फुटमस्य तद्वत्त्वं परिदृश्यते 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां सोऽश्नुते सर्वान्कामान्' इत्यादिषु। न चोक्तरीत्या क्रियापरता तस्य शक्या वक्तुं प्रकरणभेदात् प्रत्युत कर्म्मतत्फलविगानात् श्रुतहान्यश्रुतकल्पनप्रसंगाच्च। न च निखिलजगदुदयादिकारणे नित्यचिद्वपुष्यनन्तकल्याणगुणरत्नाकरे श्रीनिवासे ब्रह्मणि व्युत्पन्नं शास्त्रमन्यपरं शक्यं कर्तुम्। प्रमाणत्वेन स्वविषयावगतिपर्य्यवसायित्वात्। न चाम्नायस्येत्यादिन्यायेन

जिसकी मन्दाग्नि है वह जलपान न करे इत्यादि लौकिकविषय में, "स्वर्ग की कामना से यज्ञ करें" "सुरापान न करें" इत्यादि वेदवाक्य में प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप साधनीय विषय कहे जाने के कारण उन सबके प्रयोग की योग्यता स्वीकार करनी होती है, विना प्रयोजन वाक्य का प्रयोग असम्भव है। यह प्रयोजन प्रवृत्ति साध्य इष्टवस्तु का लाभ और निवृत्ति साध्य अनिष्टवस्तु का परिहार है। ब्रह्म सिद्धवस्तु है। अतएव ब्रह्मबोधक "सत्य ज्ञान आनन्द स्वरूप ब्रह्म" इत्यादि वाक्यों की प्रयोजनाभाव के कारण प्रयोगयोग्यता नहीं है ऐसा बोलना चाहिए। तब किसी २ स्थान में इस प्रकार के वाक्य का प्रयोग देखने में आया है, उसको केवल प्रयोजन विशिष्ट और अन्य वेदान्तवाक्य के साथ एकवाक्यतारूप प्रयोजनवाला स्वीकार करना होगा। इसलिये यज्ञ, यज्ञ के अंग रूप विष्णु प्रभृति देवतागण और यजमानादिक के प्रतिपादन के द्वारा प्रयोजन विशिष्ट वेदान्तवाक्य समूह के साथ समस्त वेदान्तवाक्य की प्रयोगयोग्यता देखने में आती है। महात्मा जैमिनी ने भी इस प्रकार कहा है। वेद के कर्म्मपरत्व होने के कारण जो अक्रियापर वेदवाक्य हैं उनकी निष्फलता और अनित्यता आ जाती है। किन्तु क्रियापर वाक्य के साथ एक वाक्यरूप विशेष सम्बन्ध रहने के कारण उनका साफल्य और नित्यत्व है, ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार सिद्धान्त भ्रान्त है। क्योंकि प्रवृत्ति-निवृत्ति का बोध न रहने पर भी परम पुरुषार्थ रूप ब्रह्म के अस्तित्व ज्ञान से "धन है" उस अस्तित्व बोधक वाक्य की तरह समस्त वाक्य का साफल्यबोध करना होगा। "तुमारे घर में धन है" इस प्रकार बोलने पर जैसा उसकी प्राप्ति रूप पुरुषार्थ देखने में आता है, ठीक उस प्रकार "अक्षय-आनन्द चित स्वरूप, निर्दोष, समस्त बन्धु, आत्मप्रद, अंशरूप मेरे अंशी ब्रह्म है" इस वाक्य का कथन से प्रयोजन विशिष्ट बोध होता है। "तुमारे पुत्र हुआ" "यह सर्प नहीं है रज्जु है" इत्यादि स्वरूप पर वाक्य में जब हर्ष और भयनिवृत्ति रूप फल देखने में आता है तब सुव्यक्त फलरूप वेदान्तवाक्य को निष्फल बोलना नितान्त असंगत हैं। "सत्य-ज्ञान-अनन्त स्वरूप कूटस्थ ब्रह्म को जो जानता है वह सर्वकाम अर्थात् ब्रह्मानन्द का लाभ करता है।" इत्यादि वेदवाक्य से उसकी साफल्यता स्पष्ट ही कही गई है। फलतः उक्त रीति से वह समस्त वाक्य की क्रियापरता नहीं बोली जा सकती है। क्योंकि ज्ञान पृथक् प्रकरण और कर्म्म पृथक् प्रकरण है। अधिकतः वेदान्त शास्त्र में कर्म्म और उसका फल निन्दित होता है। इसमें वेदान्तवाक्य की जो ब्रह्मपरता उक्ति है वह नष्ट हो जाती है और कर्म्मपरता आ जाती है। और भी समस्त जगत् की उत्पत्ति के

जैमिनिना कर्म्मपरत्वं तस्य समर्थितमिति वाच्यं तस्य ब्रह्मनिष्ठत्वात्। तस्मात् कर्म्मप्रकरणस्थानां केषाञ्चिद्वाक्यानां स्वार्थान् त्यक्त्वैव तत्परत्वं तेन समर्थितं न त्वन्यत्। तस्मात् ब्रह्मपरमेव तदिति स्फुटं ॥ ३ ॥

अथ पूर्व्वार्थदार्ढ्याय ब्रह्मणः सर्ववेदवेद्यत्वमुच्यते। 'योऽसौ सर्वैर्वेदैर्गीयत' इति गोपालोपनिषदि, 'सर्वे बेदा यत्पदमामनन्ति' इति कठवल्ल्यां च पठ्यते। तत्र संशयः। सर्व्ववेदवेद्यत्वं विष्णोर्युक्तं न वेति। वेदेषु प्रायेण कर्म्मविधानदर्शनात् अयुक्तं तस्य तत्। वृष्टिपुत्रस्वर्गादिफलकानि कारिरीपुत्रकाम्येष्टिज्योतिष्टोमादीनि कर्म्माणि साङ्गानि सेतिकर्त्तव्यानि विदधतो वेदा दृश्यन्ते। ते च प्रमाणत्वेन स्वविषयावगतिपर्य्यवसायिनो, विष्णुपरतया न शक्या नेतुमिति प्राप्ते :—

तत्तु समन्वयात् ॥ ४ ॥

तुशब्दः शङ्काच्छेदार्थः। तत्सर्ववेदवेद्यत्वं विष्णोर्युक्तं, कुतः समन्वयात्। अन्वयस्तात्पर्य्यलिङ्गम्। समन्वयत्वं सुविचारितत्वं। सुविमृष्टैरुपक्रमोपसंहारादिभिः षड्भिर्लिङ्गैस्तत्रैव शास्त्रतात्पर्यात् स एव तद्वेद्य इत्यर्थः। इतरथा कथं योऽसावित्यादिश्रुतिवाक्योपपत्तिः। आह चैवं भगवान् पुण्डरीकाक्षः। "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्"इति। "किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्। इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन। मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते ह्यहम्"इति वा। एतदुक्तं भवति, साक्षात्परम्पराभ्यां वेदा

कारण, नित्यज्ञान रूप, अनन्त कल्याण गुणों के सागर, लक्ष्मीनिवास श्रीब्रह्म में व्युत्पन्न शास्त्र की अन्य विषयक कल्पना नहीं की जा सकती है। कारण—जो प्रमाण जिस विषयक है वह उस विषयक बोध कराता है। पूर्व कथित वेद के "कियार्थकत्वादि" वाक्य से जैमिनि ने उसकी क्रियापरता ही स्वीकार की ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि जैमिनि स्वयं ब्रह्मनिष्ठ थे। सुतरां उन ने कर्म्मप्रकरण स्थित किसी किसी वाक्य का स्वार्थ परित्याग कर ब्रह्मपरत्व का ही समर्थन किया है। इसलिये कर्म्मप्रकरणीय वाक्यसमूह को ब्रह्मपर ही जानना चाहिए ॥३॥

इसके अनन्तर पूर्वार्थ दृढ़ता के लिये ब्रह्म का समस्त वेदवेद्यत्व कहते हैं। "जो समस्त वेद में गाये जाते हैं" इस गोपालतापिनी उपनिषद् में और "समस्त वेद जिनके स्वरूप को कहते हैं" इत्यादि कठवल्ली में पाठ है। इस में संशय होता है कि विष्णु का समस्त वेदवेद्यत्व अयुक्त किम्वा युक्त है। वेद में प्रायः कर्म्म विधि दिखलाई देने का कारण विष्णु का सर्ववेदवेद्यत्व आपाततः अयुक्त है। वृष्टि, पुत्र, और स्वर्गादि के निमित्त क्रियमाण कारिरी, पुत्रेष्टि और ज्योतिष्टोमादि यज्ञ समूह का कर्त्तव्यविधि वेद में स्पष्ट है, किन्तु उसमें विष्णु का प्राधान्य नहीं है। जहाँ २ उल्लेख है वह केवल यज्ञांगभूत देवता मात्र ही को जानना चाहिए। इस प्रकार पूर्वपक्षीय संगति के अनन्तर चौथे सूत्र की अवतारणा करते हैं:—

तु शब्द शंका नाश के लिये है। विष्णु का सर्ववेदवेद्यत्व युक्त है। किस कारण से ? तात्पर्य्य लिंग से। समन्वयत्व का अर्थ सुन्दर रूप से विचार है। सुविचारित उपक्रम, उपसंहारादि छः प्रकार के तात्पर्य्य लिंग से वेद का तात्पर्य्य ब्रह्म में ही पर्य्यवसित होता है। नहीं तो "जो समस्त वेद के द्वारा गाये जाते हैं" इत्यादि श्रुति की संगति किस प्रकार हो सकती है। भगवान् पुण्डरीकाक्ष स्वयं ही श्रीगीता शास्त्र में कहते हैं "समस्त वेद केवल मुझको विषय कर बोलते हैं। मैं हूँ वेदान्तकर्ता और वेदवेत्ता हूँ। श्रीभागवत में कहते हैं "कर्म्मकाण्ड में विधिवाक्य से जो व्यक्त होता है तथा देवताकाण्ड में मन्त्रवाक्य के द्वारा जो व्यक्त होता है और ज्ञानकाण्ड में जो कहा जाता है उसको और कोई नहीं जानता है केवल मैं ही जानता हूँ। "वेद समूह मुझ को ही यज्ञरूप से कहते हैं और मुझ को ही देवतारूप में प्रकाश करते हैं तथा मुझको प्रपंच से पृथक् और प्रपंच को मेरा स्वरूप बोलते हैं इसलिये मैं हूँ सर्व स्वरूप।" ऐसा भी कहा गया है कि वेदसमूह ज्ञानकाण्ड में भगवान् के स्वरूप

ब्रह्मणि प्रवर्त्तन्ते। तत्र स्वरूपगुणनिरूपणेन ज्ञानकाण्डे साक्षात्,कर्म्मकाण्डे तु ज्ञानाङ्गभूतकर्म्मप्रतिपादनेन परम्परयेति मन्यन्ते, "तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्तीत्यादिश्रवणात् । वृष्टिपुत्र-स्वर्गादिफलककर्म्मविधायिता तु तेषां रुच्युत्पादनार्थैव । वृष्टयादिफलदृष्टया तेष्वभिजातरुचेस्तदर्थान् विचारयतो नित्यानित्यवस्तुविवेकिनो ब्रह्मतृष्णा जगद्वितृष्णं च स्यादिति सिद्धं सर्वेषां तेषां ब्रह्मपरत्वम् । कामितस्यैव वृष्टयादेः फलत्वेन प्रतीतेरकामितो ऽसौ न स्यात्। किंच ज्ञानोदयार्थो बुद्धिशुद्धिरेव भवेत् । तमेतमित्यादेरिति ब्रह्माङ्गभूतदेवताच्चर्चनं खलु ब्रह्मार्च्चनमेव तत्फलं तु चित्तशुद्धिरेवेत्यन्यत् प्राग्वत् ।। ४ ।।

अथोक्तवक्ष्यमाणसमन्वयोपपत्तये ब्रह्मणोऽवाच्यत्वं निरस्यते। 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति तैत्तिरीयके।'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म तद् विद्धि नेदं यदिदमुपासत'इति केनोपनिषदि च पठ्यते। तत्र संशयः, अशब्दं शब्दवाच्यं वा ब्रह्मेति ? श्रुतिस्वारस्यादशब्दं तत्, अन्यथा स्वप्रकाशताहानात्। "यतो ऽप्राप्य निवर्त्तन्ते वाचश्च मनसा सह। अहं चान्य इमे देवास्तस्मै भगवते नमः" इति स्मृतेश्चेत्येवं प्राप्ते निराकर्त्तुमाह—

ईक्षतेर्नाशब्दम् ।। ५ ।।

नास्ति शब्दो वाचको यस्मिन् तदशब्दं। ईदृशं ब्रह्म न भवति । किन्तु शब्दवाच्यमेव तत्। कुतः, ईक्षतेः। तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामीति प्रष्टव्यस्य पुरुषस्य औपनिषदसमाख्यादर्शनादित्यर्थः । भावे तिप्प्रत्ययस्त्वार्षः। सर्वे वेदा यत्पदमामनन्तीत्यादिवाक्येभ्यश्च। अशब्दं तु कार्त्स्न्येनाशब्दितत्वात्। दृष्टोऽपि मेरुः

निरूपण के द्वारा साक्षात्भाव से प्रवृत्त और कर्म्मकाण्ड में ज्ञान के अंगरूप कर्म्म के प्रतिपादन के द्वारा परम्परा सम्बन्ध से प्रवृत्त होते हैं। "उन उपनिषद् पुरुष की जिज्ञासा करता हूँ"। "वेद-समूह उस का ही विषय बोलता है" इत्यादि वेदवाक्य समूह ही उसका प्रमाण हैं। वृष्टि, पुत्र, स्वर्गादि फलसमूह देने वाले कर्म्मसमूह को प्रकाश करना जीव की रुचि उत्पन्न करने के लिये है। वृष्टि प्रभृति फल को देख कर वेद में रुचि उत्पन्न होती है। पीछे वेदार्थ विचार करने पर जिससे नित्यानित्य वस्तु का विवेक होता है, उससे संसार में विराग और ब्रह्म में तत्परता होती है। यह शास्त्र का उद्देश्य है। अतः वेद की ब्रह्मपरता ही सिद्ध हुई है । कारिरी प्रभृति यज्ञसकल वृष्टयादि फलपरक होने पर भी ज्ञानांगभूत चित्तशुद्धिफल में अश्रद्धेय नहीं है क्योंकि वे सब कामनानुसार फल देते हैं। अतः ज्ञान उत्पन्न के लिये अनुष्ठित होने से वे सब चित्तशुद्धि रूप फल को देते हैं। इन्द्रादि देवतागण ब्रह्म की शक्ति तथा कर्म्मांगभूत रूप से अर्च्चित होते हैं। सुतरां ब्रह्मशक्तिरूप इन्द्रादि देवतागण की अर्च्चना से ब्रह्म की अर्च्चना और उससे चित्तशुद्धिरूप फल उत्पन्न होता है ।। ४ ।।

अब वक्ष्यमाण समन्वय के निमित्त ब्रह्म का अवाच्यत्व निरास करते हैं । तैत्तिरीयकउपनिषद् में कहा है "ब्रह्म वाणी और मन का अगोचर है"। केनोपनिषद् में भी "ब्रह्म वाणी से प्रकाश्य नहीं है, परन्तु ब्रह्म वाक्य का प्रकाशक है।" यहाँ संशय होता है कि ब्रह्म शब्दवाच्य है किम्बा नहीं है। श्रुति के अनुसार शब्दवाच्य नहीं है क्योंकि शब्द के द्वारा प्रकाश्य है, ऐसा कहने से स्वप्रकाश की हानि होती है । स्मृति में भी कहा है— "वाक्य और मन के अगोचर भगवान् को नमस्कार है।" इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर उसके निराकरण करने के लिये कहते हैं—

नहीं है शब्द वाचक जिसमें वह अशब्द है। ऐसा ब्रह्म नहीं है किन्तु शब्दवाच्य है । किस कारण से ? "ईक्षतेः" इस शब्द से। "उपनिषद्वेद्य पुरुष की जिज्ञासा करता हूँ" यहाँ पर जिज्ञास्य पुरुष का उपनिषद्वेद्यत्व दिखाई देने का कारण और "वेदसमूह ब्रह्म को ही प्रकाश करता है" इस प्रकार की उक्ति के कारण ब्रह्म

कार्त्स्न्येनादर्शनाददृष्टः कथ्यते। अन्यथा यत इति, अप्राप्येति, अनभ्युदितमिति, तदेव ब्रह्मेति च व्याकुप्यात्। स्वात्मना वेदेन ज्ञापनं खलु स्वप्रकाशतया न विरुद्ध्यते । तस्य स्वात्मकत्वं तु उपरि वक्ष्यते। तस्मात् शब्दवाच्यं ब्रह्म ।। ५ ।।

स्यादेतत्। वाच्यत्वेनेक्षितः पुरुषः सगुणोऽस्तु तत्र गृहीतशक्तयो वेदाः शुद्धे पूर्णे वाच्यलक्षणया पर्य्यवस्येयुरिति चेत् तत्राह।

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ।। ६ ।।

वाच्यत्वेन दृष्टोऽसौ सत्वोपाधिको न भवेत्। कुतः आत्मशब्दात्। "आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविध" इति वाजसनेयके। "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किंचन मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा" इत्यैतरेयके च सृष्टेः पूर्वस्य पुरुषस्य आत्मशब्देनाभिधानात्। तस्य शब्दस्य पूर्णे ब्रह्मणि मुख्यवृत्तता प्रागभानि। "वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।। शुद्धे महाविभूताख्ये परे ब्रह्मणि शब्द्यते। मैत्रेय भगवच्छब्दः सर्वकारणकारणे" ।। इत्यादिस्मृत्या च पूर्णस्य शुद्धस्य वाच्यता। नह्यवाच्यः शब्दितुं शक्यः ।। ६ ।।

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ।। ७ ।।

चतुर्थं नेत्यनुवर्त्तते । तैत्तिरीयके। "असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत तदात्मानं स्वयमकुरुतेत्यारभ्य यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दतेऽथसोऽभयं गतो

का शब्दवाच्यत्व प्रमाणित होता है। सुमेरुपर्वत दृष्ट होने पर भी सर्व प्रकार से न दिखाई देने के कारण जिस प्रकार अदृश्य रूप कहा जाता है उसी प्रकार वेदसमूह, सकलभाव से ब्रह्मनिरूपण न किये जाने के कारण उसे अवाच्यत्व रूप से कहता है। नहीं तो "जिससे", "न पाकर", "सर्वभाव से नहीं कहे जाने का कारण", "वह ब्रह्म है" यह वाक्यसमूह कुपित होंगे। वेद ब्रह्म का स्वरूप है। अतः उसके द्वारा ब्रह्म का प्रकाश कहने से स्वप्रकाशकता की हानि नहीं होती है। वेद ब्रह्म का आत्मस्वरूप है यह सब बात आगे कहेंगे । अतः ब्रह्म का शब्दवाच्यत्व सिद्ध हुआ है ।। ५ ।।

अच्छा रहने दीजिये। जो वेदवाच्य है सो सगुण है। उस गृहीतशक्ति वेद समूह, शुद्ध परिपूर्ण ब्रह्म में वाच्य सम्बन्ध युक्त लक्षणाशक्ति के द्वारा पर्य्यवसित हो इसके उत्तर में कहते हैं:—

ब्रह्म वेद का वाच्य होने पर भी सगुण नहीं है। क्योंकि वेद उनको आत्म शब्द से व्यक्त करता है। यथा "सृष्टि के पहिले पुरुषरूप आत्मा ही था" यह वाजसनेयक में और "सृष्टि के पहिले एकमात्र आत्मा था प्रकाशमान और कुछ नहीं था उसने लोकसृष्टि के लिये प्रकृति को देखा" यह तैत्तिरीयक में देखा गया है। सुतरां सृष्टि के पहिले सृष्टिकर्त्ता पुरुष को आत्मशब्द से ही अभिहित किया गया है। उस शब्द का पूर्णब्रह्म में मुख्यवृत्ति है यह बात "जन्माद्यस्य" सूत्र में कही गई है। "ज्ञानीगण अद्वय ज्ञानतत्व को ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् शब्द से कहते हैं। हे मैत्रेय ! परम ऐश्वर्य्यशाली, समस्त कारण का कारण, शुद्ध परब्रह्म ही भगवत् शब्द से कहे जाते हैं।" इत्यादि भागवत् प्रभृति स्मृतिसमूह पूर्ण और शुद्ध ब्रह्म को ही वाच्यत्वरूप से स्वीकार करते हैं। अवाच्यवस्तु कभी शब्द द्वारा व्यक्त नहीं होती है ।। ६ ।।

यदि ब्रह्म सगुण होता तो तन्निष्ठ का मोक्षोपदेश नहीं किया जाता। परिदृश्यमान, चित्-अचित् शक्ति से युक्त, स्थूल यह विश्व पहिले नहीं था। अर्थात् सूक्ष्मरूप से ब्रह्म में विलीन था। पीछे चिच्छक्तियुक्त सूक्ष्म ब्रह्म से स्थूल विश्व उत्पन्न हुआ। प्रकाशस्वरुप ब्रह्म ने स्वयं आत्मा को स्थूल महदादि रुप से प्रकाश किया।

भवति यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति" इति प्रपंचातीते वेदवाच्ये विश्वकर्त्तरि तस्मिन् परब्रह्मणि परिनिष्ठितस्य विमुक्तिकथनान्न स गौणः। तस्य गौणत्वे तद्भक्तस्य मुक्तिं न ब्रूयात्। निर्गुणः परमात्मा तस्यानुवृत्त्या मोक्षः स्मर्य्यते। "हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः। स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन्निर्गुणो भवेत्" ॥ इति ॥ ७ ॥

हेयत्ववचनाच्च ॥ ८ ॥

यद्यसौ जगत्कर्त्ता गौणः स्यात् तर्हि साधनोपदेशिषु वेदान्तवाक्येषु स्त्रीपुंसादेरिव हेयत्वं ब्रूयान्न चैवमस्ति। किं गुणहानाय मुमुक्षुभिरुपास्यः स कीर्त्त्यते ? तद्भिन्नस्य तु गौणस्य तदुच्यते "अन्या वाचो विमुञ्चथेति"। कर्तृत्वञ्चेदं शुद्धनिष्ठमतः सत्यत्वादिरिव मुमुक्षुध्येयत्वं बोध्यं तथा च निगुर्ण एव वाच्य इति॥८॥

स्वाप्ययात् ॥ ९ ॥

वाजसनेयके। "पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदुच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" ॥ पूर्णे स्वस्मिन्नेव पूर्णस्यैव स्वस्याप्ययाभिधानात् न पूर्णमशब्दम्। यदिदं गौणं स्यात्तर्हि परस्मिन्नपीयान्न तु स्वस्मिन्नेव। न च पूर्णशब्दितं स्यात्। वाक्यार्थं तु अदो मूलरूपम्। इदं प्रकाशरूपम्। उभयं पूर्णम्। रासादिषु कर्म्मसु मूलरूपात् पूर्णादुदुच्यते प्रादुर्भवति। तत्पूर्त्तौ पूर्णस्य प्रकाशरूपमादायैक्यं नीत्वा पूर्णं मूलरूपमन्यत्राविलीनं अवशिष्यत इति। निर्गुणस्य हरेरेवम्विध्यं स्मृतिराह "स देवो बहुधा भूत्वा निर्गुणः पुरुषोत्तमः। एकीभूय पुनः शेते निर्दोषो हरिरादिकृदिति" ॥ ९ ॥

जब वह जीव द्रष्टा, भोक्ता, सर्वभाव से वचन के अगोचर, स्वप्रकाशरूप परब्रह्म में ऐकान्तिकी भक्ति करता है तब उसकी विमुक्ति होती है और जब उससे वहिर्म्मुख होता है तो उसका बन्धन होता है" इस तैत्तिरीयक श्रुति से प्रपञ्चातीत, वेदवाच्य, विश्व के कर्त्ता, परब्रह्म में भक्तिमान् जीव की मुक्ति होती है इस प्रकार कहे जाने के कारण ब्रह्म का सगुणत्व पराहत होता है। ब्रह्म का गुणयोग होने पर उसके भक्तों को मोक्षोपदेश नहीं होता। निर्गुण परमात्मा ही मुक्ति का कारण है। श्रीभागवत में कहा है "साक्षात् हरि ही प्रकृति से पर, निर्गुण साक्षिरूप, सर्वद्रष्टा हैं। जीव भी उनका भजन करने से निर्गुण होता है ॥ ७ ॥

यदि जगत्कर्त्ता वह ब्रह्म गौण होता तब साधन उपदेश देने वाले वेदान्त वाक्य समूह, स्त्री-पुरुष की भाँति उसका हेयत्व वर्णन करते किन्तु ऐसा नहीं है। मुमुक्षुव्यक्तिगण गुणहानि के लिये ब्रह्म को उपास्य करके कभी भी कीर्त्तन नहीं करते ? वे सब जीव का ही हेयत्व निर्देश करते हैं। ब्रह्म से अतिरिक्त विषयों का त्याग करने का उपदेश पाया जाता है। सृष्टि कर्त्तृत्व भी शुद्ध ब्रह्मनिष्ठ है। शुद्ध ब्रह्म का ही सत्यत्वादि की भाँति मुमुक्षुध्येयत्व जानना चाहिए। अतएव निर्गुण ब्रह्म ही वेदवाच्य है ॥ ८ ॥

वाजसनेयक में कहा है—यह मूल रूप ब्रह्म परिपूर्ण है यह प्रकाश रूप ब्रह्म परिपूर्ण है। पूर्ण से ही पूर्ण प्रकाश होता है। पूर्ण से पूर्ण लेने पर पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है। पूर्णवस्तु का अभिधान अपने में रहने के कारण पूर्ण ब्रह्म शब्द वाच्यत्व है। यदि ब्रह्म सगुण होता तो "उसका अपने में लय" नहीं कहा जाकर "परवस्तु में लय होना" कहा जाता। सुतरां तादृश अपूर्णवस्तु पूर्णशब्द से अभिहित नहीं होती। वाक्य का अर्थ कहते हैं। अदो अर्थात् मूलरूप, इदं अर्थात् प्रकाशरूप है, उभय पूर्ण है, रास, महिषिविवाहादि कार्य्यों में परिपूर्ण मूल वस्तु से पूर्ण का प्रादुर्भाव देखने में आया है। इस प्रकार पूर्णवस्तु में पूर्णवस्तु के पूर्ण प्रकाश रूप एकता के कारण अविलीन पूर्ण मूलवस्तु ही पूर्ण का अवशेष जानना। स्मृति में निर्गुण

यत्तु सगुणं निर्गुणं चेति द्विरूपं ब्रह्म। तत्राद्यं सत्त्वोपाधि सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगत्कारणम्। द्वितीयं च सत्तानुभूतिमात्रं पूर्णं विशुद्धम्। पूर्वत्र वेदानां शक्तिः। परत्र तु तात्पर्य्यमित्याद्यभिप्रेतं, तदपि निरस्यति—

गतिसामान्यात् ॥ १० ॥

गतिः अवगतिः,विज्ञानघनः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः पूर्णो विशुद्धः परमात्मा जगद्धेतुरुपासितः सन् विमुक्तिकृदिति धीरित्यर्थः। तस्याः सर्वेषु वेदेषुः सामान्यादैकरूप्यात्। तथाभूतस्यैकस्य ब्रह्मणः सर्वेषु तत्तयाभिधानात्। सगुणं निर्गुणं चेति द्विरूपता नास्तीत्यर्थः। स्मृतिश्च "मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय" इति ॥१०॥ अथ स्फुटमेव निगुर्णस्य वाच्यत्वमाह—

श्रुतत्वाच्च ॥ ११ ॥

काठकादिषु "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। धर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्चेति"॥ निर्गुणस्य श्रुत्युक्तत्वाच्च वाच्य एव सः। नह्यशब्दः श्रूयेत्। यत्तु लक्षणया निर्गुणस्यावगतिः न त्वभिधया प्रवृत्तिनिमित्ताभावाद् इति जल्पन्ति तदसत्। सर्वशब्दावाच्ये लक्षणाऽयोगात्। निर्गुणत्वादेरप्यदृश्यत्वादेरिव तन्निमित्तत्वात्। ननु निर्गुणोऽपि गुणवानिति विरुद्धम्। नैवम्। रहस्यानवबोधात्। तथाहि, निर्गुणादयः शब्दा नैर्गुण्यादिना निमित्तेन तत्र प्रवर्तेरन्। सर्वज्ञादयस्तु सार्वज्ञ्यत्वादिना। तेन प्राकृतैः सत्त्वादिभिः गुणैर्विहीनः स्वरूपानुबन्धिभिः तैस्तैस्तु विशिष्टोऽसाविति न काऽपि विचिकित्सा। स्मरन्ति

हरि का ही पूर्णत्व कहा है। यथा—निर्गुण, पुरुषोत्तम आदिकर्त्ता, निर्दोष हरि बहु रूप होकर भी पूर्ण स्वरूप आत्मा में एकरूप से अवस्थिति करते हैं ॥ ९ ॥

ब्रह्म सगुण, निर्गुण भेद से दो प्रकार का है। उनमें से प्रथम सत्वोपाधि, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, और जगत् के कारण रूप है। निर्गुण ब्रह्म सत्तानुभूतिमात्र, पूर्ण और विशुद्ध है। सगुणब्रह्म में वेद की शक्ति और निर्गुण ब्रह्म में वेदवाक्य समूहका तात्पर्य्य है इस प्रकार मत का खण्डन करते हैं—

गतिशब्द का अर्थ अवगति है। विज्ञानघन, सर्वज्ञ,सर्वशक्तिमान्,पूर्ण, विशुद्ध, जगत्कारण परमात्मा उपासित होकर मुक्ति को देता है इस प्रकार अवगति का अर्थ जानना चाहिए। वह समस्तवेद में सामान्यता से एक रूप है। एक मात्र ब्रह्म समस्त वेद में उक्त प्रकार से कहा जाता है। गीता में भी भगवान् ने इस प्रकार कहा है "हे धनञ्जय ! इस दृश्यमान विश्व–संसार में मैं ही श्रेष्ठवस्तु होता हूँ। मैंरे से और श्रेष्ठ वस्तु कुछ नहीं है ॥ १० ॥

अब स्पष्टरूप से निर्गुण ब्रह्म का वाच्यत्व कहते हैं। काठकादि में—"एकमात्र ब्रह्म सर्वभूतों में गूढ़ भाव में रहता है तथा सर्वव्यापी और समस्त भूतों का अन्तरात्मा है। वह सब के लिये कर्म्म फल देने वाला है। वह सबका आश्रय तथा सब के पाप-पुण्य को देखने वाला है। वह सबको चेतन करता है। वह केवल शुद्ध निर्गुण है"। श्रुति में निर्गुण का कथन होने के कारण ब्रह्म वाच्य है। अवाच्य वस्तु कभी श्रुति का विषय नहीं हो सकता है। "लक्षणाशक्ति से ही निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान होता है, प्रवृत्ति निवृत्ति के अभाव के कारण अभिधा-शक्ति से नहीं होता है" इस प्रकार जो कहते हैं वे भ्रान्त हैं। जो ब्रह्म सर्व शब्द का अवाच्य है उसमें लक्षणा-शक्ति का प्रवेश फिर नहीं हो सकता है। अदृश्यत्वादि धर्म्म के द्वारा वेदवाक्य समूह जिस प्रकार ब्रह्म में प्रवृत्त होता है ठीक उसी प्रकार निर्गुणत्वादि धर्म्म के द्वारा वेदवाक्य समूह उसमें प्रवृत्त होता है। वस्तुतः जब तक निर्गुण शब्द का तात्पर्य्य नहीं बोध होता है तब तक निर्गुण सगुण का विरोध रहता है। अच्छा ? ब्रह्म निर्गुण

चेत्थम्। "[illegible]यो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः"।"समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ" इत्यादिभिः । तस्मात्पूर्णो विशुद्धो हरिर्वेदवाच्यः। अनामादिशब्दास्तु गुणाप्रसिद्धिकार्त्स्न्यागोचरत्वादितः सङ्गमनीयाः । तदप्रसिद्धिश्च प्राकृतवैलक्षण्येनाग्रहात्। कार्त्स्न्येनागोचरता त्वानन्त्यात्। यस्तु तेषां स्फुटार्थं ब्रूते स एवं प्रष्टव्यः । तैस्तस्य बोधः स्यान्न वेति ? आद्ये तेऽपि तस्याख्याः। अन्त्ये तु तदारम्भवैफल्यापत्तिरिति ॥ ११ ॥

शब्दा वाचकतां यान्ति यत्रानन्दमयादयः। विभुमानन्दविज्ञानं तं शुद्धं श्रद्धीमहि ॥

यस्य समन्वयस्योपपादनाय वाच्यत्वं ब्रह्मणः समर्थितं तमिदानीं दर्शयत्यानन्दमय इत्यादिना यावदध्यायपूर्ति। तत्रास्मिन् प्रथमे पादे प्रायेणान्यत्र प्रसिद्धानां शब्दानां ब्रह्मणि समन्वयः प्रदर्श्यते । तैत्तिरीयके "ब्रह्मविदाप्नोति परं" इत्युपक्रम्य " स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः " इत्यादिनान्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयान् क्रमेणाम्नायेदमभिधीयते। "तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तरात्मानन्दमयस्तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः, तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति" ॥ तत्र संशयः। किमयमानन्दमयो जीव उत परब्रह्मेति । एव शारीर आत्मेति देहसम्बन्धप्रतीतेर्जीव इति प्राप्ते—

होकर भी सगुण है यह विरोध आता है। इस प्रकार की शङ्का नहीं कर सकते हो। इसके रहस्य ज्ञान का ही अभाव है। देखिये निगु णत्वादि शब्द समूह नैगु ण्यत्वादि धर्म्म के द्वारा ही प्रवृत्त होते हैं और सर्वज्ञत्वादिक सार्वज्ञ्यत्वादि धर्म्मसे प्रवृत्त होते हैं। इसलिये निगु ण शब्दके द्वारा प्राकृतगुणोंसे रहित और स्वरूपानुबन्धि अप्राकृत गुणगण विशिष्ट ब्रह्म है, ऐसा प्रतिपादन करने पर कोई विचार नहीं उठ सकता है। स्मृति में भी कहा है सत्वादिक प्राकृतगुण ईश्वर में नहीं हैं वे अप्राकृत गुणगण विशिष्ट हैं। इसलिये पूर्ण, विशुद्ध, हरि वेदवाच्य हैं। अनाम, अरूपादि, निगु ण शब्दों का प्रयोग गुणों की अप्रसिद्धि के कारण किम्वा सर्वांश में गोचर न होने के कारण होता है। ब्रह्म की जो अप्रसिद्धि वह प्राकृत वैलक्षण्य के कारण है, तथा सर्वांश से जो अगोचरत्व वह अनन्त होने का कारण होता है। जो गुणों का स्फुटार्थ कहते हैं उनसे प्रश्न किया जाता है कि गुणों से ब्रह्म का बोध है किम्वा नहीं है। यदि बोध है ऐसा कहोगे तो वे सब उनकी आख्या हैं, यदि बोध नहीं है तो कोई ब्रह्म-विचार का आरम्भ नहीं करेगा। क्योंकि आरम्भ का वैफल्य होता है ॥ ११ ॥

जहाँ आनन्दमयादि शब्द वाचकता को प्राप्त होते हैं, जो माया तथा उसके कार्य्य समूह से अस्पृष्ट हैं, जो सब का एक मात्र नियन्ता वा अधीश्वर हैं और जो विशुद्ध आनन्द स्वरूप हैं उन परमात्मा रूप श्रीगोविन्द को हम आन्तरिक अकृत्रिम भाव के साथ भजन करते हैं।

जिस समन्वय के लिये ब्रह्म का वाच्यत्व समर्थन हुआ है उसको आनन्दमयादि शब्द के द्वारा अध्याय पूर्त्ति पर्य्यन्त दिखाते हैं। इस प्रथमपाद में प्रायः अन्यत्र प्रसिद्ध शब्दों का ब्रह्म में समन्वय दिखाते हैं। तैत्तिरीयक में "ब्रह्मवित् पुरुष उस ब्रह्म को प्राप्त होता है" इत्यादि उपक्रम करके "वह पुरुष अन्नरसमय" इत्यादि विधान से यथाक्रम उत्तरोत्तर अन्तर्वर्त्ती अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय शब्द समूह से अभिहित हुआ है। "आनन्दमय पुरुष विज्ञानमयादि से भिन्न अतः परिपूर्ण है। वह पुरुष आनन्दरूपी है। उसका समस्त शरीर आनन्द स्वरूप है। आनन्दमय उस पुरुष का प्रियरूप नारायण शिर, मोदरूप प्रद्युम्न दक्षिणपक्ष, प्रमोदरूप अनिरुद्ध उत्तरपक्ष, आनन्दरूप वासुदेव आत्मा अर्थात् मध्यशरीर, ब्रह्मरूप संकर्षण पुच्छदेश हैं । यहाँ यह संशय है कि वह आनन्दमय वस्तु जीव किम्वा परब्रह्म है। "यह आत्मा शरीर है" इस प्रकार देहसम्बन्ध-प्रतीति के कारण आनन्दमय पुरुष जीव ही है। इस पूर्व्वपक्ष के निराकरण के लिये द्वादशसूत्र की अवतारणा करते हैं—

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ १२ ॥

परं ब्रह्मैव सः । कुतः अभ्यासात् । प्रतिष्ठान्तेनानन्दमयं निरूप्य, "असन्नेव सम्भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेद् अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुरिति" तत्रैव ब्रह्मशब्दस्याभ्यस्तत्वात्। अविशेषपुनःश्रुतिरभ्यासः। न चाभ्यासः पुच्छब्रह्मणीति वाच्यम्। "अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्त" इत्यादीनां पुच्छान्तपठितानां चतुर्णां श्लोकानामन्नमयादिपुच्छिपुरुषचतुष्टयपरत्वेनास्यापि श्लोकस्य तथाभूतस्याप्यानन्दमयस्योत्तरोत्तरोदयभेदेन तत्तन्नामभेदात् तदयोगात्। विशेषतस्तु तृतीये वक्ष्यते प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तेरित्यादिना । यत्त्वाहुरन्नमयाद्यसुखप्रवाहनिपातान्नानन्दमयस्य मुख्यत्वमिति । नैष दोषः । तस्य सर्व्वान्तरत्वात् । अज्ञानां ज्ञप्तिसौलभ्याय तथोपदेशप्रवृत्तेः। परमोपकर्त्ता हि वेदः परमेवात्मानं विजिज्ञापयिषुररुन्धतीदर्शनन्यायेनापरोपदेशेऽपि प्रवर्त्तते। नन्वेतावता परत्र तस्य तात्पर्य्यं न वा परस्यामुख्यत्वमिति । किञ्चोत्तरत्र ब्रह्मजिज्ञासुं प्रति तत्पिता वरुणो विश्वोत्पत्त्यादिहेतुभूतं वस्तु ब्रह्मेत्युपदिश्य पुनः स बुद्ध्यर्थमन्नप्राणमनोविज्ञानानि क्रमेण ब्रह्मेत्युक्त्वान्ते त्वानन्दमयं ब्रह्मेत्युपदर्श्योपरराम। मदुक्तेयं विद्या भगवन्निष्ठेत्यभिदधौ । अथोपसंहारेऽपि। स य एवंविदस्माल्लोकात्प्रेत्य

आनन्दमय वह वस्तु परब्रह्म है। किस कारण से ? अभ्यास से। "शुद्ध जीव ही अन्नमयादि कोषों की प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रयभूत है" इस प्रकार उपदेश के द्वारा उन सब का भी अन्तर्वर्त्ती आनन्दमय पुरुष का निर्देश करते हैं। और कहते हैं "जो आनन्दमय ब्रह्म का अस्तित्व अनुभव करता है उसका ही अस्तित्व सिद्ध होता है और जो नहीं करता है उसका अपना अस्तित्व ही असिद्ध है। यहाँ ब्रह्म की आनन्दमय पुरुष रूप से बार बार उक्ति के कारण आनन्दमय शब्द से ब्रह्म को जानना चाहिए। पुच्छ ब्रह्म में अभ्यास कहा जाता है इस प्रकार नहीं कह सकते हो। क्योंकि आनन्दमयादि पुरुष चतुष्टय का अवधि स्वरूप जीवात्मा को पृथक् २ नाम से निर्देश करने के पीछे उक्त चार कोष के भी अन्तरतम आनन्दमय ब्रह्म का फिर तद् उद्देश्य में उल्लेख करना प्रक्रमभंग दोष के आने के कारण अवधिरूप में ब्रह्म का बार बार कहना असम्भव होता है । ये सब बातें तृतीय अध्याय में विशेष करके वर्णित होंगे। अन्नमयादि दुःखमय कोष समूह के बीच आनन्दमय कोष का उल्लेख होने पर भी उसके मुख्यत्व की हानि नहीं होती है। क्योंकि वह उक्त समस्त कोषों का अन्तर्वर्त्ती है। अज्ञजनों के बोध के लिये तथा उत्तरोत्तर उत्कृष्ट और अन्तर्वर्त्ती रूप से जनाने के लिये अन्नमय से आरम्भ कर आनन्दमय पर्य्यन्त एक स्थान में उपदेश किया गया है। परम उपकारी वेदशास्त्र अरुन्धती दर्शन के न्याय से जिस व्यक्ति ने कभी अरुन्धती तारा नहीं देखा है बुद्धिमान जन उसको पहिले सप्तर्षि मण्डल दिखाकर पीछे वशिष्ठ और उसके पास क्षुद्र अरुन्धती को दिखाते हैं। पहिले स्थूल अन्नमय पुरुष का उपदेश कर उत्तरोत्तर उत्कृष्ट और अन्तर्वर्त्ती प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, अवशेष में सर्वान्तर्वर्त्ती आनन्दमय ब्रह्म का उपदेश करते हैं। अतएव अन्नमयादि प्रकरण में आनन्दमय का उल्लेख होने से भी आनन्दमय पुरुष को ही मुख्य और ब्रह्म जानना चाहिए। अधिक परिशेष में दिखाया गया है कि पिता वरुण ने ब्रह्मजिज्ञासु अपने पुत्र भृगु को विश्व की सृष्टि प्रभृति कारणभूत वस्तु को पहिले ब्रह्म रूप से उपदेश देकर पीछे पुत्र को विशेष ज्ञान उत्पन्न कराने के लिये उत्तरोत्तर अन्तर्वर्त्ती अन्नमयादि कोष को परब्रह्म रूप में निर्देश किया है। परिशेष में "आनन्दमय पुरुष ही ब्रह्म है"—इस प्रकार सिद्धान्त कह कर विरत हुए और यह भी कहा है कि मुझसे कही हुई यह विद्या भगवन्निष्ठामयी है। और उपसंहार में भी कहा है—जो व्यक्ति आनन्दमय पुरुष को जानता है वह मरने के पश्चात् उत्कृष्ट गति लाभ पूर्व्वक पूर्ण काम होकर चौदह भुवन में सामगान करता हुआ भ्रमण तथा यथेच्छा क्रम आनन्दमय पुरुष के साथ विहार करता है। श्री भागवत में कहा है—आनन्दमय पुरुष अन्नमयादि कोषों

एतमन्नमयमात्मानं उपसंक्रम्येत्याद्युक्त्वा "एतमानन्दमयमात्मानं उपसंक्रम्य इमान् लोकान् कामान्नी कामरूप्य-नुसंचरन्नेतत् साम गायन्नास्ते" इत्युक्तमतः परं ब्रह्मैवानन्दमयः । पुरुषविधोऽन्नमयोऽत्र चरमोऽन्नमया-दिषु यः सदसतः परं त्वमथ यद्देष्ववशे स्मृत" मिति स्मृतेश्च । शारीरत्वं तु तस्मिन्नापे न विरुद्धम् । यस्य पृथिवी शरीरमित्यादिश्रुतौ तस्यापि तदुक्तेः । अतः शारीरकमिदं शास्त्रम् । यत्त्वानन्दमय इत्यत्र ब्रह्मपुच्छमित्यादि व्याचष्टे, तन्मन्दम् । शब्दस्वारस्य भङ्गाद्देशिकानुगतिहानाच्च ॥ १२ ॥
विकारे मयट् स्मृतेर्जीवाशङ्का कस्यचित्स्यादतस्तां निराकर्त्तुमाह ।

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्य्यात् ॥ १३ ॥

न ह्यानन्दविकारत्वादानन्दमयः । कुतः । प्राचुर्य्यादानन्दस्य तत्प्रकृतवचने मयडिति प्राचुर्य्येऽर्थे मयड्-विधानात् । न च विकारे मयडस्तु । द्वयचश्छन्दसीति नियमात् बहुस्वराद्विकारार्थकस्य तस्याप्राप्तेः । न च दुःखाप्त्य-सद्भावः, "एष सर्वभूतान्तरात्मापहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" इति सुबालश्रुतेः, "परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयः सन्ति परावरेश" इति स्मृतेश्च । तस्मात्प्रकृत्यर्थप्रभूतत्वमेवात्र प्राचुर्य्यम् । प्रचुरप्रकाशो रविरिति स्वरूपे च युज्यते प्रचुरशब्दः । तस्मादानन्दमयो न जीवः ॥ १३ ॥

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

"को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष एवानन्दयतीति जीवस्या-

---

का अन्तर्वर्त्ती होकर भी उससे असंस्पृष्ट और स्थूल-सूक्ष्म कार्य्यकारण से भिन्न है । वह जीव के अनुग्रह के लिये प्रधान महदादि परिमाणरूप समष्टि व्यष्टि जीव शरीर में प्रवेश और अन्नमयादि रूप से अभिहित होता है । वस्तुतः वह अन्नमय नहीं है किन्तु आनन्दमय है । "परमात्मा का शरीर है" इसमें कोई विरोध नहीं आता है । "जिसका पृथिवी शरीर है" इत्यादि श्रुति में कहा है । इसलिये इस शास्त्र को भी शारीरिक शास्त्र कहते हैं । केवल अद्वैतवादि-गण आनन्दमय स्थल में जो ब्रह्म पुच्छ व्याख्या करते हैं वह असंगत है । कारण पक्ष और साध्य दोनों की एक ही विभक्ति देखने में आती है । यहाँ उसका अभाव है , अतः शब्दस्वारस्य का भंग होता है तथा बादरायण और वरुण प्रभृति गुरुमत का अनादर होता है ॥ १२ ॥

विकार अर्थ में मयट् प्रत्यय होता है । यहाँ आनन्दमय शब्द में मयट् प्रत्यय के द्वारा आनन्द का विकार जीव को समझा जाता है । इस प्रकार किसी की शंका करने पर उसका निराकरण करते हैं—

मयट् प्रत्यय किसी किसी स्थल में अवश्य विकार अर्थ में व्यवहृत होता है किन्तु यहाँ उक्त अर्थ में व्यवहृत न होकर प्राचुर्य्यार्थ में व्यवहृत हुआ है । आनन्द का विकारी जीव आनन्दमय ऐसा प्रयोग नहीं हो सकता है । प्रचुरआनन्द विशिष्ट ब्रह्म ही आनन्दमय है । दो स्वर विशिष्ट शब्द का उत्तर में विकार अर्थ में मयट् होता है । आनन्द शब्द बहुस्वर विशिष्ट है । अतः यहाँ विकार अर्थ में मयट् नहीं हो सकता है ।

आनन्दमय शब्द से आनन्दस्वरूप अर्थात् दुःख प्राप्ति का असद्भाव रूप अर्थ करके जीव को समझ लेना उचित नहीं है क्योंकि "समस्त भूतों का अन्तरात्मा, पाप से रहित, ज्योतिर्म्मय पुरुष नारायण देव" इत्यादि सुबालश्रुति के और "विष्णु ही एकमात्र समस्त दुःख से रहित परमपुरुष हैं" इत्यादि विष्णुपुराण के वचन से ब्रह्म को ही समझा जाता है । प्रचुर प्रकाश रवि की तरह यहाँ स्वरूप में प्रचुर शब्द का योग है । इसलिये आनन्दमय वस्तु जीव नहीं है ॥ १३ ॥

आनन्द शब्द आनन्द का हेतु भूत अर्थ को भी बोध कराता है । यदि ब्रह्म आनन्द का हेतुस्वरूप न

नन्दस्य हेतुरानन्दमय इति व्यपदेशाच्च जीवादानन्दयिता भिद्यते । इत्यानन्दशब्देनानन्दमयो दृश्यः ॥ १४ ॥

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥ १५ ॥

सत्यं ज्ञानमिति मन्त्रवर्णोक्तं ब्रह्मैव यस्मादानन्दमय इति गीयतेऽतो नासौ जीवः । अयं भावः । ब्रह्मविदाप्नोति परमित्युपासकस्य जीवस्य प्राप्यब्रह्मोपक्रम्य तदेव सत्यमित्यादिमन्त्रेण विशेषितम् । तस्यैवेहा-नन्दमयशब्देन ग्रहणमुचितम् । तस्माद्वा एतस्मादित्यादिभिरुत्तरोक्तवाक्यैस्तस्यैवोपक्रान्तस्य प्रपञ्चनात् । ततश्च प्राप्यं ब्रह्म प्राप्तजीवादन्यदेवेति नानन्दमयस्य जीवत्वम् ॥ १५ ॥

ननु मान्त्रवर्णिकं ब्रह्म चेज्जीवादन्यत् स्यात्तदा तस्यैवानन्दमयत्वसमर्थनेन जीवाशंकापनयः स्यान्न चैवमस्ति जीवस्वरूपस्यैवाविद्यातत्कार्य्यनिर्म्मुक्तस्य मन्त्रवर्णेन परामर्शात्तस्मादनतिरिक्तो जीवादानन्दमय इति चेत्तत्राह ।

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १६ ॥

इतरो मुक्तावस्थोऽपि जीवो न मान्त्रवर्णिकः । कुतः । अनुपपत्तेः "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति" सहभोगश्रवणासिद्धेः । विविधं पश्यति चित्यस्यासौ तेन विपश्चिता । पृषोदरादित्वात् पश्यशब्दस्य पशभावः । विविधभोगचतुरेण तेन सह संयुक्तः सर्वान् कामानश्नुते भुंक्ते । अश भोजने इत्यस्मात् श्नाप्रत्ययपरस्मैपदयोर्व्यत्ययेन श्नुप्रत्ययात्मनेपदयोर्विधानम् । व्यत्ययो बहुलमिति छन्दसि तथा स्मृतेः ।

होता तो कौन प्राणचेष्टा व अपनी चेष्टा करता है । "परमात्मा हरि ही आनन्द का हेतु हैं वे जीव को आनन्द प्रदान करते हैं" इत्यादि श्रुति में आनन्ददाता परमात्मा को स्पष्ट ही जीव से भिन्नभाव में निर्देश करने का कारण आनन्द शब्द से आनन्दमय ब्रह्म को ही समझाता है ॥ १४ ॥

मन्त्रवर्ण में उक्त सत्य ज्ञान प्रभृति ब्रह्म ही है । जिससे वह "आनन्दमय है" ऐसा गाया जाता है । अतः आनन्दमय जीव नहीं है । इसका यह भाव है कि "ब्रह्मवित् उस ब्रह्म को प्राप्त होता है" इत्यादि वाक्य में उपासक जीव की प्राप्य वस्तु ब्रह्म को उपक्रम करके "वह सत्यस्वरूप और ज्ञान स्वरूप है" इत्यादि मन्त्र से विशेष करके उसका निर्देश करते हैं । इसलिये ब्रह्म को ही आनन्दमय शब्द से ग्रहण करना सर्वथा उचित है । फिर "तस्माद् वा एतस्मात्" इत्यादि उत्तरोत्तर वाक्य में वह उपक्रान्त ब्रह्म ही प्रपञ्चित होता है । इस प्रकार मन्त्रवर्णोक्त प्राप्य ब्रह्म ही आनन्दमय स्वरूप में अभिहित होने के कारण वह प्राप्त जीव से पृथक् है । अतः आनन्दमय जीव नहीं है ॥ १५ ॥

आशंका—मान्त्रवर्णिक ब्रह्म यदि जीव से भिन्न है तब उसके आनन्दमयत्व समर्थन के द्वारा जीव की आशंका दूर होती है । ऐसा नहीं कह सकते हो, कारण मन्त्रवर्ण के द्वारा माया और मायाकार्य्य से विनिर्मुक्त जीव ही परामर्श का विषय होता है सुतरां तादृश जीव से आनन्दमय पुरुष भिन्न नहीं है इस प्रकार आशंका निराकरण करने के लिये कहते हैं—

मुक्तावस्था में स्थित जीव भी मान्त्रवर्णिक ब्रह्म नहीं है । कारण अविद्या, अविद्या कार्य्य से विनिर्मुक्त मुक्त जीव की आनन्दमयत्व और मान्त्रवर्णिकत्व (ब्रह्म) की शंका होने पर भी जब श्रुति में लिखा है कि "जीव उस विविध भोग में चतुर ब्रह्म के साथ संयुक्त हो (मिलकर) समस्त अभिलषित विषय भोग करता है उसकी स्वतन्त्र भोग करने की शक्ति नहीं है" तब बद्ध जीव की आनन्दमयत्वादि की तरह मुक्त जीव की भी आनन्दमयत्वादि की संगति नहीं होती है । "ब्रह्म के साथ मिलकर" इस प्रकार के वचन से ब्रह्म का प्राधान्य

सहभावोक्त्या भोगे भगवतो प्राधान्यम्। भक्तस्य तु प्राधान्यमनभिमतम्। "वशे कुर्व्वन्ति मां भक्ताः सत्स्त्रियः सत्पतिं यथेत्यादि तद्वाक्यात् ॥ १६ ॥

भेदव्यपदेशात् ॥ १७ ॥

"रसो वै स रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवतीति" तस्यैव मान्त्रवर्णिकस्यानन्दमयस्य रसप्राप्तेः तस्य लभ्यस्य लब्धुर्जीवान्मुक्तावस्थादपि भेदोक्तेश्च मान्त्रवर्णिकोऽसावन्य एव। "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्नोति" इत्यादिष्वपि न मुक्तस्य ब्रह्माभेदः। ब्रह्माप्ययस्य ब्रह्मभूयानन्तरभावित्वात्। किन्तु ब्रह्मसदृशः सन्नित्येवार्थः। "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैतीति" श्रुतेः। "इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः" इत्यादि स्मृतेश्च। सादृश्येऽप्येवशब्दोऽस्ति। वाव यथा तथैवेव साम्ये इत्यनुशासनात् ॥ १७ ॥

ननु सत्त्वस्यानन्दहेतोः प्रधाने सत्त्वात् तदेवानन्दमयं स्यादिति चेत् तत्राह।

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १८ ॥

"सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय" इति संकल्पादेव विश्वसर्गश्रुतेर्नानुमानस्य प्रधानस्यास्मिन्नानन्दमयवाक्ये भवत्यपेक्षा जडस्य सङ्कल्पासम्भवात् ॥ १८ ॥

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १९ ॥

अस्मिन्नानन्दमये पुंसि प्रतिष्ठितस्यास्य जीवस्याभययोगं कृतान्तरस्य तु भययोगं शास्ति श्रुतिः यदा ह्येवेत्यादिना। न चैषा शिष्टिः प्रधानपक्षे संभवेत्। तत्र प्रकृतिवियुक्तस्याभयमभ्युपपत्स्यते, न तु तत्संसृष्टस्य। तस्मादानन्दमयो हरिरेव न जीवो नापि प्रकृतिरिति ॥ १९ ॥

है। भक्तों का प्राधान्यत्व अभिमत नहीं है। भागवत में कहा है "सती स्त्री जिस प्रकार अपने स्वामी को वश में कर लेती है ठीक उसी प्रकार भक्तगण मुझको अपने आयत्त कर लेते हैं ॥ १६ ॥

ब्रह्म और जीव दोनों परस्पर भिन्न करके व्यपदिष्ट होते हैं। मान्त्रवर्णिक आनन्दमय ब्रह्मरूप हरि वे "वह रस ही है वह रस को लाभ कर आनन्दित होता है" इत्यादि श्रुतिवाक्य से शृंगारादि रसस्वरूप होते हैं। उपासक जीव उक्त रस को पाकर नित्य आनन्दमय होता है। यहाँ रसस्वरूप प्राप्त ब्रह्म से लाभकारी मुक्तावस्थ जीव का भी भेद कहा गया है। "ब्रह्म होकर ब्रह्म को पाता है" यहाँ भी मुक्तजीव का ब्रह्म के साथ अभेद नहीं कहा गया। यहाँ ब्रह्म सादृश्य का ही उल्लेख है। ब्रह्म होने के बाद ब्रह्म प्राप्ति ऐसा कहने का कारण से जानना चाहिए श्रुति में भी कहा है जीव निरञ्जन होने पर परमसाम्य को प्राप्त होता है। स्मृति में भी कहा है कि इस प्रकार तत्व ज्ञान का आश्रय करने से मेरी साम्यता को लाभ करता है। सादृश्य में एव शब्द भी है। "वाव, यथा, तथा, इव, एव साम्य अर्थ में आते हैं" यह अनुशासन है ॥ १७ ॥

अच्छा, सत्वगुण का आनन्द रूप होने से वह प्रधान में है अतः प्रधान ही आनन्दमय होता है तो कहते हैं—"मैं बहु अर्थात् विशाल ब्रह्माण्डरूप से प्रादुर्भूत होऊंगा" इस प्रकार का संकल्प ब्रह्म का ही हो सकता है। किन्तु जड़ प्रकृति का कभी नहीं हो सकता है। केवल अनुमान से निर्भर करके कभी इस प्रकार बोलना उचित नहीं है। वस्तुतः ब्रह्म के उक्त संकल्प से अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड सृष्ट होते हैं। ऐसा श्रुति में स्पष्ट ही निर्देश है ॥ १८ ॥

श्रुति में कहा है कि जीव उस आनन्दमय पुरुष में, ऐकान्तिक भक्ति करने पर, अभय योग प्राप्त करता है और उससे विपरीत अर्थात् अन्तरित (पृथक्) होने से उसको बन्धनादिक होते हैं। जड़रूपा प्रकृति में इस प्रकार

छान्दोग्ये। "अथ य एषोऽन्तरादित्यो हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णस्तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद तस्य ऋक्साम च गेष्णौ तस्तादुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्गातैतस्य हि गाथा स एष ये चामुष्मात् पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यधिदैवतमथाध्यात्मम् ॥ अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैव ऋक् तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्यरूपम्। यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम" इति श्रूयते ॥ तत्र संशयः, किमयं पुण्यज्ञानातिशयवशात् प्राप्तोत्कर्षो जीवः कश्चित् सूर्येऽक्षिणि वोपदिश्यते उत तदन्यः परमात्मेति। तत्र देहित्वादिप्रतीतेरुपचितपुण्यो जीव एवायं ज्ञानशक्त्याधिक्यं च पुण्यातिशयादत एव लोककामेशितृत्वादिफलार्पणादुपास्यत्वं चेत्येवं प्राप्तौ ॥

अन्तस्तद्धर्म्मोपदेशात् ॥ २० ॥

तयोरन्तर्वर्त्ती परमात्मैव न जीवः। कुतः। तदित्यादेः। इह प्रकरणेऽपहतपाप्मत्वादीनां तद्धर्म्माणां निगदात्। अपहतपाप्मत्वमपहतकर्म्मत्वं कर्म्मवश्यतागन्धराहित्यमिति यावत्। न चैतत् कर्म्मवश्ये जीवे संभवेत्। न चौत्पत्तिकं लोककामेशितृत्वादि। नापि फलदातृत्वं तत्र मुख्यम्। न चोपास्यतायाः पारवश्यम्। यत्तु देहसंबन्धात्

घटाना असम्भव है। क्योंकि जीव जबतक प्रकृतिसंसर्ग परिहारकर आत्मनिष्ठ नहीं होताहै तबतक इसका अभय योग अत्यन्त असम्भव है। इसलिये वे आनन्दमय हरि ही हैं न प्रकृति है और न जीव है। छान्दोग्य में है हिरण्मय अर्थात् ज्योतिर्म्मय पुरुष आदित्यमण्डलके भीतर विराजता है। उसके केश और श्मश्रु दोनों हिरण्मय हैं फलतः नखशिख समस्त अंग सुवर्ण अर्थात् ज्योतिर्म्मय हैं। उसके नेत्रयुगल प्रफुल्ल कमल के सदृश है। समस्त दोषों से अस्पृष्ट होने के कारण उदिति उसका नाम है। जो उसके नाम को जानता है वह भी उसकी भाँति निर्दोष होता है। वह पुरुष आदित्य मण्डल के उपरिवर्ती लोक समूह का एकमात्र ईश्वर है और उन लोकों के देवताओं को यथा कामना देने वाला है यह कथन अधिदैवत है। अब अध्यात्म कहते हैं।

फिर जो पुरुष नेत्रमण्डल मध्य देश में अधिकार कर सर्वदा विराजित है वह ऋक् है, वह साम है, वह उक्थ है, वह यजुः है, वह ब्रह्म है। आदित्यमण्डल में विराजमान पुरुष का जिस प्रकार रूप, कान्ति और आकार प्रकार है उस पुरुष का समस्त ठीक उसी प्रकार है। उसकी जैसी पर्व्वणि है इसकी भी वैसी पर्व्वणि है। उसका जो नाम है इसका भी वही नाम है ॥ इत्यादि।

यहाँ संशय होता है कि यह पुण्य और ज्ञान के अतिशय के वश उत्कर्षप्राप्त कोई जीव है किम्वा जीव से अन्य परमात्मा है। यहाँ देहित्वादि प्रतीति से उपचित पुण्यशाली जीव ही पुरुष पदवाच्य है। पुण्य के अतिशय होने से उसमें ज्ञान शक्ति का आधिक्य होता है और लोकसमूह की कामनापूर्त्ति में सामर्थ्यादिक होने के कारण वह जीव ही उपास्य है इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर उसकी मीमांसा यह है कि सूर्य्यमण्डल नेत्रमण्डल दोनों के अन्तर्वर्त्ती वस्तु जीव नहीं है किन्तु परमात्मा है। कारण इस प्रकरणमें अन्तर्वर्त्ती के उद्देश्य करके अपहत पाप्मत्व प्रभृति ब्रह्मधर्म्म कहा गया है। अपहतपाप्मत्व का अर्थ अपहतकर्म्मत्व अर्थात् कर्म्मवश्यता गन्ध से रहित यह है। कर्म्माधीन जीव में इसका संभव नहीं है। देवताओं में जो लोकेश्वरत्वादिक देखने में आते हैं वह स्वाभाविक नहीं हैं किन्तु ईश्वर उपासना से लब्ध हैं। देवताओं में जो फलदातृत्व धर्म्म है सो भी ईश्वराधीन है। वे सब देवता उपास्य के कारण होने पर भी श्रेष्ठ नहीं हैं। क्योंकि उन्हीं की उपासना ईश्वर के असाक्षात् में है। परमात्मा देहसम्बन्ध से जीव होता है इस प्रकार नहीं कह सकते हो। क्योंकि "मैं उस महान्

जीवोऽसावित्युक्तं तन्न पुरुषसूक्तादिषु "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्" इत्यादिना तस्यात्मभूतदिव्यरूपश्रवणात् ॥ २० ॥

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ २१ ॥

आदित्यादिदेहाभिमानिनो जीवादन्योऽन्तर्यामी परमात्मेत्यवश्यमङ्गीकार्य्यम् । "य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत" इति वृहदारण्यके तस्माद्भेदनिरूपणात् स एवेह भवितुमर्हति श्रुतिसामान्यात् ॥ २१ ॥

तत्रैव छान्दोग्ये श्रूयते । "अस्य लोकस्य का गतिरिति आकाश इति होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते । आकाशं प्रत्यस्तं यान्त्याकाशः परायणमिति । इह सन्दिह्यते । आकाशशब्दबोध्यं वियद्ब्रह्म वेति ? तत्राकाशशब्दस्य वियति रूढत्वादाकाशाद्वायुरिति तस्यापि भूतहेतुत्वश्रवणाच्च वियदिति प्राप्तौ ॥

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ २२ ॥

ब्रह्मैव स न वियत् । कुतः तल्लिङ्गात् । सर्वभूतोत्पादनत्वादिलक्षणब्रह्मलिङ्गादित्यर्थः । एतदुक्तं भवति । सर्वाणीत्यसङ्कुचित–सर्वशब्दाद्वियत्सहितसर्वभूतोत्पत्तिहेतुत्वमवगतम् । न च तद्वियत्पक्षे सम्भवेत्स्वस्य स्वहेतुत्वाभावात् । आकाशादेवेत्येवकारेण हेत्वन्तरं च निरस्तम् । एतदपि न तत्पक्षे । मृदादेर्घटादिहेतोर्दृष्टत्वात् । ब्रह्मपक्षे तु सङ्गतिमत् तस्यैव सर्वशक्तिमतः सर्वस्वरूपत्वात् । यद्यप्याकाशशब्दस्तत्र रूढस्तथापि श्रौतरूढितो ब्रह्मणि प्रयुज्यते बलिष्ठत्वादिति ॥ २२ ॥

परमात्मा को आदित्य की भाँति ज्योतिर्म्मय, अज्ञानान्धकार नाशक, अप्राकृत दिव्य शरीरधारी जानना हूँ।" इत्यादि पुरुषसूक्त प्रभृति में ब्रह्म का अप्राकृत देह कहा गया है ॥ २० ॥

आदित्याभिमानी जीव से अन्तर्यामी परमात्मा भिन्न है उसे अवश्य मानना होगा। "जो आदित्य मध्य में रहकर भी उसका अन्तर्यामी है, जिसको आदित्य भी नहीं जानता है, आदित्य जिसका शरीर है, जो आदित्य का अन्तर्वर्त्ती और प्रवर्त्तक है वह अन्तर्यामी परमात्मा है वह अमृत है" इत्यादि वृहदारण्यकश्रुति में विज्ञानात्मा से लेकर अन्तर्य्यामी परमात्मा का भेद निर्देश के कारण और आदित्य का अन्तर्वर्त्ती परमात्मा इत्यादि श्रुतिवाक्य के साथ समानता के कारण इस प्रकरण में परमेश्वर को ही उपदेश करते हैं ॥ २१ ॥

छान्दोग्य में सुना जाता है कि शालावत ब्राह्मण जैवलि राजा को पूछता है–"इस पृथिवी और अन्य लोकसमूह का आधार क्या है ? उत्तर में राजा कहते हैं आकाश ही सबका उत्पत्ति और प्रलय का स्थान है"। यहाँ सन्देह होता है कि आकाश शब्द का तात्पर्य्य भूताकाश है किम्वा परमात्मा है । आकाशशब्द भूताकाश में रूढ़ है। और आकाश से ही प्रसिद्ध वायुप्रभृति भूतों की उत्पत्ति सुनने में आती है। अतः आकाशशब्द से प्रसिद्ध भूताकाश ही प्राप्त होता है उसका उत्तर देते हैं—

यहाँ आकाशशब्द ब्रह्म को समुझाता है। कारण समस्तभूतों की उत्पत्ति ब्रह्म के बिना भूताकाश से नहीं हो सकती है। श्रुतिमें असंकुचित सर्व शब्द के द्वारा आकाश के साथ सर्वभूतों के उत्पत्तिस्वरूप आकाश को निर्देश करते हैं। सुतरां आकाश शब्द से भूताकाश कहने से आकाश का कारण आकाश इस प्रकार असंगति होती है। एव शब्द से अन्य हेतु का निरास करते हैं। भूताकाशपक्ष में संगत नहीं हो सकता है। कारण मृत्तिकादि को घटादिक का कारण देखने में आता है। आकाश शब्द से ब्रह्म बोध होने पर कोई असंगति नहीं है शक्तिमत् ब्रह्म ही सर्वस्वरूप है। यद्यपि आकाश शब्द भूताकाश में रूढ़ है तो भी बलवती श्रौतरूढ़ि के अनुसार ब्रह्म में [illegible] होता है ॥ २२ ॥

"कतमा सा देवतेति । प्राण इति होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते" इति तत्रैव श्रूयते । तत्र प्राणो मुखान्तर्व्वर्त्ती वायुरुत सर्वेश्वर इति सन्देहे । रूढत्वाद्भूताभ्युदयाभिसंवेशयोः प्राणहेतुकत्वप्रसिद्धेश्च वायुरेवेति प्राप्तौ ।

अतएव प्राणः ॥ २३ ॥

प्राणोऽयं सर्वेश्वर एव न वायुविकारः । कुतः । अतएव सर्वभूतोत्पत्तिप्रलयहेतुत्वरूपाद्ब्रह्मलिङ्गादेव ॥ २३ ॥

तत्रैव श्रूयते । "अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्व्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिरिति"। तत्र संशयः । किमिह ज्योतिरादित्यादि तेजः किं वा ब्रह्मेति । तत्र ब्रह्मणः पूर्व्वमसन्निधानादादित्यादितेजस्तदिति प्राप्तौ—

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ २४ ॥

ज्योतिरत्र ब्रह्मैव ग्राह्यम् । कुतः । चरणेति । "तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पुरुषः पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" इति पूर्वत्र द्युसंबन्धिनः सर्वभूतपादत्वोक्तेः । इदमत्र तत्त्वं, पूर्वं हि पादोऽस्येति चतुष्पाद् ब्रह्म प्रकृतं तदेवेह यदिति यच्छब्देनानुवर्त्तितमित्यसन्निधिभङ्गादुभयत्र द्युसंबन्धश्रवणाविशेषाच्च निखिलतेजस्वी हरिरेव ज्योतिर्नत्वादित्यादिरिति ॥ २४ ॥

ब्रह्मणोऽसन्निधिमाशङ्क्य निरस्यति ।

उद्गीथ प्रकरण में चाक्रायण नामक ऋषि प्रस्तोता से कहते हैं "हे प्रस्तोत ! जो देवता सामभक्ति विशेष रूप प्रस्ताव प्राप्त हुए हैं उनको न जानकर यदि तुम मेरे पास प्रस्ताव करो तब तुमारा मस्तक गिर जायेगा" इस प्रकार सुनकर प्रस्तोता भीत होकर पूछता है "वह देवता कौन है" ? चाक्रायण जी कहते हैं "वह देवता प्राण है। प्राण से ही समस्त भूतों की उत्पत्ति तथा प्राण में समस्त भूतों का लय होता है। यहाँ प्राण शब्द से मुख के अन्तर्वर्त्ती वायु किम्वा सर्वेश्वर हैं इस प्रकार सन्देह होने से प्राण शब्द वायु में रूढ़त्व के कारण और प्राण से ही अग्नि प्रभृति भूतों की उत्पत्ति और प्राण में ही प्रलय होने के कारण प्राण शब्द से वायु है इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर कहते हैं।

यह प्राण सर्वेश्वर है किन्तु वायु विकार नहीं है। कारण सर्वभूतों की उत्पत्ति और प्रलयस्थान के कारण एकमात्र सर्वेश्वर हैं ॥ २३ ॥

वहाँ सुनने में आता है "जो विश्व के अन्तर्गत समस्त जीवों के उपरिभाग में स्थित है, जो निखिललोक स्थित पुरुषों से भी श्रेष्ठ, और जो निखिल संसार में व्यापक है वह ज्योतिर्म्मय पुरुष ही जीव के हृदय का [illegible] है" इस श्रुतिवाक्य मे संशय होता है कि यहाँ ज्योतिः शब्द से प्राकृत तेजः पदार्थ है किम्वा ब्रह्म माना जाता है। प्रकरण में ब्रह्म का असन्निधान अर्थात् अन् उपस्थिति के वश आदित्य–अन्तर्वर्त्ती तेजः ही ज्योतिः शब्द से बोध होता है उसके उत्तर में कहते हैं—

यहाँ ज्योतिः शब्द से ब्रह्म को ही बोध कराता है। कारण "यह गायत्री सर्वभूत स्वरूप है। यह वाक्य, यह पृथिवी, यह हृदय, यह प्राण प्रभृति छः प्रकार के पदार्थस्वरूप अक्षर हैं। चतुष्पदा गायत्री है। गायत्री अनुगत निखिल प्रपञ्च ब्रह्म की ही विभूति है। पुरुष पूर्णब्रह्म स्वरूप है। अतः प्रपञ्च से श्रेष्ठ है। समस्त जगत् पुरुष का एक अंश है। जिसको एकपाद रूप से कहते हैं। स्वप्रकाशरूप इस पुरुष में त्रिपाद अनन्त अमृत, अर्थात् नित्यविभूति विद्यमान है" इत्यादि श्रुति में प्राकृतिक समस्त ज्योतिः पदार्थ ब्रह्म का अंश कहा गया है। जो समस्त भूतों के अंशी हैं वे अप्राकृत धाम में रहते हैं। अप्राकृत धामस्थ श्रीहरि ही समस्त तेजः के आधार हैं, आदित्यादि नहीं है ॥ २४ ॥

छन्दोऽभि[illegible]न्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात्तथाहि दर्शनम् ॥ २५ ॥

ननु "गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्चिदि"त्युपक्रम्य तामेव भूतवाक्पृथिवीशरीरहृदयप्रभेदैर्व्याख्याय "सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्युक्तम्। तावानस्य महिमा" इति तस्यामेव व्याख्यातरूपायामुदाहृतो मन्त्रः कथमकस्माच्चतुष्पाद् ब्रह्माभिदध्यात्। तस्माद्गायत्र्याख्यस्य छन्दसस्तत्राभिधानान्न ब्रह्म प्रकृतमिति चेन्न। कुतः। तथेति। तथा गायत्र्यात्मनावतीर्णे ब्रह्मणि चेतोऽर्पणस्य ध्यानस्य तत्र निगदादुपदेशादित्यर्थः। तथा सति हि गायत्री वा इदं सर्वमिति दर्शनं संगतिमत् स्यादन्यथा पीड्यतेति गायत्र्या ब्रह्मत्वे प्रमाणं दर्शितं भवति ॥ २५ ॥

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ २६ ॥

युक्तिमाह—
एवं ब्रह्मैव गायत्रीति मन्तव्यम्। कुतः। भूतादीति भूतादीनि निर्दिश्याह। सैषा चतुष्पादिति। तस्या ब्रह्मत्वाभावे तत्पादत्वव्यपदेशासिद्धेरित्यर्थः। तस्मादस्ति पूर्वस्मिन् वाक्ये प्रकृतं ब्रह्म तदेवेह यदित्यनुवर्त्तमानाद्द्युसंबन्धेन प्रत्यभिज्ञानाच्च परामृष्टमिति ॥ २६ ॥
उभयत्र द्युसंबन्धश्रवणाविशेषमाक्षिप्य समादधाति ॥

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥ २७ ॥

ननु त्रिपादस्यामृतन्दिवीति सप्तम्या द्यौराधारत्वेनोपदिष्टा। इह पुनः परो दिव इति पञ्चम्या मर्यादात्वेन, इत्येवमुपदेशभेदान्न तस्येह प्रत्यभिज्ञेति चेन्न। कुतः। उभयेति। उभयस्मिन्नपि सप्तम्यन्ते चोपदेशे सा न विरुध्यते। यथा लोके वृक्षाग्रस्थोऽपि शुक उभयथोपदिश्यमानो दृश्यते वृक्षाग्रे शुको वृक्षाग्रात् परतः शुक इति। स चोपदेशभेदेऽप्यर्थैक्यान्न विरुध्यते तद्वत् ॥ २७ ॥

अच्छा "गायत्री ही सर्वस्वरूप है भूत, वाणी, पृथिवी, शरीर, हृदय तथा प्राण यह सब गायत्री की विभूति है" ऐसा श्रुति में कहा है। गायत्री मन्त्र मात्र है। अतः उसका सर्वस्वरूपत्व प्रभृति प्रशंसापरक मात्र है वास्तविकत्व नहीं है। संसार ब्रह्म की ही विभूति है यह भी नहीं बोला जा सकता है। इस प्रकार की आशंका के निरासन के लिये कहते हैं।

गायत्रीरूप में अवतीर्ण ब्रह्म में चित्त का समर्पण वा ध्यान का उपदेश देकर उक्त श्रुति में निखिल संसार ब्रह्म की विभूति है और गायत्रीमन्त्र की विभूति रूप प्रशंसावाद नहीं है—इसे कहते हैं ॥ २५ ॥

युक्ति के द्वारा कहते हैं—इस प्रकार ब्रह्म ही गायत्री है। कारण पूर्ववाक्य से भूतादि समस्त वस्तु को अंश रूप से निर्देश कर चतुष्पाद शब्द से गायत्री मन्त्र को न बोलकर गायत्रीरूप, स्वधामस्थ ब्रह्म को ही निर्देश करते हैं। मन्त्र का पाद भूतादिक है इस प्रकार सम्भव नहीं है ॥ २६ ॥

अब दोनों का द्युसम्बन्धत्व अर्थात् अप्राकृत धाम सम्बन्धत्व के सुनने में कोई विशेष है किम्वा नहीं है, इस प्रकार आक्षेप लेकर उसका समाधान करते हैं।

पहिले "त्रिपादस्यामृतं दिवि" यहाँ स्वर्ग वा अप्राकृत धाम में सप्तम्यन्त प्रयोग कर स्वर्ग को आधार रूप से उपदेश करते हैं पीछे "परो दिवः" यह दिवः स्वर्ग से श्रेष्ठ है इस प्रकार पञ्चम्यन्त प्रयोग कर मर्य्यादारूप से उपदेश करते हैं। सुतरां उपदेशभेद से दोनों एक वस्तु को ही निर्देश करते हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार आशंका होने पर उत्तर देते हैं उपदेश भेद से कोई दोष नहीं होता है। कारण ब्रह्म स्वर्गस्थ होकर भी स्वर्ग का अतीत है। इस प्रकार अर्थ होने से कोई दोष नहीं है जैसा कि "वृक्षाग्रस्थोऽपि शुक" उभय प्रकार से उद्देश्य मान होता है। "वृक्ष के अग्र भाग में शुक" अर्थात् वृक्ष का अग्र भाग के पर देश में शुक है" इति ॥२७॥

कौषीतकिब्राह्मणे "प्रतर्द्दनो दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन पौरुषेण" चेत्युपक्रम्येन्द्रप्रतर्द्दनाख्यायिका श्रूयते। तत्र प्रतर्द्दनेन हिततमं वरं पृष्ट इन्द्रस्तमुपदिशति।

"प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमुपास्स्वेति"। इह संशयः। किमयमिन्द्रः प्राणशब्दनिर्दिष्टो जीवः किम्वा परमात्मेति। तत्रेन्द्रशब्दस्य जीवविशेषे प्रसिद्धेस्तदेकार्थस्य प्राणशब्दस्य तत्रैव वृत्तेश्चायं जीव एव तेन पृष्टः स्वोपासनं हिततममाहेति प्राप्ते।

प्राणस्तथानुगमात् ॥ २८ ॥

तन्निर्दिष्टः परमात्मैव न जीवः। कुतः। तथेति। तत्प्रकृतस्य तस्य "स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृत" इत्यानन्दादिशब्दवाच्यत्वेनानुगमात् ॥ २८ ॥

ननु नोक्तं युज्यते वक्तृस्वरूपनिरूपणात्। मामेव विजानीहि प्राणोऽस्मीति वक्ता खलु इन्द्रः। तेन "त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमरुन्मुखान्यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छमि"त्यादिना विज्ञातजीवभावस्य स्वस्यैवोपास्यत्वेनोपदेशात्। उपक्रमानुरोधेनानन्दादेरप्युपसंहारगतस्य जीवपरतया नेयत्वाच्च। प्राणोऽस्मीतीन्द्रदेवतैव तत्त्वेनोपासितुमुपदिश्यते वाचं धेनुमुपासीतेतिवत्। बलाधिष्ठातृत्वाच्च तस्य तथोपदेशः। प्राणो वै बलमिति हि वदन्ति। तस्माज्जीवोऽयमित्याक्षिप्य परिहरति।

न वक्तुरात्मोपदेशादितिचेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥ २९ ॥

अध्यात्मसम्बन्धः परमात्मैकान्तधर्मसम्बन्धस्तस्य भूमा बहुत्वमस्मिन् प्रकरणे हि यस्माद् दृश्यतेऽतः परमात्मैव स बोध्यः। तथाहि हिततमं वरं किल मोक्षाप्त्युपायः। तत्कर्म्मत्वं मामुपास्स्वेति प्राणशब्दितस्य प्रतीयते। "एष एव साधु कर्म्म कारयति" इत्यादिना सर्वकर्मकारयितृत्वम्। "तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता

कौषीतकिब्राह्मण में इन्द्र और दिवोदासी के पुत्र प्रतर्दन राजा की एक आख्यायिका है। प्रतर्दन राजा युद्धसौष्ठव तथा पुरुषाकार दिखाने के लिये इन्द्रलोक में गये। इन्द्र ने प्रतर्दन के ऊपर प्रसन्न होकर उनको वर माँगने के लिये कहा। प्रतर्दन ने कहा जीव का जो प्रियतम है उसका उपदेश दीजिये। उसके उतर में—इन्द्र कहते हैं "मैं प्रज्ञात्मा प्राणस्वरूप और अमृतस्वरूप हूँ" "अतः मेरी उपासना करो"। यहाँ संशय है कि इस प्राणशब्द के द्वारा निर्दिष्ट इन्द्र परमात्मा किम्वा जीव विशेष है। इन्द्रशब्द जीव विशेष में प्रसिद्ध है और जीवार्थ प्राणशब्द की वहाँ ही वृति है। प्रतर्दन के द्वारा जिज्ञास्य प्राप्त जीव उपास्य है,इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं।

प्राणशब्द से निर्दिष्ट इन्द्र परमात्मा ही है जीव विशेष नहीं है। कारण प्रज्ञात्मा, आनन्द, अमृत, इत्यादि विशेषणों के द्वारा परमात्मा को ही निर्देश करता है ॥ २८ ॥

अच्छा यहाँ वक्ता स्वयं इन्द्र के द्वारा प्राणशब्द से अपने को निर्देश करने का कारण ब्रह्म को न समुझकर जीवका ही बोध कराताहै। अवाक् अमना ब्रह्मका वस्तुत्व सम्भव नहींहै। इसलिये "मैंने त्रिशीर्ष विश्वरूपका संहार किया" "मैंने वेदान्त वहिर्म्मुख योगिगण को आरण्यकुक्कुर के मुख में फेंका है" इत्यादि श्रुतिवाक्य से इन्द्र देवतारूप जीव विशेष का बोध होता है। "वाचं धेनुं उपासीत" इत्यादि श्रुति में जिस प्रकार वाक्य का धेनुत्व न होने से भी उसमें उसका आरोप होता है उसी प्रकार उपासना के लिये निर्गुण ब्रह्म में सगुण कल्पना कर बलरूप प्राण का अधिष्ठातृदेवता इन्द्र को ही जीव कह करके उपदेश करते हैं। इस प्रकार आक्षेप कर उसका परिहार करते हैं।

इस प्रकरण में अध्यात्म-सम्बन्ध विशेषभाव से वर्णन किया हुआ है। इसलिये प्राण शब्द से वक्ता रूप जीव का उपदेश नहीं कर इन्द्र परमात्मा को ही उपास्यरूप से निर्देश करते हैं। कल्याणतम कार्य्य मोक्ष का उपाय है। जिसकी उपासना से मोक्ष होता है वह कभी प्राकृत प्राण व जीव नहीं हो सकता है।"वे साधु कर्म्म

एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः । प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः" इति जडचेतनात्मकसमस्ताधारत्वं च । एवं "स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः । एष लोकाधिपतिरेष सर्वेश्वरः" । इत्यानन्दात्मकत्वादि च । तदेतद्ध-र्म्मजातं परमात्मन्येव सम्भवति नान्यत्रेति ॥ २६ ॥

ननु एवं चेद्वक्तुरात्मोपदेशः कथं सङ्गच्छेत तत्राह ॥

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥ ३० ॥

तु शब्दः सन्देहहानौ । विज्ञातजीवभावेनापीन्द्रेण मामेव विजानीहि मामुपासस्वेत्युपास्यब्रह्मरूपतया योऽयं स्वोपदेशः कृतः स शास्त्रदृष्ट्यैव सम्भवति नेतरथा । शास्त्रं खलु यद्वृत्तिर्यदायत्ता तं ताद्रूप्येण उपदिशति । "न वै वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनांसीत्याचक्षते प्राण इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवतीति" छान्दोग्यश्रुतिः । प्राणायत्तवृत्तिकत्वादिन्द्रियाणि प्राणरूपतया निर्दिशति।तथा चैवं विदुषो वक्तुः स्वप्रज्ञां स्वविनेये सञ्चिचारयिषोर्मामेव विजानीहीत्याद्युपदेशो ऽन्यथा स्वं ब्रह्मायत्तवृत्तिकमसौ न विद्यादिति । दृष्टान्तमाह । वामेति । यथा बृहदारण्यके "तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्य्यश्चेत्यत्राहमिति" स्ववृत्तिहेतुं ब्रह्म निर्दिश्य तदेकार्थेन मन्वादीन् वामदेवो व्यपदिशति तथेन्द्रोऽपि स्वमिति । स्मृतिश्च तद्व्याप्यस्य ताद्रूप्यमभिधत्ते । "योऽयं तवागतो देव ! समीपं देवतागणः । सत्यमेव जगत्स्रष्टा यतः सर्व्वगतो भवान्" इति । "सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व्वः" इति च । लोकेऽपि स्थानमत्यैक्यादैक्यं वदन्ति । गावः सायमेकतां यान्तीति । "विवदमाना नृपास्तां यातार" इति च ॥ ३० ॥

कराते रहते हैं" इत्यादि श्रुति में परमात्मा ही निखिलकर्म्म का प्रवर्त्तक है । "वाक्य को जानना नहीं होगा किन्तु वक्ता को जानना होगा" इत्यादि उपक्रम करके "जिस प्रकार नेमि रथचक्र में अर्पित होता है रथ का चक्र काष्ठ विशेष में अर्पित होता है" उसी प्रकार भूत और विषय समूह जीव के आश्रित हैं और जीव परमात्मा के आश्रित है" इत्यादि उपसंहार में भी श्रुतिमाता आश्रयभूत परमात्मा को निर्देश करती है । अधिकतः "यह प्राण प्रज्ञात्मा, आनन्द, अजर, अमृत, लोकाधिपति और सर्वेश्वर" इत्यादि श्रुति में प्राण शब्द से परमात्मा ही स्पष्ट कहे हुए हैं । अतएव उक्त धर्म्मसमूह परमात्मा का ही है और का नहीं है ॥ २६ ॥

अच्छा, इस प्रकार व्याख्या करने से वक्ता का आत्मोपदेश किस प्रकार सम्भव होगा । उसके उत्तर में कहते हैं । "तु" शब्द सन्देहनाश में जानना । विज्ञात जीव रूप इन्द्र ब्रह्म रूप में अपने को जो उपदेश करता है कि मेरी ही उपासना करो उसे शास्त्रदृष्टि से जानना चाहिये । जो वृत्ति जिसकी आयत्त है, शास्त्र उसको उसी रूप में उपदेश करता है । इन्द्रियसमूह प्राणायत्तवृत्ति के कारण जिस प्रकार छान्दोग्यादिश्रुति में प्राणरूप में ही निर्देश हुए हैं उस प्रकार जीव की ब्रह्मायत्तवृत्ति के कारण यहाँ इन्द्र अपने को उपास्यत्व का उपदेश करते हैं । दृष्टान्त-यथा-बृहदारण्यकश्रुति में कहा है-"वामदेव ऋषि बोलते हैं:— "मैं मनु हुआ था, मैं सूर्य्य हुआ था" यहाँ मैं शब्द से मेरी आयत्तवृत्ति के हेतुरूप ब्रह्म जानना । उस ब्रह्म सम्बन्ध से मनु प्रभृति का निर्देश करते हुये अपने ऊपर लेकर कहते हैं । उसी प्रकार यहाँ इन्द्र भी अपने ऊपर लेकर कहते हैं । स्मृति में भी कहा है " जो जिसका व्याप्य है, वह रूप ही उसका है । हे भगवन् ! जो समस्त देवता आपके समीप आये हैं वे सब सत्य ही जगत्-स्रष्टा हैं जिस कारण आप सर्व्वगत हैं । गीतामें भी कहा है । "आप सर्व्व व्यापक हैं"। "आपसे भिन्न और कुछ नहीं है" । जब आप सर्वव्यापक हैं तब आप ही सब हैं । मनुष्य में भी इस प्रकार दृष्टान्त का अभाव नहीं है । स्थान की एकता और मति की एकता से ऐक्यव्यवहार देखने में आता है । सायंकाल में गो-समूह, और विवदमान नृप-समूह एकतासूत्र में बद्ध होते हैं ॥ ३० ॥

नन्वस्तु ब्रह्मैकान्तधर्म्मसम्बन्धभूमा तथाप्येतद्वाक्यं ब्रह्मपरमिति न शक्यं नियन्तुम् । "न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात् ।" त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमित्यादिजीवलिङ्गात् । "यावदस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुरथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मा इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयतीति" मुख्यप्राणलिङ्गाच्च । एवं "यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या प्रज्ञा स प्राणः । सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः । सहोत्क्रमत" इत्यपि जीवाद्युक्तौ न बाधकं । प्रवृत्तिनिवृत्ति-साहित्येन द्वयं रैक्योपचारात् । तस्मात् त्रयमुपास्यमिति तदेतन्निराकर्तुमाह ।

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥ ३१ ॥

जीवप्राणयोर्लिङ्गात् तावप्युपास्याविति यदुक्तं तन्न, कुतः, तथा सति उपासात्रैविध्यात् । न चैकस्मिन् वाक्ये तदङ्गीकर्तुं शक्यं वाक्यभेदप्रसङ्गात् । अयमाशयः । किं जीवादिलिङ्गात् ब्रह्मधर्माणां जीवादिपरत्वं, किंवा त्रयाणां स्वातन्त्र्यं, आहोस्वित् जीवादिलिङ्गानां ब्रह्मपरत्वमिति । तत्राद्यः प्रागेव निरस्तः । द्वितीयस्तूपासात्रैविध्यप्रसङ्गेन दूषितः । तृतीये युक्तिमाहाश्रितत्वादिति । अन्यत्रापि जीवप्राणादिशब्दानां ब्रह्मार्थत्वश्रवणादिहापि तथा । ननु तत्र लिङ्गसत्त्वात् तदर्थत्वमाश्रितमिति चेदिहापि हिततमोपासनकर्मत्वादिलिङ्गयोगात् तदर्थत्वमाश्रयितुं युक्तमित्याह । इह तद्योगादिति । ननु सहवासोत्क्रान्त्योर्ब्रह्मपक्षे कथं सङ्गतिरिति चेन्न ब्रह्मक्रियाज्ञानशक्त्योर्देहे सहा-

---

अच्छा, अध्यात्म-सम्बन्ध बहुलरूप से उपदेश होने पर भी उक्त वाक्य-समूह ब्रह्म परक है- इस प्रकार नहीं बोला जा सकता है । "वाक्य को जानना नहीं होगा वक्ता को जानना होगा" "मैंने त्रिशीर्ष विश्वरूप ब्राह्मण को संहार किया है" इत्यादि स्थल में स्पष्ट ही जीव निर्देश होता है । और "जब तक यह शरीर में प्राण है तब तक जीवन है, प्रज्ञानात्मा प्राण ही इस शरीर में आश्रय कर उसको कर्म्म में प्रवृत्त कराता है" इत्यादि स्थल में प्राण मुख्य है ऐसा कहा गया है । विशेष करके "प्राण ही प्रज्ञा" "प्रज्ञा ही प्राण," "प्राण शरीर में वास करता है" "प्राण ही शरीर से निकलता है" इत्यादि स्थल में प्राण की जीवादि उक्ति बाधक नहीं है । "सुतरां जीव, प्राण, और ब्रह्म यह तीनों ही उपास्यत्व करके कहे जाते हैं" इस प्रकार बोलने पर उक्त शंका का निरासन करते हैं ।—

पूर्वोक्त श्रुति-समूह जीव और प्राण का निर्देश कर दोनों को उपास्यत्व रूप से बोध कराता है-इस प्रकार नहीं कह सकते हो । कारण उपास्यवस्तु त्रिविध होने के कारण उपासनावस्तु भी प्राणधर्म्म-प्रज्ञाधर्म्म और ब्रह्मधर्म्म के अनुसार तीन प्रकार की हो जाती है । एकवाक्य में त्रिविध उपासना का निर्देश नहीं हो सकता है । वाच्यभेद होने पर वाक्यभेद अवश्य होना चाहिये । अब पूछा जाता है कि क्या इसका यह आशय है कि जीवादिलिंग के कारण ब्रह्मधर्म्म जीवादि परक है किम्वा तीनों ही स्वतन्त्र हैं किम्वा जीवादिलिंग-समूह ब्रह्मपरक है ? । प्रथमपक्ष प्राणाधिकरण में पहिले निरस्त हुआ है । द्वितीयपक्ष भी "उपासना त्रिविध" के द्वारा दूषित हो गया है । अब तृतीयपक्ष में युक्ति कहते हैं । जीवादिलिंग-समूह ब्रह्म पर है । कारण सर्वत्र वे ब्रह्मपर रूप में निर्देश होते हैं । जिस प्रकार लिंग सत्व के कारण जीवादिलिंग-समूह ब्रह्म पर रूप से निर्देश होते हैं ठीक यहाँ भी उसी प्रकार उपासना-कर्म्मत्वादि लिंग योग के कारण उसका ब्रह्मपरत्व ही यथायुक्त है । सहवास और उत्क्रान्ति धर्म्म किस प्रकार ब्रह्म पर हो सकता है इस प्रकार आशंका नहीं की जा सकती है । ब्रह्मनिष्ठा क्रिया-शक्ति और ज्ञानशक्ति का शरीर में सहावस्थान और सहोत्क्रमण ये दोनों संगत हैं । धर्म्मी पर प्राणादिशब्द किस प्रकार धर्म्म पर हो सकते हैं, इस प्रकार की आशंका भी नहीं हो सकती है । कारण, धर्म्म के प्रतिपादन में भी धर्म्मी की उपस्थिति है जिससे दोनों एक रूप हैं । "मैं प्राण हूँ मैं प्रज्ञात्मा हूँ" इस स्थल में क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति रूप दोनों शक्ति विशिष्ट धर्म्मी के निर्देश करने के पश्चात् फिर " जो प्राण वह प्रज्ञा" इस प्रकार वचन से तदीय धर्म्म की प्रशंसा की गयी है । अतएव इस स्थल में इन्द्र, प्राण, और प्रज्ञा शब्द से ब्रह्म कहा गया है ।

वस्थानं सह चोत्क्रमणमित्यर्थसत्त्वात्।ननु प्राणादिशब्दाभ्यां धर्मिप्रतिपादनात् कथं धर्म्मपरत्त्वं,मैवं धर्म्मप्रतिप्रादनेऽपि धर्मिणः प्रतिपत्तेरुभयोरैकरूप्यात्। प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मेति शक्तिद्वयधर्म्मकतया निर्दिष्टस्य पुनर्धर्म्मरूपस्य प्रशंसा। यो वै प्राणः स प्रज्ञेति। तस्माद् ब्रह्मैवात्र इन्द्रप्राणप्रज्ञादिशब्दैरवगन्तव्यमिति। नन्वनारभ्यमेवैतत् प्राक् प्राणचिन्तया गतार्थत्वात्। मैवम्। पूर्व्वत्र शब्दमात्रे संशयः इह तु आनन्दादिके कथञ्चिदन्यपरतया नीते साधकस्य ब्रह्मैकान्तधर्म्मस्य अभावात् बाधकस्य जीवादिलिङ्गस्य तु सत्त्वादर्थेऽपि स इति तदाधिक्यात् पृथगारम्भः ॥ ३१ ॥

॥ इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रभाष्ये प्रथमाध्यायस्य प्रथमःपादः ॥

द्वितीयपादः

मनोमयादिभिः शब्दैः स्वरूपं यस्य कीर्त्यते। हृदये स्फुरतु श्रीमान्ममासौ श्यामसुन्दरः ॥

प्रथमे पादे समस्तजगत्कारणभूतं पुरुषोत्तमाख्यं परं ब्रह्म जिज्ञास्यमित्युक्तं। तत्रैवान्यत्र प्रतीतानां केषाञ्चिद्वाक्यानां ब्रह्मणि समन्वयः प्रदर्शितः। द्वितीयतृतीययोस्तु अस्पष्टब्रह्मलिङ्गकानां केषाञ्चिद्वाक्यानां तस्मिन्नेव समन्वयः प्रदर्श्यते। छान्दोग्ये शाण्डिल्यविद्यायामिदमामनन्ति। "सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः। यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति। स क्रतुं कुर्वीत। मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्व्वकर्म्मा सर्व्वकामः सर्व्वगन्धः सर्व्वरसः सर्व्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यानादर" इत्यादि। तत्र संशयः। मनोमयत्वादिगुणैरुपास्यो जीव उत परमात्मेति। तत्र मनःप्राणयोर्जीवोपकरणत्वात् "अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः" इति परमात्मनस्तन्निषेधात् तद्वान् जीवोऽयं स्यात्। न च सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म इति पूर्व्वनिर्दिष्टं ब्रह्मात्र ग्रहीतुं शक्यं तस्य वाक्यस्योपास्त्युपकरणशान्तिविधिपरत्वात्। शान्तिनिष्पत्तये सर्व्वस्य ब्रह्मात्मत्वोपदेशः। एवं जीवे निश्चिते अन्तिमो ब्रह्मशब्दोऽप्येतत्परः स्यादित्येवं प्राप्ते।

अच्छा, पहिले प्राणचिन्ताप्रकरण में जब यह विषय एक बार कहा गया है फिर उसके लिये पृथक आरम्भ क्यों है ? इस प्रकार नहीं कह सकते हो। कारण, पूर्वप्रकरण में केवल शब्दमात्र से ही संशय किया गया है किन्तु इस प्रकरण में आनन्दादि शब्द, कुछ अन्यपर रूप में कल्पित होने से, ब्रह्मैकान्तधर्म्म साधक का अभाव और बाधक जीवादिलिंग के सद्भाव के कारण अर्थगत संशय कहते हैं। फलतः अर्थगत संशय के आधिक्य के कारण पृथक् विचार किया गया है ॥ ३१ ॥

—※—

मनोमयादि शब्दों से जिनका स्वरूप कीर्त्तित हुआ है वह श्रीमान् श्यामसुन्दर मेरे हृदयमें स्फूर्त्ति लाभ करें। प्रथमपादमें समस्त जगत् के कारणभूत पुरुषोत्तम परब्रह्म जिज्ञास्य हैं यह कहा गया है। उस पादमें अन्य विषयमें प्रतीत कुछ वाक्यों का ब्रह्म में ही समन्वय दिखलाया गया है। द्वितीयपाद और आगे का तृतीयपाद में अस्पष्ट ब्रह्मलिंग कुछ वाक्यों का उक्त ब्रह्ममें ही समन्वय दिखाया जाएगा। छान्दोग्यमें शाण्डिल्यविद्या प्रकरण में कहा गया है कि "परिदृश्यमान समस्त विश्व ब्रह्म है" कारण,संसार ब्रह्म से उत्पन्न और ब्रह्म में लय होता है। यह ब्रह्म ही संसार का आश्रयभूत है। अतः शान्तचित्त से उसकी उपासना कर्त्तव्य है। उपासक पुरुष संकल्पप्रधान है। जो जिस प्रकार जिस भाव से भगवान् की उपासना करता है, वह अन्त में उसी प्रकार की गति को प्राप्त होता है। मनोमय, प्राण के नियामक, प्रकाशस्वरूप, सत्यसंकल्प, सर्वगत, विचित्र–विविध लीलाकारी, समस्तभोग से युक्त, सर्वगन्ध, सर्वरस, सर्वव्यापी, सिद्धसमस्तार्थ, याञ्चावाक्य से रहित, ब्रह्मादि स्तम्भपर्य्यन्त निखिल जगत् को तृण की भाँति तुच्छ ज्ञान करते हुए सुखास्वाद में स्थित, वाक्य मन का अगोचर,आत्म आदर से रहित, परब्रह्म ईश्वर ही एकमात्र उपास्य हैं"। यहाँ सन्देह यह है कि मनोमयादि गुणों से युक्त पुरुष जीव है किम्वा ईश्वर है ? मनोमय और प्राणमय जीव का धर्म्म होने के कारण तथा अमना और अप्राण प्रभृति परमात्मा के

सर्व्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥

स खल्वयं परमात्मैव न जीवः। कुतः सर्व्वत्र वेदान्ते प्रसिद्धस्य जगज्जन्मादिहेतुतारूपस्य तदेकान्तधर्म्मस्यात्रापि वाक्ये तज्जलानित्युपदेशात्। यद्यप्युपक्रमवाक्ये शान्तिविवक्षया न तु स्वविवक्षया ब्रह्म निर्दिष्टं तथाप्युपदिष्टे मनोमयत्वादिके तत्सन्निधास्यति। क्रतुरुपासना। मनोमयः शुद्धमनोग्राह्यः "मनसैवानुद्रष्टव्य" इति श्रुत्यन्तरात्। "यतो वाच" इत्यादिकृतप्रतिषेधस्तु पामरागोचरत्वात् कार्त्स्न्यागोचरत्वाच्चेति तत्त्वविदः। प्राणशरीरत्वं तन्नियन्तृत्वात् प्रेष्ठमूर्तित्वादित्येके। "अप्राणो ह्यमना" इति तु तदनधीनस्थितिज्ञानत्वात् प्राकृतविषयो वा। मनोवानित्यनीद्वातमिति च श्रुत्यन्तरात्। अपरे तु "मनोमयः प्राणशरीरनेता" "स एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयोऽमृतमयो हिरण्मयः" "हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति"। "प्राणस्य प्राण" इत्यादिषु सर्वेषु वेदान्तेषु प्रसिद्धस्य मनोमयत्वादेरिहाप्युपदेशात् परमात्मैव मनोमय इति व्याचख्युः ॥ १ ॥

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

"मनोमयः प्राणशरीरो भारूप" इत्यादिना ये गुणा विवक्षितास्ते हि परस्मिन्नेवोपपद्यन्ते न तु जीवे ॥२॥

गुण होने के कारण मनोमयादिगुणयुक्त पुरुष जीव ही है। "यह समस्त विश्व ब्रह्म है" इस वचन से केवल उपक्रान्त ब्रह्म का बोध नहीं हो सकता है। कारण, उक्त वाक्य उपासना का उपकरण स्वरूप शान्तिविधि का बोध कराता है ऐसा जानना चाहिए। शान्ति के लिये समस्त ही ब्रह्म स्वरूप में उपदिष्ट होते हैं। इस तरह जीव निश्चय होने पर अन्तिम ब्रह्म शब्द भी जीव का बोध कराता है इस प्रकार आशंका के निरासन के लिये कहते हैं–

यह निश्चय परमात्मा है जीव नहीं है। कारण समस्त वेदान्त–शास्त्र में प्रसिद्ध जगत् के जन्मादि कारण रूप ब्रह्म का ही उपदेश किया जाता है। यद्यपि उपक्रम वाक्य में शान्तिविवक्षा से ही ब्रह्म का निर्देश है स्वविवक्षा से नहीं है तो भी मनोमयादि उपदिष्ट वाक्य से ब्रह्म को ही विशेष रूप से जानना होगा। मनोमय शब्द से शुद्ध मनोमय का ग्रहण है। ब्रह्म के मनोग्राह्यत्व निषेध सूचक वाक्यसमूह का अर्थ–विषयवासना के द्वारा मलिन मन में ब्रह्म की स्फूर्त्ति नहीं होती है ऐसा समझना चाहिए। नहीं तो "मन के द्वारा ही उनको देखना होगा" इत्यादि श्रुति के साथ विरोध हो सकता है। "ब्रह्म वाणी और मनके अगोचर" इस प्रकार निषेधकरने वाली श्रुतियों का समन्वय पाषण्ड की वाणी, मन के अगोचर, किम्वा सर्वभाव से वाणी और मन के अगोचर इस तरह करना चाहिए। प्राण के नियामक होने के कारण ब्रह्म को प्राणशरीर कहा जाता है। अथवा प्राणशरीर शब्द का अर्थ उपासक का प्राणतुल्य प्रियविग्रह होता है। उनका प्राकृत प्राण और प्राकृतमन नहीं है अथवा मन और प्राण के अधीनता में न रहने के कारण उनको अमना और अप्राण कहते हैं। नहीं तो "वे मनोवान्" "उनका वायुविकार रूप प्राकृत प्राण नहीं है" इत्यादि श्रुतिवाक्य से विरोध हो सकता है।

कोई कोई वे मनोमय, प्राण शरीर के नेता, अन्तर में रहने वाले अमृतमय हैं। इस लिये वह पुरुष मनोमय, अमृतमय, हिरण्यमय, हृदय–बुद्धि और मन से पर है। जो इस प्रकार जानता है सो अमृत हो जाता है "वे प्राण के ही प्राण हैं" इत्यादि श्रुति में प्रसिद्ध मनोमयत्वादि के उपदेश के कारण परमात्मा ही मनोमयादिक हैं" इस प्रकार व्याख्या करते हैं ॥ १ ॥

मनोमय, प्राण शरीर, कान्तिरूप इत्यादि श्रुतिवाक्य से जो गुण–समूह कहा जाता है वह गुण–समूह परमात्मा में ही विद्यमान है जीव में नहीं है ॥ २ ॥

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ ३ ॥

मनोमयः शारीरो न भवति खद्योतकल्पे तस्मिंस्तेषामसम्भवात् ॥ ३ ॥

कर्म्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥ ४ ॥

"एतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मी"ति श्रुतिरेतमिति प्रकृतं मनोमयं कर्म्मत्वेन व्यपदिशति, शारीरं त्वभिसम्भवितास्मीति कर्तृत्वेनेति कर्त्तुः शारीराद्विलक्षणः कर्म्मभूतो मनोमयः परेशः। अभिसम्भवतिर्मिलनार्थः सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगेत्यादि प्रयोगात् ॥ ४ ॥

शब्दविशेषात् ॥ ५ ॥

"एष मे आत्मान्तर्हृदये" इति षष्ठ्यन्तेन शब्देन शारीर उपासको निर्दिश्यते मनोमयस्तूपास्यः प्रथमान्तेन। भिन्नविभक्तिकयोः शब्दयोरर्थभेदेन भाव्यम्। तथा च शारीरादुपासकादन्यो मनोमय उपास्य इति ॥५॥

स्मृतेश्च ॥ ६ ॥

"ईश्वरः सर्व्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्व्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया" ॥ इति स्मरणाच्च शारीरात्परस्य भेदः ॥ ६ ॥

ननु एष मे आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वेत्यल्पस्थानत्वश्रुतेरणीयस्त्वोपदेशाच्च जीव एव मनोमयो नत्वीश इत्याशङ्कानिरासायाह।

अर्भकौकस्त्वात् तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥ ७ ॥

हेतुयुग्मान्मनोमयो नेश्वर इति न वाच्यं अत्रैव "ज्यायान्पृथिवी ज्यायानन्तरिक्षात्" इत्यादिना व्योमवदस्य विभुत्वाभिधानात्। कथं तर्हि तद्युग्मं सङ्गच्छते, तत्राह। निचाय्यत्वादेवमिति। एवं मितत्वेनोक्ति-

---

मनोमयादिक धर्म्म-समूह जीव का नहीं हो सकता है क्योंकि खद्योततुल्य जीव में उसका अभाव है ॥ ३ ॥

जीव "इस लोक से मरने के पीछे मनोमय पुरुष के साथ मिलता है" इस प्रकार श्रुतिवाक्य के कारण कर्त्तृत्वव्यपदेश, और मनोमयपुरुष का कर्म्मत्वव्यपदेश होने से स्पष्ट ही दोनों का भेद प्रतीत होता है। "मैं-महानदी के समुद्र में मिलने की तरह उस मनोमयादिक धर्म्म विशिष्ट पुरुष में मिलने के लिये उत्कण्ठित हूँ" यहाँ जीव से विलक्षण कर्म्मरूप, मनोमयादिक गुणविशिष्ट परमात्मा ही है ॥ ४ ॥

"यह आत्मा मेरे हृदय के भीतर विराजित है" यहाँ उपासक जीव के षष्ठ्यन्त निर्देश के कारण और "मनोमय पुरुष उपास्य है" यहाँ प्रथमान्त निर्देश के कारण उपास्य मनोमयपुरुष से उपासक जीव का भेद अवश्य ही जानना होगा ॥ ५ ॥

गीतास्मृति में कहा गया है "हे अर्जुन! ईश्वर समस्त जीवों के हृदय देश में विराजित होकर अपनी माया से जीवसमूह को यन्त्रारूढ के न्याय घुमाता है"। अतः जीव से परमात्मा पृथक् है ॥ ६ ॥

अच्छा "वह आत्मा मेरे हृदय में व्रीहि (अङ्कुर) किम्वा यव से भी सूक्ष्मभाव में विराजित है" यहाँ श्रुति में अणु परिमाणत्व उपदेश के कारण मनोमय शब्द से ईश्वर को न बता कर जीव को समुझाता है। इस प्रकार आशंका करने पर उसका खण्डन करते हैं।

उक्त दोनों कारण से मनोमय ईश्वर नहीं है इस प्रकार नहीं कह सकते हो। कारण, इसी श्रुति में भी पृथिवी और आकाश से बृहत् करके उपदेश है। अच्छा तो दोनों कारण किस प्रकार सम्भव हो सकते हैं।

र्निचाय्यत्वात् हृदुपास्यत्वात्। अयमत्रनिष्कर्षः। विभोरपि परस्य यदणुत्वं प्रादेशमात्रत्वादि च तत्क्वचित् भाक्तं क्वचित्तु मुख्यम्। तत्राद्यं स्मृतिस्थानहृन्मानस्य स्मर्य्यमाणे स्थानानि तस्मिन्नुपचारात्। अन्त्यन्तु तादृशस्यापि तस्य भक्तानुग्राहिणो ऽचिन्त्यशक्तियोगिनस्तथा तथाभिव्यक्तेः। एकमेव स्वरूपं भक्तेषु नानाविधं स्फुरति। "एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति" इति श्रवणात्। विभुत्वे सत्यप्यणुत्वादिकमचिन्त्यशक्तियोगात्। वक्ष्यति चैवं वैश्वानराधिकरणे। अणोः प्रादेशमात्रादेश्च विभुत्वं तथैव युगपत् सर्व्वत्राविर्भावात् ॥ ७ ॥

ननु जीववत् परमात्मनोऽपि शरीरान्तर्व्वर्त्तित्वेन तत्सम्बन्धकृतः सुखदुःखोपभोगस्तेन सह समः स्यादिति चेत्तत्राह।

सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥ ८ ॥

इह समिति सहार्थे वर्त्तते सम्वादशब्दवत्। सम्भोगः सह भोगस्तत्प्राप्तिर्नेश्वरस्य। कुतः? वैशेष्यात्। अयमभिप्रायः। न हि देहसम्बन्धमात्रं तदुपभोगहेतुः किंतु कर्म्मपारतन्त्र्यमेव। तच्च न तस्यास्ति "अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" श्रवणात्। "न मां कर्म्माणि लिम्पन्ति न मे कर्म्मफले स्पृहा" इति स्मृतिश्चेति। कठवल्यां पठ्यते। "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवतः ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र स" इति ॥ ८ ॥

अत्र कश्चिदोदनोपसेचनशब्दसूचितोऽत्ता प्रतीयते। स किमग्निरुत जीवः परो वेति भवति संशयः। विशेषानिश्चयात्त्रयाणां प्रश्नोत्तरसत्त्वाच्च किं तावत् प्राप्तं अग्निरत्तेति "अग्निरन्नाद" इति श्रुतेः प्रसिद्धेश्च। जीवो वा भवेत्। अदनस्य कर्म्मनिमित्तत्वात् कर्म्मिणो जीवस्य तत्सम्भवति, न तु कर्म्मशून्यस्य। एवमभिप्रेत्य श्रुतिरपि तयोरदनानदने दर्शयति "तयोरन्यः पिप्पलमि"त्यादिना। तस्मात् जीवो ऽयमिति प्राप्ते—

निचोड़ विचार कहते हैं—विभु, परमपुरुष का जो अणुभाव तथा एकप्रदेश मात्र में स्थिति है वह कहाँ गौण और कहाँ मुख्य रूपमें है। स्मरण के स्थान हृदय के परिमाण के अनुसार स्मर्य्यमान विष्णु का अणुत्वादि कथन औपचारिक मात्र है। किम्वा मुख्यतः वे विभु होकर भी भक्तों के अनुग्रहार्थ अपनी अचिन्त्यशक्ति के प्रभाव से अणु प्रभृति उस २ रूप में अभिव्यक्त होते हैं। एक प्रकार के स्वरूपमें स्थित होकर भी भक्तों में विविध प्रकार से स्फूर्त्त होते हैं। "एक होकर भी बहु प्रकार प्रकाशित होते हैं" यह श्रुति का वाक्य है—

वे विभु होकर भी अचिन्त्यशक्तियोग से अणुरूप में प्रकाशित होते हैं। यह सब वैश्वानर अधिकरण में स्पष्टरूप से वर्णन होगा। अणुरूप किम्वा प्रादेशमात्र होकर भी एक समय में सर्वत्र आविर्भाव होने के कारण वे विभुरूप हैं ॥ ७ ॥

अच्छा, परमात्मा यदि जीव की भाँति शरीर मध्यवर्त्ती है तो उसको जीव की तरह सुख दुःख का भोग होना चाहिए इस प्रकार की आशंका का उत्थान होने पर निरास करते हैं।

परमात्मा का विशेष कारण होने से जीव के साथ समानभोग नहीं हो सकता है। देह सम्बन्ध होने पर भोग करना ही होगा ऐसी कोई बात नहीं है क्योंकि भोग का कारण कर्म्म परतन्त्र है और जीव कर्म्म के अधीन है। किन्तु परमात्मा अपने अधीन है। श्रुति में स्पष्ट ही कहा है "जीव कर्म्मफल को भोग करता है। परमात्मा भोग न करता हुआ साक्षीरूप से देखता है। स्मृति में भी कहा है "कर्म्म मुझको बाँध नहीं सकता है। न कर्म्मफल में मेरी आसक्ति है"। कठवल्लीश्रुति में कहा गया है। "ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों जाति, जिसका भोग रूप अन्न है। सबका मारने वाला मृत्यु जिसका भोजनोपयोगि घृतादि रूप है उस परमात्मा को शास्त्रोपदिष्ट पथ में चलने वाले व्यक्ति ही जानते हैं और व्यक्ति नहीं जान सकते हैं ॥ ८ ॥

अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ ६ ॥

पर एवात्ता, कुतः चराचरेत्यादेः । ब्रह्मात्त्रोपलक्षितं कृत्स्नं जगत् मृत्यूपसिक्तमन्नाद्यत्वेन गृहीतं, न
हि तादृशस्य तस्य अत्ता परस्मादन्यः सम्भवेत् । उपसेचनं खलु स्वयमद्यमानं सदितरादने निमित्तम् । मृत्यूप-
सिक्तनिखिलजगदत्तृत्वं नाम संहर्तृत्वमेव । तच्च परमात्मैकान्तमेव प्रसिद्धम् । न चानश्नन्निति श्रुत्या तस्य
प्रतिषेधः, स्वाभाविकत्वात । किंतु कर्म्मफलादनस्यैवेति सुष्ठूक्तं परोऽत्तेति ॥ ६ ॥

प्रकरणाच्च ॥ १० ॥

"अणोरणीयान् महतो महीयान्" इत्यादिभिर्हि पर एव प्रकृतः । "अत्तासि लोकस्य चराचरस्य" इति
स्मृतेरपि चैनं समुच्चीयते ॥ १० ॥

तत्रैव "ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो
ये च त्रिनाचिकेता" इति श्रुतम् । तत्र कर्म्मफलभोक्तृजीवस्य सद्वितीयत्वमभिधीयते । द्वितीयश्च बुद्धिः प्राणो
वा परमात्मा वेति विचिकित्सायां बुद्धयादेर्जीवोपकरणत्वादृतपानरूपः कर्म्मफलभोगः कथञ्चित् सम्भवति, न तु
परमात्मनः तस्य तन्निषेधात् । तस्मादसौ बुद्धिः प्राणो वेति प्राप्तौ—

यहाँ यह संशय होता है कि पूर्वोक्त अन्न और भोजनोपयोगि घृतादि शब्द के द्वारा अग्नि अथवा
जीव का बोध कराता है किंवा परमात्मा का बोध कराता है । श्रुति प्रसिद्धि के कारण वह शब्द या तो अग्नि का
बोध कराता है किंवा कर्म्म ही भोग का हेतु होता है, इस नियम से कर्म्म करने वाले जीव को बताता है ।
कर्म्म से रहित परमात्मा को नहीं कह सकते हो । इस अभिप्राय में श्रुति भी दोनों से एक का भोगरूप और
अन्य की भोग से पृथकता दिखा रही है । "जीव कर्म्म-फल भोगता है और परमात्मा केवल साक्षीरूप है ।"
अतः वह शब्द यहाँ जीव का बोध करा सकता है । इस प्रकार पूर्व्वपक्ष का उत्तर देते हैं ।

उक्त श्रुति में जो सकल भक्ष्यद्रव्य निर्देश किये गये हैं वे सब जीव के नहीं हो सकते हैं । अतः
तादृश कालादि समस्त वस्तु का भोक्ता जगत् संहारकारी परमात्मा को जानना चाहिए । वहाँ ब्रह्म विषयक प्रश्नोत्तर
होने के कारण ब्रह्म ही उसका प्रतिपाद्य विषय है । श्रुति में ब्रह्म का जो भोग–निषेध किया है वह कर्म्म फल–
का निषेध है किन्तु उससे जगत्संहारादि स्वाभाविक कर्म्म का निषेध नहीं है । "परमात्मा यज्ञ और तपस्या का
भोक्ता है" इत्यादि स्थल में भी उनका भोग स्वतन्त्र जानना चाहिए ॥६॥

"वह अणु से भी अणु" इत्याति श्रुति में और "तुम चराचर जगत् का संहार कर्त्ता" इत्यादि
स्मृति में प्रकरण बल से ब्रह्म का बोध कराता है ॥ १० ॥

"सुकृतोपार्जित देहरूप लोक में हृदयगुहा में विराजित दोनों अवश्य कर्म्मफल भोग करते हैं । दोनों
छाया और धूप के समान परस्पर विरुद्धधर्म्मी हैं ऐसा इन्हें ज्ञानीगण, कर्म्मिगण, और नाचिकेतवाक्याध्याय में
अर्थज्ञान से सम्पन्न तथा अनुष्ठानकारी व्यक्तिगण कहते हैं" इस प्रकार श्रुति कथन है । उक्त श्रुति में कर्म्म-
फल के भोक्ता जीव के साथ अवस्थित द्वितीय व्यक्ति का उल्लेख है । वह द्वितीयव्यक्ति बुद्धि, प्राण, किम्वा पर-
मात्मा है ? इस प्रकार का संशय उपस्थित होने पर बुद्धि वा प्राण का जीवोपकरण–कर्म्मफल का भोग
सम्भव होता है और परमात्मा का फलभोग में निषेध होने के कारण वह किसी प्रकार भी सम्भव नहीं हो
सकता है । सुतरां द्वितीय फल–भोक्ता प्राण होगा किम्वा बुद्धि होगी इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष की संगति के लिये
उत्तर देते हैं—

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ ११ ॥

गुहां गतावात्मानावेव जीवेशरूपौ न तु बुद्धिजीवौ प्राणजीवौ वा । कुतः ? तद्दर्शनात् । "या प्राणेन संभवत्यदि-
तिर्देवतामयी गुहां प्रविश्य तिष्टन्ती या भूतिभिर्व्यजायत" इति "तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणं,
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहातीति" च क्रमेण तयोर्गुहाप्रवेशवीक्षणात । हि शब्देन पुराण-
प्रसिद्धिः सूच्यते । पिबन्ताविति छत्रिन्यायेन प्रयोज्यप्रयोजकभावेन वा द्वयोः पाने कर्तृत्वं, छायातपाविति च
ज्ञानतारतम्येन संसारित्वासंसारित्वेन वा सङ्गमनीयम् ॥ ११ ॥

विशेषणाच्च ॥ १२ ॥

अस्यां प्रक्रियायां जीवेशावेव मन्तृत्वमन्तव्यत्वादिभावेन विशेषितौ विज्ञायेते । तं दुर्दर्शमिति पूर्व्वस्मिन्
ग्रन्थे मन्तृत्वमन्तव्यत्वाभ्यामेतावेव विशेषितौ । इहापि वाक्ये छायातपावित्यज्ञत्वविज्ञत्वाभ्यां "विज्ञानसारथिर्यस्तु
मनः प्रग्रहवान्नरः । सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदमि"ति प्राप्तृत्वप्राप्यत्वाभ्यां परत्र च ॥ १२ ॥

छान्दोग्ये "य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते स एष आत्मेति होवाच । एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म, तद्यद-
प्यस्मिन् सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति एतं सम्पद्वाम इत्याचक्षते एतं हि सर्वाणि वामान्यभि-
संयान्ति, इत्यादि श्रूयते । तत्र संशयः । किमयं पुरुषः प्रतिबिम्बः किंवा देवतात्मा आहोस्वित् जीव उताहो
परमात्मेति । आद्यःस्यात् अक्ष्याधारत्वदृश्यत्वयोस्तत्र सत्वात् । द्वितीयो वा रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठित इति

हृदयगुहा में विराजित दोनों जीव और परमात्मा हैं, जीवात्मा और बुद्धि, किम्वा जीवात्मा और
प्राण नहीं हैं । क्योंकि आगे आगे की श्रुति में गुहाप्रवेश विषय में जीवात्मा और परमात्मा दोनों को कहा है ।
"जो प्राण के साथ उत्पन्न होता है वह ही देवतामयी अदिति तथा वह ही ऐश्वर्य्य के साथ हृदयगुहा मध्य में
प्रवेश पूर्व्वक अवस्थान करता है" । "धीर व्यक्ति हृदयगुहा के बीच गुप्तभाव में अवस्थित, दुर्दर्श, स्वप्रकाशरूप
पुरुष को अध्यात्मयोग के द्वारा ध्यान कर संसार धर्म्मभूत सुख और दुःख से मुक्त होता है ।

उक्त दोनों श्रुति में हृदयगुहा में अवस्थित यथाक्रम से जीवात्मा और परमात्मा को कहा है । "हि" शब्द
से पुराण में प्रसिद्धि सूचित होती है । "पिबन्तौ" शब्द का अर्थ दोनों कर्म्मफल भोग करते हैं । जिस प्रकार
छत्रि–समूह जा रहा है यहाँ छत्र का भी प्रयोज्य प्रयोजक भाव से सिद्ध होता है उसी प्रकार जीवात्मा के कर्म्म–
फल भोग में परमात्मा का भोग है यहाँ जीवात्मा कर्म्मफल भोग में प्रयोज्यकर्त्ता और परमात्मा प्रयोजक कर्त्ता
है इस प्रकार का अर्थ बोध होता है । जीवात्मा संसारवासना में बद्ध होने के कारण छायारूप है और परमात्मा
संसार से मुक्त होने के कारण तेजः स्वरूप है ॥ ११ ॥

इस प्रक्रिया में जीव और ईश्वर यथाक्रम से मननकर्त्ता, और मननविषय कहे गये हैं । और उसको
"दुर्दर्श" इत्यादि विशेषण द्वारा पहिले ग्रंथ में कहा गया है । इस स्थान पर भी अज्ञत्व और विज्ञत्व बोधक छाया
और धूप शब्द के द्वारा कहा जाता है । आगे जो विज्ञान सारथि, मनरूप प्रग्रह विशिष्ट है वह संसारमार्ग को पार कर
उन विष्णु के परम पद को लाभ करता है" इत्यादि कहा है उससे यथाक्रम प्राप्यकारी और प्राप्यरूप प्रदर्शन कर
दोनों को बोध कराता है ॥ १२ ॥

छान्दोग्यश्रुति में "इस अक्षि के बीच जो पुरुष देखा जाता है वह आत्मा है, अमृत है, अभयप्रद है,
और ब्रह्म है । यदि उसके उद्देश्य में हवि किम्वा जल प्रदान किया जाय तो प्रदानकारी गन्तव्य मार्ग प्राप्त हो कर
ब्रह्मपद लाभ करता है" इत्यादि लिखा है ।

वृहदारण्यकात् । किं वा तृतीयः स्यात् स हि चक्षुषा रूपं पश्यंस्तत्र सन्निहितो भवति । तस्मादेषामन्यतमोऽय-मित्यस्यां प्राप्तौ—

अन्तर उपपत्तेः ॥ १३ ॥

अक्ष्यन्तरः परमात्मैव । कुतः उपपत्तेः । आत्मत्वामृतत्वब्रह्मत्वनिर्लेपत्वसंपद्वामत्वादीनां धर्म्माणां तत्रैव सिद्धेः ॥१३॥

स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

"यश्चक्षुषि तिष्ठन्"इत्यादिना चक्षुषि स्थितिनियमनादिकं परमात्मन एवोक्तं बृहदारण्यके ॥ १४ ॥

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥ १५ ॥

प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेत्यपरिच्छिन्नसुखविशिष्टं यद्ब्रह्म प्रकान्तं तस्यैव पुनरत्राप्यक्षिस्थवाक्ये निगदाच्च प्रकृतग्रहणं न्याय्यम् । आन्तरालिक्यग्निविद्यातु ब्रह्मविद्याङ्गं भवेत् । इह विशिष्टयोक्त्या ज्ञानादि-शब्दानां धर्मिपरत्वं च व्याख्यातम् ॥ १५ ॥

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥ १६ ॥

उपनिषदं श्रुतवतोऽधिगतरहस्यस्य श्रुत्यन्तरे या देवयानाख्यगतिरुक्ता सैवेहाक्षिपुरुषविद उपकोशलस्योच्यते "अर्च्चिषमभिसम्भवति" इत्यादिना । तस्माच्च तथा ॥ १६ ॥

प्रतिविम्बादीनां त्रयाणां ग्रहणं त्विह न सम्भवतीत्याह ।

"वह अक्षिस्थित पुरुष सर्वसम्पत्ति से निसेवित है" इत्यादि भी सुना जाता है । यहाँ संशय यह है कि वह पुरुष प्रतिविम्ब अर्थात् छायारूप है किम्वा देवता स्वरूप है, किम्वा जीवात्मा अथवा परमात्मा है ? वह अक्षिरूप आधार में रहने के कारण और दर्शनयोग्य वस्तु होने के कारण प्रतिविम्ब हो सकता है । वह किरणों के द्वारा चक्षु में ही प्रतिष्ठित है" इत्यादि वृहदारण्यक श्रुति के अनुसार द्वितीय अर्थात् सूर्य्य देवता हो सकता है । "वह चक्षुः के द्वारा वस्तु का रूप देखता है" इत्यादि श्रुति अनुसार तृतीय जीवात्मा हो सकता है । इस प्रकार के आशंका-समूह के उपस्थित होने पर उसका निराकरण करते हैं ।

अक्षि मध्यस्थ पुरुष परमात्मा ही है । छायादिक नहीं है । कारण आत्मत्व , अमृतत्व, ब्रह्मत्व, निर्ले-पत्व, और सर्वसम्पन्निषेवितत्व प्रभृति धर्म्म-समूह ब्रह्म का ही सम्भव हो सकता है ॥ १३ ॥

"विशेष करके जो चक्षुः के बीच अवस्थित है" इत्यादि वृहदारण्यकश्रुति केवल परमात्मा को ही निर्देश करती है ॥ १४ ॥

अधिकत: "प्राण ही ब्रह्म" "वैषयिकसुख ही ब्रह्म" "आकाश रूप ही ब्रह्म" इत्यादि श्रुति में अपरिच्छिन्न सुख विशिष्ट जो ब्रह्म बतलाया गयाहै वह फिर अक्षिस्थ वाक्यमें कहा गया है,अतएव अक्षिस्थ पुरुष परमात्मा है ।

यहाँ प्राणरूप ब्रह्म को ही वैषयिक सुखरूप और आकाशरूप ब्रह्म वस्तु को ही अपरिच्छिन्न सुखस्वरूप जानना चाहिए । मध्यवर्त्ती अग्निविद्या ब्रह्मविद्या का ही अंगभूत है । यहाँ विशेष उक्ति के द्वारा ज्ञानशब्द से जड़ की व्यावृत्ति और अनन्तशब्द से परिच्छिन्नकी व्यावृत्ति है । उन उन शब्दों को धर्म्म पर न समुझाकर धर्म्मि पर रूप में व्याख्या करना उचित है ॥ १५ ॥

जिस प्रकार "उपनिषद् श्रवण करने से ज्ञातरहस्य व्यक्ति के सम्बन्ध में श्रुत्यन्तर में देवयानगति कही हुई है उसी प्रकार इस स्थल में अक्षिमध्यस्थ पुरुष को जानने वाले की गति कही गयी है । उपकोशल के लिये इस प्रकार का उपदेश किया गया है । अतएव अक्षिस्थ पुरुष परमात्मा ही है ॥ १६ ॥

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॥ १७ ॥

तेषां चक्षुषि नियमेन स्थितेरभावादमृतत्वादेर्निरुपाधिकस्य तेष्वसम्भवाच्च नेतरस्तेषामन्यतमः कोऽप्यक्षिस्थः, किंतु परमात्मैव स इति ॥ १७ ॥

बृहदारण्यके श्रूयते । "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं, यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत" इति । अत्र पृथिव्याद्यन्तःस्थो यमयिता प्रतीतः, स किं प्रधानं जीवः परो वेति संशये प्रधानमिति तावत्प्राप्तं,तदन्तःस्थत्वादेस्तत्र सम्भवात् । कारणं हि कार्येऽनुस्यूतं तस्य नियन्तृ च भवति । प्रीतिप्रदत्वादात्मत्वं तत्रोपचरितं व्याप्तियोगाद्वा नित्यत्वादमृतं च तदिति । जीवो वा कश्चिद् योगी स स्यात् सर्व्वान्तः प्रवेशनान्तर्द्धानशक्तिभ्यां नियन्तृत्वादष्टत्वादेस्तत्र योगात् । आत्मत्वामृतत्वे च तस्य मुख्ये तस्मात् प्रधानजीवयोरेकतरः स इति प्राप्ते –

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्म्मव्यपदेशात् ॥ १८ ॥

यो ऽयमधिदैवादिषु वाक्येषु अन्तर्यामी श्रुतः स परेश एव । कुतः ? तदिति । पृथिव्यादिसर्व्वान्तः-स्थत्वतदवेद्यत्वतन्नियन्तृत्वविभुविज्ञानानन्दत्वामृतत्वादीनां तद्धर्म्माणामिहोक्तेः ॥ १८ ॥

न च स्मार्तमतद्धर्म्माभिलापात् ॥ १९ ॥

उक्तहेतुभ्यः स्मार्तं प्रधानं अन्तर्यामीति न वाच्यम् । कुतः ? अतदिति । "अदृष्टो द्रष्टा, अश्रुतो श्रोता, अमतो मन्ता, अविज्ञातो विज्ञाता, नान्यतोऽस्ति द्रष्टा नान्यतोऽस्ति श्रोता नान्यतोऽस्ति मन्ता नान्यतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्मान्तर्य्याम्यमृत इतोऽन्यत् स्मार्त्तमिति" वाक्यशेषश्रुतानां द्रष्टृत्वादीनां तस्मिन्नसम्भवात् ॥ १९ ॥

प्रतिविम्बादिक पदार्थत्रय का अक्षिः के मध्य सर्वदा अवस्थान के अभाव के कारण और अमृतत्व प्रभृति धर्म्म के असम्भव होने के कारण अक्षिस्थ पुरुष प्रतिविम्बादिक नहीं है, किन्तु परमात्मा ही है ॥ १७ ॥

वृहदारण्यक श्रुति में सुनने में आता है । "जो पृथिवी में रहते हुए भी पृथिवी से भिन्न हैं, जिनको पृथिवी नहीं जानती है, जिनका शरीर पृथिवी है, जो पृथिवी का नियामक हैं वे ही अन्तर्यामी आत्मा तथा अमृत हैं इत्यादि" । यहाँ पृथिवी प्रभृति का अन्तरस्थ और उनके नियामक की प्रतीति होने के कारण वह प्रधान किम्वा जीव है इस प्रकार का संशय होता है । कारण की कार्य्य में अनुस्यूति (संसर्ग) होने के कारण प्रधान का पृथिव्यादि के अन्तरस्थ होने की सम्भावना दीखने से और पृथिव्यादि का नियामकत्व दीखने से प्रधान को बोला जा सकता है । प्रीतिप्रदत्व किम्वा व्याप्तियोग के होने के कारण प्रधान के आत्मत्व और नित्यत्व होने के कारण अमृतत्व औपचारिक होता है । सबके अन्तर में प्रवेश शक्ति एवं अन्तर्धान शक्ति होने के कारण योगिपुरुष में भी वह लक्षण दीखता है अतः जीव को भी ऐसा बोला जा सकता है । जीव का आत्मत्व और अमृतत्व मुख्य है । सुतरां प्रधान तथा जीव से कोई और एक हैं । इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं ।

सर्वअन्तरस्थ, सब का अवेद्यत्व, सब का नियन्तृत्व, विभु, विज्ञान, आनन्द, अमृतादि धर्म्म का अभिधान के कारण अधिदैवादि वाक्य में जो परमात्मा अन्तर्य्यामी रूप से कहा गया है वह ही इन स्थलों में पृथिव्यादि के अन्तर्यामी करके कहा जाता है ऐसा जानना चाहिए ॥ १८ ॥

इन कारणों से स्मृति-शास्त्रोक्त प्रधान ही अन्तर्यामी है इस प्रकार नहीं कह सकते हो । कारण-"जो अविज्ञात होकर भी विज्ञाता है, अदृष्ट होकर भी द्रष्टा, अश्रुत होकर भी श्रोता, अमत होकर भी मननकर्त्ता, वह ही अन्तर्यामी अमृत स्वरूप आत्मा है । जिससे भिन्न द्रष्टा, श्रोता, मननकारी, और विज्ञाता नहीं है स्मृति-शास्त्रोक्त प्रधान इनसे भिन्न है"इत्यादि श्रुतिविशेष द्वारा श्रुतत्व, द्रष्टृत्वादिधर्म्म,प्रधानका कभी सम्भव नहींहै॥१९॥

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥ २० ॥

नेत्यनुवर्त्तते। उक्तहेतुभ्यः शारीरो योगिजीवोऽन्तर्यामीति न वाच्यम्। कुतः ? हि यस्मात् उभये काण्व-माध्यन्दिनाश्चैनमन्तर्यामितो भेदेनाधीयन्ते। "यो विज्ञानमन्तरो यमयति" इति, "यः आत्मानमन्तरो यमयति" इति च नियम्यनियन्तृत्वभावेन भेदं तयोः पठन्तीत्यर्थः। तस्मात् स श्रीहरिरेव। सुबालोपनिषदि तु पृथिव्यादीनामव्यक्ताक्षरामृतान्तानां श्रीनारायणोऽन्तर्यामीति कठैः पठितम्। "अन्तः शरीरे निहितो गुहायां" "अज एको नित्यो" "यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन् यं पृथिवी न वेद" इत्यादिना ब्राह्मणेन ॥ २० ॥

"अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत् तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्व्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीरा" इति। उत्तरत्र "दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रोऽक्षरात्परतः पर" इति च। किमत्र वाक्यद्वये प्रकृतिपुरुषौ क्रमेण प्रतिपाद्यौ किंवा परमात्मैवेति सन्देहे द्रष्टृत्वादिचेतनधर्म्माश्रवणात् योनिशब्दस्योपादानवाचित्वाच्च प्रधानमेवाक्षरं स्यात् परतोऽक्षरात्परस्तु पुरुषो भवेत् सर्व्वविकारभूतादक्षरात्परत्वस्य क्षेत्रज्ञेऽपि युक्तेः। तस्मात् तावेवात्र वेद्याविति प्राप्ते।

अदृश्यत्वादिगुणको धर्म्मोक्तेः ॥ २१ ॥

अदृश्यत्वादिधर्म्मा परमात्मैव उभयत्र वेद्यः। कुतः, धर्म्मोक्तेः। "यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतत् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते" ॥ "दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुष" इत्यादिना सर्व्वज्ञत्वादितद्धर्म्मकथनात् परविद्याविषयत्वाच्च ॥ २१ ॥

"न" का अनुवर्त्तन है। पूर्वोक्त हेतु से योगी जीव भी व्यावृत्त होते हैं। काण्व और माध्यन्दिन श्रुति में जीव और ब्रह्म का भेद स्पष्ट रूप से ही कहा गया है। उक्त भेद नियम्य और नियन्तृत्व भाव से जानना चाहिए। "जो विज्ञान के अन्तर में है और विज्ञान का नियामक है" "जो आत्मा के अन्तर में है जो आत्मा को नियमित करता है" इत्यादि कथन श्रुति में है। इसलिये उनको हरि ही जानना चाहिए। सुबालोपनिषद् में पृथिवी से आदि लेकर अमृतान्त पर्य्यन्त सब के अन्तर्यामी नारायण हैं इस प्रकार पाठ है। "अन्तः शरीर में गुहानिहित अज, एक, नित्य, पुरुष है"। "पृथिवी जिनका शरीर है, जो पृथिवी का अन्तर्यामी है, पृथिवी भी जिनको नहीं जानती है" इत्यादि कठब्राह्मण के द्वारा पठित है ॥ २० ॥

मुण्डक में भी कहते हैं "पराविद्या से ही अक्षर पुरुष का अवगत हो जाता है। वह पुरुष ज्ञानेन्द्रिय और कर्म्मेन्द्रिय का अगोचर, वंशशून्य, जातिहीन, चक्षुःकर्णों से रहित, हाथ पाँव से विवर्जित, नित्य, एकरस, व्यापक, दुर्ज्ञेय, सर्वगत, सूक्ष्म, अव्यय, भूतों का कारण है। धीर व्यक्तिगण उस परमात्मा को देखते हैं। आगे और भी कहा है "वह दिव्य, मूर्त्ति संयोग से रहित, पुरुषाकार, बाहर तथा भीतर में रहने वाला, अज, अप्राण, अमना, शुभ्र, प्रकृति और जीव से पर है"। इन दोनों वाक्यों में प्रकृति पुरुष को क्रम से समुझाता है किम्वा परमात्माको समुझाता है इस प्रकार का सन्देह होने पर द्रष्टृत्वादि चेतन धर्म्म के न सुनने का कारण तथा योनि शब्द के उपादान वाचित्व प्रयोगके कारण अक्षर शब्दसे प्रधान का ही बोध कराया जावे अथवा अक्षर प्रकृति से क्षेत्रज्ञ पुरुष पर है इस प्रकार अर्थद्वारा जीव को बोध कराया जावें इस प्रकार का सन्देह का निरास करते हैं—

"जो सामान्य भाव से तथा विशेष भाव से समस्त विषय को जानने वाला है जिसकी तपस्या ज्ञानमय है जिससे प्रधान की उत्पत्ति है" इत्यादि श्रुति में चेतन धर्म्मादि के कहने के कारण अदृश्यत्वादि धर्म्मविशिष्ट परमात्मा ही पराविद्या का विषय है ॥ २१ ॥

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥ २२ ॥

इतरौ प्रकृतिपुरुषौ ताभ्यां न बोध्यौ। कुतः विशेषणेति। "यः सर्वज्ञ" इत्यादिना अक्षरस्य विशेषणात्। "दिव्य" इत्यादिना स्मार्त्तात्पुरुषात् भेदोक्तेश्च। तस्मादुभयत्रापि सर्व्वकारणभूतः पुरुषोत्तम एव बोध्य इति ॥ २२ ॥

रूपोपन्यासाच्च ॥ २३ ॥

"यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इत्यक्षरस्य भूतयोनेरूपनिरूपणाच्च तथा। इदं खलु परमात्मनो रूपं, न तु प्रकृतेर्न वा जीवस्य॥२३॥

नन्वेव रूपोपन्यासस्तस्यैवेति कुतो ज्ञायते. अत्राह।

प्रकरणाच्च ॥ २४ ॥

प्रकरणेति स्पष्टम् ॥ २४ ॥

स्मृतिरप्येतद्विष्णुपरं व्याचष्टे। "द्वे विद्ये वेदितव्ये" इति चाथर्वणी श्रुतिः। "परया त्वक्षरप्राप्तिः ऋग्वेदादिमया परा। यत्तदव्यक्तमजरमचिन्त्यमजमव्ययम्। अनिर्देश्यमरूपं च पाणिपादाद्यसंयुतम्। विभुं सर्वगतं नित्यं भूतयोनिमकारणम् ॥ व्याप्यव्याप्यं यतः सर्वं तद्वै पश्यन्ति सूरयः। तद्ब्रह्म परमं धाम तद्ध्येयं मोक्षकांक्षिणाम् ॥ श्रुतिवाक्योदितं सूक्ष्मं तद्विष्णोः परमं पदम्। तदेव भगवद्वाच्यं स्वरूपं परमात्मनः ॥ वाचको भगवच्छब्दस्तस्याद्यस्याक्षरात्मनः। एवं निगदितार्थस्य सतत्त्वं तस्य तत्त्वतः ॥ ज्ञायते येन तज्ज्ञानं परमन्यत् त्रयीमयमिति।

छान्दोग्ये। "को न आत्मा किं ब्रह्मेति। आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीत्युपक्रम्य "यस्त्वेनमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेषु आत्मसु अन्नमत्ति। तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः

इतर-प्रकृति और पुरुष का बोध नहीं होता है। क्यों? "जो सर्वज्ञ" इत्यादि अक्षर का विशेषण होने के कारण और दिव्य शब्द से स्मृति प्रतिपादित पुरुष से भेद होने के कारण होता है। इसलिये दोनों वाक्यों में ही सर्वकारणभूत पुरुषोत्तम का बोध होता है ॥ २२ ॥

"यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं" इत्यादि श्रुति में अक्षर, भूतयोनि, पुरुष का ही रूप निरूपित हुआ है। इस प्रकार रूप परमात्मा का ही हो सकता है प्रकृति किम्वा पुरुष का नहीं है ॥ २३ ॥

अच्छा ? परमात्मा का ऐसा रूप है यह किस प्रकार अवगत हो सकता है तब कहते हैं—

स्मृति भी उक्त समस्त श्रुतिवाक्य को विष्णु सम्बन्ध करके व्याख्या करती है। विष्णुपुराण में कहा है कि विद्या दो प्रकार की है परा और अविद्या। ऋग्वेदादिमय पराविद्या से अक्षर की प्राप्ति होती है। जो अव्यक्त, अजर, अचिन्त्य, अज, अव्यय, अनिर्देश्य, अरूप, पाणिपाद से रहित, विभु, सर्वगत, नित्य, भूतयोनि, कारण रहित है और जो अपने से इतर में व्यापक, इतर कर्त्तृक अव्याप्य है वह ब्रह्म ही मोक्षप्रार्थी जीवका ध्येय रूप परम धाम है। श्रुतिवाक्य में कहे हुए वह सूक्ष्म ब्रह्म ही विष्णु का परम पद है। वह अक्षर पुरुष ही भगवान् शब्द वाच्य है। यह ही परमात्माका स्वरूप है। भगवत् शब्द उस आदि अक्षरपुरुषका वाचक है। यह ही पुरुष का तत्व है। इस तत्व के अवगत होने से जीव को पुरुषार्थ लाभ होता है। इससे भिन्न त्रयीमय है ॥२४॥

छान्दोग्य में कहते हैं—हम सब का आत्मा व्यापक रूप कौन है और बृहद्गुण वस्तु ब्रह्म कौन है ? वैश्वानर ही ब्रह्म है उसका ध्यान करो, जो व्यक्ति उस प्रादेश मात्र अभिमानी स्वरूप वैश्वानर आत्मा की उपासना

पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हि हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीय" इत्यादि श्रूयते। तत्र संशयः। किमयं वैश्वानरो जाठराग्निः किं वा देवताग्निरुत भूताग्निराहोस्वित् विष्णुरिति। अत्र चतुर्ष्वपि वैश्वानरशब्दस्य साधारण्यदर्शनादनिर्णयोऽस्त्विति प्राप्ते।

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥ २५ ॥

वैश्वानरो विष्णुरेव कुतः, साधारणेत्यादेः। अयं भावः। यद्यपि स शब्दस्तत्र तत्र साधारणस्तथापि विष्णुसाधारणैर्द्युमूर्द्धादिशब्दैर्विशेष्यमाणः सन् स्वस्य विष्ण्वर्थं गमयति तथात्मब्रह्मशब्दाभ्यां उपक्रमस्तद्विदः फलविशेषश्रुतिः तद्यथेषिकातूलमित्यादिका तस्य विष्णुत्वे लिङ्गम्। सोऽपि योगेन तत्रैव वर्तेत विश्वे नरा अस्येति। तस्माद्विष्णुरेव सः ॥ २५ ॥

इतोऽपीत्याह। **स्मर्य्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥ २६ ॥**

इतिशब्दो हेत्वर्थः। "अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रित" इति विष्णोस्तत्त्वं स्मर्य्यमाणमेतस्या विषया विष्णुपरत्वे अनुमानं लिङ्गं भवतीति हेतोः स विष्णुरेव ॥ २६ ॥

अथ जाठरं निरस्यति।

शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात् पुरुषविधमपि चैनमधीयते ॥ २७ ॥

ननु वैश्वानरो न विष्णुरयमग्निर्वैश्वानर इति वैश्वानरशब्दैकार्थाग्निशब्दात् हृदयं गार्हपत्य इत्यादिना हृदयादिस्थस्य तस्य अग्नित्रेताप्रकल्पनात् प्राण इत्याधारत्वोक्तेः पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेदेत्यन्तःप्रतिष्ठानाच्च। किन्तु जाठराग्निरेवायमिति चेन्न। कुतः, तथेति। तथा जाठररूपत्वेन दृष्टेर्विष्णूपासनस्योक्तेः, तन्मात्रपरिग्रहे द्युमूर्द्धत्वादेरसम्भवात्। किंच "स यो ह्येतमेवाग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद" इति

करता है वह सर्वलोकों में, सर्वभूतों में, समस्त भोक्ताओं में फलभोग करता है। उस वैश्वानर रूप आत्मा का स्वर्ग मस्तक और सूर्य्य चक्षु है, नानागतिवाला वायु प्राण है। बहु गुणवाला आकाश मध्यशरीर है धन गुणवाला जल वस्ति, पृथिवी चरण है, वेदि उसका वक्षः है। कुश लोम, गार्हपत्याग्नि हृदय, अन्वाहार्य्य अग्नि मन और आहवनीय अग्नि मुख है। इत्यादि। यहाँ संशय यह कि—वह वैश्वानर शब्द जाठराग्नि, किम्वा देवताग्नि अथवा भूताग्नि किम्वा विष्णु है। उक्त वैश्वानरशब्द इन चार पदार्थ का साधारण रूप से बोध कराता है। उस का उत्तर देते हैं—वैश्वानरशब्द से विष्णु का ही बोध होता है। यद्यपि वैश्वानर शब्द से साधारणतः चार पदार्थ का बोध होता है तो भी विष्णु के साधारण द्युमूर्द्धादि शब्द से विशेषित होकर वैश्वानरशब्द का ही बोध कराता है। इस प्रकार आत्मा और ब्रह्म शब्द मुख्यार्थ हरि का ही बोध कराता है। यह पहिले कहा गया है विशेष करके वैश्वानर उपासक व्यक्ति का पापसमूह अग्नि में रुई की भाँति भस्म होता है उस प्रकार फल भी कहा गया है। सुतरां वैश्वानर शब्द का योगार्थ विष्णु ही हैं ॥ २५ ॥

श्रीभगवद्गीता में भी "मैं वैश्वानररूप से प्राणिसमूह का शरीर आश्रय कर अवस्थान करता हूँ" इस प्रकार वचन के कारण वैश्वानरशब्द से विष्णु का ही बोध होता है ॥ २६ ॥

जाठराग्नि का अर्थ निरास करते हैं—यद्यपि वैश्वानरशब्द से "विष्णु के तुल्य अग्निवैभव" इस प्रकार बोध कराने का कारण और पूर्व्वोक्त श्रुति में हृदयादि अग्नि का आधाररूप से बोध कराने का कारण वैश्वानरशब्द से आपाततः अग्नि यह अर्थ प्रतीत होता है—किन्तु यहाँ उसे नहीं कह सकते हो। कारण, वैश्वानर-

पुरुषविधमप्येनमधीयते वाजसनेयिनः। जाठरे गृहीते तस्य पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठानं स्यान्न तु पुरुषविधत्वं च। विष्णोस्तूभयं सम्भवेत् ॥ २७ ॥

अथ देवताग्निभूताग्नी निराकरोति।

अत एव न देवता भूतञ्च ॥ २८ ॥

ननु देवताग्नेरैश्वर्य्यवशेन द्युलोकाद्यङ्गत्वसम्भवादेव निर्देशस्तथा भूताग्नेश्च। "यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान रोदसी अन्तरिक्ष"मित्यादिमन्त्रवर्णादिति चेन्न। कुतः, अत एव। एभ्य उक्तेभ्य एव हेतुभ्यो देवताग्निर्भूताग्निश्च न स इत्यर्थः। मन्त्रवर्णास्तु प्रशंसावचनम् ॥ २८ ॥

वैश्वानरशब्दवदग्निशब्दस्यापि साक्षात्तत्परत्वमिति जैमिनिमतेन दर्श्यते।

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ २९ ॥

विश्वनेतृत्वेन गुणेन विश्वे नरा अस्येति सर्व्वकारणत्वादिना वा यथा वैश्वानरशब्दस्तथात्र नयनादिगुणयोगेनाग्निशब्दश्च साक्षादेव विष्णुवाचक इत्यविरोधमत्र जैमिनिर्म्मन्यते गुणविशेषस्योपजीव्यत्वात् ॥ २९ ॥

ननु कथमत्र प्रादेशमात्रोक्तिरपरिच्छिन्नस्य तत्राह।

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥ ३० ॥

तद्दृष्टिविशिष्टानामुपासकानां तथाभिव्यक्तो विभातो भवति विष्णुरित्याश्मरथ्यो मन्यते ॥ ३० ॥

अनुस्मृतेरिति बादरिः ॥ ३१ ॥

प्रादेशमात्रहृत्पद्मप्रतिष्ठितेन मनसाऽयमनुस्मर्यते अतः प्रदेशमात्र उच्यते इति बादरिर्म्मन्यते ॥ ३१ ॥

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ॥ ३२ ॥

विभोरपि तस्य यत्प्रदेशमात्रत्वं तत्किल सम्पत्तेरविचिन्त्यशक्तिरूपादैश्वर्य्यादेव न त्वौपाधिकमिति

शब्द से अग्नि यह अर्थ करने पर द्युमूर्द्धादिक विशेषण सम्भव नहीं होता है और उसका पुरुष के अन्तर में अधिष्ठान होने से जो पुरुषविध है सो उसका सम्भव नहीं हो सकता है। किन्तु विष्णु के दोनों सम्भव हैं।२७।

अब भूताग्नि और देवताग्नि दोनों का निराकरण करते हैं—अच्छा? देवताग्नि का ऐश्वर्य्यवश द्युलोकादि अङ्ग का सम्भव हो सकता है उस प्रकार भूताग्नि का भी है। मन्त्रवर्ण में कहा है जो भूताग्नि देव भानुरूप से पृथिवी, आकाश तथा अन्तरीक्ष में व्याप्त है"। इस प्रकार नहीं कह सकते हो—उक्त कारण से भूताग्नि का किम्वा देवताग्नि का सम्भव नहीं है। मन्त्रवर्ण में किसी २ स्थल में इस प्रकार जो विशेषण दीखने में आता है वह प्रशंसावचनमात्र है ॥ २८ ॥

विष्णु के नेतृत्व के कारण, सर्व्वकारण रूप विष्णुबोधक वैश्वानरशब्द के समान नयनादि गुण योग के कारण अग्निशब्द भी साक्षात्परमात्मा वाचक है यह जैमिनिऋषि का मत है ॥ २९ ॥

अच्छा? अपरिच्छिन्न परमात्मा की प्रादेशमात्र में अवस्थिति किस प्रकार हो सकती है उसका उत्तर देते हैं—

आश्मरथ्य ऋषि कहते हैं कि प्रादेशमात्र रूप में ध्यानकारी व्यक्ति के सम्बन्ध में परमात्मा प्रादेशमात्र होकर प्रकाश होते हैं ॥ ३० ॥

बादरि ऋषि कहते हैं—प्रादेशमात्र हृदयकमल पर प्रतिष्ठित पुरुष को मन मन में स्मरण किये जाने के कारण परमात्मा को प्रादेशमात्र कहते हैं ॥ ३१ ॥

जैमिनिऋषि कहते हैं—विभु परमात्मा का प्रादेशमात्रत्व उनकी अचिन्त्यशक्ति रूप ऐश्वर्य्य के प्रभाव

जैमिनिर्म्मन्यत एव। कुतस्तत्राह तथेति । हि यतस्तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं । एकोऽपि सन्बहुधा योऽवभाति" इत्याद्या श्रुतिस्तथाऽविचिन्त्यशक्तिकत्वेनेशे विरुद्धधर्म्मसमावेशं बोधयतीत्यर्थः। ते च धर्म्मा ज्ञानत्वेऽपि मूर्त्तत्वमेकत्वेऽपि बहुत्वमित्यादयः । उपरि चैतद्बहुलीभविष्यति। विभुत्वे सत्येव मध्यमत्वमिति न किञ्चिद्बाधम्॥ ३२॥

आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥ ३३ ॥

एनमचिन्त्यशक्तियोगं धर्म्ममाथर्व्वणिका अस्मिन् परमात्मनि आमनन्ति । "अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्ति"रिति। "आत्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्ति"रिति स्मृतिश्च शब्दात् । न चात्र मिथो मतानां विरोधः। "व्यासचित्तस्थिताकाशादविच्छिन्नानि कानिचित्। अन्ये व्यवहरन्त्येतदुरीकृत्य गृहादिवेत्यादिस्मृतेः॥ ३३॥

॥ इति श्रीब्रह्मसूत्रभाष्ये प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

तृतीयपादः

विश्वं बिभर्त्ति निःस्वं यः कारुण्यादेव देवराट्। ममासौ परमानन्दो गोविन्दस्तनुतां रतिम्॥

अथ तृतीये पादे विस्पष्टजीवादिलिङ्गकानां केषांचिद्वाक्यानां तस्मिन् ब्रह्मणि समन्वयश्चिन्त्यते । मण्डूके श्रूयते।"यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनःसह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतु"रिति। तत्र संशयः। किमिह द्युभ्वाद्यायतनं प्रधानं किं वा जीव उत ब्रह्मेति । तत्र प्रधानमिति तावत्प्राप्तम्। सर्व्वविकारकारणत्वेन तदायतनत्वोपपत्तेः। अमृतसेतुश्च तदेव वत्सविवृद्धये क्षीरमिव पुंविमुक्त्ये प्रधानं प्रवर्त्तते इत्यङ्गीकारात्। आत्मशब्दस्तु प्रीतिप्रदे तस्मिन्नुपचरितः विभुत्वयोगाद्वा । जीवो वा स्यात् भोक्तृत्वेन भोग्यप्रपञ्चायतनत्वयोगात् मनःप्राणवत्वादेस्तत्र प्रसिद्धेश्चेति प्राप्तौ पठति।

से जानना चाहिए। उक्त शक्ति औपाधिक नहीं है। परमात्मा के विभु होने पर भी परिच्छिन्न प्रभृति विरुद्धधर्म्म का समावेश उसमें है। "सच्चिदानन्दविग्रह एकमात्र श्रीगोविन्द का" इत्यादि श्रुति में बारम्बार कहा गया है। उसमें सर्व्व-धर्म्म-ज्ञानत्व होने पर भी मूर्त्तत्व, एकत्व होने पर भी बहुत्व है । आगे विस्तारभाव से वर्णन करेंगे॥ ३२॥

आथर्व्वणिक श्रुतिगण भी परमात्मा का इस प्रकार अचिन्त्य शक्तियोग वर्णन करता है । यथा-"मैं अपाणिपाद हूँ शीघ्र ग्रहण भी करता हूँ।" "मेरी अचिन्त्यशक्ति है"। स्मृति में भी परमात्मा तर्कबुद्धि से रहित अचिन्त्यशक्ति विशिष्ट है ऐसा कहा गया। यहाँ मतों का परस्पर विरोध नहीं है। कारण स्कन्दपुराण में कहा है—

जो जो भी कुछ व्यवहार करता है वह सब साक्षात् नारायण श्रीव्यासदेव जी के चित्त-आकाशरूप भाण्डार से संगृहीत करके ही करता ऐसा जानना चाहिए।

॥ इति श्रीगोविन्दभाष्य का प्रथम अध्याय के द्वितीयपाद का अनुवाद समाप्त ॥

जो सर्वेश्वर अपने स्वभावसिद्ध कारुण्य गुणों से दरिद्र विश्व का भरण करते हैं वे परमानन्द स्वरूप श्रीगोविन्द अपने में मेरी रति का वर्द्धन करें॥

इस तृतीयपाद में विस्पष्ट जीवादिलिंगक कुछ वाक्यों का ब्रह्म में समन्वय दिखाते हैं। मण्डूक श्रुति में सुनने में आता है।-"जिसमें स्वर्ग, पृथिवी प्रभृति चौदहभुवन, अन्तरिक्ष, प्रधानमहदादिकतत्व, मन, और प्राणविशिष्ठ जीव अवस्थित हैं उस आत्मा को जानना चाहिए और समस्त विषय परित्यज्य हैं। वह ही एकमात्र संसार तरने का उपाय है"। यहाँ संशय यह होता है कि स्वर्गादिक वस्तु का आश्रयरूप वस्तु प्रधान किम्वा

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥ १ ॥

ब्रह्मैव किल तदायतनम्। कुतः, स्वशब्दात् । अमृतस्यैष सेतुरिति तदसाधारणशब्दसत्वादित्यर्थः । सिनोतेर्व्वद्ध नार्थत्वात्सेतुरमृतस्य प्रापकः। सेतुरिव सेतुरिति वा। स यथा नद्यादिषु कूलस्योपलम्भकस्तथायं संसारपारभूतस्य मोक्षस्येति तस्यैवायं शब्दः। श्रुतिश्चैवमाह। "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति" इत्याद्या॥ १॥
इतोऽपीत्याह।

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥ २ ॥

"यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं" मित्यादौ "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैतीति" मुक्तप्राप्यत्वेनोक्तेश्च ब्रह्मैव तत्॥२॥

नानुमानमतच्छब्दात् ॥ ३ ॥

स्मार्त्तं प्रधानं इह न ग्राह्यम्। कुतः, अतच्छब्दात् अचेतनप्रधानवाचकशब्दाभावात्॥ ३॥

प्राणभृच्च ॥ ४ ॥

नेत्यनुवर्त्तते हेतुश्च । नाप्यात्मशब्दात् प्राणभृद्ग्रहणमत्र सम्भवति । अततीतिव्युत्पत्तेः सर्व्वव्यापके ब्रह्मण्येव मुख्यत्वात्। यः सर्व्वविदित्यादिरुपरितनस्तु तत्रैव वर्त्तते, अतो जीववाचकशब्दाभावात् न तस्याप्यत्र ग्रहणं योग्यमिति॥ ४॥

इतोऽप्यत्र प्राणभृद्ग्रहणं नेत्याह।

भेदव्यपदेशाच्च ॥ ५ ॥

तमेवैकं जानथेत्यादिना तस्मात्तस्य भेदोक्तेश्च॥ ५॥

प्रकरणात् ॥ ६ ॥

"कस्मिन्नु विज्ञाते सर्व्वमिदं विज्ञातं भवती"ति ब्रह्मणः प्रकृतत्वाच्च तथा॥ ६॥

जीव अथवा परमात्मा है। स्वर्गादि प्रकृति का विकार है। अचेतन दुग्ध-जिस प्रकार वत्स बढ़ाने का कारण है उसी प्रकार अचेतन होने से भी पुरुष को मुक्ति देने का कारण प्रधान ही है। आत्मशब्द प्रीतिपद विभुत्व योग से प्रधान में औपचारिक है। और भी वह भोक्तारूप में भोग्यप्रपञ्च का आयतनभूत जीव को भी बोध करा सकता है। जीव का मन, प्राणादिमत्व प्रसिद्ध है। इसके उत्तर में कहते हैं॥

ब्रह्म ही स्वर्गादिक का आयतन रूप है, कारण वह नदीपार के हेतुस्वरूप सेतु की तरह संसारपाररूप मुक्ति का कारण है। उस प्रकार का वचन ब्रह्म में सम्भव है। श्रुति कहती है-"उसको ही जानकर संसार बन्धन से मुक्त होता है॥ १॥

यहाँ और भी कहते हैं। "यदा पश्य पश्यते रुक्मवर्णं" इत्यादि श्रुति के अनुसार भी मुक्तों का प्राप्य ब्रह्म का बोध होता है॥ २॥

स्मृति शास्त्रोक्त प्रधान यहाँ ग्रहणीय नही है। कारण यह है कि अचेतन प्रधान वाचक शब्द का ब्रह्म में अभाव है किन्तु प्रधान में वह सब उपस्थित है॥ ३॥

यहाँ नकार का अनुवर्त्तन तथा हेतु अर्थ भी है। आत्मशब्द से प्राणधारी जीव का बोध नही कराता है। "अतति" इस व्युत्पत्तिबल से सर्वव्यापक ब्रह्म में ही उस की मुख्यवृत्ति है। जैसा कि सर्वविद् इत्यादि आगे भी कहते हैं। अतः जीववाचक शब्द के अभाव के कारण जीव की योग्यता नहीं है॥ ४॥

"एकमात्र उन्हीं को ही जानना" इत्यादि वाक्य के द्वारा ब्रह्म से जीव का भेद कहा गया है॥ ५॥

स्थित्यदनाभ्यां च ॥ ७ ॥

द्युभ्वाद्यायतनं प्रकृत्य "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीती"ति पठ्यते । तयोर्दीप्यमानस्याब्रह्मत्वं तदा स्याद्यदि द्युभ्वाद्यायतनस्य पूर्व्वं न तत्प्रतिपादयेत् । इतरथा आकस्मिकी तदुक्तिरश्लिष्टा स्यात् । जीवोक्तिस्तु न तथा लोकप्रसिद्धस्य तस्यात्रानुवादात् । तस्माद्ब्रह्मैव तदिति ॥ ७ ॥

छान्दोग्ये श्रीनारदेन पृष्टः श्रीसनत्कुमारस्तं प्रति नामादीन्युपदिश्याह । "भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति । यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा । अथ यत्रान्यत् पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्प"मिति । इहभूमशब्देन बहुत्वसंख्या नाभिधीयते किंतु वैपुल्यरूपा व्याप्तिरेव । यत्रान्यत्पश्यति तदल्पमित्यल्पत्वप्रतिद्वन्द्विकत्वोक्तेः । अल्पशब्दनिगदितधर्म्मिप्रतिद्वन्द्विप्रतिपत्तेरेव भूमगुणवान् धर्म्मी स इति निर्णीयते । अत्र विचिकित्सा । भूमा प्राणो विष्णुर्वेति । तत्र "प्राणो वा आशाया भूयानि"ति सन्निधानात्पुनः प्रश्नोत्तरयोरभावाच्च प्राणो भूमा । प्राणशब्दो हि प्राणसचिवं जीवमभिधत्ते न वायुविकारमात्रम् । "तरति शोकमात्मविदि"त्युपक्रमात् "आत्मन एवेवं सर्व्व"मित्युपसंहाराच्च । तेनान्तरालिको भूमाऽपि स एव भवितुमर्हति । यत्र नान्यत्पश्यतीत्यादिकमप्यस्मिन् पक्षे सङ्गच्छेत । सुषुप्तौ प्राणग्रस्तेषु इन्द्रियेषु तत्र

"किस के जानने से समस्त जाना जाता है" यहाँ प्रकरणबल से ब्रह्म के ज्ञान ही जानना चाहिए ॥ ६ ॥

स्थिति और फलभोग के द्वारा ब्रह्म का ही बोध होता है। स्वर्गादि के आश्रयरूप में निर्देश पूर्वक "द्वा सुपर्णा" इत्यादि श्रुति पढ़ी जाती है। यहाँ एक पक्षी का कर्म्मफल में लोभ और दूसरे का फलभोग न करता हुआ देदीप्यमान रूप से देहान्तर में अवस्थिति का प्रतिपादन किया गया है। यदि पहले स्वर्गादिक वस्तु का आश्रयरूप में प्रतिपादित नहीं होता तब उन दोनों में से देदीप्यमान का अब्रह्मत्वरूप से प्रतिपादन होता। नहीं तो हठात् ब्रह्मत्व प्रतिपादक वचन असंगत हो जायगा। जीवत्व परक वचन असंगत नहीं होता है। कारण वहाँ लोकप्रसिद्धि का ही अनुवाद है। अतएव उससे ब्रह्म ही का बोध होता है ॥ ७ ॥

छान्दोग्यश्रुति में श्रीनारद के द्वारा पृष्ट होकर श्रीसनत्कुमार जी नामादि का उपदेश कर कहते हैं। "भूमापुरुष ही विजिज्ञासितव्य है। आप भूमापुरुष की ही जिज्ञासा कीजिये। जिस पुरुष को जानने से और कुछ नहीं देखते हैं, नहीं सुनते हैं और नहीं जानते हैं वह भूमा है। और जहाँ और देखते हैं, और सुनते हैं, तथा और जानते हैं वह अल्प है। यहाँ भूमाशब्द से बहुत संख्यारूप नहीं कहा गया है, किन्तु विशालभाव से व्याप्ति को कहा जाता है। अल्पशब्द के द्वारा कथित धर्म्मी का प्रतिद्वन्द्वी प्रचुर गुणवान् धर्म्मी भूमा है। यहाँ संशय यह होता है कि यह भूमापुरुष प्राण है, अथवा विष्णु हैं। प्राणशब्द के साथ भूमाशब्द के निकट रहने के कारण और उस वचन के पीछे प्रश्नोत्तर के अभाव के कारण, भूमाशब्द से प्राण का ही बोध कराता है और प्राणशब्द प्राण के साथी जीव का ही बोध कराता है।

यहाँ प्राण, वायु का विकार नहीं है। "आत्मविद् व्यक्ति शोक से मुक्त होता है" इस प्रकार के उपक्रम और "आत्मा से समस्त" इस प्रकार के उपसंहार के कारण मध्यवर्त्ती भूमा शब्द से प्राण का ही बोध कराता है। "भूमा के ज्ञान से अन्य का ज्ञान नहीं है" यह वचन भी इस पक्ष में संगत होता है। कारण सुषुप्तिकाल में सकल इन्द्रियाँ प्राण में आच्छन्न हो जाती हैं उस समय उनके दर्शनादिक व्यापार की विनिवृत्ति हो जाती है। "जो भूमा वह सुख है" इस प्रकार का वचन भी वहाँ संगत हो जाता है क्योंकि सुषुप्तिकाल में सुख का अनुभव भी

दर्शनादिविनिवृत्तेः । "यो वै भूमा तत् सुख"मित्यप्यविरुद्धम् । तस्यां सुखमहमस्वाप्समिति सुखश्रवणात् । एवं जीवात्मनि निर्णीते वाक्यशेषोऽपि तदनुकूलनयैव नेय इत्येवं प्राप्ते ब्रवीति ।

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥ ८ ॥

श्रीविष्णुरेवायं भूमा न प्राणसचिवो जीवः । कुतः, समिति । यो वै भूमा तत्सुखमिति विपुलसुखरूपत्वश्रवणात् सर्व्वेषामुपर्य्युपदेशाच्च । "एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाये"ति श्रौतप्रसिद्धेः सम्प्रसादः प्राणसचिवो जीवस्तस्मादधिकतया भूमगुणवैशिष्ट्येनाभिधानादिति वा । अयमर्थः । पूर्व्वं नामादिकमुपदिश्य "स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवती"ति प्राणविदोऽतिवादित्वमुक्त्वा "एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदती"ति भिन्नोपक्रमार्थकेन तुशब्देनातिवादित्वहेतुं प्रकृतां प्राणोपास्तिं व्यावर्त्त्य मुख्यातिवादित्वहेतोर्विष्णोः सत्यशब्देन पृथगुपक्रमात् प्राणादर्थान्तरमधिकश्च भूमेति निश्चीयते । प्राणस्यैव भूमत्वे तस्मादूर्द्ध्वं तदुपदेशो न सम्भवेत् । नामादेराप्राणादूर्द्ध्वमुपदिष्टं वागादि तस्मादर्थान्तरं वीक्ष्यते । एवं प्राणादूर्द्ध्वमुपदिष्टो भमाऽपि तथा । सत्यशब्दः खलु परब्रह्मणि श्रीविष्णौ प्रसिद्धः । "सत्यं ज्ञानमनन्त"मित्यादौ "सत्यं परं धीमहीत्यादौ च । सत्येनेति हेतौ तृतीया । सत्येन परब्रह्मणा निमित्तेन योऽतिवदतीति भावः । प्राणस्य नामाद्याशावसानोपास्यापेक्षया उत्कर्षः अतद्विदोऽतिवादित्वम् । श्रीविष्णोस्तु तस्मादप्युत्कर्षात्तद्विदस्तन्मुख्यमिति प्राणातिवादिनः सत्यातिवादी श्रेयानिति विस्फुटम् । अत एव "सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानि"इति शिष्योऽभ्यर्थयते । गुरुरप्याह । "सत्यन्त्वेव विजिज्ञासितव्य"मिति । न च पुनः प्रश्नोत्तराभावात् प्राणविषयमतिवादित्वं

सुनने में आता है। इस तरह जीवात्मा निर्णीत होने से वाक्य की समाप्ति भी तदनुकूल भाव से ग्रहणीय होती है, इस संशय का इस प्रकार निराकरण करते हैं—

विष्णु ही भूमापुरुष हैं। प्राण का साथी जीव भूमा नहीं हो सकता है। क्योंकि भूमापुरुष का विशाल सुख रूपत्व और सब के ऊपर विराजमानत्व का उपदेश है। भगवान् से अनुग्रहप्राप्त मुक्त पुरुष का ही नाम सम्प्रसाद है। भूमापुरुष संप्रसाद रूप प्राण के साथी जीव से अधिकगुण विशिष्ट कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि पहिले नामादिक उपदेश कर "वह यह पुरुष है—इस प्रकार से दर्शन करता हुआ, इस प्रकार चिन्तन करता हुआ, इस प्रकार जानता हुआ, अतिवादी होता है" इस प्रकार से प्राणविद्व्यक्ति का अतिवादित्व कहने के पीछे जो भूमा पुरुष को प्राण पर्यन्त पन्द्रह पदार्थों का अतीत करके निर्देश करता है वह अतिवादी है। सुतरां प्राण से भिन्न अधिकगुणविशिष्ट भूमा निर्दिष्ट होता है। प्राण के भूमा मान लेने पर उसके ऊपर स्थित भूमा का उपदेश असम्भव हो जाता है। नाम से लेकर प्राणपर्य्यन्त वस्तु के बीच क्रमान्वय से प्रधानरूप में वागादि उपदिष्ट हुए हैं, फिर प्राण से उत्कृष्टरूप में भूमा उपदिष्ट होता है। अतएव प्राण से भूमा भिन्न है। सत्यशब्द परब्रह्म विष्णु में ही रूढ़ है। नामादि से लेकर प्राण का उत्कृष्ट वेत्ता अतिवादी है विष्णु प्राण से भी उत्कृष्ट गुणवाले हैं, सुतरां प्राण के अतिवादित्व से सत्यस्वरूप विष्णु का अतिवादित्व श्रेयान् है, अतएव विष्णु मुख्य अतिवादी हैं। शिष्य सत्य के अतिवाद की ही अभ्यर्थना करता है। गुरु उसके उत्तर में कहते हैं "सत्य की ही जिज्ञासा करना चाहिए। पुनः प्रश्नोत्तर के अभाव के कारण वह अतिवाद प्राण विषयक है—ऐसा नहीं बोला जा सकता है, कारण, इस स्थल में उस प्रकार का बोध नहीं होता है। प्राण के आगे और अधिक वस्तु की जिज्ञासा नहीं है। उसका आशय यह है कि नामादिक अचेतन उपास्य वस्तु को उत्तरोत्तर प्राधान्य रूप से उपदेश करके गुरु ने उस उस वस्तु के वेत्ता को अतिवादी नहीं कहा है। किन्तु प्राणशब्दप्राप्त जीवात्मा के तत्ववेत्ता को अतिवादी कहा है। अतएव इस स्थल में उपदेश की पराकाष्ठा हुई है सुतरां आगे और प्रश्न नहीं हो सकता है।

परत्रानुकर्षणीयमिति वाच्यं अनवबोधात् । तथा हि प्राणादूर्द्ध्वमपृच्छतोऽयमाशयः, नामाद्याशावसानेष्वचेतनेषू-पास्येषु पूर्व्वपूर्व्वस्मादुत्तरोत्तरं भूयस्त्वेनोपदिश्य तत्तद्विदोऽतिवादित्वं गुरुणा नोक्तं प्राणशब्दितजीवात्मयाथा-त्म्यविदस्तु तदुक्तमित्यत्रैवोपदेशस्य पराकाष्ठा इति । अतः पुनः प्रश्नाभावः । गुरुस्तत्र तामनङ्गीकुर्व्वंस्तदभ्यधि-कश्रीविष्णुस्वरूपयाथात्म्यावगमे सत्येव सेति स्वयमेवैष त्वित्यादिभिरुपदिशति । शिष्यश्च सर्वोत्कृष्टे श्रीविष्णौ तस्मिन्नुपदिष्टे तदुपासनतदुपायतत्स्वरूपयाथात्म्यप्रतिपित्सया "सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानी"त्यादिकमभ्य-र्थयते । न चोपक्रमादिदृष्ट आत्मशब्दः प्राणसचिवं जीवमाहेति शक्यं वदितुं, तस्य परस्मिन्नेव मुख्ये व्युत्पन्नत्वात्, "आत्मनः प्राण" इत्यग्रिमवाक्यविरोधाच्च । एवं सति यत्र नान्यदित्यादिवाक्यसङ्गतिर्दर्शितापि निरस्ता । यत्र भूमन्यनुभूयमाने सत्यनुभवितुस्तदाविष्टस्यान्यदर्शनादिकं निषिध्यते । सौषुप्तिकं सुखं स्वल्यमिति सुषुप्तस्य प्राणिनः भूमरूपत्वं वदन्नुपहासास्पदम् । तस्मात् श्रीविष्णुरेव भूमा ॥ ८ ॥

धर्म्मोपपत्तेश्च ॥ ९ ॥

अस्मिन् भूम्नि ये धर्म्माः पठ्यन्ते ते परब्रह्मणि श्रीविष्णावेवोपपद्यन्ते नान्यत्र । "यो वै भूमा तदमृत"मिति स्वाभाविकममृतत्वम् । "स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि" इत्यनन्याधारत्वम् । स एवाधस्तादि-त्यादिना सर्व्वाश्रयत्वम् । आत्मतः प्राण इत्यादिना सर्व्वकारणत्वं चेत्यादयः ॥ ९ ॥

बृहदारण्यके पठ्यते । "कस्मिन् खलु आकाश ओतश्च प्रोतश्चेति । स होवाच । एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छाय"मित्यादि । तत्र संशयः । किमक्षरं प्रधानं किं वा जीव उत ब्रह्मेति । तत्र त्रिष्वप्यक्षरशब्दप्रयोगादनिर्णयः स्यादिति प्राप्तौ ।

अधिकतः गुरु उसका अंगीकार न कर उससे प्रधान विष्णु के तत्वज्ञान के उपदेश को पराकाष्ठा करके कहते हैं । शिष्य भी विष्णु के सब से उत्कृष्ट उपदेश ग्रहण के अनन्तर उनकी उपासना, उनकी प्राप्ति का उपाय, और उनके स्वरूपविषयक याथात्म्यज्ञान के लिये "सोऽहं भगव" इत्यादि वाक्य के द्वारा अभ्यर्थना करता है । उपक्रमादि से दृष्ट आत्मशब्द प्राण के साथी जीव को ही निर्देश करता है—इस प्रकार नहीं बोला जा सकता है । क्योंकि उक्त आत्मशब्द परमात्मा में ही व्युत्पन्न है । और भी "आत्मा का प्राण" इत्यादि परवर्त्ती वाक्य के साथ विरोध होता है । अतएव "जहाँ और कुछ नहीं है" इत्यादि वाक्यों की संगति दृष्ट होकर भी निरस्त होती है । जब भूमापुरुष का अनुभव होने पर तदाविष्टचित्त व्यक्ति का अन्यदर्शन निषेध किया जाता है तब अल्प सुख देने वाला सुषुप्ति में साक्षीरूप जीव को भूमारूपत्व बोलने से उपहास्यास्पद होना पड़ता है । अतएव विष्णु ही भूमा हैं ॥ ८ ॥

विशेषतः इस भूमापुरुष में जो समस्तधर्म्म पठित होता है वह सब परब्रह्म विष्णु में ही हो सकता है अन्यत्र नहीं है । "जो भूमा है वह अमृत है" इस स्थल में भूमा का अमृतत्व स्वाभाविक है । "वे भगवान् कहाँ प्रतिष्ठित हैं, अपने महिमा में प्रतिष्ठित हैं" इत्यादि स्थल में उनका सर्वाश्रयत्व प्रतिपादित होता है । "वे ही आत्मा का प्राण" इत्यादि स्थल में उनका सर्वकारणत्व प्रतिपादन किया गया है ॥ ९ ॥

बृहदारण्यक में ऐसा पाठ आता है कि—यह आकाश किस में ओत प्रोत भाव में स्थित है, वह बोलता है—गार्गि ! यह अकाश जिसमें ओत प्रोत है, वह अक्षर ब्रह्म है, वह अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ, अलोहित, अस्नेह, अच्छाय इत्यादि रूप है । यहाँ संशय होता है कि अक्षरशब्द से प्रधान है, किंवा जीव अथवा ब्रह्म है ? अक्षर शब्द तीनों का ही बोध कराता है सुतरां निर्णय नहीं होता है । इस प्रकार की शंका प्राप्त होने पर कहते हैं ।

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥ १० ॥

अक्षरं ब्रह्मैव । कुतः ? अम्बरेति । "एतस्मिन् खलु अक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चे"त्याकाश-पर्य्यन्तस्य सर्व्वस्य धारणात् ॥ १० ॥

ननु सा प्रधानेऽपि स्यात् सर्व्वविकारकारणत्वात् । जीवे च भोग्यभूतसर्व्वाचिद्वस्त्वाश्रयत्वादिति चेत्तत्राह ।

सा च प्रशासनात् ॥ ११ ॥

साम्बरान्तधृतिर्ब्रह्मण्येव । कुतः प्रेति । "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठतः । एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत" इत्यादिविदितस्य प्रशासनस्य तत्रैव सम्भवादित्यर्थः । न चेदं स्वप्रशासनाधीनं सर्व्वधारणं जडे प्रधाने बद्धमुक्तोभयावस्थे जीवे च समस्ति ॥ ११ ॥

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥ १२ ॥

"तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृ अश्रुतं श्रोतृ"त्यादिना वाक्यशेषेणास्याक्षरस्य ब्रह्मान्यत्वव्यावर्त्त-नाच्च ब्रह्मैव तत् । अत्र द्रष्टृत्वादिना जडात्मकप्रधानभावो व्यावर्त्यते । सर्वैरदृष्टस्य तस्य सर्व्वद्रष्टृत्वाद्युपदेशात् जीवभावश्चेति ॥ १२ ॥

प्रश्नोपनिषदि :"एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म योऽयमोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरम-न्वेती"ति प्रकृत्य "यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्य्ये सम्पन्नो यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं हैव स पाप्मभिर्विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्मात् जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषं वीक्षते" इति पठ्यते । तत्र संशयः ध्यानेक्षयोर्विषयः पुरुषश्चतुर्म्मुखः पुरुषोत्तमो वेति । तत्रैकमात्रं प्रणवमुपासीनस्य मनुष्यलोकं द्विमात्रमुपासीनस्यान्तरीक्षलोकं फलं प्रोच्य त्रिमात्रमुपासीनस्य ब्रह्म-

---

अक्षरशब्द से ब्रह्म ही है । कारण "एकमात्र अक्षरपुरुष में आकाश ओत प्रोत रहता है" इत्यादि स्थल में अक्षर का ही आकाश पर्य्यन्त समस्त भूतों का आश्रयरूप में निर्देश किया गया है ॥ १० ॥

अच्छा, वह समस्त विकार के कारणरूप प्रधान किम्वा भोग्यभूत समस्त अचेतन वस्तु के आश्रयरूप जीव का बोध कराता है—ऐसी शङ्का का उत्तर देते हैं ।—

आकाश पर्य्यन्त समस्त वस्तु का आश्रयत्व ब्रह्म में ही सम्भव होता है । कारण, "गार्गि ! इस अक्षर की आज्ञा से ही स्वर्ग और पृथिवी धृत होते हैं" इत्यादि श्रुति में आज्ञा करने वाला ब्रह्म ही में सकल सम्भव है । और में नहीं है । जड़ प्रधान का किम्वा बद्ध–मुक्त दोनों प्रकार के जीव का संकल्प मात्र से जगत्–धारण सम्भव नहीं है ॥ ११ ॥

"हे गार्गि ! यह अक्षर अदृश्य होकर भी देखता है, अश्रुत होकर भी सुनता है, इत्यादि वाक्यशेष से अक्षरपुरुष की ब्रह्म से अन्य की व्यावृत्ति होने से अक्षरपुरुष ब्रह्म ही है यह स्थिर होता है । इस स्थल पर द्रष्टृत्वादि धर्म्म के द्वारा जडात्मक प्रधान का धर्म्म निरस्त हो जाता है और सब के अदृश्य उस पुरुष का सर्व-द्रष्टृत्वादि के उपदेश के कारण जीव भाव भी निरस्त होता है ॥ १२ ॥

प्रश्नोपनिषद् में पिप्पलाद आचार्य्य कहते हैं "हे सत्यकाम ! ओंकार ही चतुर्म्मुख नामक अपरब्रह्म तथा श्रीनारायण नामक परब्रह्म स्वरूप है । इस प्रणव को ब्रह्मात्मक रूप से ध्यान करने से एकतर–प्राप्ति होती है" इत्यादि उपक्रम करके "जो त्रिमात्र, प्रणवाक्षरस्वरूप, सूर्य्यमध्यस्थ, परम पुरुष का अभिध्यान करता है, वह सूर्य्य को ही प्राप्त होकर साम के द्वारा ब्रह्मलोक में लिया जाता है, परमपुरुष का ध्यान करने वाला वह–सर्प जिस

लोकमाह । स च लोकक्रमाच्चतुर्म्मुखलोकः प्रत्येतव्यस्तद् गतेन वीक्षमाणस्तु स एवेति युक्तश्चतुर्म्मुखः स इति प्राप्ते ।

ईक्षतिकर्म्मव्यपदेशात् सः ॥ १३ ॥

स पुरुषोत्तम एव ईक्षतिकर्म्म दर्शनविषयः । कुतः, व्यपदेशात् । "तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत् तच्छान्तमजरममृतमभयं परम्परायणं च" इति ब्रह्मधर्म्मनिर्देशात् । तदेवं निर्णीते ब्रह्मलोकशब्दोऽपि निषादस्थपत्यधिकरणन्यायेन श्रीविष्णुलोकस्य वाचकः सिद्धयति ॥ १३ ॥

छान्दोग्ये श्रूयते । "अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्विजिज्ञासितव्यं" इति । तत्र सन्देहः । किमयं हृदयपुण्डरीकस्थो दहराकाशो भूताकाशः किंवा जीवः उत श्रीविष्णुरिति । तत्र प्रसिद्धेर्भूताकाशः स्यात । पुरस्वामित्वादल्पत्वप्रत्ययत्वाच्च जीवो वेति प्राप्ते ।

दहर उत्तरेभ्यः ॥ १४ ॥

श्रीविष्णुरेव दहरः । कुतः ? उत्तरेभ्यः वाक्यशेषगतेभ्यो हेतुभ्य इत्यर्थः । ते च वियदुपमत्वसर्व्वाधारत्वापहत पाप्मत्वादयो भूताकाशे जीवे च न सम्भवेयुः । श्रुतौ ब्रह्मपुरमुपासकस्य शरीरं तदवयवभूतं हृदयपुण्डरीकं ब्रह्मणो वेश्म तत्र ध्येयं दहराकाशशब्दं परं ब्रह्म तस्मिन्नन्वेष्टव्यमपहतपाप्मत्वादिगुणजातमितिव्याख्येयम् ॥१४॥

इतोऽपि दहरः श्रीविष्णुरेवेत्याह ।

प्रकार त्वचा से मुक्त होता है उस प्रकार पापजन्य स्थूल और सूक्ष्म शरीर से विनिर्म्मुक्त होता है। वह साम के द्वारा ब्रह्म लोक में लिया जाता है और सर्वजीवाभिमानी चतुर्म्मुख ब्रह्मा से भी पर, परव्योमधामस्थित श्रीपति को लाभ करता है" इत्यादि पाठ है। यहाँ संशय होता है कि ध्यान किम्वा दर्शन का विषय चतुर्म्मुख ब्रह्मा है, किम्वा पुरुषोत्तम नारायण हैं। "जो व्यक्ति एक ही मात्रा प्रणव की उपासना करता है वह मनुष्यलोक और जो दो मात्रा प्रणव की उपासना करता है वह अन्तरिक्षलोक को प्राप्त होता है" इस प्रकार फल कह कर पीछे "जो तीन मात्रा प्रणव की उपासना करता है वह ब्रह्म लोक को प्राप्त होता है" ऐसा फल बोलते हैं। सुतरां यह लोक चतुर्म्मुख लोक करके आपाततः प्रतीयमान है। अतएव उसका विषय ब्रह्मा ही हो सकता है ऐसा संशय का उत्तर देते हैं।—

पुरुषोत्तम ही ईक्षणकर्म्म का विषय हैं। कारण, प्रणवध्यायी का ही शान्तत्व, अजरत्व, अमरत्व, अभयत्व और परत्वादि ब्रह्मधर्म्म का निर्देश किया गया है। इस स्थल में "निषादस्थपति" शब्द की तरह ब्रह्मलोक-शब्द से कर्म्मधारय समास के द्वारा विष्णुलोक को ही समुझना होगा।। १३ ॥

छान्दोग्यश्रुति में सुना जाता है—"इस ब्रह्मपुर में हृदयकमल पर जो दहर आकाश है वह ही ब्रह्म का आवासभूत स्थान है। इस स्थान पर जो अवस्थित है वह ही अन्वेषण करने के योग्य है, वह ही जिज्ञास्य विषय है" इत्यादि। यहाँ सन्देह है कि हृदयपुण्डरीकस्थ दहर आकाश शब्द से भूताकाश है, किम्वा जीव अथवा विष्णु हैं। आकाशशब्द की प्रसिद्धि के कारण भूताकाश को और पुरस्वामित्व एवं अल्पत्व प्रत्यय के कारण जीव को बोध करा सकता है उसके उत्तर में कहते हैं :—

दहराकाश पद से विष्णु का ही बोध होता है। कारण, वाक्य के शेष में आकाश की उपमा, सर्वाधारत्व, अपहत पाप्मत्वादि होने के कारण समस्त भूताकाश और जीव का निरास करके विष्णु का ही बोध होता है। श्रुति में ब्रह्मपुर शब्द से उपासक का शरीर और पुण्डरीक शब्द से तदवयवभूत हृदय का बोध होता है।

गतिशब्दाभ्यां तथा दृष्टं लिङ्गं च ॥ १५ ॥

"यथा हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपरि सञ्चरन्तोऽपि न विदुस्तथेमाः सर्व्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्येनं ब्रह्मलोकं न विदन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढा" इत्यत्रैनमिति प्रकृतं दहरं निर्दिश्य तत्र प्रजानां गतिरुक्ता गन्तव्यस्य तस्य ब्रह्मलोकशब्दश्चोक्तस्ताभ्यां दहरः श्रीविष्णुरेवेति निश्चितम् । तथाहि "सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवती"ति तत्रैवान्यत्र प्राणानां परस्मिन् गमनं दृष्टं तदेव ब्रह्मलोकशब्दस्य श्रीविष्णुपरत्वे लिङ्गं गमकम् । सत्यलोकपरत्वे तु तत्र प्रत्यहं तासां सा न सम्भवेत् ॥ १५ ॥

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥ १६ ॥

"दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश" इति प्रकृत्य वियदुपमापूर्व्वकं तत्र सर्व्वसमानत्वमुक्त्वात्मशब्दं च प्रयुज्योपदिश्य चाऽपहतपाप्मत्वादि तमेवानतिवृत्तप्रकरणं निर्दिशति । "अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाये"ति । तस्मादस्य विश्वधृतिरूपस्य महिम्नोऽस्मिन् दहरे प्राप्तेरयं श्रीविष्णुरेव । "एष सेतुर्विधारण एषां लोकानामसम्भेदाये"त्यन्यत्राप्येष महिमा तत्रैव दृष्टः ॥ १६ ॥

प्रसिद्धेश्च ॥ १७ ॥

"को ह्येवान्यात्" इत्यादौ ब्रह्मण्याकाशशब्दस्य ख्यातेश्च ॥ १७ ॥

ननु "स एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते । एष आत्मेति होवाच । एतदमृतमेतदभयमेतद्ब्रह्म" इति दहरवाक्यान्तराले जीवस्य परामर्शात् स एव दहरः स्यादिति चेत् तत्राह ।

अपहत पाप्मत्वादि गुण विशिष्ट तादृश परमात्मा ही अन्वेषणीय है इत्यादि व्याख्या करनी होगी ॥ १४ ॥

गति और शब्द के द्वारा दहरपद से विष्णु का ही बोध होता है। सुवर्ण प्रभृति निधि समूह खनि में निहित रहने पर भी जिस प्रकार सर्वज्ञ व्यक्ति के अतिरिक्त उपरिभाग में चलने फिरने वाले साधारण व्यक्ति उस को नहीं जानते हैं ठीक उसी प्रकार मनुष्यसमूह प्रतिदिन उस ब्रह्मलोक में गमन करने पर भी मायामोहित रहने के कारण ब्रह्मतत्व को अवगत नहीं करते हैं। इस स्थल में "एनं" शब्द के द्वारा प्रकृत दहर का निर्देशकर वहाँ लोकों की गति बतलायी गयी है और गन्तव्य दहर से ब्रह्मलोक शब्द का उल्लेख है। सुतरां उक्त गति और शब्द के द्वारा दहरपद से विष्णु ही बोध का विषय हो रहे हैं। "हे सौम्य! श्वेतकेतो! सुषुप्तिकाल में जीव समूह ब्रह्म में लीन होता है" इत्यादि श्रुति में प्राणियों का दहरलोक में जो गमन कहा गया है, उस दहरलोक व ब्रह्मलोक शब्द से विष्णुपद को ही जानना चाहिए। यहाँ उस दहरलोक शब्द से सत्यलोक का बोध नहीं हो सकता है क्योंकि वहाँ प्रतिदिन जीव का गमन सम्भव नहीं है ॥ १५ ॥

"उस हृदय स्थित अन्तर आकाश का नाम दहर" इस प्रकार उपक्रम कर फिर आकाश के साथ सादृश्य दिखाकर आत्मशब्द के प्रयोग से उस के अपहत पाप्मत्वादि धर्म्म बताकर इस में दहर शब्द का निर्देश होता है "आत्मा इस सकल लोक के धर्म्म के सेतु की भाँति असांकर्य्य से रक्षा करता है" अतएव इस दहर में विश्वधारण रूप महिमा के दिखलाई देने पर दहरशब्द से विष्णु को ही जानना चाहिये। अन्य स्थल में भी दहर की उक्त महिमा देखने में आती है ॥ १६ ॥

"को ह्येवान्यात्" इत्यादि श्रुति में आकाश शब्द की प्रसिद्धि ब्रह्म में ही देखी जाती है ॥ १७ ॥

अच्छा, "यह संप्रसाद जीव इस शरीर से उठकर परज्योति रूप का लाभ कर अपने स्वरूप से अभि-

इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासम्भवात् ॥ १८ ॥

मध्ये जीवपरामर्शादुपक्रमेऽपि स एवेति न शक्यं वक्तुम्। कुतः, असम्भवात्। उपक्रमोक्तस्य अपहत-पाप्मत्वादिगुणाष्टकस्य जीवेऽनुपपत्तेरित्यर्थः ॥ १८ ॥

स्यादेतत् दहरविद्यायाः परस्मात् "य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य" इत्यादेर्जीवपरात् प्रजापतिवाक्यात् तदष्टकं दहरवाक्यान्तराले पठिते जीवेऽपि सम्भवेदतः स एव दहर इत्याशङ्क्य निराचष्टे।

उत्तराच्चेदाविर्भातस्वरूपस्तु ॥ १९ ॥

शङ्काच्छेदाय तु शब्दः। नेत्यनुवर्त्तते। प्रजापतिवाक्ये साधनाविर्भावितस्वरूपस्योपदेशात् न तेनाविर्भूतस्वरूपः शक्यो ग्रहीतुमित्यर्थः। दहरवाक्यार्थं तदष्टकं नित्याविर्भूतं तथैव प्रतीयात्। प्रजापतिवाक्योक्तं तत्साधनाविर्भावितम्। "एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाये"त्यादिना तथैव प्रतीतेरित्युभयोर्महदन्तरम्। किंच साधनाविर्भावितदष्टकेऽपि जीवे असम्भाव्याः सेतुत्वजगद्विधारकत्वादयो गुणाः परेशत्वं दहरस्य गमयन्ति ॥१९॥

यद्येवं तर्हि तदन्तराले जीवप्रस्तावः किमर्थं तत्राह।

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥ २० ॥

तत्र जीवपरामर्शः परमात्मज्ञानार्थ एव। यं प्राप्य जीवस्तदष्टकवता स्वरूपेणाभिनिष्पद्यते स एष परमात्मेति ॥२०॥

ननु दहरोऽस्मिन्नित्यल्पत्वश्रवणात् तदन्तराले पठितो जीव एव पूर्वत्रापि बोध्य इति चेत्तत्राह।

निष्पन्न होता है। वह ही आत्मा, वह ही अमृत, वह ही अभयप्रद ब्रह्म" इत्यादि दहरवाक्य के मध्य में जीव की उक्ति दृष्ट होती है। इसलिए दहरशब्द से जीवों का बोध होता है। इस प्रकार के संशय का उत्तर देते हैं।—

बीच में जीव का परामर्श दिखाई देने से उपक्रम में भी जीव का परामर्श है-इस प्रकार नहीं बोला जा सकता है। कारण, उपक्रमोक्त अपहतपाप्मत्वादि अष्ट महागुण जीव में उपस्थित नहीं हो सकते हैं ॥ १८ ॥

अच्छा, दहरविद्या के पश्चात् "जो यह आत्मा अपहतपाप्मा, विजर, विमृत्यु, विशोक, विजिघत्स, अपिपास, सत्यकाम, सत्यसंकल्प है वह अन्वेष्टव्य वह विजिज्ञासितव्य, इत्यादि वाक्य-समूह जीव परक प्रजापति का है। सुतरां उक्त आठों गुण दहर वाक्य के बीच में पठित जीव में सम्भव होने के कारण प्रजापतिरूप जीव ही दहरपद वाच्य है इस प्रकार की शंका का निरास करते हैं।

शंका छेदन के लिये "तु" शब्द है। "न" का अनुवर्त्तन है। प्रजापतिवाक्य में साधन के द्वारा आविर्भावित स्वरूप के उपदेश के कारण नित्य आविर्भूत स्वरूप का ग्रहण नहीं किया जाता है। दहरवाक्य में कहे हुए उक्त अष्ट गुण नित्य आविर्भूत रूप से प्रतीत होते हैं। किन्तु प्रजापति के वाक्योक्त गुणाष्टक उस प्रकार न होकर साधन परिपाटी से आविर्भावित रूप में प्रतीत होता है। "एष सम्प्रसादोऽस्मात् शरीरात्"इत्यादि श्रुति के द्वारा उस प्रकार प्रतीत होता है। अतएव दोनों में महत् अन्तर जानना चाहिए। और भी साधन के द्वारा आविर्भावित अष्टगुण विशिष्ट जीव में सेतुत्व, जगत् विधारकत्व प्रभृति धर्म्म असम्भव हैं अतएव दहर शब्द से परेश का ही बोध होता है ॥ १९ ॥

अच्छा ? उस के बीच में जीव-प्रस्ताव के आने का क्या कारण है-इस प्रकार की आशंका का निराकरण करते हैं।—

इस स्थल में जीव-परामर्श परमात्मा ज्ञान के लिये ही समुझना चाहिए जिसको प्राप्त होकर जीव गुणाष्टकयुक्त स्वरूप में अवस्थान करता है वह ही परमात्मा है ॥ २० ॥

अल्पश्रुतेरितिचेत् तदुक्तम् ॥ २१ ॥

तत्र यत् समाधानं तत् प्रागेवोक्तम्। "निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च" इत्यनेन विभोरपि प्रादेशमात्रत्वं तन्मात्रस्मृतिस्थानमानोपचारात्। स्मृतिभावापेक्षयाऽविचिन्त्यमहिम्नस्तस्य तथा प्राकट्यादेव ॥ २१ ॥

इतश्चैतदेवमित्याह।

अनुकृतेस्तस्य च ॥ २२ ॥

नित्याविर्भूततदष्टकविशिष्टस्य दहरस्य साधनाविर्भावितदष्टकेन प्रजापतिवाक्योक्तेन जीवेनानुकरणात् तस्मादितरः सः। पूर्व्वमनृतापिहितस्वरूपः पश्चात् ब्रह्मोपासनया संछिन्नपिधानस्तदुपसम्पत्त्याविर्भावितदष्टकविशिष्टः सन् तत्समो भवतीति प्रजापतिनिगदितस्य दहरानुकारः। अनुकार्य्यानुकर्त्रोर्मिथोऽन्यत्वन्तु सुसिद्धं "पवनमनुहरते हनुमान्" इत्यादिषु। दृश्यते च मुक्तस्य ब्रह्मानुकारः "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इति श्रुत्यन्तरे ॥ २२ ॥

अपि स्मर्य्यते ॥ २३ ॥

"इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च" इति। मुक्तानां भगवत्साधर्म्यलक्षणः स स्मर्य्यते। तस्मात् दहरः श्रीहरिरेव न जीवः ॥ २३ ॥

कठवल्ल्यां पठ्यते। "अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्य ततो न विजिगुप्सत" इत्यादि। इह वीक्षा। अंगुष्ठमात्रो जीवः श्रीविष्णुर्वेति।"प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्म्मभिरंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूप" इत्यादि श्वेताश्वतरवाक्यैकार्थात् जीव इति प्राप्ते।

अच्छा, "दहरोऽस्मिन्निति" इस स्थल में अल्पत्व सुनने के कारण उस दहर मध्य में पठित जीव का पहिले की तरह बोध है इस प्रकार शंका का उत्थान करोगे तो समाधान करते हैं।—

इसका समाधान पहिले कह चुके हैं। "निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च" इत्यादि सूत्र में स्मरण का स्थान हृदय परिमाण के अनुसार और स्मरणकारी का निज भावानुसार अविचिन्त्य महिमावाले विभुपुरुष का प्रादेशमात्रत्वादि रूप में आविर्भाव होता है ॥ २१ ॥

नित्य आविर्भूत गुणाष्टक विशिष्ट दहर का प्रजापतिवाक्य से उक्त साधन के द्वारा आविर्भावित गुणाष्टक जीव के द्वारा अनुकरण के कारण दहर-जीव से भिन्न है। जीव पहिले माया के द्वारा आवृत स्वरूप होकर था। पश्चात् ब्रह्मोपासना के द्वारा संछिन्न आवरण और परज्योति सन्निधान लाभ से आविर्भावित गुणाष्टक विशिष्ट हो जाने से ब्रह्मतुल्य हो गया है। यह ही प्रजापति वाक्योक्त जीव का दहरानुकरण कार्य्य है। अनुकरण कार्य्य से अनुकरण करने वाले का परस्पर भेद सुसिद्ध है। "हनुमान जी पवन का अनुकरण करते हैं "इत्यादि स्थल में भेद देखने में आता है। मुक्तजीव का ब्रह्मानुकरण "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इत्यादि श्रुति में देखने में आया है ॥ २२ ॥

"इस ज्ञान का आश्रय कर जो मेरा साधर्म्य लाभ करते हैं उन सबका सृष्टिकाल में भी जन्म ग्रहण और प्रलयकाल में भी विनाश नहीं होता है", इत्यादि श्रुति से मुक्तपुरुष का भगवत् साधर्म्य लक्षित्र होता है। अतः भेद स्पष्ट ही रहता है। इसलिये दहरशब्द से हरि को ही जानना चाहिए वह जीव नहीं है ॥ २३ ॥

कठवल्ली में पाठ है—"हृदय के बीच अंगुष्ठमात्र जो पुरुष अवस्थान करता है वह भूत-भव्य का नियामक ईश्वर है""उसकी उपासना से जीव प्रशंसनीय होता है" इत्यादि। यहाँ सन्देह है कि अंगुष्ठमात्र पुरुष

शब्दादेव प्रमितः ॥ २४ ॥

अंगुष्ठप्रमितः श्रीविष्णुरेव । कुतः, शब्दादेव । "ईशानो भूतभव्यस्य"इति श्रुतेरेवेत्यर्थः । न चेदृगैश्वर्यं
कर्म्माधीनस्य जीवस्य सम्भवेत् ॥ २४ ॥

ननु विभोस्तत्प्रमितत्वं कथं तत्राह ।

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥ २५ ॥

तुशब्दोऽवधारणे । अंगुष्ठमात्रे हृदि स्मर्य्यमाणत्वात् विभोरप्यंगुष्ठमात्रत्वम् । हृन्मानापेक्षया तस्मिन्मा-
नोपचारात् स्मर्त्तृ भावापेक्षया तादृशस्यापि तस्याचिन्त्यमहिम्नस्तथा हृदि प्राकट्याद्वेत्युदितं प्राक् । ननु देहिभेदेन
हृन्मानभेदात्तावत्त्वं तस्याशक्यं सम्पादयितुमिति चेत्तत्राह मनुष्येति । शास्त्रमविशेषेण प्रवृत्तमपि मनुष्यानधि-
करोति । तेषां सामर्थ्यादिजुषामुपासकत्वसम्भवात् । ततश्च मनुष्यवपुषामेकविध्यात् तद्धृतां तदविरुद्धम् । तेन
करितुरगादिहृदामंगुष्ठमात्रत्वेऽपि न विरोधः । यत्तु जीवस्याप्यंगुष्ठमात्रत्वमुक्तं, तत्किल तावति हृदि स्थितेरेव तु
तावत्स्वरूपतया बालाग्रशतभागेत्याद्युत्तरवाक्येन तस्याणुत्वविनिश्चयात् । तस्मादिह श्रीविष्णुरेवांगुष्ठमात्र इति।।२५।।

ब्रह्मणोऽङ्गुष्ठपरिमितत्वसिद्धये तदावेदकं शास्त्रं मनुष्याधिकारमित्युक्तम् । तेन मनुष्याणामेव तदुपास-
कत्वमिति समर्थितम् । इदानीं तदपवादेन पराधिकरणमिदं प्रवर्त्त्यते । बृहदारण्यके श्रूयते । "तद् यो यो देवानां
प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणामिति" । "तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृत"मिति च ।

जीव है किम्वा विष्णु हैं । "अंगुष्ठमात्र सूर्य्यतुल्य ज्योतिर्म्मय प्राणाधिप पुरुष अपने कर्म्मानुसार सञ्चरण करता है"इत्यादि श्वेताश्वतर वचन के साथ ऐक्यप्राप्त तादृश पुरुष जीव ही है इत्यादि शङ्का का समाधान करते हैं।

अंगुष्ठ परिमाणक पुरुष श्रीविष्णु ही हैं । कारण "ईशानो भूतभव्यस्य" इत्यादि श्रुति ही उस प्रकार कहती है । भूतभव्यनियामकरूप ऐश्वर्य्य कभी कर्म्माधीन जीव के पक्ष में सम्भव नहीं है ॥ २४ ॥

अब विभु के अंगुष्ठ परिमाणत्व का समाधान करते हैं ।—

"तु" शब्द अवधारण अर्थ में है । अंगुष्ठ परिमाणक हृदय में स्मरण होने के कारण विष्णु का अंगुष्ठ मात्रत्व स्वीकृत होता है । किम्वा स्मरणकर्त्ता के मन के भावानुसार तादृश अचिन्त्य महिम पुरुष का भक्त हृदय में उस प्रकार आविर्भाव होता है–यह सब पहिले कहा हुआ है । देही के भेद से हृदय के परिमाण-भेद-होने के कारण विभु का अंगुष्ठ परिमाणत्व संगत नहीं होता है–ऐसा नहीं कह सकते हो । क्योंकि शास्त्र अविशेष भाव से प्रवृत्त होकर भी विशेष करके मनुष्यों के अधिकार मात्र से प्रकाश करता है । मनुष्य उपासना के सामर्थ्य के बिना कभी उपासक नहीं हो सकता है । अतएव मनुष्य शरीर के एक तरह के होने के कारण तादृश देह में तादृश परिमाण के होने में कोई विरोध नहीं होता है । इससे करि,तुरगादिक के हृदय का अंगुष्ठ परिमाण होने पर भी कोई विरोध नहीं होता है। शास्त्र में जीव का जो अंगुष्ठमात्रत्व कहा गया है वह भी तत् परिमाणक हृदय में तत् परिमाण भाव से स्थित रहता है ऐसा जानना चाहिए । जैसा शरीर तैसा परिमाण है । "जीव बाल के अग्रभाग के सौवें भाग के भी सौवाँ भाग स्वरूप अर्थात् अणु परिमित है" इत्यादि श्रुति में अणुपरिमित करके प्रकाशित है । अतएव अंगुष्ठमात्र पुरुष श्रीविष्णु ही हैं और कोई नहीं है ॥ २५ ॥

ब्रह्म का अंगुष्ठ परिमितत्व—सिद्धि के लिये ब्रह्मबोधक शास्त्र में मनुष्य–अधिकार दिखाकर मनुष्यों का ही ब्रह्म उपासकत्व समर्थित हुआ है । अब उसके अपवाद से अन्य अधिकरण आरम्भ करते हैं । बृहदारण्यक-श्रुति में सुना जाता है "जो जो देवता तादृश ब्रह्म की उपासना करता है वह वह देवता उस ब्रह्म को प्राप्त होता है।

इह संशयः । इदं ब्रह्मोपासनं मनुष्येष्विव देवेषु श्रूयमाणं सम्भवेन्नवेति । देहेन्द्रियाभावेन सामर्थ्या-
भावात न तेषु तदुपासनसम्भवः । मन्त्रात्मकाः खल्विन्द्रादयो देवा न तेषां देहेन्द्रियाणि सन्ति । तदभावादेव
सामर्थ्यवैराग्यार्थित्वानि च नेत्येवं प्राप्ते ।

तदुपर्य्यपि बादरायणः सम्भवात् ॥ २६ ॥

तद्ब्रह्मोपासनं मनुष्याणामुपरि देवेषु च स्वीकार्य्यमिति भगवान् बादरायणो मन्यते । कुतः उपनिषन्मत्रार्थवादेतिहासपुराणलोकपरिज्ञातविग्रहशालिनां तेषां सामर्थ्यादिसम्भवात् । तदुपासने सामर्थ्यं दिव्यदेहेन्द्रिययोगात् निजैश्वर्य्यविषयं वैराग्यं च । तदैश्वर्य्यस्य सावद्यत्वविनश्वरत्वेनानुभूयमानत्वात् । स्मृतिश्च "न केवलं द्विजश्रेष्ठ नरके दुःखपद्धतिः । स्वर्गेऽपि यातभीतस्य क्षयिष्णोर्नास्ति निर्वृतिः" ॥ तत एव ब्रह्मविषयमर्थित्वं च । तस्य निरवद्यनित्यापरिमितानन्दत्वेन श्रूयमाणत्वात । विद्याग्रहणाय ब्रह्मचर्य्यमपि देवादीनां श्रूयते । "त्रय याः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्य्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा" इति बृहदारण्यके । इन्द्रस्य च छान्दोग्ये "एकशतं ह वै वर्षाणि मघवा प्रजापतौ ब्रह्मचर्य्यमुवास"इति । तस्मात्सामर्थ्यादीनां सत्त्वादधिकारिणो देवादय इति ॥२६॥

ननु देवादीनां विग्रहवत्त्वे स्वीक्रियमाणे कर्म्मणि विरोधः प्राप्नुयात् एकस्य परिच्छिन्नस्य बहुयज्ञेषु युगपदाहूतस्य सान्निध्यानुपपत्तेरिति चेत्तत्राह ।

विरोधः कर्म्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥ २७ ॥

तत्स्वीकारेऽपि न तत्र विरोधः । कुतः ? अनेकेति । शक्तिमतां सौभर्य्यादीनां कायव्यूहप्राप्तिदर्शनादित्यर्थः ॥२७॥

ऋषिगण और मनुष्यगण के सम्बन्ध में भी इस प्रकार नियम है । देवतागण–ज्योतिर्म्मयपदार्थ सूर्य्यादिक वस्तु के भी प्रकाशक, जीवनदाता, अविनाशी ब्रह्म की उपासना करते हैं" इत्यादि ।

यहाँ संशय है कि मनुष्य की भाँति देवताओं की श्रूयमाण ब्रह्मउपासना सम्भव है किम्वा नहीं है । इन्द्रिय–समूह के अभाव के कारण उपासना सामर्थ्य का अभाव है इसलिये देवतागण की ब्रह्मोपासना असम्भव है । इन्द्रादि देवतासमूह मन्त्रात्मक हैं सुतरां उनके देह, इन्द्रियादिक नहीं हैं । देह,इन्द्रियादिक के अभाव होने पर सामर्थ्य, वैराग्य, व अर्थित्व प्रभृति का अभाव होता है इस प्रकार की आशंका का निराकरण करते हैं ।—

मनुष्यों के उपरिभाग में स्थित देवताओं के भी ब्रह्मउपासना है । इस बात को भगवान् बादरायण स्वीकार करते हैं । कारण यह है कि उपनिषद् मन्त्र प्रभृति वेदभाग में और इतिहास, पुराणादिक में देवतागण का विग्रहत्व स्पष्टभाव से उक्त है । विग्रह रहने से उपासना की योग्यता भी अवश्य होती है । देवताओं का हम सब के तुल्य शरीर न होन पर भी दिव्य शरीर का अस्तित्व अस्वीकार नहीं कर सकते हो । देवताओं का वैराग्य भी असम्भव नहीं है । देवैश्वर्य्य जब भगवत् ऐश्वर्य्य के सामने निकृष्ट और विनश्वर है तब देवतागण का वैराग्य सम्भव पर है । स्मृति में कहा है–"हे द्विजश्रेष्ठ ! केवल नरक ही दुःख का स्थान है ऐसा नहीं है । स्वर्गसुख भी क्षणभंगुर है सुतरां स्वर्गवासी की भी निर्वृत्ति नही है । फलतः इसलिये ही देवतागण ब्रह्मसुख की प्रार्थना करते हैं । ब्रह्मसुख निरवद्य, अपरिमित और नित्य है । बृहदारण्यक श्रुति में देवतागणों का ज्ञानलाभार्थ ब्रह्मचर्य्य का पालन सुना जाता है । "देवता, मनुष्य, और असुर सब ने पिता प्रजापति के आश्रय में रहकर ब्रह्मचर्य्य का अवलम्बन किया है" । छान्दोग्य में–देवराज इन्द्र का भी ब्रह्मचर्य्य उल्लेख है । "इन्द्र ने प्रजापति के निकट शत वर्ष तक ब्रह्मचर्य्य का पालन किया है" । इसलिये योग्यता प्रभृति रहने के कारण देवताओं का उपासना में अधिकार है ॥ २६ ॥

ननूक्तहेतोर्देवताविग्रहवादिनां कर्म्मणि विरोधो माभूत् वेदशब्दे तु स स्यात्। तदुत्पत्तेः पूर्व्वत्र तद्विनाशात् परत्र च तद्वाचके तस्मिन् बन्ध्यात्मजादिशब्दवदप्रामाण्यलक्षणो विरोधः "औत्पत्तिकस्तु शब्देनार्थस्य सम्बन्ध" इति शब्दतदर्थतत्सम्बन्धानां यत्पूर्व्वतन्त्रेण नित्यत्वमुक्तं तच्च विरुद्धं स्यादिति चेत्तत्राह।

शब्द इति चेन्नातःप्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २८ ॥

वेदशब्देऽपि नोक्तलक्षणो विरोधः। कुतः, अतः प्रभवात्। नित्यतत्तदाकृतिवाचकात् तत्तद्वेदशब्दात् तत्तद्वाच्य-नित्याकृत्यनुस्मृत्या तत्तद्विग्रहाणामुत्पत्तेरित्यर्थः। आकृतयो नित्याः सर्व्वव्यक्तिभ्यः पूर्व्वं स्थितेः। विश्वकर्म्मणा स्वशास्त्रे याः प्रोक्ताः चित्रकर्म्मप्रसिद्धये यमं दण्डपाणिं लिखन्ति वरुणं तु पाशहस्तमिति। देवादिवाचका वेद-शब्दा गवादिशब्दवत् स्वभावादेवाकृतिषु सङ्केतिताः सन्ति। न तु चैत्रादिशब्दवत् व्यक्तिमात्रेषु। तथा च नित्याकृतिवाचित्वाद् वेदशब्दानां तद्वन्नाप्रामाण्यं, नापि पूर्व्वतन्त्रविरोध इति। इदं कुतः ? प्रत्यक्षेति श्रुतिस्मृति-भ्यामित्यर्थः। श्रुतिस्तावत् शब्दपूर्व्वां सृष्टिमाह "एत इति ह वै प्रजापतिर्देवानसृजत्, असृग्रमिति मनुष्या-निन्दव इति पितॄंस्तिरः पवित्रमिति ग्रहानाशुव इति स्तोत्रं विश्वानीति मन्त्रं अभिसौभगेत्यन्याः प्रजा" इति। स्मृतिश्च "नामरूपं च भूतानां कृत्यानां च प्रपञ्चनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार स" इत्याद्या ॥२८॥

अच्छा ? देवताओं के विग्रहत्व-स्वीकार करने पर कर्म्म में विरोध आपड़ता है। कारण, बहु बहु यज्ञ में युगपत् आहूती प्रदान से एकमात्र परिच्छिन्नशरीरधारी देवता किस प्रकार ग्रहण कर सकता है। इसके उत्तर में कहते हैं।—

देवतागण का विग्रह स्वीकार करने पर भी उक्त दोष नहीं हो सकता है। कारण यह है कि प्रचुरशक्ति-शाली सौभरिप्रभृति ऋषिगण जब बहु शरीर धारण कर सकते हैं तो देवतागण युगपत् बहु शरीर धारण कर बहु यज्ञ में आविर्भूत क्यों नहीं हो सकते हैं ॥ २७ ॥

अच्छा ? पूर्वोक्त कारण से देवताओं के विग्रह कहने वालों का कर्म्म में विरोध नहीं है किन्तु वेद-शब्द में विरोध होता है। कारण यह है कि विग्रह-उत्पत्ति के पहले और विग्रह विनाश के पीछे वन्ध्यापुत्रादिक शब्द की भाँति वेद में निरर्थक विग्रह वाचक शब्द देखने में आता है। इसका पूर्वतन्त्र में शब्द के साथ अर्थ का जो नित्य सम्बन्ध उल्लेखित किया गया है उसका विरोध होता है। इस प्रकार पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

वेदशब्द में भी पूर्वोक्त विरोध नहीं होता है। कारण यह है कि वेदशब्दसमूह नित्यआकृति का वाचक है और उस समस्त शब्द का वाच्य नित्यआकृति का अनुस्मरण होने से उस उस विग्रह की उत्पत्ति होती है। व्यक्ति समूह का पहिले स्थिति होने से आकृतियाँ नित्य हैं। विश्वकर्म्मा चित्रकर्म्मप्रसिद्धि के लिये अपने शास्त्र में कहते हैं "यम का दण्डपाणिचित्रण और वरुण का पाशहस्त चित्रण करना होता है"। देवादिवाचक वेदशब्द-समूह गवादिशब्द की तरह स्वभाव करके आकृति में संकेतित होता है किन्तु चैत्रादिशब्द की भाँति व्यक्तिमात्र में संकेतित नहीं होता है। अतएव नित्य आकृतिवाचक होने के कारण चैत्रादिशब्द की भाँति अप्रामाण्य नहीं हो सकता है और पूर्वतन्त्र के साथ विरोध नहीं होता है। श्रुति और स्मृति इसका प्रमाण है। श्रुति में शब्दपूर्वा सृष्टि बतलाई है। यथा "प्रजापति ने इन समस्त इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेवता, रुधिरमांसप्रधान देहवाले मनुष्य, चन्द्रमण्डल में रहने वाले पितृगण, चन्द्रमण्डल के चारों ओर ग्रहगण, गानरूप स्तोत्रसमूह, विश्वदेव शंसनकारी मन्त्रगण और निरतिशय सौभाग्य वाचक प्रजासमूह की सृष्टि की"। स्मृति में भी "उस आदिपुरुष ब्रह्म ने वेद-शब्द के अनुसार समस्त भूतों के नाम, रूप, और कर्म्म के समूह का पृथक पृथक संस्थानुक्रम से सृष्टि की इत्यादि ॥ २८ ॥

अत एव च नित्यत्वम् ॥ २९ ॥

अतो नित्याकृतिवाचित्वात् कर्त्तुः स्मरणाच्च नित्यत्वं वेदस्य सिद्धम्। काठकादिसंज्ञा तु तत्तदुच्च-रितत्वेनैव बोध्या ॥ २९ ॥

स्यादेतत्। वेदशब्दस्मृताकृत्यनुस्मृता देवादिविग्रहसृष्टिर्या विधातुः श्राव्यते सा किल नैमित्तिकप्रलयान्ते स्यात् प्राकृतिकप्रलये तु प्राकृतिकादितरस्य सर्व्वस्य विनाशोक्तेस्तस्य तादृशी सृष्टिः कथं स्यात् कथं वा वेदस्य नित्यत्वमिति चेत् तत्राह।

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ॥ ३० ॥

शङ्काच्छेदाय चशब्दः। आवृत्तौ महाप्रलयात् परस्यामादिसृष्टावपि वेदशब्दे न विरोधः। कुतः ? समा-नेति। पूर्व्वोक्ततुल्यनामरूपसंस्थानत्वादित्यर्थः। महाप्रलये वेदास्तद्वाच्यास्तत्तदाकृतयश्च नित्याः पदार्थाः सशक्तिके श्रीहरावेकीभावमापन्नास्तिष्ठन्ति। अथ तस्मिन् सिसृक्षौ सति ततोऽभिव्यज्यन्ते। तैर्वेदशब्दैस्तत्तदाकृतिपर्य्यालोचन-पूर्विका तत्तद्व्यक्तिसृष्टिः श्रीहरेश्चतुर्म्मुखस्य च स्यात्। घटादिशब्दैः पूर्व्वघटाद्याकृतिविमर्शिनः कुलालस्य पूर्व्वसदृशी घटादिसृष्टिर्यथेत्युत्तरसृष्टानां पूर्व्वसृष्टेस्तौल्यम्। एवं च नैमित्तिकप्रलयान्तवत् महाप्रलयान्तेऽपि तादृक् सृष्टिर्भवेदेवेति। इदं कुतोऽवगतं तत्राह दर्शनेति। दर्शनं तावत् "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् स ऐक्षत लोकानुसृजा" इति "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै त"मिति। "सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्व्वमकल्पयत्" इत्यादि। स्मृतिश्च। "न्यग्रोधः सुमहानल्पे यथा बीजे व्यवस्थितः। संयमे विश्वमखिलं बीजभूते तथा त्वयि" इति। "नारायणः परो देवस्तस्माज्जातश्चतुर्म्मुख" इति। "तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये" इति

इस प्रकार नित्य आकार वाचक होने के कारण और कर्त्ता के स्मरण के साथ सृष्टि के होने के कारण वेद शब्द का नित्यत्व सिद्ध होता है। कठादिक विभिन्न पुरुषों के द्वारा उच्चारित होने के कारण कठादि विभिन्न संज्ञा होती है ऐसा जानना चाहिए ॥ २९ ॥

अच्छा ? नैमित्तिक प्रलय के पश्चात् कर्त्ता की स्मरणपूर्विका सृष्टि हो सकती है। किन्तु प्राकृतिक प्रलय में प्रकृतिशक्ति से युक्त परमेश्वर से भिन्न अपर समस्त वस्तु के विनाश हो जाने के कारण आदिकर्त्ता ब्रह्मा के द्वारा तादृशी सृष्टि असम्भव है। ऐसी शङ्का हो तो उसके उत्तर में कहते हैं।—

शंका छेदन के लिये "च" शब्द है। महाप्रलय के पीछे फिर जो नामरूप की आदिसृष्टि होती है वह पूर्व सृष्टि की तरह होती है, सुतरां उसमें वेद शब्द का विरोध नहीं होता है। महाप्रलय में भी वेद और उसके वाच्य की आकृति प्रभृति नित्यवस्तुयें शक्तियुक्त ईश्वर में एकीभूत होकर अवस्थान करती हैं। अनन्तर पर-मेश्वर की सृष्टि विषयिणी इच्छा होने पर वे सब उनसे अभिव्यक्त होती हैं। वेदशब्द के द्वारा ही उस उस आकार पर्य्यालोचन के साथ ब्रह्मा के द्वारा ही उस उस व्यक्ति की सृष्टि होती है। पहिले घड़ा के आकार का स्मरण कराने वाला कुलालादि जिस प्रकार घटादि शब्द के द्वारा पहिले की तरह घटादि की सृष्टि करता है उसी प्रकार पूर्व सृष्टि की तरह महाप्रलय के पीछे भी परमेश्वर किम्वा ब्रह्मा सृष्टि करते हैं यह बात कहाँ से प्राप्त होती है—यदि ऐसी शंकोत्थान हो तो कहते हैं—दर्शन से। वेद और पुराण इसका प्रमाण है। वेद में कहते हैं "सृष्टि के पहिले एकमात्र आत्मा था उसने देखा तथा लोक समूह की सृष्टि की"। जिसने पहिले ब्रह्मा की सृष्टि कर उनके हृदय में वेदशास्त्र का प्रवर्त्तन कराया, जिसने चन्द्र-सूर्य्य की सृष्टि की तथा जिसने पहिले की तरह सृष्टि की कल्पना की" इत्यादि। पुराण में भी कहा गया है। "अत्यन्त क्षुद्र बीज के मध्य में जिस

चैवमाद्या । अयमत्र निष्कर्षः । सर्वेश्वरो भगवान् महाप्रलयान्ते यथापूर्व्वं विश्वं विचिन्तयन् बहुस्यामिति संकल्प्य
सूक्ष्मात्मना स्वस्मिन् विलीनं भोक्तृभोग्यसमुदायं विभज्य महदादिब्रह्मपर्य्यन्तमण्डं पूर्व्ववन्निर्माय वेदांश्च
पूर्व्वानुपूर्व्विकानाविर्भाव्य मनसैव तान् ब्रह्माणमध्याप्य च पूर्व्ववद्देवादिरूपविश्वसृष्टौ तं विनियुंक्ते, स्वयं च
तदन्तर्नियमयन्नवतिष्ठते । सोऽपि तदनुग्रहलब्धसार्व्वज्ञ्यवीर्यो वेदैस्तत्तदाकृतीर्विमृश्य पूर्व्वदेवादितुल्यांस्तान्
सृजतीति । तदेवमिन्द्रादिशब्दात्मनो वेदस्येन्द्राद्यर्थाकृतेश्च सदातनत्वात्तयो सम्बन्धेऽपि तथात्वं सिद्धमिति
शब्देऽपि न कोऽपि विरोधः । तथा च देवादीनां सामर्थ्यादिसम्भवात् तेषामपि ब्रह्मोपासनाधिकारः सिद्धः ।
देवाद्यधिकारेऽपि नांगुष्ठमात्रश्रुतिर्विरुद्धा । तदंगुष्ठप्रमितत्वेन तत्सिद्धेः ॥ ३० ॥

अथ यासु विद्यासु देवा एवोपास्यास्तासु तेषामधिकारः स्यान्न वेति विचार्य्यते । छान्दोग्ये "असौ वा
आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरेव तिरश्चीनं वंश" इत्यादिना सूर्य्यस्य देवमधुत्वं प्रतिपाद्यते, रश्मीनां छिद्रत्वं च तत्र
वसुरुद्रादित्यमरुत्साध्याः पञ्च देवगणाः स्वमुख्येन मुखेनामृतं दृष्ट्वैव तृप्यन्तीत्यादि चोच्यते । सूर्य्यस्य मधुत्वं
च ऋगादिप्रोक्तकर्म्मनिष्पाद्यस्य रश्मिद्वारा प्राप्तस्य रसस्याश्रयतया व्यपदिश्यन्ते । एवमन्यत्राप्यन्यदेवोपासना च
ग्राह्या । तत्र तावत्परमतमाह ।

प्रकार बृहत् वट वृक्ष का अवस्थान रहता है उसी प्रकार ठीक प्रलयकाल में समस्त विश्वसंसार वीजस्वरूप पर-
मेश्वर में सूक्ष्मभाव से अवस्थित रहता है । परदेवता नारायण से चतुर्म्मुख ब्रह्मा जी उत्पन्न होते हैं"। "जो
परमेश्वर ब्रह्मा के हृदय में वेद शास्त्र का प्रवर्त्तन कराता है" इत्यादि । इसका निष्कर्ष यह है सर्वेश्वर भगवान्
ने महाप्रलय के पश्चात् पहिले की तरह विश्व के स्मरण पूर्वक "मैं बहुत होऊँगा" इस प्रकार संकल्प कर सूक्ष्म-
भावसे अपने शरीर में विलीन प्राप्त भोक्तृ भोग्यके विभाग पूर्वक महदादि ब्रह्म पर्य्यन्त अण्ड समूह को पहिले की
तरह निर्म्माण कर पूर्व पूर्व अनुक्रम से वेद समूह का आविर्भाव किया, फिर उसको ब्रह्मा के हृदय में प्रवर्त्तन
पूर्वक पहिली सृष्टि की तरह ब्रह्मा को आदिसृष्टि में नियोग कर स्वयं उनके अन्तर में नियामक रूप से अव-
स्थित हुए । ब्रह्मा ने भी भगवत् के अनुग्रह से सर्वज्ञादि शक्ति को लाभ पूर्वक वेद के द्वारा उस उस आकृति का
स्मरण कर पहिले की तरह देवादिकों की सृष्टि की" अतएव शब्द और शब्दवाच्य आकृति प्रभृति की नित्यत्व
सिद्धि में सर्वप्रकार से विरोध का परिहार हो जाता है। और भी देवताओं में सामर्थादि के सम्भव होने के कारण
उनका ब्रह्मोपासना में अधिकार सिद्ध हुआ है । सुतरां अंगुष्ठ परिमाण के हेतु अंगुष्ठश्रुति का भी विरोध परि-
हार हो जाता है ।॥ ३० ॥

जिन समस्त विद्या के द्वारा देवतागण उपास्य होते हैं उन समस्त विद्या में उनका अधिकार है, किम्वा
नहीं है,अव इसका विचार किया जाता है । छान्दोग्य में कहा है"यह आदित्य देवताओं का मधुचक्रस्वरूप है अन्त-
रिक्ष उक्त मधुचक्र का आधारवाँस है"इत्यादि स्थल में सूर्य्य का देवमधुत्व,रश्मि-समूहका छिद्रत्व रूपसे प्रतिपादन
किया गया है और भी चार वेदसे कहे गये चारों कर्म्म और प्रणव जिसके पाँचवाँ पुष्प हैं । यज्ञाग्निमें हुत सोमा-
ज्यादि द्रव्य समूह लोहित, शुक्ल, कृष्ण, परकृष्ण और गोप्य नामक पाँच अमृत रूप से उक्त पाँच पुष्पों में रक्खे
गये हैं । उस उस मन्त्र भाग रूप मधुकर के द्वारा पूर्वादि ऊर्द्धान्त पाँचों दिशाओं में अवस्थित आदित्य किरण
रूप नाड़ीमार्ग में उक्त आदित्य मधुचक्र लाया गया है । वहाँ वसु, रुद्र,आदित्य, मरुत, साध्य ये पञ्च देवताओं
ने क्रम से यश, तेज, इद्रिय, वीर्य्य और अन्न रूप से परिणत होकर लोहितादि पञ्चामृत को अपने अपने गणों
में मुख्य मुख्य देवता के द्वारा अग्निरूप मुख से पान कर तृप्ति लाभ किया " इत्यादि । यहाँ सूर्य्य का मधुत्व,
ऋग्वेदादि प्रोक्त कर्म्म के द्वारा निष्पन्न और किरण द्वारा प्राप्त रस को आश्रय स्वरूप में कहा गया है इस प्रकार

मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ॥ ३१ ॥

जैमिनिर्देवानां मध्वादिषु विद्यास्वनधिकारं मन्यते । कुतः असम्भवात् । न हि स्वयमुपास्यः सन्नुपासको
भवितुमर्हति एकस्मिन्नुभयासम्भवात् । वसुत्वादिप्राप्तेर्मधुविद्याफलस्य सिद्धत्वेनार्थित्वासम्भवाच्च ॥३१॥

ज्योतिषि भावाच्च ॥ ३२ ॥

"तद्देवा ज्योतिषां ज्योति"रित्यादिश्रुतेर्ज्योतिषि परस्मिन् ब्रह्मणि तेषामुपासकतया भावाच्च न तास्व-
धिकारः । ब्रह्मोपासनस्य देवमनुष्यसाधारण्येऽपि विशिष्य देवानां तत्कथनं तेषामितरोपासननिवृत्तिं द्योतयति॥३२॥
एवं प्राप्ते ब्रवीति ।

भावन्तु बादरायणोऽस्ति हि ॥ ३३ ॥

तु शङ्काच्छेदार्थः । तास्वपि मध्वादिषूपासनासु भावं देवाधिकारस्य भगवान् बादरायणो मन्यते । हि
यस्मादादित्यवस्वादीनामपि सतां स्वावस्थब्रह्मोपासनया स्वभावाप्तिपूर्व्वकब्रह्मलिप्सा सम्भवोऽस्ति । कार्य्यकारणो-
भयावस्थब्रह्मोपासनस्यात्रावगमात् । इदानीमादित्यवस्वादयः सन्तः स्वावस्थब्रह्मोपासीनाः कल्पान्तरेऽप्यादित्यादयो
भूत्वा आदित्याद्यन्तर्यामि कारणभूतं ब्रह्मोपास्य मुक्ताः सन्तस्तद्ब्रह्मेष्यन्तीति भावः । न चादित्यादिशब्दानां ब्रह्म-
पर्य्यन्तत्वे मानाभावः । "य एतमेवं ब्रह्मोपनिषदं वेदे"त्युपसंहारस्य मानत्वात् । न च विद्याफलस्य वसुत्वादि-

---

अन्यत्र अन्य देवता की उपासना भी जान लेनी चाहिए । अब यहाँ परमत का उल्लेख करते हैं—

जैमिनि जी मध्वादिविद्या में देवताओं के अनाधिकार निर्देश करते हैं । अधिकार के असम्भव होने के
कारण जो स्वयं उपास्य है वह कभी उपासक नहीं हो सकता है । एकव्यक्ति में उपास्यत्व और उपासकत्व उभयधर्म्म
युगपत् होना असम्भव है । जिन्होंने मधुविद्या का फल रूप वसुत्व का लाभ किया है वे फिर वसुत्व प्राप्ति के
लिये क्यों प्रार्थना करेंगे । सुतरां यह असम्भव है ॥ ३१ ॥

अधिकन्तु "वह समस्त देवता ज्योतिः पदार्थ का प्रकाशक" इत्यादि श्रुति में देवताओं को केवल
मात्र ज्योतिरूप परब्रह्म के उपासक रूप में अवस्थान कहने के कारण उनका ब्रह्मोपासन से भिन्न अन्यविद्या में
अधिकार नहीं है ऐसा कहा गया है । ब्रह्मोपासना देवता,मनुष्यादिक में साधारण होने से भी उसका देवतागण के
पक्ष में विशेष करके कह जाने के कारण उनकी इतर उपासना में निवृत्ति होती है ॥ ३२ ॥
इस प्रकार परमत प्राप्त होने पर कहते हैं—

यहाँ "तु" शब्द शंका छेदन के लिये है । उस समस्त मध्वादिविद्या में देवतागण का भी अधिकार है
इसे भगवान् वादरायण जी स्वीकार करते हैं । कारण यह है कि यद्यपि वसु प्रभृति देवतागण ने आदित्यादि
मूर्त्तिरूप ब्रह्म की उपासना कर उस २ अवस्था का लाभ किया है तो भी इसके अनन्तर हम सब शुद्ध चिन्मूर्त्ति
रूप ब्रह्म का लाभ करेंगे—इस प्रकार से अभिलाषा की सम्पूर्ण सम्भावना दीखती है । इस स्थल पर आदित्यादि के
कार्य्यावस्थ और तदन्तर्यामी के कारणावस्थ होने से यहाँ उभय प्रकार से ब्रह्म की उपासना की वात कही गई है ।
अर्थात् "हम सब वर्त्तमानकल्प में आदित्यादि देवता—रूप—लाभ कर स्वावस्थ (कार्य्यावस्थ) ब्रह्म की उपासना
करते हैं और कल्पान्तर में भी आदित्यादि रूप लाभ कर आदित्यादि के अन्तर्यामी कारणरूप ब्रह्म का मुक्ति के
पश्चात् लाभ करेंगे" । आदित्यादि शब्दों का ब्रह्मार्थत्व भी असम्भव नहीं है । क्योंकि "जो उस उपनिषद् प्रति-
पाद्य ब्रह्म को जानता है" इत्यादि उपसंहार वाक्य ही उसका प्रमाण है । जिन्होंने वसुत्वादि फल का लाभ किया है
वे सब फिर वसुत्वादि की प्रार्थना नहीं करते हैं ऐसा कहना भी असंगत है ।

प्राप्तेः सिद्धत्वादर्थित्वासम्भवः। लोके पुत्रिणामेव सतां जन्मान्तरे पुत्रलिप्सादर्शनात्। एवं च ब्रह्मण एवोपास्यत्वा
चन्द्रमा ज्योतिषां ज्योतिरित्यपि सूपपन्नम्। "प्रजापतिरकामयत प्रजायेयेति स एतदग्निहोत्रं मिथुनमपश्यत्। तदुदिते
सूर्य्येऽजुहोत्" इति। "देवा वै सत्रमासत" इत्यादि श्रुत्यन्तरसिद्धः कर्म्माधिकारश्च तेषां न विरुद्ध्यते। लोकसं-
ग्रहार्थया भगवदाज्ञया तत्करणात्। ननु मधुविद्यादिशालिनामनेककल्पपर्य्यन्तं विलम्बं सहिष्णूनां कथं मुमुक्षुत्वं
ब्रह्मलोकान्तसुखवैतृष्ण्ये तत्त्वात्, सत्यम्। तद्बोधकशास्त्रादद्दष्टवैचित्र्यस्य नियामकत्वाच्च तादृशाः केचिदधि-
कारिणः सम्भवन्तीति स्वीकार्य्यम्। इदमधिकरणं पूर्व्वार्थे कैमुत्यद्योतनाय॥ ३३॥

मनुष्याणां देवादीनां च सामर्थ्यादियोगाद्ब्रह्मोपासनायामधिकारः प्रोक्तः। सा च वेदान्तपाठादृते न
सम्भवति "औपनिषदः पुरुष" इत्यादिश्रुतेरिति स्थितम्। तत्प्रसङ्गादिदमारभ्यते।

छान्दोग्ये "जानश्रुतिर्ह पौत्रायण" इत्यादिराख्यायिका श्रूयते। तत्र हंसोक्तिश्रवणानन्तरं सयुग्वानो
रैक्वस्य सन्निधिगतेन जानश्रुतिना गोनिष्करथान् दर्शयित्वा देवतां पृष्टो रैक्व आह "अहह हारेत्वा शूद्र तवैव सह
गोभिरस्त्वि"ति तं शूद्रशब्देन सम्बोध्य पुनरप्याहृतगोनिष्करथकन्योपहारं "तमाजहारेमाः शूद्रानेनैव मुखेनाल-
पयिष्यथा" इत्युक्त्वा संवर्गविद्यामुपदिष्टवानिति वर्ण्यते। इह भवति संशयः। वेदविद्यायां शूद्रोऽधिक्रियते
न वेति। तत्र मनुष्याधिकारोक्तिरविशेषात् सामर्थ्यादिसत्वात् शूद्रेति श्रौतलिङ्गात् पुराणादिषु विदुरादीनां ब्रह्मवित्त्व-
दर्शनाच्च सोऽधिक्रियत इति प्राप्ते।

पुत्रवान् व्यक्ति की परजन्म में भी पुत्रवान् होने की अभिलाषा देखी जाती है। इस प्रकार ब्रह्म उपा-
स्यत्व होने के कारण "वह देवतासमूह प्रकाशक ज्योतिःपदार्थ का भी प्रकाशक है इत्यादि वेदवाक्य संगत हो
जाता है। "प्रजापति ने प्रजा की कामना की" "उनने इस अग्निहोत्र मिथुन का दर्शन किया" "उनने सूर्य्योदय में
होम किया" "देवताओं ने यज्ञ किया" इत्यादि श्रुतियों से भी उक्त कथन सिद्ध होता है। देवताओं का कर्म्म में
अधिकार भी विरुद्ध नहीं है। क्योंकि भगवान् की आज्ञा से लोक संग्रह के लिये वे सब कर्म्म करते हैं। अनेक
कल्प पर्य्यन्त विलम्ब सहने वाले मधुविद्यादि वालों की मुमुक्षुत्व किस प्रकार सिद्ध होगा? ऐसी शंका नहीं
की जा सकती है। क्योंकि ब्रह्मलोक पर्य्यन्त सुख–वितृष्णा है इस कारण से मुमुक्षुत्व सिद्ध होता है। तद्बोधक
शास्त्र के कारण और अदृष्ट वैचित्र्य के नियामक के कारण तादृश अधिकारी का अस्तित्व अवश्य स्वीकार करना
होगा। यह अधिकरण पूर्वार्थ में कैमुत्य न्याय का प्रकाश करता है॥ ३३॥

मनुष्य और देवता दोनों का सामर्थ्यादि के योग के कारण ब्रह्म उपासना में अधिकार है यह कहा गया
है। वह उपासना वेदान्त के बिना कभी सम्भव नहीं है। "उपनिषद् प्रतिपाद्य पुरुष को जानना होगा" इत्यादि
श्रुति बल से ही यह सिद्ध होता है। इस प्रसंग से परवर्त्ती अधिकरण का आरम्भ करते हैं।

छान्दोग्य में जानश्रुति सम्बन्ध में एक आख्यायिका है–"यथा जानश्रुति नामक बहु सद्गुण से युक्त एक राजा
था। देवर्षि-गण उसके गुणों से प्रसन्न होकर एक बार ग्रीष्मकाल में हंसों का रूप धारण कर श्रेणीबद्ध होकर
प्रासादतल में शोने वाले उस राजाके निकट गये। हंस-समूहके पीछे रहने वाला कोई हंस सबसे आगे जाने वाले
हंस को सम्बोधन कर कहता है—हे भद्राक्ष! यह जानश्रुति का आकाशव्यापी तेज तुझको जला डालेगा। अतएव
उसका उल्लंघन कर मत जाना। इस बात को सुनकर आगे के हंस ने कहा धिक्कार। तुमने ऐसे तुच्छ शब्द को
एक अज्ञान व्यक्ति को ब्रह्मज्ञ रैक्व की भाँति निर्देश किया। राजा ने हंसमुख से अज्ञत्व रूप अपनी निन्दा सुन-
कर हंस के द्वारा कहा हुआ ब्रह्मज्ञ रैक्व के निकट ब्रह्मज्ञान लाभ के लिये जाने का उद्योग किया। अनेक अनुस-
न्धान के पीछे उसको प्राप्त कर समानीत समस्त गवादि उपहार प्रदान कर ब्रह्मज्ञान के लिये प्रार्थना की। भगवान्

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि॥ ३४॥

नेत्यनुवर्त्तते। तस्यां शूद्रो नाधिक्रियते। कुतः, हि यस्मादस्य पौत्रायणस्य जानश्रुतेरब्रह्मज्ञस्य "कमु
वर अरे एनमेतत्सन्तं सयुग्वानमिव रैक्वमात्थ" इति हंसोक्तानादरवाक्यश्रवणात्तदा ब्रह्मज्ञं रैक्वं प्रत्याद्रवणात्
शुक् संजातेति सूच्यते अस्यामाख्यायिकायां, तथा च शोकयोगादेवाशूद्रेऽपि तस्मिन् शूद्रेति सम्बोधनं स्वसार्व-
ज्ञ्यविज्ञापनायैव न तु चतुर्थवर्णत्वादिति॥ ३४॥

एवं शूद्रत्वलिङ्गे निरस्ते कोऽयमिति जिज्ञासायां क्षत्रियत्वमस्य वक्तुं सूत्रयति।

क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्॥ ३५॥

अस्य जानश्रुतेः क्षत्रियत्वमवगम्यते श्रद्धादेयो बहुदायीत्यनेकदानादिसमधिगतजनपदाधिपत्यात् क्षत्ता-
रमुवाचेति क्षत्तुः प्रेषणात् रैक्वाय गोनिष्करथकन्यादिदानाच्च। न ह्येतानि क्षत्रियादन्यस्य सम्भवन्ति। राज-
धर्म्मत्वादुपक्रमाख्यायिकायां क्षत्रियत्वमवगतम्। अथोपसंहाराख्यायिकायां तदवगम्यत इत्याह उत्तरत्रैतत्
संवर्गविद्यावाक्यशेषे सङ्कीर्त्तितेन चैत्ररथेनाभिप्रतारिसंज्ञेन क्षत्रियत्वं विज्ञायते। वाक्यशेषस्तथाहायशौनकं
कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविश्यमानौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे" इत्यादि। नन्वभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वं क्षत्रि-
यत्वं च नास्मिन्प्रकरणे प्रतीयते इति चेत्तत्राह लिङ्गादिति। अथ शौनकमित्यादिना साहचर्य्याल्लिङ्गादभिप्रतारिणः
कापेयसम्बन्धः प्रतीतः। अन्यत्र "चैतेन चैत्ररथं कापेया अयाजयन्नि"ति कापेयसम्बन्धिनश्चैत्ररथत्वं श्रूयते।

रैक्व उपहार-समूह को तुच्छ समुझकर कहने लगे अरे शूद्र! इस सब द्रव्य से मैं क्या करूँगा। यह सब अपने
लिये रक्खो। इस प्रकार कह कर केवल कन्या मात्र ग्रहण कर संवर्गविद्या का उपदेश दिया"। यहाँ संशय यह है
कि जानश्रुति को पहले शूद्र कहकर ब्रह्मज्ञ रैक्व ने फिर जब वेदविद्या का उपदेश किया है तब वेदविद्या में शूद्र
का अधिकार है किम्वा नहीं है। ब्रह्मविद्या में मनुष्यों का वर्ण विशेष में अधिकार निर्देश न करकर साधारणतः
मनुष्यमात्र में अधिकार निर्देश किया है। अधिकन्तु सामर्थ्यादि होने के कारण, पूर्वोक्त श्रुतिलिंग के कारण और
पुराण प्रभृति में विदुर प्रभृति शूद्रों का ब्रह्मज्ञत्व देखा जाने के कारण शूद्र का ब्रह्मविद्या में अधिकार स्वीकार
होता है। इसके उत्तर में कहते हैं—

"न" शब्द का अनुवर्त्तन है। वेदविद्या में शूद्र का अधिकार नहीं है। कारण पौत्रायण जानश्रुति हंस
की बात सुनकर शोक से व्याकुल हो जाने के कारण अशूद्र होने पर भी रैक्व कर्त्तृक शूद्र कथन द्वारा सम्बोधित
हुए हैं। यह उक्त श्रुति का तात्पर्य्य है॥ ३४॥

इस प्रकार जानश्रुति का शूद्रत्वलिंग निरस्त होने से यह शूद्र नहीं थे, क्षत्रिय थे–इस प्रकार के अर्थ
विज्ञापन के लिये परसूत्र की अवतारणा करते हैं।—

उक्त जानश्रुति क्षत्रिय है। "श्रद्धादेयो बहुदायी" प्रभृति श्रुति के अनुसार अनेक दानादि द्वारा उनके
राज्याधिपत्य-श्रवण होने के कारण, "क्षत्तारमुवाच" इत्यादि क्षत्तः के प्रेरण के कारण और रैक को गौ, निष्क,
रथ, कन्यादि दान के कारण उनका क्षत्रियत्व सिद्ध होता है। वास्तविक यह समस्त राजधर्म्म क्षत्रिय भिन्न और में
सम्भव नहीं है। यह आख्यायिका के उपक्रम में भी कहा गया है और उपसंहार में भी संवर्गविद्या वाक्य के शेष
में संकीर्त्तित अभिप्रतारि संज्ञक चैत्ररथबोधक शब्द के द्वारा क्षत्रियत्व कहा गया है। इस प्रकरण में अभिप्रतारी
के चैत्ररथत्व व क्षत्रियत्व नहीं कहा गया ऐसा नहीं कह सकते हो। कारण यह है कि साहचर्य्यलिंग से अभिप्रतारी
के कापेयसम्बन्धत्व, और अन्यत्र कापेय सम्बन्धी का चैत्ररथत्व, और चैत्ररथ का क्षत्रियत्व कहा गया है। अतएव

"तस्माच्चैत्ररथिर्नाम क्षत्रपतिरजायत" इति चैत्ररथस्य क्षत्रियत्वं चेति । तदेवं तस्य तत्तच्च सिद्धम् । तथा च संवर्गविद्योपासकौ कापेयाभिप्रतारिणौ वा ब्राह्मणक्षत्रियौ निर्दिष्टावतस्तस्यामेव विद्यायां गुरुशिष्यभावेनान्वितौ रैक्वजानश्रुती च तथा स्यातामिति तस्य क्षत्रियत्वम् । ततश्च वेदे शूद्रो नाधिकारीत्यर्थो युक्त्या साधितः ॥३५॥

तदेवं श्रुत्याद्यनुग्रहेण दर्शयति ।

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥ ३६ ॥

श्रुत्यन्तरे "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयेदेकादशे क्षत्रियं द्वादशे वैश्य"मित्यध्यापनाय संस्कारविमर्शनात्तत्र ब्राह्मणानामेवाधिकारः । "नाग्निर्न यज्ञो न क्रिया न संस्कारो न व्रतानि शूद्रस्य" इति संस्काराभावकथनाच्च शूद्रस्य नाधिकारः । त्रैवर्णिकबाह्यस्य संस्काराविधानात् संस्कारसापेक्षे वेदपाठे तस्य न सः ॥ ३६ ॥

संस्काराभावं द्रढयति ।

तदभावनिर्द्धारणे च प्रवृत्तेः ॥ ३७ ॥

छान्दोग्ये एव "नाहमेतद्वेद भो यद्गोत्रोऽहमस्मि" इति सत्यवचसा जाबालस्य शूद्रत्वाभावे निर्द्धारिते सति "नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सौम्याहर त्वोपनेष्ये न सत्यादगा" इति गौतमस्य गुरोस्तत्संस्कारादौ प्रवृत्तेश्च ब्राह्मणपदोपलक्षितत्रैवर्णिकत्वमेव संस्कारप्रयोजकमवगम्यते अतो न शूद्रोऽधिकारी ॥ ३७ ॥

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च ॥ ३८ ॥

"पद्यु ह वा एतत्श्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्" । "तस्माच्छूद्रो बहुपशुरयज्ञीय"इति शूद्रस्य वेदश्रवणादिप्रतिषेधान्न स तत्राधिकारी । अनुपशृण्वतोऽध्ययनतदर्थज्ञानतदनुष्ठानानि न सम्भवन्तीत्यतस्तान्यपि प्रतिषिद्धानि । "नाग्निर्न यज्ञः शूद्रस्य तथैवाध्ययनं कुतः । केवलैव तु शुश्रूषा त्रिवर्णानां विधीयते" ॥

उसका क्षत्रियत्व सिद्ध हुआ है । संवर्गविद्या का उपासक के रूप में निर्दिष्ट ब्राह्मण और क्षत्रिय कापेय और अभिप्रतारी ही गुरुशिष्यभावापन्न रैक्व और जानश्रुति हैं ऐसा जानना चाहिए अतएव जानश्रुति का क्षत्रियत्व सिद्ध होता है । इस प्रकार वेद में शूद्र का अनधिकार है यह युक्ति के द्वारा सिद्ध हुआ है ॥ ३५ ॥

फिर श्रुति प्रमाण के द्वारा दिखाते हैं—

श्रुत्यन्तर में "ब्राह्मण को आठ वर्ष में" "क्षत्रिय को ग्यारहवर्ष में" और "वैश्य को द्वादश वर्ष में" उपनीत कराकर वेदाध्ययन करावें । यहाँ तीनों वर्णों के संस्कार-वचन के कारण और शूद्र का नाम न लेने के कारण शूद्र का वेद में अधिकार नही है ऐसा स्पष्ट होता है । वेदपाठ संस्कार का सापेक्ष है । जब शूद्र का संस्कार नही है तब वेद में अधिकार नहीं होता है यह सिद्ध हुआ ॥ ३६ ॥

शूद्र में संस्कार का अभाव है—इसकी दृढ़ता के लिये दिखाते हैं ।—

छान्दोग्य में गौतमऋषि ने जाबालि को गोत्र विषयक प्रश्न कर तथा उसके उत्तर में "में नहीं जानता हूँ" इस सत्यवाक्य के श्रवण से सन्तुष्ट होकर ब्राह्मण कभी मिथ्या नहीं बोलते हैं इस प्रकार धारणा के द्वारा उसका अशूद्रत्व निश्चय किया है । पीछे उसे ब्राह्मण कह कर संस्कारोपयोगी समिधा लाने का आदेश दिया । यहाँ ब्राह्मणशब्द से उपलक्षित त्रिवर्ण का ही संस्कार हो सकता है और का नहीं है । अतएव शूद्र का वेदशब्द में अनधिकार है—यह स्थिर हुआ ॥ ३७ ॥

• श्रुति में शूद्र के श्रवणादि का निषेध है । अतः शूद्र का वेद में अधिकार नहीं है । "चलने में क्षमताशाली होने पर भी शूद्र श्मशान सदृश है । अतएव शूद्र के समीप वेदाध्ययन निषेध है । "शूद्र पशु तुल्य होने से

"वेदाक्षरविचारेण शूद्रः पतति तत्क्षणादि"त्यादि स्मृतेश्च । तथा विदुरादीनां तु सिद्धप्रज्ञत्वान्न किञ्चिच्चोद्यम् । शूद्रादीनां मोक्षस्तु पुराणादिश्रवणजज्ञानात् सम्भविष्यति । फले तु तारतम्यं भावि ॥ ३८ ॥

एवं प्रासङ्गिकं समाप्य प्रकृतं समन्वयं चिन्तयति । कठवल्यां पठ्यते "यदिदं किञ्चिज्जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् । महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ती"ति । किमत्र वज्रमशनिर्ब्रह्म वेति संशये भयहेतुतया कम्पकारित्वात्तज्ज्ञानेन मोक्षस्य च वाचनिकत्वादशनिर्वज्रशब्दादवगम्यते । प्राणत्वञ्चास्य रक्षकत्वात् । न च प्रकरणाद्ब्रह्मार्थता शक्या कर्तुं उद्यतं वज्रमिति श्रुत्या तस्य बाधादित्येवं प्राप्ते ।

कम्पनात् ॥ ३९ ॥

वज्रादिसहितस्य कृत्स्नस्य जगतः कम्पकत्वाद्वज्रमत्र ब्रह्मैव । चक्रं चङ्क्रमणादेष वर्जनाद्वज्रमुच्यते । खण्डनात् खड्ग एवैष हेतिनामा हरिः स्वय"मिति स्मरणाच्च । अयं भावः । प्राणशब्दितत्वं भयहेतुत्वं च परमात्मनः श्रुतिप्रसिद्धम् । तत्तच्चात्र वज्रशब्दितस्य कीर्त्यमानं सदस्य परमात्मत्वं गमयतीति ॥३९॥

ज्योतिर्दर्शनात् ॥ ४० ॥

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं" इत्यादिकमितः प्राक् श्रुतं । "भयादस्याग्निस्तपती"त्यादिकं परत्र । तत्रोभयत्रापि ब्रह्मैकान्तस्य ज्योतिषस्तेजसो दर्शनादन्तरालेऽपि ब्रह्मैव वज्रशब्दादवधारणीयम् ॥ ४० ॥

भी यज्ञ के अयोग्य है" इत्यादि स्मृति में शूद्र का वेद श्रवणादि निषेध होने के कारण शूद्र वेद में अनधिकारी है । जिसका श्रवण में अधिकार नहीं है वह कभी उसके अर्थज्ञान किम्वा अनुष्ठान में समर्थ नहीं हो सकता है । सुतरां शूद्रका उस उस विषय में अधिकार नहीं है । शूद्र का अग्नि में, यज्ञ में और अध्ययन में अधिकार नहीं है । शूद्र केवल त्रिवर्ण की सेवा ही करेगा । वेदाक्षर के विचार करने से शूद्र उसी समय पतित हो जाता है । विदुरादिक के सिद्ध प्रज्ञावाले होने का कारण इन सबके विषय में कुछ नहीं बोला जा सकता है । शूद्रों का मोक्ष पुराणादिक श्रवणज्ञान से होता है । तो भी फल में अवश्य तारतम्य है ॥ ३८ ॥

अब प्रासंगिक विषय समाप्ति कर प्रकृत विषय की चिन्ता करते हैं । कठवल्ली में पाठ है—"वर्जन अर्थात् नियमन का कर्त्ता वज्र से समस्त जगत् उत्पन्न है । उसके भय से सब काँपते हैं, वह सबका रक्षक है । वह दण्ड देने वाला और पालन कर्त्ता है । जो व्यक्ति उसका तत्व जानता है वह मुक्ति लाभ करता है । यहाँ संशय है कि इस वज्रशब्द से प्रसिद्ध वज्र है किम्वा ब्रह्म है । भय और कम्पन होने के कारण और उसका मोक्षकारणत्व केवल वचन मात्र से कहने के कारण वज्रशब्द से प्रसिद्ध वज्र का बोध किया जा सकता है । वज्र रक्षक है इसलिये प्राण शब्द से कहा जा सकता है । प्रकरण के बल से वज्र का ब्रह्मार्थत्व बोध नहीं हो सकता है । कारण "उद्यत वज्र" इत्यादि श्रुति ही उक्त अर्थ का बाधक होती है । इस प्रकार पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं ।—

वज्रादि के साथ समस्त जगत् काँपने के कारण यहाँ वज्रशब्द से ब्रह्म का ही बोध कराता है । श्रीहरि सर्वत्र गमन करने के कारण चक्र, वर्जन के कारण वज्र और सब खण्डन करने के कारण खड्ग हैं । सुतरां श्रीहरि ही इन समस्त अस्त्रों के नाम से कहे जाते हैं । परमात्मा का प्राणशब्दितत्व और भयहेतुत्व भी श्रुति-प्रसिद्ध है । यह वज्र शब्द भी कीर्त्यमान हरि का ही बोध कराता है ॥ ३९ ॥

"उस ब्रह्म के समक्ष सूर्य्य, चन्द्र, नक्षत्र, प्रभृति किसी का भी प्रकाश नहीं है" इत्यादि पहिले सुना जाता है । और " उसके भय से अग्नि प्रभृति प्रज्वलित होते हैं इत्यादि पीछे कहा गया है । दोनों स्थल में ब्रह्म मात्र बोधक ज्योतिः शब्दादिक के द्वारा ब्रह्म के प्रभाव का बोध होने के कारण, बीच में वज्रशब्द से कही गयी भयंकरवस्तु वह ब्रह्म ही है ऐसा बोध होता है ॥ ४० ॥

"आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मे"ति श्रुतं छान्दोग्ये। तत्राकाशशब्देन संसारबन्धाद्विनिर्मुक्तो जीवात्मोच्यते परमात्मा वेति सन्देहे । "अश्व इव रोमाणि विधूय पाप" मित्यादिना पूर्व्वं मुक्तस्य प्रकृतत्वात् ते यदन्तरेति नामरूपविमुक्तस्याभिधानात् तस्यापि भूतपूर्व्वगत्या तन्निर्वोढृत्व-सम्भवादसङ्कुचितप्रकाशशब्दस्यापि तत्रोपपत्तेश्च विमुक्तात्मेह प्रतिपाद्यते "तद् ब्रह्म तदमृत"मिति तदवस्था विमृष्टेति प्राप्ते ।

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

इहाकाशः परमात्मैव न मुक्तजीवः । कुतः, अर्थान्तरेति । अयमर्थः । नामरूपनिर्वोढृत्वं किल मुक्तावस्था-ज्जीवादन्यमाकाशं साधयति । बद्धावस्थं तं खलु कर्म्मवशात् नामरूपे भजतः । स्वयं तु तन्निर्वोढृत्वे न शक्तः । मुक्तावस्थस्य तु तस्य तत्र जगद्व्यापारवर्ज्यमिति वक्ष्यमाणात् परमात्मनस्तु जगन्निर्मितिषु क्षमस्य श्रुत्यैव तदुक्तं । "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी"त्यादिना । तस्मात्परमात्मैवेह बोध्यः । आदिशब्दात निरुपाधिकबृहत्वादिरूपं ब्रह्मत्वादि । यत्तु पूर्व्वं मुक्तः प्रकृत इत्युक्तं तत्र ब्रह्मलोकमिति परमात्मनः प्रकृतत्वात् आकाशशब्दश्च व्यापकत्वादसङ्गत्वाच्च परमात्मनि प्रयुक्तः प्रसिद्धश्च तत्रैवेति ॥ ४१ ॥

स्यादेतत् मुक्तादपि जीवादर्थान्तरं ब्रह्मेति नोपयुक्तं चोदात्तमत्वात् । तथाहि वृहदारण्यके "कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः पुरुषः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरती"त्यादिना

"आकाश ही नाम रूप का निर्वाहक है। जो नाम रूप से विमुक्त है, वह ब्रह्म है' वह अमृत है, वह आत्मा है" इत्यादि वचन छान्दोग्य में देखने में आता है। उक्त आकाशशब्द से संसारबन्धन से मुक्त जीव किम्वा परमात्मा कहा जाता है यह संशय उटता है। "अश्व जिस प्रकार रोम से मुक्त होता है उस प्रकार मुक्तपुरुष पाप से मुक्त होता है"इत्यादि प्रमाण बल से मुक्तपूर्वजीव ही प्रकृत कारण और "यदन्तरा"शब्द से नाम-रूप-विमुक्त पुरुष के अभिधान होने के कारण भूतपूर्व गति के द्वारा ही उसका निर्वाह सम्भव होता है। असंकुचित अर्थ के प्रकाश द्वारा आकाशशब्द विमुक्त जीव में ही उपपन्न होता है। "वे ही ब्रह्म, वे ही अमृत" इत्यादि वाक्य से मुक्तावस्थ ही के बोध होने के कारण इस स्थल में मुक्तावस्थ जीव का ही परामर्श है इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं ॥—

यहाँ आकाश शब्द से परमात्मा ही का बोध होता है जीव का नहीं है। कारण नाम-रूपनिर्वाहकत्व, मुक्तावस्थ जीव से भिन्न आकाश का साधक है। वद्धावस्थ जीव कर्म्म के वश नाम और रूप का भजन करता है। वद्धावस्थजीव की स्वतन्त्रभाव से नामरूपादि निर्वाहकशक्ति दीखने में नहीं आती है। मुक्तावस्थजीव का भी जगद्व्यापार से भिन्न अन्यत्र वह सब दिखने में आता है। शास्त्र में कहा जाता है मुक्तावस्थजीव की जगन्निर्म्माणादि भिन्न अन्य कार्य्य में स्वतन्त्रता है। किन्तु परमात्मा हरि ही जगत् निर्म्माण में समर्थ हैं अतः उनकी समस्त विषय में स्वतन्त्रता श्रुति-सिद्ध है। श्रुति में कहा है 'मैं जीव रूप से विश्व के बीच अनुप्रवेश होकर नाम और रूप का प्रकाश करता हूँ" इत्यादि। अतएव उस आकाशपद से परमात्मा ही बोध होता है। "अर्थान्तरत्वादि" अर्थात् नामरूपादि निर्वाहकत्वादि। यहाँ आदिपद से निरुपाधिक बृहत्वादिरूप ब्रह्मधर्म्म जानना चाहिए। पहिले मुक्तपुरुष ही प्रकान्त होता है कोई कोई इस प्रकार कहते हैं किन्तु ऐसा नहीं हो सकता है। कारण ब्रह्मलोक शब्द से परमात्मा ही प्रकान्त होता है। आकाशशब्द व्यापकत्व गुण-योग के कारण और जीव में उसकी असंगति होने के कारण परमात्मा के उद्देश्य में प्रयुक्त होता है। आकाश शब्द की परमात्मा में प्रसिद्धि है ॥ ४१ ॥

अच्छा ? इस प्रकार होने पर-"ब्रह्म मुक्तजीव से अर्थान्तर अर्थात् भिन्न" इस प्रकार वोलना उपयुक्त नहीं है। क्योंकि वह असंगत होता है। बृहदारण्यक में "कतम आत्मा" इस प्रकार प्रश्न के उत्तर में 'जो विज्ञान-

बद्धावस्थं जीवमुपक्रम्य "स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमय" इत्यादिना तस्यैव ब्रह्मत्वं परामृश्यते । पत्रा"प्यथा-कामयमान" इत्यादिना मुक्तावस्थेति विमृश्य "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" इति तस्य तथात्वं निश्चीयते तथान्ते-ऽप्यभयं वै ब्रह्म भवति य एवं वेद" इति फलोक्तिश्च । तदेवं सति यः क्वचिज्जीवब्रह्मणोर्भेदव्यपदेशः स खलु घटाकाश–महाकाशवदुपाधिकृतः स्यात् तद्विगमे परिच्छिन्नस्य जीवस्य महत्त्वं घटनाशे घटाकाशस्येव । विश्व-कृत्त्वादि च तस्यैवेश्वरत्वात् तस्मात् नार्थान्तरं मुक्तजीवाद्ब्रह्मेत्याक्षिप्तौ पठति ।

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥ ४२ ॥

व्यपदेशादित्यनुवर्त्तते । तस्मिन् वाक्यसन्दर्भे मुक्तजीवो ब्रह्मैवेति न सम्भवति । कुतः सुषुप्तावुत्क्रान्तौ च जीवाद्भेदेन ब्रह्मणो व्यपदेशात् । सुषुप्तौ तावत् "प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तर" मिति । उत्क्रान्तौ च "प्राज्ञेनात्मना अन्वारूढ उत्सर्जन् याती"ति । उत्सर्जन् हिक्वशब्दं कुर्व्वन् । न च स्वपत उत्क्रामतो वा अकिञ्चिज्ज्ञस्य तदैव प्राज्ञेन स्वेनैव परिष्वङ्गान्वारोहौ सम्भवेताम् । न च जीवान्तरेण तस्यापि सार्व्वज्ञ्याभावात् ॥ ४२ ॥

ननु नैतावताऽभीष्टसिद्धिरौपाधिकभेदाभ्युपगमादिति चेत् तत्राह ।

पत्यादिशब्देभ्यः ॥ ४३ ॥

तत्रैवोत्तरत्र पत्यादयः शब्दाः पठयन्ते । "स वा अयमात्मा सर्व्वस्य वशी सर्व्वस्येशानः सर्व्वस्याधिपतिः सर्व्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच स न साधुना कर्म्मणा भूयान्नात्र वाऽसाधुना कनीयानेष भूताधिपतिरेष लोकेश्वर

मय पुरुष है जो हृदय में प्राण के वीच ज्योति रूप से विराजित है, जो इहलोक और परलोक में समान भाव से विचरण करता है" इत्यादि कह कर वद्धावस्था जीव के उपक्रम पूर्वक "वह यह आत्मा ही विज्ञानमय ब्रह्म"इत्यादि वचन के द्वारा उक्त वद्धावस्थ जीव का ही ब्रह्मत्व रूप से विचार किया है। "वह निष्काम होता है" इत्यादि शब्द के द्वारा फिर उसकी मुक्तावस्था की चिन्ता के साथ "मुक्तावस्थ जीव ब्रह्म को प्राप्त होता है" इत्यादि वचन से उसका ब्रह्मत्व निश्चय पूर्वक "वे अभय ब्रह्मस्वरूप होते हैं"इत्यादि फलोक्ति देखी जाती है। तो भी जीव और ब्रह्म का जो कुछ भेद कहा जाता है वह केवल घटाकाश और महाकाश की भाँति औपाधिक भेदमात्र है। घटनाश से घटाकाश की तरह उपाधि दूर होने पर परिच्छिन्न जीव ही महान् होता है। वह ईश्वरत्व प्राप्त होकर विश्वकर्तृ-त्वादि धर्म्म को प्राप्त होता है अतएव मुक्तजीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है इस प्रकार के आक्षेप का समाधान करते हैं—

उक्त प्रस्ताव में मुक्त जीव ब्रह्म है—इस प्रकार का अर्थ सम्भव नहीं है। कारण सुषुप्ति और उत्क्रान्ति स्थल में जीव से ब्रह्म का भेद स्पष्ट ही कहा गया है। सुषुप्तिकाल में प्राज्ञ आत्मा के साथ मिलित होकर जीव बाह्य आन्तर कुछ नहीं जानता है। और उत्क्रमण के समय प्राज्ञ परमात्मा के द्वारा अधिष्ठित होकर स्थूल देहा-दिक परित्याग में हिक्का (हिचकी) लेकर गमन करता है। क्या निद्रित और क्या उत्क्रान्त इन उभय प्रकार के जीवों का अकिञ्चिज्ज्ञत्व होने के कारण प्राज्ञ परमात्मा के साथ अभेद मिलन किम्वा एकत्र अधिष्ठान सम्भव नही होता है अथवा जीवान्तर के साथ मिलन भी कहा नहीं जा सकता है। क्योंकि उसका भी सर्वज्ञत्वादि का अभाव है ॥ ४२ ॥

यदि कहो कि इससे अभीष्टसिद्धि नहीं हुआ है। जिस कारण से भेद औपाधिकमात्र है। इस प्रकार के प्रश्नोत्थान के उत्तर में कहते हैं।—

उक्त श्रुति में आगे कहा गया है "आत्मा सब से श्रेष्ठ, सब का नियामक, सब का अधिपति, सब का शास-

एष लोकपालः स सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय" इत्यादिना । तेभ्यो मुक्तजीवादन्यत् ब्रह्मेति विज्ञायते । न हि सर्व्वाधिपत्यं सर्व्वप्रशासनादिकं वा मुक्तजीवस्य शक्यं वक्तुं "जगद्व्यापारवर्ज्य"मिति प्रतिषेधात् । "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनाना"मिति तैत्तिरीयके ब्रह्मण एव तच्छ्रवणात् । न चौपाधिकत्वं भेदस्य तस्य मुक्तावपि श्रवणात् । अंशाधिकरणे तु तथात्वं परिहरिष्यामः । अयमात्मा ब्रह्मेत्यत्र जीवस्य तदुक्तिस्तद्गुणांशयोगात् । ब्रह्मैव सन्नित्यत्र तु आविर्भावितगुणाष्टकेन ब्रह्मसदृशः सन्नित्येवार्थः । परमं साम्यमुपैतीत्यादिश्रवणात् ब्रह्मभावोत्तरभावित्वाच्च ब्रह्माप्ययस्येति पूर्व्वमभाषि । तदेवं बद्धमुक्तोभयावस्थाज्जीवात् ब्रह्मणो भेदसिद्धौ नामरूपनिर्वोढाऽकाशो न मुक्तजीवः किंतु परमात्मैवेति सिद्धम् । नेतरोऽनुपपत्तेर्भेदव्यपदेशाच्चेत्यत्र यत् शङ्का-निदानं तदिहैवोक्तमिति पुनरुक्तिमुक्तिकालिकभेदाभ्यासात् न दोष इत्यपरे ॥ ४३ ॥

॥ इति ब्रह्मसूत्रभाष्ये प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

तमः सांख्यघनोदीर्णं विदीर्णं यस्य गोगणैः । तं संविद्भूषणं कृष्ण-पूषणं समुपास्महे ॥

मुक्त्युपायतया जिज्ञास्यं विश्वजन्मादिवीजं जडाज्जीवाच्च विलक्षणमविचिन्त्यानन्तशक्तिसार्व्वज्ञ्यादि-कल्याणगुणमयं निरस्तहेयं निरङ्कुशैश्वर्यं परं ब्रह्म परामृष्टं प्राक् । इदानीं तु कासुचिच्छाखासु दृश्यमानानां कपिलतन्त्रसिद्ध-प्रधानपुमर्थकशब्दान्वितानां वाक्यानां समन्वयस्तत्रैव चिन्त्यते । कठवल्यामिदमामनन्ति । "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः । महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परागति"रिति । तत्राव्यक्तशब्देन स्मार्त्तं प्रधानं वाच्यं शरीरं वेति सन्देहे महदव्यक्तपुरुषाणां परापरभावेन स्मृतिप्रसिद्धानां श्रुतौ यथावत् प्रत्यभिज्ञानात् स्मार्तं स्वतन्त्रं प्रधानमिह वाच्यं शरीरं वेति प्राप्ते ।

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥१॥

एकेषां कठानामानुमानिकं स्मार्त्तं प्रधानमपि वाच्यं दृश्यते । न व्यक्तमव्यक्तमिति व्युत्पत्त्या तदुक्ते-रिति चेन्न । कुतः ? शरीरेत्यादेः । शरीरमेवात्र रथरूपकविन्यस्तमव्यक्तशब्देन गृह्यते । दर्शयति चैतत् प्राक्तनो ग्रन्थ आत्मशरीरादिनां रथादिरूपकक्लृप्तिम् । एतदुक्तं भवति पूर्व्वत्र । "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ इन्द्रियाणि हयान्याहु र्विषयांस्तेषुगोचरान्"इत्यादिना । "सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पद"मित्यन्तेन ग्रन्थेन । श्रीविष्णुपदप्रेप्सुमुपासकं रथित्वेन तच्छरीरादिकं रथादित्वेन रूपयित्वा यस्यैते रथादयो वशे भवन्ति सोऽध्वनः पारं तत्पदमाप्नोत्युक्त्वाथ रथादिरूपितानां तेषां शरीरादीनां वशीकार्य्यतायां गौण्यप्राधान्यमुच्यते इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इत्यादिना । तत्र यानीन्द्रियाणि रथरूपके अश्वादिभावेन प्रकृतानि तान्येवेह वाक्येऽपि गृह्यन्ते प्रायःशब्दतौल्यात् । यत्तु शरीरमवशिष्टं तत्खलु अव्यक्तशब्देन परिशेषात्प्र-करणाच्चेति । न च स्मार्त्ततत्त्वप्रत्यभिज्ञात्राऽस्ति तन्मतविरोधात् ॥ १ ॥

नकर्त्ता है । वह भूतगणों का अधीश्वर, लोकों का ईश्वर, लोकपाल, मर्य्यादा रखने वाला, सब का आश्रय और सांकर्य्य (मिश्रण) भाव का निरासक है इत्यादि । यह समस्त वेद वाक्य ही ब्रह्मवस्तु को मुक्त जीव से भिन्न करके निर्देश करते हैं । उक्त सर्वाधिपतित्व प्रभृति मुक्त जीव का धर्म्म हैं—इस प्रकार नहीं कह सकते हो । कारण यह है कि जीव का सृष्टिकर्त्तृत्वादि धर्म्म का निषेध वाचक वाक्य सुना जाता है । "ब्रह्म ही जीव के अन्तर में रहकर उन सब का शासन करता है" इत्यादि तैत्तिरीयक श्रुति में उन समस्त धर्म्मों को ब्रह्म का ही निर्देश करते हैं । भेद को औपाधिक नहीं कह सकते हो । क्योंकि मुक्ति में भी भेद सुना जाता है । भेद का औपाधिकत्व अंशा-धिकरण में परिहृत होगा । "अयमात्मा ब्रह्म" इस स्थल में जीव का ब्रह्मत्व वचन ब्रह्मगुणांश योग के कारण जानना चाहिए । "ब्रह्मैव सन्" इत्यादि स्थल में आविर्भूत गुणाष्टक के द्वारा जीव ब्रह्मसदृश होता है इस प्रकार अर्थ करना चाहिए । कारण यह है कि "परमं साम्यमुपैति" इस प्रकार से श्रुतिगण सतस्त जीव का ब्रह्म-सादृश्यत्व प्राप्त होना कहते हैं । और भी "ब्रह्माप्यय का ब्रह्मभावोत्तर भावित्व है" यह पहिले कहा गया है । अत-एव बद्ध-मुक्त उभय प्रकार के जीव ब्रह्म से भिन्न हैं । सुतरां नामरूप निर्वाहक आकाश शब्द से परमात्मा ही है, मुक्त जीव नहीं है । "नेतरोऽनुपपत्तेः" इत्यादि स्थानीय शङ्काबीज यहाँ कहा गया है । परन्तु कोई कोई कहते हैं मुक्त जीव का भी ब्रह्म से भेद रहता है यह बात कही जाने के कारण यहाँ पुनरुक्ति दोष का निषेध होता है ॥४३॥

इति गोविन्दभाष्य प्रथमाध्याय के तृतीयपाद का अनुवाद समाप्त हुआ है ॥

जिनके किरण-समूह से सांख्यरूप मेघान्धकार विदीर्ण हुआ है, उन निखिल पालन शक्तिशाली, ज्ञान-शक्ति के द्वारा भूषित, श्रीकृष्ण रूप सूर्य्य की हम सब उपासना करते हैं ।

मुक्ति के उपास्यस्वरूप में जिज्ञास्य, विश्व जन्मादिक का कारण, जड़ और जीव से विलक्षण, अचिन्त्य, अनन्तशक्तिशाली, सार्व्वज्ञ्यादि अनन्त कल्याणगुणमय, हेयगुण विवर्जित, निरंकुश ऐश्वर्य्यशाली, परब्रह्म है । यह सब पहले विचार किया गया है । वर्त्तमान में कोई कोई शाखा में दृश्यमाण कापिलदर्शनोक्त प्रधानवाचक शब्द से युक्त वाक्य-समूह के समन्वय का विचार करते हैं । कठवल्ली में कहा गया है । विषय-समूह इन्द्रियों से श्रेष्ठ है, विषय से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है । बुद्धि से महान् श्रेष्ठ है, महान् से अव्यक्त श्रेष्ठ है, अव्यक्त-प्रकृति से पुरुष श्रेष्ठ है । पुरुष से कोई श्रेष्ठ नहीं है । वह शेष है वह परमगति है । यहाँ संशय यह है कि इस स्थल में अव्यक्त शब्द के द्वारा स्मृति-उक्त स्वतन्त्र प्रधान ही कहा गया है किम्वा शरीर कहा गया है ? महत् अव्यक्त और पुरुष का उत्तरोत्तर पराभव भाव होने के कारण तथा स्मृति प्रसिद्ध तत्व-समूह का श्रुति में यथायोग्य प्रत्यभिज्ञान होने के कारण स्मृति-शास्त्रोक्त प्रधान ही इस स्थल में कहा गया है यदि इस प्रकार कहते हो तो उसका उत्तर देते हैं:—

"न व्यक्तं अव्यक्तं" इस व्युत्पत्ति के द्वारा कतिपय काठकादि का आनुमानिक कपिल स्मृतिशास्त्रोक्त प्रधान ही वाच्य बोला गया है यह नहीं कह सकते हो । क्योंकि यहाँ अव्यक्तशब्द से रथरूप विन्यस्त शरीर का ही बोध कराता है । पूर्वग्रन्थ में आत्म शरीरादिक की रथादि रूप से कल्पना देखने में आयी है । "आत्मा रथि-स्वरूप, शरीर रथस्वरूप, बुद्धि सारथिस्वरूप, मन रस्सीस्वरूप, इन्द्रियसमूह अश्वस्वरूप और शब्दादिक विषय उसका पथ स्वरूप हैं" । "जो व्यक्ति इन समस्त रथादिक को वश में रखकर विष्णुपद का अनुध्यान करता है वह अनायास से उक्त पथ का अतिक्रमण कर सकता है" इत्यादि शेषग्रन्थ में श्रीविष्णुपद प्राप्ति इच्छुक उपासक को रथीमान करके उसके शरीरादि को रथादि रूप से रूपक कह कर "जिसका रथादिक वश में हैं वह मार्ग के पर पार परमात्मा के पद को प्राप्त होता है" इस प्रकार निर्देश किया है । अनन्तर रूपक प्राप्त उन सब शरीरादि का "इन्द्रिय समूह से विषय सकल बलवान् है" इत्यादि वाक्य से वशीकरण करने में गौण्य-प्राधान्य भाव कहा जाता है । जो इन्द्रिय-समूह रथरूपक में अश्वादि करके कहे गये हैं वे सब इस वाक्य से ग्रहण किये जाते हैं । "प्रायः" यह शब्द तुल्यार्थ है । परिशेष में प्रकरण के बल से अवशिष्ट शरीर अव्यक्त शब्द द्वारा विशेषतः कहा गया है । यहाँ सांख्यतत्व का कोई उल्लेख नहीं है । इस प्रकार उत्तरोत्तर के परत्व स्वीकार करने में उनके मत का विरोध उपस्थित होता है ॥ १ ॥

ननु शरीरस्य व्यक्तत्वादव्यक्तशब्दवाच्यता कथमित्याशङ्क्याह ।

सूक्ष्मन्तु तदर्हत्वात् ॥ २ ॥

शङ्कानिरासाय तुशब्दः । कारणात्मना सूक्ष्मशरीरमिह विवक्ष्येत । कुतः तदर्हत्वात् । तस्य सूक्ष्मशरीरस्य अव्यक्तशब्दयोग्यत्वात् । "तद्वेदं तर्ह्यव्याकृतमासीदि"ति श्रुतिरपीदं स्थूलावस्थं जगत् प्राग्बीजशक्त्यवस्थं तद्योग्यं दर्शयति ॥ २ ॥

तदधीनत्वादर्थवत् ॥ ३ ॥

परमकारणब्रह्माधीनत्वादर्थवत् प्रधानं स्वकार्योत्पादनफलवदित्यर्थः । तदीक्षणेनैव प्रधानं वर्त्तते न तु स्वतः जाड्यात् । श्रुतिश्च श्वेताश्वतराणां "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" । "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" । "य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात् वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाती"त्याद्या । स्मृतिश्च ।"स एव भूयो निजवीर्य्यचोदितां स्वजीवमायां प्रकृतिं सिसृक्षतीम् । अनामरूपात्मनि रूपनामनी विधित्समानोऽनुससार शास्त्रकृत्" । "प्रधानं पुरुषं चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः । क्षोभयामास संप्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ" ॥ "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् । हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते" ॥ इत्याद्या । एवमभ्युपगमान्नास्माकं सांख्यमते प्रवेशः । स्वतन्त्रमेव प्रधानं कारणमिति तत्राभ्युपगमात् ॥ ३ ॥

अच्छा ? जो शरीर व्यक्त है उसे अव्यक्त शब्द से किस प्रकार कहा जा सकता है इस प्रकार की आशङ्का का उत्तर देते हैं-शंका निरास के लिये तु शब्द है । कारण रूप सूक्ष्मशरीर यहाँ विवक्षित होता है । कारण यह है कि सूक्ष्मशरीर का ही अव्यक्तत्व योग्य है । "प्रलयकाल में यह परिदृश्यमान स्थूल जगत् सूक्ष्मभाव से प्रकृति में विलीन होकर अव्यक्त बीजशक्ति की अवस्था में रहता है" इत्यादि श्रुति में भी सूक्ष्मशरीर की अव्यक्तशब्द-योग्यता दिखलायी है ॥ २ ॥

यहाँ आशंका हो सकती है कि यदि कार्य्य में अनुप्रविष्ट सूक्ष्मशरीर का ही कारणत्व स्वीकार किया जाता है तो उससे प्रधान का बोध होता है । क्योंकि सांख्यकक्षा में प्रधान का ही उस प्रकार निरूपण किया गया है । इसके उत्तर में कहते हैं ।

परम कारण स्वरूप ब्रह्म के अधीन होने के कारण प्रधान स्वकार्य्य उत्पादन करने में फलवान् होता है । और वह प्रधान पुरुष के ईक्षण में ही स्वकार्य्य में प्रवर्त्तित होता है । किन्तु स्वतन्त्रभाव से प्रवर्त्तित नहीं हो सकता है । कारण यह है कि प्रधान जड़ वस्तु है । इस विषय में श्वेताश्वतर श्रुति कहती है-"प्रकृति तो माया है और प्रकृति का अधिपति ईश्वर ही मायी है । मायीपुरुष माया के द्वारा इस जगत् की सृष्टि करता है । जो एक और अवर्ण होकर भी विविध आकार से भासमान अपनी शक्ति के द्वारा "इसको इस प्रकार करूँगा" इस तरह प्रयोजन के लिये अनेक वर्णों की सृष्टि करता है । स्मृति में भी कहा है—"वह ईश्वर श्रीहरि ही पुनर्व्वार सृष्टिकार्य्य में अभिलाष करने वाली, क्षुब्धा, महदादि कार्य्य में नियोजिता और जीवगणों को भी मोहन करने वाली अपनी शक्ति स्वरूप प्रकृति को नाम रूप से रहित जीव में देवादि मूर्त्ति रूप और नाम समूह प्रदान करने के लिये प्रेरणा करते हुए स्वयं उसका अनुसरण करते हैं । पहिले कर्म्म, ज्ञान और भक्ति की सिद्धि के लिये तत्प्रतिपादक वेदादिक शास्त्र समूह को प्रकट करते हैं । श्रीहरि सृष्टिकाल में अपनी इच्छा के अनुसार प्रधान और पुरुष में अनुप्रविष्ट होकर सविकार, निर्विकार दोनों को क्षोभित करते हैं । मत् कर्त्तृक अधिष्ठिता वही प्रकृति सचराचर जगत् की सृष्टि करती है । हे कौन्तेय ! इस कारण से जगत् की बारबार सृष्टि होती है । इस विचार से हम सब सांख्यमत में प्रवेश नही करते हैं । सांख्य के मत में प्रधान स्वतन्त्र कारण है ॥ ३ ॥

इतोऽपि न प्रधानमव्यक्तशब्दवाच्यमित्याह ।

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ ४ ॥

गुणपुरुषान्यताप्रत्ययात् कैवल्यमिति वदन्तः सांख्याः प्रधानस्य ज्ञेयत्वं स्मरन्ति क्वचन विभूतिविशेषलाभाय च, न त्वत्र तदस्ति तदुपस्थापकशब्दाभावात् ॥ ४ ॥

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥ ५ ॥

ननु ज्ञेयत्वावचनमप्रसिद्धम् । यतो "ऽशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् । तथा रसं नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यत"इति परवाक्यं निचाय्येति तस्य ज्ञेयत्वं वदतीति चेन्न । कुतः ? हि यस्मात् तत्र प्राज्ञः परमात्मैवोच्यते । "पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः । एष सर्व्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते"इति तस्यैव प्रकृतत्वात् ॥ ५ ॥

इतोऽपि प्रधानं तद्वाच्यं नेत्याह ।

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ ६ ॥

चकारः शङ्काहानाय । यदस्यां कठवल्ल्यां त्रयाणामेव पितृप्रसादस्वर्गाग्न्यात्मनामेवं ज्ञेयत्वेनोपन्यासः प्रश्नश्च त्रयाणामेव तेषां वीक्ष्यते, नान्यस्य कस्यचित् पदार्थस्य । ततो नात्र प्रधानं वेद्यम् ॥ ६ ॥

महद्वच्च ॥ ७ ॥

"बुद्धेरात्मा महान् पर" इत्यत्र यथा बुद्धिपरत्वोक्तेरात्मशब्दैकार्थ्याच्च महच्छब्देन स्मार्त्तं महत्तत्वं न गृह्यते । एवमात्मपरत्वोक्तेरव्यक्तशब्देन प्रधानं नेत्यर्थः ॥ ७ ॥

अन्योऽपि सार्त्तसिद्धान्तो निरस्यते । श्वेताश्वतरोपनिषदि पठ्यते । "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां

परवर्ती कारण से भी प्रधान अव्यक्त शब्द वाच्य नहीं हो सकता है । सांख्यवाले कहते हैं "प्रकृति और पुरुष के विवेक से जीव की मुक्ति होती है, अतः प्रधान ज्ञेयवस्तु है । कहीं विभूति विशेष लाभ के लिये इस प्रकार कहा जाता है । किन्तु यहाँ वह बात नहीं आती है । क्योंकि यहाँ विभूति-बोधक शब्द का अभाव है, केवल मात्र अव्यक्त शब्द का उल्लेख है ॥ ४ ॥

अच्छा ? यदि कहते हो अव्यक्त प्रधान का ज्ञेयत्व न कहना अप्रसिद्ध है । क्योंकि "अशब्द, अस्पर्श, अरूप अव्यय, सर्वज्ञ एकरस, नित्य, अगन्ध, अनादि, अनन्त, महत का भी पर इस वस्तु को जानने से जीव अमरत्व लाभ करता है" इत्यादि स्थल में उसका ज्ञेयत्व कहा गया है इस प्रकार नहीं कह सकते हो । कारण यह है कि इस स्थल में प्राज्ञ परमात्मा को ही कहा गया है ! "पुरुष से श्रेष्ठ कोई नहीं है पुरुष ही श्रेष्ठ है पुरुष ही परमगति है । वह समस्त भूतों में गुप्त भाव से रहकर निजस्वरूप को प्रकाशित नहीं करता है" इत्यादि स्थल में प्राज्ञ पुरुष ही कहा गया है ॥ ५ ॥

अतएव प्रधान किसी प्रकार से भी अव्यक्त शब्द वाच्य नहीं हो सकता है । कठवल्ली में भी कहा गया है कि पितृप्रसाद, स्वर्ग लाभ का हेतु अग्निविद्या और आत्मविद्या, ये तीनों ज्ञेयत्व रूप हैं तथा प्रश्न के विषय भी हैं । और किसी पदार्थ को नहीं कहा गया है । अतएव यहाँ प्रधान वेद्य नहीं जानना चाहिए ॥ ६ ॥

जैसे "बुद्धि से महान् आत्मा श्रेष्ठ है"—यहाँ बुद्धि से श्रेष्ठ कहने के कारण और आत्मा शब्द के साथ एकार्थता होने के कारण महत्शब्द से स्मृतिकथित महत्तत्व का ग्रहण नहीं कर सकते हो उसी प्रकार आत्मा से श्रेष्ठत्वकहने के कारण अव्यक्त शब्द से प्रधान को ग्रहण नहीं कर सकते हो ॥ ७ ॥

बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य" इति । किमत्र स्मृतिसिद्धा प्रकृतिरजा किम्वा ब्रह्मात्मिका वैदिकीति सन्देहे अजामित्यकार्य्यत्वस्य बह्वीः प्रजाः सृजमानामिति स्वातन्त्र्येण सृष्टेश्च प्रत्ययात् स्मृतिसिद्धेति प्राप्ते ।

चमसवदविशेषात् ॥ ८ ॥

वदतीति सूत्रान्तेत्यनुवर्त्तते । नात्र स्मृतिसिद्धा सा शक्या ग्रहीतुं । कुतः ? अविशेषात् । न जायत इति व्युत्पत्त्याऽजात्वमात्रप्रतीतेस्तस्या ग्रहणे विशेषहेत्वभावादित्यर्थः । दृष्टान्तश्चमसवदिति । यथा बृहदारण्यके अर्वाग्बिलचमसश्चम्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या यज्ञीयभक्षणसाधनत्वमात्रप्रतीतेर्न सोऽयं चमसविशेष इति शक्यते ग्रहीतुम् । यौगिकशब्देष्वर्थप्रकरणादिकं विनाऽर्थविशेषानिश्चयात् तद्वत् । तस्मादत्र मन्त्रे स्मृतिसिद्धा प्रकृतिर्न ग्राह्या अर्थप्रकरणादेरप्यभावात् । नापि स्वातन्त्र्येण सृष्टेः प्रत्ययः, प्रजाः सृजमानामिति तन्मात्रप्रतीतेः ॥ ८ ॥

वैदिकी ब्रह्मशक्तिस्तु ग्राह्या विशेषहेतुसत्त्वादित्याह ।

ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥ ९ ॥

तु शब्दो निश्चये । ज्योतिर्ब्रह्म । "तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरि"त्यादिश्रुतिप्रसिद्धेः । तदेवोपक्रमः कारणं यस्याः सा ब्रह्मकारणैवेयमजा ग्राह्या चमसवदन्यतोऽस्या विशेषबोधादिति । तत्र यथा "इदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्-बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न" इति वाक्यशेषात् शिरोरूपश्चमसविशेषो निश्चितस्तथाऽस्यामपि प्रथमेऽध्याये अजाम-न्त्रान्विते,चतुर्थे च शक्तेः प्रक्रमात् ब्रह्मशक्तिरूपो विशेष इति । अत्र पूर्वत्र "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्म-

---

अन्य स्मार्त्त सिद्धान्त का भी निराकरण किया जाता है । श्वेताश्वतर उपनिषद् में पाठ है कि"एक तो जन्मरहित मायाधीन जीव, त्रिगुणमयी, वहु पुरुष सृष्टि करने वाली, अजा माया को आत्मीय बोध कर तद्गत सुख दुःखादिकों का भोग करता है । अन्य भुक्तभोगा माया के अधीश ईश्वर, माया का त्याग कर अपने स्वरूप में अवस्थान करता है"। यहाँ संशय यह है कि अजा शब्द से स्मृतिसिद्धा प्रकृति किम्वा वैदिकी ब्रह्मात्मिका-शक्ति इनमें से किसी का बोध होता है । "अजा" शब्द के प्रयोग के कारण अकार्य्या अर्थात् कारणभूता, "स्वरूप [illegible]" शब्द से विशेषित होने के कारण स्मृतिसिद्धा प्रकृति का ही बोध कराता है । इस [illegible] स्मृतिसिद्धा प्रकृति [illegible] आशय यह है कि जिसका [illegible] में कोई विधान नहीं [illegible] का बोध नहीं करा सकता है । बृह-[illegible] भोजनपात्र का बोध होता है किसी विशेष [illegible] से स्मृतिसिद्ध प्रकृति का बोध नहीं है । क्योंकि प्रकृति के बोध के पक्ष में कोई अर्थ किम्वा कोई प्रकरण दिखलायी नहीं देता है । स्वतन्त्र सृष्टि का भी बोध नहीं होता है कि जिससे प्रकृति का बोध हो । यहाँ केवल प्रजासृष्टि का ही [illegible] है । सृष्टि के स्वातन्त्र्य किम्वा अस्वातन्त्र्य का कोई उल्लेख नहीं है ॥८॥

अधिकत: हेतु विशेष वश वैदिकी ब्रह्मशक्ति का ही बोध होता है उसे कहते हैं—

'तु' शब्द निश्चय अर्थ में है । "ज्योतिः शब्द से श्रुतिप्रसिद्ध, ज्योतिः पदार्थ का भी प्रकाशक,ब्रह्म है । ज्योतिः शब्द से उपक्रम होने के कारण अजा शब्द के द्वारा ब्रह्म की शक्ति का बोध होता है । चमस वाक्य में जिस प्रकार चमस शब्द द्वारा चमस भिन्न वस्तु से उसका विशेष कहा गया है यहाँ भी [illegible] जानना चाहिए । और भी चमस वाक्य में जिस प्रकार चमस शब्द से वाक्य शेषस्थ शिरः शब्द के [illegible] रूप

शक्तिं स्वगुणैर्निगूढा"मिति । परत्र तु य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगादि"ति । अथैतस्या ग्रहणे प्रमाणान्तरं च दर्शयति तथा हीति । हिर्हेतौ । यस्मादेके शाखिनस्तथाऽधीयते "तस्मादेतत् ब्रह्मनामरूपमन्नं च जायत" इति प्रकृतिमीश्वरोत्पन्नां पठन्ति । ब्रह्मशब्दवाच्यमत्र प्रधानं त्रिगुणावस्थं ग्राह्यं "मम योनिर्महद्ब्रह्मे"ति स्मृतेः ॥९॥

ननु कथमस्याः प्रकृतेरजात्वं, अजायाः पुनः कथं ज्योतिरुत्पन्नत्वमित्याशङ्क्य समाधत्ते ।

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥ १० ॥

च शब्देन शङ्का निरस्यते । तद्द्वयमस्याः सम्भवति । कुतः कल्पनेति । कल्पनं सृष्टिः । "यथापूर्व-मकल्पयत्" इति प्रयोगात् । तमः शक्तिकाद् ब्रह्मणः प्रधानोत्पत्तिकथनादित्यर्थः । इदमत्र तत्त्वम् । तमोऽभिधानाऽति-सूक्ष्मा नित्या च परस्य शक्तिरस्ति । "तम आसीत् तमसा गूढमग्रे प्रकेतं यत्र तमस्तन्न दिवा न रात्रि"रिति "गौरनाद्यन्तवती"त्यादि श्रुतेः । सा किल प्रलये तेन सहैक्यं गता, न तु तत्र विलीना तिष्ठति । "पृथिव्यप्सु प्रलीयत" इत्यादिश्रुत्या पृथिव्यादीनामक्षरान्तानां तमसि लयकथनात् तमसस्तु परस्मिन्नैक्यकथनात् । तदैक्यं नामातिसौक्ष्म्याद्विभागानर्हत्वमेव नान्यत् । इतरथा तम एकीभवतीति च्विप्रत्ययासामञ्जस्यात् । अथ सिसृक्षोः परस्माद्देवात्तमःशक्तिकात् त्रिगुणावस्थमव्यक्तमुत्पद्यते । "महानव्यक्ते लीयते, अव्यक्तमक्षरे, अक्षरं तमसी"ति श्रुतेः । "तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तमे"इत्यादिस्मृतेश्च । ततस्तु महदादेः सर्गः । तेन प्रधानकल्पनोप-देशेन कारणरूपा कार्य्यरूपा चेति व्यवस्था प्रकृतिसिद्धा । प्रधानपुंसोरजयोः कारणकार्य्यभूतयोरि"ति स्मृतेश्च ।

चमस विशेष का बोध होता है यहाँ भी उसी प्रकार शक्ति के प्रक्रम होने के कारण ब्रह्म शक्ति रूप किसी विशेष शक्ति का बोध हो रहा है । पहिले "हे देव ! तुम्हारा ध्यान करने वाले व्यक्ति तुम्हारे गुण समूह के द्वारा तुम्हारी अप्रकाशित शक्ति को देखता है" । पश्चात् " तुम् एक और वर्ण रहित होकर भी अपनी शक्ति के द्वारा ब्राह्मणादि वर्ण समूह की सृष्टि करते हो" इत्यादि श्रुति में प्रकृति को ईश्वर की शक्ति एवं ईश्वर से उत्पन्न कहकर व्याख्या करते हैं। सुतरां यहाँ ब्रह्मशब्द से त्रिगुणावस्थ प्रधान ही व्यक्त है । गीता में कहा गया है—"त्रिगुणात्मक ब्रह्म अर्थात् प्रधान मुझसे उत्पन्न है ॥ ९ ॥

अब ईश्वर से उत्पन्न प्रकृति का अजात्व, और अजा होकर भी ज्योतिरूप ब्रह्म से उत्पन्न होना किस प्रकार सम्भव है इस प्रकार की आशंका का समाधान करते हैं ।—

प्रकृति में दोनों सम्भव हैं । कारण यह है कि तमः शक्ति विशिष्ट ब्रह्म से प्रधान की उत्पत्ति कही गयी है । तमः शब्द वाच्या, अत्यन्त सूक्ष्मा, नित्या परमेश्वर की शक्ति है । श्रुति में कहा है—"सृष्टि के पहिले तमः शक्ति विशिष्ट ब्रह्म के साथ उनकी सूक्ष्मतमःशक्ति एक होकर अवस्थिता थी । उस समय समस्त तमोमय था । तब क्या दिन क्या रात कोई भेद प्रतीत नहीं होता था । प्रलयकाल में वही शक्ति ब्रह्म के साथ एक होकर रहती है किन्तु ब्रह्म में विलीन नहीं होती" । "पृथिवी जल में विलीन होती है" इत्यादि श्रुति में पृथिवी से लेकर अक्षर पर्य्यन्त का लय होना कहा गया है । तमः शक्ति का लय नहीं कहा गया है किन्तु उसका ऐक्य प्राप्त होना कहा गया है । अति सूक्ष्मता के वश विभाग की अयोग्यता ऐक्य शब्द से व्यक्त होती है । सिसृक्षु (सृष्टि करने की इच्छा वाला) शक्ति-विशिष्ट परमेश्वर से त्रिगुणावस्थ अव्यक्त की उत्पत्ति होती है । महत्तत्व उक्त अव्यक्त में लीन होता है । अव्यक्त अक्षर में और अक्षर तमःशक्ति में ही लीन होता है" । इत्यादि श्रुति से इसका बोध हो रहा है । स्मृति में भी कहा है ।—"अक्षर से त्रिगुणात्मक अव्यक्त की, अव्यक्त से फिर महदादि की उत्पत्ति है" । अतएव प्रधान सृष्टि उपदेश से प्रकृति का कार्य्यत्व और कारणत्व दोनों सिद्ध हुए हैं । स्मृति भी कहती है—प्रधान,पुरुष (जीव) दोनों जन्म रहित और कारणरूप ब्रह्म के कार्य्यरूप हैं । प्रलयकाल में अत्यन्त सूक्ष्मता के कारण तमःशब्द

सृष्टिकाले तूद्भूतसत्त्वादिगुणा विभक्तनामरूपा प्रधानाव्यक्तादिशब्दिता लोहिताद्याकारा ज्योतिरुत्पन्नेति । दृष्टान्तमाह । मध्वादिवदिति । यथादित्यः कारणावस्थायामेकीभूतः कार्य्यावस्थायां वस्वादिभोग्यमधुत्वेनोदयास्तमयत्वेन च कल्प्यमानोऽपि न विरुध्यते तद्वत् ॥ १० ॥

बृहदारण्यके "यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः । तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृत"मिति श्रूयते । किमत्र कापिलतन्त्रोक्तानि पञ्चविंशतितत्त्वानि ज्ञेयानि किंवा पञ्चैव केचिदन्ये, इति वीक्षायां बहुव्रीहिगर्भकर्म्मधारयविशिष्टात् पञ्चपञ्चजनशब्दात् पञ्चविंशतिपदार्थप्रतीतेः कापिलोक्तान्येव तानि ग्राह्याणि । आत्माकाशयोरतिरेकस्तु कथञ्चिन्निवर्त्तनीयः । जनशब्दस्तत्त्ववाचीत्येवं प्राप्ते ।

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च॥ ११ ॥

अपि शब्दः सम्भावनायाम् । संख्याग्रहणेनापि न तान्यत्र प्रतिपादयितुं शक्यन्ते । कुतः ? नानेत्यादेः । नानाभूतेषु तेष्वनुगतधर्म्माभावेन पञ्चताया ग्रहीतुमशक्यत्वात् । आत्माकाशयोः पृथङ्निर्देशेन सप्तविंशतितत्त्वापत्तेश्च । न हि पञ्चद्वयश्रुतिमात्रेण भ्रमितव्यं । कस्तर्हि निर्णयः ? । उच्यते । पञ्चजनशब्दोऽयं समस्तः सप्तर्षिशब्दवत् संज्ञावाचकः । दिक्संख्ये संज्ञायामिति पाणिनिस्मरणात् । यथा सप्तर्षयः सप्तेत्येकैकोऽपि सप्तर्षिसंज्ञस्तथा पञ्चजनाः पञ्चेत्येकैकोऽपि पञ्चजनसंज्ञ इत्यर्थः । ततश्च पञ्चजनसंज्ञकाः पञ्च पदार्था इति सुष्ठु ॥११॥

के ते इत्यपेक्षायामाह ।—

वाच्या मूलप्रकृति विभाग शून्य होकर अजा नाम से अभिहित होती है । सत्वादि गुण-समूह का उस समय प्रकाश नहीं होता है । सृष्टिकाल में सत्वगुण-समूह उत्पन्न होते हैं । उस समय नाम रूप का विभाग होता है । तब वह प्रधान अव्यक्तादि शब्द से कही जाती है । जो मूलप्रकृति है सो लोहितादि आकार को धारण करती है तथा जो ब्रह्म से उत्पन्न और अजा नाम से अभिहिता होती है"। इस विषय में दृष्टान्त है यथा—आदित्य जिस प्रकार कारण-अवस्था में एकीभूत रूप से और कार्य्यावस्था में वसु प्रभृति देवताओं का भोग्य मधु रूप से तथा उदय और अस्तमयादि रूपसे कल्पित होनेपर भी वहाँ कोई विरोध नहीं है ठीक उसी प्रकार यहाँ भी कोई विरोध नहीं है॥१०॥

अब आशंका यह है—"बृहदारण्यक श्रुति में कहा गया है "जिसमें पाँच पाँच जन और आकाश प्रतिष्ठित हैं । वह आत्मा है उसको जानने से मुक्ति होती है" । यहाँ पञ्च पञ्च शब्द से पञ्चविंशति और जनशब्द से तत्व इस प्रकार अर्थ बोध होता है किम्वा पंच शब्द से पाँच और पञ्चजन शब्द से किसी संज्ञा विशेष का बोध होता है । बहुव्रीहि गर्भित कर्म्मधारय समास से पञ्च पञ्च शब्द के द्वारा पाँच गुण प्राप्त पाँच अर्थात् पच्चीस एवं जन शब्द से तत्व का बोध कराकर सांख्योक्त पच्चीसतत्व का निर्देश होता है उसके उत्तर में कहते हैं ।—

उक्त प्रकार से पच्चीससंख्या सिद्ध होने पर भी उससे सांख्योक्त पच्चीसतत्व का ग्रहण नहीं किया जा सकता है । क्योंकि तत्व अनेक हैं । अनेक भूतों में अनुगत धर्म्म के अभाव के कारण एक एक तत्व पाँच पाँच करके पच्चीस तत्व होते हैं इस प्रकार अर्थ नहीं कर सकते हो । और इस प्रकार अर्थ न करने से भी पच्चीस तत्व सिद्ध नहीं होते हैं । किन्तु आत्मा और आकाश का पृथक नाम होने के कारण सत्ताईस तत्व ही हो जाते हैं । दो पंच शब्द को सुनकर जैसा-तैसा भ्रमात्मक अर्थ नहीं कर सकते हो । यहाँ पञ्चजन शब्द से समास में सप्तर्षि की भाँति संज्ञामात्र का बोध करा रहा है । सप्तर्षि के अन्तर्गत एक एक ऋषि जिस प्रकार सप्तर्षि पद से कहे जाते हैं यहाँ ठीक उसी प्रकार पञ्चजन का एक एक पञ्चजन संज्ञक है । अतएव पञ्चजन नामक पाँच पदार्थ ही "पञ्च पञ्चजन" शब्द का प्रकृत अर्थ है ॥ ११ ॥

अब पञ्चजन शब्द से किसका बोध कराता है उसे कहते हैं—

प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥ १२ ॥

"प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुरि"त्यस्मात् प्राणादयः पञ्च ते बोध्याः ॥ १२ ॥

नन्वेतन्माध्यन्दिनानां सङ्गच्छते न तु काण्वानां तेषामन्नपाठाभावादित्याशङ्क्य समाधत्ते ।

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥ १३ ॥

एकेषां काण्वानां पाठे अन्ने असत्यपि ज्योतिषा पञ्चसंख्या सम्पद्यते । यस्मिन् पञ्चेत्यतः पूर्व्वं "तद्देवा ज्योतिषां ज्योति"रिति ज्योतिषः पठितत्वात् । इहोभयेषां ज्योतिर्मन्त्रे तुल्येऽपि सति ज्योतिर्ग्रहणाग्रहणमपेक्ष्य सत्त्वासत्त्वनिबन्धनं बोध्यम् ॥ १३ ॥

पुनरपि सांख्यः शङ्कते । वेदान्तेषु ब्रह्मैककारणं विश्वमिति न शक्यते वक्तुं तेष्वेककारणिकायाः सृष्टेरदर्शनात् । एकत्र "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत" इत्यादिना सृष्टिरात्महेतुका प्रदर्श्यते । "असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत तदात्मानं स्वयमकुरुते"त्यसद्धेतुका च । अन्यत्र क्वचिदाकाशहेतुका सृष्टिः पठ्यते "अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाचे"त्यादिना । क्वचित् प्राणहेतुका "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ती"त्यादिना । क्वचिदसद्धेतुका "असदेवेदमग्र आसीत् तत्समभवदि-त्यादिना । क्वचित्तु सद्धेतुका "सदेव सौम्येदमग्र आसीदि"ति । क्वचित् "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते"त्यव्याकृतहेतुका च प्रोच्यते । एवमन्यत्रापि सानेकधा । तदेवं तेष्वेकस्य हेतोरनिरूपणात् ब्रह्मैकहेतुकं विश्वमिति न शक्यते निश्चेतुं किंतु प्रधानैकहेतुकं तन्निश्चेतुं शक्यते तद्धेदं तर्हीत्यादिश्र-

---

"प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रवण का श्रवण, अन्न का अन्न, मन का मन" इत्यादि श्रुति के अनुसार पञ्चजन शब्द से प्राणादि प्रसिद्ध पाँच पदार्थ का बोध कराता है ॥ १२ ॥

अच्छा ? इस प्रकार का अर्थ माध्यन्दिनगण का संगत होता है किन्तु अन्नशब्द के अभाव के कारण काण्वगण के पक्ष में असंगत है" ऐसी आशंका कर उसका समाधान करते हैं ।

काण्वगण के पाठ में अन्नशब्द न रहने से भी ज्योतिः शब्द से पाँच संख्या की पूर्त्ति होती है, कारण यह है कि "जिसमें पाँच है" इस प्रकार वचन के पहिले "वे समस्त देवता ज्योतिः पदार्थ के प्रकाशक ब्रह्म की उपासना करते हैं" इस प्रकार ज्योतिः शब्द का वचन देखा जाता है । अतः इस स्थल में दोनों की ज्योतिर्म्मन्त्र में समानता होने पर भी ज्योतिः शब्द का ग्रहण और अग्रहण के कारण पाठ में पञ्चसंख्या के सत्व असत्व का निबन्धन स्थिर हुआ है यह जानना चाहिए ॥ १३ ॥

फिर सांख्य मत को उठाकर शंका करते हैं । वेदान्त में जिस ब्रह्म को विश्व का एकमात्र कारण कह कर निर्देश करते हैं वह संगत नहीं होता है । क्योंकि वेदान्त में सृष्टि के सम्बन्ध में अनेक कारण देखने में आते हैं । एक स्थान में "आत्मा से ही आकाश की उत्पत्ति" इत्यादि वचन से आत्मा को ही सृष्टि का कारण कहा गया है अन्य स्थल पर "यह विश्व न था" "वह असत् अर्थात् शून्य से सत् की उत्पत्ति हुई" इत्यादि वचन से असत् को सृष्टि का कारण बोला गया है । फिर कहाँ पर "इस लोक का कारण कौन है" इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर में "आकाश ही कारण है" इत्यादि वचन से आकाश को सृष्टि का कारण कहा गया है । "यह समस्त भूतों का प्राण में विलय होता है" इत्यादि स्थल में प्राण को और बृहदारण्यक में "यह विश्व असत् था" इत्यादि वचन से असत् को कारण रूप कहते हैं । फिर "आगे सत् ही था" इत्यादि वचन से सत् को, और कहीं पर—"यह विश्व

वणात् । कार्य्यकारणयोः सारूप्यं खल्वस्मिन् पक्षे निर्बाधं वीक्ष्यते । इहात्माकाशब्रह्मशब्दा विभुत्वात् असत्सच्छब्दौ तस्य विकाराश्रयत्वात् नित्यत्वाच्च प्राणशब्दश्च स्वोत्पन्नतत्त्वरूपकत्वादीक्षादयोऽपि कार्य्याभिमुख्यत्वाभिप्रायेण तत्रैव योज्यास्तस्मात् सांख्योक्तं प्रधानमेव विश्वैकहेतुर्वेदान्तैरुच्यत इत्येवं प्राप्ते—

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥ १४ ॥

च शब्दः शङ्काछेदाय । ब्रह्मैव विश्वैकहेतुरिति शक्यते निश्चेतुं । कुतः ? आकाशादिषु कारणत्वेन यथाव्यपदिष्टोक्तेः । लक्षणसूत्रादिषु सार्व्वज्ञ्यसत्यसङ्कल्पादिगुणकत्वेन निर्णीतं ब्रह्म यथाव्यपदिष्टमुच्यते । तस्यैकस्यैव खादिहेतुत्वेन सर्व्वेषु वेदान्तेष्वभिधानात् । यथा सत्यं ज्ञानमनन्तमित्यादिना सार्व्वज्ञ्यादिगुणकतया निर्दिष्टं ब्रह्म तस्माद्वा एतस्मादित्यादिना कारणत्वेन विमृश्यते यथा च सदेव सौम्येदमित्यादौ तदैक्षत बहु स्यामिति तद्गुणकत्वेन निर्दिष्टं ब्रह्म तत्तेजोऽसृजतेति तत्त्वेन परामृश्यते एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । कार्य्यकारणयोः सारूप्यं तु ब्रह्मपक्षे वक्ष्यामः । आत्माकाशप्राणसद्ब्रह्मशब्दा व्याप्तिसन्दीप्तिप्राणनसत्त्ववृहद्गुणकत्वयोगान्मुख्यास्तथेक्षादयश्च ॥ १४ ॥

अथासदव्याकृतशब्दयोर्गतिमाह ।— **समाकर्षात् ॥ १५ ॥**

सोऽकामयतेति पूर्व्वसंदर्भप्रकृतस्य परमात्मनोऽसद्वा इत्यत्र आदित्यो ब्रह्मेति पूर्व्वनिर्दिष्टस्य ब्रह्मणो-

पहिले अव्याकृत था, पश्चात् प्रधान से व्याकृत हुआ" इत्यादि वचन से प्रधान को कारण कहा गया है। अतएव केवल ब्रह्म ही जगत का कारण है इसके निश्चय करने की शक्ति नहीं होती है। किन्तु पूर्व वचन के अनुसार प्रधान को ही विश्व का कारण रूप से निश्चय करके कहा जा सकता है। प्रधानपक्ष में कार्य्य और कारण की समानता निर्बाध रूप से देखी जाती है। यहाँ आत्मा, आकाश और ब्रह्म शब्द विभुत्व के कारण, असत् और सत् शब्द उसके विकार के आश्रयत्व और नित्यत्व के कारण, प्राणशब्द अपने उत्पन्न तत्व के पूरकत्व के कारण और ईक्षणादि कार्य्य का आभिमुख्याभिप्राय के कारण सबकी प्रधान में ही योजना हो सकती है। अतएव सांख्योक्त प्रधान ही विश्व का कारण है—इस प्रकार के पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं।—

"च" शब्द शङ्काच्छेद के लिये है। एकमात्र ब्रह्म ही जगत का कारण है—यह निश्चय करके कहा जा सकता है। कारण यह है कि "जन्माद्यस्य" इत्यादि ब्रह्मलक्षण सूत्र से जिस प्रकार सार्वज्ञ्यसत्यसंकल्पादिगुण विशिष्ट ब्रह्म को ही आकाशादि के कारणरूप से बोला गया है उसी प्रकार समस्त वेदान्त में तादृश गुण युक्त ब्रह्म को ही आकाशादि के कारण रूप से कहा गया है। जैसे "ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्त" इत्यादि श्रुति में ब्रह्म सार्वज्ञ्यादि गुण विशिष्ट रूप से कहा गया उसी तरह "उस ब्रह्म से आकाशादि सब की उत्पत्ति है" इत्यादि श्रुति में ब्रह्म ही कारण रूप से निर्दिष्ट हुआ है। जिस प्रकार "यह सत्स्वरूप ब्रह्म ही एकमात्र सृष्टि के पहिले विद्यमान था इत्यादि श्रुति में ब्रह्म ही ईक्षण कार्य्य के अनन्तर जगत की सृष्टि करता है अतएव वही सृष्टि कर्तृत्वादि गुण विशिष्ट रूप से अभिहित होता है उसी प्रकार "उस ब्रह्म ने ज्योतिष्कादि की सृष्टि की" इत्यादि श्रुति में वह ब्रह्म ही सृष्टिकर्तृत्वादि गुण विशिष्ट रूप से कहा गया है ऐसा बोलना चाहिए। अन्य स्थलों में भी इसी तरह समझना चाहिये। कार्य्य कारण की समानता ब्रह्मपक्ष में कहेंगे। आत्मा, आकाश, प्राण, सत और ब्रह्म शब्द क्रम से व्याप्ति, सर्वप्रकाशी, प्राणन, सत्ता और बृहद्गुणकत्व योग के कारण मुख्य हैं। ईक्षणादि शब्द भी उसी प्रकार हैं ॥ १४ ॥

अब असत् और अव्याकृत शब्द की गति निर्देश करते हैं—

[illegible] "उसने कामना की" इत्यादि पूर्वसन्दर्भ प्रकान्त परमात्मा के "वह असत्" यहाँ और "आदित्य ब्रह्म".

ऽसदेवेदमित्यत्र च समाकर्षात् तत्तच्च वाक्यं ब्रह्मपरमेव । प्राक् सृष्टेर्नामरूपाविभागात् तत्संबन्धितयास्थित्वाभावादसच्छब्देन तत्र ब्रह्मैवोक्तं । अन्यथा सदेव सौम्येत्याद्यनन्तरसम्भाविता सत्कारणताप्रत्युक्तेरासीदिति कालसंबन्धस्य च विरोधः । असन्नेव स भवतीत्यादिनासद्वादिनो विगीतत्वाच्च सूक्ष्मशक्तिकं ब्रह्मैव तदर्थः । तद्धेदं तर्हीत्यत्राप्यव्याकृतशब्देन तदन्तरालभूतं ब्रह्मैव बोध्यते । स एष इह प्रविष्टेत्यादिपरवाक्यवस्तस्याकर्षणात् तच्छक्तिकं ब्रह्मैव स्वसङ्कल्पवशात् स्वयमेव नामरूपाभ्यां व्याक्रियत इति तत्रार्थः । इतरथा वेदान्तप्रतिष्ठितत्वं गतिसामान्यं च श्रुतं व्याकुप्येत । तस्मादेकं ब्रह्मैव विश्वहेतुरिति निश्चेयम् ॥ १५ ॥

पुनरपि सांख्यं निरस्यति । कौषीतकीब्राह्मणे बालाकिना विप्रेण ब्रह्म ते ब्रवाणीति प्रतिज्ञाय अक्षतयादित्यादिषु षोडशसु पुरुषेषूक्तेषु अजातशत्रुर्नाम राजा तन्निराकृत्य स्वयमाह "यो वै बालाके एषां पुरुषाणां कर्त्ता यस्य चैतत्कर्म्म स वेदितव्य इति । तत्र सन्देहः । किमत्र प्रकृत्यध्यक्षस्तन्त्रोक्तो भोक्ता वेद्यतयोपदिश्यते उत सर्वेश्वरः श्रीविष्णुरिति । यस्य चैतत्कर्म्मेति कर्म्मसंबन्धवीक्षया भोक्तृत्वावगमात् उत्तरत्र च "तौ ह सुप्तं पुरुषमाजग्मतु"रित्यादिना । "तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते" इत्यादिना च भोक्तुरेव प्रतिपादनात् सोऽयं तन्त्रोक्तो भवेत् प्राणशब्दश्चात्र प्राणभृत्त्वादुपपद्यते । तदयमर्थः । य एषां पुरुषाणां भोगोपकरणभूतानां कर्त्ता कारणभूतस्तथा तद्धेतुभूतं पुण्यपापलक्षणं कर्म्म च यस्य, स वेदितव्यः प्रकृतिविविक्ततया ज्ञेय इति । तस्मात् तन्त्रोक्तो जीव एवास्मिन् प्रकरणे वेद्यः

इत्यादि पूर्व निर्देश ब्रह्म के "यह न था" इत्यादि स्थल में समाकर्षण के कारण ये समस्त वाक्य ब्रह्मपर हैं ऐसा जानना चाहिए। सृष्टि के पहिले नाम और रूप का अविभाग होने के कारण, नाम और रूप का ब्रह्म सम्बन्धी रूप से अनस्तित्व होने के कारण इन स्थलों में असत् शब्द के द्वारा ब्रह्म ही कहा गया है ऐसा बोलना चाहिए। नहीं तो "हे सौम्य! यह सत्" इत्यादि के अनन्तर सम्भावित असत् कारण के प्रत्याख्यान होने के कारण "था" इस वचन से काल सम्बन्ध का विरोध उपस्थित होता है। "जो असत् था वह उत्पन्न हो रहा है" इत्यादि वचन से अस्तित्व वादि की दोषापत्ति हो रही है। सुतरां असत् शब्द से सूक्ष्म शक्ति विशिष्ट ब्रह्म का ही बोध होता है। "वह यह" अर्थात् "जो असत् था वह सत् हुआ" यहाँ उक्त अव्याकृत शब्द से तन्मध्यस्थ आत्मभूत ब्रह्म का ही बोध होता है। कारण यह है कि "वही इसमें प्रवेश हुआ" इत्यादि परवर्त्ती वाक्य से ब्रह्म ही लिया जाता है। तादृश शक्ति युक्त ब्रह्म ही अपने संकल्प के द्वारा नाम रूप से प्रकाशित होता है—यह उस स्थल का अर्थ है। नहीं तो श्रुति-उक्त वेदान्त प्रतिष्ठितत्व और गति सामान्यत्व असंगत हो जाता है। इसलिये ब्रह्म ही एकमात्र विश्व का कारण हैं यह निश्चय हुआ है ॥ १५ ॥

फिर सांख्यमत का खण्डन करते हैं।—

कौषीतकी ब्राह्मण में बालाकि नामक ब्राह्मण ने "मैं तुम को ब्रह्म का विषय कहूँगा" इस प्रकार प्रतिज्ञा कर आदित्यादि षोडश पुरुषोंको ब्रह्म कह करके निर्देश किया है। उससे अजातशत्रु राजा इस मत का खण्डन कर स्वयं कहने लगा "हे बालाकि! जो इन पुरुषों का कर्त्ता एवं यह जिसका कर्म्म है वह जानने योग्य है। यहाँ संशय है कि प्रकृति का अध्यक्ष तन्त्र शास्त्र-उक्त भोक्ता जीव ही वेद्यरूप से उपदिष्ट होता है किम्वा सर्वेश्वर विष्णु ही उस रूपसे उपदिष्ट होते हैं। "जिसका यह कर्म" इस कर्म सम्बन्धसे भोक्तृत्वके बोध होने के कारण और पीछे "वे सब सुप्त पुरुष निकट गये" इत्यादि वाक्य के द्वारा भोक्ता का ही प्रतिपादन होने के कारण तत्पद से तन्त्रोक्त क्षुद्र भोक्ता जीव ही का बोध हो सकता है और उसके उद्देश्य में प्राण शब्द भी संगत होता है, क्योंकि वह प्राणभृत है। इसका तात्पर्य यह है कि जो भोगोपकरण विशिष्ट इन पुरुष समूह का कर्त्ता और भोग का हेतु रूप, पुण्य पाप जिसका कर्म्म है वह जानने योग्य है अर्थात् प्रकृति से भिन्नरूप से जानने का विषय है। अतएव इस प्रकरण में तन्त्रोक्त

प्रतिपाद्यते । ततश्च वक्तव्यतयोपक्रान्तं ब्रह्म स एव तदन्येश्वरासिद्धेः । ईक्षादयोऽपि कारणं गतास्तस्मिन्नेवोपपन्नाः तदधिष्ठाता प्रकृतिरेव विश्वजनयित्रीत्येवं प्राप्तौ ।

जगद्वाचित्वात् ॥ १६ ॥

नह्यत्र तन्त्रोक्तः क्षुद्रः क्षेत्रज्ञः प्रतिपाद्यते, अपि तु वेदान्तैकवेद्यः सर्वेश्वर एव । कुतः ? जगदिति । एतच्छब्दसहचरस्य कर्म्मशब्दस्य चिज्जडात्मकप्रपञ्चाभिधायित्वादित्यर्थः । तत्कर्तृत्वेन तस्यैव प्राप्तेः । इदमत्र-तत्त्वम् । क्रियत इति व्युत्पत्त्या कर्म्मशब्दो जगद्वाची । सति च तद्वाचित्वे तच्छब्दः सार्थकः । पुरुषमात्रकर्तृत्व-शङ्कानिवृत्त्यर्थकत्वात् । न च तन्त्रोक्तस्य कर्तृत्वमस्वीकारात् न चाध्यासात् तदसङ्गश्रुतिव्याकोपात् । तस्मात् सर्वेश्वर एव तत्कर्त्ता । एवं च मृषावादित्वमजातशत्रोर्न स्यात् । ब्रह्म ते ब्रुवाणीति प्रतिज्ञाय षोडशपुरुषान् वदतो बालाकेर्मृषैव किलेति वाक्येन मृषाभाषित्वमापाद्य स्वयं ब्रह्म विवक्षुः स चेज्जीवं ब्रूयात् तर्हि तस्यापि तत्स्यादिति । तदेवं सत्येष वाक्यार्थः । त्वया ये पुरुषा ब्रह्मत्वेनोक्तास्तेषां यः कर्त्ता ते यत्कार्य्यभूता भवन्तीत्यर्थः । नन्वेतावदेव कृत्स्नं जगद्यस्य कार्य्यं भवति स परमकारणभूतः सर्वेश्वर एव वेद्य इति ॥ १६ ॥

नन्वत्र जीवस्य मुख्यप्राणस्य च लिङ्गदर्शनात् तदन्यतरो ग्राह्य इति चेत्तत्राह ।

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ॥ १७ ॥

इन्द्रप्रतर्दनाख्यायिकायां तल्लिङ्गं निर्णीतं । तत्र किलोपक्रमोपसंहारपर्य्यालोचनेन वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वे निश्चिते

क्षुद्रजीव ही वेदितव्य करके प्रतिपादन हुआ है । वक्तव्यरूप से उपक्रान्त ब्रह्म ही वह है, कारण यह है कि तद्भिन्न ईश्वर की असिद्धि है । कारणगत ईक्षितृत्वादि धर्म्म भी उसमें उपपन्न होता है । तदधिष्ठाता प्रकृति ही विश्व की जनयित्री है । इस प्रकार पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं ।—

यहाँ तन्त्रोक्त क्षुद्र क्षेत्रज्ञ जीव प्रतिपादित नहीं हो रहा है । परन्तु एकमात्र वेदान्तवेद्य सर्वेश्वर ब्रह्म ही प्रतिपादित हो रहा है । क्योंकि यह शब्द का सहचर कर्म्म शब्द, चित् जडात्मक जगत् प्रपञ्च का बोध कराकर उसके कर्त्ता ईश्वर का ही बोध कराता है । इस विषय का सिद्धान्त यह है कि "क्रियत इति" व्युत्पत्ति के अनुसार कर्म्म शब्द से जगत् का ही बोध कराता है । जगत् शब्द के बोध से कर्म्म की सार्थकता होती है । कारण इस प्रकार के अर्थ से पुरुषमात्र के कर्तृत्व की शङ्का निरास होती है । सांख्य तन्त्रोक्त प्रधान का कर्तृत्व किसी भी प्रकार संगत नहीं हो सकता है । क्योंकि वेद में उसको स्वीकार नहीं किया गया है । प्रकृति के अध्यास से ही पुरुष के कर्तृत्व को नहीं कह सकते हो । कारण यह है कि ऐसा होने पर "पुरुष असंग है" इस श्रुति का व्याघात होता है । अतः सर्वेश्वर ही जगत्कर्त्ता हैं यह सिद्ध होता है । इस प्रकार अजातशत्रु राजा का मिथ्यावादित्व दोष भी दूर होता है । "तुमको ब्रह्म उपदेश करूँगा" ऐसी प्रतिज्ञाकर "षोडश पुरुष वक्ता बालाकि की "यह मिथ्या" इस वाक्य से मिथ्यावादित्व निर्णय कर स्वयं ब्रह्म उपदेश में प्रवृत्त होने वाले वे यदि जीव को ही उपदेश करते हैं तो मिथ्यावादी हो जाते हैं । सुतरां इस समय इस प्रकार वाक्यार्थ संगत होता है कि "तुम जिन पुरुष-समूह को ब्रह्मरूप से निर्देश करते हो वे सब ब्रह्म नहीं हैं । जो उन सब का कारण स्वरूप है वह ब्रह्म है और ये सब उसके कार्य्यभूत हैं । अतएव निखिल जगत् जिसका कार्य्यरूप है वे परमकारण सर्वेश्वर श्रीहरि ही एकमात्र वेदान्त के विषय हैं ॥ १६ ॥

अच्छा ? यहाँ मुख्यप्राण और जीव के लिंग (चिह्न) दर्शन होने के कारण उनमें से कोई एक ग्राह्य हो— इस प्रकार आशंका कर उसका समाधान करते हैं—

जीवादिलिङ्गमपि तत्परत्वेन नीतम् । इहापि ब्रह्म ते ब्रुवाणीत्युपक्रमात् । सर्व्वान् पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यमाधिपत्यं "पर्य्येति य एवं वेद" इत्युपसंहाराच्च तत्परत्वेन तन्नेयमिति । न चेदं वाक्यं प्रतर्दनाख्यान-निर्णयाद्गतार्थं "यस्य चैतत् कर्म्मे" त्यस्यापूर्व्वत्वात् ॥ १७ ॥

ननु यद्यप्येतच्छब्दान्वितात् कर्म्मशब्दात् ब्रह्मणि प्रसिद्धात् प्राणशब्दाच्चायं सन्दर्भो ब्रह्मपरः कर्तुं शक्यस्तथापि जीवसङ्कीर्त्तनादतथाभूतत्वं तस्य । न च प्रश्नव्याख्यानाभ्यां जीवान्यद्ब्रह्मात्र शक्यं मन्तुम् । तत्रापि जीवस्यैव प्रत्ययात् । स्वापाधारादिपृच्छया जीव एव पृष्ट इति सुप्तिस्थानं तु नाड्यः करणग्रामश्च प्राणशब्दिते जीव एवैकधा भवति, स एव च प्रतिबुध्यत इति व्याख्याने च प्रतीयते । तस्माज्जीवपरोऽयमिति शङ्कायां पठति—

अन्यार्थन्तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥ १८ ॥

तु शब्दः शङ्काच्छेदाय । इह जीवसङ्कीर्त्तनमन्यार्थं जीवान्यब्रह्मबोधार्थमिति जैमिनिर्मन्यते । कुतः ? प्रश्नेति । प्रश्नस्तावत् प्रबुद्धप्राणस्य सुप्तस्य प्रतिबोधने प्राणादिभिन्ने जीवे बोधिते पुनः "क्वैष एतद् बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क्व वा एतदभूत् कुत एतदागात्" इति जीवान्यब्रह्मविषयो दृश्यते । व्याख्यानमपि । "यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यति तथाऽस्मिन् प्राण एवैकधा भवति" इत्यादि । "एतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो

यहाँ मुख्य प्राणादि लिङ्ग रहने से भी जीवादि ग्राह्य नहीं हो सकते हैं । क्योंकि इससे पूर्व इन्द्र प्रतर्दन नामक आख्यायिका में (वैसा) लिङ्ग भी जीवादि पर न होकर ब्रह्म पर रूप से व्याख्यात हुआ है । यहाँ "तुम को ब्रह्म का उपदेश करूँगा" इस प्रकार उपक्रम और "जो इस प्रकार से ब्रह्म को जानता है वह समस्त पाप का नाश कर समस्त भूतों का श्रेष्ठ आधिपत्य लाभ करता है" इस प्रकार उपसंहार के होने के कारण जीवलिङ्गक शब्द का ब्रह्मपर रूप से ही अर्थ किया गया है । प्रतर्दन आख्यान निर्णय से ही उक्त अर्थ होता है ऐसा नहीं कह सकते हो, क्योंकि उक्त स्थल में कर्म्मपद का विचार नहीं है । अतएव यह नूतन विषय कहना चाहिए ॥ १७ ॥

यद्यपि उक्त शब्द के साथ अन्वित कर्म्म शब्द, और ब्रह्म में प्रसिद्ध प्राणशब्द से इस सन्दर्भ का ब्रह्म पर रूप में व्याख्यान किया जा सकता है तो भी जीव के कथन के कारण उस को ब्रह्म पर नहीं कहा जा सकता है । प्रश्न और व्याख्यान से भी जीव शब्द के द्वारा ब्रह्म का ग्रहण नहीं हो सकता है । कारण यह है कि उक्त स्थल में जीव का ही प्रत्यय हो रहा है । स्वप्न का आधारादि विषयक प्रश्न में जीव ही पूछा गया है । सुप्ति-स्थान, नाड़ियाँ व इन्द्रिय समूह प्राणशब्दित जीव में एकी भाव को प्राप्त हो रहे हैं और यह जीव ही प्रतिबोधित हो रहा है—इस प्रकार का व्याख्यान प्रतीत होता है, अतएव यह सन्दर्भ जीव पर है ऐसी आशंका के निराकरण के लिये कहते हैं—

"तु" शब्द शंकाच्छेदन के लिये है । जैमिनि कहते हैं कि जीव का कथन ब्रह्म बोध अर्थ में जानना चाहिए क्योंकि प्रश्न और व्याख्यान से ब्रह्म का ही बोध होता है । जैसे—प्रबुद्ध प्राण सुप्तजीव के प्रतिबोध में प्राणादि भिन्न जीव का ही प्रतिबोध होता है । फिर "हे बालाके ! यह पुरुष कहाँ शयन कर रहता है, वह कौन है अथवा कहाँ से प्रबुद्ध होकर आया है" ये समस्त प्रश्न ब्रह्मविषय में देखे जाते हैं । व्याख्या यथा "जब निद्रित व्यक्ति कोई स्वप्न नहीं देखता तब यह प्राण एकीभाव होकर अवस्थान करता है" इत्यादि । इस आत्मा में से प्राण समूह यथास्थान में अधिष्ठान करते हैं । प्राण में से देवतागण, देवतागण से लोक-समूह उत्पन्न होते हैं" । इस समस्त व्याख्या के द्वारा जीव से भिन्न ब्रह्म का ही बोध हो रहा है । इन स्थल में प्राण शब्द के द्वारा परमात्मा का ही बोध कराता है । कारण यह है कि वह सुषुप्ति के आधाररूप से प्रसिद्ध है । जीव-समूह इस प्राण शब्दप्राप्त

देवा देवेभ्यो लोका" इति च जीवान्यदेव ब्रह्म गमयति। प्राणोऽत्र परमात्मा,तस्यैव सुषुप्त्याधारत्वप्रसिद्धेः। तत्रैव जीवादीनां लयो निष्क्रमश्च तस्मात्। नाडीनां तु सुप्तिस्थानगमनाय द्वारमात्रता वक्ष्यते। जागराच्छ्रान्तो जीवो यत्र स्वपिति पुनरपि भोगाय यस्मान्निःसरति सोऽयं परमात्माऽत्र वेद्य इति। अपि चैवमेके वाजसनेयिनोऽस्मिन्नेव बालाक्यजातशत्रुसम्वादे विज्ञानमयशब्देन जीवमभिधाय ततो भिन्नं ब्रह्मामनन्ति। "य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत् कुत एतदागात्"इति प्रश्ने,"य एषो ऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते" इति व्याख्याने च। तस्मात् सर्वेश्वर एवात्र वेद्यतयोपदिश्यत इति ॥ १८ ॥

बृहदारण्यके याज्ञवल्क्यो मैत्रेयीं स्वभार्यामुपदिशति। "न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति" इत्युपक्रम्य न वा अरे सर्व्वस्य कामाय सर्व्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्व्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन इदं सर्व्वं विदित"मिति। तत्र संशयः। किमस्मिन् वाक्ये द्रष्टव्यत्वेन तन्त्रोक्तो जीवात्मोपदिश्यते किं वा परमात्मेति। तत्रोपक्रमे पतिजायादिप्रीतिसंसूचनेन मध्ये "एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्यसंज्ञाऽस्ती"त्युत्पत्तिविनाशयोगेन संसारिस्वभावप्रतीतेरुपसंहारे "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" इति विज्ञातृत्वोक्तेश्च तन्त्रोक्तः स्यात्। आत्मविज्ञानेन सर्व्वविज्ञानं तु भोग्यजातस्य भोक्त्रर्थत्वादौपचारिकं भवेत्। न तु "अमृतत्वस्य तु नाशोऽस्ति वित्तेन" इत्यादिना अमृतत्वलाभोपायोपदेशात् कथमस्य वाक्यस्य जीव-

---

परमात्मा में ही विलीन होता है और उसमें से उत्क्रमण करता है। नाड़ी-समूह सुषुप्तिस्थान गमन का द्वार मात्र रूप से कहा जाता है। जागरादि (जगने आदि) में श्रान्त जीव-समूह जिसमें शयन करता है और पुनर्वार भोग के निमित्त जिसमें से निकलता है, वह परमात्मा है और वह जानने का योग्य है। और और श्रुति में इस प्रकार कहा है। वाजसनेयी श्रुतियाँ इस बालाकि और अजातशत्रु के संवाद में विज्ञानमय शब्द से जीव के ही अभिधान पूर्वक उसमें से भिन्न रूप में ब्रह्म का निर्देश करती हैं। जो यह विज्ञानमय पुरुष है वह सुषुप्तिकाल में कहाँ रहता है और कहाँ से वह पुनर्वार आता है—इस प्रकार प्रश्न कर उसके उत्तर में हृदय के अन्तर्वर्त्ती आकाश-मध्य में शयन किया हुआ है इस प्रकार की व्याख्या करते हैं। अतएव इन स्थलों में सर्वेश्वर परमात्मा ही वेद्यस्वरूप में उपदेश प्राप्त हो रहा है ॥ १८ ॥

फिर बृहदारण्यक श्रुति में याज्ञवल्क्य ऋषि अपनी भार्य्या मैत्रेयी को उपदेश देते हैं "अरे! पतिके प्रिय साधन करने से पति प्रसन्न नहीं होता है" इस प्रकार उपक्रम प्रारम्भ कर फिर याज्ञवल्क्य ने कहा कि "किसी की भी प्रीति के लिये कोई प्रिय नहीं होता है किन्तु परमात्माकी प्रीति से सब प्रिय होते हैं। आत्मा ही द्रष्टव्य,आत्मा ही श्रोतव्य और निधिध्यासितव्य है। हे मैत्रेयी! आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान के द्वारा ही समस्त विदित हो जाता है"। यहाँ संशय होता है कि इन वाक्यों से जो द्रष्टव्य रूप से उपदिष्ट हो रहा है वह जीवात्मा है किम्बा परमात्मा है। उपक्रम में पति-जायादि की प्रीति सूचना के द्वारा मध्यस्थल में "इन समस्त भूतों से उत्पन्न होकर भूतों के साथ विनष्ट हो जाता है, प्रेतरूप में स्थित उसकी देवमानवादि रूप कोई संज्ञा नहीं है" इस प्रकार उत्पत्ति विनाश योग से संसारित्व स्वभाव की प्रतीति के कारण और उपसंहार में "अरे! यह विज्ञातृस्वरूप वस्तु को किस उपाय से जानना होगा" इस प्रकार विज्ञातृत्व धर्म्म के वचन के कारण तन्त्रोक्त जीव ही यहाँ बोध होता है। भोक्ता को जानने पर जिस प्रकार भोग्यवस्तु का जानना होता है उसी प्रकार आत्मा के ज्ञान से सबका ज्ञान होना गौण रूप है। "अमृतत्वस्य तु नाशोऽस्ति वित्तेन" इत्यादि श्रुति में परमात्मा के ही ज्ञान से मोक्ष होता है, इस प्रकार जो उपदेश हुआ है उस पर भी इन वाक्यों से जीवपरत्व निरस्त नहीं होता है। क्योंकि प्रकृति से

परत्वमिति, तस्यैव प्रकृतिविमुक्तस्य ज्ञानेन तत्त्वसम्भवात्। एवमन्यान्यपि ब्रह्मलिङ्गानि कथञ्चिदत्रैव नेयानि। तस्मादत्र जीवात्मोपदिश्यते। तदधिष्ठिता प्रकृतिर्विश्वकारणमिति प्राप्ते।

वाक्यान्वयात् ॥ १६ ॥

अत्र परमात्मैवोपदिश्यते न तु तन्त्रोक्तो जीवः। कुतः? पूर्व्वापरपर्य्यालोचनायां कृत्स्नस्य वाक्यस्य तत्रैव सम्बन्धात् ॥ १६ ॥

तमेतं प्रतिज्ञातं वाक्यान्वयं त्रिमुनिसम्मत्याऽपि द्रढयति।

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥ २० ॥

आत्मनो विज्ञानेन सर्व्वं विदितमिति या प्रतिज्ञा सैवास्यात्मनः परात्मत्वसिद्धेर्लिङ्गमित्याश्मरथ्यो मन्यते। नह्यात्मविज्ञानेन सर्व्वविज्ञानमुपदिष्टं। अन्यत्र परमकारणविज्ञानात् तत् सम्भवेत्। न चैतदौपचारिकं शक्यं वक्तुम्। आत्मविज्ञानेन सर्व्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय ब्रह्म तं परादित्यादिना तस्यैवात्मनो ब्रह्मक्षत्रादिविश्वाश्रयतायाः सर्व्वरूपतायाश्चोक्तत्वात्। न हि सा सा च परस्मादन्यत्र सम्भवेत्। न च"तस्य वा एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसित"-मित्यादिदर्शितकृत्स्नजगत्कारणता तदन्यस्मिन् कर्म्मवश्ये पुंसि शक्या व्याख्यातुम्। न चानादृत्य वित्तादिकं मोक्षोपायं पृच्छतीं मैत्रयीं स्वपत्नीं प्रति ब्रह्मान्यं जीवं ब्रुवन्नाप्तः। तज्ज्ञानेन मोक्षाभावात्। तमेव विदित्वेति ब्रह्मज्ञानेनैव मोक्षश्रवणात्। तस्मादयं परमात्मैवेति ॥ २० ॥

ननु जीवोऽयमात्मा पत्यादिप्रियतासंसूचनेन संसारप्रत्ययात्। न चात्र वाक्यप्रतिज्ञानुपरोधार्थमात्मनस्तु कामायेत्यत्रात्मशब्देन परमात्मानं व्याख्याय तत्राराधकगतं सर्व्वकर्त्तृकं सर्व्वकर्म्मकं वा प्रीणनं विवक्षणीयम्।

वियुक्त जीव की ही ज्ञान से मुक्ति की सम्भावना होती है। इस तरह अन्यान्य ब्रह्मलिङ्गसमूह का भी किसी किसी रूप से हो जीव में समन्वय करना होगा। अतएव यहाँ जीवात्मा ही उपदिष्ट हो रहा है और तदधिष्ठित प्रकृति ही विश्व का कारण है—इस तरह की उठी हुई शङ्का का निराकरण करते हैं—

यहाँ परमात्मा ही उपदिष्ट हो रहा है। तन्त्रोक्त जीव नहीं है। क्योंकि पूर्व्वापर पर्य्यालोचना के द्वारा समस्त वाक्यों का परमात्मा में ही समन्वय होता है ॥ १६ ॥

इस प्रतिज्ञात समन्वय को फिर अन्यान्य मुनिगण की सम्मति से दृढ़ करके दिखाते हैं—

"आत्म विज्ञान से समस्त विज्ञान होता है" इस तरह जो प्रतिज्ञा है वह आत्मा की परमात्मत्व सिद्धि का लिङ्ग है ऐसा आश्मरथ्य मुनि कहते हैं। जिस आत्मा के विज्ञान से सर्व्वविज्ञान होगा वह अवश्य परम कारण होगा अन्यथा और किसी के विज्ञान से सर्व्व विज्ञान सिद्ध नहीं हो सकता है। उस को औपचारिक नहीं कह सकते हो क्योंकि आत्म-विज्ञान के द्वारा सर्व्व विज्ञान की प्रतिज्ञा पूर्व्वक "ब्रह्म ते परादादित्यादि" श्रुति के द्वारा इस आत्मा का फिर ब्रह्मक्षत्रादि निखिल विश्व के आश्रयत्व रूप में और सर्व्वस्वरूपत्व रूप में उपदेश किया है। उक्त दोनों धर्म्म परमात्मा भिन्न अन्य किसी में सम्भव नहीं है। "इस महापुरुष का निःस्वास रूप" इत्यादि श्रुति में प्रदर्शित समस्त जगत् की कारणता ब्रह्म से भिन्न कर्म्मवश्य जीव में सङ्गत नहीं हो सकती है। विशेष करके मैत्रैयी जब समस्त विषय वैभव को तुच्छ जान कर मोक्ष के उपाय की जिज्ञासा करती है, तब ऋषि कभी भी उसको ब्रह्म का उपदेश न कर जीव का उपदेश नहीं कर सकते हैं। जीव के उपदेश से मोक्ष नहीं हो सकता है। मुक्ति ब्रह्मज्ञान से ही होती है। अतएव वह पुरुष परमात्मा ही है ॥२०॥

यहाँ पत्यादिप्रियता सूचना के द्वारा संसारित्व भाव के प्रत्यय होने के कारण आत्मशब्द से जीव ही का

"येनार्चितो हरिस्तेन तर्पितानि जगन्त्यपि। रज्यन्ति जन्तवस्तत्र स्थावरा जंगमा अपि" इति स्मृतेरिति वाच्यम्। तथा-भावस्य तत्राबीक्षणादित्याशङ्क्याह।

उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः ॥ २१ ॥

उत्क्रमिष्यतः साधनसम्पन्नस्यासन्नपरमात्मप्राप्तेर्विदुष एवं भावात् सर्व्वप्रियत्वादुपक्रमगतेनात्मशब्देन परमात्मैव बोध्य इत्यौडुलोमिर्मन्यते। तदयमत्र वाक्यार्थः। पत्युः कामाय मत्प्रयोजनायाहमस्याः प्रियः स्यामित्येवं-रूपाय पतिः प्रियो न भवति, किन्तु आत्मनः परमात्मनः कामाय स्वाराधकप्रियप्रतिलम्भनरूपायैवेत्यर्थः। काम इच्छा। तं सफलं कर्तुमित्यर्थः। "क्रियार्थोपपदस्य च कर्म्मणि स्थानिन" इति सूत्राच्चतुर्थी। भक्त्याराधितः खलु भगवान् भक्तानां सर्व्ववस्तुगतं प्रियत्वं सम्पादयति। "अकिञ्चनस्य शान्तस्य दान्तस्य समचेतसः। मया सन्तुष्ट-मनसः सर्व्वाः सुखमया दिशः" इति स्मृतेः। यद्वा पत्युः कामाय पतिं प्रियं न करोत्यपि तु परमात्मनः कामायैव। "प्राणबुद्धिमनः स्वात्मदारापत्यधनादयः। यत्सम्पर्कात्प्रिया आसंस्ततः कोऽन्यः परः प्रिय" इति स्मरणात्। कामः सुखम्। चतुर्थी पूर्व्ववत्। तथा च यत्सम्पर्कात् यत्सङ्कल्पात् यत्सम्बन्धाद्वा अप्रियमपि प्रियंभवति स श्रीहरिरेव प्रेष्ठो द्रष्टव्य इति। किंच नायमात्मशब्दो जीवार्थक इति शक्यमाग्रहीतुं, तस्य विभौ परेशे मुख्यव्युत्पन्नत्वात्। इतरथा आत्मा वा अरे इत्यनेनानन्वयापत्तिः। सत्यां च तस्यां वाक्यभेदः। स्वीकृते च तस्मिन् पूर्व्ववाक्यस्य न किञ्चित्फलं पश्यामः। द्रष्टव्यतौपयिकतया तस्योपदेशात्। न चोभयत्रापि जीवार्थकोऽस्तु, ब्रह्मैकान्तधर्म्मश्रुति-

---

बोध होता है। पहिले आत्म शब्द से परमात्मा की व्याख्या कर उसका आराधकगत सर्वकर्त्तृकत्व तथा सर्वकर्म्म प्रीणन विवक्षित हो रहा है–इस प्रकार नहीं कह सकते हो। क्योंकि "जो श्रीहरि की अर्च्चना करते हैं वे जगत् को तृप्त किये हुए हैं उन पर समस्त स्थावर जंगम अनुरक्त होते हैं" इत्यादि श्रुति में तादृश प्रीणन देखा नहीं जाता है। इस प्रकार की आशंका का समाधान करते हैं।—

उत्क्रमिष्यमाण, साधनसम्पन्न, आसन्न परमात्म प्राप्ति के ज्ञानी के तादृश भाव होने के कारण और समस्तप्रियत्व होने के कारण उपक्रमप्राप्त आत्म शब्द के द्वारा परमात्मा का ही बोध हो रहा है। इस तरह औडुलोमि आचार्य्य कहते हैं। अतएव यहाँ वाक्यार्थ यह है कि "मेरे प्रयोजनसाधन के लिये मैं उनका प्रिय होऊँ"—इस प्रकार की कामना से पति प्रिय नहीं होता है, किन्तु परमात्मा की कामना से अर्थात् अपने उपासक के प्रिय प्रतिलम्भक परमात्मा के लिये ही पति प्रिय होता है। काम शब्द से इच्छा अर्थ है। "कामाय" शब्द का अर्थ कामना को सफल करने के लिये है और यहाँ "क्रियार्थोपपद" इत्यादि सूत्र के अनुसार चतुर्थी होती है। "भगवान् भक्ति के साथ आराधित होने पर भक्तों के सम्बन्ध में सर्ववस्तुगत प्रियत्व का सम्पादन करते हैं"। "मैं जिसके मन का सन्तोष विधान करता हूँ, वह व्यक्ति अकिञ्चन, शान्त, दान्त और समानचित्त होता है और वह सर्वत्र दिशाओं में सुखमय देखता है" इत्यादि वचन स्मृति में कहे गये हैं। किम्वा-पति के काम पूरण के लिये पति को प्रिय नही किया जा सकता है किन्तु परमात्मा के प्रीणनार्थ ही पति को प्रिय किया जाता। "प्राण, बुद्धि, मन, आत्मा, दारा, अपत्य और धनादिक जिसके सम्पर्क से प्रिय करके अनुभूत होते हैं उससे प्रधान प्रिय और कौन हो सकता है इत्यादि वाक्यानुसार यह स्पष्ट हो जाता है। यहाँ काम शब्द का अर्थ सुख है। चतुर्थी पहिले की तरह होती है। जिनके सम्पर्क से, जिनके सम्बन्ध से किम्बा जिनके संकल्प से अप्रिय भी प्रिय होता है वे श्रीहरि ही सर्वापेक्षा प्रिय वस्तु हैं। आत्मा शब्द परमात्मा में मुख्य भावसे व्युत्पत्ति प्राप्त है। तत् शब्दसे जीवरूप अर्थ का ग्रहण नहीं किया जा सकता है, नहीं तो "आत्मा ही द्रष्टव्य" इत्यादि श्रुति के साथ विरोध उपस्थित होता है। वाक्यभेद स्वीकार करने पर द्रष्टव्यता और औपयिकता रूप से उपदेश के कारण पहिले वाक्य की निष्फलता होती है। दोनों

व्याकोपात्। यद्यप्ययं निगुर्णात्मवादी "चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमि"रिति वक्ष्यमाणात्, तथाप्य-विद्याविनिवृत्तये तादृगात्माभिव्यक्तये च श्रीहरिं भजत्या"त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयत" इति वक्ष्य-माणात् भक्तिरेव सर्व्वाभीष्टसाधिकेति प्रसिद्धम् ॥ २१ ॥

स्यादेतत्। स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्राप्त उदकमेवानुलीयते न ह्यस्योद्ग्रहणायैव स्याद्यतो यतस्त्वाद-दीत लवणमेवैवं वा। अरे इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यती" त्येतन्मध्यमं वाक्यं कथं प्रतिसमाधेयम्। तन्त्रोक्तजीवसाधने निपुणतरत्वादित्याशंक्याह—

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥ २२ ॥

उदके सैन्धवखिल्यस्यैव विज्ञानघनशब्दितस्य जीवेतरस्य महतो भूतस्य परमात्मनोऽवस्थितेरुपदेशात् तन्मध्यगतं वाक्यं परमात्मपरमेव। तथा च परापरात्मनोर्भेदप्रत्ययात् न महद्भूतमनन्तं वस्त्वेव विज्ञानघनो जीव इति काशकृत्स्नो मन्यते। अयमत्र निष्कर्षः। "येनाहं नामृतः स्यां किमहं तेन कुर्य्या"मिति मोक्षोपायं पृष्टो मुनिरात्मा वा अरे द्रष्टव्य इत्यादिना परमात्मोपासनं तदुपायमुक्त्वा, आत्मनि खल्वरे दृष्ट इत्यादिना उपास्यलक्षणं स यथा दुन्दुभेरित्यादिना उपासनोपकरणं करणनियमनं च सामान्यादुपदिश्य, स यथा आर्द्रैधोऽग्नेरित्यादिना स यथा सर्व्वासामपामित्यादिना च सविस्तरं तदुभयं पुनरुक्त्वा अत्र मोक्षोपायप्रवृत्तिप्रोत्साहनाय स यथा सैन्धवे-त्यादिना सदैवोपास्यसान्निध्यमुपपाद्य एतेभ्य एव भूतेभ्यः समुत्थायेत्यनुपासकस्य देहोत्पत्तिविनाशानुकारितया संसारतो देहात्मभ्रान्तिं प्रदर्श्य, न प्रेत्यसंज्ञास्तीत्युपासकस्य तु परमं देहवियोगं प्राप्य विमुक्तस्य तदानीं स्वाभाविक-

---

वाक्यों को जीवार्थसम्बन्धी नहीं कह सकते हो। कारण यह है कि उससे ब्रह्मैकान्तधर्म्म निर्देश करने वाली श्रुति बाधित होती है। यद्यपि औडुलोमि-निर्गुण आत्मवादी हैं तो भी उनके इस प्रकार वचन का कभी व्याघात नहीं होता है। क्योंकि वक्ष्यमाण दोनों सूत्रों के अनुसार भक्ति का सर्वाभीष्ट साधकत्व प्रसिद्ध है ऐसा जानना चाहिए।२१॥

अच्छा ? सैन्धव-खण्ड जिस प्रकार जल के मध्य में फेंके जाने पर वह जल के साथ मिल जाता है और पहिले की तरह नहीं रहता है। उस समय जल और नमक का कोई पार्थक्य नहीं रहता है। जल का समस्त अंश ही नमकमय बोध होता है। उसी प्रकार यह महत्, अद्भुत, अनन्त, अपार,विज्ञानघन जीव प्रकृति के अध्यासवश देहेन्द्रिय भाव से परिणति प्राप्त भूतसमूह से उत्पन्न और उन सब के साथ मिलित होकर देव, मानवादि, संज्ञा से व्यक्तदशा को प्राप्त होता है और पश्चात् वह भूतसमूह के विनाश होने पर विनष्ट हो जाता है, इस वाक्य के समाधान के लिये आशङ्का उठाकर आगे के सूत्र के द्वारा उसका समाधान करते हैं।—

जल में सैन्धवखण्ड की भाँति विज्ञानघन से कहे हुए, जीव से अन्य, उस महाभूत स्वरूप, परमात्मा के अवस्थान के उपदेश के कारण मध्यवर्त्ती वाक्यसमूह परमात्मा पर ही जानना चाहिए। विशेषतः परमात्मा और जीव का भेद की प्रतीति होने के कारण महद्भूत अनन्तवस्तु कभी विज्ञानघन जीव नहीं हो सकता है, इस प्रकार काशकृत्स्न ऋषि कहते हैं। इस स्थल की मीमांसा यह है कि "मैं जिस प्रकार मृत्यु से मुक्त होऊँगा उसे कहिये" उस तरह मोक्ष के उपाय-विषय में पूछे जाने पर मुनिजी "आत्मा ही द्रष्टव्य" इत्यादि वाक्य से पर-मात्मा की उपासना ही को मुक्ति का उपाय बतलाते हैं। "आत्मा दृष्ट होने से" इत्यादि वाक्य के द्वारा उपास्य के लक्षण का उपदेश देकर "दुन्दुभिशंखादि की ध्वनि से निहत मनवाले व्यक्ति जिस प्रकार केवल ध्वनिमात्र ही ग्रहण करते हैं उसी प्रकार श्रीहरि में निहित चित्त वाले हरि को ही प्राप्त होते हैं"इस प्रकार दृष्टान्त के द्वारा उपा-सना के उपकरण तथा इन्द्रियसंयम का सामान्यभाव से उपदेश कर पश्चात् "गीले काठ से युक्त अग्नि में से जिस प्रकार धूआँ और विस्फुलिंग उठते हैं उसी प्रकार जिसमें से निश्वास रूप नित्य वेद शब्द आविर्भूत होता

द्वै तमिव भवतीत्यादिना स्वज्ञानोदयाद्भूतसंघातेनैकीकृत्य आत्मनि देवमनुष्यादिधीर्नास्तीत्यभिधाय, यत्र हि
मुक्तस्यापि तस्य परमात्मानमाश्रयमुपदिश्य येनेदं सर्व्वं विजानाति तं केन विजानीयादिति तस्य दुर्ज्ञेयतामापाद्य,
विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति प्रक्रमोक्तात् तत्प्रसादरूपादुपासनाद्विना तं सर्व्वज्ञमीश्वरं केनोपायेन जानीयात्
न केनापीत्येतदेवोपासनममृतत्वोपायः परमात्माप्तिरेवामृतत्वमित्युपसंहृतवान् । अतः परमात्मैवास्मिन् वाक्य-
सन्दर्भे निरूप्यते, न तु तन्त्रोक्तः पुमान् , न च तदधिष्ठिता प्रकृतिरिति ॥ २२ ॥

एवं निरीश्वरं प्रधानवादं निरस्य सेश्वरं तमिदानीं निरस्यन् विश्वकारणतावादिवाक्यानि परस्मिन् ब्रह्मणि
प्रवर्त्तयति । "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" । "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" । "सदेव सौम्ये-
दमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" । "स ऐक्षत लोकान्नु सृजा" इत्यादीनि वचांसि श्रूयन्ते ।
किमेषु निमित्तमेव ब्रह्म मन्तव्यं किंवा निमित्तोपादानरूपं तदिति वीक्षायां पूर्व्वपक्षो दर्श्यते । तथाहि यद्यप्युप-
निषदस्तस्माद्वा एतस्मादित्यादिभिर्वाक्यैर्जगत्कारणतया परं ब्रह्माहुस्तथापि तासु निमित्तमात्रता तस्य मन्तव्या ।
तदैक्षत स ऐक्षत इत्यादिषु वीक्षणपूर्व्वकसृष्टिवर्णनात् तत्पूर्व्वकस्रष्टारः खलु कुलालादयो घटादिनिमित्तान्येव
दृश्यन्ते जगदुपादानं तु प्रकृतिरेव स्यात् उपादानोपादेययोस्तयोः साधर्म्म्यदर्शनात् । न च निमित्तमेवोपादानमिति
शक्यं वक्तुम् । लोके जडस्य मृदादेर्घटाद्युपादानत्वं चेतनस्य तु कुलालादेर्घटादिनिमित्तत्वमिति तयोर्भेदनियमात् ।

है" और "समुद्र जिस प्रकार निखिल जल का आश्रयभूत है, उसी प्रकार वह समस्तभूतों का आश्रयरूप है"
इत्यादि वाक्यों के द्वारा उन दोनों का फिर कह कर मोक्षोपाय-प्रवृत्ति के प्रोत्साहन के लिये "स यथा सैन्धव"
इत्यादि वाक्य से सर्वदा ही उपासक का सान्निध्य बताकर "यह सकल भूत में से उत्पन्न होकर" इत्यादि वाक्य के
द्वारा उत्पत्ति-विनाश के अनुकरण से अनुपासक का संसार और देहात्म-भ्रान्ति दिखाकर "प्रेत्य संज्ञा नहीं है"
इस वाक्य से उपासक के परम देहवियोग से विमुक्ति कह कर इसके अनन्तर स्वाभाविक अपने ज्ञान के उदय
होने पर देवमनुष्यादि की बुद्धि नहीं रहती है इस तरह कहा है। पश्चात् "जहाँ द्वैत ही होता है" इस वाक्य के द्वारा
परमात्मा मुक्त का आश्रय, इस प्रकार उपदेश करके "जिसके द्वारा समस्त जाना जाता है" इस वाक्य के द्वारा उसकी
दुर्ज्ञेयता स्थिर कर "विज्ञाता को किस प्रकार जाना जाता है" इत्यादि प्रक्रम में कथन से उसके प्रसाद रूप उपदेश
के बिना उस सर्वज्ञ ईश्वर को किसी प्रकार भी नहीं जाना जाता है, सुतरां उपासना ही एकमात्र मुक्ति का उपाय
है, परमात्मा प्राप्ति ही मुक्ति है, इस प्रकार उपसंहार करते हैं। अतएव इस सन्दर्भ में परमात्मा ही निरूपित हो
रहा है। तन्त्रोक्त प्रधान किम्वा जीव नहीं है ॥ २२ ॥

इस तरह निरीश्वर प्रधानवाद का निरासन कर सेश्वर प्रधानवाद के निरासन करने के लिये विश्वकारण-
तावादी वाक्य-समूह को परब्रह्म में समन्वय करते हैं। "उस आत्मा में से आकाश उत्पन्न है जिससे उन सकल
भूतों की उत्पत्ति है वह सत् रूप परमात्मा पहिले था। एकमात्र वह अद्वितीय अर्थात् स्वजातीय, विजातीय, स्वगत
भेद से शून्य है। उसने ईक्षण किया, उसने बहु होने का संकल्प किया, उसने प्रजा सृष्टि की इच्छा की, उसने
लोक सृष्टि के लिये प्रकृति को देखा" इत्यादि वाक्य-समूह सुना जाता है। इन समस्त वाक्यों के द्वारा ब्रह्म केवल
निमित्तमात्र रूप से उपदिष्ट हुआ है। अथवा उपादान और निमित्त इन दोनों रूप से यह समस्तवाक्य ब्रह्म
निमित्त में ही लक्षित होते हैं। कुलालादि जिस प्रकार ईक्षण पूर्वक घटादि निर्म्माण कर उसका निमित्त रूप होता
है उसी प्रकार ब्रह्म भी निमित्तरूप होता है। प्रकृति ही जगत् का उपादान है। प्रकृति के साथ जगत् का उपादान
और उपादेयत्व का साधर्म्म्य देखा जाता है। निमित्त को उपादान नहीं कहा जा सकता है। जड़ मृत्तिका का उपा-
दानत्व, और चेतन कुलाल का निमित्तत्व प्रसिद्ध है। निमित्त और उपादान दोनों सर्वत्र परस्पर भिन्न हैं। कार्य्य

तथानेककारकसिद्धं च कार्य्यं वीक्ष्यते । तदेवं लोकसिद्धं भावमुपेक्ष्य तस्यैकस्यैव तदुभयत्वं वक्तुं न ताः क्षमन्ते ।
अतो निर्विकारेण ब्रह्मणा अधिष्ठिता विकारिणी प्रकृतिरेव विकृतस्य विश्वस्य जगत उपादानं ब्रह्म तु निमित्तमेव
केवलम् । न चैतद् यौक्तिकं । "विकारजननीमज्ञामष्टरूपामजां ध्रुवाम् । ध्यायतेऽध्यासिता तेन तन्यते प्रेरिता पुनः ॥
सूयते पुरुषार्थं च तेनैवाधिष्ठिता जगत् । गौरनाद्यन्तवती सा जनित्री भूतभाविनी ॥ सितासिता च रक्ता च सर्व्व-
कामदुघा विभोः । पिबन्त्येनामविषमामविज्ञाताः कुमारकाः ॥ एकस्तु पिबते देवः स्वच्छन्दोऽत्र वशानुगाम् ।
ध्यानक्रियाभ्यां भगवान् भुङ्क्तेऽसौ प्रसभं विभुः ॥ सर्व्वसाधारणीं दोग्ध्रीं पीयमानां तु यज्वभिः । चतुर्विंशति-
संख्याकमव्यक्तं व्यक्तमुच्यते" ॥ इति चुल्लिकोपनिषदि श्रवणात् । स्मृतिश्चैवमाह । "यथा संनिधिमात्रेण गन्धः
क्षोभाय जायते । मनसो नोपकर्तृत्वात् तथासौ परमेश्वरः ॥ सन्निधानाद्यथाकाशकालाद्याः कारणं तरोः । तथैवा-
परिणामेन विश्वस्य भगवान् हरिः ॥ निमित्तमात्रमेवासौ सृष्टानां सर्गकर्म्मणि । प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्य-
शक्तयः" ॥ इत्याद्याः । एवं सिद्धौ क्वचिद् ब्रह्मोपादानताभासि वचांसि कथञ्चिदन्यथैव नेयानीत्येवं प्राप्ते—

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥ २३ ॥

ब्रह्मैव जगतः प्रकृतिरुपादानं कुतः, प्रतिज्ञेत्यादेः । श्रौतयोः प्रतिज्ञादृष्टान्तयोरानुगुण्यादित्यर्थः । "श्वेत-
केतो यन्नु सौम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्षीर्येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं

के अनेक कारण देखे जाते हैं। सुतरां लोकसिद्ध भाव परित्याग कर ब्रह्म को निमित्त और उपादान दोनों कहना
संगत नहीं है। निर्विकार ब्रह्मकर्त्तृक अधिष्ठित होकर विकारिणी प्रकृति ही विकार जगत् को उत्पन्न करती है।
प्रकृति ही उसका उपादान है, ब्रह्म निमित्त कारणमात्र है। इस सम्बन्ध में वक्ष्यमाण श्रुति-वाक्य-समूह भी मौजूद
है। यथा "विकारजननी अर्थात् शुद्धा, अज्ञा अर्थात् जड़ा, भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, और
अहङ्कार रूप अष्ट भावापन्ना, जन्मरहिता अतएव नित्या, प्रकृति उस पुरुष के द्वारा अधिष्ठित होकर कार्य्य करने
में अभिलाषिणी होती है। पश्चात् पुरुष के द्वारा प्रवर्तित होकर सृष्टि कार्य्य का समाधान करती है। वह जीव के
भोग और अपवर्ग के लिये जगत् का प्रसव करती है। वह अनादि, अनन्त, धेनुरूपा है। वह जनित्री है, वह
भूतभाविनी है, । वह सत्व, रज, तमोमयी है। वह ईश्वर का समस्त काम दोहन करने वाली है, अर्थात् उन का
विविध विचित्र सृष्टि कार्य्य का सम्पादन करने वाली है। विवेकहीन, तद्वश में रहने वाला, सन्तानतुल्य, जीव-
समूह सब के लिये अविषमा उस प्रकृति का स्तन पान करता है। अविलुप्तषड़ैश्वर्य्य परमात्मा स्वाधीन होकर भी
क्रीडा के लीये उस वशवर्त्तिनी प्रकृति को प्रवर्त्तनादि के द्वारा बल पूर्वक भोग करता है। वह प्रकृति फिर कर्म्मि-
गण के द्वारा पीयमाना होकर असाधारण दोग्ध्री होती है। वह अव्यक्त प्रकृति ही व्यक्तदशा को प्राप्त होकर
चतुर्विंशतितत्वरूप (२४) संख्या में अभिहित होती है"। स्मृति में भी कहा गया है "गन्ध जिस प्रकार कुछ न
कर नासिका के निकट उपस्थित होने पर ही क्षोभ का कारण होता है ठीक उसी प्रकार परमेश्वर सन्निधिमात्र ही
संकल्प मात्र से विश्व का कारण होता है। आकाश और काल जिस प्रकार विकृत न होकर भी अवकाश प्रभृति
प्रदान के द्वारा वृक्ष का कारण होते हैं भगवान् हरि भी उसी प्रकार अपरिणत रहकर भी विश्व का कारण होते हैं।
सृष्टिकार्य्य में वे निमित्त कारण मात्र हैं। सृज्यशक्ति समूह प्रधान से उत्पन्न होते हैं सुतरां प्रधान ही जगत् का
उपादान है। अतः ब्रह्म-उपादान बोधक वाक्य-समूह की अन्य प्रकार से व्याख्या हो सकती है इस तरह के आक्षेप
के समाधान के लिये पर सूत्र की अवतारणा करते हैं ॥—

ब्रह्म ही जगत् की प्रकृति अर्थात् उपादान है। क्योंकि श्रुति सम्बन्धि प्रतिज्ञा और दृष्टान्त के अनुरोध
से अर्थात् आनुगुण्य के कारण ऐसा अवश्य स्वीकार करना होगा। छान्दोग्य में—"हे सौम्य श्वेतकेतो ! तुम ने

विज्ञातमित्येकविज्ञानेन सर्व्वविज्ञानविषया प्रतिज्ञा श्रूयते छान्दोग्ये। सा किलादेशस्य उपादानत्वे सति सम्भवेत् कार्य्यस्य तदव्यतिरेकात्। निमित्तात् तस्याव्यतिरेकस्तु न कुलालघटयोर्व्यतिरेकात्। दृष्टान्ते ऽपि "यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्व्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्" इत्यादेरुपादानविज्ञानात् कार्य्यविज्ञानविषयस्तत्रैव श्रुतः। स च निमित्तमात्रताभ्युपगमे न सम्भवेत्। न हि कुलाले विज्ञाते घटो विज्ञायते। तदनुपरोधात् विश्वस्योपादानं च शब्दान्निमित्तं च ब्रह्मैवेति ॥ २३ ॥

अभिध्योपदेशाच्च ॥ २४ ॥

चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय, स तपोऽतप्यत तपस्तप्त्वा इदं सर्व्वमसृजत्। यदिदं किञ्च तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्" इति तैत्तिरीयके परमात्मन एव चिज्जडात्मना बहुभवनसङ्कल्पोपदेशात् तदात्मकबहुस्रष्टृत्वोपदेशाच्च स एवोभयरूपः ॥ २४ ॥

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥ २५ ॥

अवधृतौ च शब्दः। "किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आसीत् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः मनीषिणो मनसा पृच्छतैतत् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्। ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः मनीषिणो मनसा प्रब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठत् भुवनानि धारयन्" इति तत्रैव साक्षादुभयरूपत्वकथनादेव तस्य तथात्वम्। इह हि यतो वृक्षादुपादानभूताद् द्यावापृथिवीशब्दोपलक्षितं जगदीश्वरो निष्टतक्षुर्निर्म्मितवान्। वचनव्यत्ययश्छान्दसः। स वृक्षः कस्तदाधारभूतं वनं च किं, भुवनानि धारयन् स यदध्यतिष्ठत् तत् किमिति लोकानुसारिणि प्रश्ने अलौकिकवस्तुत्वात् स च तत्तच्च ब्रह्मैवेत्युक्तमतस्तदेवोभयरूपमिति ॥ २५ ॥

आत्मकृतेः परिणामात् ॥ २६ ॥

सोऽकामयतेति सृष्टिकामत्वेन प्रकृतः परमात्मैव तदात्मानं स्वयमकुरुतेति सृष्टेः कर्तृभूतः कर्म्मभूतश्च श्रूयते अतस्तस्यैव तदुभयरूपत्वम्। ननु कथमेकस्यैव पूर्व्वसिद्धस्य कर्तृतया स्थितस्य क्रियमाणत्वं, तत्राह परिणामादिति। कूटस्थत्वाद्यविरोधिपरिणामविशेषसम्भवादविरुद्धं तस्य तत्। इदमत्र तत्त्वम्। "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते", "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश" इति श्रुतेस्त्रिशक्ति ब्रह्म। "विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा। अविद्या कर्म्मसंज्ञाऽन्या तृतीया शक्तिरिष्यते"इति स्मृतेश्च। तस्य निमित्तत्वमुपादानत्वं चाभिधीयते। तत्राद्यं पराख्यशक्तिमद्रूपेण, द्वितीयं तु तदन्यशक्तिद्वयद्वारैव। सविशेषणे विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामत इति न्यायात्। "य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात्" इत्यादि श्रवणाच्च। एवं च निमित्तं कूटस्थमुपादानं तु परिणामीति सूक्ष्मप्रकृतिकं कर्तृ स्थूलप्रकृतिकं कर्म्म इत्येकस्यैव तदुभयत्वं सिद्धं। मृत्पिण्डादिदृष्टान्तश्रवणात्। परिणामादिति सूत्राक्षराच्च भ्रान्त्यध्यासपर्यायोऽतात्त्विकान्यथाभावात्मा विवर्त्तः परिहृतः। न च शुक्त्यादिवद्ब्रह्मण्यध्यासः सम्भवति तद्वत् तस्य पुरोनिहितत्वाभावात्। न चाकाशवत् तत्र सः, तद्वत्तस्य गम्यत्वाभावात्। किंचा-

---

सांग के साथ वेद का अध्ययन किया है, तुम् महामना हो, तुम् वेदज्ञ अभिमानी हो। अब तुमसे जिज्ञासा करता हूँ कि क्या तुम् उस उपदेश को जानते हो, जिसको जानने से और जानने को कुछ बाकी नहीं रहता है, इत्यादि वाक्य में एक विज्ञान से समस्त विज्ञान की प्रतिज्ञा हो रही है। उपदेश्य वस्तु यदि उपादान हो तब उक्त प्रतिज्ञा संगत हो सकती है। उपादान से कार्य्य का भेद नहीं रहता है। सुतरां कारण को जानने से कार्य्य जाना जाता है। कुलालादि निमित्त कारण से घटादि कार्य्य पृथक् है। कारण ज्ञान के समय कार्य्य का ज्ञान नहीं हो सकता है। दृष्टान्त में यह ही कहा गया है। "जिस प्रकार एक मृत्पिण्ड को जानने से समस्त मृण्मय वस्तु का ज्ञान होता है" इत्यादि श्रुति से उपादान विज्ञान ही कार्य्य विज्ञान के दृष्टान्त रूप से प्रदर्शित हुआ है। ब्रह्म को निमित्तमात्र कहने से दृष्टान्त की संगति नहीं हो सकती है। कारण कुलालज्ञान से घट का ज्ञान कभी नहीं देखा गया है। अतएव प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का आनुगुण्य-प्रयुक्त ब्रह्म को निमित्त और उपादान दोनों स्वीकार करना होगा॥२३।

"उसने बहु होऊँगा"—इस प्रकार कामना की है। उसने प्रजासृष्टि के लिये संकल्पात्मक तपस्या की है। तदनन्तर उसने परिदृश्यमान समस्त की सृष्टि की है। उसने विश्वप्रपञ्च की सृष्टि कर उस में अनुप्रवेश किया है। उस ने चित्स्वरूप जड़स्वरूप अपनी दोनों शक्तियों को प्रकाश किया है", इस प्रकार तैत्तिरियक श्रुति में परमात्मा ही चित्स्वरूप में और जड़स्वरूप में बहु होने के संकल्प करने के कारण और उसके ही चित्जड़ात्मक बहुरूप से सृष्टित्व उपदेश होने के कारण उसके ही दोनों रूप हैं ॥ २४ ॥

"वह वन कौनसा है अथवा वह वृक्ष कौन है जिससे यह स्वर्ग और पृथिवी उत्पन्न हुए हैं"। इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर में कहा गया है "ब्रह्म ही विश्वभुवन का धारण पूर्वक अधिष्ठान करता है। ब्रह्म ही वन, ब्रह्म ही वृक्ष, ब्रह्म से ही स्वर्ग और पृथिवी उत्पन्न हैं। ब्रह्म ही विश्व संसार का धारण कर अवस्थान करता है", इत्यादि श्रुति से ब्रह्म को ही उभय रूपसे कहे जाने के कारण ब्रह्म ही जगत् का उपादानकारण और निमित्तकारण सिद्ध हुआ है। "ब्रह्म ही वृक्ष और ब्रह्म ही उसका अधिष्ठानभूत वन है" "ब्रह्म ही भुवन का अधिष्ठान रूप है। ब्रह्म एक अलौकिक स्वभाव की वस्तु है सुतरां वही सबका अधिष्ठान है। उस का अधिष्ठान कोई न होने से भी कोई दोष नहीं होता है। अतएव ब्रह्म ही निमित्त और उपादानात्मक है ॥ २५ ॥

"उसने कामना की"—इस स्थल में सृष्टिविषयिणी कामना से विशेष करके परमात्मा ही प्रक्रान्त हो रहा है। "वह अपने से आप को प्रकाश करता है" इत्यादि स्थल में परमात्मा ही सृष्टि का कर्त्ता और कर्म्म रूप से कहा गया है। सुतरां परमात्मा उभय रूप है। अच्छा ? किस प्रकार कर्त्ता रूप से पूर्वसिद्ध एक वस्तु का कर्म्मरूपत्व हो सकता है। इसके उत्तर में कहते हैं। कूटस्थत्वादि धर्म्म के अविरोधी परिणाम विशेष के सम्भव होने के कारण दोनों की संगति होती है। इसका यही तत्व है।"परास्य शक्ति र्विविधैव श्रूयते"इत्यादि श्रुति के अनुसार ब्रह्म शक्तित्रय रूप से कहा गया है। विष्णुपुराण में भी यह व्यक्त है "विष्णु की परा, क्षेत्रज्ञा और अविद्या ये तीन शक्ति हैं। अतएव ब्रह्म का निमित्तत्व और उपादानत्व उभय युक्तिसिद्ध है। उनमें से पहिला पराख्यशक्तिमत्स्वरूप का निमित्तत्व और दूसरे का तदन्यशक्तिदोनों से उपादानत्व जानना चाहिए। गौर पुरुष कहने से जिस प्रकार गौरत्व विशिष्ट पुरुष का गौरत्व विधान और अगौरत्व का निषिद्ध होता है एवं यह गौरत्व जिस प्रकार पुरुष का विशेषण भूत होकर शरीर में पर्य्यवसित होता है ठीक उसी न्यायानुसार ब्रह्म का उपादानत्व शक्तिमद्ब्रह्म की शक्ति में ही पर्य्यवसित होकर रहता है। "जो एक और अवर्ण होकर भी अपने संकल्प के अनुसार शक्ति के द्वारा बहु वर्ण की सृष्टि करता है"इत्यादि श्रुति और पूर्वोक्त न्याय उसका वह उभय रूपत्व प्रतिपादन कर रहे हैं। इस प्रकार "निमित्त वस्तु कूटस्थ, और उपादान वस्तु परिणामि, सूक्ष्म प्रकृति कर्त्ता और स्थूल प्रकृति कर्म्म" इत्यादि के द्वारा एक के दोनों रूप सिद्ध होते हैं। मृत्पिण्डादि दृष्टान्त से भी "परिणामात्" इस सूत्र के द्वारा भ्रान्ति अध्यास व अतात्विक अन्यथा भाव रूप विवर्त्त वाद परिहृत हो रहे हैं। शुक्ति की भाँति ब्रह्म वस्तु में अध्यास का सम्भव नहीं है। कारण यह है कि ब्रह्म पुरोनिहित वस्तु नहीं है। उस अध्यास को आकाश की उपाधि के सदृश नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि ब्रह्म की उपाधि-वैशिष्ट्य प्रतीति असम्भव है। और भी अन्यथाभाव का अन्यथाभान अर्थ भी संगत नहीं हो सकता है। कारण यह है कि आवृत्ति के विना अन्यथाभान घटता नहीं है। यह आवृत्ति ब्रह्म से भिन्न होने के कारण ब्रह्मभिन्न वस्तु के ही अभाव प्रयुक्त विवर्त्त के मध्य

न्यथाभावोऽन्यथाभानमेव । तच्च नावृत्तिमन्तरेण सम्भवेत् । आवृत्तिस्तु ब्रह्मेतरत्वाद्विवर्त्तान्तः पतेदित्यन-वस्थैव । एवमपि क्वचित्तदुक्तिर्विरागायैवेति तत्त्वविदः । इतरथा तन्मात्रभूतादीनां न्यूनतातिरेको वा श्रूयते भ्रान्तेरनियतरूपत्वात् । नियतस्वभावानां वस्तूनां भावविनिमयश्च दृश्यते । तस्मात् तात्विकान्यथाभावात्मा परि-णाम एव शास्त्रीयः ॥ २६ ॥

योनिश्च हि गीयते ॥ २७ ॥

"यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" "कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिमि"त्यादि श्रुतौ योनिमिति कर्त्तारं पुरुषमिति च गीयते हि यस्मादतो ब्रह्मैवोभयम् । योनिशब्दस्तूपादानवाची । पृथिवी योनिरोषधिवनस्पतीनामित्यादि प्रयोगात् । यत्खलु निमित्तोपादानयोर्लोकवेदाभ्यां भेद इति यच्च लोके कार्य्यस्यानेकसिद्धत्वनियमादेकस्मादेव तस्मात्तद्वक्तुं न ताः क्षमा इत्युक्तं तदनेनैव प्रत्युक्तम् ॥ २७ ॥

अथ दर्शितः समन्वयो भज्येत न वेति विशङ्कां विहन्तुमधिकरणमारभते । श्वेताश्वतरोपनिषदादौ श्रूयते "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः" । "एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः" । "यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च" । विश्वाधिपो रुद्रः शिवो महर्षिः" । "यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवल" इति । "प्रधानादिदमुत्पन्नं प्रधानमधिगच्छति । प्रधाने लयमभ्येति न ह्यन्यत् कारणं मतम्" इति । "जीवाद् भवन्ति भूतानि जीवे तिष्ठन्त्य-चञ्चला । जीवे च लयमिच्छन्ति न जीवात्कारणं परमि"ति चैवमादि । तत्र संशयः । किमेते हरादिशब्दाः शितिकण्ठादेर्वाचका उत परब्रह्मण एवेति । प्रसिद्धेः शितिकण्ठादेरेवेति प्राप्ते ।—

में आ पड़ती है । सुतरां अनवस्थादोष अपरिहार्य्य हो जाता है । अतएव तत्वविद्व्यक्तिगण, जहाँ जहाँ विवर्त्त का उल्लेख देखने में आता है, उसका संसार से वैराग्य के लिये वर्णन करते हैं । नहीं तो, भ्रान्ति का अनियतत्व प्रयुक्त तन्मात्रता किम्वा भूतादियों की न्यूनता किम्वा आधिक्य देखने में आता और नियत स्वभाव वस्तु का भी भाव-विनिमय का होना देखने में आता । अतएव तात्विक अन्यथाभावरूप परिणामवाद ही शास्त्रीय है । विवर्त्त-वाद की शास्त्रीयता सिद्ध नहीं होती है ॥ २६ ॥

"जो भूतयोनि है, वह ब्रह्मभूत आदिकारण पुरुष को पण्डितगण विश्व को कर्त्ता ईश्वर रूप में देखते हैं ।" इस श्रुति में ब्रह्म ही कर्त्ता और योनिरूप से कहा गया है क्योंकि ब्रह्म ही उपादान और निमित्त दोनों कारण रूप है । योनि शब्द उपादानवाची है । पृथिवी, औषधि और वनस्पति की योनि अर्थात् उपादान इस प्रकार लौकिक प्रयोग देखा जाता है । एक कार्य्य के अनेक कारण देखे जाने से, उपादान तथा निमित्त का जो लौकिक भेद देखा जाता है, वह इससे प्रत्युक्त होता है ॥ २७ ॥

अब पूर्व्वोक्त प्रकार से प्रदर्शित समन्वय का भङ्ग होता है किम्वा नहीं ? इस प्रकार की आशङ्का उठा कर उसके परिहार के लिये परवर्त्ती अधिकरण की अवतारणा करते हैं । श्वेताश्वतर उपनिषद् में सुना जाता है–क्षर, प्रधान, अमृत, अक्षर,संहारकर्त्ता हर ही सबके अध्यक्ष हैं । वे मनुष्य की संसारपीड़ा दूर कर रुद्र नाम से अभिहित होते हैं । उनके बिना द्वितीय आश्रय नहीं है । वे देवताओं की उत्पत्ति के कारण हैं, वे विश्व के प्रधान हैं । जब दिन, रात्रि, स्थूल, सूक्ष्म कुछ नहीं था तब केवल मङ्गलरूप वह परमात्मा शिव थे ।" "प्रधान से इस विश्व की उत्पत्ति हो रही है और प्रधान में विश्व अधिष्ठित है और प्रधान में ही लय को प्राप्त होता है । उससे भिन्न और कोई कारण नहीं है" । "जीव से ही भूतसमूह की उत्पत्ति, जीव में ही अधिष्ठित और जीव में उसका विलीन होता है" इत्यादि श्रुति ही उक्त समन्वय भङ्ग का निदान है । यहाँ संशय है कि यह रुद्रादि सकल-शब्द शिवादि देवता विशेष का वाचक है अथवा ब्रह्म वस्तु का बोधक है । यह शब्द सकल देवताविशेष में प्रसिद्ध

एतेन सर्व्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥ २८ ॥

एतेनोक्तप्रकारकसमन्वयचिन्तनेन सर्व्वे हरादयः शब्दा व्याख्याता ब्रह्मपरतया नीताः तस्य सर्व्वना-मत्वात् । "नामानि विश्वानि न सन्ति लोके यदाविरासीत् पुरुषस्य सर्व्वम् । नामानि सर्व्वाणि यमाविशन्ति तं वै विष्णुं परममुदाहरन्ती"ति भाल्लवेयश्रुतिः । वैशम्पायनोऽप्येतान् श्रीकृष्णाह्वयान् सस्मार । "श्री नारायणा-दीनि नामानि विनाऽन्यानि रुद्रादिभ्यो हरिर्दत्तवान्" इत्यन्यत्र स्मर्य्यते । किन्त्वयमत्र नियमः । यत्रान्यवाचकत्वे-ऽप्यविरोधस्तत्रान्यदमुख्यतयोच्यते । यत्र तु विरोधस्तत्र श्रीविष्णुरेवेति । पदाभ्यासोऽध्यायसमाप्तिद्योतनाय ॥

सर्वे वेदाः पर्य्यवस्यन्ति यस्मिन् सत्यानन्ताचिन्त्यशक्तौ परेशे ।
विश्वोत्पत्तिस्थेमभङ्गादिलीले नित्यं तस्मिन्नस्तु कृष्णे मतिर्नः ॥२८॥

॥ इति श्री ब्रह्मसूत्रभाष्ये प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

❀ समाप्तोऽयं प्रथमोऽध्यायः ❀

होने के कारण उन सबका ज्ञान कराता है । इस प्रकार का सिद्धान्त कहा जायगा तो उसके उत्तर में कहते हैं ॥—

उक्त प्रकार समन्वय चिन्तन के द्वारा हरादि शब्दसमूह ब्रह्मपर रूप से निर्णीत हुआ है । क्योंकि समस्त नाम उसके ही हैं । श्रुति में कहा गया है "विश्व का नाम रेखादि कुछ नहीं था,वह सब उससे आविर्भूत हुआ है,समस्त नाम जिसमें प्रवेश हो सकते हैं वह परम पुरुष विष्णुनाम से ख्यात है" । वैशम्पायन भी इस समस्त हरादि शब्द को कृष्ण का ही नाम करके उल्लेख करते हैं । स्कन्धपुराण में भी कहा गया है "श्रीहरि ने नारायणादि से भिन्न हरादिनामसमूह शिवादि-देवताओं को प्रदान किया है । यहाँ यह नियम जानना होगा कि जिन स्थलों में इन समस्त नामों का अन्य का बोध कराने पर भी कोई विरोध नहीं है उन स्थलों में और और का अप्राधान्य, और जिन जिन स्थलों में विरोध है, वहाँ वे सब एक समय में ही अन्य का बोध न कराकर विष्णु का ही बोध कराते हैं । पद की पुनरुक्ति अध्याय समाप्ति का द्योतक है । समस्तवेद जिसमें पर्य्यवसित होते हैं उन सत्यस्वरूप,अनन्त और अचिन्त्यशक्तिवाले विश्व की सृष्टि,स्थिति,प्रलय के कारण, परमेश्वर श्रीकृष्ण में हम सब की मति हो ॥२८॥

॥ इति गोविन्दभाष्य प्रथम अध्याय के चतुर्थपाद का अनुवाद समाप्त हुआ है ॥

आजानुलम्बितभुजौ कनकावदातौ
संकीर्त्तनैकपितरौ कमलायताक्षौ ।
विश्वम्भरौ द्विजवरौ युगधर्म्मपालौ
वन्दे जगत्प्रियकरौ करुणावतारौ ॥

वेदान्तदर्शनम्

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः पादः ॥

दुर्युक्तिकद्रोणजबाणविक्षतं परीक्षितं यः स्फुटमुत्तराश्रयम् ।
सुदर्शनेन श्रुतिमौलिमव्यथं व्यधात् स कृष्णः प्रभुरस्तु मे गतिः ॥०॥

प्रथमेऽध्याये निरस्तनिखिलदोषोऽचिन्त्यानन्तशक्तिरपरिमितगुणगणः सर्व्वात्मापि सर्व्वविलक्षणो जगन्निमित्तोपादानभूतः सर्व्वेश्वरो वेदान्तवेद्यः समन्वयनिरूपणेनोक्तः । द्वितीये तु स्वपक्षे स्मृतितर्कविरोधपरिहारः प्रधानादिवादानां युक्त्याभासमयत्वं सृष्ट्यादिप्रक्रियायाः प्रति वेदान्तमैकविध्यं चेत्ययमर्थनिचयो निरूप्यते । तत्रादौ श्रुतिविरोधो निरस्यते । तत्र संशयः, सर्व्वकारणभूते ब्रह्मणि दर्शितः समन्वयः सांख्यस्मृत्या बाध्यते न वेति । तत्र सति सांख्यस्मृतिनिर्विषयतापत्तेर्बाधः स्यात् । स्मृतिः खलु कर्म्मकाण्डोदितान्यग्निहोत्रादिकर्म्माणि यथावत् स्वीकुर्व्वता "ऋषिं प्रसूतं कपिलं" इत्यादिश्रुताप्तभावेन परमर्षिणा कपिलेन मोक्षेप्सुना ज्ञानकाण्डार्थोपबृंहणाय प्रणीता । "अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः । न दृष्टार्थसिद्धिर्निवृत्तेरप्यनुवृत्तिदर्शनात्" इत्यादिभिस्तत्र ह्यचेतनं प्रधानमेव स्वतन्त्रं जगत्कारणमित्यादि निरूप्यते । विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य", "अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य" इत्यादिभिः । सा च ब्रह्मकारणतापरिग्रहे निर्विषया स्यात् । कृत्स्नायास्तस्यास्तत्त्वप्रतिपत्तिमात्रविष-

---

द्वितीयोऽध्यायः प्रथमपादः

जिन भगवान् श्रीकृष्ण ने निज सुदर्शन अस्त्र के द्वारा उत्तरा के गर्भस्थ, दुर्युक्तिकारी-अश्वत्थामा के बाणों से क्षत-विक्षत, अपने भक्त परीक्षित महाराज की रक्षा की थी, वे मेरी गति होवें । वेदान्तपक्ष में व्याख्या–कुमत निवारण में क्षम कृष्णद्वैपायन ने कपिलादिक मुनियों के वाक्यों से व्याकुलित वेदान्तशास्त्र को निज चतुर्लक्षणीशास्त्र के द्वारा निर्दोष किया, वे भगवान् व्यास मेरी गति होवें ॥ ० ॥

प्रथमअध्याय में समन्वय निरूपण के द्वारा निखिल-दोषरहित, अचिन्त्य-अनन्त-शक्ति वाले, अपरिमित-गुण-समूह से युक्त, सर्वात्मा, सर्वविलक्षण, जगत् के निमित्त उपादान कारणस्वरूप, सर्वेश्वर, वेदान्तवेद्य श्रीहरि ही कहे गये हैं । अब इस द्वितीय अध्याय में निजपक्ष में स्मृति-तर्क विरोध का परिहार, प्रधानादि वादों का युक्ति के द्वारा आभास रूपत्व और सृष्ट्यादिक क्रियाओं का समस्त वेदान्त में एकरूप इत्यादिक विषय सकल निरूपित होंगे । पहिले श्रुतियों का विरोध निरूपण किया जाता है । यहाँ संशय यह है कि सर्वकारण रूप ब्रह्म में जो समन्वय दिखलाया गया है वह सांख्यादि स्मृतियों से विरोध प्राप्त है किम्वा नहीं है । पहिले समन्वय को सत्यरूप से स्वीकार करने पर सांख्यस्मृति निर्विषय होकर बाधित हो जाती है । श्रुति में "ऋषिं प्रसूतं कपिलं" इत्यादि कपिल नामक एक आप्त ऋषि का उल्लेख देखने में आता है । उन्होंने वेदोक्त कर्म्मकाण्ड समूह का यथारूप स्वीकार कर ज्ञानकाण्ड के उपबृंहणार्थ सांख्यस्मृति की रचना की । जिसमें मुक्ति-इच्छुक व्यक्तियों के उपकारार्थ वह वह उपाय समूह निरूपित किया गया है । सांख्य-स्मृति का मत यह है "अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" इत्यादिक सूत्रमें आध्यात्मिकादिक तीन प्रकार के दुःख की अत्यन्तरूप से निवृत्ति होजाना अत्यन्त पुरुषार्थ ऐसा निरूपण किया गया है । "विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य" "अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य" इत्यादि सूत्रोंके द्वारा उसमें अचेतन प्रधान को ही स्वतन्त्र जगत्कारणरूप कहा गया है । केवल ब्रह्म को एकमात्र जगत्कारण कहने पर सांख्य-स्मृति निर्विषय हो जाती है इसलिये परम आप्त कपिलस्मृति के अविरोध से वेदान्तों की व्याख्या उचित है । उस

यत्वात् । अतः परमाप्तकपिलस्मृत्यविरोधेन वेदान्ता व्याख्येयाः । न चैवं मन्वादिस्मृतीनां निर्विषयता । तासां धर्म्मप्रतिपादनद्वारा कर्म्मकाण्डोपबृंहणे सति सविषयत्वादित्येवं प्राप्ते ब्रूते—

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥ १ ॥

अवकाशस्याभावोऽनवकाशः निर्विषयतेत्यर्थः । समन्वयानुरोधेन वेदान्तेषु सांख्यस्मृतिनिर्विषयतादोषापत्तिरतः श्रुतिविपरीतार्थतया ते व्याख्येया इति चेन्न । कुतः अन्येत्यादेः । तथा सत्यन्यासां मन्वादिस्मृतीनां वेदान्तानुसारिणीनां ब्रह्मैककारणतापराणां निर्विषयता महान् दोषः प्रसज्जेत । तासु हि सर्व्वेश्वरो जगदुत्पत्त्यादिहेतुः प्रतिपाद्यते न तु कापिलोक्तप्रकारान्तरस्य सङ्गतिः । तत्र श्रीमन्मनुः । "आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्व्वतः ॥ ततः स्वयम्भुर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् । महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ योऽसावतीन्द्रियाग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः । सर्व्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥ सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः । अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् । तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्व्वलोकपितामहः" ॥ इत्यादि । श्रीपराशरः । "विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम् । स्थितिसंयमकर्त्ताऽसौ जगतोऽस्य जगच्च सः ॥ यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णां सन्तत्य वक्त्रतः । तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं जनार्दनः" ॥ इत्यादि । एवमन्येऽपि । न चासां स्मृतीनां कर्म्मकाण्डार्थोपबृंहणेन सावकाशता । ब्रह्मज्ञानोदयार्थां चित्तशुद्धिमुद्दिश्य धर्म्मान् विदधतीनां तासां ज्ञानकाण्डार्थोपबृंहण एव वृत्तेः । चित्तशोधकता चैषां दृश्यते । "तमेतं वेदानुवचनेने" त्यादि श्रुतौ । यत्तु तेषां वृष्टिपुत्रस्वर्गादिफलकत्वं क्वापि क्वापि वीक्ष्यतेऽनुभाव्यते च तदपि शास्त्रविश्रम्भोत्पादनेन तत्रैव च विश्रान्तम्, "सर्व्वे वेदा यत् पदमामनन्ती" इत्यादे-

---

से मन्वादिप्रणीत स्मृति-समूह भी निर्विषय नहीं होते हैं, क्योंकि वे सब धर्म्म के प्रतिपादन के द्वारा कर्म्मकाण्ड उपबृंहण से सविषय पर हैं इत्यादिक पूर्वपक्षीय सिद्धान्त का खण्डनार्थ पहिला सूत्र की अवतारणा करते हैं ।—

अवकाश का अभाव अनवकाश अर्थात् निर्विषयता है । समन्वय का अनुरोध से वेदान्त में सांख्यस्मृति की निर्विषयता रूप दोषापत्ति उठती है इस लिये यथाश्रुत अर्थ के विपरीत अर्थ के द्वारा वेदान्त की व्याख्या करना उचित होता है इस प्रकार उक्ति कार्य्यकरी नहीं है । क्योंकि इस प्रकार व्याख्या से एकमात्र ब्रह्म को कारण मानने वाली वेदान्त अनुसारिणी मन्वादि स्मृतियों का निर्विषयतारूप महान् दोष आ पड़ता है । उनमें सर्वेश्वरश्रीहरि ही जगत् के उत्पत्यादि कारण रूप हैं ऐसा प्रतिपादन किया गया है । उन सब स्मृति में कपिलमुनि के द्वारा कथित तत्व की तरह वर्णन नहीं किया गया है । मनु ने कहा है—सृष्टि के पहले समस्त यह तमोमय, अप्रज्ञात, अलक्षण, अप्रतर्क्य, अविज्ञेय और सुप्त की तरह अवस्थित था । अनन्तर स्वयम्भू भगवान् अव्यक्त होकर भी इस संसार को व्यक्त करने के लिये महाभूतादिक शक्ति से समन्वित हो प्रादुर्भूत हुए तथा उस तमोराशि को दूर करने लगे । वे अतीन्द्रिय, अग्राह्य, सूक्ष्म, अव्यक्त, सनातन, सर्वभूतमय, अचिन्त्यस्वरूप हैं । आप स्वयं प्रादुर्भूत होकर अपने शरीर से विविध प्रकार प्रजा समूह की सृष्टि के लिये अभिलाषी हुए । उन परमेश्वर ने पहले जल की सृष्टि कर उसमें वीर्य्याधान किया । उस वीर्य्य से सहस्रसूर्य्य की भाँति प्रभाशाली सुवर्णमय अण्ड उत्पन्न हुआ । उस अण्ड से सकललोक के पितामह स्वयं ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए । श्री पराशर जी भी कहते हैं—यह परिदृश्यमान् जगत् भगवान् विष्णु से उत्पन्न तथा उनमें स्थित है । वे उसका पालन तथा नाश कर्त्ता हैं । यह जगत्-रूप वे हैं अर्थात् यह जगत् उनकी शक्ति विशेष है । ऊर्णनाभ (मकड़ी) जिस प्रकार अपने शरीर से ऊर्णा समूह का विस्तार कर उसे फिर आप ही ग्रास कर लेता है ठीक उसी प्रकार भगवान् जनार्दन निजशक्ति से जगत्-प्रपञ्च की सृष्टि कर अन्त में फिर उसे शक्ति में विलीन कर लेते हैं । और सब ऋषि भी ठीक इस प्रकार कहते हैं । कर्म्मकाण्ड उपबृंहण के

नारायणपरा वेदा" इत्यादेश्च । न च सांख्यस्मृत्या वेदान्तार्थोपवृहणं शक्यं कर्त्तुं, श्रुतिविरुद्धार्थप्रतिपादनात्। श्रुतिसम्वादार्थस्पष्टीकरणं ह्युपवृंहणं । न च तस्यामिदमस्ति । तस्मात् श्रुतिविरुद्धा सांख्यस्मृतिः स्वकपोलकल्पिताऽनाप्तेति न तद्व्यर्थतादोषाद् विभीमः । न चाप्तव्यपाश्रयकल्पनया तत् स्मृतिपक्षपातो युक्तः । तत्त्वेन व्याख्यातानां बहूनां स्मृतिषु विभिन्नार्थासु पक्षपाते सति वास्तवार्थानवस्थितिप्रसङ्गात् । स्मृत्योर्विप्रतिपत्तौ सत्यां श्रुतिव्यपाश्रयादन्यो निर्णयहेतुर्न भवेत् , अतः श्रुत्यनुसारिण्येवादरणीया इति । स्मृतिबलेनाक्षेप्तृन् स्मृतिबलेनैव निराकरिष्याम इत्यान्यस्मृत्यनवकाशतादोषोपन्यासः । यत्तु "ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्विभर्त्ति" इति श्वेताश्वतरश्रुतेराप्तत्वं तस्येति, तन्न । तस्या अन्यपरत्वात् श्रुत्यर्थवैपरीत्यवक्तृतया तदभावाच्च । मनोराप्तत्वं तु तैत्तिरीयाः पठन्ति "यद्वै किञ्चन मनुरवदत्तद् भेषजमि"ति । श्रीपराशरो हि पुलस्त्यवसिष्ठप्रसादादेव देवतापरमार्थधियं प्राप्नोतिस्मर्य्यते । वेदविरुद्धः स्मृतिप्रवर्त्तकः कपिलो ह्यग्निवंशजो जीवविशेष एव मायया विमोहितो, न तु कर्दमोद्भूतो वासुदेवः । "कपिलो वासुदेवाख्यः सांख्यं तत्त्वं जगाद ह । ब्रह्मादिभ्यश्च देवेभ्यो भृग्वादिभ्यस्तथैव च ॥ तथैवासुरये सर्व्वं वेदार्थैरुपबृंहितम् । सर्व्ववेदविरुद्धं च कपिलोऽन्यो जगाद ह ॥ सांख्यमासुरयेऽन्यस्मै कुतर्कपरिबृंहित" मिति स्मरणात् । तस्मात् वेदविरुद्धतयाऽनाप्तायाः सांख्यस्मृतेर्व्यर्थता न दोषः ॥ १ ॥

द्वारा सांख्यादि-स्मृति की सविषयता है इस प्रकार नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि वह ब्रह्मज्ञान उदय के कारण-रूप चित्तशुद्धि के उद्देश से धर्म्मविधान में प्रवृत्त होता है । उक्त स्मृति की प्रवृत्ति ज्ञानकाण्ड उपबृंहण के लिये है ऐसा बोलना होगा। चित्तशोधकता ही "तमेतं वेदानुवचनेन" इत्यादि श्रुति से निर्णय हो जाता है। यद्यपि उनके कहीं कहीं वृष्टि,पुत्र,स्वर्गादिफलसमूह देखने में किम्वा अनुभव करने में आता है तौ भी वह शास्त्र विश्वास उत्पादनके द्वारा शेष में ब्रह्मज्ञान उदय कराने में ही पर्य्यवसान होता है ।"समस्तवेद जिन के पदों को प्राप्त करते हैं" "वेद सकल नारायण परक हैं"इत्यादिक श्रुतियाँ भी इस प्रकार अभिप्राय को व्यक्त करती हैं। सांख्यस्मृति के द्वारा वेदान्तार्थ उपबृंहण नहीं हो सकता है क्योंकि उस में श्रुति के विरुद्धार्थ प्रतिपादन किया गया है। उपबृंहण का अर्थ श्रुति संवाद-समूह का स्पष्टीकरण है । सांख्यस्मृति में श्रुति संवादों का स्पष्टीकरण नहीं दीखने में आता है। इसलिये सांख्यस्मृति श्रुतिविरुद्ध, स्वकपोलकल्पित अनाप्त है। जब ऐसा ही है तब उसकी व्यर्थता हो जाने के दोष से हम भयभीत नहीं हो सकते हैं। और भी किसी एक स्मृति का अनाप्तत्व स्थिर करने की प्रतीक्षा से स्मृत्यन्तर का पक्षपात लेना युक्त नहीं है । क्योंकि विभिन्नार्थ-प्रतिपादक स्मृति समूह का पक्षपात लेने पर आप्तरूप से व्याख्या करते वाले गौतमादि अनेक ऋषियों का अनेक मत दीखने से वास्तविकार्थ निर्णय में अनवस्था होती है। दोनों स्मृति का परस्पर विरोध उपस्थित होने पर श्रुतिआश्रय ग्रहण के भिन्न और कोई निर्णायक प्रमाण रूप से नहीं ठहर सकता है, इसलिये श्रुति-अनुसारिणी व्याख्या आदरणीया है । स्मृतिबल से आक्षेपकारियों को स्मृतिबल से ही हम निराकरण कर सकते हैं। इससे अन्य स्मृति का अनवकाशदोषापत्ति अवश्यम्भावी है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में "ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्विभर्त्ति" इति वाक्य से जो अन्य कपिलऋषि की कथा कही गयी है वह सांख्य प्रणयिता कपिल जी से दूसरा है । सुतरां सांख्य-प्रणयिता कपिल जी को अनाप्त कहने पर श्रुति का अपमान नहीं किया जाता है। मनु के आप्तत्व के विषय में तैत्तिरीयाँ पढ़ती हैं-"मनु ने जो भी कुछ कहा वह भेषज रूप है"। "श्रीपराशर ही पुलस्त्य तथा वशिष्ठजीके प्रसादसे पारमार्थिक देवबुद्धिको प्राप्त हुए"यह स्मृतिका वचनहै। वेदविरुद्ध स्मृति प्रवर्त्तक कपिल अग्निवंश से उत्पन्न माया से विमोहित जीवविशेषहै किन्तु कर्दमसे उत्पन्न भगवान् वासुदेव नहीं है। स्मृति में कहा है—वासुदेव नामक कपिल जी ने ब्रह्मादि देवताओं को तथा भृग्वादिक ऋषियों को और असुरों को भी वेदार्थ से उपबृंहित सांख्यतत्वको कहा था । दूसरे कपिल ने समस्त वेदों से विरुद्ध,कुतर्क से परिबृं-

इतरेषाञ्चानुपलब्धेः ॥ २ ॥

इतरेषां च सांख्यस्मृत्युक्तानामर्थानां वेदेऽनुपलम्भात्तस्याः नाप्तत्वम् । ते च विभवश्चिन्मात्राः पुरुषास्तेषां बन्धमोक्षौ प्रकृतिरेव करोति । तौ पुनः प्राकृतावेव । सर्वेश्वरः पुरुषविशेषो नास्ति । कालस्तत्त्वं न भवति । प्राणादयः पञ्च करणवृत्तिरूपा भवन्तीत्येवमादयस्तस्यामेव द्रष्टव्याः ॥ २ ॥

ननु सांख्यस्मृत्या वेदान्ता व्याख्यातुं न युक्ताः । तस्या वेदान्त-विरुद्धत्वात् । योगस्मृत्या तु व्याख्येयास्ते । वेदान्तार्थानाश्रित्य तस्या वर्णितत्वात् । योगः खलु श्रौतः । "तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्" । "विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नमि"त्यादिषु कठादिश्रुतिषु योगविषयकबहुलिङ्गलाभात् । "त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरमि"त्यादिष्वासनादियोगाङ्गाभिधानाच्च । तेन योगेन जगद्दुःखं परिजिहीर्षुराप्ततमो भगवान् पतञ्जलिः स्मृतिं निबबन्ध । "अथ योगनुशासनम् , योगश्चित्तवृत्तिनिरोध" इत्यादिभिः । समन्वयाविरोधेन वेदान्तेषु व्याख्यातेष्वेषा स्मृतिरनवकाशा स्याद् योगप्रतिपत्तिमात्रविषयत्वात् । मन्वादिस्मृतीनां तु धर्म्मावेदनया सावकाशता भवेत् । तस्मात् योगस्मृत्यैव न तूक्तसमन्वयानुगत्या, ते व्याख्येया इत्येवं प्राप्ते—

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥ ३ ॥

एतेन सांख्यस्मृतिप्रत्याख्यानेन योगस्मृतिरपि प्रत्याख्याता बोध्या । तस्याश्च तद्वद्वेदान्तविरुद्धत्वात् । तादृश्या योगस्मृत्या तेषु व्याख्यातेषु वेदानुसारिमन्वादिस्मृतेर्निर्विषयता स्यादतस्तया ते न व्याख्येया इत्यर्थः । न च

हित सांख्यशास्त्रको केवल असुरों से कहा है । इससे वेदविरुद्ध तथा अनाप्त होने के कारण सांख्यस्मृति की व्यर्थता दोषावह नहीं है ॥ १ ॥

अधिकतः सांख्यस्मृति में इस प्रकार के अनेक विषय कहे गये हैं, जो कि वेद में नहीं मिलते हैं इससे सांख्यस्मृति का आप्तत्व नहीं है । वे सब विषय ये है-पुरुष और जीवात्मा समूह विभु, चिन्मात्र हैं। उनका बन्ध और मोक्ष प्रकृती ही करती है । बन्ध मोक्ष दोनों प्राकृत हैं। सर्वेश्वर करके कोई पुरुष नहीं है । काल भी कोई पृथक् तत्व नहीं है । प्राणादिक पंच पदार्थ इन्द्रियों की वृत्ति हैं। इत्यादिक अनेकानेक विषय सांख्यस्मृति में देखने में आते हैं ॥ २ ॥

अच्छा, सांख्यस्मृति के द्वारा वेदान्त व्याख्या उचित नहीं है क्योंकि वह वेदविरुद्ध है। योगस्मृति के द्वारा वेदान्त की व्याख्या कर्त्तव्य है । कारण वेदान्तार्थ के आश्रय से उसका वर्णन हुआ है । योग अवश्य ही श्रौत है। कठादिश्रुति में "तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् । विद्यामेतां योगविधिञ्च कृत्स्नम्" इत्यादिक योगविषयक बहुत कथा देखने में आती हैं। श्वेताश्वतरादि उपनिषद् में "त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं"इत्यादिक आसनादि योगांग समूह का उपदेश है । योग के द्वारा दुःखसागर-निमग्न लोगों के उद्धारार्थ परम आप्त भगवान् पतञ्जलि ऋषि ने "अथ योगानुशासनं" "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" इत्यादि सूत्रों के द्वारा योगस्मृति की रचना की। समन्वय के अविरोध स वेदान्त-समूह की व्याख्या करने पर इस योगस्मृति की निर्विषयता होती है क्योंकि इसमें केवल योगका ही प्रतिपादन किया गया है । किन्तु मन्वादिस्मृति में धर्म्मके उपबृंहण होनेके कारण सविषयता है। अतएव उक्त योगस्मृति के द्वारा वेदान्त की व्याख्या करने पर समन्वय की अनुगति का परित्याग कर वेदान्त की व्याख्या होती है । इस प्रकार पूर्वपक्ष उठने पर उसके उत्तर में कहते हैं ॥—

इस सांख्यस्मृति के प्रत्याख्यान के द्वारा योगस्मृति का भी प्रत्याख्यान होता है। योगस्मृति भी सांख्य की तरह वेदान्तविरुद्ध है। इस प्रकार योगस्मृति के द्वारा वेदान्त-व्याख्या करने पर वेदानुसारिणी मन्वादिस्मृतियों का

वेदान्ताविरुद्धा सा वक्तुं शक्या । तत्रापि प्रधानमेव स्वतन्त्रं कारणम्। ईशो जीवाश्च चितिमात्रा सर्वे विभवः। योगादेव दुःखनिवृत्तिरेव मुक्तिः। इत्यादि तद्विरुद्धार्थप्रतिपादनात्। प्रत्यक्षादिप्रमाणं चित्तवृत्तिरित्यादीनां तदुक्तार्थानां तेष्वनुपलम्भात् च। तत्र ते ह्यर्थास्तस्यामेवान्वेष्टव्याः। तस्मात् वेदान्तविरुद्धाया योगस्मृतेर्वैयर्थ्यदोषान्न वित्रासः। अन्यच्च प्राग्वत्। यत्तु वेदान्तवेद्यमीश्वरजीवोपायोपेययाथात्म्यं तदुपर्यु परिव्यक्तीभविष्यद्वीत्यम्। एवं सति त्रिरुन्नतमित्यादावासनादियोगाङ्गविधानं "तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यमि"त्यादौ च सांख्यादिशब्दाभ्यां ज्ञानं ध्यानं च यत् दृष्टं तत्किल वैदिकादन्यदेव ग्राह्यम्। न हि प्रकृतिपुरुषान्यताप्रत्ययेन ज्ञानेन तदुक्तेन योगवर्त्मना वा मोक्षो भवेत्। "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" "एतद् यो ध्यायति रसति भजति सोऽमृतो भवती"त्यादिश्रुतिभ्यः। किंच योऽंशोऽनयोरविरुद्धस्तत्र नो न विद्वेषः। किंतु विरुद्धोंऽशः परिह्रीयते। यद्यप्येष परेशनिष्ठः। "ईश्वरप्रणिधानाद्वा, क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष. ईश्वरः" इत्यादि सूत्रप्रणयनात्। तथापि मोहादेवं जजल्पेति वदन्ति। गौतमादयोऽपि विमोहिता विरुद्धानि मतानि दधुः। तानि च प्रत्याख्यास्यति। विज्ञानां विमोहः क्वचित् सार्व्वज्ञाभिमानकुपितया हरेर्मायया क्वचित्तु तस्यैच्छयैवार्थान्तरप्रयुक्त्या बोध्यः। ईश्वरवादाभ्युपगमेन शङ्काधिक्यात् तन्निरासार्थोऽधिकरणातिदेशः। हिरण्यगर्भकृतापि योगस्मृतिरनेनैव निराकृता बोध्या ॥ ३ ॥

निर्विषयतारूप दोष आ पड़ता है। इसलिये योगस्मृति के द्वारा वेदान्त की व्याख्या नहीं करके मन्वादिस्मृति के द्वारा ही व्याख्या करना उचित है। उस योगस्मृति को वेदान्त अविरोधिनी भी नहीं कह सकते हैं। उसमें प्रधान स्वतन्त्र कारण है, ईश्वर और जीव सकल चिन्मात्र-विभु रूप हैं, योग से ही दुःखनिवृत्ति और मुक्ति होती है इत्यादिक वेदान्त विरुद्धार्थ का प्रतिपादन किया गया है। चित्तवृत्ति रूप प्रत्यक्षादि प्रमाण समूह का उसमें अर्थ किया गया है जो कि वेदान्त में उपलब्ध नहीं है। उसमें उन सब अर्थों का अन्वेषण होना चाहिये। अतएव वेदान्त विरुद्ध योगस्मृति की व्यर्थता के दोष से भय का कोई कारण नहीं है और सब पहले की तरह जानना। वेदान्तवेद्य ईश्वर-जीव-उपाय-उपेय का याथात्म्यतत्व आगे यथा स्थान पर व्यक्त होगा।"त्रिरुन्नतमित्यादि"श्रुति में जो आसनादि योगांग का विधान और "तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं" इत्यादिक स्थल में जो सांख्यादि शब्द का व्यवहार तथा उसके द्वारा जो ज्ञान-ध्यान की बात हीउल्लेख है,वह ज्ञान और ध्यान वैदिक विधिके अतिरिक्त रूपसे स्वीकार करना होगा। प्रकृति पुरुषों का भेद के ज्ञान से तथा तदुक्त योगमार्ग के द्वारा मोक्ष नहीं हो सकता है, क्योंकि उन सर्वेश्वर पुरुष का ज्ञान वा ध्यानादि भक्तिअंग समूह मुक्ति का कारण है—इस प्रकार श्रुति में कहा गया है। तो भी सांख्य वा योग के जो जो अंश वेदान्त से अविरुद्ध हैं उन सब अंशो में कोई विद्वेष नहीं है, केवल श्रुति विरुद्ध अंश ही वर्जनीय है। "ईश्वर प्राणिधानाद्वा" "क्लेश-कर्म्म-वियाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः" इत्यादि सूत्रों के प्रणयन से यद्यपि आपाततः पतञ्जलिजी परेशनिष्ठ बोध होते हैं तो भी साधुगण के कथनानुसार वे परेशनिष्ठ नहीं हैं क्योंकि उनने मोहवश होकर इस प्रकार परेश बोधक कुछ सूत्रों का प्रणयन किया है ऐसा जानना चाहिए। गौतमादि-मुनियों ने भी मायामोहित होकर विरुद्ध-मतों का प्रचार किया है। उन सब मतों का इस अध्याय में प्रत्याख्यान होगा। इस प्रकार के विज्ञ-मुनियों का विमोहन होना कहीं तो अपने सार्वज्ञत्व-अभिमान से और कहीं पर प्रभु-इच्छा से जानना चाहिए। मुनियों की सर्वज्ञता के अभिमान से भगवान् कुपित हो कर निज माया के द्वारा उन्हे मोहित कर देते हैं। कहीं पर किसी विशेष प्रयोजन साधन के लिये उन्हें मोहित करते हैं। योगस्मृति आदि में ईश्वरादिक को स्वीकार अवश्य किया गया है परन्तु इस प्रकार के स्वीकार करने से उस विषय में अधिक शंका उठती है। अतएव उन सब स्मृतियों के निराकरण के निमित्त ही यह सब अधिकरण अति-

तदेवं सांख्यादिस्मृत्योर्वेदविरुद्धत्वेनानाप्तत्वे निर्णीते वेदेऽपि तद्विरोधिनः केचित् सांख्यादयः संशयीरन्। तत्परिहारायेदमारभ्यते। तत्रैवं संशयः। वेदोऽप्यनाप्तो न वेति। तत्र "कारीर्य्या यजेत वृष्टिकाम" इत्यादिश्रुत्युक्ते कारीर्य्यादिकर्म्मण्यनुष्ठितेऽपि फलानुपलब्धेरनाप्त इति प्राप्तौ—

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ॥ ४ ॥

नास्य वेदस्य सांख्यादिस्मृतिवदप्रामाण्यम्। कुतः विलक्षणत्वात् जीवक्लृप्तत्वेन भ्रमादिदोषचतुष्टयविशिष्टायाः सांख्यादिस्मृतेः सकाशात् वेदस्य नित्यतया भ्रमादिकर्त्तृदोषशून्यस्य वैशेष्यात्। तथात्वं नित्यत्वं चास्य शब्दादवगम्यते। "वाचा विरूप नित्यये"त्यादिश्रुतेः "अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्व्वाः प्रवृत्तय" इति स्मृतेश्च। मन्वादिस्मृतीनान्तु वेदमूलकत्वादेव प्रामाण्यम्। पूर्व्वं युक्त्या नित्यत्वमुक्तमिह तु श्रुत्येति विशेषः। ननु "तस्माद् यज्ञात् सर्व्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायते"ति पुरुषसूक्ते जन्मश्रवणाज्जातस्य च विनाशावश्यम्भावादनित्यत्वम्। मैवम्। जनिशब्देन तत्राविर्भावोक्तेः। अत उक्तं—"स्वयम्भुरेष भगवान् वेदो गीतस्त्वया पुरा। शिवाद्या ऋषिपर्य्यन्ताः स्मर्त्तारोऽस्य न कारका इति। न च फलादर्शनादप्रामाण्यम्। अधिकारिणां सर्व्वत्र फलदर्शनात्। यत्तु क्वचित्तददर्शनं तत् किल कर्त्तुरयोग्यतयोपपद्येत। सांख्यादिस्मृतीनां तु वेदविरोधादेवाप्रामाण्यम् ॥ ४ ॥

दिष्ट होता है। इस सूत्र के द्वारा हिरण्यगर्भ कृत योगस्मृति भी निराकृत हुई है ॥ ३ ॥

इस प्रकार सांख्यादि—स्मृति के वेदविरुद्धत्व कथन के द्वारा अनाप्तत्व निर्णय होने पर वेद में भी वेदविरोधी सांख्यादिक संशय उठा सकते हैं। इस प्रकार की आशङ्का के परिहारार्थ अन्य-प्रकरण आरम्भ करते हैं। इस विषय में यह शङ्का उठती है कि वेद आप्त है अथवा अनाप्त। "वृष्टिकामी कारीरी-यज्ञ का अनुष्ठान करें", इस तरह का विधान देखने में आता है। परन्तु वेदोक्त इस कर्म्मानुष्ठान का फल न पाकर सब लोग वेद को अनाप्त कह कर अप्रामाण्य स्थिर कर सकते हैं। इस भाँति पूर्वपक्ष उठने पर उसका उत्तर देते हैं—

सांख्यादि-स्मृतियों की तरह वेद अप्रमाणिक नहीं हो सकता है, क्योंकि वेद सांख्यादि-स्मृति से पूर्णतः विलक्षण है। सांख्यादि-स्मृति जीवकल्पित तथा भ्रमादिक दोष चतुष्टय से युक्त है किन्तु वेद नित्य तथा भ्रमादिकदोषों से रहित है। वेद का कर्त्ता अभ्रान्त है। यही दोनों में विशेषता है। वेद का भ्रमादिक-कर्त्तृ दोषशून्यत्व और ईश्वरकृत वेद में भ्रमादि-कर्त्तृ दोष की सम्भावना नहीं है। वेद का नित्यत्व श्रुति और स्मृति से अवगत हो जाता है। श्रुति बोलती है—"वेद-वाक्य नित्य है"। स्मृति में भी कहा है—स्वयम्भू भगवान् ने पहिले आदि अन्त रहित दिव्य वेदवाक्य का प्रकाश किया है जिससे सकल शास्त्र की प्रवृत्ति हुई। मन्वादिस्मृति वेदमूलक होने के कारण प्रामाणिक है। पहिले युक्ति के द्वारा "अतएव च नित्यत्वं" इस सूत्र से वेद का नित्यत्व कहा गया है। वर्त्तमान-श्रुति के द्वारा ही नित्यत्व कहा जाता है यह विशेषता है। अच्छा, "यज्ञ मूर्त्ति पुरुष से ऋगादि वेद-समूह उत्पन्न हुए हैं इत्यादिक पुरुषसूक्त-मन्त्र में वेदों की उत्पत्ति का श्रवण होने से जिसकी उत्पत्ति है उसका विनाश अवश्यम्भावी होता है इस नियम से वेद के नित्यत्व की हानी होती है। अब इसका समाधान करते हैं कि इस प्रकार का सिद्धान्त असंगत है। कारण यह है कि यहाँ पर उत्पत्ति-वाचक जनि-शब्द से केवल आविर्भाव कहा जाता है। इसलिये शास्त्र में कहा है—स्वयम्भू यह भगवान् वेद पहले तुम से गान किया गया है। वेद नित्य है। शिवादिक ऋषिगण उसके स्मरण कर्त्ता हैं। इसकी रचना किसी ने नहीं की है। फल के अदर्शन से यह अप्रामाण्य नहीं हो सकता है। अधिकारी होने पर सर्वत्र फल मिलता है। करने वाले

स्यादेतत् "तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां, ता आप ऐक्षन्त बह्वयः स्याम" इति छान्दोग्ये। "ते हेमे प्राणा अहं श्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः को नः विशिष्ट" इति बृहदारण्यके च वाधितार्थकं वाक्यं वीक्ष्यते, तादृशं चैव वन्ध्यासुतो भाती"तिवत् अप्रमाणमेव। एवमेकदेशाप्रामाण्येनान्यस्याप्यप्रामाण्याज्जगत्कारणत्वं ब्रह्मणः श्रूयमाणं नेति चेत्तत्राह—

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥ ५ ॥

तुशब्दः शङ्काच्छेदाय। तत्तेज इत्यादिव्यपदेशः तेजआद्यभिमानिनीनां चेतनानां देवतानामेव,न त्वचेतनानां तदादीनाम्। कुतः? विशेषेति। "हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता" इति। तेजोऽवन्नानां "सर्व्वा ह वै देवता अहं श्रेयसे विवदमानास्ते देवाः प्राणे निःश्रेयसं विदित्वेति" प्राणानां च तत्र तत्र देवताशब्देन विशेषणात्। "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशन्" इत्याद्यैतरेयके वागाद्यभिमानितयाग्न्यादीनामनुप्रवेशश्रवणाच्च। स्मृतिश्च—"पृथिव्याद्यभिमानिन्यो देवताः प्रथितौजसः। अचिन्त्याः शक्तयस्तासां दृश्यन्ते मुनिभिश्च ता" इति। एवं "ग्रावाणः प्लवन्त" इत्यत्रापि कर्म्मविशेषाङ्ग भूतानां ग्राव्णां वीर्य्यवद्धनार्थो स्तुतिरियम्। सा च श्रीरामकृतसेतुबन्धादौ यथावदेवेति न क्वाप्यनाप्तत्वं वेदस्य, तेन तदुक्तं ब्रह्मणो विश्वैककारणत्वं सूचितम् ॥ ५ ॥

पुनरपि ब्रह्मोपादानताक्षेपाय तर्कमाश्रयन् सांख्याः प्रवर्त्तते। यद्यप्ययमात्मयाथात्म्यनिर्णये त्यक्तस्तर्कः श्रुतिवि-

---

की अयोग्यता के कारण कहीं कहीं फल का अभाव हो सकता है। अतः वेदविरुद्ध होने के कारण सांख्यादि स्मृति अप्रामाण्य है ॥ ४ ॥

"अच्छा, उस तेज ने देखा,मैं बहुत होऊँगा—ऐसा संकल्प किया,उस जलने देखा, बहुत होऊँगा—ऐसा संकल्प किया" इस प्रकार के वाक्य छान्दोग्य में देखने में आते हैं। वृहदारण्यक में भी "वे सब प्राण हम सब मंगल के लिये हैं, हम सब के मध्य में कौन प्रधान है"—इस प्रकार विवाद करते करते प्रजापति के निकट उपस्थित हुए ऐसा देखने में आया है। ये सब वाक्य "वन्ध्यापुत्र" की भाँति अप्रमाणिक प्रतीत होते हैं। क्योंकि तेज, जल और प्राणादिक जड़ वस्तु हैं। उनकी देखने तथा बोलने की शक्ति कहाँ है। इस प्रकार एकदेश के अप्रमाण होने से वेद का अन्यान्य अंश भी अप्रामाणिक हो सकता है। जब वेद अप्रामाणिक हो सकता है तो वेदोक्त ब्रह्म का जगत् कारणत्व अयथार्थ हो जाता है। इस प्रकार पूर्वपक्ष उठने पर उसके उत्तर में कहते हैं—

यहाँ "तु" शब्द शङ्का-च्छेदन के लिये है। "उस तेज ने देखा" इत्यादिक श्रुति में जो तेज आदिक वस्तु का व्यवहार है वह तेज आदिक अभिमानी चेतन देवता के लक्ष्य में जानना चाहिए। तेज प्रभृति जड़ वस्तु के उद्देश्य में नहीं है। कारण यह है कि श्रुति में "हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता" "तेजोऽवन्नानां सर्वा ह वै देवता" "अहं श्रेयसे विवदमानास्ते देवाः" इत्यादिक स्थल पर देवताशब्द के उल्लेख के कारण तेज प्रभृति समस्त शब्द देवता के विशेषण हैं। "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्" इत्यादिक ऐतरेयक श्रुति में वागादिकों का अभिमानी रूप से अग्नि प्रभृति देवताओं का प्रवेश सुनने में आता है। स्मृति में कहा है—पृथिवी आदिकों के सकल-अभिमानी देवता प्रथित वीर्य्य वाले हैं। उनकी अचिन्त्यशक्तियों को मुनिगण देखते हैं शिला-समूह तैरता है इत्यादिक स्थल में प्लवन रूप कर्म्म विशेष अंगीभूत शिलाओं की प्रशंसा के लिये है। इस प्रकार स्तुतिमय वाक्यों का प्रयोग किया गया है। यह वचन श्रीरामकृत सेतुबंधादिकों में संगत होता है। अतः किसी भी प्रकार वेद अनाप्त नहीं हो सकता है, तथा वेद के द्वारा उक्त ब्रह्म का जगत्कारणत्व सुस्थिर होता है ॥ ५ ॥

फिर भी ब्रह्म के उपादानत्व के आक्षेप के लिये तर्क का आश्रय लेकर सांख्य प्रवृत्त होता है। यद्यपि श्रुतिविरोध

रोधात् "न कुतर्कोपसदस्यात्मलाभ" इत्युक्तेः। तथापि परं प्रति दौष्यप्रकाशनमेतत्। तत्रैवं संशयः। जगद् ब्रह्मोपादानकं स्यान्न वेति। किं प्राप्तं ब्रह्मोपादानकं नेति वैरूप्यात्। सर्व्वज्ञसर्व्वेश्वरविशुद्धसुखरूपतया ब्रह्माभिमतम्। अज्ञानीश्वरमलिनदुःखितया प्रत्यक्षादिभिरवगतं जगत्। अतस्तयोर्वैरूप्यं निर्विवादम्। उपादेयं खलु उपादानस्वरूपं दृष्टम्। यथा मृत्सुवर्णतन्त्वाद्युपादेयं घटमुकुटपटादि। अतो वै ब्रह्मवैरूप्येण तदुपादेयत्वासम्भवात् तत्स्वरूपमुपादानं किंचिदन्वेषणीयम्। तच्च प्रधानमेव। सुखदुःखमोहात्मकं जगत् प्रति तादृशस्य तस्यैव योग्यत्वात्। यच्चोपादेयसारूप्यसाधनाय तथाभूतेऽप्युपादाने ब्रह्मणि चिज्जडात्मिकातिसूक्ष्मा शक्तिद्वयी प्रागभ्युपेत्युच्यते। तेनापि वैरूप्यं दुष्परिहरं सूक्ष्मात् सूक्ष्मशक्तिकादुपादानात् स्थूलतरोपादेयोदयनिरूपणात्। एवमन्यच्च वैरूप्यं विभावनीयम्। एवं ब्रह्मवैरूप्यात्तदुपादानकं जगन्नेति तर्कश्च शास्त्रस्यावश्यापेक्ष्यः तदनुगृहीतस्यैव क्वचिद्विषयेऽर्थनिश्चयहेतुत्वादिति पूर्व्वपक्षः। तदिमं निरस्यति।

दृश्यते तु ॥ ६ ॥

तु शब्देन शङ्का निरस्यते। पूर्व्वतो नेत्यनुवर्त्तते। यदुक्तं ब्रह्मवैरूप्यात्तदुपादानकं जगन्नेति तन्न विरूपाणामप्युपादानोपादेयभावस्य दृष्टत्वात्। यथा गुणानामुत्पत्तिर्विजातीयाद् द्रव्यात् यथा कृमीणां माक्षिकात्, यथा करितुरगादीनां कल्पद्रुमात्, यथा च सुवर्णादीनां चिन्तामणेरिति। इत्थमभिप्रेत्यैव दृष्टान्तितमाथर्व्वणिकैः। "यथोर्णनाभिः सृजते गृन्हते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतःपुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वमिति" ॥ ६ ॥

के कारण कुतर्क के द्वारा आत्मलाभ नहीं होता है—इत्यादि शास्त्रबल से आत्मयाथार्थ्यनिर्णय में कपिल के द्वारा तर्क का निषेध हुआ है तो भी दूसरे का दोष दिखाने के लिये कपिल ने तर्क को स्वीकार किया है। यहाँ संशय यह है कि—ब्रह्म जगत् का उपादान है किम्वा नहीं है। वैरूप्य प्राप्त होने के कारण ब्रह्म जगत् का उपादान नहीं है। ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, विशुद्ध, तथा सुख स्वरूप करके अभिमत है। प्रत्यक्षादि प्रमाण के द्वारा जगत् अज्ञ, अनीश्वर, मलिन और दुःखी रूप से प्रतीत होता है। इसलिये दोनों का वैरूप्य निर्विवाद है। निश्चय उपादेय वस्तु उपादान रूप से दीखती है। मृत्तिका, सुवर्ण, और सूत प्रभृति वस्तु घट, मुकुट, और पटों का उपादान हैं। अतएव ब्रह्म से वैरूप्य होने के कारण जगत् का ब्रह्म-उपादेयत्व असम्भव है। उसके दूसरे किसी उपादान स्वरूप का अन्वेषण होना चाहिये। वह प्रधान हो सकता है। सुख दुःख मोह रूप जगत् के लिये सुख दुःख मोहात्मक प्रधान समान उपादान हो सकता है। उपादेय जगत् के साथ सारूप्य-साधन के लिये तथा रूप उपादान ब्रह्म में चित्-जडात्मिका तथा अतिसूक्ष्मा दोनों शक्ति हैं—यह पहले स्वीकार किया गया है। उससे भी वैरूप्य का दुष्परिहार होता है। कारण सूक्ष्मशक्ति समन्वित उपादान से स्थूलतर उपादेय जगत् की उत्पत्ति निरूपण की गयी है। इस प्रकार और वैरूप्य की विभावना हो सकती है। ब्रह्म और जगत् के वैरूप्य के कारण ब्रह्म जगत् का उपादान नहीं हो सकता है। इस प्रकार तर्क अवश्य अपेक्षणीय होता है। तर्कानुगृहीत नहीं होने से समस्तस्थल में अर्थ-निर्णय नहीं होता है। इस पूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं ॥—

विरूप का भी उपादान-उपादेयत्व भाव देखने में आता है। "तु" शब्द से शंका का निराकरण होता है। पूर्व से नकार की अनुवृत्ति है। वैरूप्य के कारण ब्रह्म जगत् का उपादान नहीं हो सकता है—ऐसा नहीं कह सकते हो। क्योंकि विरूप दोनों वस्तु का भी उपादान-उपादेयत्व भाव देखने में आता है। जैसा कि गुणों की उत्पत्ति विजातीय द्रव्य से, कृमियों की उत्पत्ति मधु से, करि-तुरगों की उत्पत्ति कल्पवृक्ष से तथा सुवर्णादिकों की उत्पत्ति चिन्तामणि से होती है। इस अभिप्राय को लेकर आथर्व्वणिक दृष्टान्त देते हैं—जिस प्रकार ऊर्णनाभ कीट निज उदर

ननूपादानात् विलक्षणं चेदुपादेयं तद्युपादाने ब्रह्मणि जगदुत्पत्तेः प्रागसदित्यापद्येत । पूर्व्वमैक्यावधारणादसच्चोत्पद्येत । न चैतदिष्टं ते सत्कार्य्यवादिन इति चेत्तत्राह—

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ ७ ॥

नैष दोषः। कुतः ? प्रतीति । पूर्व्वसूत्रे सारूप्यनियमस्य प्रतिषेधमात्रं विवक्षितं। न तूपादानादुपादेयस्य द्रव्यान्तरत्वमपि । ब्रह्मैव स्वविलक्षणविश्वाकारेण परिणमत इत्यङ्गीकारात् । अयं भावः। यस्य सारूप्यस्याभावात् ब्रह्मोपादानतामाक्षिपसि तत्किं कृत्स्नस्य ब्रह्मधर्म्मस्यानुवर्त्तनमभिप्रैष्युत यस्य कस्यचिदिति । नाद्यः उपादानोपादेयभावानुपपत्तेः। न हि घटादिषु मृत्पिण्डोपादेयेषु पिण्डत्वाद्यनुवृत्तिरस्ति। द्वितीये तु नानिष्टापत्तिः सत्त्वादिलक्षणस्य ब्रह्मधर्म्मस्य प्रपञ्चेऽप्युनुवृत्तेः। ननु येन केनचिद्धर्म्मेण सारूप्यं न शक्यं मन्तुं सर्व्वस्य सर्व्वसारूप्येण सर्व्वस्मात् सर्व्वोत्पत्तिप्रसङ्गात्। तस्मात् येन धर्म्मेणोपादानभूतं वस्तु वस्त्वन्तरात् व्यावर्त्तते तस्य धर्म्मस्योपादेयेऽनुवृत्तिः सारूप्यं, यथा तन्त्वादितः सुवर्णं येन स्वभावेन व्यावर्त्तते तस्य कङ्कणादिके तदुपादेयेऽनुवृत्तिर्दृष्टा, तथैतत् द्रष्टव्यमिति चेन्नैवम्। माक्षिकादिभ्यः कृम्यादीनामुत्पत्तावस्य नियमस्य व्यभिचारात्। न च स्वर्णकङ्कणयोः सर्व्वथा सारूप्यमस्ति अवस्थाभेदात्। तथा च स्वर्णचिन्तामण्योरिव वैरूप्येऽपि कङ्कणस्वर्णयोरिव द्रव्यैक्यसत्त्वान्नासत्कार्य्यमिति ॥ ७ ॥

से सूत का विस्तार कर फिर उसको निगल जाता है, जैसा कि पृथिवी से औषधियाँ उत्पन्न होती हैं, जिस प्रकार जीवों के देह से केश, लोमादि उत्पन्न होते हैं ठीक उसी प्रकार उस अक्षर पुरुष से विश्व उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥

अच्छा, इस प्रकार उपादेय यदि उपादान से बिलक्षण है तब उत्पत्ति के पहले जगत् के उपादान रूप ब्रह्म में अस्तित्व का अभाव आ पड़ता है। उस समय एक मात्र ब्रह्म ही था। असत् जगत् उस से उत्पन्न हुआ है। सत्कार्य्यवादी तुम्हें यह इष्ट नहीं है-इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष का उत्तर देते हैं।-

ब्रह्म और जगत् का वैरूप्य बोलने पर भी कोई दोष नहीं है। कारण यह है कि पूर्व्वसूत्र में जो वैरूप्य कहा गया है,उसे सारूप्य के प्रतिषेधार्थ ही जानना होगा। उसके द्वारा उपादान से उपादेय को पृथक् वस्तु नहीं कहा गया है। ब्रह्म ही अपनी विलक्षणता से विश्व आकार में परिणत होता है ऐसा स्वीकार किया गया है। इसका तात्पर्य्य यह है-जिस सारूप्य का अभाव के वश ब्रह्म का उपादानत्व-आक्षेप किया जाता है, उसे समस्त ब्रह्मधर्म्म के अनुवर्त्तन की इच्छा से किम्वा किसी एक ब्रह्मधर्म्म के अनुवर्त्तन की इच्छा से ? समस्त ब्रह्मधर्म्म के अनुवर्त्तन की इच्छा से नहीं कह सकते हो,क्योंकि उससे उपादान-उपादेयत्व भाव की उपपत्ति(सिद्धि)नहीं हो सकती है। मृत्पिण्ड से घटादिक में उत्पन्न पिण्डत्वादि धर्म्म का अनुवर्त्तन देखने में नहीं आता है। किसी एक ब्रह्मधर्म्म के अनुवर्त्तन से अनिष्टापत्ति नहीं हो सकती है। सत्वादि लक्षण ब्रह्मधर्म्म के प्रपञ्च में भी अनुवर्त्तन देखने में आता है। अच्छा, किसी किसी धर्म्म के अनुवर्त्तन से सारूप्य स्थिर नहीं होता है—ऐसा नहीं कह सकते हो। कारण यह है कि सकल वस्तु के सकल धर्म्म का सारूप्य स्वीकार करने पर सकल वस्तु से सकल वस्तु की उत्पत्ति-प्रसङ्ग हो उठता है। अतएव जिस धर्म्म के द्वारा उपादान भूत वस्तु की अन्य वस्तु से व्यावृत्ति होती है, उस धर्म्म की उपादेय वस्तु में अनुवृत्ति ही उसका सारूप्य है। जैसा कि सुवर्ण जिस धर्म्म के द्वारा सूतों से भिन्न है, सुवर्ण के उसी धर्म्म की कंकणादिकों में अनुवृत्ति का होना देखा जाता है। सर्व्वत्र इस नियम का प्रयोग करना होगा-ऐसा निश्चय नहीं किया जाता है। क्योंकि माक्षिकादिकों से कृमियों की उत्पत्ति के स्थल में उक्त नियम का व्यभिचार दृष्ट होता है। सुवर्ण और कङ्कण के अवस्था-भेद के दर्शन में दोनों का सकल अवस्था में सारूप्य है—ऐसा स्वीकार नहीं किया जाता है। अतएव सुवर्ण और चिन्तामणि की तरह वैरूप्य होने पर भी कङ्कण और

युक्त्यन्तरेण पुनराक्षिपति—

अपीतौ तद्वत् प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥ ८ ॥

अस्य चिज्जडात्मकस्य नानाविधापुमर्थविकारास्पदस्य जगतः सूक्ष्मशक्तिकं ब्रह्म चेदुपादानं तदाऽपीतौ प्रलये तस्य तद्वत् प्रसङ्गः। षष्ठ्यन्तादिवार्थे वतिः तत्र तस्येवेति सूत्रात्। उपादेयवदपुमर्थविकारप्राप्तिः स्यात् तदानीं तेन सह तस्यैक्यात्। अतोऽसमञ्जसमिदमुपनिषद्वाक्यवृन्दं,यत् सार्व्वज्ञनिरवद्यत्वादिगुणकमुपादानं ब्रह्मेति गदति॥८॥

परिहरति—

न तु दृष्टान्तभावात् ॥ ९ ॥

तुशब्दादाक्षेपसम्भावनापि निरस्ता। नैव किञ्चिदसमञ्जसम् । कुतः उपादेयजगत्सम्पर्केऽप्युपादानस्य ब्रह्मणः शुद्धतयाऽवस्थितौ दृष्टान्तसत्त्वात्। यथैकस्मिंश्चित्राम्वरे नीलपीतादयो गुणाः स्वस्वप्रदेशेष्वेव दृष्टा न तु ते व्यतिकीर्य्यन्ते तथा चैकस्मिन् देहिनि वाल्यादयो देहधर्म्मा देहे काणत्वादयः करणधर्म्माश्च करणगतो विज्ञायन्ते, न त्वात्मनि। एवमपुमर्थविकारा ब्रह्मशक्तिधर्म्माः शक्तिगताः स्युर्न तु ब्रह्मणि शुद्धे प्रसज्जेरन् इति ॥ ९ ॥

न केवलं निर्दोषतया ब्रह्मोपादानता स्वीकृता। प्रधानोपादानताया दुष्टत्वादपीत्याह—

स्वपक्षे दोषाच्च ॥ १० ॥

ये दोषास्त्वया सांख्येनास्मत्पक्षे सम्भावितास्ते स्वपक्षे निजमत एव द्रष्टव्याः, तेषामन्यत्र निरस्तत्वात्। तथाहि उपादानोपादेययोर्वैरूप्यं सांख्यपक्षेऽप्यस्ति शब्दादिशून्यात् प्रधानाच्छब्दादिमतो जगतो जनुरङ्गीकारात्।

सुवर्ण की भाँति द्रव्य का ऐक्यप्रयुक्त होने के कारण जगत् कार्य्य को असत् नहीं कहा जा सकता है॥ ७ ॥

फिर युक्त्यतन्र के द्वारा आक्षेप करते हैं।—

यदि सूक्ष्मशक्तिक ब्रह्म चित् जडात्मक, नाना प्रकार के अपुरुषार्थ और विकारों के आस्पद जगत् का उपादान है तब प्रलयकाल में उस विकृतमय जगत् के संसर्ग से ब्रह्म में भी विकार और अपुरुषार्थ की आपत्ति हो सकती है। षष्ठ्यन्त से इवार्थ में वत् का प्रयोग है "तत्र तस्येवेति" सूत्र के द्वारा जानना चाहिए। उपादेय की तरह अपुमर्थ विकारादि-प्राप्ति हो सकती है क्योंकि उस समय ब्रह्म के साथ जगत् का ऐक्य हो जाता है। अतएव सर्वज्ञता और निरवद्यतादिक उपनिषद्प्रतिपाद्य गुणसमूहों से युक्त ब्रह्म जगत् का उपादान है यह असम्भव हो जाता है॥८॥

पूर्वपक्ष का परिहार करते हैं—"तु" शब्द से आक्षेप की सम्भावना तक भी निरस्त हो जाती है। इसमें कुछ भी असमञ्जसता नहीं है। क्योंकि उपादेय जगत् के संसर्ग से उपादानभूत ब्रह्म के शुद्धत्वादिकों की हानि नहीं है। सार्वकालिक शुद्धता के दृष्टान्त मौजूद है। जिस प्रकार एक चित्रपट में नील-पीतादिक वर्ण समूह निज निज प्रदेश-विशेष में दृष्ट होते हैं, किन्तु वे सब समस्तवस्त्र में बिखर नहीं सकते हैं, जैसे कि एक ही देही में वाल्यादिक देहधर्म्म-समूह देह में ही प्रतीत होते हैं और काणत्व प्रभृति इन्द्रियधर्म्म इन्द्रिय में ही प्रतीत होते हैं, आत्मा में नहीं है, ठीक उसी प्रकार अपुरुषार्थ और विकारादि शक्तिधर्म्म-समूह शक्ति में ही अवस्थित होते हैं किन्तु शुद्ध ब्रह्म में उनकी प्रसक्ति नहीं हैं ॥ ९ ॥

केवल निर्दोष रूप से ब्रह्म का उपादानत्व स्वीकार नहीं किया गया है किन्तु प्रधान के उपादानत्व स्वीकार करने में दोष दिखलाया गया है। अब यह बात बतलायी जाती है-सांख्य दर्शन ने जो समस्त दोषों की हमारे पक्ष में सम्भावना की है वे सब दोष फिर सांख्यदर्शन के पक्ष में दीखने में आते हैं। वे सब दोष अन्यत्र निरस्त हुए हैं। उपादान और उपादेय का वैरूप्य सांख्यपक्ष में भी दीखने में आता है। सांख्यमत में शब्दादि-शून्य प्रधान से शब्दादि-विशिष्ट जगत् की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है। इस प्रकार उपादान उपादेय के वैरूप्य के वश अस-

तस्मात्तस्य वैरूप्यादेवासत्कार्य्यताप्रसङ्गः । प्रधानाविभागस्वीकारादेवापीतौ तद्वत् प्रसङ्गश्चेत्येवमादयः । जगत्प्रवृत्तिरपि प्रधानवादे न सम्भवति इति तत्परीक्षायां वक्ष्यामः ॥ १० ॥

यत्तूक्तं तर्कानुगृहीतं शास्त्रमर्थनिश्चयहेतुरिति तत्प्रयाह—

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः ॥ ११ ॥

पुरुषधीवैविध्यात् तर्का नष्टप्रतिष्ठा मिथो विहन्यमाना विलोक्यन्ते । अतोऽपिताननादृत्यौपनिषदी ब्रह्मोपासनता स्वीकार्या । न च लब्धमाहात्म्यानां केषांचित् तर्काः प्रतिष्ठिताः, तथाभूतानामपि कपिलकणभुगादीनां मिथो विवादसन्दर्शनात् । नन्वहमन्यथानुमास्ये यथाऽप्रतिष्ठा न स्यात् । न तु प्रतिष्ठितस्तर्क एव नास्तीति शक्यं वदितुं तर्काप्रतिष्ठानुरूपस्य तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वात् । सर्व्वतर्काप्रतिष्ठायां जगद्व्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् । अतीतवर्त्तमानवर्त्मसाधारण्येनानागतेऽपि वर्त्मनि सुखदुःखप्राप्तिपरिहारार्थो लोकप्रवृत्तिदृष्टेति चेत् एवमप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः । पुरुषबुद्धिमूलतर्कावलम्बनस्य भवतो देशान्तरकालान्तरजनिपुणतमतार्किकदूष्यत्वसम्भावनया तर्काप्रतिष्ठानदोषादनिस्तारः स्यात् । यद्यप्यर्थविशेषे तर्कः प्रतिष्ठितस्तथापि ब्रह्मणि सोऽयं नाऽपेक्ष्यते अचिन्त्यत्वेन तदनर्हत्वात् श्रुतिविरोधाच्चेति त्वदुक्त्यसंगतेश्च । श्रुतिश्च ब्रह्मणस्तर्कागोचरतामाह । "नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनसु ज्ञानाय प्रेष्ठे"ति कठानाम् । स्मृतिश्च—"ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः । यदा तदैवासत्तर्कैस्तिरोधीयेत विप्लुत"मित्याद्या ।

त्कार्य्य का प्रसंग हो उठता है । प्रधान से ब्रह्म का अविभाग अर्थात् ऐक्य स्वीकार करने में प्रलय के समय प्रकृति के संसर्ग से ब्रह्म का अपुमर्थ और विकार की प्राप्ति का प्रसंग आदि दोष भी हो सकते हैं । प्रधानवाद में जगत्प्रवृत्ति सम्भव नहीं होती है । यह सब विषय उस वाद की परीक्षा के समय कहेंगे ॥ १० ॥

तर्कानुगृहीत शास्त्र ही अर्थ निश्चय का हेतु है—इस विषय में जो कुछ बोला गया है उसके लिये कहते हैं—

पुरुष की बुद्धिवृत्ति नाना प्रकार की होने के कारण तर्क समूह अप्रतिष्ठित और परस्पर खण्डन रूप होते हैं । इसलिये उन सब तर्कों का आदर नहीं करते हुए उपनिषद् में कथित ब्रह्म की उपादानता को स्वीकार करना कर्त्तव्य है । लब्धप्रतिष्ठित व्यक्तियों का तर्क प्रतिष्ठित करके स्वीकार्य्य है–ऐसा नहीं कह सकते हो । क्योंकि लब्धप्रतिष्ठ कपिल, कणाद प्रभृति व्यक्तियों का परस्पर विवाद देखने में आता है । समस्त तर्क अप्रतिष्ठित है—ऐसा नहीं कह सकते हो, क्योंकि तर्क का अप्रतिष्ठानसाधक तर्क ही प्रतिष्ठित होता है । अतः जिस प्रकार तर्क का अप्रतिष्ठान नहीं हो उस प्रकार तर्क का स्वीकार करना कर्त्तव्य है । समस्त तर्कों का अप्रतिष्ठित कहना नितान्त असंगत है क्योंकि उससे जगद्व्यवहार के उच्छेद का प्रसंग हो सकता है । अतीत और वर्त्तमान दृष्टान्त के अनुसार भविष्यत् में भी सुखलाभ तथा दुःखपरिहारार्थ लोकों की प्रवृत्ति परिदृष्ट होती है । इसमें भी श्रद्धा नहीं कर सकते हो क्योंकि उससे अनिर्मोक्ष प्रसंग उठ सकता है । तुम्हारे पुरुषबुद्धिमूलक तर्क की प्रतिष्ठा स्वीकार करने पर अन्यदेश वा अन्यकाल में तुमसे भी अतिनिपुण जो तार्किकगण उत्पन्न होंगे वे सब दूषण के द्वारा तर्क को भी अप्रतिष्ठित कर सकते हैं । इस तरह तर्क का अप्रतिष्ठान रूप दोष का निस्तार नहीं हो सकता है । यद्यपि अर्थविशेष में तर्कों की प्रतिष्ठा दीखने में आती है तो भी ब्रह्म विषय में तर्क की अपेक्षा नहीं है । ब्रह्म अचिन्त्य वस्तु है इसलिये वह तर्क से अगोचर है । ब्रह्म में तर्क को स्वीकार करने पर श्रुति के साथ विरोध घटता है तथा तुम्हारा वचन असंगत हो जाता है । ब्रह्म में तर्क का अगोचरत्व श्रुति ने कठउपनिषद् में कहा है "प्रेष्ठ नाचिकेत ! परतत्व ग्रहणसमर्था तुम्हारी इस बुद्धि को शुष्क तर्क के द्वारा नीचमार्ग में मत लेना । तुम्हारी यह बुद्धि वेदज्ञ–गुरू के द्वारा उपदेश प्राप्त होने पर उत्कृष्ट फल का प्रसव करेगी" इत्यादि । स्मृती में भी कहा गया है । "प्रशान्तात्मा मुनिगण ब्रह्मज्ञान का लाभ करते हैं जब असत् तर्क द्वारा यह ज्ञान विलुप्त होता है तब तिरोहित हो जाता है" । इत्यादि ।

तस्मात् श्रुतिरेव धर्म्म इव ब्रह्मणि प्रमाणम् । तत्पोषकारी तर्कस्त्वपेक्षत एव "मन्तव्य" इति श्रुतेः "पूर्व्वापराविरोधेने"त्यादिस्मृतेश्च । तस्मात् ब्रह्मोपादानकं जगदिति ॥ ११ ॥

सांख्ययोगस्मृतिभ्यां तदीयतर्कैश्च विरोधः परिहृतः । इदानीं काणभुगादिस्मृतिभिस्तदीयतर्कैश्च स परिह्रियते । तत्र कणादादिमतैर्ब्रह्मोपादानता बाध्यते न वेति वीक्षायां, तस्यां सत्यां तत्स्मृतीनामनवकाशतापत्तेः । सर्व्वत्र न्यूनपरिमाणानामेव द्व्यणुकादीनां त्र्यणुकादिमहाकार्य्यारम्भकत्वदर्शनात् ब्रह्मणो विभुत्वेन तदयोगाच्च बाध्यत इति प्राप्तौ—

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥ १२ ॥

शिष्टाः परिशिष्टाः । नास्ति परिग्रहो वेदकर्म्मको येषां ते अपरिग्रहाः । विशेषणयोः कर्म्मधारयः । एतेन वेदविरोधिसांख्यादिनिरासेन परिशिष्टास्तद्विरोधिनः कणभक्षाक्षपादप्रभृतयोऽपि निरस्ता वेदितव्याः निराकरणहेतोः साम्यात् । न ह्यारम्भवादेऽपि न्यूनपरिमाणारम्भकत्वनियमोऽस्ति । दीर्घतन्त्वारब्धद्वितन्तुकपटे वियदुत्पन्ने शब्दे च व्यभिचारात् । कारणवस्तुविषयस्य तर्कस्याप्रतिष्ठानमशक्यं वक्तुमिति शङ्काधिक्यादधिकरणातिदेशः । तत्परिहारस्तु शुष्कतर्कस्याप्रतिष्ठाननियमात् । अतएवापरे बौद्धादयः परमाणूनन्यथा वर्णयन्ति । क्षणिकानर्थात्मकान् केचित् । ज्ञानरूपान् परे । शून्यात्मकानपरे । सदसद् रूपांस्त्वन्ये । सर्वे ह्येते तन्नित्यताविरोधिन इति ॥ १२ ॥

पुनराशङ्क्य समाधत्ते ।

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ॥ १३ ॥

सूक्ष्मशक्तिकं ब्रह्मैवोपादानं तदेव स्थूलशक्तिकमुपादेयमिति मतम् । तदिदं युक्तं न वेति संशये इह भोक्त्रा

इसलिये धर्म्म की तरह श्रुति ही ब्रह्म में प्रमाण है । तो भी श्रुतिपोषक तर्क की अपेक्षा है । "मन्तव्य" इत्यादिक श्रुति तथा "पूर्वापर अविरोध से तर्क अभिमत है" इत्यादिक स्मृति उसका प्रमाण है । अतएव जगत् का उपादान ब्रह्म है—यह स्थिर होता है ॥ ११ ॥

सांख्यस्मृति और योगस्मृति के द्वारा उन सब स्मृतियों में उक्त तर्क का जो विरोध आता है वह परिहृत हुआ है । अब कणाद प्रभृति की प्रणीत स्मृति और उनमें उक्त तर्क के साथ जो विरोध है उसका परिहार करते हैं । कणादादि के मत में ब्रह्म की उपादानता बाधित होती है वा नहीं—इस प्रकार के सन्देह में ब्रह्म की उपादानता स्वीकार करने पर कणादादि की स्मृति की निर्विषयता होती है । विशेषतः परिमाण प्राप्त द्व्यणुकादि का त्र्यणुकादि महत्कार्य्य की आरम्भकता देखने में आती है । ब्रह्म विभु अर्थात् व्यापक वस्तु है । ब्रह्म से अणुकादि की उत्पत्ति असम्भव है इसलिये ब्रह्मोपादानता बाधित होती है । इस प्रकार पूर्वपक्ष उठने पर उसके उत्तर में कहते हैं ।—

वेदविरोधी सांख्यादि के निरास के द्वारा अवशिष्ट कणाद-अक्षपाद प्रभृति वेदविरोधी दार्शनिक निरस्त हो गये हैं–ऐसा जानना चाहिए । दोनों पक्ष में वेदविरोधी रूप समान दोष ही निराकरण के हेतु हैं । आरम्भवाद में भी न्यून परिमाण-आरम्भकत्व का कोई नियम नहीं है । दीर्घतन्तु के द्वारा आरब्ध द्वितन्तुविशिष्ट पट में और आकाश से उत्पन्न शब्द में उसका व्यभिचार देखा जाता है । कारण यह है कि वस्तुविषयक तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है इस प्रकार नहीं कह सकते हो । शङ्का के आधिक्य के कारण अधिकरण का अतिदेश जानना चाहिए । शुष्क तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है इसलिये सामान्य रूप से तर्क का परिहार किया गया है । इस कारण से अपर बौद्धादिक परमाणु को अन्य प्रकार से वर्णन करते हैं । कोई कोई परमाणु को क्षणिक तथा अर्थात्मक रूप से स्वीकार करते हैं । कोई कोई ज्ञान रूप से तथा अपर कोई शून्य रूप से स्वीकार करते हैं और अन्य कोई उसे सद् असद् रूप से स्वीकार करते हैं । वस्तुतः सब ही परमाणु की नित्यता स्वीकार नहीं करते हैं ॥ १२ ॥

जीवेन सह ब्रह्मण ऐक्यापत्तेरविभागः शक्तेः शक्तिमद्ब्रह्माभेदापत्ते "द्वासुपर्णा"—"जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमित्यादिश्रुतिसिद्धभेदलोपस्ततो न युक्तमिति चेत् तत्परिहारः स्याल्लोकवत्। लोके यथा दण्डिनः पुरुषाभेदेऽप्यस्ति दण्डपुरुषयोः स्वरूपतो भेदस्तथा शक्तिमतो ब्रह्मणः शक्त्यभेदेऽपि शक्तिब्रह्मणोः सोऽस्तीति न क्षतिः ॥ १३ ॥

जगतो ब्रह्माभेदमङ्गीकृत्य ब्रह्मणस्तदुपादानत्वं निरूपितमसदिति चेन्नेत्यादिना तमेवाक्षिप्य समाधातुमिदानीं प्रवर्त्तते। तत्रोपादेयं जगदुपादानात् ब्रह्मणो भिन्नमभिन्नं वेति वीक्षायां मृत्पिंड उपादानं घट उपादेयं इति धीभेदात्, उपादानमुपादेयमिति शब्दभेदात्, मृत्पिण्डेन घटाय प्रवर्त्तते घटेन तु जलमानयेति प्रवृत्तिभेदात्, पिण्डाकारं उपादानं कम्बुग्रीवाद्याकारं उपादेयमित्याकारभेदात्, पूर्व्वकालमुपादानमुत्तरकालमुपादेयमिति कालभेदाच्च भिन्नमेवोपादानादुपादेयम्। इतरथा कारकव्यापारवैयर्थ्यप्रसङ्गात् उपादानमेव चेदुपादेयं कृतं तर्हि तद्व्यापारेण च सतोऽप्युपादेयस्याभिव्यक्तये तेन भाव्यं क्षोदाक्षमत्वात्। तथाहि कारकव्यापारात् प्राक् सा सती असती वा। नाद्यः तद्व्यापारवैयर्थ्यात् नित्योपलब्धिप्रसङ्गाच्चोपादेयस्य। ततश्च नित्यानित्यविभागो विलुप्येत। तथाऽभिव्यक्तेरभिव्यक्त्यन्तरेऽङ्गीकृतेऽनवस्था। न चान्त्यः असत्कार्य्यतापत्तेः। तस्मादसत उपादेयस्योत्पत्तिहेतुत्वे नार्थवत्त्वं व्यापारस्येत्यसत्त्वादेवोपादानात् भिन्नमुपादेयमिति वैशेषिकादिनयात् पूर्व्वपक्षे प्राप्ते परिहरति—

फिर शंका उठा कर समाधान करते हैं—सूक्ष्मशक्ति के समन्वित ब्रह्म जगत् का उपादान है और फिर वह ब्रह्म स्थूलशक्ति के द्वारा समन्वित हो उपादेय जगत् रूप से परिणत होता है। यह मत यथायुक्त है किंवा नहीं है—इस प्रकार की शङ्का होने पर भोक्ताजीव के साथ ब्रह्म का ऐक्यता-प्रयुक्त अर्थात् शक्तिभूत जीव से शक्तिमद् ब्रह्म की अभेदापत्ति होने के कारण "द्वा सुपर्णा" आदि श्रुति में निर्द्धारित भेदभाव का विलोप होने पर ब्रह्म की उपादानता अस्वीकार्य्य है इत्यादि पूर्वपक्षीय सिद्धान्त का लौकिक दृष्टान्त के द्वारा परिहार हो सकता है। लोक में जिस प्रकार दण्डधारी पुरुष से दण्ड का भेद स्थिर नहीं होने पर भी दण्ड और दण्डधारी पुरुष का स्वरूपतः भेद स्वीकार करना होता है ठीक उसी प्रकार शक्तिमद् ब्रह्म से शक्ति के अभिन्न होने पर भी शक्ति और ब्रह्म में भेद के स्वीकार करने में कोई क्षति नहीं है ॥ १३ ॥

जगत् से ब्रह्म का अभेद स्वीकार कर ब्रह्म का जो जगत् उपादानत्व निरूपण किया गया है उसे यदि असत् कहते हो तब तुम्हारा वह वचन सङ्गत नहीं होता है, इस प्रकार से उसका आक्षेप उठा कर उस के समाधानार्थ अधिकरणान्तर का आरम्भ करते हैं। वहाँ उपादेय जगत् उपादान ब्रह्म से भिन्न है अथवा अभिन्न है—इस प्रकार संशय होने पर मृत्पिण्ड उपादान तथा घट उपादेय है—इस प्रकार की बुद्धि के वश, उपादान और उपादेय दोनों शब्दों के भेद होने के कारण मृत्पिण्ड के द्वारा मनुष्यें घट निर्माण में प्रवृत्त होते हैं और घट में जल के आनयन प्रवृत्ति भेद के कारण, उपादान पिण्डाकार और उपादेय घट कम्बुग्रीवाकर होता है, इस रीति से दोनों के आकार-भेद होने के कारण, उपादान पूर्वकालवर्त्ती और उपादेय उत्तरकालवर्त्ती होता है इस प्रकार कालभेद के वश उपादान उपादेय से भिन्न रूप से प्रतीत होता है। उन सब भेदों को अस्वीकार करने पर कारकव्यापार व्यर्थ हो जाता है। उपादान यदि स्वंय उपादेय होता है तब उपादान व्यापार का प्रयोजन नहीं रहता है। उपादेय वस्तु सत स्वरूप होने पर भी उसकी अभिव्यक्ति के लिये कारकव्यापार का कोई प्रयोजन नहीं देखा जाता है। क्योंकि उसकी योग्यता नहीं घट सकती है। अब देखने का विषय यह है कि यह अभिव्यक्ति कारक व्यापार से पहले होती है किम्वा पीछे होती है। पहले अभिव्यक्ति होती है-ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि उस से कारकव्यापार वृथा हो जाता है। विशेष करके उपादेय की नित्य उपलब्धि का प्रसंग होता है। उससे यह नित्यवस्तु और वह अनित्यवस्तु है—इस प्रकार का विलुप्त हो सकता है। अभिव्यक्ति की फिर अभिव्यक्ति स्वीकार करने पर अनवस्था दोष आ

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ १४ ॥

तस्मात् जीवप्रकृतिशक्तियुक्तात् जगदुपादानात् ब्रह्मणः अनन्यदेवोपादेयं जगत्। कुतः? आरम्भणेति। आरम्भणशब्द आदिर्येषां तेभ्यो वाक्येभ्यः। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"। "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" "सन्मूलाः सौम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः" "ऐतदात्म्यमिदं सर्व्वं"मित्येवंविधानि छान्दोग्ये वाक्यानि सान्तराण्यप्यत्र विवक्षितानि। तानि हि चिज्जडात्मकस्य जगतस्तद्युक्तात् परस्मात् ब्रह्मणोऽनन्यत्वं वदन्ति। तथाहि कृत्स्नं जगत् तादृग्ब्रह्मोपादानकमतो ब्रह्माभिन्नमिति हृदि विनिश्चित्योपादानभूतब्रह्मविज्ञानेनोपादेयस्य जगतः कृत्स्नस्य विज्ञानं भवतीत्याचार्य्यः प्रतिजज्ञे। "स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्षो येनाश्रुतं श्रुतं भवती"त्यादिना। तदाशयमविदुषा शिष्येणान्यज्ञानादन्यज्ञानं न सम्भवतीति विमृश्य "कथं नु भगवः स आदेश" इति परिपृष्टः स जगतो ब्रह्मोपादानकतां वदिष्यन् लोकप्रतीतिसिद्धमुपादेयस्योपादानाभेदं दर्शयति यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेनेत्यादिना। एकस्मादेव मृत्पिण्डोपादानात् जातं घटादिसर्व्वं तेनैव विज्ञातेन विज्ञातं स्यात् तस्य ततोऽनतिरेकात्। एवमादेशे ब्रह्मणि सर्व्वोपादाने विज्ञाते तदुपादेयं कृत्स्नं जगत् विज्ञातं भवतीति तत्रार्थः। ननु धीशब्दादिभेदादुपादेयमुपादानादन्यत् स्यादिति चेत् तत्राह वाचारम्भणमिति। आरभ्यत इत्यारम्भणं, कर्म्मणि ल्युट् "कृत्यल्युटो बहुलं" इति स्मरणात्। मृत्पिण्डस्य कंबुग्रीवादिरूपसंस्थानसम्बन्धे सति विकार इति नामधेयमारब्धं व्यवहर्त्तृभिः। किमर्थं? तत्राह वाचेति। वाचा वाक्पूर्व्वकेण व्यवहारेण हेतुना। फलहेतुत्वविवक्षया तृतीया। घटेन जलमानयेत्यादिवाक्पूर्व्वकव्यवहारसिद्ध्यर्थं मृद्द्रव्य-

---

जाता है। अभिव्यक्ति कारक व्यापार से पीछे होती है—ऐसा स्वीकार करने से असत्कार्यता की आपत्ति उठ सकती है। इसलिये असत् उपादेय वस्तु की उत्पत्ति के कारणत्व में कारक व्यापार सफल नहीं होता है। इसलिये असत् उपादान से सत् उपादेय का भेद स्वीकार होता है इत्यादिक न्याय-वैशेषिकादिक नीति के अनुसार पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर उसका परिहार करते हैं ॥—

जीवशक्ति और प्रकृतिशक्ति युक्त जगत् के उपादानभूत ब्रह्म से उपादेय जगत् भिन्न नहीं है। कारण यह है कि "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यं" "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं" इत्यादिक श्रुतिवाक्य समूह चित् जडात्मक जगत् को तद्युक्त ब्रह्म से अभिन्न निरूपण करते हैं। इसलिये ही आचार्य्य "समस्त जगत् ब्रह्म का उपादेय तथा ब्रह्म से अभिन्न है" इसका हृदय में विशेष रूप से निश्चय करके "उपादानभूत ब्रह्म का विज्ञान से उपादेय समस्त जगत् का ज्ञान होता है" ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं। शिष्य श्वेतकेतु आचार्य्य-उपदेश के अर्थ ग्रहण में असमर्थ होकर प्रश्न करने पर आचार्य्य लोकप्रतीति से सिद्ध उपादान-उपादेय का अभेद दिखाने के लिये कहते हैं—"सौम्य! एक ही मृत्पिण्डरूप उपादान से घटादिक उपादेय वस्तुसमूह उत्पन्न होते हैं। इसलिये मृत्तिका को जानने पर घटादिकों का ज्ञान आप हीं आप हो जाता है। क्योंकि घटादिक मृत्तिका से पृथक् वस्तु नहीं हैं। इस प्रकार आदेश के द्वारा "सर्वउपादानभूत ब्रह्म के जानने पर उसके उपादेयरूप सकल जगत् का ज्ञान होता है" यह अर्थ सिद्ध होता है। अच्छा, बुद्धि-और शब्दादि के भेद से उपादेय-उपादान से पृथक् वस्तु है यदि ऐसा ही है तो उस विषय में कहते हैं। "वाचारम्भणं इति" आरम्भ होता है यहाँ "आरम्भण" कर्म्म में ल्युट् है। "कृत्यल्युटो बहुलम्" यह व्याकरण सूत्र है। मृत्पिण्ड का कम्बुग्रीवादिक संस्थान-सम्बन्ध से विकार होने पर सब लोग व्यवहार-सिद्धि के लिये घटादिक नामान्तर का प्रदान करते हैं। वस्तुतः मृत्तिका ही सत्य है। "वाचा" वाक् पूर्वक व्यवहार के कारण फलहेतुत्व विवक्षासे तृतीया होती है। घट से जल लाओ इत्यादिक वाक् पूर्वक व्यवहार सिद्धि के लिये मृद्द्रव्य ही ज्ञानसंस्थान-विशेष होकर घटादि नाम विशिष्ट होता है। मृद्द्रव्य का घटादि

मेव ज्ञानसंस्थानविशेषं सत् घटादिनामभाग्भवति। तस्य घटाद्यवस्थापि मृत्तिकेत्येव नामधेयं सत्यं प्रामाणिकम्। ततश्च घटाद्यपि मृद् द्रव्यमित्येव सत्यं, न तु द्रव्यान्तरमिति। अतस्तस्यैव मृद्द्रव्यस्य संस्थानान्तरयोगमात्रेण धीशब्दान्तरादि सम्भवति। यथैकस्यैव चैत्रस्यावस्थाविशेषसम्बन्धात् बालयुवादिधीशब्दान्तरादि सम्भवति मृदाद्युपादाने तादात्म्येन सदेव घटादिदण्डादिना निमित्तेनाभिव्यज्यते न त्वसदुत्पद्यते इत्यभिन्नमेव उपादेयमुपादानात्। भेदे किलोन्मानद्वैगुण्यापत्तिः। मृत्पिण्डस्य गुरुत्वमेकं घटादेश्चैकमिति तुलारोहे द्विगुणं तत् स्यात्। एवमन्यच्च। न तु शुक्तिरूप्यादिवद्विवर्त्तो न च शुक्तेः सकाशात् स्वतोऽन्यत्रसिद्धं रूप्यमिव भिन्नमित्येवकारात्। एवमिति शब्दानर्थक्यं कष्टकल्पनं च निरस्तं। न चाभिव्यक्तिपक्षस्य निर्मूलत्वं शक्यं वक्तुं "कल्पान्ते कालसृष्टेन योऽन्धेन तमसावृतम्। अभिव्यनक् जगदिदं स्वयंरोचिः स्वरोचिषे"त्यादिप्रमाणसिद्धेः न च सिद्धसाधनताऽनवस्था वा दोषः। कारकव्यापारात् पूर्व्वमभिव्यक्तेः, सत्वानङ्गीकारात् अभिव्यक्त्यन्तरानङ्गीकाराच्च। नन्वेवमसत्कार्य्यतापत्तिः पूर्व्वमसत्यास्तस्यास्तद्व्यापारेणोत्पाद्यमानत्वादिति चेन्मैवं, तस्या कार्य्यत्वाभावात्। स्वतन्त्राभिव्यक्तिमत्वं किल कार्य्यत्वं तच्च तस्यां नास्ति। आश्रयाभिव्यक्त्यैव तत् सिद्धेः। तद्व्यापारेण संस्थानयोगरूपाभिव्यक्तिर्नियताभिव्यंग्येति प्रकृते न किंचिदवद्यम्। यत्तु असतः कार्य्यस्योत्पत्तिरिति वदन्ति, तन्मन्दं क्षोदाक्षमत्वात्। तथाहि व्यापारात् प्रागसच्चेत् कार्य्यं, तर्हि सर्व्वस्मात् सर्व्वमुत्पद्येत। सर्व्वत्र सर्व्वाभावसौलभ्यात्।

अवस्था में भी मृत्तिका यह नाम सत्य अर्थात् प्रामाणिक है। तदनन्तर घटादिक भी मृद्द्रव्य है—यह भी सत्य है अर्थात् द्रव्यान्तर नहीं है। इसलिये उस मृद्द्रव्य का ही संस्थानान्तर योग मात्र से धी-शब्दान्तरादिक होते हैं। जिस प्रकार एक ही चैत्र अवस्था-विशेष-सम्बन्ध से बाल, युवादिक धी-शब्दान्तरादि से विशिष्ट होता है अर्थात् एक ही चैत्र अवस्था पाकर बालक युवक रूप से अभिहित होता है ठीक उसी प्रकार मृत्तिका अवस्था भेद से घटादि संज्ञा को प्राप्त होती है। मृत्तिकादि उपादान में तादात्म्य रूप से अवस्थित घटादिक दण्ड कुलालादि के द्वारा अभिव्यक्ति-लाभ करते हैं। घटादि पहले नहीं थे ऐसा नहीं है। अतएव उपादेय उपादान से भिन्न नहीं है। भिन्न मानने पर मृत्तिका और घटादिकों का परिमाणादि भी भिन्न हो सकते हैं। अर्थात् मृत्पिण्डका वजन कुछ और घटादिकों का वजन कुछ इस प्रकार तुलादण्ड में चढ़ाने पर द्विगुण हो सकता है। किन्तु ऐसा तो नहीं होता है। अपर गुणादि सम्बन्ध में भी ऐसा ही जानना चाहिए। मृत्तिका से घटादिकों की अभिव्यक्ति शुक्ति में रजतादि की तरह भ्रान्त नहीं है। कारण जिस शुक्ति में रजतादिकों का भ्रम होता है, उस शुक्ति से स्वतः ही हट्टादि (हाट-बाजार) में स्थित रजतादि (रौप्यादि) भिन्न वस्तु हैं। "एव" इस शब्द से शब्दानर्थक्य और कष्टकल्पना निरस्त होते हैं। अभिव्यक्ति पक्ष को निर्मूल भी नहीं कह सकते हो। कारण यह है कि "परमेश्वर कल्पान्त में निज तेज से तमसावृत जगत् को अभिव्यक्त करते हैं" यह शास्त्रप्रमाण असिद्ध होता है। उक्त पक्ष में सिद्धसाधनता वा अनवस्था दोष नहीं घटता है। क्योंकि कारक व्यापार के पहले अभिव्यक्ति की सत्ता और अन्य किसी अभिव्यक्ति को स्वीकार नहीं किया गया है। "कारकव्यापार के द्वारा उसकी उत्पत्ति होती है। सुतरां अभिव्यक्ति पहले नहीं थी, अतः इस प्रकार असत्कार्य्यता की आपत्ति हो सकती" ऐसा नहीं कह सकते हो। क्योंकि अभिव्यक्ति का कार्य्यत्व नहीं है। जिसकी स्वतन्त्र अभिव्यक्ति है उसका ही कार्य्य होता है। जगत्कार्य्य की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति नहीं है। आश्रय की अभिव्यक्ति के द्वारा जगत् की अभिव्यक्ति सिद्ध होती है। आश्रयव्यापार के द्वारा संस्थान योग रूप अभिव्यक्ति प्रतिनियत में ही घटती है। इसलिये प्रकृत प्रस्ताव में कोई दोष नहीं होता है। जो लोग "असत् कारण से कार्य्य की उत्पत्ति होती है" ऐसा कहते हैं उनका मत मन्द है। उसकी संगति नहीं हो सकती। कारकव्यापार के पहले यदि असत् ही कार्य्य है तब तो समस्त वस्तुओं से

तिलेभ्यस्तैलमिव क्षीरादिकमप्युत्पन्नं स्यात्। अकर्तृका चोत्पत्तिः कार्य्यस्यासत्वात्। न च कारणनिष्ठा शक्तिरेव कार्य्यं नियच्छेदिति वाच्यं असता सहासम्बन्धात्। किंचोत्पत्तिरुत्पद्यते न वा आद्येऽनवस्था अन्त्येप्यसत्वात् नित्यत्वाद्वाऽनुत्पत्तिरिति पक्षद्वयमसाधु। सर्व्वदा कार्य्यानुपलम्भोपलम्भप्रसङ्गात्। ननु उत्पत्तेः स्वयमुत्पत्तिरूपत्वात् किमुत्पत्त्यन्तरकल्पनयेति चेत् "सममेतदभिव्यक्तौ" इति हि वक्तव्यम्॥ १४॥

इतश्चोपादेयमुपादानादनन्यदित्याह।

भावे चोपलब्धेः ॥ १५ ॥

घटमुकुटाद्युपादेयभावे च मृत्सुवर्णाद्युपादानोपलब्धेः घटादेर्मृदादित्वेन प्रत्यभिज्ञानादित्यर्थः। ननु हस्त्यश्वादौ कल्पवृक्षादेः प्रत्यभिज्ञानं नास्तीति चेन्न। तत्राप्युपादानस्य पृथिव्याः प्रत्यभिज्ञानात्। वह्नेर्निमित्तत्वात् धूमे तन्नास्ति। धूमोपादानं खलु वह्निसंयुक्तमार्द्रेन्धनं गन्धैक्यात् विदितम्॥ १५॥

सत्वाच्चावरस्य ॥ १६ ॥

अवरकालिकस्योपादेयस्य प्रागपि तादात्म्येनोपादाने सत्वात् तस्मादनन्यत्तत्। श्रुतिश्च "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्"इत्याद्या। स्मृतिश्च "व्रीहिबीजे यथा मूलं नालं पत्रांकुरौ तथा। काण्डं कोशस्तथा पुष्पं क्षीरं तद्वच्च

समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति हो सकती है। समस्त कारणों में समस्त कार्य्यों का अभाव रहने पर जिस किसी कारण से जिस किसी कार्य्य की उत्पत्ति हो सकती है। तिल से तैल की भाँति क्षीर भी उत्पन्न हो सकता है। फिर तो कार्य्य के असत्व में उत्पत्ति अकर्तृका हो जाती है। कारणनिष्ठा शक्ति ही कार्य्य का उत्पादन करती है—ऐसा भी नहीं बोला जा सकता है कारण यह है कि असत्कार्य्य के साथ कारण का सम्बन्ध असम्भव है। और भी उत्पत्ति से उत्पत्ति है किम्बा नहीं है? यदि है ऐसा कहते हैं तो अनवस्था होती है। नहीं है—ऐसा कहने पर असत्व वा अनित्यत्व का परिहार नहीं होता है। अतएव दोनों ही पक्ष असंगत होते हैं। असत्व के कारण अनुत्पत्ति स्वीकार करने में सर्वदा ही कार्य्य का अनुपलम्भ और नित्यत्व के वश उत्पत्ति स्वीकार करने में सर्वदा उसका उपलम्भ प्रसंग हो उठता है। अच्छा, उत्पत्ति के स्वयं उत्पतित्व में (अर्थात् स्वयं उत्पत्ति में) तात्पर्य्य यह है कि जो स्वयं उत्पत्ति है उसमें फिर उत्पत्त्यन्तर की कल्पना का प्रयोजन क्या है—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उससे अभिव्यक्ति के साथ समता हो जाती है॥ १४॥

अब उपादेय के उपादान से अभेद सम्बन्ध में अन्य हेतु देखने में आता है। उसे बोलने के लिये सूत्रान्तर का आरम्भ करते हैं।—

घट-मुकुटादि उपादेय भाव में मृत्सुवर्णादि उपादान की उपलब्धि होती है। इसलिये उपादान से उपादेय का भेद नहीं बोला जाता है। घटादिक का मृत्तिकादि स्वरूप में प्रत्यभिज्ञान देखने में आता है। अच्छा, हस्ति-अश्वादिक में कल्पवृक्षादिकों का प्रत्यभिज्ञान नहीं है—ऐसा नहीं कहा जा सकता है। वहाँ भी हस्ति-अश्वादिकों का उपादानभूता पृथिवी के प्रत्यभिज्ञान में सिद्ध होता है। अग्नि धूम्र का निमित्त कारण होने से ही धूम्र में अग्नि का प्रत्यभिज्ञान नहीं देखा जाता है। अग्नि संयुक्त आर्द्रेन्धन (गीला काठ) ही धूम्र का उपादान है। गन्ध के ऐक्य से ही विदित होता है॥ १५॥

अवरकालीन उपादेय का पहिले ही अर्थात् अभिव्यक्ति के पहिले तादात्म्य भाव से उपादान में सत्ता रहने के कारण उपादान उपादेय से भिन्न नहीं है। "सौम्य! यह ब्रह्म ही सृष्टि के पहले था" इत्यादि श्रुति का वचन है। स्मृति में भी कहा है—"व्रीहि के बीज में जिस प्रकार मूल, नाल, पत्र, अङ्कुर, काण्ड, कोश, पुष्प, क्षीर, तण्डुल,

तण्डुलः ॥ तुषः कणाश्च सन्तो वै यान्त्याविर्भावमात्मनः । प्ररोहहेतुसामग्रीमासाद्य मुनिसत्तम ॥ तथा कर्म्मस्व-
नेकेषु देवाद्यास्तनवः स्थिताः । विष्णुशक्तिं समासाद्य प्ररोहमुपयान्ति वै ॥ स च विष्णुः परं ब्रह्म यतः सर्व्वमिदं
जगत् । जगच्च यो यतश्चेदं यस्मिंश्च लयमेष्यति" ॥ इति ॥ तिलेभ्यस्तैलं सत्त्वादेवोपद्यते न तु सिकताभ्योऽस-
त्वादेव । उभयत्राप्येकमेव सत्त्वं पारमार्थिकमिति । उत्पत्त्यन्तरमुपादेये उपादानतादात्म्यं पूर्व्वत्र प्रमाणितम् । नाशा-
नन्तरमुपादाने उपादेयाभेदः परत्रेति सूत्रद्वये विवेचनम् ॥ १६ ॥

असद्व्यपदेशान्नेतिचेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥ १७ ॥

स्यादेतत् "असद्वा इदमग्र आसीत्"इति पूर्व्वमसत्वश्रवणादुपादाने उपादेयस्य सत्त्वं नास्थेयमिति चेन्न । यद-
यमसद्व्यपदेशो न भवदभिमतेन तुच्छत्वेन, किन्तु धर्म्मान्तरेणैव सङ्गच्छते । एकस्यैव द्रव्यस्योपादेयोपादानोभ-
यावस्थस्य स्थौल्यं सौक्ष्म्यं चेत्यवस्थात्मकं धर्म्मद्वयं सदसच्छब्दबोध्यम् । तत्र स्थौल्याद्धर्म्मादन्यत् सौक्ष्म्यं
धर्म्मान्तरं तेनेति । एवं कुतः ? वाक्यशेषात् । "तदात्मानं स्वयमकुरुते"ति वाक्यशेषेण सन्दिग्धार्थस्योपक्रमवा-
क्यस्य तथैव व्याकर्त्तुमुचितत्वात् । अन्यथासीदित्यात्मानमकुरुतेति च विरुध्येत । असतः कालेन सहासम्बन्धात्
आत्माभावेन कर्त्तृत्वस्य वक्तुमशक्यत्वाच्च ॥ १७ ॥

असत्त्वं धर्म्मान्तरमित्यत्र हेतुं दर्शयति ।

युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥ १८ ॥

मृत्पिण्डस्य कम्बुग्रीवाद्याकारयोगो घटोऽस्तीति व्यवहारस्य हेतुः । तद्विरोधिकपालाद्यवस्थान्तरयोगस्तु घटो

तुष और कण का समूह विद्यमान रहता है, किन्तु वे सब प्ररोह की कारण सामग्री पाकर ब्रीहि से क्रियमान
क्रमशः आविर्भूत होते हैं। ठीक उसी प्रकार कर्म्मों में देवताओं का शरीर अवस्थित रहता है, किन्तु वे सब
शरीर विष्णुशक्ति पाकर आविर्भूत होते हैं। वह विष्णु जगत् की सृष्टि,स्थिति और पालन के कर्त्ता हैं"इत्यादि।
तिल के मध्य में तैल मौजूद रहता है इसीलिये तिल से तैल की उत्पत्ति होती है। वालुका से कभी तैल उत्पन्न
नहीं होता है। उभय स्थल में एक ही सत्व की स्थिति पारमार्थिक है। उत्पत्ति के पश्चात् उपादेय वस्तु में उपादान
का तादात्म्य पहिले ही प्रमाणित हुआ है। नाश के पश्चात् भी उपादान में उपादेय का भेद नहीं रहता है। उसका
परवर्त्ती दोनों सूत्रों में विचार होगा ॥ १६ ॥

"यह जगत् उत्पत्ति के पहले नहीं था" इस श्रुति में उत्पत्ति के पहले असत्व के श्रवण होने के कारण उपादान
में उपादेय की स्थिति नहीं है, इस प्रकार नहीं बोल सकते हो। क्योंकि यहाँ पर जो असद् का व्यपदेश है वह
आपके मत में तुच्छ नहीं है, किन्तु एक धर्मान्तर है। उपादान भाव से अथवा उपादेय भाव से अवस्थित एक ही
द्रव्य की स्थूलत्व और सूक्ष्मत्व रूप दोनों अवस्था सत् और असत् शब्द से बोधित होती है यहाँ पर स्थूलत्व
धर्म्म से सूक्ष्मत्व धर्म्म पृथक् है। जगत् उत्पत्ति के पहले सूक्ष्मरूप से अवस्थान करता है इसलिये उसको असत्
कहा जाता है। वह नहीं था इसलिये उस को असत् कहा जाता है ऐसा नहीं है। असत् एक धर्मान्तर है। वह
वाक्यशेष से प्राप्त हो जाता है। "तदात्मानं स्वयमकुरुत" इस शेष वाक्य से सन्दिग्धार्थ उपक्रम वाक्य का इस
प्रकार की व्याख्या करना उचित हो रहा है। नहीं तो "आसीत्" और "आत्मानमकुरुत" इन दोनों वाक्यों
का विरोध हो सकता है। कारण यह है कि असत् का काल के साथ असम्बन्ध प्रयोग और आत्मा के अभाव
के कारण कर्तृत्व की असम्भावना होती है ॥ १७ ॥

असत्व धर्मान्तर है—इस विषय में दो कारण दिखते हैं। असत्व के धर्मान्तर में जो युक्ति है वह शब्दा-
न्तर का हेतु है। मृत्पिण्ड का कम्बुग्रीवादि आकार युक्त है इस प्रकार व्यवहार के कारण कम्बुग्रीवादि विरोधी

नास्तीति व्यवहारस्य । स्मृतिरप्येवमेवाभिधत्ते ।"मृदि घटत्वं घटतः कपालिका कपालिकाच्चूर्णरजस्ततोऽणुरिति"।
एतावतैव घटाद्यभावव्यवहारसिद्धेस्तदन्यः स न कल्प्यते, तत् न चोपलभ्यत इति युक्तिः । असच्छब्दस्य पूर्व्वत्रो-
दाहृतत्वात् ततोऽन्यः सच्छब्दः । शब्दान्तरं सदेव सौम्येदमिति । एवं च युक्तिसच्छब्दाभ्यामसत् सूक्ष्ममित्येवार्थो
न तु शशविषाणादिवन्निरुपाख्यमिति । उपमृदितविशेषं जगत् परमसूक्ष्ममेव ब्रह्मणि विलीनं तदानीं सौक्ष्म्यादसदि-
त्युच्यते । तस्मादुत्पत्तेः प्रागप्युपादानवपुषा सत्त्वात् तदभिन्नमेवोपादेयमिति सिद्धम् । यच्च नासदुत्पद्यते अस-
म्भवात् नापि सत्कारकव्यापारवैयर्थ्यात् किन्तु अनिर्वाच्यमेवेत्याह तन्मन्दं सदसद्विलक्षणताया दुरुपपादनत्वात् ॥ १८ ॥

अथ सत्कार्य्यवादे दृष्टान्तानुदाहरति—

पटवच्च ॥ १९ ॥

पटो यथा सूत्रात्मना पूर्व्वं सन्नेव प्राप्तव्यतिषङ्गविशेषेभ्यः सूत्रेभ्यो ऽभिव्यज्यते । तथा सूक्ष्मशक्तिमद् ब्रह्मा-
त्मना पूर्व्वं सन्नेव प्रपञ्चः सिसृक्षोस्तस्मादिति । वटबीजादिदृष्टान्तसंग्रहाय च शब्दः ॥ १९ ॥

यथा च प्राणादिः ॥ २० ॥

यथा प्राणापानादिः प्राणायामेन संयमितस्तदापि मुख्यप्राणमात्रतया सन्नेव प्रवृत्तिकाले हृदयादिस्थानानि मुख्ये
भजति सति तस्मादेवमुख्यात् स्वावस्थयाभिव्यज्यते तथा प्रपञ्चोऽप्युपमृदितविशेषोऽपीतौ सूक्ष्मशक्तिमति ब्रह्मणि
तदात्मना सन्नेव सृष्टिकाले तस्मिन् सिसृक्षौ सति तस्मादेव प्रधानमहदादिरूपः प्रादुर्भवतीति । उक्तसमुच्चयार्थं-

---

कपालदिक अवस्थान्तर योग ही घट नहीं है इस प्रकार के व्यवहार के कारण। स्मृति में भी इस प्रकार कहा है।–
"मृत्तिका से घट,घट के नाश में कपाल का विश्लेष,उससे धूलिकण तथा धूलिकण क्रम से अणुरूप परिणत होता है।
कार्य्यावस्था के विरोधी अवस्थान्तर योग में घटादि अभाव का व्यवहार सिद्ध होता है। अतः घटाभाव इस प्रकार
बिरोधी अवस्थान्तर योग से भिन्न नहीं होता है। विशेषतः इस प्रकार उपलब्धि होती है यह युक्ति है। असत्
शब्द पहले उदाहृत होने के कारण उससे सत् शब्द पृथक् शब्दान्तर है। "सदेव सौम्येदम्" इस श्रुति में सत्
शब्द का व्यवहार है। इस प्रकार युक्ति और सत् शब्द से असत् शब्द का अर्थ सूक्ष्म ही प्राप्त हो जाता है। वह
असत् शब्द शशविषाणादि की भाँति अलीक नहीं है। प्रलयकाल में जगत् उपमृदित विशेष और अत्यन्त सूक्ष्म
होकर ब्रह्म में विलीन होता है। उस समय उसकी अत्यन्त सूक्ष्मता होने के कारण उसको असत् ऐसा बोला जाता
है। इसलिये जगत् उत्पत्ति के पहले अपने उपादान शरीर में अवस्थान करने के कारण उपादेयभूत उसका उपादान
रूप ब्रह्म से अभेद सिद्ध हुआ है। कोई कोई कहते हैं–असम्भावना प्रयुक्त असत् की उत्पत्ति स्वीकार नहीं की
जाती है और कारकव्यापार के वैयर्थ्य प्रयुक्त सत् की उत्पत्ति स्वीकार नहीं की जाती है किन्तु उत्पत्ति के पहले
जगत् की अनिर्वाच्यता स्वीकार की जाती है। इस प्रकार का वचन नितान्त असंगत है क्यों कि असत् और सत्
से विलक्षण असाधारण अन्य वस्तु को स्वीकार नहीं किया जाता है ॥ १८ ॥

इसके अनन्तर सत् कार्य्यबाद में दृष्टान्त का प्रदर्शन करते हैं। पट जिस प्रकार उत्पत्ति के पहले सूत्ररूप से
अवस्थित होकर पश्चात् ओतप्रोत रूप से सज्जित सूतों से अभिव्यक्त होता है। ठीक उसी प्रकार जगत् सूक्ष्मशक्ति
विशिष्ट ब्रह्म स्वरूप में अवस्थित रहता है। जब ब्रह्म सृष्टि करने के लिये इच्छुक होता है तब वह ब्रह्म से अभि-
व्यक्त होता है। वटबीजादिक दृष्टान्त के संग्रह के लिये सूत्र में "च" शब्द है ॥ १९ ॥

जिस प्रकार प्राण और अपान आदि वायु प्राणायाम के द्वारा संयमित होकर भी उस समय मुख्यप्राण रूप से
अवस्थान करते हैं। फिर प्रवृत्तिकाल में जिस तरह मुख्यप्राण के हृदयादि स्थानों का आश्रय करने पर उस मुख्य-
प्राण से स्वकीय अवस्था की अभिव्यक्ति होती है ठीक उसी प्रकार उपमर्दनविशेष प्रपञ्च प्रलयकाल में सूक्ष्मशक्ति

श्रशब्दः । असत्कार्य्यवादे तु दृष्टान्तो नास्ति । न हि वन्ध्यापुत्रः क्वचिदुत्पद्यमानो दृश्यते वियत्पुष्पं वा । तस्मादेकमेव जीवप्रकृतिशक्तिमत् ब्रह्म जगदुपादानं तदात्मकमुपादेयं चेति सिद्धम् । एवं कार्य्यावस्थत्वेऽप्यविचिन्त्यत्वधर्म्मयोगादप्रच्युतपूर्व्वावस्थं चावतिष्ठते । "ॐ नमो वासुदेवाय तस्मै भगवते सदा । व्यतिरिक्तं न यस्यास्ति व्यतिरिक्तोऽखिलस्य यः" इत्यादिस्मृतेः ॥ २० ॥

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञेत्यस्मिन्नधिकरणे जगदुपादानत्वं जगन्निमित्तत्वं ब्रह्मणो निरूपितम् । तत्राद्यमुपक्षिप्तान् दोषान् परिहृत्य दृढीकृतं दृश्यते त्वित्यादिभिः । अथान्तिमं वाक्यान्तरात् प्रतीतमपि जीवकर्त्तृत्वपक्षं संदूष्य दृढीक्रियते । तथा हि कर्त्तारमीशमित्यादिश्रुतेरीश्वरो जगत्कर्त्तेत्येके । जीवाद्भवन्ति भूतानीत्यादिश्रुतेरदृष्टयोगाज्जीवस्तत्कर्त्तेति त्वितरे । तत्रेश्वरस्य तत्कर्त्तृत्वे पूर्णतादिविरोधापत्तेर्जीवस्यैव तदिति वदन्ति । द्विविधवाक्योपलम्भादनिर्णयो वा स्यादित्येवं प्राप्ते —

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥ २१ ॥

इतरेषां केषांचित् यो जीवकर्त्तृत्वव्यपदेश इतरस्य वा जीवस्य यो जगत्कर्त्तृत्वव्यपदेशः परैः कैश्चित् स्वीकृतस्तस्मादितरव्यपदेशिनां विदुषां तत्कर्त्तरि जीवे हिताकरणादीनां दोषाणां प्रसक्तिः स्यात् । हिताकरणमहितकरणं श्रमादिकं च दूषणं प्राप्नुयात् । न हि कश्चित् स्वाधीनो धीमान् स्वस्य बन्धनागारं निर्म्मिमाणः कौशेयकीटवत् तत्र प्रविशेत् । न वा स्वयं स्वच्छः सन्नत्यनच्छं वपुरुपेयात् । न च केनचित् जीवेन साध्यमिदं प्रधानमहदहंवियत्पवनादिकार्य्यं । तच्चिन्तयापि श्रमानुभवात् । तस्मात् दुष्टो जीवकर्त्तृत्ववादः ईश्वरस्य तु तत्कर्त्तुः पूर्णतादिविरोधः परिहरिष्यते ॥ २१ ॥

समन्वित ब्रह्म में तादात्म्य रूप से अवस्थित होकर फिर सृष्टिकाल में जब ब्रह्म की सृष्टि करने की इच्छा होती है तब उससे प्रधान-महदादि रूप में प्रादुर्भूत होता है । उक्त विषय के समुच्चय के लिये "च" शब्द है । असत् कार्य्यवाद में कोई दृष्टान्त नहीं देखा जाता है । वन्ध्यापुत्र की उत्पत्ति कहीं नहीं है और न कहीं आकाशकुसुम की ही उत्पत्ति है । इस लिये जीवशक्ति-प्रकृतिशक्तिविशिष्ट एकमात्र ब्रह्म ही जगत् का उपादान तथा उपादेय जगत् भी तदात्मक है यह सिद्ध हुआ है । इस प्रकार ब्रह्म के कार्य्यावस्थत्व होने पर भी, अविचिन्त्यरूप धर्म्म के योग होने के कारण पूर्वावस्था की विच्युति नहीं घटती है । स्मृति में कहा है—उन भगवान् वासुदेव के लिये नमस्कार है जिनके अतिरिक्ति कुछ नहीं है और जो अखिल जगत् के अतिरिक्त हैं ॥ २० ॥

"प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा" इस अधिकरण में ब्रह्म का जगदुपादानत्व और जगन्निमित्तत्व निरूपित हुआ है । वहाँ पहले उपक्षिप्त दोषों का "दृश्यते तु" इत्यादि सूत्र के द्वारा परिहार होकर उस विषय को दृढ़ किया गया है । इसके अनन्तर वाक्यान्तर से प्रतीत जीवकर्त्तृत्व पक्ष के दोषारोप के साथ उसे दृढ़ किया जाता है । "कर्त्तारमीशम्" इत्यादि वाक्यों से ईश्वर का ही जगत् कर्त्तृत्व प्रतीत होता है—यह एक संप्रदाय का मत है । अपर सम्प्रदाय बोलते हैं कि "जीवाद्भवन्ति भूतानि" इस वाक्य से जीव ही अदृष्ट के द्वारा जगत्कर्त्ता होता है । ईश्वर के जगत्कर्त्तृत्व स्वीकार करने में उनके पूर्णत्वादि का विरोध होता है । इसलिये जीव का ही जगत्कर्त्तृत्व स्वीकार होता है । दोनों प्रकार के वाक्यों की उपस्थिति में प्रस्तुत संशय के निरास के लिये कहते हैं—

वादीकर्त्तृक स्वीकृत जीव का जगत्कर्त्तृत्व स्वीकार करने में उस के हिताकरणादि दोष की उपस्थिति होती है । हिताकरण से अहितकरण और श्रमादि दूषण भी जानना चाहिये । कौन स्वाधीन बुद्धिमान् जन कौशेयकीट की तरह देह प्रवेश करता है अर्थात् वह जिस प्रकार कौशेय कोष निर्माण कर उसमें प्रवेश करता है ठीक उसी प्रकार देह कारागार का निर्माण कर प्रवेश करता है ? न स्वयं स्वच्छ होकर कभी मलिन देह को स्वीकार करता

ननु ब्रह्मणोऽपि कार्य्याभिध्यानतदनुप्रवेशादिश्रवणात् श्रमहिताकरणादिप्राप्तिस्तत्राह—

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥ २२ ॥

शङ्काच्छेदाय तुशब्दः । जीवादधिकं ब्रह्म उरुशक्तिकत्वात् तस्मादत्युत्कृष्टम् । तत् कुतः शास्त्रेषु तथैव भेदनिर्देशात् । मुण्डकादौ "समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमेति वीतशोक" इति शोकमोहग्रस्तात् जीवात् परमात्मनोऽखण्डतैश्वर्य्यादित्वेन भेदो निर्दिश्यते । स्मृतिषु च "द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च । क्षरः सर्व्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्त्यव्यय ईश्वर" इति "प्रधानपुरुषाव्यक्तकालानां परमं हि यत् । पश्यन्ति सूरयः शुद्धं तद्विष्णोः परमं पदम्" ॥ विष्णोः स्वरूपात् परतो हि तेऽन्ये रूपे प्रधानं पुरुषश्च विप्र । तस्यैव तेऽन्येन धृते वियुक्ते रूपेण यत् तत् द्विज कालसंज्ञ"मिति । "एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः । न युज्यते ऽसदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रये"ति चैवमाद्यासु तथैवासौ निर्दिष्टः । सम्भोगप्राप्तिरित्यादिना प्रागप्येतदभिहितम् । तथा चाविचिन्त्योरुशक्तिरीश्वरः स्वसंकल्पमात्रात् जगत् सृष्ट्वा तस्मिन् प्रविश्य विक्रीडति, जीर्णं च तत् संहरत्यूर्णनाभिवदिति न पूर्व्वोक्तदोषगन्धः । ननु घटाकाशात् महाकाशस्येवैतज्जीवादीश्वरस्याधिक्यमिति

है । न किसी जीव के द्वारा प्रधान, महत्, अहङ्कार, आकाश, पवनादि कार्य्य का साधन हो सकता है । साधन की चिन्ता से ही उसका परिश्रम हो सकता है । इसलिये जीव का कर्त्तृत्ववाद सदोष है । ईश्वर के जगत्कर्त्तृत्व में जो पूर्णतादि विरोध आ पड़ता है, वर्त्तमान में उसका परिहार किया जायेगा ॥ २१ ॥

अच्छा, ब्रह्म का भी कार्य्याभिमान (कार्य्य में अभिनिवेश) और उसमें अनुप्रवेशादिक सुनने में आता है । उससे श्रम और अहितकरणादि की आशंका हो सकती है—इसके उत्तर में कहते हैं—

भेद निर्देश के कारण जीव से ब्रह्म का आधिक्य है । यहाँ शङ्काच्छेदन के लिये "तु"शब्द है । उरुशक्ति के कारण जीव से ब्रह्म अधिक तथा उत्कृष्ट है । कारण शास्त्रों में इस प्रकार भेद-निर्देश किया गया है । मुण्डकादि में-"समान वृक्ष में पुरुष (जीवात्मा) निमग्न होकर माया से मोहित हो शोचता है । जिस समय अपर ईश को देखता है तब वह वीतशोक होता है" । इत्यादि शोक-मोह ग्रसित जीव से अखण्ड ऐश्वर्य्यादि धर्म्म के द्वारा परमात्मा का भेद निर्देश किया गया है । गीता में भी "इस लोक में दो पुरुष हैं क्षर तथा अक्षर । शरीर क्षरण के कारण समस्त बद्धजीव क्षर शब्द वाच्य हैं । क्षरण धर्म्म के अभाव के कारण एकावस्थाप्राप्त मुक्तजीवगण कूटस्थ अक्षर शब्द से अभिहित होते हैं । उभय प्रकार जीव से भिन्न उत्तम पुरुष परमात्मा है जो कि तीनलोक का धारण कर्त्ता, अव्यय, ईश्वर है । विष्णुपुराण में भी कहा गया है । प्रधान, पुरुष, अव्यक्त, काल इन सब से जो श्रेष्ठ हैं जिन्हें देवतागण शुद्ध भाव से देखते हैं वह विष्णु हैं । वे प्रधानादि से अतिरिक्त हैं । उनकी कालशक्ति से प्रधानादि विधृत हो रहे हैं । श्रीमद्भागवत में भी इस प्रकार कहा गया है ।"यह ईश्वर का ईश्वरत्व है जो कि उनके भक्तसमूह उनसे विमुख समस्त जीवसमूह के बन्धनके मूलकारण प्रकृतिके गुणोंमें आवद्ध नहीं होते हैं । क्योंकि उनकी बुद्धि उनमें लगी हुई है । इत्यादि स्थल में ब्रह्म इसी प्रकार निर्दिष्ट हुआ है । इस वेदान्त में भी पहले "सम्भोगप्राप्तिः" इत्यादि वाक्य के द्वारा इस प्रकार कहा गया है । सुतरां अविचिन्त्य महाशक्तिशाली ईश्वर निज संकल्प के द्वारा जगत् की सृष्टि कर उसमें प्रविष्ट हो लीला करते हैं । यह जगत् जब जीर्ण हो जाता है, तब वे ऊर्णनाभ (मकड़ी) की तरह उस का संहार साधन करते हैं । इसलिये पूर्वोक्त दोष उनको स्पर्श नहीं करता है । अच्छा, घटाकाश से महाकाश की तरह जीव से ईश्वर का आधिक्य है ऐसा भी नहीं कह सकते हो । क्योंकि इस मत में आकाश की तरह ब्रह्म में परिच्छेद स्वीकार नहीं किया जाता है । न जलस्थित चन्द्र से आकाश चन्द्र की तरह जीव से ब्रह्म का

चेत्, तद्वत् तस्य परिच्छेदविषयत्वास्वीकारात् । न च जलचन्द्रात् वियच्चन्द्रस्येव तस्मात् तस्य तद्विभोर्निरूपस्य
तस्य तद्वत् प्रतिविम्बासम्भवात् । न च राजपुत्रस्येवात्मदासभ्रमस्यैकस्य ब्रह्मणो भ्रमात् जीवस्योत्कर्षापकर्षे सार्व्वज्ञ्य-
श्रुतिविरोधात् ॥ २२ ॥

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥ २३ ॥

चेतनस्यापि जीवस्याश्मकाष्ठलोष्ट्रवदस्वातन्त्र्यात् स्वतः कर्त्तृत्वानुपपत्तिः । "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानामि"
त्यादिश्रुतेः । "ईश्वरः सर्व्वभूताना"मित्यादिस्मृतेश्च ॥ २३ ॥

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्नः क्षीरवद्धि ॥ २४ ॥

ननु नाश्मादिवदकर्त्तृत्वं जीवस्य तस्यैव कार्य्योपसंहारदर्शनात् । स हि यत् कार्य्यमारभते तत् समापयतीति
दृष्टम् । न चायं भ्रमः बाधकाभावात् । नन्वस्तु जीवः कर्त्ता स चेशाधीन इति चेन्न ईश्वरः खल्वनुपलभ्यमानोऽपि
कल्प्यः स च प्रेरक इति गौरवात् । तस्माज्जीवस्यैव कर्म्मद्वारकं कर्तृत्वं, न त्वीशस्येति चेन्न । कुतः ? क्षीरवद्धि ।
हि यतः जीवे कार्य्योपसंहारः क्षीरवत् प्रवर्त्तते । तृतीयान्तात् वतिः । "तेन तुल्यक्रिया चेत् वतिः" इति सूत्रात् ।
यथा गवि दृश्यमानमपि क्षीरं प्राणादेव जायते । "अन्नं रसादिरूपेण प्राणः परिणमयत्यसावि"ति स्मृतेः । तथा
जीवे दृश्यमाणोऽपि सोऽस्वातन्त्र्यात् परेशादेवेत्यर्थः । वक्ष्यति चैवं "परात् तु तत् श्रुतेः" इति ॥ २४ ॥

न चानुपलब्धिविरोध इत्याह—

देवादिवदिति लोके ॥ २५ ॥

षष्ठ्यन्तादिवार्थे वतिः । अदृश्यमाणस्यापीन्द्रादेर्लोके वर्षणादिकर्त्तृत्वसिद्धेः । तथा चानुपलभ्यमानोऽपीश्वरो
विश्वकर्तेति ॥ २५ ॥

आधिक्य है । क्योंकि रूप रहित विभु ब्रह्म का प्रतिविम्ब असम्भव है । राजपुत्र जिस प्रकार भ्रान्ति के वश अपने
को दास भाव से अभिमान करता है ठीक उसी प्रकार ब्रह्म का भ्रम वश जीवाभिमान नहीं स्वीकार किया जा
सकता है । क्योंकि उससे सार्वज्ञ्य श्रुति का विरोध घटता है । श्रुति में ब्रह्म को सार्वज्ञ्य कहा गया है ॥ २२ ॥

जीव स्वरूप से चेतन होने पर भी उसकी पाषाण, काष्ठ, ढेलादिक की तरह अस्वतन्त्रता होने के कारण स्वकर्त्तृत्व
नहीं है । श्रुति में कहा गया है । परमेश्वर जीव के अन्तर में प्रवेश कर उसको नियमित करते हैं । स्मृति में भी
कहा गया है —"ईश्वर सकल भूतों के हृदय में विराजित हैं ॥ २३ ॥

अच्छा-जीव कृत कार्य्य का उपसंहार दृष्ट होने के कारण पाषाणादि की तरह उसका अकर्त्तृत्व नहीं कहा
जा सकता है । कार्य्य के उपसंहार का अर्थ है, जीव जो कार्य्य प्रारम्भ करता है, उसे सम्पन्न करता है । अन्यथा
यह कार्य्य-उपसंहार भ्रान्त है । क्योंकि उसका बाधक नहीं है । जीव का यह कर्त्तृत्व परमेश्वर के अधीन है । इस
प्रकार पूर्वपक्ष संगत नहीं है । कार्य्य में ईश्वर अनुपलभ्यमान होने पर भी उनकी प्रेरकता अर्थात् कार्य्य में प्रयो-
जकता की कल्पना से गौरव होता है अतएव "जीव को कर्म्म का हेतु मान करके कर्त्तृत्व और ईश्वर का केवल
प्रयोजकत्व है"—इस प्रकार स्वीकार नहीं किया जा सकता है । क्योंकि जीव में जो कार्य्य का उपसंहार देखा जाता
है उसकी प्रवृत्ति दुग्ध की तरह है । तृतीयान्त से वत् प्रत्यय । "तेन तुल्यक्रिया चेत् वतिः" सूत्र के द्वारा जिस
प्रकार गाभी में दृश्यमाण दुग्ध प्राण से ही उत्पन्न होता है, ठीक उसी प्रकार जानना चाहिए । यह स्मृति का वचन
है । उस प्रकार जीव में दृश्यमाण कार्य्योपसंहार का अस्वातन्त्र्य-प्रयोग परमेश्वर कृत स्वीकार किया जाता है।
"परात् तु तच्छ्रुतेः" इस सूत्र में यह विषय स्फुट भाव से कहा जायेगा ॥ २४ ॥

जीवकर्त्तृत्वपक्षे दोषान्तरमाह—

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवशब्दव्याकोपो वा ॥ २६ ॥

जीवकर्त्तृत्ववादिना जीवस्वरूपस्य निरंशत्वात् कृत्स्नस्य तस्य सर्व्वस्मिन् कार्य्ये प्रसक्तिर्वाच्या । न च सा
शक्या वक्तुमंगुल्यादिना तृणोत्तोलनादौ तदननुभवात् । कृत्स्नेन स्वरूपेण प्रवृत्तिः खलु कृत्स्नसामर्थ्यापेक्षां करोति ।
सा यथा गुरुतरदृषदुत्थापने स्यात् न तथा तृणोत्थापने सामर्थ्यांशानुभवात् । न च स्वरूपांशस्य तत्र प्रसक्तिर्वा-
च्या । जीवस्वरूपस्य निरंशत्वात् । स्वीकृते त्वंशे निरंशत्वश्रुतिव्याकोपः "एषोऽणुरात्मे"त्यादिवाक्यबाध इत्यर्थः ।
"जीवात् भवन्ति भूतानी"त्यादिवाक्यं तु ब्रह्मपरमेवेत्युक्तं प्राक् । तस्मात् मन्दो जीवकर्त्तृत्वपक्षः ॥२६॥

अथैतौ दोषौ ब्रह्मकर्त्तृत्वपक्षे स्यातां न वेति वीक्षायां सर्वेषु कार्येषु कृत्स्नेन स्वरूपेण चेत् प्रवर्त्तते, तर्हि तृणो-
दञ्चनादौ कृत्स्नस्य प्रसक्तिर्न च सा सम्भवेदंशेन तत् सिद्धेः । क्वचिदंशेन चेत् प्रवर्त्तते, तर्हि निष्कलं निष्क्रिय-
मित्यादिश्रुतिव्याकोपापत्तिरतः स्यातामिति प्राप्ते—

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥ २७ ॥

शङ्काच्छेदाय तुशब्दः । उपसंहारसूत्रान्नेत्यनुवर्त्तते । ब्रह्मकर्त्तृत्वपक्षे लोकदृष्टा दोषा न स्युः । कुतः ? श्रुतेः ।
अलौकिकमचिन्त्यं ज्ञानात्मकमपि मूर्त्तं ज्ञानवच्चैकमेव बहुधावभातं च, निरंशमपि सांशं च, मितमप्यमितं
च, सर्व्वकर्त्तृ निर्विकारं च ब्रह्म इति श्रवणादेवेत्यर्थः । तत्राहि "बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपमिति" मुण्डके अलौकि-

---

कार्य्योपसंहार में ईश्वर का अनुपलब्धिरूप विरोध नहीं घटता है । इसे कहते हैं—षष्ठ्यन्त से इव अर्थ में
वत् प्रयोग है । इन्द्रादिक देवतागण इस पृथिवी में परिदृश्यमान नहीं होने पर भी जिस प्रकार उनका वर्षणादि-
कर्त्तृत्व सिद्ध होता है ठीक उसी प्रकार ईश्वर उपलभ्यमान नहीं होने पर भी उसका विश्वकर्त्तृत्व सिद्ध होता है॥२५

अब जीव कर्त्तृत्वपक्ष में दोषान्तर का प्रदर्शन करते हैं—जीवकर्त्तृत्ववादियों के मत में जीव का स्वरूप
निरंशत्व होने के कारण समस्त जीवस्वरूप में सकल कार्य्य की प्रसक्ति हो सकती है । किन्तु उस प्रकार नहीं
बोला जा सकता है । अंगुलि आदि के द्वारा तृण उठाने के कार्य्य में समस्त जीवस्वरूप का कर्त्तृत्व अनुभव
नहीं होता है । जीव कृत्स्नस्वरूप में प्रवृत्त होने पर अवश्य कृत्स्नसामर्थ्य की अपेक्षा कर सकता है । गुरुतर
पाषाण उठाने में जिस प्रकार चेष्टा दीखती है-किन्तु लघु तृण उठाने में उस प्रकार की चेष्टा नहीं होती है । उस
में सामर्थ्य अंश का अनुभव होता है । उस उस कार्य्य में स्वरूपांश की प्रवृत्ति है ऐसा नहीं बोला जा सकता
है । क्योंकि जीव का स्वरूप निरंश है । जीव का अंशत्व स्वीकार करने पर निरंशत्व श्रुति कुपित होती है । "यह
आत्मा अणु" इत्यादि वाक्य बाधित होता है । "जीव से भूत-समूह उत्पन्न होते हैं" इत्यादि वाक्य ब्रह्म परक है
यह पहले कहा गया है । सुतरां जीवकर्त्तृत्व पक्ष दूषित हुआ है ॥ २६ ॥

अब यह कृत्स्नप्रसक्ति आदि दोनों दोष ब्रह्मकर्त्तृत्व पक्ष में हैं किम्वा नहीं हैं-इस प्रकार का संशय उठता है।
समस्त कार्य्य में यदि कृत्स्नस्वरूप की ही प्रसक्ति होती है तो तृण-उत्तोलनादिक कार्य्य में कृत्स्नस्वरूप की प्रसक्ति
क्यों नहीं होती है ? वहाँ अंशमात्र से ही उस कार्य्य की सिद्धि हो सकती है । अंश-प्रवृत्ति में "निष्कल निष्क्रिय
इत्यादि श्रुति व्याकोप होती है । अतएव ब्रह्मकर्त्तृत्व पक्ष में ही उक्त उभय दोष आ पड़ते हैं । इस प्रकार की
पूर्व्वपक्षीय संगति के उत्तर में कहते हैं—

ब्रह्मकर्त्तृत्वपक्ष में लोकदृष्ट दोष की संगति नहीं होती है । कारण यह है कि ब्रह्म का कर्त्तृत्व श्रुति-प्रमाण
से सिद्ध होता है । शंङ्काच्छेदन के लिये "तु" शब्द है । उपसंहार सूत्र से नकार का अनुवर्त्तन है । ब्रह्मकर्त्तृत्व-
पक्ष में लोकदृष्ट दोष समूह नहीं है । क्योंकि इसका ब्रह्म निरूपण श्रुति से ही स्पष्टीकरण हो जाता है । ब्रह्म

"बर्हापीडाभिरामाय रामायाकुण्ठमेधसे" ॥ "एकोपि त्वादि श्रुतम्। "तमेकमेव गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम्" । "बर्हापीडाभिरामाय रामायाकुण्ठमेधसे" ॥ "एकोपि

कत्वादि श्रुतम्। "तमेकमेव गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम्"। "बर्हापीडाभिरामाय रामायाकुण्ठमेधसे" ॥ "एकोपि सन् बहुधा योऽवभाति" इति गोपालोपनिषदि ज्ञानात्मकत्वादिति। "अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिव" इति माण्डूक्योपनिषदि निरंशत्वेऽपि सांशत्वम्। "आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्व्वत" इति काठके मितत्वेऽप्यमितत्वं च। "द्यावाभूमी जनयन् देव एकः एष देवो विश्वकर्म्मा महात्मा स विश्वकृत् विश्वहृदा-त्मयोनिर्निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जन"मिति श्वेताश्वतरश्रुतौ सर्व्वकर्त्तृत्वेऽपि निर्विकारत्वं चेत्येतत् सर्वं श्रुत्यनुसारेणैव स्वीकार्य्यं, न तु केवलया युक्त्या प्रतिविधेयमिति। ननु श्रुत्यापि बाधितार्थकं कथं बोधनीयं तत्राह शब्देति। अविचिन्त्यार्थस्य शब्दैकप्रमाणत्वादित्यर्थः। तादृशे मणिमन्त्रादौ दृष्टं ह्येतत् प्रकृते कैमुत्यमापादयति। इदमत्र निष्कृष्टम्। प्रत्यक्षानुमानशब्दाः प्रमाणानि भवन्ति। प्रत्यक्षं तावत् व्यभिचारि दृष्टं मायामुण्डावलोके चैत्रस्येदं मुण्डमित्यादौ। वृष्ट्या तत्कालनिर्वापितवह्नौ चिरमधिकद्वित्वरधूमे पर्व्वते वह्नि-मान् धूमादित्यनुमानं च। आप्तवाक्यलक्षणः शब्दस्तु न क्वापि व्यभिचरति हिमालये हिमं, रत्नालये रत्नमि-त्यादिः। स हि तदनुग्राही तन्निरपेक्षस्तदवगम्ये साधकतमश्च। दृष्टचरमायामुण्डस्य पुंसो भ्रान्त्या सत्येऽप्य-विश्वस्ते तदेवेदमित्याकाशवाण्यादौ। "अरे शीतार्त्ताः पान्था मास्मिन् वह्निं सम्भावयत दृष्टमस्माभिः स

अलौकिक, अचिन्त्य,ज्ञानात्मक होने पर भी मूर्त्तिविशिष्ट और ज्ञानसम्पन्न, एक होकर भी बहुरूप से विराजमान, निरंश होने पर भी अंशयुक्त, परिमित हो कर भी अपरिमित, सर्व्वकर्त्ता होने पर भी विकार रहित है इस प्रकार श्रुतियों से प्रमाणित होता है। मुण्डक में कहा है—ब्रह्म बृहत् और अलौकिक तथा अचिन्त्य है। यहाँ अलौकि-कत्व सिद्ध है। ज्ञानात्मकत्वादि विषय में गोपालोपनिषद् में कहा है—अद्वितीय सच्चिदानन्द विग्रह स्वरूप उन गोविन्द जी को" "बर्हापीडाभिराम, रमणीय, अकुण्ठबुद्धिवाले उन गोविन्द को" "एक होकर बहुस्वरूप से जो विराजमान" इत्यादि। माण्डुक्योपनिषद् में "ब्रह्म अमात्र होकर भी अनन्तमात्रा विशिष्ट, द्वैत होकर भी अद्वैत तथा मङ्गलमय है"। यहाँ निरंश होकर भी सांश इसका प्रमाण है। कठोपनिषद् में"ब्रह्म एक स्थान में स्थित होकर भी अर्थात् समीपस्थ होने पर भी दूरगत, शयान (सोता हुआ) होकर भी सर्व्वगामी है" यहाँ परिमित होकर भी अपरिमित इसका प्रमाण है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में–"ब्रह्म आकाश–जल–भूमी तीनों लोकों का सृष्टिकर्त्ता, विश्व का भी कर्त्ता, विश्व को सृजन करते वाला, विश्व का हरणकारी, आत्मयोनि, निष्कल, निष्क्रिय,शान्त, निर-वद्य तथा निरञ्जन है" यहाँ सर्व्वकर्त्ता होने पर भी निर्विकार है—यह सब श्रुति के अनुसार स्वीकार किया गया है। केवल युक्ति से नहीं है। यदि यह कहते हो कि श्रुति के द्वारा बाधक अर्थ किस रूप से बोध हो सकता है उस के उत्तर में कहते हैं कि—अविचिन्त्य विषय में श्रुति ही एकमात्र प्रमाण है। जब लौकिक मणि-मन्त्रादिकों का अचिन्त्य प्रभाव देखने में आता है तब अलौकिक ब्रह्म का उस प्रकार का प्रभाव स्वीकार करने में क्या हानि है? यहाँ सारकथा यह है कि—प्रत्यक्ष, अनुमान, और शब्द ये तीन प्रमाण हैं। उसमें से–मायामुण्ड दर्शन के स्थल में यह चैत्र का मुण्ड है इस प्रकार की प्रतीति में प्रत्यक्ष का व्यभिचार होता है। वृष्टि के द्वारा अग्नि का निर्वापण वा अधिकतर से दुगुण धूआँ उठने के स्थल पर पर्व्वतादि में वन्हि की स्थिति यह अनुमान भी व्यभिचारी हो जाता है। परन्तु आप्तवाक्य लक्षण विशिष्ट शब्द का कहीं पर भी व्यभिचार नहीं देखा जाता है। जैसा कि"हिमा-लय में हिम और रत्नाकर (सागर) में रत्न" चिर प्रसिद्ध हैं। शब्दप्रमाण प्रत्यक्ष तथा अनुमान का अनुग्राही अर्थात् उपजीवक है। वह प्रत्यक्षादिक का निरपेक्ष तथा जहाँ प्रत्यक्ष-अनुमान का प्रवेश नहीं है वहाँ साधकतम रूप से देखा जाता है। जो व्यक्ति मायामुण्ड दर्शन की भ्रान्ति से सत्यमुण्ड के दर्शन से भी विश्वास नहीं कर सकता है उसका विश्वास उत्पादन आकाशवाणी के द्वारा होता है। "अहे ! शीतार्त्त पथिकजन ! इस पर्व्वत में वन्हि की

इदानीं वृष्ट्यैव निर्वाणः। किन्त्वमुष्मिन् धूमोद्गारिणि गिरौ स दृश्यत"इत्यादौ च तदुभयानुग्राहिता। मणिकण्ठ-स्त्वमसीत्यादौ तन्निरपेक्षता, तदवगम्ये ग्रहचेष्टादौ साधकतमता चेति शब्दस्य सर्व्वतः श्रैष्ठ्ये स्थिते ब्रह्मबोधकस्तु श्रुतिशब्द एव। "नावेदविन्मनुते तं बृहन्त"मित्यादिश्रवणात्, स्वतःसिद्धत्वेन निर्दोषत्वाच्चेति ॥ २७ ॥

उक्तमर्थं दृष्टान्तेन ग्राहयति—

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥ २८ ॥

यथा कल्पद्रुमचिन्तामण्यादेरीश्वरविभूतिभूतस्याचिन्त्यशक्तिमात्रसिद्धा हस्त्यश्वादयो विचित्राः सृष्टयो भव-न्तीति शब्दात् प्रतीत्य श्रद्धीयते एवमात्मनश्च सर्व्वेश्वरस्य विष्णोर्देवनरतिर्यगादयस्तास्तथाभूता भवेयुरिति तस्मा-देव श्रद्धेयम्। अचिन्त्यवस्तुस्वभावस्य तदेकगम्यत्वात् तत्र यथा कृत्स्नेन स्वरूपेण सृज्यन्ते स्वरूपांशेन वा व्यवस्थया वेति युक्तेर्नावकाशस्तथा प्रकृतेऽपीति। तस्मात् यथाश्रुतमेव स्वीकार्य्यं। सप्तम्यन्तनिर्देशः कार्य्याधार-त्वविवक्षया। दार्ष्टान्तिके कैमुत्यद्योतनाय परश्च शब्दः। हिशब्देन पुराणादिप्रसिद्धिः सूच्यते। तस्मात् ब्रह्मकर्त्तृ-त्वपक्षः श्रेयान् ॥ २८ ॥

स एव उपादेय इत्याह— स्वपक्षे दोषाच्च ॥ २९ ॥

स्वस्य तव जीवकर्त्तृत्ववादिनः पक्षे कृत्स्नप्रसक्त्यादेर्दोषस्य सत्वात् ब्रह्मकर्त्तृत्वपक्षे तस्य निरस्तत्वात् ॥२९॥

अथ विधान्तरैराशङ्क्य समादधाति आवैषम्याधिकरणात्। ब्रह्मणः कर्त्तृत्वं युज्यते न वेति संशये "सत्यं ज्ञान-मनन्तं ब्रह्म" "सदेव सौम्येदमात्मा वा इदमित्यादिषु शक्त्यश्रवणात् न युज्यते। शक्तिमानेव हि तक्षादिर्विचि-त्रकार्य्याय क्षमो वीक्ष्यते नाशक्तिमानिति प्राप्ते—

सम्भावना मत करना। संप्रति वह वृष्टि के द्वारा निर्वापित हो गया है यह हमने देखा है। आओ इस दूसरे धूम्र-उद्गारकारी पर्व्वत में अग्नि दीखती है इत्यादिक उन प्रत्यक्ष-अनुमान दोनों का अनुग्राहक शब्द है। कंठ-मणि के विस्मृत हो जाने वाले व्यक्ति को उसके स्मरण कराने में शब्दप्रमाण प्रत्यक्ष-अनुमान की अपेक्षा नहीं करता है। प्रत्यक्ष और अनुमान के अगम्य ग्रहचेष्टादिक स्थल में शब्द ही साधकतम रूप से परिदृष्ट होता है। इस प्रकार शब्द का सर्व्व प्रकार से श्रेष्ठत्व सिद्ध हुआ है। श्रुतिशब्द से ही ब्रह्म का बोध होता है। श्रुति में कहा गया है–अवेदवित् व्यक्ति बृहत्‌ब्रह्म को नहीं जान सकता है। वेद स्वतःसिद्ध होने के कारण निर्दोष है ॥२७॥

उस अर्थ को दृष्टान्त के द्वारा ग्रहण कराते हैं—

जिस प्रकार ईश्वर के विभूतिभूत कल्पवृक्ष और चिन्तामणि आदिक से हस्ति, अश्वादिक विचित्र सृष्टि-समूह अचिन्त्य शक्तिमात्र से होते हैं इसे शब्द प्रमाण से अवगत होकर विश्वास करना होता है उसी प्रकार आत्मस्वरूप सर्वेश्वर विष्णु से देवतिर्य्यग प्रभृतियों की सृष्टि होती है–इसे श्रुति के अनुसार ही विश्वास करना होगा। अचि-न्त्यवस्तु का स्वभाव श्रुति मात्र गम्य है। पूर्वोक्त स्थल पर जैसा कि कृत्स्नस्वरूप में सृष्टि, अथवा स्वरूपांश में सृष्टि, किम्वा कहाँ पर स्वरूपांश में और कहाँ पर कृत्स्नस्वरूप में सृष्टि इत्यादिक युक्ति का अवसर नहीं है ठीक ऐसा ही यहाँ पर समुझना होगा। अतएव श्रुति के द्वारा जो सुना जाएगा वह स्वीकार्य्य है। आत्मन् शब्द के उत्तर में सप्तमी विभक्ति कार्य्य के आधारत्वविवक्षा से जाननी चाहिए। परवर्त्ती शब्द दार्ष्टान्तिक में कैमुत्य द्योतक के लिये है। "हि"शब्द से पुराणादिकों की प्रसिद्धि सूचित होती है। अतएव ब्रह्मकर्तृत्वपक्ष श्रेय है॥२८॥

ब्रह्मकर्तृत्वपक्ष ही उपादेय है अब उसे कहते हैं—

जीव कर्तृत्ववादी स्वपक्ष में कृत्स्नप्रसक्ति आदि दोष के प्रसंग के द्वारा और ब्रह्मकर्तृत्व पक्ष में उन दोषों के निरास हो जाने के कारण ब्रह्मकर्तृत्व पक्ष ही उपादेय होता है ॥ २९ ॥

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

चशब्दो ऽवधारणे । सर्व्वासां शक्तीनामुपेता प्राप्तासावात्मा । तृच् प्रत्ययः । सर्व्वशक्तिविशिष्ट एव परमात्मा । कुतः ? तद्दर्शनात् । "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां" "य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात्" "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" इत्यादि-श्रुतिषु तथा दर्शनात् । "विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ते"त्यादिका स्मृतिस्तूक्ता । अचिन्त्याश्चैताः । "अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः" "आत्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्तिः" इत्यादिस्मृतिभ्यः । तथा चाविचिन्त्यशक्तियोगात् ब्रह्मणः कर्त्तृत्वं युज्यते एवेति । सत्यमित्यादिषु स्वरूपं परामृष्टम् । देवात्मेत्यादिषु तु तस्य शक्तय इति । तस्माद् शक्तिमदेव ब्रह्मस्वरूपम् । अत एव तत्र तत्र सोऽकामयतेत्यादिना तदैक्षतेत्यादिना च तस्यैव संकल्पादयो निरूपिताः । उभयेषां वाक्यानां प्रामाण्येऽविशेषः श्रुतित्वाविशेषात् ॥ ३० ॥

पुनराशङ्क्य समाधत्ते । कर्त्तृत्वं ब्रह्मणो न सम्भवत्यनिन्द्रियत्वात् । शक्तिमन्तोऽपि देवादयः सेन्द्रिया एव तत्तत् कार्य्यक्षमा विज्ञायन्ते । ब्रह्म त्वनिन्द्रियं कथं विश्वकार्य्याय क्षमं स्यात् । श्रुतिश्च श्वेताश्वतरैः पठिता तस्येन्द्रियशून्यत्वमाह । "अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । स वेत्ति वेद्यं न हि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्त"मिति । एवं प्राप्ते ब्रवीति—

विकरणत्वान्नेति चेत् तदुक्तम् ॥ ३१ ॥

अनिन्द्रियत्वात् ब्रह्मणः कर्त्तृत्वं नेति यदुच्यते तदुक्तं उत्तरत्र स्वाभाविकपरशक्तिकतां दर्शयन्त्या श्रुत्यैव तत्

अब प्रकारान्तर से दोष उठाकर समाधान करते हैं। यहाँ संशय यह उठता है–ब्रह्म वैषम्य दोष का आश्रय है। इसलिये तादृश ब्रह्म का कर्त्तृत्व युक्त है अथवा अयुक्त है ? "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादिक श्रुति में शक्ति का अश्रवण होने के कारण वह युक्त नहीं है। शक्तिमान् तत्तादिकों की ही विचित्र कार्य्यों में सामर्थ्य देखने में आती है। अशक्तिमानों का तादृश प्रकार दृष्ट नहीं होता है। इस प्रकार का पूर्व्वपक्ष आने पर उत्तर देते हैं।—

आत्मा का सर्व्वशक्ति समन्वितत्व देखने में आता है। "च"शब्द अवधारण अर्थ में है। यह आत्मा समस्त शक्ति का उपेता है। उपेता का अर्थ प्राप्ता है। उप पूर्व्वक इन धातु के उत्तर तृच् प्रत्यय से उपेता शब्द निष्पन्न होता है। परमात्मा सकलशक्तिविशिष्ट है। क्योंकि श्रुति में इस प्रकार देखा जाता है। "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां""य ऐकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात्""परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" इत्यादिक श्रुतियों में देखने में आता है। "विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता" इत्यादिक स्मृति में भी कहा है। "अपाणिपादो जवनो गृहीता" इत्यादिक श्रुति में शक्ति का अचिन्त्यत्व कहा गया है। अविचिन्त्य शक्ति योग के कारण ब्रह्म का कर्त्तृत्व युक्त होता है।"सत्यं ज्ञानमनन्तं" प्रभृति श्रुति में ब्रह्म का स्वरूप और "देवात्मशक्ति" प्रभृति श्रुति में उसकी शक्ति–समूह का परामर्श हुआ है। सुतरां ब्रह्म का स्वरूप शक्तिविशिष्ट है–यह स्थिर सिद्धान्त है। अतएव उन उन स्थल में "सोऽकामयत" इत्यादि श्रुति के द्वारा ब्रह्म के संकल्पादिक का निरूपण किया गया है। उभय वाक्य के प्रमाण में कोई विशेषता नहीं है क्योंकि उभय वाक्य ही श्रुति है ॥ ३० ॥

फिर शङ्का उठाकर उसका समाधान करते हैं। ब्रह्म का इन्द्रिय रहित होने के कारण उसका कर्त्तृत्व असम्भव है। देवतागण शक्ति सम्पन्न होने पर भी इन्द्रियविशिष्ट हैं। वे सब इन्द्रिय विशिष्ट होने के कारण कार्य्यों में सूक्ष्म होते हैं। इन्द्रिय रहित ब्रह्म किस प्रकार विश्व-कार्य्य में समर्थ हो सकता है ? श्रुति में ब्रह्म का इन्द्रियशून्यत्व कहा गया है। श्वेताश्वतर में –ब्रह्म के हाथ-पाँव कुछ नहीं है–ऐसा वचन है। इस प्रकार पूर्व्वपक्ष का खण्डन करते हैं।—

समाहितमित्यर्थः । तथाहि तैरेव पठ्यते—"तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् । पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥ न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् । स कारणं कारणाधिपाधिपो न तस्य कश्चिज्जनिता न चाधिप"इति । अपाणीत्यादिना पाण्यादिवर्जितोऽप्यसौ महापुरुषो ग्रहणादिकार्य्यभाग् भवतीत्युक्तं प्राक् । तत्र सन्दिहानान् प्रति पुनराह तमिति । पुरुषमात्रनियन्तृत्वात् महापुरुषत्वं सिद्धम् । कार्य्यं प्राकृतं करणं च शब्दाद्वपुस्तस्य नास्ति । परशक्तिमयन्तु तत्तदस्त्येव । सा च शक्तिः स्वाभाविकी स्वरूपानुबन्धिन्येतेनास्य ज्ञानबलक्रिया च तथा । ईदृशगुणविरहात् न कोऽपि तस्य समः । अधिकस्तु नास्त्येवेत्याह न तस्य कश्चिदिति । तथा च प्राकृतकरणविरहेऽपि स्वरूपानुबन्धिकरणमत्वादनुपपन्नं न किञ्चिदपि । अन्येत्वाहुः । अपाणीत्यादिना पाण्यादेः प्रतिषेधो न, ग्रहणाद्यभिधानात् । किन्तु तत्तत्करणैस्तत्तद्वृत्तीनां नियमः प्रतिषिध्यते । "सर्व्वतः पाणिपादं तत् सर्व्वतोऽक्षिशिरोमुखं । सर्व्वतः श्रुतिमल्लोके सर्व्वमावृत्य तिष्ठती"ति तैरेव पठितत्वात् । "अङ्गानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्तीति" स्मरणाच्च । दृष्टं चेत्थं वन्यभोजनावसरे । एतत्पक्षे तस्य न किञ्चित् कार्य्यं साध्यमस्ति पूर्णत्वात् । अतः करणं विधानं च न समानमन्यत् ॥३१॥

सृष्टौ ब्रह्मणः प्रवृत्तिरुपयुक्ता न वेति विषये पूर्व्वपक्षमाह—

ब्रह्म इन्द्रिय रहित है। इसलिये उसका कर्त्तृत्व अयुक्त है, इस तुम्हारे शङ्का वचन का समाधान श्रुति ने किया है। ब्रह्म स्वभावतः परशक्ति समन्वित है—यह श्रुति में कहा गया है। ब्रह्म की इन्द्रियत्व-हीनता में भी कर्त्तृत्व अयुक्त नहीं है। श्रुति का वचन है—वह ब्रह्मादिक ईश्वरों का भी परममहेश्वर तथा देवताओं का भी परमदेवता है" और भी "वह लोकपालों का अधीश्वर, प्रधान का प्रधान, त्रिभुवन का ईश्वर और पूज्य है। उसका कार्य्य व करण कुछ नहीं है। न उसके कोई समान है अथवा उससे अधिक है। उसकी स्वाभाविकी पराशक्ति का श्रवण देखने में आता है। ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और इच्छा-आदिक शक्तियाँ उसकी स्वाभाविकी पराशक्ति हैं। उसका अधीश्वर वा ईश्वर कोई नहीं है। वह ही विश्व का मूल कारण है। कारण के अधिपों का भी अधिप है उसके जनक और अधिपति दोनों नहीं हैं" इन सब श्रुति में उसके हस्त, पादादिक इन्द्रियों का निषेध होने पर भी इन्द्रियों का ग्रहणादिक कार्य्य कहा गया है इस विषय में सन्देह करने वालों को श्रुति पुनः पुनः कहती है। वह पुरुषमात्र का नियामक महापुरुष है। उसका प्राकृत कार्य्य, करण और शरीरादिक का अभाव है किन्तु उसका पराशक्तिमय अप्राकृत शरीरादिक होता है। उसकी शक्तियाँ स्वाभाविकी अर्थात् स्वरूपानुबन्धिनी हैं। इसलिये उसके ज्ञान, बल, क्रियादिक भी सब स्वरूपानुबन्धी स्वाभाविक हैं। इस प्रकार का गुण-समूह और किसी का नहीं है। सुतरां उसके समान वा अधिक कोई नहीं है। प्राकृत करणादि नहीं रहने पर भी स्वरूपानुबन्धी करणादियों के सद्भाव होने के कारण उसमें कुछ भी असम्भव नहीं होता है। और कोई कोई तो कहते हैं कि "अपाणिपादः" प्रभृति श्रुति में ग्रहणादि के अभिधान होने के कारण पाणि प्रभृति का प्रतिषेध नहीं किया गया है। किन्तु उन समस्त करणों के द्वारा इन सब वृत्ति के नियम का निषेध किया गया है। क्योंकि उन समस्त श्रुतियों में ब्रह्म के पाणिपादादिकों का उल्लेख है। "सर्वतः पाणिपादं तत्" इत्यादिक श्रुति का वचन है। स्मृति में भी–ब्रह्म का अंग-प्रत्यंग समूह सर्व्वेन्द्रियवृत्तिविशिष्ट है। अर्थात् एक एक अंग प्रत्यंग में समस्त इन्द्रियों की वृत्ति मौजूद है। वन्यभोजन के समय यह सब देखा गया है। ब्रह्मकर्त्तृत्व पक्ष में उसके पूर्णत्व होने के कारण कोइ कार्य्य असाध्य नहीं है। यहाँ साधनीय कार्य्य का निषेध किया गया है। इसलिये उसका करण-विधान का भी निषेध हो रहा है ॥ ३१ ॥

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥ ३२ ॥

पूर्व्वतो नेत्यनुवर्त्तते । निषेधार्थकेन न शब्देन समासात् नात्र न लोपः । प्रवृत्तिर्नोपयुज्यते । कुतः ? तस्य पूर्णस्य प्रयोजनाभावात् । स्वार्था परार्था च प्रवृत्तिर्लोके दृष्टा । तत्र नाद्या सम्भवति पूर्णकामत्वश्रुतिविरोधात् । नाप्यन्त्या समर्थो हि परानुग्रहाय प्रवर्त्तते न तु जन्ममरणादिविविधयातनासमर्पणाय । ऋते प्रयोजनात् प्रवृत्तौ त्वप्रेक्ष्यकारितापत्तिस्ततः सर्व्वज्ञश्रुतिव्याकोपः । तस्मान्नोपयुक्ता प्रवृत्तिरिति ॥ ३२ ॥

एवं प्राप्ते समाधत्ते— **लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥ ३३ ॥**

शङ्काच्छेदाय तुशब्दः । परिपूर्णस्यापि विचित्रसृष्टौ प्रवृत्तिर्लीलैव केवला न तु स्वफलानुसन्धिपूर्विका । अत्र दृष्टान्तो लोकेति । षष्ठ्यन्तात्वतिः । लोकस्य सुखोन्मत्तस्य यथा सुखोद्रेकात् फलनिरपेक्षा नृत्यादिलीला दृश्यते तथेश्वरस्य । तस्मात् स्वरूपानन्दस्वाभाविक्येव लीला । "देवस्यैव स्वभावोऽयमात्मकामस्य का स्पृहेति" माण्डूकश्रुतेः । "सृष्ट्यादिकं हरिर्नैव प्रयोजनमपेक्ष्य तु । कुरुते केवलानन्दात् यथा मत्तस्य नर्त्तनम् । पूर्णानन्दस्य तस्येह प्रयोजनमतिः कुतः । मुक्ता अप्याप्तकामाः स्युः किमु तस्याखिलात्मनः" ॥ इति स्मरणाच्च । न चात्र दृष्टान्तेनासार्व्वज्ञ्यं प्रसक्तम् । विना फलानुसन्धिमानन्दोद्रेकेण लीलायत इत्येतावत् स्वीकारात् । उच्छ्वासप्रश्वासदृष्टान्तेऽपि सुषुप्त्यादौ तदापत्तेः । राजदृष्टान्तस्तु तत्तत् क्रीडासम्भूतस्य सुखस्य फलत्वान्नोपात्तः ॥ ३३ ॥

अब सृष्टि विषयमें ब्रह्म की प्रवृत्ति उपयुक्त है किम्वा नहीं है इस प्रकार के संशय में पूर्व्वपक्ष का स्थापन करते हैं- यहाँ पूर्व्ववर्त्ती सूत्र से नकार का अनुवर्त्तन है। निषेधार्थक शब्द के साथ समास होने के कारण नकार का लोप नहीं है। ब्रह्म की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि जो पूर्ण वस्तु है, उसका फिर प्रयोजन कहाँ है ? लोक में ही स्वार्थ में वा परार्थ में प्रवृत्ति देखी जाती है। ब्रह्म पूर्णकाम है, अतएव उसकी स्वार्थ में प्रवृत्ति का होना सम्भव नहीं है। परार्थो प्रवृत्ति भी नहीं है। सामर्थ्यवान् ही पर के अनुग्रह-प्रकाश में प्रवृत्त होता है। यहाँ सृष्ट्यादिक में प्रवृत्ति जन्म-मरणादि विविध यातना-प्रदान के लिये है। निग्रह-प्रवृत्ति ब्रह्म में कभी नहीं हो सकती है। प्रयोजन के बिना सृष्ट्यादिक की प्रवृत्ति स्वीकार करने पर श्रीहरि में उन्मत्तत्ता आदिक दोष की आपत्ति उठ सकती है। जिससे सर्व्वज्ञत्वादि बोधक श्रुतिवाक्य-समूह का वैयर्थ्य प्रसंग होता है अतः ब्रह्म की सृष्ट्यादि-प्रवृत्ति अयुक्त है इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं॥—

लौकिक प्राणी की तरह ब्रह्म की तादृश प्रवृत्ति लीलार्थ बोलनी होगी। शङ्काच्छेद के लिये "तु" शब्द है। ब्रह्म परिपूर्ण होने पर भी विचित्र सृष्टि में उसकी प्रवृत्ति केवल लीलार्थ ही समझनी चाहिए किन्तु वह प्रवृत्ति फलानुसन्धान पूर्विका नहीं है। इस विषय में दृष्टान्त-सुख से उन्मत्त समस्त लोग जिस प्रकार सुखोद्रेक के समय फलादि के निरपेक्ष होकर नृत्यादिकों में प्रवृत्त होते हैं ठीक उसी प्रकार परमेश्वर भी लीलार्थ सृष्ट्यादिक में प्रवृत्त होते हैं। अतएव उनकी यह लीला स्वरूपानन्द स्वाभाविकी है। माण्डूक श्रुति में कहा है-"परमेश्वर की यह सब लीला स्वाभाविकी है। जो आप्तकाम है उनकी फिर स्पृहा कहाँ है। स्मृति में भी कहा है-मनुष्य जिस प्रकार आनन्दाधिक्य से मत्त होकर नृत्य करता है परमेश्वर भी ठीक उसी प्रकार लीला करते हैं। जब वे पूर्णानन्द हैं तो उनका फिर प्रयोजन क्या है ? मुक्तव्यक्तिगण जब आप्तकाम होते हैं तब अखिल आत्मा परमेश्वर का क्या कहना है। इस प्रकार मत्तत्तादि दृष्टान्त के अनुसार परमेश्वर की असर्वज्ञ्यापत्ति नहीं होती है। फलानुसन्धान के बिना केवल आनन्द-उद्रेक के कारण ब्रह्म लीला करता है-ऐसा बोलने पर उसके सार्वज्ञत्वादिक का स्वीकार होता है। केवलाद्वैती के उच्छ्वास-प्रश्वास दृष्टान्त में भी सुषुप्ति आदि में ज्ञानाभाव की उपपत्ति होती है। उस २ क्रीडा से उत्पन्न सुख का फलत्व होने के कारण राजदृष्टान्त का ग्रहण नहीं किया गया है ॥ ३३ ॥

पुनराशङ्क्य परिहरति । ब्रह्मकर्तृत्ववादोऽसमञ्जसः समञ्जसो वेति वीक्षायां सुखदुःखभाजो देवमनुष्यादीन् सृजति ब्रह्मणि वैषम्याद्यापत्तेरसमञ्जसः । ततश्च निर्दोषतावादिश्रुत्युपरोधापत्तिरिति प्राप्ते—

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति ॥३४॥

ब्रह्मणि कर्त्तरि वैषम्यं नैर्घृण्यं च दोषो न । कुतः सापेक्षत्वात् स्रष्टुः कर्म्मापेक्षित्वात् । प्रमाणमाह तथाहीति । "एष एव साधुकर्म्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते । एष एवासाधु कर्म्म कारयति तं यमधो निनीषते" इति वृहदारण्यकश्रुतिः । क्षेत्रज्ञानां देवादिभावप्राप्तिमीश्वरनिमित्तां दर्शयन्ती मध्ये कर्म्म परामृशतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

न कर्म्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ॥ ३५ ॥

ननु कर्म्मणा वैषम्यादिपरिहारो न स्यात् । कुतः ? कर्म्माविभागात् । सदेव सौम्येदमित्यादिषु प्राक् सृष्टेर्ब्रह्माविभक्तस्य कर्म्मणोऽप्रतीतेरिति चेन्न । कुतः ? कर्म्मणः क्षेत्रज्ञानां च ब्रह्मवदनादित्वस्वीकारात् । पूर्व्वपूर्व्वकर्म्मानुसारेणोत्तरोत्तरकर्म्मणि प्रवर्त्तनात् न किञ्चिद् दूषणम् । स्मृतिश्च—"पुण्यपापादिकं विष्णुः कारयेत् पूर्व्वकर्म्मणा । अनादित्वात्कर्म्मणश्च न विरोधः कथंचन" ॥ इति । कर्म्मणोऽनादित्वेनानवस्था तु न दोषः प्रामाणिकत्वात् । न च कर्म्मसापेक्षत्वेनेश्वरस्यास्वातन्त्र्यम् । द्रव्यं कर्म्म च कालश्चेत्यादिना कर्म्मादिसत्तायास्तदधीनत्वस्मरणात् । न च घट्टकुड्यां प्रभातमिति वाच्यं, अनादिजीवस्वभावानुसारेण हि कर्म्म कारयति स्वभावमन्यथाकर्त्तुं समर्थोऽपि कस्यापि न करोतीत्यविषमो भण्यते ॥ ३५ ॥

फिर आशङ्का उठाकर परिहार करते हैं।—ब्रह्मकर्त्तृत्ववाद समञ्जस है किम्वा असमञ्जस ? इस प्रकार के संशय होने पर ब्रह्म सुख-दुःख भागी देवमनुष्यादिकों की सृष्टि करता है उस में वैषम्यादि दोष की आपत्ति आ सकती है इसलिये यह असमञ्जस है। वैषम्यादि दोषों की आपत्ति मानने पर निर्दोषतावादिनी श्रुति बाधित हो जाती है —इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष का उत्तर देते हैं।—

जगत्कर्त्ता ब्रह्म में विषमता और नैर्घृण्यता दोष नहीं है क्योंकि प्राणियों के कर्म्म के अनुसार ही सुख-दुःख का भोग होता है। प्रमाण यह है कि वृहदारण्यक श्रुति में कहा है—जो सत् कर्म्म करता है परमेश्वर उसको सद्-गति और जो असत् कर्म्म करता है उसको अधोगति प्रदान करते हैं। जीवों के कर्मानुसार ईश्वर को निमित्त कर जिस प्रकार दुःख की प्राप्ति होती है ठीक उसी प्रकार देवादिक सुख की प्राप्ति भी ईश्वर को निमित्त करके होती है। अच्छा-कर्म्म के द्वारा वैषम्यादि का परिहार नहीं है। प्रलय में कर्म्म का विभाग नहीं है। क्योंकि सृष्टि प्रपञ्च अनादि है। इस प्रकार नहीं कह सकते हो। "सदेव सौम्येदम्" इत्यादि श्रुति में यद्यपि सृष्टि के पहले ब्रह्म के द्वारा कर्म्म विभाग की सम्भावना आपाततः प्रतीत होती है किन्तु क्षेत्रज्ञ जीवों का अनादित्व स्वीकार करने से उसका परिहार हो जाता है। पूर्व्व पूर्व्व कर्म्म के अनुसार उत्तरोत्तर कर्म्म में प्रवर्त्तन के कारण कोई दोष नहीं है। स्मृति में कहा है—"विष्णु पूर्व्व कर्म्म के अनुसार ही जीवों को पुण्य-पाप में प्रवर्त्तन कराते हैं"। कर्म्म अनादि है इसलिये कोई विरोध नहीं है। कर्म्म के अनादित्व से अनवस्था दोष भी नहीं हो सकता है कारण वह वीजांकुर की तरह प्रामाणिक है। इस प्रकार कर्म्म का सापेक्षत्व होने पर भी ईश्वर की स्वातन्त्र्य की हानि नहीं हो सकती है। क्योंकि स्मृति में द्रव्य-कर्म्म-कालों की सत्ता ईश्वराधीन कह करके कही गयी है। "घट्ट-कुड्या में ही प्रभात हुआ" अर्थात् जो दोष है वह दोष रह गया है-इस प्रकार नहीं कह सकते हो। क्योंकि अनादि जीवों के स्वभाव के अनुसार परमेश्वर उन्हें कर्म्म कराते रहते हैं। वे स्वभाव को अन्य प्रकार का करने में सामर्थ्यवान् होने पर भी किसी के स्वभाव को अन्य प्रकार का नहीं करते हैं। इसलिये ही ब्रह्म को अविषम करके कहा जाता है॥३५॥

वैषम्यादिकं ब्रह्मणि परिहृतम्। भक्तपक्षपातरूपं तदिदानीं तस्मिन्नङ्गीकरोति। भक्तसंरक्षणं तद्वासनानिवारणं च परस्मिन् वैषम्यं न वेति विषये तद्रक्षणादेरपि कर्म्मसापेक्षत्वात् न स्यादिति प्राप्ते—

उपपद्यते चाभ्युपलभ्यते च ॥ ३६ ॥

भक्तवत्सलस्यास्य प्रभोस्तत्पक्षपातो वैषम्यमेव तदुपपद्यते सिध्यति। तद्रक्षणादेः स्वरूपशक्तिवृत्तिभूतभक्तिसापेक्षत्वात्। न च निर्दोषतावादिवाक्यव्याकोपः। तद्रूपस्य वैषम्यस्य गुणत्वेन स्तूयमानत्वात्। "गुणवृन्दमण्डनमिद" मित्यपि श्रुतिराह। यद्विना सर्व्वे गुणाः जनेभ्योऽरोचमानाः प्रवर्त्तका न स्युः। उपलभ्यते चैतत् श्रुतिषु च। "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा विवृणुते तनुं स्वा"मित्याद्याः श्रुतयः। "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः"। "समोऽहं सर्व्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ क्षिप्रं भवति धर्म्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यती"त्याद्याः स्मृतयश्च ॥ ३६ ॥

सर्व्वधर्म्मोपपत्तेश्च ॥ ३७ ॥

अविचिन्त्यस्वरूपे सर्व्वेश्वरे सर्व्वेषां विरुद्धानामविरुद्धानां च धर्म्माणामुपपत्तेः सिद्धेश्च भक्तपक्षपातोऽपि गुणः सुज्ञैरास्थेय एव। यथा ज्ञानात्मको ज्ञानवान्, स्यामश्चैवमविषमो भक्तप्रेयानित्यादयो मिथो विरुद्धाः क्षान्त्यार्जवादयोऽविरुद्धाश्च परस्मिन्नेव सन्ति। स्मृतिश्च "ऐश्वर्य्ययोगात् भगवान् विरुद्धार्थोऽभिधीयते। तथापि

ब्रह्म में वैषम्यादि दोषों का परिहार हुआ है। वर्त्तमान में उनका भक्तपक्षपात की बात उठाते हैं। भक्तसंरक्षण और उनकी अविद्या निवारण रूप वैषम्य ब्रह्म में घटता है किम्वा नहीं घटता है। इस प्रकार का संशय उठने पर भक्तरक्षणादिक भी कर्म्म सापेक्षत्व होकर प्रयुक्त होता है। इसलिये उक्त वैषम्य ब्रह्म में नहीं है। इस प्रकार का पूर्वपक्ष स्थिर होने पर उत्तर में कहते हैं—

भक्तवत्सल प्रभु का भक्तपक्षपाती वैषम्य उपपन्न होता है। प्रभु का भक्तरक्षणादि कर्म्म उनकी स्वरूपशक्ति की वृत्तिभूत भक्तिमहारानी का सापेक्ष है। इससे निर्दोषादि सूचक वेदवाक्य का विरोध नहीं होता है। जिससे कि भगवान् के इस प्रकार के वैषम्यादिक,गुण-समूहमें गिने जाते हैं। श्रुतिमें भी उस वैषम्य को गुणबृन्द का मण्डन करके निर्देश किया गया है। उनका यह वैषम्यगुण नहीं रहने से अन्य कोई गुण भी भक्तों को रुचिकर नहीं होता तथा अन्य गुणों का प्रवर्त्तन भी नहीं हो सकता है। उनका भक्तपक्षपात श्रुतिस्मृति-प्रसिद्ध है। श्रुति में कहा है—"श्रीहरि भक्ति से प्रसन्न होकर जिसको स्वीय (निज) जन करके स्वीकार करते हैं वह व्यक्ति उनको प्राप्त करता है तथा वे हरि उसको श्रीविग्रह का दर्शन देते हैं"। गीता में भी कहा है——मैं ज्ञानियों का अतिप्रिय हूँ तथा ज्ञानी भी मेरा अतिप्रिय है। मैं सब भूतों में समदर्शी हूँ मेरा शत्रु भी नहीं, मित्र भी नहीं। जो मुझे भक्ति के साथ भजते हैं वे सब मुझमें तथा मैं भी उन सब भक्तों में अवस्थान करता हूँ। जीव अति दुराचारी होने पर भी यदि मुझ को अनन्यभक्ति के साथ भजता है वह साधुओं में गिना जाता है। जिससे मेरी निष्ठा के प्रभाव से वह सुदुराचारी स्पष्ट ही नहीं हो सकता है। क्योंकि वह अनन्यनिष्ठा उसके दुराचारत्व को ही शीघ्र नष्ट कर देती है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा होकर शान्ति लाभ करता है। हे कौन्तेय! तुमको यह जान लेना है कि मेरे भक्त का नाश नहीं होता है अर्थात् वह परमार्थ से भ्रष्ट नहीं होता है ॥ ३६ ॥

विशेष करके अचिन्त्य स्वरूप सर्वेश्वर में विरुद्ध अविरुद्ध समस्त धर्म्म उपपन्न होते हैं। भक्त-पक्षपाती भी गुण रूप से ज्ञानियों का आदरणीय हो रहा है। वे जिस प्रकार ज्ञानस्वरूप होकर भी ज्ञानवान् तथा श्यामसुन्दर

दोषाः परमे नैवाहार्याः कथञ्चन ॥ गुणा विरुद्धा अप्येते समाहार्याः समन्ततः" इति। तथा चाविषमोऽपि हरिर्भक्तसुहृदिति सिद्धम् ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ २ ॥ १ ॥

॥ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयपादः ॥

कृष्णद्वैपायनं नौमि यः सांख्याद्युक्तिकण्टकान्। छित्वा युक्त्यसिना विश्वं कृष्णक्रीडास्थलं व्यधात् ॥

स्वपक्षे परैरुद्भाविता दोषा निरस्ताः प्रथमे पादे। द्वितीये तु परपक्षा दूष्यन्ते। इतरथा वैदिकं वर्त्म विहाय तेषु जानानां प्रवृत्तिः स्यादनर्थं च ते समीयुः। तत्र तावत् सांख्यानां मतं निरस्यते। सांख्याचार्य्यः कपिलस्तत्वानि संजग्राह। सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि उभयमिन्द्रियं स्थूलभूतानि, पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गण इति ॥ साम्येनावस्थितानि सत्वादीनि प्रकृतिः। तानि च सुखदुःखमोहात्मकानि क्रमाद्बोध्यानि। तत्कार्य्ये जगति सुखादिरूपत्ववर्णनात्। तथाहि तरुणी रत्या पत्युः सुखदेति सात्विकी भवति, मानेन दुःखदेति राजसी विरहेण मोहदेति तामसी चेत्येवं सर्व्वे भावाद् द्रष्टव्याः। उभयमिन्द्रियमिति। दश वाह्येन्द्रियाण्येकमन्तरिन्द्रियं मन इत्येकादशेत्यर्थः। नित्या विभ्वी च प्रकृतिः। मूले मूलाभावादमूलं मूलम्। न परिच्छिन्नं सर्वोपादानम्। सर्व्वत्र कार्य्यदर्शनात् विभुत्वमिति सूत्रेभ्यः। महदहङ्कारपञ्चतन्मात्राणि सप्त प्रकृतिविकृतयः, अहमादेः प्रकृतयः, प्रधानादेस्तु विकृतय इति। एकादशेन्द्रियाणि पञ्चभूतानि

विग्रहधारी हैं ठीक उसी प्रकार अविषम होकर भी भक्तपक्षपाती हैं। उनमें उक्त परस्पर विरुद्ध धर्म्म की तरह क्षमा और सारल्यादि अविरुद्ध धर्म्म-समूह का भी समावेश है। स्मृति में कहा है-"ऐश्वर्य्ययोग के कारण भगवान् विरुद्धधर्म्म समन्वित करके ख्यात होते हैं। किन्तु उनमें किसी भी प्रकार दोषारोप करना कर्त्तव्य नहीं है। उनका परस्पर विरुद्धगुण-समूह का समाधान करना होता है"। इस प्रकार श्रीहरि अविषम होने पर भी भक्तसुहृत् सिद्ध हुए हैं ॥ ३७ ॥

गोविन्दभाष्यानुवाद द्वितीय अध्याय का प्रथमपाद।

द्वितीयपादः

जिन्होंने सांख्यादिकों के उक्ति रूप काँटे को युक्ति रूप असि (खड्ग) के द्वारा छेदन कर इस विश्व संसार को श्रीकृष्ण का क्रीडास्थल बनाया है, उन कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यास जी को प्रणाम करता हूँ ॥ ० ॥

प्रथमपाद में निजपक्ष में परकर्तृक उद्भावित दोषों का निरास किया गया है। द्वितीयपाद में परपक्ष में दोषों का प्रदर्शन किया जाता है। इस प्रकार नहीं करने से सकल लोक वैदिक पथ का परित्याग कर सब इस असत् पथ में प्रवृत हो सकते हैं। जिससे उनका अनर्थ हो सकता है। पहिले सांख्यों के मत का निरासन करते हैं। सांख्याचार्य्य कपिल समस्त तत्वों का संग्रह इस प्रकार करते हैं। उनके मत में—सत्व-रज-तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है। प्रकृति से महत्तत्व, महत्तत्व से अहङ्कार, अहङ्कार से पञ्च तन्मात्र, उससे ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय तथा स्थूलभूत-समूह और पुरुष ये पञ्चविंशति तत्व हैं। साम्यभाव से अवस्थित गुण-समूह प्रकृति है। वह गुण-समूह क्रम से सुख-दुःख-मोहात्मक है। कारण यह है कि प्रकृति कार्य्यभूत जगत् में सुखादि रूपका दर्शन होता है। "तरुणी रति के द्वारा पति की सुखदा" यहाँ सात्विक भाव का "वह मान के द्वारा दुःखदायिनी" यहाँ राजस भाव का "वह विरह के द्वारा मोहदायिनी" यहाँ तामस भाव का प्रकाश है। उभय इन्द्रिय कहने से दश बाह्य इन्द्रियाँ और एक अन्तरिन्द्रिय मन हैं। सब मिलाकर एकादश इन्द्रियाँ हैं। प्रकृति नित्या तथा विभुत्व-

चेति षोडश विकृतय एव । पुरुषस्तु निष्परिमाणत्वान्न कस्यापि प्रकृतिर्न च विकृतिरिति । एवमेवेश्वरकृष्णश्चाह-
"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडषकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष" इति । सा
खलु प्रकृतिर्नित्यविकारा स्वयमचेतनाप्यनेकचेतनभोगापवर्गहेतुरत्यन्तातीन्द्रियापि तत्कार्य्येणानुमीयते । एकैव विष-
मगुणा सती परिणामशक्त्या महदादिविचित्ररचनं जगत् प्रसूते इति जगन्निमित्तोपादानभूता सेति । पुरुषस्तु
निष्क्रियो निर्गुणो विभुश्चिन्प्रतिकायं भिन्नः संघातपरार्थादनुमेयश्च सः । विकारक्रिययोर्विरहात् कर्त्तृत्वभोक्तृ-
त्वयोर्विरहः । एवं स्थिते प्रकृतिपुरुषयोस्तत्वे सन्निधिमात्रात् तयोर्मिथो धर्म्मविनिमयः प्रकृतौ चैतन्यस्य पुरुषे तु क-
र्त्तृत्वभोक्तृत्वयोरध्यासो भवति । इत्थमविवेकात् भोगो विवेकात्तु अपवर्गः । प्रकृत्यौदासीन्यवपुरित्येवमादीनर्थान्
सोपपत्तिकैः सूत्रैर्निबबन्ध । अस्यां प्रक्रियायां प्रत्यक्षानुमानागमान् प्रमाणानि मेने । त्रिविधं प्रमाणं तत्सिद्धौ
सर्व्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिरिति । तत्र प्रत्यक्षागमसिद्धेष्वर्थेषु नातीव विसम्वादः । यत्तु परिमाणात् समन्वयात्
शक्तितश्चेत्यादिसूत्रैः प्रधानं जगत्कारणमनुमितं तन्निरस्यं भवति, तेनैव सर्व्वतन्मतनिरासात् । तत्र प्रधानं जग-
न्निमित्तोपादानं भवेत् न वेति संशये प्रधानमेव तथा जगतः सात्विकादिरूपत्वात् प्रधानस्यैव सत्वादिरूपस्य तदुपा-

---

रूपिणी है । मूल में मूलाभाव प्रयुक्त अमूल अर्थात् कारणान्तर रहित मूल प्रधान है । यह प्रधान अपरिच्छिन्न तथा सबका उपादान है । "सर्वत्र कार्य्यदर्शनात् विभुत्वं" इस सूत्र से प्राप्त हो रहा है । महत्तत्व, अहङ्कारतत्व और पञ्चतन्मात्र ये सात प्रकृति-विकृति हैं । प्रकृति और महत्तत्व, अहङ्कारादिक की प्रकृति तथा अहङ्कारादिक प्रकृति और महत्तत्व की विकृति हैं । एकादश इन्द्रियाँ, पञ्च महाभूत–ये सोलह विकार हैं । पुरुष परिणाम शून्य होने के कारण वह किसी की प्रकृति वा विकृति नहीं होता है । सांख्याचार्य्य ईश्वरकृष्ण ने इस प्रकार कहा है । मूलप्रकृति विकृति से रहित है । महत्तत्वादिक प्रकृति के विकार हैं । सोलह विकार हैं । पुरुष प्रकृति किम्वा विकार नहीं है । वह प्रकृति सर्वदा विकारशालिनी है । स्वयं अचेतन होकर भी नाना चेतन जीवों का भोग वा अपवर्ग का कारण तथा अत्यन्त अतीन्द्रिय होने पर भी जड़ कार्य्य के द्वारा अनुमित है । एक होकर भी विषमगुण होने से परिणाम शक्ति के द्वारा महदादि विचित्र रचनामय जगत् को उत्पन्न करती है इसलिये वह जगत् की निमित्तरूपा व उपादान स्वरूपा है । पुरुष किन्तु निष्क्रिय-निर्गुण-विभु-चित्स्वरूप, प्रति शरीर में भिन्न तथा संघात परार्थ प्रकृति से अनुमेय है । विकार और क्रिया के अभाव के कारण कर्त्तृत्व भोक्तृत्व से रहितहै । यह प्रकृति पुरुष दोनों का तत्व है । दोनों की सन्निधि (समीपता) मात्र से परस्पर में धर्म्म का विनिमय होता है अर्थात् प्रकृति में चेतन धर्म्म का जो कि पुरुष का धर्म्म है और पुरुष में कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व धर्म्मों का जो प्रकृति के धर्म्म हैं, अध्यास होता है । इस प्रकार अविवेक से भोग और विवेक से अपवर्ग अर्थात् मोक्ष होता है । प्रकृति के प्रति औदासीन्य ही पुरुष का धर्म्म है इत्यादिक विषय-समूह सोपपत्तिक सूत्रों के द्वारा निर्णित किये गये हैं । सांख्य की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम ये तीनों प्रमाणरूप से माने जाते हैं । उनकी सिद्धि से समस्तसिद्धि अर्थात् उपमानादि अन्य प्रमाण उनके ही अन्तर्गत हैं । वे सब उनसे अतिरिक्त प्रमाणरूप नहीं हैं । प्रत्यक्षसिद्ध तथा आगमसिद्ध अर्थ-समूह में अधिक विसंवाद नहीं देखने में आता है । किन्तु "परिमाणात्, समन्वयात्, शक्तितः" आदिक सूत्रों के द्वारा प्रधान का जगत्कारणत्व रूप से जो अनुमान किया गया है, अब उसका ही निरासन किया जाता है । क्योंकि उसके निरासन से सांख्य का समस्तमत निरस्त हो सकता है । इस विषय में संशय यह होता है कि प्रधान जगत् का निमित्त व उपादान है किम्वा नहीं है ? पूर्व्वपक्ष में प्रधान का निमित्त तथा उपादान दोनों स्वीकार होते हैं । पूर्व्वपक्ष के मत में–सत्वादिरूप प्रधान को जगत् के उपादान रूप से अनुमान किया जाता है । उपादान-कार्य्य का समान-जातीय रूप से देखा जाता है । मृत्तिकादिक उपादान घटादि कार्य्य का सजातीय है । "वृक्ष फलता है"

दानत्वेनानुमानात् । घटादिकार्य्यस्योपादानं खलु तत्सजातीयं मृदादेव दृष्टं । फलति वृक्षश्चलति जलमितिवत्
जडस्यापि तस्य कर्त्तृत्वं च । तस्मात् प्रधानमेव जगदुपादानं जगत्कर्त्तृ चेत्येवं प्राप्ते—

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥ १ ॥

अनुमीयते जगद्धेतुतयेत्यनुमानं जडं प्रधानम् । तन्न जगदुपादानं, न च तन्निमित्तम् । कुतः ? रचनेति । विचित्रजगद्रचनायाश्चेतनानधिष्ठितेन जडेन तेनासिद्धेरित्यर्थः । न खलु चेतनानधिष्ठितैरिष्टकादिभिः प्रसादादिरचना सिद्धा लोके । च शब्देनान्वयानुपपत्तिः समुच्चिता । न हि बाह्या घटादयः सुखादिरूपतयान्विताः । सुखादीनामान्तरत्वात् घटादीनां सुखादिहेतुत्वात् तद्रूपत्वाप्रतीतेश्च ॥ १ ॥

प्रवृत्तेश्च ॥ २ ॥

जडस्य चेतनाधिष्ठितत्वे सतीति शेषः । यस्मिन्नधिष्ठातरि सति जडं प्रवर्त्तते तस्यैव सा प्रवृत्तिरिति निश्चितं रथसूतादौ । इत्थं च फलतीत्यादिकं प्रत्युक्तम् । तत्रापि चेतनाधिष्ठितत्त्वात् तच्चान्तर्यामिब्राह्मणात् । एतत् परत्र स्फुटीभावि । चोऽवधारणे । अहं करोमीति चेतनस्यैव प्रवृत्तिदर्शनात् जडस्य कर्त्तृत्वं नेति वा । ननु प्रकृतिपुरुषयोः सन्निधिमात्रेण मिथो धर्माध्यासात् जगद्रचनोपपत्तिरिति चेदुच्यते । अध्यासहेतुः सन्निधिः किं तयोः सद्भावः किंवा प्रकृतिपुरुषगतः कश्चिद्विकार इति । नाद्यः मुक्तानामप्यध्यासप्रसङ्गात् । अन्त्योऽपि न तावत् प्रकृतिगतो विकारः अध्यासकार्य्यतयाभिमतस्य तस्याध्यासहेतुत्वायोगात् न च पुरुषगतः अस्वीकारात् ॥ २ ॥

"जल चलता है" इत्यादि की तरह अचेतन प्रधान का जगत् कर्त्तृत्व स्थिर किया जाता है । अतः प्रधान ही जगत् का उपादान और निमित्त कारण है । इस प्रकार पूर्व्वपक्ष को उठाकर उसका खण्डन करते हैं ॥—

चेतन के अधिष्ठान के बिना इस प्रधान को विविध विचित्र रचनामय परिदृश्यमान जगत् का उपादान व निमित्त कारण मान कर उसका अनुमान नहीं किया जा सकता है । अर्थात् इस जगत् की रचना अतिविचित्र है । प्रधान अचेतन है । चेतन अधिष्ठान के बिना वह किस प्रकार जगत् की सृष्टि कर सकता है । सुतरां प्रधान से जगत् की सृष्टि होती है–इस प्रकार का अनुमान असंगत है । इस संसार में अचेतन इष्टकादि (ईंट आदि) को किसी दिवस प्रासाद महल निर्माण करने में नहीं देखा गया है । सूत्रोक्त "च" शब्द के द्वारा अन्वय की अनुपपत्ति समुचित है । कभी घटादिक वाह्य पदार्थ का सुखादि रूप से अन्वित (युक्त) होना नहीं देखा जाता है । क्योंकि सुखादिक विषय आन्तर धर्म्म हैं । वाह्य वस्तु में उनकी संगति असम्भव है । विशेष करके घटादि वस्तु सुखादिक का हेतु है । सुखादि स्वरूप में उनकी प्रतीति नहीं है ॥ १ ॥

जड़ वस्तु चेतन वस्तु के द्वारा अधिष्ठित होने पर उसकी प्रवृत्ति देखने में आती है । जिसके द्वारा अधिष्ठित होकर जड़ की प्रवृत्ति देखने में आती है वह उस प्रवृत्ति के लिये कारण रूप करके निश्चित किया जाता है । रथ और सारथि इसका उज्वल दृष्टान्त है । इस दृष्टान्त से "वृक्ष फल प्रसव करता है" इत्यादि प्रधानकारणवादियों का दृष्टान्त निरस्त हुआ है । तो भी इस स्थल में चेतन अधिष्ठितत्व स्वीकार किया गया है । अन्तर्य्यामि ब्राह्मण में इस विषय का उल्लेख है । इस भाष्य में आगे इसको स्फुट किया जाएगा । सूत्रोक्त "च" शब्द अवधारण अर्थ में है । "मैं कर रहा हूँ" इस प्रकार के प्रयोग-दर्शन में चेतन का ही कर्त्तृत्व संगत होता है । अच्छा ? क्या प्रकृति-पुरुष की सन्निधि से परस्पर धर्म्म के अध्यास वश जगत् की उत्पत्ति होती है ? इसका उत्तर देते हैं । जिस सन्निधि से परस्पर का धर्माध्यास स्वीकार किया जाता है, वह सन्निधि प्रकृति-पुरुष दोनों का सद्भाव अथवा प्रकृति पुरुष गत कोई विकार है ? उभय का सद्भाव स्वीकार नहीं कर सकते हो, क्योंकि उसके स्वीकार करने से मुक्त-

ननु पयो यथा दधिभावेन स्वतः परिणमते, यथा चाम्बु वारिदमुक्तमेकरसमपि तालचूतादिषु मधुराम्लादि-विचित्ररसरूपेण तथा प्रधानमपि पुरुषकर्म्मवैचित्र्यात् तनुभुवनादिरूपेणेति चेत् तत्राह—

पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥ ३ ॥

तयोः पयोऽम्बुनोरपि चेतनधिष्ठितयोरेव प्रवृत्तिः न तु स्वतः रथादिदृष्टान्तेन तथानुमानात्। तयोस्तदधिष्ठितत्वं चान्तर्यामिब्राह्मणात् सिद्धम् ॥ ३ ॥

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥ ४ ॥

अप्यर्थे चकारः। सृष्टेः प्राक् प्रधानव्यतिरेकेण हेत्वन्तरानवस्थितेरनपेक्षत्वान्न केवलस्य प्रधानस्य स्वपरिणामकर्त्तृत्वम्। प्रधानव्यतिरिक्तस्तत्प्रवर्त्तकस्तन्निवर्त्तको वा हेतुरादिसर्गात् पूर्व्वं नावतिष्ठते इति यत् स्वीकृतं तस्यापि पुनरुपेक्षणात्। चैतन्यस्य सन्निधेर्हेत्वन्तरस्याङ्गीकारादिति यावत्। तथा च केवलजडकर्त्तृत्ववादभङ्गः। किं च व्यतिरिक्तहेत्वभावात् सन्निधिसत्त्वाच्च प्रलयेऽपि कार्य्योदयप्रसङ्गः। न च तदादृष्टोद्बोधाभावात् कार्य्याभावः, तदुद्बोधस्यापि तदैवापाद्यमानत्वात् ॥ ४ ॥

ननु लतातृणपल्लवादि विनैव हेत्वन्तरं स्वभावादेव क्षीराकारेण परिणमते तथा प्रधानमपि महदाद्याकारेणेति चेत्तत्राह—

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥ ५ ॥

अवधृतौ च शब्दः। नैतच्चतुरस्रम्। कुतः? अन्यत्राभावात्। बलीवर्द्दादिभक्षिते तृणादिके क्षीराकारपरिणामाभावादित्यर्थः। यदि स्वभावादेव तृणादि क्षीरात्मना परिणमते तर्हि चत्वरादिपतितेऽपि तथा स्यान्न चैवमस्त्यतो न स्वभावमात्रं हेतुः किन्तु व्यक्तिविशेषसम्बन्धात् सर्व्वेशसङ्कल्प एव तथेति ॥ ५ ॥

प्रधानस्य जाड्यात् स्वतःप्रवृत्तिर्न समस्तीत्यापादितम्। अथ त्वन्मुखोल्लासाय तां चेदभ्युपगच्छामस्तथापि न किञ्चित्तवाभीष्टं सिद्ध्येदित्याह—

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥ ६ ॥

चतुर्षु नेत्यनुवर्त्तते। "पुरुषो मां भुक्त्वा मद्दोषाननुभूय मदौदासीन्यलक्षणं मोक्षं प्राप्स्यती"ति तद्भोगापवर्गार्थां प्रधानप्रवृत्तिं मन्यते। प्रधानप्रवृत्तिः परार्था स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्ट्रकुङ्कुमवहनवदिति। अकर्तापि पुरुषो भोक्तेति च मन्यते। अकर्तुरपि फलोपभोगोऽन्नादवदिति। सैषा प्रवृत्तिर्न युक्ता मन्तुम्। कुतः? तस्याः स्वीकारे फलाभावात्। पुरुषस्य प्रकृतिदर्शनरूपो भोगस्तदौदासीन्यरूपो मोक्षश्च प्रवृत्तेः फलम्। तत्र भोगस्तावन्न सम्भवति। प्रवृत्तेः प्राक् चैतन्यमात्रस्य निर्विकारस्याकर्तुः पुरुषस्य तद्दर्शनरूपविकारायोगात्। न चापवर्गः। प्रागपि प्रवृत्तेस्तस्य सिद्धत्वेन तद्वैयर्थ्यात्। सन्निधिमात्रस्य भोगहेतुत्वे तु मुक्तानामपि तदापत्तिः, तस्य नित्यत्वात् ॥६॥

ननु यथा गतिशक्तिरहितस्य दृक्शक्तिसहितस्य पंगुपुरुषस्य सन्निधानात् गतिशक्तिमान् दृक्शक्तिरहितोऽप्यन्धः प्रवर्त्तते यथा चायस्कान्ताश्मनः सन्निधानाज्जडमप्ययश्चलति एवं चिन्मात्रस्य पुंसः सन्निधानादचेतनापि प्रकृतिस्तच्छायया चेतनेव तदर्थे सर्गे प्रवर्त्ततेति चेत्तत्राह—

पुरुषों के भी अध्यास का प्रसंग होता है। शेष पक्ष का स्वीकार भी असंगत है। अध्यासकार्य्य रूप से अभिमत प्रकृतिगत विकार के अध्यास हेतुत्व की असम्भावना घटने के कारण इस विकार को प्रकृति गत नहीं कह सकते हो। इस विकार को पुरुषगत भी नहीं कह सकते हो। क्योंकि पुरुषगत विकार का स्वीकार नहीं है। अतः प्रधान का जगत् कारणत्व असिद्ध हुआ है ॥ २ ॥

अच्छा? दुग्ध जिस प्रकार दधि रूप से स्वयं परिणत होता है, जैसा कि जलधर (मेघ) से विमुक्त जल एक-रस होकर भी आम्रादिक फल में मधुर अम्लादि विचित्र रस रूप से परिणत होता है, ठीक उसी प्रकार एक ही प्रधान पुरुष का कर्म्म वैचित्र्य के अनुसार देह-भुवनादि रूप से परिणत होता है-इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष उठने पर उसके उत्तर में कहते हैं—

दुग्ध और जलादिक अचेतन बस्तु समूह चेतन से अधिष्ठित होकर ही कार्य्य में प्रवृत्त होते हैं, स्वयं उनकी प्रवृत्ति नहीं है। रथादि दृष्टान्त से यह सब अनुमान किये जाते हैं। अन्तर्य्यामी ब्राह्मण से उनका चेतनाधिष्ठितत्व सिद्ध होता है ॥ ३ ॥

"अपि" शब्द का अर्थ समुच्चय है। सृष्टि के पहले प्रधान के व्यतिरिक्त हेत्वन्तर की अनवस्थिति उपेक्षित होने के कारण केवल प्रधान का ही निज परिणामकर्त्तृत्व निरस्त होता है। प्रधान के व्यतिरिक्त प्रवर्त्तक वा निवर्त्तक कोई कारण सृष्टि के पहले नहीं ठहरता है। इस प्रकार स्वीकृत मत की उपेक्षा होती है। क्योंकि उस समय चैतन्य सन्निधि के हेत्वन्तर का अंगीकार होता है। अतएव केवल जड़कर्त्तृत्ववाद निरस्त हुआ है। विशेष करके उक्त पूर्व्वपक्ष के अनुसार प्रलयकाल में भी कार्य्योत्पत्ति का प्रसंग होता है। क्योंकि प्रलयकाल में भी सृष्टिकाल की तरह प्रधान के व्यतिरिक्त हेत्वन्तर का अभाव तथा प्रधान की सन्निधि है। प्रलयकाल में अदृष्ट उद्बोध के अभाव के कारण कार्य्य का अभाव है-ऐसा नहीं कह सकते हो। कारण यह है कि उस समय अदृष्ट का उद्बोध भी घट सकता है ॥ ४ ॥

अच्छा? लता-तृण-पल्लवादिक हेत्वन्तर के विना गवादि के द्वारा भक्षित होकर स्वभाव से ही क्षीराकार में परिणत होते हैं। प्रधान भी उसी प्रकार महदादि आकार में परिणत होता है। इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं—अन्यत्र क्षीराकार में परिणति के अभाव के कारण-तृणादि स्वभाव से ही परिणाम को प्राप्त होते हैं—ऐसा नहीं कह सकते हो। यहाँ निश्चयार्थ में "च" शब्द है। इस प्रकार का पूर्वपक्ष असंगत है। क्योंकि वृषादि के द्वारा भक्षित तृणादिकों में क्षीराकार से परिणाम नहीं देखने में आता है, सुतरां उसे स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता है। और यह भी है कि तृणादि यदि स्वभाव से ही क्षीराकार से परिणत होते तो चत्वर (चबूतरा) में पड़े हुए तृणादिक दुग्धाकार से परिणत क्यों नहीं होते हैं? इसलिये केवल स्वभाव को ही परिणाम का हेतु नहीं कहा जाता है। व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध से सर्वेश्वर प्रभु का संकल्प ही उसका कारण है ॥ ५ ॥

प्रधान की जड़त्व के कारण स्वतः प्रवृत्ति नहीं है यह तो स्थिर हुआ। अब पूर्व्वपक्षी तुम्हारा मुख-प्रसन्नता के लिये यदि उसको स्वीकार किया जाता है तो भी उसमें तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता है यह समझाते हैं—

प्रधान की स्वाभाविकी प्रवृत्ति के स्वीकार करने में कोई फल नहीं देखा जाता है। पूर्व्वसूत्र से चारों सूत्रों में नकार का अनुवर्त्तन है। "पुरुष प्रधान मेरा भोग कर, मुझ में दोष का अनुभव देख, मुझसे उदासीन रूप मोक्ष को प्राप्त करेगा" इत्यादिक पुरुष के भोग व अपवर्ग के लिये प्रधान की प्रवृति अनुमित होती है। उष्ट्र जिस प्रकार केवल परार्थ के लिये ही कुंकुमभार वहन करता है ठीक उसी प्रकार प्रधान भी स्वयं भोग न करता हुआ केवल पर के लिये प्रवृत्तिकारी होता है। इस प्रकार अकर्त्ता पुरुष का भी भोक्तृत्व सिद्ध होता है। अन्न-भोक्ता जिस प्रकार अन्न का कर्त्ता न होकर भोक्ता होता है ठीक उसी प्रकार पुरुष भोक्ता होता है। पूर्व्वपक्षी की इस प्रकार की प्रवृत्ति का स्वीकार करना संगत नहीं है। क्यों कि उसके स्वीकार में कोई फल नहीं है। पुरुष का प्रकृति-दर्शन रूप भोग तथा उस से उदासीन रूप मोक्ष-प्रवृत्ति का फल है। पुरुष का भोग सम्भव नहीं है क्योंकि प्रवृत्ति के पहले ही चैतन्यमात्र, निर्विकार, अकर्त्ता पुरुष का प्रकृति-दर्शन रूप विकार अयुक्त है। अपवर्ग भी

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ।। ७ ।।

तथापि तेनापि प्रकारेण जडस्य स्वतः प्रवृत्तिर्न सिद्ध्यति । पङ्गोर्गतिवैकल्येऽपि वर्त्मदर्शनतदुपदेशादयोऽन्धस्य
दृक्शक्तिविरहेऽपि तदुपदेशग्रहादयो विशेषाः सन्ति । अयस्कान्तमणेश्चायःसामीप्यादयः । पुरुषस्य तु नित्यनि-
ष्क्रियस्य निर्धर्म्मकस्य न कोऽपि विकारः । सन्निधिमात्रेण तस्मिन् स्वीकृते तस्य नित्यत्वान्नित्यं सर्गो मोक्षाभा-
वश्च प्रसज्येत । किंच पङ्ग्वन्धावुभौ चेतनौ अयस्कान्तायसी च द्वे जडे इति दृष्टान्तवैषम्यं विस्फुटम् ।। ७ ।।

यत्तु गुणानामुत्कर्षापकर्षवशेनाङ्गाङ्गिभावाद्विश्वसृष्टिरिति मन्यते तन्निरस्यति—

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ।। ८ ।।

सत्वादीनां साम्येनावस्थितिः प्रधानावस्था । तस्यां च निरपेक्षस्वरूपाणां तेषां कस्यचिदेकस्याङ्गित्वं नोपपद्यते
इतरयोस्तत्समत्वेन गुणीभावासम्भवात् । तथा च गुणानामङ्गाङ्गिभावासिद्धिः । न चेश्वरः कालो वा तत्कृत् अस्वी-
कारात् । यथाह कपिलः । ईश्वरासिद्धेः मुक्तवद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिरिति । दिक्कालावाकाशादिभ्य इति
च । न च पुरुषस्तत्कृत् तस्य तत्रौदासिन्यात् । तथा च गुणवैषम्यहेतुकः सर्गो नेति । किंचैवं हेत्वभावात् प्रति-
सर्गेऽपि ते वैषम्यं भजेरन् । आदिसर्गे तु न भजेरन्निति ।। ८ ।।

सम्भव नहीं हो सकता है । कारण यह है कि प्रवृत्ति के पहले ही अपवर्ग सिद्धि रहने के कारण उसकी व्यर्थता
होती है । सन्निधिमात्र से ही भोग को कारण मानने पर सन्निधि नित्य के कारण मुक्तों को भी भोगापत्ति आ
पड़ती है ।। ६ ।।

अच्छा ? जिस प्रकार गमनशक्ति से रहित और दर्शनशक्ति से युक्त पंगु (पँगला) पुरुष के सन्निधान से
गमन-शक्तिमान् दर्शनशक्ति रहित अन्धा भी प्रवर्त्तमान होता है, जैसा कि चुम्बकपाषाण के सन्निधान से जड़ लौह
भी चलायमान होता है, ठीक उसी प्रकार चिन्मात्र पुरुष के सन्निधान से अचेतन प्रकृति उसकी छाया के द्वारा
चेतन की तरह पुरुष के भोगार्थ सृष्ट्यादिकार्य्य में प्रवर्त्तमान होती है । इस प्रकार पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं ।—

ऐसा होने पर भी जड़ वस्तु की स्वतः प्रवृत्ति नहीं सिद्ध होती है । पंगु की गमनशक्ति नहीं रहने पर भी
मार्गदर्शन तथा उस विषय में उपदेशादि शक्ति और अन्धे की दर्शनशक्ति नहीं रहने पर भी पंगु के उपदेश ग्रह-
णादि की विशेषशक्ति सम्भव होती है । अयस्कान्तमणि का लौहसामीप्यादिक भी सम्भव होता है । किन्तु नित्य
निष्क्रिय, निर्धर्म्मक पुरुष का कोई भी विकार नहीं है । सन्निधि मात्र से विकार को स्वीकार करने पर सन्निधि के
नित्यत्व होने के कारण सृष्टि का नित्यत्व और मोक्ष का अभाव आ पड़ता है । सुतरां-पंगु और अन्ध दोनों चेतन
तथा अयस्कान्तमणि तथा लौह ये दोनों जड़ होने के कारण दृष्टान्त की विषमता स्पष्ट ही देखी जाती है ।। ७ ।।

अब गुणों के उत्कर्ष और अपकर्ष के वश अंग-अंगि भाव के कारण विश्वसृष्टि होती है । इस प्रकार के
मत के वादियों का पक्ष निरस्त किया जाता है ।—

गुण की अङ्गित्व अनुपपन्न है । अतः यह पक्ष असंगत होता है । सत्वादिगुणों की समानरूप से अवस्थिति ही
प्रधानावस्था है । इस अवस्था में गुण-समूह निरपेक्ष स्वरूपमें रहने के कारण कोई भी गुण किसी भी गुणका अङ्गी
नहीं हो सकता है । क्योंकि एक को अङ्गी रूप से स्वीकार करने पर उससे अपर दोनों गुणों की उसके साथ समता
स्वरूप में स्थिति होने के कारण गुणि भाव असम्भव हो जाता है । अतः गुणों का परस्पर अङ्गांगिभाव सिद्ध नहीं
होता है । ईश्वर अथवा काल को उस अंगागिभाव का हेतु नहीं कह सकते हो । क्योंकि ऐसा किसी ने स्वीकार
नहीं किया है । कपिल ने कहा है—"मुक्त और वद्ध का अन्यतर के अभाव होने के कारण ईश्वर की असिद्धि
घटती है" । "दिशा और काल आकाशादि से उत्पन्न होते हैं । पुरुष उनका कर्त्ता नहीं हैं । क्योंकि वे कर्तृत्व के

ननु कार्य्यानुरोधेन गुणा विचित्रस्वभावा भवन्तीत्यनुमेयम् । तेन नोक्तदोषावकाश इति चेत् तत्राह—

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ।। ६ ।।

विचित्रशक्तिकतया गुणानामनुमानेऽपि न दोषान्निस्तारः । कुतः ज्ञेति । ज्ञातृत्वविरहादित्यर्थः । इदमहमेवं
च सृजामीति विमर्शाभावादिति यावत् । ज्ञानशून्याज्जडान्न सृष्टिरिष्टकादेरिव ऋते चेतनाधिष्ठानादिति ।। ६ ।।

उपसंहरति—

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ।। १० ।।

पूर्वोत्तरविरोधाच्चेदं कपिलदर्शनमसमञ्जसम् निःश्रेयसकामैर्हेयमित्यर्थः । तथाहि, प्रकृतेः पारार्थ्याद् दृश्य-
त्वाच्च तस्या भोक्ता द्रष्टाऽधिष्ठाता च पुरुष इति "शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान्" "संहतपरार्थत्वात्" इत्यादिभि-
रभ्युपगम्य तस्य पुनर्निर्विकारनिर्धर्म्मकचैतन्यत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वशून्यत्वं कैवल्यरूपत्वं चाभिहितम् । "जडः प्रकाशा-
योगात् प्रकाशः" "निर्गुणत्वान्न चिद्धर्म्मा" इत्यादिभिः । गुणाविवेकविवेकौ पुंसौ बन्धमोक्षौ स्वीकृत्य तौ
पुनर्गुणानामेव, न तु पुंस इत्युक्तम् । "नैकान्ततो बन्धमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते" "प्रकृतेराञ्जस्यात् ससङ्गत्वात्
पशुवत्" इत्येवमादयोऽनेके विप्रतिषेधास्तत्स्मृतावेव मृग्याः ।। १० ।।

अथारम्भवादो निरस्यते । तार्किका मन्यन्ते पार्थिवादयश्चतुर्विधाः परमाणवो निरवयवा रूपादिमन्तः पारि-
माण्डल्यपरिमाणाः प्रलयकालेऽनारब्धकार्य्यास्तिष्ठन्ति, सर्गकाले तु जीवादृष्टादिपुरःसराः सन्तः द्व्यणुकादिक्रमेण

विषय में सम्पूर्ण उदासीन हैं" । अतः गुण वैषम्य को सृष्टि का कारण नहीं कहा जा सकता है और यह भी है कि
इस प्रकार हेतु का अभाव-प्रयुक्त गुण-समूह प्रतिसृष्टि में वैषम्य धारण करने पर भी आदि-सृष्टि में अर्थात् सृष्टि
के आदि में वैषम्य को प्राप्त नहीं हो सकता है ।। ८ ।।

अच्छा ? यदि यह कहो कि कार्य्य के अनुरोध से सकलगुण विचित्र स्वभाव को धारण करते हैं तो इस
प्रकार अनुमान करने पर पूर्वोक्त दोष का अवकाश नहीं रहता है इसके उत्तर में कहते हैं—

विचित्रशक्ति के हेतु गुणों का इस प्रकार अनुमान करने पर भी दोष का निस्तार नहीं है । क्योंकि गुणों का
ज्ञातृत्व स्वभाव नहीं देखा जाता है । "यह मैं इस प्रकार सृष्टि करता हूँ" इत्यादि प्रकार विचार की सम्भावना
नहीं है । ज्ञान शून्य जड़ पदार्थ से कभी सृष्टि नहीं हो सकती है । इष्टक-काष्ठादि अचेतन सकल वस्तु जिस प्रकार
चेतन अधिष्ठान के बिना कोई कार्य्य नहीं कर सकते हैं, ठीक उसी प्रकार अचेतन गुण समूह चेतन परमेश्वर के
अधिष्ठान के बिना कोई कार्य्य नहीं कर सकता है ।। ६ ।।

अब निजमत का उपसंहार करते हैं—पूर्वापर विरोध के कारण यह कपिलदर्शन असमञ्जस होता है । इस-
लिये मुक्तिप्रार्थी व्यक्तियों को हेयता के कारण वर्जनीय है । उक्त दर्शन में "संहतपरार्थत्वात्" इत्यादिक सूत्रों में
प्रकृति के परार्थत्व और दृश्यत्व से प्रयुक्त उसका भोगकर्त्ता, दर्शनकर्त्ता अथवा अधिष्ठाता शरीरादि से व्यतिरिक्त
है । इस प्रकार स्वीकार किया गया है । फिर उस पुरुष को निर्विकार-निर्धर्म्मक-चैतन्यरूपत्व-ज्ञातृत्व-भोक्तृत्व रहि-
तत्व और कैवल्यस्वरूप में अभिहित किया गया है । पुनः "जड़ः प्रकाशायोगात् प्रकाशः निर्गुणत्वात् न चिद्धर्मा"
इत्यादि सूत्र के द्वारा गुण का अविवेक तथा विवेक से पुरुष का बन्ध और मोक्ष होता है इस प्रकार स्वीकार कर
फिर बंध-मोक्ष दोनों गुणों का होते हैं, पुरुष का नहीं हैं—ऐसा कहा गया है । और यह भी कहा गया है कि
अविवेक के बिना पुरुष का एकान्त बन्ध वा मोक्ष नहीं है । प्रकृति संसर्ग के कारण पुरुष पशु की तरह बन्धन को
प्राप्त होता है । इस प्रकार के अनेक विरोध सांख्यस्मृति में देखने में आते हैं ।। १० ।।

अब आरम्भवाद का निराकरण करते हैं—तार्किकगण कहते हैं कि पार्थिवादि चार प्रकार के परमाणु-निरवयव,
रूपादि-विशिष्ट, परिमाण्डल्य परिमाणक, प्रलयकाल में अनारब्ध कार्य्य स्वरूप में अवस्थान करते हैं । वे सब सृष्टि-

सावयवं स्थूलतरं जगत्कार्य्यमारभन्ते । तत्र द्वयोः परमाण्वोरदृष्टसापेक्षा क्रिया, तया संयोगे सति द्वयणुकं ह्रस्वमुत्पद्यते । तत्र समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणानि क्रमात् परमाणुयुग्मतत्संयोगजीवादृष्टानीत्येवमग्रेऽपि । ततस्त्रयाणां द्वयणुकानां क्रियया संयोगे सति त्र्यणुकं महदुत्पद्यते । न च द्वाभ्यामणुभ्यां त्र्यणुकारम्भः कारणभूम्ना कार्य्यमहत्त्वोत्पादनात् । एवं चतुर्भिस्त्र्यणुकैश्चतुरणुकं, चतुरणुकैरपरं स्थूलतरं, तैश्च स्थूलतरं, तैश्च स्थूलतममित्येवंक्रमेण महती पृथिवी, महत्यापो, महत्तेजो, महान्वायुश्चोत्पद्यते । कार्य्यगतरूपादिकं तु स्वाश्रयसमवायिकारणगताद्रूपादेः । कारणगुणा हि कार्य्यगुणानारभन्ते । इत्थमुत्पन्नान् पृथिव्यादीनीश्वरे संजिहीर्षौ सति परमाणुषु क्रियया विभागात् संयोगनाशेन द्वयणुकेषु नष्टेष्वाश्रयनाशात् त्र्यणुकादिनाश इति क्रमेण पृथिव्यादेर्नाशः । यथा पटस्य तन्तुनाशे । तद्वतस्य रूपादेस्तु स्वाश्रयनाशेनैवेति जगद्विलयप्रकारः । किं च परमाणुरत्र परिमण्डलसंज्ञस्तत्समवेतं परिमाणं तु पारिमाण्डल्यमभिधीयते । द्वयणुकमणुसंज्ञं तत्समवेतं परिमाणं त्वणुत्वं ह्रस्वत्वञ्च । त्र्यणुकादिपरिमाणं तु महत्वं दीर्घत्वं चेति प्रक्रिया । तत्र संशयः । परमाणुभिर्जगदारम्भः समञ्जसो न वेति । तत्रादृष्टवदात्मसंयोगहेतुकं परमाणुगताद्यक्रियाजन्यतद्युग्मसंयोगारब्धद्वयणुकादिक्रमेण सृष्टेः सम्भवात् समञ्जस इति प्राप्ते परिह्रियते—

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥ ११ ॥

इह वेति चार्थे । पूर्व्वतोऽसमञ्जसमित्यनुवर्त्तते । ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यां द्वयणुकपरमाणुभ्यां महद्दीर्घत्र्यणुकवत् तन्मतं सर्व्वमसमञ्जसम् । परिमण्डलेभ्यो द्वयणुकानि तेभ्यस्त्र्यणुकानि तेभ्यश्चतुरणुकादिक्रमेण पृथिव्यादीनामुत्पत्तिरितिवदन्यापि तत्प्रक्रिया विरुद्धेत्यर्थः । तथाहि निरवयवैः परमाणुभिः सावयवानि द्वयणुकान्यारभ्यन्त

काल में जीवों के अदृष्टादि पुरःसर होकर द्वयणुकादि क्रम से सावयव स्थूलतर जगत्-कार्य्य का आरम्भ करते हैं। दोनों परमाणु की क्रिया अदृष्टसापेक्ष है। इस अदृष्ट सापेक्ष क्रिया के द्वारा परस्पर संयोग होने पर ह्रस्व द्वयणुक उत्पन्न होता है। यहाँ परमाणु दोनों समवायि कारण हैं। क्रिया के द्वारा संयोग असमवायि कारण और जीवादृष्ट उनका निमित्त कारण है। आगे भी इसी प्रकार जानना चाहिए। इस प्रकार क्रिया के द्वारा द्वयणुक तीनों का संयोग होने पर महत् त्र्यणुक उत्पन्न होता है। दोनों अणु के द्वारा त्र्यणुक का आरम्भ नहीं सम्भव होता है। क्योंकि कारण के बहुत्व के बिना कार्य्य का महत्व नहीं घटता है। इस प्रकार चारों त्र्यणुक के द्वारा चतुरणुक और चतुरणुक के द्वारा अपर स्थूलतर की उत्पत्ति होती है। उन स्थूलतरों से स्थूलतर की और फिर स्थूलतरों से स्थूलतम की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार महती पृथिवी, महत् जल, महत् तेज, महान् वायु उत्पन्न होते हैं। अपने आश्रय समवायिकारण में रहने वाले रूपादिक से कार्य्यगत रूपादिकों की उत्पत्ति होती है। कारण-गुण ही कार्य्य-गुणों को आरम्भ करते हैं। इस प्रकार उत्पन्न पृथिवी आदि का जब परमेश्वर संहार करने की इच्छा करते हैं तब परमाणुओं में क्रिया, उसके द्वारा दोनों परमाणुओं का विभाग, उससे संयोग के नाश के द्वारा द्वयणुक-समूह का नाश होने पर आश्रय का नाश, उससे त्र्यणुकादि का नाश होता है इस प्रकार क्रम से पृथिवी आदिक का नाश होता है। जैसा कि तन्तु नाश होने पर पट का नाश होता है ठीक उसी प्रकार जान लेना चाहिए। तद्गत रूपादिकों का भी स्वाश्रय नाश से ही नाश होता है। पृथिवी आदिकों के नाश होने का यही क्रम है। इस क्रम से ही जगत् विलीन होता है। यहाँ परिमण्डल शब्द से परमाणु को ही जानना चाहिए। परमाणु-समवेत परिमाण ही पारिमाण्डिल्य कहा जाता है। इस प्रकार द्वयणुक की भी अणुसंज्ञा होती है। अणुक-समवेत परिमाण अणु और ह्रस्व है। त्र्यणुकादिक का परिमाण महत्त्व है। इस प्रकार आरम्भवाद की यह प्रक्रिया है। यहाँ संशय यह है कि परमाणु के द्वारा जगत् की सृष्टि समञ्जस अथवा असमञ्जस है। परमाणुगत आदि-

इति न युक्तम् । सावयवैः षड्भिः पार्श्वैः संयुज्यमानानां तन्तूनामवयविपटारम्भकत्वदर्शनात् । तस्मात् सप्रदेशाः परमाणवोऽङ्गीकार्य्याः । इतरथा सहस्रपरमाणूनां संयोगेऽपि पारिमाण्डल्यानधिकपरिमाणतया प्रथिमानुपपत्तेरणुत्वह्रस्वत्वमहत्त्वाद्यसिद्धिः । न च कारणभूमा कार्य्यमहत्त्वोत्पादकः मनःकल्पनमात्रत्वात् । तथाङ्गीकृतेऽपि प्रदेशाभेदे तेऽपि सांशाः स्वैरंशैस्तेऽपि पुनः स्वैरित्यनवस्था अंशानन्त्यसाम्येन मेरुसर्षपयोस्तौल्यप्रसङ्गश्च । तस्मात् महद्दीर्घत्र्यणुकं ह्रस्वद्वयणुकोत्पन्नं ह्रस्वद्वयणुकं च परिमण्डलोत्पन्नमिति रिक्तं वचः । न चैतत् सूत्रं स्वदोषनिरासकतया व्याख्येयं अस्य पादस्य परपक्षाक्षेपकत्वात् ॥ ११ ॥

किमन्यदसमञ्जसं तत्राह—

उभयथाऽपि न कर्म्मातस्तदभावः ॥ १२ ॥

परमाणुक्रियाजन्यतत्संयोगपूर्व्वकद्वयणुकादिक्रमेण तार्किकैर्जगदुत्पत्तिरिष्यते । तत्र परमाणुक्रिया किं परमाणुगतादृष्टजन्या किं वात्मगतादृष्टजन्येति । नाद्यः आत्मपुण्यापुण्यजन्यादृष्टस्य परमाणुगतत्वासम्भवात् । नाप्यन्त्यः आत्मगतेन तेन परमाणुगतक्रियोत्पत्त्यसम्भवात् । न च संयुक्तसमवायसम्बन्धात् सम्भविष्यति निरवयवानां परमाणूनां निरवयवेनात्मना संयोगानुपपत्तेः । तदेवमुभयथाऽपि नाद्यक्रियाजनकमदृष्टम् । जाड्याच्च न ह्यचेतनं

क्रिया ही आत्म-संयोग का हेतु है। यह आत्मा अदृष्ट विशिष्ट है। अदृष्ट विशिष्ट, आत्मसंयोग के कारणरूप परमाणु में रहने वाली जो आदि क्रिया है उसके द्वारा जो दोनों परमाणु का संयोग और उस संयोग से उत्पन्न जो द्वयणुकादिक हैं। इस क्रम से सृष्टि की सम्भावना समञ्जस है—इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के खण्डनार्थ कहते हैं—ह्रस्व द्वयणुक और परमाणु से महत् और दीर्घ त्र्यणुक की उत्पत्ति की तरह तार्किक-गणों का समस्त मत असमञ्जस होता है। परमाणु से द्वयणुक, उससे त्र्यणुक तथा त्र्यणुक से चतुरणुकादि क्रम से पृथिव्यादि की उत्पत्ति की तरह और भी समस्त प्रक्रिया विरुद्ध होती हैं।

अवयव रहित परमाणु से सावयव द्वयणुक की उत्पत्ति होती है—यह युक्त वचन नहीं है। सावयव तन्तु के संयोग से ही अवयवी पट का उत्पन्न होना दृष्ट होता है। इसलिये सावयव परमाणु को स्वीकार किया गया है। अन्य प्रकार से कहोगे तो सहस्र परमाणु के संयोग से भी परिमाण्डल्य के अनधिक परिमाण से प्रयुक्त उत्पत्ति का पृथुत्व नहीं घट सकता है। अतः अणुत्व, ह्रस्वत्व वा महत्त्वादिक की असिद्धि होती है। कारण का बहुत्व ही कार्य्य-महत्त्व का उत्पादक है—ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि वह मनः कल्पनामय है। प्रदेश भेद के स्वीकार करने पर भी वे सब स्वांश स्व-अंश के द्वारा, वे फिर स्वांश के द्वारा इस प्रकार अनवस्था हो जाती है। अनन्त अंश के साम्य से मेरु तथा सौंरिष की तुल्यता का प्रसंग होता है। इसलिये महत् दीर्घ त्र्यणुक, ह्रस्व द्वयणुक से उत्पन्न तथा ह्रस्व द्वयणुक परिमण्डल से उत्पन्न है—इस प्रकार का वचन अकिञ्चित्कर है। अन्यथा यह सूत्र निजपक्ष में दोषों के निराकरणार्थ व्याख्या हो सकता है क्योंकि यह पाद परपक्ष के आक्षेप परक है ॥ ११ ॥

और क्या असामञ्जस्य है यह कहते हैं—परमाणु-क्रिया जन्य जो परमाणु का संयोग उससे उत्पन्न द्वयणुकादि क्रम से जगत् की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार तार्किकगण कहते हैं। यहाँ हम पूछते हैं कि यह परमाणुक्रिया परमाणुगत अदृष्ट के कारण किम्वा आत्मगत अदृष्ट के कारण उत्पन्न होती है। प्रथमपक्ष नहीं हो सकता है। क्योंकि आत्मागत पुण्य-अपुण्य जन्य अदृष्ट का परमाणु-गतत्व होना असंभव है। आत्मगत अदृष्टके द्वारा परमाणु-गत क्रिया की उत्पत्ति असम्भव होने के कारण शेषपक्ष भी संगत नहीं होता है। संयुक्तसमवाय-सम्बन्ध से इस क्रिया की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। निरवयव परमाणु-समूह का निरवयव आत्मा के साथ संयोग नहीं हो सकता है। अतः उभय स्थल में ही जड़ता के वश आद्यक्रियाजनक अदृष्ट की संगति नहीं है। अचेतन पदार्थ चेतन पदार्थ के

चेतनानधिष्ठितं स्वतः प्रवर्त्तते प्रवर्त्तयति वेति परीक्षितं प्राक्। न चात्मा वा तत्प्रवर्त्तकः । तदानुत्पन्नचैतन्यस्य
तस्यापि तत्त्वात्। न चादृष्टानुसारीश्वरेच्छा तत्क्रियाहेतुः तस्या नित्यत्वेन नित्यं तत्प्रसङ्गात् । न चादृष्टोद्बोधा-
भावात् प्रतिसर्गे तदभावः तस्यापि सामग्रीसत्त्वेऽनावश्यकत्वात् । ततश्च नियतस्य कस्यचित् क्रियाहेतोरभावान्न
सा। परमाणुषु तदभावान्न तत्संयोगः। तदभावाच्च न द्वयणुकादिकमित्यतस्तदभावः सर्गाभावः स्यात् ॥१२॥

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥ १३ ॥

परमाणूनां द्वयणुकैः सह समवायः सम्ब-
समवायस्वीकाराच्चासमञ्जसं तन्मतम्। कुतः ? साम्यादिति। तस्यापि सम्बन्धित्वसाम्यात्। तत्रापि समवायापेक्षायामनवस्थापत्तेः।
न्धस्तार्किकैरङ्गीकृतः। स खलु न सम्भवति। तथाच समवा-
तथाहि गुणक्रियाजातिविशिष्टबुद्धिं जनयन् समवायस्तैः सम्बन्ध एव जनयेदन्यथातिप्रसङ्गात्। न च युक्तः
यान्तराङ्गीकारेऽनवस्था । स्वरूपमेव तत्र सम्बन्धइति चेत्तर्ह्यन्यत्रापि स एवास्तु किं तेन । किंच समवायवादिनां वायौ गन्ध, पृथिव्यां
सोऽभ्युपगन्तुम्। तस्य स्वरूपमात्रतया सर्व्वत्र सर्व्वधर्म्मप्राप्तेः । समवायस्यैकत्वेन तत्तत्समवायस्य तत्र सत्वात्। न च तन्निरूपितः
शब्दः, आत्मनि रूपं, तेजसि बुद्धिरित्यापद्येत । अतिरिक्तस्य च नियतपदार्थवादेऽस-
स नास्तीति बोध्यं, तत्तन्निरूपितत्वस्यापि स्वरूपमात्रत्वेन तस्यापि तत्त्वात्।
म्भवात्। तस्माद्विरुद्धस्तर्कसमयः ॥ १३ ॥

इसकी पहले परीक्षा हो चुकी
द्वारा अधिष्ठित होकर भी कार्य्य में स्वयं प्रवृत्त वा किसी का प्रवर्त्तक नहीं होता है । प्रवर्त्त-
है। आत्मा भी उसका प्रवर्त्तक नहीं है। प्रवर्त्तनकाल में अनुत्पन्न चैतन्य परमाणु का अचेतनत्व होना ही
कता की असम्भावना दिखायी देती है। अदृष्टानुसारी ईश्वर की इच्छा भी इस क्रिया का हेतु नहीं हो सकती है।
क्योंकि ईश्वर इच्छा नित्य होने के कारण उसका भी नित्यत्व प्रसंग उठ सकता है। अदृष्ट उद्बोध के अभाव से
प्रतिसृष्टि में उसका अभाव नहीं है। कारण-सामग्री सत्त्व में उसकी आवश्यकता नहीं देखी जाती है। अतः
क्रिया का कोई नियत हेतु न रहने से परमाणु को क्रिया करके स्वीकार नही किया जाता है। परमाणुओं में क्रिया
के अभाव के कारण संयोग का अभाव, संयोग का अभाव से द्वयणुकादिकों का अभाव, द्वयणुकादिकों के अभाव
से सृष्टि का भी अभाव घट सकता है ॥ १२ ॥

समवाय के स्वीकार में वह मत असमञ्जस होता है। साम्य ही उस असामञ्जस्य का हेतु है। परमाणु-समूह
का द्वयणुक समूह के साथ समवाय रूप सम्बन्ध तार्किकों ने अंगीकार किया है। यह समवाय-सम्बन्ध निश्चय
नहीं घटता है। सम्बन्धत्व में उसका साम्य देखा जाता है। समवाय में भी समवायापेक्षा की अनवस्था रूप आपत्ति
आती है। समवाय गुण-क्रिया-जातिविशिष्ट बुद्धि को उत्पन्न कर वस्तु-समूह का गुण-क्रियादि के साथ सम्बन्ध
स्थापन कर देता है। नहीं तो उसका अति प्रसंग अर्थात् अतिव्याप्तिदोष आ जाता है। और भी समवायान्तर के
स्वीकार करने में अनवस्था होती है। उसको यदि स्वरूप सम्बन्ध बोला जाता है तब अन्यत्र संयोगादि में भी वह
स्वरूप सम्बन्ध हो जावे फिर पृथक समवाय के स्वीकार करने की आवश्यकता क्या है ? उस सम्बन्ध स्वरूप का
अभ्युपगम युक्त नहीं है। उसके स्वरूपमात्र रूप में सर्वत्र सर्व्वधर्म्म की उत्पत्ति रूप दोष का निवारण नहीं होता
है। और यह भी है कि समवायवादियों का वायु में गन्ध, पृथिवी में शब्द, आत्मा में रूप, तेजः में बुद्धि इत्या-
दिक दोष आजाता है। समवाय का एकत्व प्रयुक्त होने के कारण उस उस समवाय की उस उस वस्तु में स्थिति है।
तत्तत् निरूपित समवाय उस उस वस्तु में नहीं है—ऐसा नहीं कह सकते हो। कारण यह है कि तत्तत् निरूपितत्व
भी स्वरूपमात्र से भिन्न (विना) और कुछ नहीं है। सुतरां उस प्रकार निरूपितत्व के अस्तित्व का परिहार नहीं
किया जा सकता है। अतिरिक्त पदार्थ भी नियतपदार्थवाद में असम्भव है। इसलिये तर्कसमन्वय विरुद्ध होता है॥१३॥

नित्यमेव च भावात् ॥ १४ ॥

समवायस्य नित्यत्वस्वीकारात्तत्सम्बन्धिनोऽपि जगतो नित्यत्वप्रसङ्गादसमञ्जसं तन्मतम् ॥ १४ ॥

रूपादिमत्वाच्च विपर्य्ययो दर्शनात् ॥ १५ ॥

पार्थिवाप्यतैजसवायवीयानां परमाणूनां रूपरसगन्धस्पर्शवत्वाङ्गीकारात्तेषु नित्यत्वनिरवयवत्वविपर्य्ययोऽनि-
त्यत्वसावयवत्वप्राप्तिः स्यात् रूपादिमति घटादौ तथा दर्शनादिति स्वीकारपरित्यागादसमञ्जसं तन्मतम् ॥ १५ ॥

उभयथा च दोषात् ॥ १६ ॥

परमाणूनां रूपाद्यनङ्गीकारे स्थूलपृथिव्यादेरपि तदभावापत्तिः। तत् परिजिहीर्षया रूपाद्यङ्गीकारे तु प्रागुक्तदोषः
इत्युभयथा दोषात्तमत्वादसमञ्जसं तन्मतम् ॥ १६ ॥

अथ सर्व्वथानुपादेयत्वमुपदिशन्नुपसंहरति—

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥ १७ ॥

कपिलादिमतानां केनचिदंशेन शिष्टैर्मन्वादिभिः परिग्रहात् कथंचिदपेक्षा स्यात्। अस्य तु परमाणुकारणवादस्य
वेदविरुद्धस्य तैः केनाप्यंशेनापरिग्रहादसङ्गतेश्च नात्र श्रेयोऽर्थिनामपेक्षा स्यादिति ॥ १७ ॥

इदानीं बुद्धमतं निराक्रियते। तत्र बुद्धमुनेर्वैभाषिकसौत्रान्तिकयोगाचारमाध्यमिकाख्याश्चत्वारः शिष्याः । तेषु
बाह्यः सर्व्वोऽप्यर्थः प्रत्यक्ष इति वैभाषिकः। बुद्धिवैचित्र्यादर्थोऽनुमेय इति सौत्रान्तिकः । अर्थशून्यं विज्ञानमेव
परमार्थसत् बाह्यार्थस्तु स्वाप्नतुल्य इति योगाचारः। सर्व्वं शून्यमिति माध्यमिकः। इत्येवं तं मतानि दध्रुः। भाव-

---

समवाय के नित्यत्व स्वीकार करने के हेतु तत् सम्बन्धि जगत् का अनित्यत्व प्रसंग देख कर उस मत का
असामञ्जस्य कहा जाता है ॥ १४ ॥

विशेष करके पार्थिव-जलीय-तैजस और वायवीय परमाणु समूह का रूप-रस-गन्ध-स्पर्श विशिष्ट अंगीकार
करने के कारण उनका नित्यत्व-निरवयवता आदि का विपर्य्यय अर्थात् अनित्यत्व-सावयवत्व आदि प्राप्त होता है।
रूपादि विशिष्ट घटादि द्रव्य में अनित्यत्वादिक देखने में आता है। इस प्रकार स्वीकार करना और उसके परित्याग
के कारण उस मत का असामञ्जस्यत्व स्थिर हुआ ॥ १५ ॥

परमाणु-समूह में रूपादिकों को अंगीकार नहीं करने पर स्थूल पृथिव्यादि में भी रूपादिकों का अभाव घटता
है। सुतरां उसके परिहारार्थ पृथिव्यादिकों में रूपादि अंगीकार करने से भी पूर्व्वोक्त दोष आ पड़ता है। इस
प्रकार उभय स्थल में अपरिहार दोष के वश उक्त मत का असामञ्जस्य होता है ॥ १६ ॥

अब सर्व्वप्रकार से ही उस मत के अनुपादेयत्व का उपदेश करने के लिये उपसंहारसूत्र की अवतारणा करते हैं—

शिष्ट मनु आदिक समस्त ऋषिओं ने कपिलादिमत का कोई कोई अंश स्वीकार किया है इसलिये उनके
विषय में हम कुछ अपेक्षा कर सकते हैं। किन्तु परमाणु-कारणवाद वेदविरुद्ध इस मत को असंगत होने के
कारण किसी शिष्ट ने भी किसी अंश का परिग्रहण नहीं किया है। अतएव मंगलाकांक्षी पुरुषमात्र को ही इस
की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए ॥ १७ ॥

अब बुद्धमत का निराकरण करते हैं—

बुद्धमुनि के वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार, माध्यमिक ये चार शिष्य हैं। उनमें से "बाह्य समस्त वस्तु-
मात्र ही प्रत्यक्ष हैं" यह वैभाषिक का मत है। सौत्रान्तिक के मत में "बुद्धि वैचित्र्य से वस्तुमात्र ही अनुमेय है"

पदार्थः सर्व्वत्र क्षणिकः । तत्राद्यौ भूतभौतिकश्चित्तचैत्यश्चेति समुदायद्वयं मन्येते । तथाहि रूपविज्ञानवेदनासंज्ञा संस्काराख्याः पञ्च स्कन्धाः भवन्ति । तेषु खरस्नेहोष्णचलनस्वभावाः पार्थिवादयश्चतुर्विधाः परमाणवः पृथिव्यादिभूतचतुष्टयरूपेण संहन्यन्ते । तच्चतुष्टयं च देहेन्द्रियविषयरूपेणेति स एव भूतभौतिकात्मा रूपस्कन्धो बाह्यसमुदायः । अहं प्रत्ययसमारूढो ज्ञानसन्तानो विज्ञानस्कन्धः । स एव कर्त्ता भोक्ता चात्मा । सुखवेदना दुःखवेदना च वेदनास्कन्धः । देवदत्तादिनामधेयं संज्ञास्कन्धः । रागद्वेषमोहादिश्चैतसिको धर्म्मः संस्कारस्कन्धः । ते एते चत्वारस्कन्धाश्चित्तचैतिकाः कथ्यन्ते । सर्व्वव्यवहारास्पदत्वेन चान्तः संहन्यन्ते । तदयमान्तरः समुदायश्चतुस्कन्धीरूपः । इदमेव समुदायद्वयमशेषं जगत् । एतदन्यदाकाशादिकमवस्तुभूतमिति । अत्र संशयः । एषा समुदायद्वयकल्पना युक्ता न वेति । एतेनैव जगद्व्यवहारोपपत्तेर्युक्तेति प्राप्ते प्रतिविधत्ते—

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥ १८ ॥

योऽयमुभयसंघातहेतुक उभयविधः समुदायो निरूपितस्तस्मिन् स्वीकृतेऽपि तदप्राप्तिर्जगदात्मकसमुदायासिद्धिः । समुदायिनामचेतनत्वादन्यस्य च संहन्तुः स्थिरचेतनस्याभावात् । तस्य च भावक्षणिकत्वाङ्गीकारात् । स्वतः प्रवृत्त्युरीकृतौ तत्सातत्यप्रसङ्गः । तस्मादयुक्ता तत्कल्पना ॥ १८ ॥

ननु सौगतसमयेऽविद्यादयो मिथो हेतुफलभावमापन्नाः स्वीक्रियन्ते अप्रत्याख्येयाश्च ते सर्व्वेषां । तेषु च मिथस्तथाभावेन घटीयन्त्रवत् सन्ततमावर्त्तमानेष्वर्थाक्षिप्तः संघातस्तमन्तरेणैषामसिद्धेः । ते चाविद्या संस्कारो

ऐसा है । "वस्तुमात्र ही असत् है विज्ञान एकमात्र परमार्थभूत सत् वस्तु है । बाह्य पदार्थ समूह स्वप्नकी तरह मिथ्या है" यह योगाचार का मत है । माध्यमिक के मत में "समस्त ही शून्य है" । इन सबका इसी प्रकार मत है । भावपदार्थ सर्व्वत्र क्षणिक है । उनमें से पहले भूत-भौतिक और चित्तचैत्त ये दो समुदाय स्वीकृत हुए हैं । उस मत में रूप-विज्ञान-वेदना-संज्ञा और संस्कार ये पाँच स्कन्ध हैं । खरस्वभाव, स्नेहस्वभाव, उष्णस्वभाव और चलनस्वभावात्मक चार प्रकार के पार्थिवादि परमाणु पृथिव्यादि चतुष्टय रूप से परिणत होते हैं । वह भूतचतुष्टय फिर देह-इन्द्रिय-विषय रूप से प्रकाश होता है । वह ही भूत-भौतिक का आत्मा, बाह्यसमुदायरूपस्कन्ध है । अहं प्रत्यय में समारूढ़, ज्ञानसमूह विज्ञानस्कन्ध है । वह कर्त्ता, भोक्ता तथा आत्मा है । सुख की वेदना और दुःख की वेदना विज्ञानस्कन्ध है । देवदत्तादि नामधेय संज्ञास्कन्ध है । राग, द्वेश, तथा मोह आदि चित्त का धर्म्म संस्कारसंज्ञा है । इन चारस्कन्धों का साधारण नाम चित्तचैत्तिक है । सकलव्यवहार के आस्पद होने के कारण वे सब अन्तर में ही मिल जाते हैं । यह आन्तर समुदाय ही चतुःस्कन्धरूप है । उक्त दोनों समुदायों को लेकर ही अशेष जगत् है । इससे भिन्न आकाशादिक अवस्तुभूत हैं । यहाँ संशय यह होता है कि उक्त दोनों समुदायों की कल्पना युक्त है किम्बा अयुक्त है । इसके द्वारा ही जगत्व्यवहार की उपपत्ति है । अतः यह कल्पना युक्त है इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के खण्डनार्थ कहते हैं—

जो यह उभय संघातहेतुक उभय प्रकार समुदाय निरूपित हुआ है उसके स्वीकार करने में उसकी अप्राप्ति-अर्थात् जगदात्मक समुदाय की असिद्धि होती है । समुदायी समूह का अचेतनत्व एवं उससे अन्य स्थिरचेतन-संघात के अभाव प्रयुक्त होने के कारण यह दोष घटता है । क्योंकि उक्त मत में सर्व्वत्र भावक्षणिक अंगीकृत हुआ है । स्वतःप्रवृत्ति स्वीकार करने में भी तत्सातत्यप्रसंग होता है । इसलिये वह कल्पना अयुक्त होती है ॥१८॥

यदि कहो कि बौद्धमत में अविद्यादिक पदार्थ-समूह परस्पर हेतुभाव और फलभाव प्राप्त होकर स्वीकृत होते हैं । सब का प्रत्याख्यान नहीं है । जिससे उनके परस्पर हेतु फलभाव के द्वारा घड़ीयन्त्र की तरह निरन्तर आवर्त्तमान इन सब पदार्थों में संघात अर्थ के द्वारा आक्षिप्त होता है । संघात के विना अविद्यादिक असिद्ध होते हैं । अवि-

विज्ञानं नाम रूपं षडायतनं स्पर्शो वेदना तृष्णोपादानं भवो जातिर्जरा मरणं शोकः परिवेदना दुःखं दुर्म्मनस्ता चेति तत्राह—

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥ १९ ॥

प्रत्ययशब्दो हेतुवाची । अविद्यादीनां परस्परहेतुत्वादुपपन्नः संघात इति यदुक्तं तन्न । कुतः ? उत्पत्तीति । तेषां पूर्व्वपूर्व्वमुत्तरोत्तरस्योत्पत्तिमात्रं प्रति निमित्तं स्यान्न तु संघातं प्रति किंचित् तदस्तीति । किंच भोगार्थं संघातः । न च क्षणिकेष्वात्मसु भोगः सम्भवति । तद्धेतोर्धर्म्माधर्म्मादेस्तैः पूर्व्वमसम्पादनात् । न च तत्सन्तानेन स सम्पादितः । तस्य स्थायित्वे सर्व्वं क्षणिकत्वप्रतीज्ञाव्याकोपात् । क्षणिकत्वे प्रागुक्तदोषानतिवृत्तेः । तस्मादसङ्गतः सौगतसमयः ॥ १९ ॥

इदानीमविद्यादीनां मिथो हेतुत्वं दूषयति—

उत्तरोत्पादे च पूर्व्वनिरोधात् ॥ २० ॥

नेत्यनुवर्त्तते । क्षणभङ्गवादिनो मन्यन्ते उत्तरस्मिन् क्षणे उत्पद्यमाने पूर्व्वः क्षणो निरुध्येत इति । उत्तरक्षणवर्त्तिनि कार्य्ये जायमाने सति पूर्व्वक्षणवर्त्ति कारणं विनस्यतीति तदर्थः । न चैवमुरीकुर्व्वताविद्यादीनां मिथो हेतुहेतुमद्भावः शक्यो विधातुं निरुद्धस्य पूर्व्वक्षणवर्त्तिनो निरुपाख्यत्वेनोत्तरक्षणवर्त्तिहेतुताऽनुपपत्तेः । कारणं हि कार्य्यानुस्यूतं दृष्टम् ॥ २० ॥

असतः सदुत्पत्तिं ते मन्यन्ते । नानुपमर्द्य प्रादुर्भावादिति । तां दूषयति—

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥ २१ ॥

असत्युपादाने चेत्कार्य्यं तदा स्कन्धहेतुका समुदायोत्पत्तिरिति प्रतिज्ञाभङ्गः । सर्व्वदा सर्व्वत्र सर्व्वं चोत्पद्येत उत्पन्नं

द्यादिक यह है–अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम, रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना,तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा, मरण, शोक, परिवेदना, दुःख और दुर्मन । ये सब संघात हैं । इस विषय में कहते हैं:—

प्रत्यय शब्द हेतुवाची है । अविद्यादिकों के परस्पर हेतु होने के कारण संघात उत्पन्न होता है इस प्रकार जो वचन कहा जाता है वह संगत नहीं है । क्योंकि उनके पूर्व पूर्व उत्तरोत्तर की उत्पत्तिमात्र के लिये कारण होते हैं । किन्तु संघात के लिये वह निमित्त दृष्ट नहीं है । और यह भी है कि संघात भोग के लिये है । क्षणिक आत्माओं में भोग की सम्भावना नहीं है । आत्मा-समूह के द्वारा भोग के हेतु धर्म्म-अधर्मादिकों के पहले सम्पादन नहीं होने के कारण भोग की असम्भावना होती है ।"आत्मसन्तान के द्वारा धर्म्म-अधर्मादिकों की उत्पत्ति है" ऐसा भी नहीं है । क्योंकि उसके स्थायित्व स्वीकार करने से सर्व्व क्षणिक–इस प्रतिज्ञा का व्याघात होता है । फिर क्षणिकत्व बोलने पर पूर्वोक्त दोष का अपरिहार हो जाता है । इसलिये सौगतमत असंगत है ॥ १९ ॥

वर्त्तमान अविद्यादिकों के परस्पर हेतुत्व का दूषण करते हैं —पूर्व्व सूत्र से "न" की अनुवृत्ति है । क्षणभंगवादियों के मत में उत्तरक्षण की उत्पत्ति में पूर्व्वक्षण का निबन्धन है । अर्थात् उतरक्षणवर्त्ती कार्य्य उत्पन्न होने पर पूर्व्वक्षणवर्त्ती कारण का नाश होता है । इस प्रकार बोलने से भी अविद्यादिकों के परस्पर हेतु में हेतु-हेतुमद्भाव का स्थापन नहीं हो सकता है । क्योंकि पूर्व्वक्षणवर्त्ती निरुद्ध कारण के निरुपाख्य के हेतु उत्तरक्षणवर्त्ती हेतुवा की उपपत्ति नहीं होती है । कारण का ही कार्य्य में अनुस्यूत होना देखा जाता है । ॥ २० ॥

बीज के अनुपमर्दन से ही अंकुर की उत्पत्ति होने के कारण पूर्व्वपक्षीगण असत् से सत् की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं । अब उस मत का दूषण करते हैं—

उपादान नहीं रहने से यदि कार्य्य का उत्पन्न होना स्वीकार किया जाता है तब स्कन्धरूप हेतु से समुदाय की

चासत्। अन्यथोपादानाच्चेत्कार्य्यं, तर्हि यौगपद्यं कार्य्यकारणयोः सहावस्थितिः स्यात् कार्य्यानुस्यूतस्योपादानत्वात्।
तथाच भावक्षणिकत्वमतभङ्गः। तस्मान्नासतः सदुत्पत्तिः॥ २१॥

दीपस्यैव घटादेर्निरन्वयं विनाशं मन्यन्ते। तं दूषयति—

प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥ २२ ॥

भावानां धीपूर्व्वको ध्वंसः प्रतिसंख्यानिरोधः। तद्विलक्षणस्त्वप्रतिसंख्यानिरोधः। आवरणाभावमात्रमाकाशम्। एतत् त्रयं निरुपाख्यं शून्यमितियावत्। तदन्यत्सर्व्वं क्षणिकं। यदुक्तं "बुद्धिबोध्यं त्रयादन्यत् संस्कृतं क्षणिकं च"ति। तत्राकाशं परत्र निराकरिष्यति। निरोधौ तावन्निराकरोति प्रतिसंख्येति। एतयोर्निरोधयोरप्राप्तिरसम्भवः स्यात्। कुतः? अविच्छेदात्। सतो निरन्वयविनाशाभावात्। अवस्थान्तरापत्तिरेव सतो द्रव्यस्योत्पत्तिर्विनाशश्च। अवस्थाश्रयो द्रव्यं त्वेकं स्थायीति। न च दीपनाशस्य निरन्वयत्ववीक्षणादन्यत्रापि तथास्त्विति वाच्यं अवस्थान्तरापत्तेरेवान्यत्र नाशत्वे निश्चिते दीपेऽपि तस्या एव तत्त्वेन निश्चेयत्वात्। अनुपलम्भस्त्वतिसौक्ष्म्यादेव। सद्वस्तुनो निरन्वयश्चेद्विनाशस्तर्हि क्षणानन्तरं विश्वं निरूपाख्यं पश्येस्त्वं च न भवेर्न चैवमस्ति। तस्मादनुपपन्नः सः॥ २२॥

अथ तदभिमतां मुक्तिं दूषयति— **उभयथा च दोषात् ॥ २३ ॥**

त्रिषु मण्डूकप्लुत्या नेत्यनुवर्त्तते। योऽयं संहारहेतोरविद्यादेर्निरोधो बौद्धैर्मोक्षोऽभिमतः। स किं साक्षा-

---

उत्पत्ति होती है इस प्रतिज्ञा का नाश हो जाता है। और विशेष करके सब समय में सकल स्थान पर समस्त वस्तु ही उत्पन्न हो सकती है। फिर असत् से उत्पन्न कार्य्य को भी असत् बोला जा सकता है। उपादान कार्य्य में अनुस्यूत रहता है। यह अनुस्यूत उपादान यदि असत् न होकर सत् होता तो कार्य्य जिस उपादान से उत्पन्न होता वह उस उपादान के साथ सर्वदा एकत्रितरूप से अवस्थान किया करता और फिर सुतरां भावक्षणिकत्व मत का भंग होता। इसलिये असत् से सत् की उत्पत्ति किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं हो सकती है॥ २१॥
अब जो दीप की तरह घटादिक का निरवशेष विनाश स्वीकार करते हैं, उनके मत में दोषारोप करते हैं।—

भाव-समूह के बुद्धिपूर्व्वक ध्वंस का नाम प्रतिसंख्या निरोध है। उससे विलक्षण विपरीत अर्थात् अप्रतिसंख्यानिरोध है। आवरण का अभावमात्र आकाश है। ये तीनों निरूपाख्य अर्थात् शून्य हैं। उनसे अन्य समस्त क्षणिक हैं। ऐसा कहा गया है कि दोनों निरोध और आकाश ये तीनों पदार्थसे भिन्न परमाणु और पृथिव्यादिक पदार्थ-समूह बुद्धिगम्य संस्कृत तथा क्षणिक हैं। आकाश का निराकरण पीछे होगा। इसके पहिले दोनों निरोधका निराकरण किया जाता है। अविच्छेद के कारण अर्थात् सत् वस्तु के निरवशेष विनाश के अभाव के हेतु उक्त दोनों निरोध की अप्राप्ति होती है अर्थात् असम्भवता होती है। अवस्थान्तर का आश्रय ही सत् वस्तु की उत्पत्ति व विनाश है। परन्तु द्रव्य एक तथा स्थायी है। दीप-नाश के शून्यत्व दर्शन से अन्य स्थल में ऐसा नहीं कहा जा सकता है। अवस्थान्तरापत्ति का ही यदि नाश रूप से निर्णय किया जाता है तब दीप में भी अवस्थान्तरापत्ति का निश्चय हो सकता है। अति सूक्ष्मता के कारण उसकी उपलब्धि नहीं होती है। सत् वस्तु का शून्यत्व यदि विनाश है तब तुम भी क्षणान्तर में विश्व को शून्य देखते और तुम् स्वयं भी नहीं रह सकते हो। किन्तु ऐसा तो कभी नहीं होता है। इसलिये उक्त मत नहीं ठहरता है॥ २२॥

इसके अनन्तर उनकी अभिमत मुक्ति का दोष दिखाते हैं। मण्डूकप्लुति न्याय के अनुसार तीनों सूत्रों में "न" का अनुवर्त्तन है। बौद्धों ने संसार के हेतु रूप अविद्यादिकों के निरोध को मोक्ष माना है। सो क्या वह मोक्ष

तत्त्वज्ञानात् स्यात् स्वयमेव वा। नाद्यः निर्हेतुकविनाशस्वीकारवैयर्थ्यात्। नेतरः साधनोपदेशनैरर्थक्यादित्युभयथापि विचारासहत्वात्तदभिमतो मोक्षोऽपि न सिध्यति॥ २३॥

अथाकाशस्य निरूपाख्यत्वं निरस्यते—

आकाशे चाविशेषात् ॥ २४ ॥

आकाशे या निरूपाख्यताभिमता सा न सम्भवति। कुतः? अविशेषात्। इह श्येन उत्पततीति प्रतीत्या तत्रापि पृथिव्यादिवद्भावरूपत्वात् गन्धादिगुणानां पृथिव्यादिवस्त्वाश्रयत्ववीक्षणाच्छब्दगुणस्याऽप्याकाशो वस्तुभूत एवाश्रय इत्यनुमानाच्च। वायुराकाशसंश्रय इति त्वदुक्त्यसङ्गतेश्च। अपि च आवरणाभावमात्रमाकाशमिति न शक्यं वक्तुं क्षोदाक्षमत्वात्। तथा हि। न तावत् प्रागभावादित्रयमाकाशः। पृथिव्यादेरावरणस्य सत्त्वेन तदप्रतीतिप्रसङ्गात् विश्वं निराकाशं स्यात्। आकाशस्य सत्त्वेन पृथिव्याद्यप्रतीतिप्रसङ्गाच्च। नाप्यन्योन्याभावः तस्य तत्तदावरणगतत्वेन तन्मध्याकाशाप्रतीतिप्रसङ्गादिति यत्किञ्चिदेतत्। यत्रावरणाभावस्तदाकाशमिति चेत्तर्हि वस्तुभूतमेव तत् आवरणाभावेन विशेषितत्वात्। तस्मात् पृथिव्यादिवद् भावभूतमेवाकाशं न तु निरुपाख्यम्॥ २४॥
अथ भावस्य क्षणिकत्वं दूषयति—

तत्वज्ञान से होता है किम्वा स्वयं आप ही होता है? तत्वज्ञान से होता है ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि यदि ऐसा हो तो निर्हेतुक विनाश अर्थात् अप्रतिसंख्यानिरोध का स्वीकार व्यर्थ होता है। दूसरे पक्ष की सङ्गति भी नहीं हो सकती है। क्योंकि आप से ही आप मोक्ष होता है—ऐसा कहने पर साधन का उपदेश निरर्थक हो जाता है। इस प्रकार उभय स्थल पर विचार-विरोध उठने के कारण उनका अभिमत मोक्ष सिद्ध नहीं होता है॥ २३॥
अब आकाश के निरूपाख्यत्व का निरास करते हैं—

आकाश में जो शून्यता अभिमत की गयी है वह अविशेष के कारण सम्भव नहीं होती है। "आकाश में-श्येनपक्षी उड़ता है" इस प्रकार की प्रतीति होने के कारण फिर आकाश में भी पृथिव्यादिक की तरह भावरूपत्व दृष्ट होने के कारण और गन्धादिक गुण-समूह जिस प्रकार पृथिवी आदि वस्तुओं का आश्रय करके रहते हैं, ठीक उसी प्रकार शब्दगुण आकाश रूप वस्तु का आश्रय कर रहता है इसके कारण, विशेष करके "वायु आकाश का संश्रय है" इस प्रकार का तुम्हारा निज वचय असंगत हो जाने के कारण, तथा पृथिव्यादि वस्तु के साथ आकाश का कोई विशेष गुण नहीं रहने के कारण आकाश को शून्य नहीं कहा जा सकता है और यह भी है कि प्रागभाव-प्रध्वस्वाभाव अत्यन्ताभाव रूप आकाश है ऐसा नही कह सकते हो। कारण यह है कि आकाश को प्रागभावादि अभावत्रय के मध्य में निवेश नहीं किया जा सकता है। पृथिव्यादि आवरण की सत्ता है। आकाश यदि आवरणाभाव है अर्थात् किसी का भी आवरण नहीं है इस तरह अभाव रूप वस्तु है तब तो वह पृथिव्यादिकों का आवरण नहीं हो सकता। सुतरां विश्व आकाश रहित हो जाता है। फिर आकाश की सत्ता स्वीकार करने पर सद्वस्तु की अप्रतीति-निबन्धन के अनुसार पृथिव्यादिक की भी अप्रतीति का प्रसंग होता है। आवरणाभाव रूप आकाश को अन्योन्याभाव भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उक्त अन्योन्याभाव पृथिव्यादि उस उस आवरण के अन्तर्गत रहने के कारण पृथिव्यादि मध्यगत आकाश की अप्रतीति का प्रसंग होता है। इस विषय में अधिक कहना निष्प्रयोजन है। जहाँ आवरण का अभाव है उसको यदि आकाश कहा जाता है तब वह आकाश वस्तुभूत अर्थात् भावरूप हो गया है। क्योंकि आकाश आवरणाभाव रूप एक विशेष वस्तु है—यह सिद्ध होता है। अतएव वह शून्य अर्थात् आकाश अभावरूप न होकर पृथिव्यादि भावपदार्थ की तरह भावपदार्थ सिद्ध हुआ है। अवस्तुभूत नहीं है॥ २४॥

अनुस्मृतेश्च ॥ २५ ॥

पूर्वानुभूतवस्तुविषया धीरनुस्मृतिः । प्रत्यभिज्ञेति यावत् । समस्तं वस्तु तदेवेदमिति पूर्वानुभूतमनुसन्धी-यतेऽतः क्षणिकत्वं भावस्य न । न च सेयं गङ्गा तदिदं दीपार्चिरितिवत् सादृश्यनिबन्धना न तु वस्त्वैक्यनिबन्धना सेति वाच्यं, सादृश्यग्रहीतुरेकस्य स्थायिनोऽभावेन तदयोगात् । किं च बाह्ये वस्तुनि कदाचित् संशयः स्यात्तदेवेदं तत्सदृशं वेति आत्मनि तूपलब्धरि न कदाचित् अन्यानुभूतेऽन्यस्मृत्यसम्भवात् । न च सन्तानैक्यं नियामकं स्थायि-सन्तानस्वीकारे स एव स्थिर आत्मेति मतान्तरापत्तेः । अस्वीकारेऽन्यस्मृत्यसिद्धेः । अपि च किं नाम क्षणिकत्वम् । किं क्षणसम्बन्धः किं वा क्षणेनैवोत्पत्तिविनाशौ । न तावदाद्यः स्थायिनः क्षणसम्बन्धसत्वात् । न द्वितीयः प्रत्यक्ष-बाधात् । एतेन दृष्टिसृष्टिरपि निराकृता । अत्राप्यर्थात् क्षणिकत्वस्वीकारात् । तस्मान्न क्षणिको भावः ॥ २५ ॥

स्वकीयं पीताद्याकारं ज्ञाने समर्प्य विनष्टोऽप्यर्थो ज्ञानगतेन पीताद्याकारेणानुमीयते । अतोऽर्थवैचित्र्यकृतमेव ज्ञानवैचित्र्यमिति सौत्रान्तिकमतं दूषयति—

नासतोऽदृष्टत्वात् ॥ २६ ॥

असतो विनष्टस्य पीताद्यर्थस्य पीतादिराकारो ज्ञाने न सम्भवति । कुतः ? अदृष्टत्वात् । धर्म्मिणि विनष्टे धर्म्म-स्यान्यत्र सम्बन्धादर्शनात् । न चानुमेयो घटादिर्न तु प्रत्यक्ष इति शक्यं भणितुम् । प्रत्यक्षेण जानामीति प्रतीत्यैव

अब भाव पदार्थ के क्षणिकत्व-पक्ष में दोष दिखाते हैं।—

पूर्वानुभूत वस्तुविषयिणी बुद्धि का नाम अनुस्मृति है। अनुस्मृति शब्द से प्रत्यभिज्ञा का ही बोध होता है। "यह वह पूर्वानुभूत वस्तु" इस प्रकार संसार की समस्त वस्तु पूर्वानुभूतत्व से अनुसन्धान को प्राप्त होती है। अतः भावपदार्थ कभी क्षणिक नहीं हो सकता है। "वह यह गंगा" "वह यह दीपशिखा" इत्यादिक प्रतीति की भाँति प्रत्यभिज्ञा ही सादृश्यनिबन्धना है, ऐक्यनिबन्धना नहीं है। ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि किसी एक स्थायी वस्तु के बिना सादृश्यग्रहणकारी का इस तरह किसी पूर्वानुस्मृति ज्ञान नहीं हो सकता है। और यह भी है कि बाह्य वस्तु में कभी ना कभी "यह क्या वह" किम्वा "उसके सदृश" इस प्रकार संशय हो सकता है परन्तु उप-लब्धिकर्त्ता आत्मा में संशय नहीं हो सकता है। और के द्वारा अनुभूत वस्तु में और की अनुस्मृति असम्भव है। सन्तान अर्थात् ज्ञानधारा की ऐक्यता को इस बुद्धि का नियामक कहा जा सकता है—ऐसा नहीं है। उक्त संतान के स्थायित्व स्वीकार करने में "स्थिर आत्मा" यह मतान्तर आ जाता है। स्थिर आत्मा यह बौद्ध का विपक्ष मत है। स्थायित्व के अस्वीकार करने में स्मरण असिद्ध होता है। और यह भी है कि क्षणिक वस्तु क्या है ? क्या क्षण सम्बन्ध का नाम ही क्षणिक है अथवा क्षण में उत्पत्ति व विनाश का नाम क्षणिक है ? पहला पक्ष संगत नहीं होता है। क्योंकि स्थायिवस्तु का भी क्षणसम्बन्ध देखने में आता है। प्रत्यक्ष-बाधित होने के कारण दूसरापक्ष भी संगत नहीं होता है। इससे दृष्टि-सृष्टि का निराकरण भी हुआ है। कारण यह है कि उस मत में भी क्षणिकत्व का स्वीकार है। अतः भावपदार्थ किसी भी प्रकार से क्षणिक नहीं हो सकता है ॥ २५ ॥

समस्तवस्तु निज पीतादि आकार को ज्ञान में समर्पण करके नाश होने पर भी वे सब ज्ञानगत पीतादि आकार के द्वारा अनुमित होते रहते हैं। अतः अर्थ वैचित्र्य के द्वारा ही ज्ञानवैचित्र्य है। यह सौत्रान्तिक का मत है। अब उसमें दोषारोपण करते हैं ॥—

अदृष्ट के कारण असत् का पीतादि आकार ज्ञान में अवस्थान करता है। इस प्रकार सम्भव नहीं है। जो-विनष्ट हो गया है वह असत् है। असत् पीतादि वस्तु का जो पीतादि आकार है वह ज्ञान में रहता है—ऐसा नहीं बोला जा सकता है। क्योंकि वह देखा नहीं जाता है। यदि वह रहता तब देखा जाता। धर्म्मी विनष्ट होने पर धर्म्म

तन्निरासादिति सौत्रान्तिकासाधारणो दोषः । तस्मात् प्रत्यक्षो घटादिर्न तु ज्ञानगतेन तदाकारेणानुमीयत इति ॥२६॥

अथोभयसाधारणदोषमाह—

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥ २७ ॥

एवं भावक्षणिकतया असदुत्पत्तौ स्वीकृतायामुदासीनानामुपायशून्यानामप्युपेयसिद्धिः स्यात् । क्षणभङ्गवादे भावमात्रस्य परक्षणस्थित्यभावादिष्टानिष्टाप्तिपरिहारयोर्लोकदृष्टयोरहेतुकत्वमतोऽनुपायवतामपि तत्प्राप्तिः स्यात् । उपेयलिप्सुः कश्चिदपि कुत्राप्युपाये न प्रवर्त्तेत, स्वर्गाय मोक्षाय वा न कोऽपि प्रयतेत । न चैवमस्ति सर्व्वस्याप्यु-पेयार्थिनः सोपायता तथैवोपेयलाभश्च प्रतीयते । तस्मात् विश्वप्रतारार्थमेतयोः प्रवृत्तिः । यौ किल भावभूतस्कन्ध-हेतुकां समुदायोत्पत्तिं स्वीकृत्यापि पुनरभावाद्भावोत्पत्तिमूचतुः क्षणिकानामप्यात्मनां स्वर्गापवर्गसाधनान्युपादि-दिशतुरिति तुच्छस्तत्सिद्धान्तः ॥ २७ ॥

तदेवं वैभाषिके सौत्रान्तिके च निरस्ते विज्ञानमात्रवादी योगाचारः प्रत्यवतिष्ठते । बाह्ये वस्तुन्यभिनिवेश-मानान् कांश्चिच्छिष्याननुरुध्य बाह्यार्थप्रक्रियेयं सुगतेन रचिता । तस्यां न तस्याशयः, विज्ञानस्कन्धमात्रता-त्पर्य्यात् । तथाहि विज्ञेयो घटाद्यर्थो विज्ञानान्नातिरिच्यते । तस्यैवार्थाकारत्वात् । न चार्थान् विना व्यवहारासिद्धिः तान्विनापि स्वप्नवत् सिद्धेः । बाह्यार्थास्तित्ववादिनापि ज्ञानेऽर्थाकारत्वम् धर्म्मोऽवश्यं मन्तव्यः । कथमन्यथा घटज्ञानं पटज्ञानमिति व्यवहारोपपत्तिः । तथाच तेनैव तत्सिद्धौ किमर्थैः । ननु कथमान्तरं ज्ञानं घटपर्व्वताद्या-कारकम् । मैवम् । ज्ञानं किल प्रकाशमानं । निराकारस्य तस्य प्रकाशासम्भवात् साकारमेव तत् । ननु कथमसति

का अन्यत्र सम्बन्ध कहीं भी देखा नहीं जाता है। घटादिक अनुमेय है, प्रत्यक्ष नहीं है—ऐसा नहीं बोला जाता है। क्योंकि इस वस्तु को मैंने प्रत्यक्ष किया—इस प्रकार की प्रतीति के द्वारा उस मत का निराकरण हो जाता है। वह सौत्रान्तिक का असाधारण दोष है। अतः घटादिक प्रत्यक्ष है, ज्ञानगत उस आकार से अनुमित नहीं है॥२६॥

अब उभय साधारण दोष को दिखाते हैं। इस प्रकार भावपदार्थ को क्षणिक कह कर असत् से सत् की उत्पत्ति स्वीकार करने से उपायशून्य उदासीनों की उपेय सिद्धि आ जाती है। क्षणभंगवाद से भाव-पदार्थमात्र का ही उत्पन्न होने के परक्षण में स्थिति के अभाव से प्रयुक्त इष्ट का स्वीकार तथा अनिष्ट का परिहार रूप लोक-दृष्ट हेतु निरर्थक होता है। ऐसा होने पर उपायशून्य व्यक्ति की तत्प्राप्ति घटती है। सुतरां और कोई भी उपेयलिप्सु होकर कभी किसी उपाय में प्रवृत्त नहीं होगा। कोई भी स्वर्ग व मोक्ष के लिये चेष्टा नहीं करेगा परन्तु ऐसा तो नहीं देखा जाता है। सब ही उपेयलिप्सु होकर उसके लिये चेष्टा करते हैं। उपाय के द्वारा ही उपेय का लाभ होना देखा जाता है। अतएव जगत् प्रतारणा के लिये ही उनकी प्रवृत्ति जाननी चाहिए। वे भाव भूत-स्कन्ध हेतुक समुदाय की उत्पत्ति को स्वीकार करके भी फिर अभाव से भाव की उत्पत्ति बोलते हैं और क्षणिक आत्माओं को स्वर्ग तथा मोक्ष का साधन-समूह का उपदेश करते हैं, उनका यह सिद्धान्त अति तुच्छ है ॥ २७ ॥

इस प्रकार वैभाषिक और सौत्रान्तिक निरस्त हुए हैं। अब विज्ञानमात्रवादी योगाचार के मत का निराकरण करने के लिये प्रकरणान्तर का आरम्भ करते हैं। बाह्यवस्तु में अभिनिविष्ट किसी किसी शिष्य के अनुरोध से सुगतमुनि ने बाह्यार्थ प्रक्रिया की रचना की है। परन्तु इस प्रक्रिया में उनका अभिप्राय नहीं देखा जाता है। जिस से विज्ञानस्कन्ध मात्र ही अन्य स्कन्धों का तात्पर्य्य देखने में आता है। विज्ञेय घटादि पदार्थ विज्ञान से अतिरिक्त वस्तु नहीं है क्योंकि विज्ञान ही अर्थाकार में परिदृष्ट होता है। और यह भी है कि अर्थ-व्यतिरेक से व्यवहार—सिद्धि सम्भव नहीं है। अर्थव्यतिरेक से व्यवहार की सिद्धि स्वप्न के तुल्य है। बाह्यार्थ का अस्तित्व जो लोग स्वीकार करते हैं, उन सब के ज्ञान में अर्थाकारत्व-धर्म्म अवश्य स्वीकार्य्य करना होता है नहीं तो घटज्ञान और

बाह्यर्थे धीवैचित्र्यम्। वासनावैचित्र्याद्भवेत् । वासनाहेतुकस्य तद्वैचित्र्यस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामवधारणात्। सर्व्वं ज्ञानात्मकम्। ज्ञानज्ञेययोः सहोपलम्भनियमादपि न ज्ञेयं ज्ञानाद्भिन्नम्। किं तु ज्ञानात्मकमेवेति। इह संशयः। सर्व्वं ज्ञानात्मकमिति युज्यते न वेति । स्वप्नवत् विनाप्यर्थान् ज्ञानेनैव व्यवहारसिद्धेः पृथक् तदङ्गीकारे फलानतिरेकाच्च युज्यत इति प्राप्ते—

नाभाव उपलब्धेः ॥ २८ ॥

वाह्यार्थस्याभावो न शक्यो वक्तुम्। कुतः उपलब्धेः । घटस्य ज्ञानमित्यादौ ज्ञानान्यस्यार्थस्योपलम्भात् । न च नाहमर्थं नोपलभे अपि तु ज्ञानान्यं नोपलभे इति वाच्यम्। उपलब्धिबलेनैव तदन्यताया गले निपातनात्। घटमहं जानामीत्यादौ ज्ञाधात्वर्थं सकर्म्मकं सकर्तृकं च सर्वो लोकः प्रत्येति प्रत्याययति चान्यान्। तेन ज्ञानमात्रं साधयन् सकलोपहासहेतुरिति भिन्नोऽर्थो ज्ञानात्। ननु ज्ञानान्यश्चेद् घटादिस्तस्य प्रकाशः कथं ज्ञाने चेत्, तर्हि एकस्मिन् सर्व्वस्य प्रकाशः स्यात् अन्यत्वाविशेषादिति चेन्न । तद्भिन्नेऽपि तस्मिन् यत्र विषयताख्यः सम्बन्धस्तस्यैव नान्यस्येति व्यवस्थानात्। पीतरक्तादिविषयकसमूहालम्बनस्य विरुद्धनानापीताद्याकारासम्भवाच्च। यत्तु सहोपलम्भनियमादर्थो ज्ञानात्मेति तदसत् साहित्यस्यार्थभेदहेतुकत्वात्। ततश्च

पटज्ञान इस प्रकार व्यवहार उत्पन्न नहीं हो सकता है। ज्ञान के द्वारा यदि व्यवहार की सिद्धि होती है तब वाह्यवस्तु अंगीकार करने का कोई प्रयोजन नहीं देखा जाता है। क्षुद्र मन में स्थित आन्तरज्ञान किस प्रकार घट तथा पर्वतादिक के आकार में प्रकाशमान होता है, इस प्रकार की शंका नहीं की जाती है क्योंकि ज्ञान एक प्रकाशमान वस्तु है। निराकार वस्तु का प्रकाश सम्भव नहीं है। अतएव ज्ञान का साकारत्व स्वीकार्य्य है। अच्छा, वाह्यवस्तु नहीं होने पर बुद्धि का वैचित्र्य किस प्रकार घट सकता है—इसका उत्तर यह है कि—वासना की विचित्रता से बुद्धि की विचित्रता होती है। अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा वैचित्र्य को वासना हेतुरूप से स्थिर किया जाता है और यह भी है कि ज्ञान और ज्ञेयवस्तु के सह उपलम्भ नियम के द्वारा ज्ञान वस्तु का ज्ञेयवस्तु से अभेद सिद्ध होता है। ज्ञेय वस्तु ज्ञानात्मक है। यहाँ संशय यह है कि समस्त वस्तु ज्ञानात्मक है–यह युक्त है वा अयुक्त है ? स्वप्न की भाँति अर्थ व्यतिरेक से ज्ञान के द्वारा व्यवहार सिद्धि देखने से तथा उसको पृथकरूप से स्वीकार करने पर फल का अनतिरेक देखने से ज्ञानात्मक बोलना युक्त है इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं।—

जब वस्तु की उपलब्धि है तब वाह्य पदार्थ का अभाव है–ऐसा नहीं कह सकते हो। घट का ज्ञान यहाँ ज्ञान से अतिरिक्त वाह्य वस्तु की उपलब्धि होती है। जो प्रत्यक्ष का अपलाप करते हैं, उनकी कथा कभी ज्ञानी को ग्राह्य नहीं हो सकती है। "मैं वाह्य उपलब्ध अर्थ की उपलब्धि नहीं करता हूँ, ज्ञान से अतिरिक्त अर्थ की भी उपलब्धि नहीं करता हूँ" ऐसा नहीं कह सकते हो, क्योंकि उपलब्धिवल से ही ज्ञानातिरिक्त वाह्यवस्तु की उपलब्धि नहीं करता हूँ–यहाँ इस प्रकार का बोध आ पड़ता है जिसका निवारण करना असम्भव हो जाता है। "मैं घट को जानता हूँ". यहाँ ज्ञाधातु का अर्थ सकर्म्मक और सकर्तृक रूप से सब कोई उपलब्धि करते हैं तथा और को भी उपलब्धि—कराते हैं। ज्ञाधातु के अर्थ के द्वारा ज्ञानमात्र बोध होने से पूर्व्वपक्षीयवक्तागण उपहास्यास्पद हो रहे हैं। उक्त वाक्यस्थ अर्थपद ज्ञान-भिन्न ही बोध कराता है। यदि कहो कि ज्ञान से घटादि भिन्न वस्तु है। उसका प्रकास किस प्रकार ज्ञान हो सकता है ? जिससे ऐसा स्वीकार करने पर एक घट के ज्ञान से समस्त वस्तु का भान स्वीकार करना होगा क्योंकि घटादि समस्तवस्तु ज्ञान से भिन्न है। इस प्रकार युक्ति-संगत नहीं हो सकता है। क्योंकि समस्तवस्तु ही ज्ञान से भिन्न होने पर भी घटादिक जिस विषय में ज्ञान के विषयतासम्बन्ध स्थिर होंगे वह विषय उस ज्ञान में प्रकाश प्राप्त होगा अन्य किसी विषय में नहीं है, ऐसी व्यवस्था है। पीत-रक्तादि विषयक, समूह-आल-

तयोस्तन्नियमो हेतुफलभावनिमित्तो मन्तव्यः। किं च बाह्यमर्थं निरस्यता सौगतेन तस्य पृथक् सत्त्वं स्वीकृतम्। "यत्तदन्तर्ज्ञेयं रूपं तद्बहिर्वदवभासत" इति तदुक्तेः । अन्यथा वत करणासम्भवः । न हि वन्ध्यापुत्रवदिति कश्चिदाचक्षीत ॥ २८ ॥

अथ वाह्यार्थान् विनापि वासनाहेतुकेन ज्ञानवैचित्र्येण स्वप्ने यथा व्यवहार एवं सर्व्वं जागरेऽपि स्यादिति दृष्टान्तेन साधितं दूषयति ।

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥ २९ ॥

चशब्दो ऽवधारणे। स्वप्ने मनोरथे च यथा घटाद्यर्थाकारकज्ञानमात्रसिद्धो व्यवहारस्तथा जागरेऽपि भवेदित्येतन्न सम्भवति। कुतः ? वैधर्म्यात्। स्वप्नजागरप्राप्तयोर्व्वस्तुनोरसाधर्म्यादेव । स्वप्ने खल्वनुभूतं स्मर्य्यते, जागरे तु प्रत्यक्षेणानुभूयते। स्वप्नोपलब्धं क्षणद्वयमात्रेणान्यदन्यद्भवति बाधितं च बोधे। जागरोपलब्धं तु वर्षशतानन्तरमपि तद्धर्म्मकमबाधितं चेति। किं च स्वप्नेऽनुभूतं स्मर्य्यत इति प्रत्युक्तिमात्रं बोध्यम्। स्वमतं तु स्वमात्रानुभाव्यं तावन्मात्रसमयं वस्तु स्वप्ने परेशः सृजतीति "सन्ध्ये सृष्टिराह हि" इत्यादिना वक्ष्यते ॥ २९ ॥

यत्तूक्तं विनाप्यर्थान् वासनावैचित्र्याज्ज्ञानवैचित्र्यमुपपद्यत इति तन्निरासायाह—

म्बन ज्ञान का उससे विरुद्ध नानाविध पीतादि आकार की सम्भावना आ सकती है। परन्तु समूह-आलम्बन ज्ञान की नाना प्रकार की सम्भावना नहीं दीखती है। कोई कोई कहते हैं जब ज्ञान और अर्थ का एक के साथ अपर का उपलम्भ नियमित है तब ज्ञान और अर्थ एक वस्तु है। परन्तु उनका यह मत अयुक्त है। क्योंकि उक्त साहित्यता (सहार्थ) अर्थ से ज्ञान का भेद बोध कराता रहता है। अतएव इस नियम को हेतु-भाव और फलभाव का बोधक रूप से जानना होगा। और भी सौगतमतावलम्वी वाह्यवस्तु का निरास करते हुए भी फिर उससे पृथक्सत्ता स्वीकार करते हैं। क्योंकि "जो उसका अन्तर्व्वर्त्ती ज्ञेयरूप है वह वाह्यवस्तु की भाँति प्रकाशमान है" इस सौगतगणों की निज उक्ति में अन्तर्गत "जो" "वह" इन दोनों शब्दों के द्वारा वाह्यवस्तु की पृथक्सत्ता स्वीकार की गयी है। नहीं तो वे सब "वाह्य वस्तु की तरह" इस प्रकार वत् प्रत्ययान्त शब्द का व्यवहार नहीं करते। "वन्ध्यापुत्र" को कोई "वन्ध्यापुत्र की भाँति" ऐसा नहीं कहता है ॥ २८ ॥

अब वाह्यार्थ के बिना वासना हेतुक ज्ञान–वैचित्र्य के द्वारा स्वप्न व्यवहार की तरह जाग्रत् अवस्था में भी व्यवहार हों–इस प्रकार जो मत दृष्टान्त के द्वारा कहा गया है उसका दोष दिखाते हैं।—

"च" शब्द अवधारणा अर्थ में है। स्वप्न व मनोरथ में जिस प्रकार घटादि आकार में आकारप्राप्त ज्ञान मात्र से सिद्ध व्यवहार होता है उसी प्रकार व्यवहार जाग्रत् अवस्था में होता है–ऐसा नहीं बोला जा सकता है। क्योंकि—स्वप्नगत धर्म्म जाग्रत् धर्म्म से पूर्णतया विभिन्न है। स्वाप्निकवस्तु और जाग्रत्वस्तु का पारस्परिक साधर्म्य नहीं देखा जाता है। स्वप्न में पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण होता है। परन्तु जाग्रत्अवस्था में प्रत्यक्षवस्तु का अनुभव हुआ करता है। स्वप्नदृष्ट वस्तु-समूह दो क्षण में अन्य रूप हो जाते हैं तथा स्वप्न का अपगम होने पर बाधित हो जाते हैं। जाग्रत्दृष्ट वस्तु किन्तु सौ वर्ष के पश्चात् भी बाधित नहीं होती है। और एक बात यह है कि–यहाँ स्वप्न में पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण होता है–यह जो उक्ति है, वह प्रत्युक्ति प्रायः है–ऐसा जानना चाहिए। वह सूत्रकार का निज मत नहीं है। आगे सूत्रकार "सन्ध्ये सृष्टिराह हि" अर्थात् स्वप्न में जो भी कुछ देखा जाता है, वह सब उस समय परमेश्वर के द्वारा सृष्ट होता है–ऐसा कहेंगे ॥ २९ ॥

अर्थ के विना भी वासना-वैचित्र्य के वश ज्ञानवैचित्र्य उपपन्न होता है। इस प्रकार जो वादी कहता है उसके निराकरणार्थ परवर्ती सूत्र की अवतारणा कर रहे हैं। अनुपलब्धि के वश वासनाओं की सत्ता नहीं स्वीकार की

न भावोऽनुपलब्धेः ॥ ३० ॥

वासनानां भावो न सम्भवति। कुतः? अनुपलब्धेः, त्वन्मते वाह्यार्थाप्राप्तेः। अर्थमूला किल वासनाऽर्थान्वय-व्यतिरेकसिद्धा। तव त्वर्थानङ्गीकारात् सा न सम्भवेत् ॥ ३० ॥

किं च वासना नाम संस्कारविशेषः। स च स्थिरमाश्रयं विना न समस्तीत्याह—

चणिकत्वाच्च ॥ ३१ ॥

नेत्यनुवर्त्तते। वासनाश्रयः स्थिरः पदार्थो नैव तेऽस्ति। कुतः? चणिकत्वात्। प्रवृत्तिविज्ञानस्यालयविज्ञानस्य च सर्व्वस्य चणिकत्वाङ्गीकारात्। न हि त्रिकालस्थिरसम्बन्धिनि चेतनेऽसति देशकालनिमित्तसापेक्षवासनाध्यानस्मरणादिव्यवहारः सम्भवेत्। तथा चाश्रयाभावान्न सा तदभावाच्च न तद्वैचित्र्यमिति तुच्छो विज्ञानमात्रवादः॥३१॥

एवं योगाचारेऽपि निरस्ते सर्व्वशून्यत्ववादी माध्यमिकः प्रतिपद्यते। बुद्धेन वाह्यार्थान् विज्ञानं चाङ्गीकृत्य विनेयबुद्ध्यारोहाय सोपानवत्तत्र चणिकत्वादि कल्पितम्। न तु ते तत्त्व वर्त्तन्ते। शून्यमेव तत्त्वं तदापत्तिरेव मोक्ष इत्येव तन्मततरहस्यम्। युक्तं चैतत्। शून्यस्याहेतुसाध्यत्वेन स्वतः सिद्धेः। सतो हेत्वपेक्षिणोऽप्युत्पत्त्यनिरूपणाच्च। तथाहि। न तावद् भावादुत्पत्तिः सतः। अनष्टाद् बीजादितोऽङ्कुराद्युत्पत्त्यदर्शनात्। नाप्यभावात्। नष्टाद्बीजादितो जातस्याङ्कुरादेर्निरुपाख्यतापातात्। न च स्वतः। आत्माश्रयतापत्तेरानर्थक्याच्च। न तु परतः

जा सकती है। पूर्व्वपक्षी के मत में वाह्यार्थ ही नहीं है। वासना अर्थमूलक है। अर्थ रहने से वासना रहती है। अर्थ नहीं रहने से वासना नही है। यह अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध है। तुम अर्थ को अंगीकार नहीं करते हो। इसलिये वासना का अस्तित्व असम्भव हो जाता है ॥ ३० ॥

और यह भी बात है कि वासना एक संस्कारविशेष है। वह स्थिर आश्रय के विना नहीं ठहर सकती है इसे व्यक्त करने के लिये कहते हैं—यहाँ नकार का अनुवर्त्तन है। पूर्व्वपक्षी के मत में समस्त पदार्थ चणिक हैं। जब ऐसा ही है तो वासना का आश्रयस्वरूप स्थिर पदार्थ नहीं ठहर सकता है। वे जो प्रवृत्तिविज्ञान और आलयविज्ञान को स्वीकार करते हैं, उन दोनों को भी चणिक बोलते हैं। त्रिकाल-सम्बन्धी चेतन पदार्थ की सत्ता स्वीकार नहीं करने से देश-काल निमित्त सापेक्ष-वासना, ध्यान और स्मरणादि कोई व्यवहार सम्भव नहीं होता है। अतएव पूर्व्वपक्षी के मत में उस प्रकार आश्रय के अभाव से वासना का अभाव घटता है। वासना के अभाव से वासना वैचित्र्य वा तज्जन्य ज्ञानवैचित्र्य किसी भी प्रकार सम्भव नहीं हो रहा है। इसलिये यह विज्ञानवाद तुच्छ होता है ॥ ३१ ॥

इस प्रकार योगाचार निरस्त होने पर सर्व्वशून्यवादी माध्यमिक अवशेष रह जाते हैं। अब उनका मत खण्डन करते हैं। बुद्धमुनि ने वाह्य अर्थ और विज्ञान अंगीकार कर विनेय बुद्धि से आरोहण के लिये सोपान की भाँति उनके लिये चणिकत्वादि की कल्पना की है। किन्तु माध्यमिक के मतमें वाह्यार्थ तथा विज्ञान कुछ नहीं है। इनके मत में शून्य ही तत्व है और वह शून्यापत्ति ही मोक्ष है। यह इनका रहस्य है। वे सब युक्ति के साथ अपने मत को पुष्ट करते हैं। वे कहते हैं-शून्य अहेतुसाध्य है, अतः स्वतःसिद्ध है। जो स्वतःसिद्ध है वह तत्व है। सत् वस्तु कारणापेक्षी होने पर भी उसकी उत्पत्ति निरूपण नहीं होता है। भाव पदार्थ से सद्वस्तु की उत्पत्ति नहीं कहीं जाती है। बीज नष्ट न होने पर उस से अंकुर की उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। और अभाव से भी उसकी उत्पत्ति नहीं बोली जा सकती है। नष्ट बीजादिक से जात अङ्कुरादिकों का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। न अपने से ही अंकुरादिकों की उत्पत्ति बोली जाती है क्योंकि ऐसा होने से आत्माश्रय दोष अनिवार्य्य आ पड़ता है तथा आनर्थक्य घटता है। पर वस्तु से उत्पत्ति को स्वीकार नहीं किया जाता है। उस के स्वीकार करने से परत्व के अविशेष के वश सकल

परत्वाविशेषेण सर्व्वस्मात् सर्व्वोत्पत्तिप्रसङ्गात्। एवमुत्पत्त्यभावात् विनाशाभावः। तस्मादुत्पत्तिविनाशसदसदादिकं विभ्रममात्रमतः शून्यमेव तत्त्वमिति। इह संशयः। शून्यमेव तत्त्वमिति युक्तं न वेति। शून्यस्य स्वतःसिद्धेरितरेषां पदार्थानां भ्रांतिविजृम्भितत्वेनासत्वाच्च युक्तमिति प्राप्ते निरस्यति।

सर्व्वथाऽनुपपत्तेश्च ॥ ३२ ॥

नेत्यनुवर्त्तनीयम्। शून्यमिति वदन् भावमभावं भावाभावं वा प्रतिपादयेत्। सर्व्वथा नाभिमतसिद्धिः। कुतः? अनुपपत्तेरयुक्तत्वात्। तथाहि। आद्येऽनिष्टापत्तिः। द्वितीये प्रतिपादयितुर्भावस्य तत्साधनस्य च सत्त्वात् सर्व्वशून्यताहानिः। तृतीये तु विरोधोऽनिष्टता चेति। किंच येन प्रमाणेन शून्यं साध्यं तस्य शून्यत्वे शून्यवादहानिः तस्य सत्यत्वे सर्व्वसत्यताप्रसङ्गश्चेति दुष्टः शून्यवादः। एवं मिथो विरुद्धत्रिमतीनिरूपणाज्जगत्प्रतारकता बुद्धस्यावसीयते ॥ लोकायतिकादिमतानि त्वतितुच्छत्वाद्भगवता सूत्रकारेण प्रत्याख्यातुं नोट्टंकितानीति वेदितव्यम्। एतेन बौद्धनिरासेन तत्सदृशो मायी च निरस्तः। चणिकत्वमनुसृत्य दृष्टिसृष्टिवर्णनात् शून्यवादमाश्रित्य विवर्त्तनिरूपणाच्च तस्य तत्सादृश्यम् ॥ ३२ ॥

अथ जैना दूष्यन्ते। ते मन्यन्ते। पदार्थो द्विविधः जीवः अजीवश्चेति। तत्र जीवश्चेतनः कायपरिमाणः सावयवः। अजीवः पञ्चविधः, धर्म्माधर्म्मपुद्गलकालाकाशभेदात्। गतिहेतुर्धर्म्मः। स्थितिहेतुरधर्म्मश्च व्यापकः। वर्णगन्धरसस्पर्शवान् पुद्गलः। स च द्विविधः परमाणुस्ततसंघातश्च। वाय्वग्निजलपृथिवीतनुभुवनादिकः।

वस्तु से सकलवस्तु की उत्पत्ति का प्रसंग होता है। इस प्रकार उत्पत्ति के अभाव से विनाश का अभाव घटता है। अतएव उत्पत्ति, विनाश, सत् और असत् आदिक समस्त भ्रमात्मक ही हैं केवल शून्य ही एकमात्र तत्व है। यहाँ संशय यह है कि-शून्य ही एकमात्र तत्व है यह मत युक्त है वा अयुक्त है। शून्य जब स्वतःसिद्ध है और उससे अतिरिक्त पदार्थमात्र ही भ्रान्तियुक्त है तब वह युक्त है। पूर्व्वपक्षी के इस मत का खण्डन करते हैं।—

"न"का यहाँ अनुवर्त्तन है। सर्व्व प्रकार से अनुपपत्ति प्रयुक्त होने के कारण यह अयुक्त है। यह शून्य भावरूप, अभावरूप अथवा भाव-अभाव उभय रूप इन तीनों में से कोई भी प्रतिपादित नहीं होता है। उसका जो भी कुछ प्रतिपादन किया जावेगा, उससे अभीष्टसिद्धि की हानि होयेगी। क्योंकि उसमें कोई भी युक्त नहीं होता है। शून्य का भावत्व रूप प्रथमपक्ष स्वीकार करने पर अनिष्टापत्ति आय पड़ती है। अभावरूप द्वितीतपक्ष को स्वीकार करने से प्रतिपादनकर्त्ता का और उस साधन के अस्तित्व के वश सर्व्यशून्य की हानि हो रही है। तृतीयपक्ष में विरोध और अनिष्टापत्ति आते हैं। और यह भी है कि जिस प्रमाण के द्वारा शून्य का साधन किया जावेगा, उसके शून्यत्व होने के कारण शून्यवाद की हानि और उसके सत्यत्व से सर्व्वसत्यता का प्रसंग घटने के कारण शून्यवाद दूषित हो जाता है। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध तीनों मतों के निरूपण से बुद्ध की जगत् प्रतारकता ही अनुमित होती है। लोकायतिकों के मत को अति तुच्छ होने के कारण भगवान् सूत्रकार ने उसके प्रत्याख्यान के लिये उद्यम नहीं किया है ऐसा जानना चाहिए। इस बौद्धमत के निरासन से बौद्ध सदृश मायावादी का भी निराकरण हुआ है। मायावादिगण भी बौद्ध के चणिकत्व पक्ष के अनुसरण से दृष्टि पूर्व्वक सृष्टि का वर्णन करने के कारण तथा शून्यवाद के आश्रय से विवर्त्तवाद के निरूपण करने के कारण बौद्ध सदृश हैं ऐसा जानना चाहिए॥३२॥

अब जैनमत का दूषण करते हैं। उनके मत में-पदार्थ जीव और अजीव दो प्रकार का है, उनमें जीव चेतन, शरीर परिमाणक और सावयव है। अजीव धर्म्म, अधर्म्म,पुद्गल, काल, आकाश पाँच प्रकार का है। जो गतिहेतु है, वह धर्म्म है और जो स्थिति हेतु है वह अधर्म्म है। यह अधर्म्म व्यापक रूप है। जिसका वर्ण, गन्ध,रस और स्पर्श है वह पुद्गल कहा जाता है। पुद्गल परमाणुरूप और उसके संघातरूप से दो प्रकार का है। वायु, अग्नि,

पृथिव्यादिहेतवः परमाणवो न चतुर्विधाः किन्त्वेकस्वभावाः। स्वभावपरिणामात्तु पृथिव्यादिरूपो विशेषः। काल-
स्त्वतीतादिव्यवहारहेतुरणुश्च। आकाशस्त्वेकोऽनन्तप्रदेशश्चेति। तदेवं षडमी पदार्था द्रव्यरूपास्तदात्मकमिदं जगत्।
तेषु चाणुभिन्नानि पञ्च द्रव्याण्यस्तिकाया इत्याख्यायन्ते। जीवास्तिकायो धर्म्मास्तिकायोऽधर्म्मास्तिकायः पुद्गला-
स्तिकायः आकाशास्तिकाय इति। अस्तिकायशब्दोऽनेकदेशवर्त्तिद्रव्यवाची। जीवस्य मोक्षोपयोगितया बोध्यान्
सप्तपदार्थान् वर्णयन्ति। जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षा इति। तेषु जीवः प्रागुक्तो ज्ञानादिगुणकः। अजीव-
स्तद्भोग्यजातं। आस्रवत्यनेन जीवो विषयेष्वित्यास्रव इन्द्रियसंघातः। संवृणोति विवेकादिकमिति संवरोऽविवे-
कादिः। निःशेषेण जीर्य्यत्यनेन कामक्रोधादिरिति निर्जरः केशोल्लुञ्चनतप्तशिलारोहणादिः। कर्म्माष्टकेनापादितो
जन्ममरणप्रवाहो बन्धः। तदष्टकं चैवं। चत्वारि घातिकर्म्माणि पापविशेषरूपाणि यैर्ज्ञानदर्शनवीर्य्यसुखानि स्वभा-
विकान्यपि जीवस्य प्रतिहन्यन्ते। चत्वारि त्वघातिकर्म्माणि पुण्यविशेषरूपाणि, यैर्देहसंस्थानतदभिमानतत्कृत-
सुखदुःखापेक्षोपेक्षासिद्धिः। स्वशास्त्रोक्तसाधनैस्तदष्टकाद्विमुक्तस्याविर्भूतस्वाभाविकात्मरूपस्य जीवस्य सदोर्द्ध्व-
गतिरलोकाकाशस्थितिर्वा मुक्तिः। सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्र्याख्यं रत्नत्रयं तत्साधनम्। तानेतान् पदार्थान् सप्तभङ्गिना
न्यायेनावस्थापयन्ति। स यथा—स्यादस्ति १, स्यान्नास्ति २, स्यादवक्तव्यः ३, स्यादस्ति च नास्ति च ४, स्यादस्ति

जल,पृथिवी,तनु और भुवनादिकोंका नाम ही संघातहै। पृथिवी आदि का कारणभूत परमाणु-समूह चार प्रकार का न होकर एक प्रकार का है। उनके परिणाम से पृथिवी प्रभृति विशेष वस्तु है। अतीतादि व्यवहार का निदान काल है तथा यह अणुरूप है। आकाश एक तथा अनन्त प्रदेश विशिष्ट है। यह छः प्रकार का पदार्थ ही द्रव्यरूप है। निखिल जगत् ही द्रव्यात्मक है। उनमें अणुभिन्न अन्य पाँच द्रव्य अस्तिकाय इस नाम से ख्यात हैं। उन सब का नाम यथा क्रम से जीवास्तिकाय, धर्म्मास्तिकाय अधर्म्मास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और आकाशास्तिकाय हैं।— अनेकदेशवर्त्ती द्रव्यही अस्तिकाय शब्द से अभिहित होता है। वे जीव के मोक्षोपयोगी सप्त पदार्थ का वर्णन करते हैं। ये सप्त पदार्थ यथा—जीव, अजीव, आस्रव, सम्वर, निर्जर, बन्ध और मोक्ष हैं। उनमें से पहले जीव का स्वरूप कहा गया है। जीव ज्ञानादिगुणयुक्त है। जीव का भोग्य पदार्थ-समूह ही अजीव है। जीव जिसके द्वारा विषय में अभिनिविष्ट होता है, उस इन्द्रिय समूह का नाम आस्रव है और जिसके द्वारा जीव का विवेक ढक जाता है वह सम्वर नाम से कहा जाता है। जिसके द्वारा काम, क्रोधादिक निःशेषरूप से जीर्ण हो जाते हैं, उसका नाम निर्जर है। यथा केशोल्लुञ्चन (बालों का नौंचना) और तप्तशिला आरोहणादिक हैं। कर्म्माष्टक के द्वारा आपादित जन्म मरण प्रवाह का नाम वन्ध है। इन आठ कर्म्मों के मध्य में चार तो पापविशेषरूप घातीकर्म्म हैं और चार पुण्य-विशेषरूप अघातीकर्म्म हैं। चार घातीकर्म्मों के द्वारा जीव का स्वाभाविक ज्ञान, दर्शन, वीर्य्य और सुख ये सब विनष्ट हो जाते हैं और अघाती चार कर्म्मों के द्वारा जीव का देहसंस्थान, उसका अभिमान, तत्कृत सुख दुःख में अपेक्षा और उपेक्षा की सिद्धि होती है। निजशास्त्रोक्त साधन-समूह के द्वारा उक्त कर्म्माष्टक से विमुक्ति लाभ होने पर स्वाभाविक आत्मस्वरूप का लाभ होता है। तब जीव उर्द्ध्वगति को प्राप्त होकर अलोक आकाश में स्थित व मुक्त हो जाता है। सम्यक् प्रकार का ज्ञान, सम्यक् प्रकार का दर्शन और सम्यक् प्रकार का चारित्र्य-ये तीनों रत्न ही मुक्ति के साधन हैं। जैनगण सप्तभंगी न्याय के द्वारा इन पदार्थ समूहों का संस्थापन करते हैं। उक्त सप्तभंगी-न्याय ये है—"स्यात् अस्ति" यदि किसी रूप में है, तब है—यह कथञ्चित् अस्तित्व ज्ञापक न्याय प्रथमन्याय है। दूसरा—"स्यान्नास्ति" यदि किसी रूप में है, तब नहीं—यह असत्व विवक्षा सूचक न्याय द्वितीयन्याय है। तीसरा—"स्यादवक्तव्यः" यदि किसी रूप में है, तब अवक्तव्य है यह तृतीयन्याय है जो कि क्रम से प्रथम द्वितीय-न्याय की विवक्षा करता है। चौथा—"स्यादस्ति च नस्ति च" यदि किसी रूप से है, तब है अथवा नहीं है यह चतुर्थ-

चावक्तव्यश्च ५, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च ६, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्चेति ७। स्यादिति कथंचिदित्यर्थे-
ऽव्ययम्। सप्तानां नियमानां भङ्गा विद्यन्ते यस्मिन् प्रतिपाद्यतयेति सप्तभङ्गी। सत्त्वं १, असत्त्वं २, सदसत्त्वं ३,
सदसद्विलक्षणत्वं ४, सत्त्वे सति तद्विलक्षणत्वं ५, असत्त्वे सति तद्विलक्षणत्वं ६, सदसत्त्वे सति तद्विलक्षणत्वं ७,
इति वादिभेदेन पदार्थविषयाः सप्त नियमा भवन्ति। तद्भङ्गार्थमयं न्यायः। स च सर्व्वत्रावश्यकः सर्व्वस्य पदार्थस्य
सत्त्वासत्त्वनित्यत्वानित्यत्वभिन्नत्वाभिन्नत्वादिभिर्धर्म्मैरनैकान्तिकत्वात्। तथाहि यद्येकान्ततो वस्त्वस्त्येव तर्हि सर्व्वदा
सर्व्वत्र सर्व्वात्मनास्त्येवेति न तदीप्साजिहासाभ्यां कथंचित् कदाचित् कुत्रचित् कश्चित् प्रवर्त्तेत निवर्त्तेत वा।
प्राप्तस्याप्राप्तत्वात् हेयहानासम्भवाच्च। अनेकान्तपक्षे तु कथंचित् क्वचित् कदाचित् कस्यचित् केनचिद्रू-
पेण सत्त्वे हानोपादानसम्भवात्। प्रवृत्तिर्निवृत्तिश्चोपपद्येत। द्रव्यपर्य्यायात्मकं किल सर्व्वं वस्तु। तत्र द्रव्यात्मना
सत्त्वादिकमुपपद्येत। पर्य्यायात्मना त्वसत्त्वादिकम्। पर्य्यायास्तु द्रव्यावस्थाविशेषाः। तेषां भावाभावात्मकतया
सत्त्वासत्त्वादेरुत्पत्तिरिति। इह संदिह्यते। आर्हतोक्ता जीवादयः पदार्थास्तथा युज्यन्ते न वेति। सप्तभङ्गिनो न्यायस्य
साधकस्य सत्त्वात् युज्यन्ते इति प्राप्ते परिहरति—

नैकस्मिन्नसम्भवात् ॥ ३३ ॥

नैते पदार्थास्तेन न्यायेनात्मानमुपलब्धुं क्षमाः। कुतः? एकस्मिन्निति। एकस्मिन् धर्म्मिणि युगपत् सत्वादि-

न्याय है। यह एक ही साथ प्रथम द्वितीय न्याय की विवक्षा करता है। सत्व और असत्व एक समय बोलना अशक्य है-ऐसा समुझाने के लिये यह चतुर्थन्याय है। पाँचवाँ "स्यादस्ति चावक्तव्यश्च" यदि किसी रूप में है, तब है अथच वह अवक्तव्य है। यह पञ्चमन्याय है, जो कि प्रथम और चतुर्थ की क्रम विवक्षा करता है। छठा—"स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च" यदि किसी रूप से नहीं है, तब नहीं है अथच अवक्तव्य है। यह षष्ठन्याय है, जो कि—द्वितीय और चतुर्थ की विवक्षा में है। सातवाँ—"स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्चेति" यदि किसी रूप में है, तब है, यदि किसी रूप में नहीं है तब नहीं है अथच दोनों अवक्तव्य हैं। यह सप्तमन्याय है, जो कि प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ की विवक्षा में है। इस सप्तभंगी न्याय में स्यात् शब्द कथञ्चित् अर्थ में अव्ययवाची है। जिसमें सप्त नियमों का अर्थात् सातों युक्तिओं का भंग है उस का ही नाम सप्तभंगीन्याय है। सत्व,असत्व,सदसत्व, सदसद्विलक्षणत्व, सत्व रहने पर भी उसका विलक्षणत्व, असत्व होने पर भी उसका विलक्षणत्व, सत्व और असत्व दोनों होने पर भी उनके विलक्षणत्व—इस प्रकार वादी के भेद से पदार्थ विषयक सातों नियम होते हैं। उनके भंग के लिये यह सप्तभंगीन्याय है। उसका सर्व्वत्र प्रयोजन है। समस्त पदार्थ का ही सत्व और असत्व, नित्य और अनित्यत्व, भिन्नत्व और अभिन्नत्व आदिक धर्म्म समूह के द्वारा अनैकान्तिकत्व अर्थात् अनिश्चयता होने का—कारण इस सप्तभंगी न्याय को स्वीकार करना होगा। क्योंकि यदि वस्तु एकान्त ही है तब सर्व्वदा सर्व्वत्र सर्व्वप्रकार से ही है। प्राप्ति की इच्छा व त्याग की इच्छा के द्वारा किसी रूप से कभी कहीं भी कोई प्रवृत्त वा निवृत्त नहीं होगा। जिस कारण से प्राप्त का अप्राप्यत्व और हेय वस्तु का त्याग की असम्भावना इस प्रकार प्रयुक्त होने में दीखता है। अनेकान्तपक्ष में किसी रूप से कहीं भी कभी किसी का कुछ सत्व रहने से उसके त्याग वा ग्रहण की सम्भावना होती है। एवं उससे प्रवृत्ति व निवृत्ति उपपन्न हो जाती है। समस्त वस्तु ही निश्चय द्रव्य-पर्य्यायात्मक हैं। द्रव्यस्वरूप में समस्त सत्वादि उपपन्न होते हैं। पर्य्यायस्वरूप में असत्वादिक की उपपत्ति होती है। द्रव्य के अवस्थाविशेष का नाम ही पर्य्याय है। पर्य्याय समूह भावात्मक और अभावात्मक उभय रूप है। अतएव उनका सत्व और असत्व उभय संगत है। यहाँ संशय यह है कि आर्हतोक्त जीवादिक पदार्थ-समूह युक्त है किंवा अयुक्त है। सप्तभंगिन्याय के द्वारा अब वे सब साधित हुए हैं, तब वह युक्त है—ऐसा बोलना उचित है—इस प्रकार

विरुद्धधर्म्मसमावेशायोगादेवेत्यर्थः। न ह्येकं वस्त्वेकदा शैत्योष्ण्यभाग् वीक्षते क्वापि। किंच अनेकान्तपक्षे स्वर्ग-नरकमोक्षाणां मिथः सङ्कीर्णत्वात् स्वर्गाय नरकहानाय मोक्षाय च साधनविधिर्व्यर्थः स्यात्। एवं घटादीनामपि तथात्वादुदकार्थी वह्निना प्रवर्त्तेत गृहार्थी तु वायुना। न च तत्र भेदस्यापि सत्त्वादुदकाद्यर्थिनो वह्न्यादितो निवृत्तिरुपपद्येतेति वाच्यं अभेदस्यापि सत्त्वेन प्रवृत्तेरप्यावश्यकत्वात्। अपि च निर्द्धार्याः पदार्था निर्द्धारसाधनानि, भङ्गा निर्द्धारको जीवो निर्द्धारश्च तत्फलं, सर्व्वमेतत् स्यादस्तीत्यादिविकल्पोपन्यासेन सत्त्वासत्त्वादिधर्म्मकतया निश्चितवपुर्भवेदिति लूतातन्तुवत् त्रुट्यमानोऽसौ न्यायः। किमस्य परीक्षया ॥ ३३ ॥

अथात्मनो देहपरिमाणत्वं प्रत्याचष्टे।

एवं चात्माकार्त्स्न्यम् ॥ ३४ ॥

यथैकस्मिन् सत्त्वासत्त्वादिविरुद्धधर्म्मयोगो दोष एवमात्मनोऽकार्त्स्न्यं च सः। तथाहि। देहपरिमाणो जीव इति मतम्। तस्य बालदेहपरिमितस्य युवादिदेहे पर्य्याप्तिर्नस्यात्। मनुष्यदेहपरिमितस्य तस्यादृष्टविशेषलब्धे करिशरीरे च तथा सर्व्वाङ्गीणसुखदुःखानुपलम्भश्च पुनर्मशकदेहेऽसमावेशश्चेति ॥ ३४ ॥

न च पर्य्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥ ३५ ॥

नन्वनन्तावयवस्य जीवस्य बालयुवादिदेहान् करितुरगादिदेहान् वा भजतः क्रमादवयवापगमोपगमाभ्यां वैपरीत्येन च तत्तद्देहपरिमितत्वमविरुद्धमिति चेन्न। कुतः? विकारादिभ्यः। तथा सति जीवे विकारानित्यता

का पूर्व्वपक्ष उठने पर उसका उत्तर देते हैं।—

असम्भावना-प्रयुक्त एक वस्तु में युगपत् विरुद्ध धर्म्म का समावेश नहीं हो सकता है। इस सप्तभंगीन्याय से ये समस्त पदार्थ व्यवस्थापित नहीं हो सकते हैं। क्योंकि एक धर्म्मी में युगपत् सत्व असत्व विरुद्ध धर्म्म का समावेश सम्भव नहीं है। एक ही वस्तु एक ही समय में शीतल और उष्ण हो-ऐसा कभी नहीं देखा जाता है। अनिर्णय सत्व-असत्व पक्ष में भी स्वर्ग-नरक वा मोक्ष का परस्पर मिश्रण होने के कारण स्वर्ग के लिये, नरक से निवृत्ति के लिये वा मोक्ष के लिये साधन-विधि व्यर्थ हो जाती है। और यह भी है कि घटादिकों के मिश्रण हो जाने के कारण उदकार्थी अग्नि में और गृहार्थी वायु में प्रवृत्त हो सकता है। घटादिकों का भेद रहने पर भी उदकादि के अर्थियों का अग्नि आदिक से निवृत्ति युक्त है-ऐसा नहीं बोला जाता है और यह भी है कि अभेद के अस्तित्व से प्रयुक्त प्रवृत्ति आवश्यक हो उठती है। विशेषतः निद्धार्य्य सकल पदार्थ, निर्द्धार साधनभंग-समूह, निर्द्धारक जीव और निर्द्धारण फल ये सब "स्यादस्ति" इत्यादिक विकल्प उपन्यास के द्वारा सत्व-असत्वादिकधर्म्म रूप करके अनिश्चित होते हैं। अतएव ऊर्णनाभ (मँकड़ी) के सूतों की भाँति यह सप्तभंगिन्याय आप ही छिन्न-भिन्न हो जाता है। उस की परीक्षा आवश्यक नहीं है ॥ ३३ ॥

अब आत्मा के देह परिमाणत्व विषय में बोलते हैं—

जिस प्रकार एक ही वस्तु में सत्व-असत्व रूप विरुद्ध धर्म्म का योग दोषावह है, ठीक उसी प्रकार आत्मा का अकार्त्स्न्य धर्म्म दोषयुक्त है। देह परिमाणक जीव यह मत है। जीव को देह-परिमित बोलने पर बालदेह परिमित जीव की युवादि देह में पर्य्याप्ति नही घटती है। कोई मनुष्यदेह परिमित जीव यदि अदृष्टविशेष के वश में—आकर हस्तिदेह प्राप्त करता है तब उसका उस देह में सर्वांगीण सुख, दुःख का अनुपलम्भ और मशकादि शरीर में असमावेश घटता है ॥ ३४ ॥

जीव का अनन्त अवयवत्व स्वीकार कर बाल युवादिक देह वा हस्ति-अश्वादिक देह की प्राप्ति में उसके अवयव के अपगम और उपगम रूप वैपरीत्य के द्वारा उस उस देह-परिमितत्व के सामञ्जस्य का बोध करना युक्तियुक्त नहीं

प्रसङ्गात्। कृतहान्यकृताभ्यागमाभ्यां चेति यत्किञ्चिदेतत्। यत्तु मुक्तिकालिकेन देहाघटितेन नित्येन परिमाणेन विशिष्टे जीवे न विकारादिरिति वदन्ति तच्च मन्दम्। तस्य जन्यत्वाजन्यत्वसत्त्वासत्त्वादि-विकल्पैः स्थैर्य्यासम्भवात् ॥ ३५ ॥

अथ जैनाभिमतां मुक्तिं दूषयति—

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषात् ॥ ३६ ॥

न चेत्यनुवर्त्तते। अन्त्यावस्थितेर्मोक्षावस्थायाश्चाविशेषात्। संसारावस्थातो विशेषाभावान्न युक्तो जैनसिद्धान्तः। अविशेषः कुतः उभयेति। सदोर्ध्वगतिरलोकाकाशस्थितिश्च मुक्तिरुक्ता तयोरुभयोर्मुक्तित्वेन नित्यत्वाङ्गीकारात्। न हि सदोर्ध्वं गच्छन्निराश्रयतया वा तिष्ठन् कश्चित् सुखी भवति। न च सदेहस्य तथात्वं दुःखाय, न तु निर्देहस्येति वाच्यम्। तदावयवस्य च देहवद्भारवत्वात्। न च सा सा च नित्येति शक्यं वक्तुं क्रियात्वेन विनाशध्रौव्यात्। तस्मात्तुच्छमेतज्जैनमतं हासपाटवमवगाहयति लोकानिति। एतेन विश्वं सदसद्भिन्नं औपनिषदमपि ब्रह्म सर्व्वशब्दावाच्यमित्यादिविरुद्धं जल्पन् जैनसखो मायी च दूषितः ॥ ३६ ॥

इदानीं पाशुपतादिमतानि प्रत्याख्याति। तत्र पाशुपता मन्यन्ते। कारणकार्य्ययोगविधिदुःखान्ताः पञ्च पदार्थाः पशुपाशविमोक्षणायेश्वरेण पशुपतिनोपदिष्टाः। तत्र पशुपतिः निमित्तकारणं, महदादि कार्य्यं, ओंकारपूर्व्वको ध्यानादिर्योगः, त्रिसवणस्नानादिर्विधिः, दुःखान्तो मोक्ष इति। एवं गणपतिर्दिनपतिश्चेश्वरो निमित्तकारणं तस्मात्

है क्योंकि उससे जीव के विकारादिक अपरिहार्य्य हो जाते हैं। ऐसा होने पर जीव में विकार की अनित्यता के प्रसंग के कारण कृतहानि और अकृताभ्यागम अनिवार्य्य होते हैं। जीव का मुक्तिकालिक परिमाण देह-अघटित है अतएव नित्य है। एतादृश जीव में विकारादि सम्भव नहीं है—इस प्रकार की उक्ति भी असंगत है क्योंकि यह परिमाण जन्यत्व और अजन्यत्व, सत्व और असत्वादि विकल्पों से अनित्य होता है ॥ ३५ ॥

अब जैनाभिमत मुक्ति का दूषण करते हैं। उभय अवस्था के नित्यत्व होने के कारण मोक्षावस्था की संसारावस्था से कोई विशेषता नहीं है। जैनों के मत में संसारावस्था और मोक्षावस्था दोनों नित्य हैं। जैन-सिद्धान्त में जीव की सर्व्वदा ऊद्र्ध्वगति और अलोक आकाशस्थिति रूप मुक्ति कही गयी है। उभयको मुक्ति के कारण नित्यत्व अंगीकार किया गया है। इसलिये जैनों का संसार और मोक्ष एक ही वस्तु होता है। और यह भी है कि क्या सर्व्वदा उद्र्ध्वगति तथा अलोक आकाश में निराश्रय अवस्था में रहकर कोई सुखी हो सकता है? सदेह जीव की तादृशी अवस्था दुःखकर होने के कारण उसे निर्देह बोला नहीं जा सकता है। क्योंकि उस समय देह की तरह अवयव का भार रहता है। उस ऊद्र्ध्वगति और अलोकाकाश स्थिति को नित्य भी नहीं बोला जा सकता है। क्योंकि क्रिया का विनाश अवश्यम्भावी है। अतएव यह जैनमत तुच्छ है जो कि मनुष्यों में उपहासास्पद हो रहा है। इससे "विश्व-सदसद्विलक्षण और ब्रह्मवस्तु उपनिषद् प्रतिपाद्य होकर भी शब्द का अवाच्य" इत्यादिक विरुद्ध मत के वक्ता जैनसखा मायावादी भी निरस्त हुए हैं ॥ ३६ ॥

अब पाशुपतादि मतों का प्रत्याख्यान किया जाता है। पाशुपत के मत में—कारण, कार्य्य, योग, विधि और दुःखान्त ये पाँच पदार्थ हैं। शैव, सौर और गाणपत्य ये सब पाशुपत सम्प्रदाय कहलाते हैं। पशुपद वाच्य जीवों का पाश विमोक्षण के लिये पशुपति के द्वारा उपदिष्ट मत ही पाशुपत नाम से प्रसिद्ध है। उनके मत में-पशुपति ही संसार का निमित्त कारण है। महदादि पदार्थ-समूह कार्य्य है। ओंकार पूर्व्वक ध्यानादिक योग है। त्रैकालिक स्नानादि विधि है। दुःखान्त ही मोक्ष है। गाणपत मत में गणपति और सौर के मत में सूर्य्य निमित्त कारण है। उस उस देवता की उपासना क्रम से गणपति और सूर्य्य से प्रकृति और काल के द्वारा विश्व की सृष्टि होती है।

शास्माच्च प्रकृतिकालद्वारा विश्वसृष्टिः तदुपासनया तदन्तिकमुपागतस्य जीवस्य दुःखात्यन्तनिवृत्तिर्मोक्ष इति गाणेशाः
तस्माच्च प्रकृतिकालद्वारा विश्वसृष्टिः तदुपासनया तदन्तिकमुपागतस्य जीवस्य दुःखात्यन्तनिवृत्तिर्मोक्ष इति गाणेशाः
सौराश्चाहुः। तत्र संशयः। पाशुपतादिसिद्धान्तो युक्तो न वेति। घटादिकर्तॄणां कुलालादीनां निमित्तत्वस्यैव दर्शना-
त्तदुक्तसाधनैर्मोक्षस्यापि सम्भवात् युक्त इति प्राप्ते—

पत्युरसामञ्जस्यात् ॥ ३७ ॥

नेत्यनुवर्त्तते। पत्युः सिद्धान्तो नोपयुज्यते। कुतः ? असामञ्जस्यात् वेदविरोधात्। वेदः खल्वेकस्यैव नारा-
यणस्य विश्वैकहेतुतां तदन्यस्य ब्रह्मरुद्रादेस्तत्कार्य्यतामभिधत्ते तदर्पितवर्णाश्रमधर्म्मज्ञानभक्तिहेतुकं मोक्षं च।
तथा ह्यथर्व्वसु पठ्यते "तदाहुरेको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा न ईशानो नापो नाग्निसोमौ नेमे द्यावापृथिवी
नक्षत्राणि न सूर्य्यः स एकाकी न रमते, तस्य ध्यानान्तस्थस्य यत्र स्तोममुच्यते तस्मिन् पुरुषाश्चतुर्दश जायन्ते।
एका कन्या, दशेन्द्रियाणि मन एकादशं तेजो द्वादशमहंकारस्त्रयोदशः प्राणाश्चतुर्दश आत्मा पञ्चदशः बुद्धिः
पञ्च तन्मात्राणि पञ्च भूतानि"इत्यादि। तस्य ध्यानान्तस्थस्य ललाटात्र्यक्षः शूलपाणिः पुरुषो जायते बिभ्रच्छ्रियं सत्यं
ब्रह्मचर्य्यं तपो वैराग्यमित्यादि। तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजायतेत्यादि च। तेष्वेवान्यत्र। "अथ पुरुषो ह वै नारा-
यणोऽकामयत प्रजाः सृजेय"इत्यारभ्य "नारायणाद् ब्रह्मा जायते नारायणाद्रुद्रो जायते नारायणात् प्रजापतिः प्रजायते
नारायणादिन्द्रो जायते नारायणादष्टौ वसवो जायन्ते नारायणादेकादशरुद्रा जायन्ते नारायणाद्द्वादशादित्या
जायन्ते" इत्यादि। ऋक्षु च। "अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः। यं कामये तं तमुग्रं
कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधां। अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्त वा उ। अहं जनाय समदं
कृणोमि अहं द्यावापृथिवी अविवेशे"त्यादि। अथ यजुःषु "तमेतं वेदानुवचनेन" इत्यादि। "विज्ञाय प्रज्ञां
कुर्वीत" "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य" इत्यादि च। स्मृतयोऽपि वेदानुसारिण्योऽसकृदेतदर्थमाहुः। ये तु पशुपत्यादयः

के द्वारा जीव उपास्य परमेश्वर का सान्निध्य लाभ करता है। उससे ही उसकी दुःखनिवृत्तिरूपा मुक्ति होती है। यहाँ संशय यह होता है कि ये पाशुपतादिक सिद्धान्त युक्त हैं वा अयुक्त हैं ? घटादि के कर्त्ता कुलालादि के निमित्तत्व दर्शन से तदुक्त साधन के द्वारा मोक्ष की सम्भावना से प्रयुक्त उक्त सिद्धान्त युक्त ही है इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के खण्डनार्थ सूत्रान्तर की अवतारणा करते हैं।—

यहाँ नकार का अनुवर्तन है। पाशुपतादिक सिद्धान्त अयुक्त ही होते हैं। क्योंकि ये सब असामञ्जस अर्थात् वेद-विरुद्ध हैं। वेद में एकमात्र नारायण का विश्वकर्त्तृत्व है उनसे अतिरिक्त ब्रह्म–रुद्रादि देवताओं को कार्य्यत्व रूप से उपदेश है। नारायण के द्वारा उपदिष्ट वर्णाश्रमधर्म्म, ज्ञान और भक्ति मोक्ष का साधन है ऐसा वेद में कहा गया है। अथर्व्वोपनिषद् में पाठ है "एक नारायण ही आदि कर्त्ता थे। ब्रह्मा, ईशान, कुबेर, अग्नि, सूर्य्य, आकाश, पृथिवी प्रभृति कुछ नहीं थे। वे अकेले रमण नहीं करते हैं। ध्यानस्थ उनसे चौदह पुरुष और एक कन्या की सृष्टि हुई। उनसे ग्यारह इन्द्रियाँ, महत्तत्व, अहंकार, जीव, बुद्धि, पञ्च तन्मात्रा और पञ्च महाभूत की उत्पत्ति हुई। ध्यानस्थ उन नारायण के ललाट से त्रिनेत्र, शूलपाणि, रुद्र की उत्पत्ति हुई थी जो कि श्री, सत्य, ब्रह्मचर्य्य, तप और वैराग्य वाले हुए"। "उनसे ही चतुर्मुख ब्रह्मा का जन्म है" "सृष्टि के लिये कामना करने पर उनसे ब्रह्मा, रुद्र, प्रजापति और इन्द्रादिक देवताओं की उत्पत्ति हुई" इत्यादिक नारायणोपनिषद् का वचन है। ऋग्वेद में भी "मैं परमेश्वर स्वयं यह कहता हूँ–देवता और मनुष्यों से मैं युक्त हूँ। जो जिसकी कामना करता है उसे मैं ही देता हूँ। ब्रह्मा, ऋषि, मेधावियों की कामना पूर्ण करने वाला मैं ही हूँ। मैंने कामना करके ही सब की सृष्टि की। रुद्र के लिये त्रिशूल देने वाला मैं हूँ। मैं ही आकाश पृथिवी में व्यापक रूप से रहता हूँ" इत्यादि। यजुर्वेद में भी कहा है"उन नारायण को वेद वचन से"इत्यादि। वेदानुसारिणी समस्त स्मृति भी बार बार इस प्रकार वर्णन करती हैं।

शब्दाः स्ववाच्यानां सर्व्वेशतां सर्व्वकारणतां च प्रकाशयन्तः क्वचिदुपलभ्यन्ते, ते किल नारायणात्मकतादृशास्व-
वाच्यवाचिन एव स्युरुक्तश्रुत्यविरोधात्। समन्वयलक्षणनिर्णयाच्चेति सर्व्वमवदातम्॥ ३७॥

अथ वेदविरोधिनां तेषामनुमानेनैव निमित्तमात्रेश्वरकल्पना। अनुमानिके तथा सति लोकदृष्ट्यनुसारेण सम्बन्धादि वाच्यम्। तच्च विकल्पासहमित्याह—

सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॥ ३८ ॥

पत्युर्जगत्कर्त्तृत्वसम्बन्धो नोपपद्यते अदेहत्वादेव। सदेहस्यैव कुलालादेर्मृदादिसम्बन्धदर्शनात् सम्बन्धोऽनुपपन्नः॥३८॥

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥ ३९ ॥

इयमप्यदेहत्वादेव। सदेहो हि कुलालादिर्धराद्यधिष्ठानः कार्य्यं कुर्व्वन् दृश्यते॥ ३९॥

नन्वदेहस्यैव जीवस्य देहेन्द्रियादि यथाधिष्ठानमेवं पत्युरपि तादृशस्य प्रधानं तत् स्यादिति चेत्तत्राह—

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥ ४० ॥

प्रलये प्रधानमस्ति। तच्च करणमिव क्रियोपकारकमधिष्ठाय पतिर्जगत् कुर्य्यादिति न शक्यं वक्तुं। कुतः ? भोगादिभ्यः। करणस्थानीयप्रधानोपादानहानादिना जन्ममरणप्राप्त्या सुखदुःखभोगानीश्वरत्वप्रसङ्गात्॥ ४०॥

ननु अदृष्टानुरोधेन पत्युः किञ्चिद्देहादिकं कल्प्यम्। दृश्यते ह्यपुण्यो राजा सदेहः साधिष्ठानश्च राष्ट्रस्येश्वरः, न तु तद्विपरीत इति चेत्तत्र दूषणं दर्शयति—

पशुपत्यादिक शब्द-समूह पशुपति आदिक देवताओं का सृष्टिकर्त्तृत्व तथा सर्वकारणत्वादि रूप से वर्णन करते हैं। वे सब अपने को तादृश नारायणात्मक कहते हैं। क्योंकि नारायण ही सबका आत्मा है। इसलिये पशुपत्यादिक के प्रतिपादन करने वाले वेदवाक्य–समूह असंगत नहीं होते हैं। ब्रह्मा–रुद्रादि शब्दों का तात्पर्य्य श्री नारायण में है। अतः नारायण सबका कारण हैं वे सब उनके कार्य्यरूप हैं॥ ३७॥

अब वेदविरोधी वादी-समूह अनुमानमात्र को मूल करके जो सिद्धान्त करते हैं, उसमें दोषारोप किया जाता है। वे सब केवल अनुमान के द्वारा ही विश्व के निमित्त–कारण रूप ईश्वर को स्वीकार करते हैं। वह केवल कल्पना-मात्र है। उनकी उक्त कल्पना की युक्तता स्वीकार करने पर लोकदृष्टि के अनुसार ही सम्बन्धादि स्वीकार करना होता है परन्तु तादृश (उस तरह के) सम्बन्धादि विचारसह नहीं है। अब उसे दिखाते हैं—

बिना देह के कारण से ही ईश्वर का जगत्-कर्त्तृत्व सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता है। देह-विशिष्ट कुलालादि के मृत्तिकादि का सम्बन्ध घटता है। तादृश देह-विशिष्ट कुलालादि के द्वारा ही घटादि का निर्म्माण होता है। जब देह नहीं है तब सम्बन्ध नहीं हो सकता है॥ ३८॥

अधिष्ठान की अनुपपत्ति के कारण ईश्वर का जगत् कर्त्तृत्व असम्भव होता है। ईश्वर देह-रहित है। जिसका देह है,उसका अधिष्ठान है। निर्देह का अधिष्ठान असम्भव है। कुलालादि देह विशिष्ट है तथा पृथिव्यादि अधिष्ठान में अवस्थित होकर ही घटादि कार्य्य का साधन करता है॥ ३९॥

यदि कहो कि देह रहित जीव का देह और इन्द्रियाँ जिस प्रकार अधिष्ठान होते हैं, ईश्वर का भी उसी-प्रकार प्रधान–अधिष्ठान है। इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष का उत्तर दिया जाता है—

प्रलयकाल में प्रधान विद्यमान रहता है। इन्द्रिय की भाँति क्रिया-साधना को अधिष्ठान कर ईश्वर जगत् की सृष्टि करते हैं। ऐसा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उससे ईश्वर में भोगादि आ जाता है। कारण स्थानीय प्रधान के स्वीकार तथा त्याग से जन्म और मरण जनित सुख दुःखादि भोग आ पड़ने के कारण ईश्वर का अनीश्वरत्व प्रसंग हो जाता है॥ ४०॥

अन्तवत्त्वमसर्व्वज्ञता वा ॥ ४१ ॥

न हि कर्म्माधीनस्य सार्व्वज्ञ्यं
एवं सति देहादिसम्बन्धघटितमन्तवत्त्वं तस्य जीववत् स्यात् असार्व्वज्ञ्यं च। न हि कर्म्माधीनस्य सार्व्वज्ञ्यं
युज्यते। तथा चाविनाशी सर्व्वज्ञश्चेत्यभ्युपगमक्षतिः। न चैवं ब्रह्मवादे कोऽपि दोषः तस्य श्रुतिमूलत्वात्। दर्शितं
चेदं श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वादित्यत्र। पतीनां स्वातन्त्र्यमिह निरस्तम्। तदीयत्वेन सत्कारस्त्वङ्गीक्रियते। एवं च पाशु-
पतादित्रिमतीपरिहारार्थमेषा पञ्चसूत्री परिहारहेतुसामान्यात्। अतः पत्युरित्यविशेषोल्लेखः। तार्किकादिसम्मते-
श्वरकारणतानिरासार्थं सेत्यन्ये ॥ ४१ ॥

अथ शक्तिवादं दूषयति। सार्व्वज्ञ्यसत्यसङ्कल्पादिगुणवती शक्तिरेव विश्वहेतुरिति शाक्ता मन्यन्ते। तत्सम्भवेन्न
वेति विचिकित्सायां तादृश्या तया विश्वसृष्ट्युपपत्तेः सम्भवेदिति प्राप्ते प्रत्याचष्टे—

उत्पत्त्यसम्भवात् ॥ ४२ ॥

नेत्याकर्षणीयम्। इहापि वेदविरोधादनुमानेनैव शक्तिकारणता कल्पनीया। तेन लोकदृष्ट्यैव युक्तिर्वक्तव्या।
ततश्च शक्तिर्विश्वजनयित्रीति नोपपद्यते। कुतः ? केवलायास्तस्यास्तदुत्पत्त्ययोगात्। न हि पुरुषाननुगृहीताभ्यः
स्त्रीभ्यः पुत्रादयः सम्भवन्तो वीक्ष्यन्ते लोके। सार्व्वज्ञ्यादिकं त्वप्रेक्षाभिहितं लोकेऽदर्शनात् ॥ ४२ ॥

अथास्ति शक्तेरनुग्रहकर्त्ता पुरुषस्तेनानुगृहीता तु सा तद्धेतुरिति मतम्। तत्राह—

अच्छा ? अदृष्ट के अनुरोध से ईश्वर के किञ्चत् देहादिक कल्पित हों। लोक में ऐसा देखा जाता है कि पुण्य-कर्म्मा समस्त राजा देहधारी हैं। वे निज अधिष्ठानभूत राष्ट्र के अधीश्वर हैं। उनसे विपरीत धर्म्माक्रान्त व्यक्ति का राजा होना नहीं देखा जाता है। इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष का उत्तर देते हैं—

ऐसा कहने पर ईश्वर का जीव की तरह देहादि-सम्बन्धघटित अन्तवत्व तथा असार्वज्ञ्यत्व घटता है। जो कर्म्माधीन है, उसका सर्वज्ञत्व नहीं घट सकता है। कर्म्माधीन कहने पर शास्त्रोक्त अविनाशी और सर्वज्ञादि शब्दों की हानि होती है। ब्रह्म-कर्तृत्ववाद में भी इस प्रकार का दोष आ सकता है—ऐसा नहीं कह सकते हो। क्योंकि वह श्रुतिमूलक है। "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इत्यादि सूत्र में ब्रह्मकर्तृत्वादि को श्रुतिमूलकत्व रूप से दिखलाया गया है। यहाँ प्रजापतियों का स्वातन्त्र्य भी निरस्त हुआ है। ब्रह्म सम्बन्धित होने के कारण उनका सत्कार अवश्य स्वीकार करना होगा। इस प्रकार पाशुपतादि मतत्रय के परिहारार्थ इन पंचसूत्र की अवतारणा जाननी चाहिए। परिहार प्रणाली के समान रूप होने का कारण यह है कि एक साथ तीनों मत का परिहार किया गया है। इसलिये अविशेष में तीनों के लिये पतिशब्द का उल्लेख हो रहा है। यह पंचसूत्री समस्त तार्किकादि के ईश्वर-कर्तृत्व निरास के लिये समझनी चाहिए ॥ ४१ ॥

अब शक्तिवाद का दूषण देते हैं। शाक्तगण के मत में सार्वज्ञ्यादिगुण-विशिष्टा शक्ति से ही जगत् की उत्पत्ति होती है। वह वस्तुतः सम्भव है वा असम्भव है इस प्रकार के संशय में जब शक्ति एतादृशी गुणशालिनी है तब उससे विश्व की सृष्टि होती है यह सम्भव है—इस प्रकार पूर्व्वपक्षी के मत के खण्डनार्थ परवर्त्ती सूत्र का उल्लेख करते हैं। शक्तिवाद में भी वेदविरुद्ध अनुमान के द्वारा शक्ति की कारणता की कल्पना की गयी है। अतएव उस विषय में लौकिकयुक्ति का प्रयोग करना उचित हो रहा है। शक्ति ही विश्वजनयित्री है—ऐसा मानने पर पूर्व्व की तरह यह पक्ष उपपन्न नहीं होता है। केवल शक्ति से ही विश्व की उत्पत्ति असम्भव है। पुरुष-संसर्ग के बिना केवल स्त्री से पुत्रादिक की उत्पत्ति कभी किसी ने नहीं देखी है। इसलिये शक्तिका अनुग्राहक पुरुष अवश्य स्वीकार्य्य है॥४२॥

शक्ति का अनुग्रहकर्त्ता पुरुष है और उससे अनुगृहीता शक्ति है—इस प्रकार बोलने पर भी दोष का निस्तार नहीं है। इस विषय में कहते हैं—

न च कर्त्तुः करणम् ॥ ४३ ॥

यदि शक्त्यनुग्राहकः पुरुषोऽप्यङ्गीकार्य्यस्तर्हि तस्यापि विश्वोत्पत्त्युपयोगिदेहेन्द्रियादि करणं नास्तीति नानुग्रहोपपत्तिः। सति च तस्मिन् प्रागुक्तदोषानतिवृत्तिः ॥ ४३ ॥

ननु नित्यज्ञानेच्छादिगुणकोऽसाविति चेत् तत्राह—

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥ ४४ ॥

तस्य पुरुषस्य नित्यज्ञानेच्छादिकरणमस्तीति चेत्तर्हि तदप्रतिषेधो ब्रह्मवादान्तर्भावः। तत्र तादृशात् पुरुषाद्विश्वसृष्ट्यङ्गीकारात् ॥ ४४ ॥

शक्तिमात्रकारणतावादस्तु निःश्रेयसकामैरनादरणीय एवेत्युपसंहरति—

विप्रतिषेधाच्च ॥ ४५ ॥

सर्व्वश्रुतिस्मृतियुक्तिविरोधात्तुच्छः शक्तिवादः। "श्रुतयः स्मृतयश्चैव युक्तयश्चेश्वरं परम्। वदन्ति तद्विरुद्धं यो वदेत्तस्मान्न चाधम" इति हि स्मृतिः। चशब्देनोत्पत्त्यसम्भवादिति हेतुः समुच्चितः। तदेवं सांख्यादिवर्त्मनां दोषकण्टकवैशिष्ट्यात् तद्रहितं वेदान्तवर्त्मैव श्रेयोऽर्थिभिरास्थेयमिति ॥ ४५ ॥

॥ इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥ २ ॥

यदि शक्ति अनुग्राहक पुरुष को स्वीकार किया जाता है तो भी पुरुष के विश्व-उत्पत्ति के उपयोगी देह-इन्द्रियादिक करण नहीं है। इसलिये अनुग्रह किस प्रकार उठ सकता है। देह-इन्द्रियादिकों के स्वीकार करने पर प्रागुक्त दोष समूह आ जाते हैं ॥ ४२ ॥

यदि पूर्वोक्त दोषों के परिहार के लिये पुरुष को नित्येच्छादि गुण-विशिष्ट बोलते हैं तो उसका उत्तर देते हैं—

पुरुष को नित्यज्ञानादि गुणशाली बोलने पर यह मत ब्रह्मवाद के अन्तर्गत आ जाता है। क्योंकि ब्रह्मवाद में तादृश पुरुष से ही विश्व की सृष्टि स्वीकृत हुई है ॥ ४४ ॥

मुक्तिकामी के लिये शक्तिमात्र कारणताबाद आदरणीय नहीं हो सकता है। ऐसा कह कर द्वितीय अध्याय का उपसंहार करते हैं—

समस्त श्रुति-स्मृति से विरुद्ध होने के कारण शक्तिवाद तुच्छ होता है। स्मृति में कहा गया है—श्रुति, स्मृति और युक्ति ही ईश्वर का परत्व निर्देश करते हैं। जो उसका विरुद्ध बाद उठाता है वह नराधम है। "च" शब्द के द्वारा शक्ति के कर्तृत्व को स्वीकार करने से विश्व की उत्पत्ति का असम्भावना है—यह ध्वनित होता है। इसलिये श्रेयस्काम व्यक्ति-समूह को दोष कण्टक से युक्त सांख्यादि मार्ग का परित्याग कर वेदान्तमार्ग का आश्रय लेना चाहिए ॥ ४५ ॥

॥ गोविन्दभाष्य का अनुवाद में द्वितीय अध्याय का द्वितीयपाद ॥

॥ तृतीयपादः ॥

व्योमादिविषयां गोभिर्विमतिं विजघान यः । स तां मद्विषयां भास्वान् कृष्णः प्रणिहनिष्यति ॥१॥

प्रधानादिवादानां युक्त्याभासमयता द्वितीये पादे प्रदर्शिता । तृतीये तु सर्व्वेश्वरात् तत्त्वानामुत्पत्तिस्तेनैव तेषां विलयो, जीवानां त्वनुत्पत्तिर्ज्ञानवपुषां तेषां ज्ञानाश्रयत्वं परमाणुता ज्ञानद्वारा व्याप्तिः कर्त्तृत्वं ब्रह्मांशता, मत्स्याद्यवताराणां साक्षादीश्वरत्वमदृष्टादिहेतुका जीववैचित्री चेत्ययमर्थनिचयो विरोधिवाक्यपरिहारेणोपपाद्यते । इह प्रधानमहदहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियवियदादिरूपेण सृष्टिक्रमः सुबालादिश्रुतिसिद्धो मुख्यः । तैत्तिरीयादिक्रमेण वियदादितस्तद्विचारस्तु विसम्वादविनाशायेति स्पष्टमुपरिष्टाद्भविष्यति । छान्दोग्ये "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्"इत्युपक्रम्य "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत, तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत ता आप ऐक्षन्त बह्वयः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त"ति पठ्यते । अत्र तेजोऽबन्नानि प्रजातानीत्युक्तम् । इह भवति विमर्शः । वियत् प्रजायते न वेति संशये श्रुत्यभावान्न प्रजायत इति शङ्कते ।

न वियदश्रुतेः ॥ १ ॥

नित्यं वियन्न प्रजायते । कुतः ? अश्रुतेः । छान्दोग्यगतभूतोत्पत्तिप्रकरणे तस्याश्रवणात् । तत्र तदैक्षतेत्यादिना त्रयाणामेव तेजोऽबन्नानामुत्पत्तिः श्रूयते, न तु वियतोऽतस्तन्नोत्पद्यत इत्यर्थः ॥ १ ॥

एवं प्राप्तौ निरस्यति—

अस्ति तु ॥ २ ॥

तुशब्दः शङ्कापनोदनार्थः । अस्त्युत्पत्तिर्वियतः । छान्दोग्ये तस्याश्रवणेऽपि "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यो महती पृथिवीति तैत्तिरीयके श्रवणात् ॥ २ ॥

जिन कृष्णद्वैपायन रूप सूर्य्य ने निज वाक्य रूप किरणों के द्वारा लोगों का आकाशादि-विषयक-विमति-तमोराशि का नाश किया है वे वैमुख्य निवारण पूर्व्वक हमारे भी सान्मुख्य विधान करें ॥ १ ॥

द्वितीयपाद में प्रधानादि वादों का युक्ति के द्वारा आभासमय रूप दिखाया गया है । इस तृतीयपाद में सर्वेश्वर भगवान् से तत्वों की उत्पत्ति, उनके द्वारा ही तत्वों का विनाश, जीवों की उत्पत्ति-शून्यता, ज्ञानस्वरूप उस जीव-समूह का ज्ञानाश्रयत्व तथा परमाणुरूपत्व,ज्ञान के द्वारा व्याप्तित्व, कर्त्तृत्व,ब्रह्म-अंशत्व,मत्स्यादि अवतारों का साक्षात् ईश्वरत्व, जीवों का अदृष्टादि हेतुक वैचित्र्य इत्यादिक अर्थ-समूह, विरोधी वाक्यों के परिहार के द्वारा प्रतिपादित होगा । यहाँ प्रधान, महत्तत्व, अहंकार, पञ्च तन्मात्र और आकाशादि रूप से सुबालादिश्रुति–सिद्ध सृष्टिक्रम मुख्य है । तैत्तिरीयादि श्रुति के अनुसार आकाशादि से सृष्टिक्रम का विचार केवल विसंवाद परिहार के लिये ही समझना चाहिए । यह आगे स्पष्ट रूप से प्रदर्शित होगा । छान्दोग्य में "हे सौम्य ! यह विश्व पहले सत् रूप था" इस प्रकार उपक्रम कर "उन्होंने ईक्षण के द्वारा संकल्प किया मैं प्रजासृष्टि के लिये बहु होऊँगा । उन्होंने तेज की सृष्टि की, उन्होंने जल की सृष्टि की, उन्होंने अन्न की सृष्टि की" इत्यादिक पाठ है । इन स्थलों में यथाक्रम तेज, जल, तथा अन्न की सृष्टि कही गयी है । यहाँ परामर्श यह है–आकाश की उत्पत्ति है किंवा नहीं ? श्रुति प्रमाण के असद्भाव के कारण आकाश की उत्पत्ति नहीं है–ऐसा बोध होता है । इस प्रकार की आशंका में पूर्व्वपक्ष यह है कि श्रुतिप्रमाण के असद्भाव-निबन्धन के कारण आकाश की उत्पत्ति स्वीकार नहीं की जाती है । आकाश नित्य है अतः उसकी उत्पत्ति नहीं है । आकाश की उत्पत्ति के पक्ष में श्रुतिप्रमाण का अभाव है । छान्दोग्यश्रुति में जो भूतोत्पत्ति प्रकरण है, उसमें आकाश की उत्पत्ति नही कही गयी है किन्तु उसमें तेज, जल तथा अन्न की उत्पत्ति कही गयी है । अतः आकाश की उत्पत्ति नहीं होती है ॥ १ ॥

पुनः शङ्क्यते—

गौण्यसम्भवाच्छब्दाच्च ॥ ३ ॥

न खलु वियदुत्पत्तिः सम्भावयितुमपि शक्या जीवत्सु श्रीमत्कणभक्षाक्षचरणचरणोपजीविषु । या तूत्पत्तिः श्रुतिभिरुदाहृता सा किल "कुर्व्वाकाशं जातमाकाशं" इत्यादिलोकोक्तिवद्गौणी भविष्यति । कुतः ? असम्भवात् । नहि निराकारस्य विभोर्वियतः सम्भवेदुत्पत्तिः कारणसामग्रीविरहाच्छब्दाच्च । वायुश्चान्तरीक्षं चैतदमृत"मिति बृहदारण्यकवाक्याच्च तस्योत्पत्तिर्नास्तीति मन्तव्यम् ॥ ३ ॥

यदि कश्चिद्ब्रूयादेक एव सम्भूतशब्दोऽग्निप्रभृतावनुवर्त्तमानो मुख्य आकाशे पुनर्गौणः कथमिति, तं प्रत्याह—

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥ ४ ॥

यथा भृगुवल्ल्यां "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मे"त्येकस्मिन्नेव वाक्ये एकस्यैव ब्रह्मशब्दस्य ब्रह्मविज्ञानसाधने तपसि गौणत्वं विज्ञेये ब्रह्मणि तु मुख्यत्वमेवं सम्भूतशब्दस्यापि स्यात् । तस्माच्छान्दोग्याश्रवणादितःक्वाचित्की वियदुत्पत्तिश्रुतिर्वाध्यते ॥ ४ ॥

एवं प्राप्तौ पुनः परिहरति—

प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥ ५ ॥

येनाश्रुतं श्रुतं भवतीत्यादि छान्दोग्यश्रुत्या कृता या प्रतिज्ञा तस्या अहानिः कृत्स्नस्यार्थस्य ब्रह्माव्यतिरेकात्

इस प्रकार पूर्व्वपक्ष प्राप्त होने पर उसका निराकरण करते हैं । आकाश की उत्पत्ति है–इस विषय में आशंका नहीं उठ सकती है । "तु" शब्द शंका दूर के लिये है । आकाश की उत्पत्ति अवश्य है । छान्दोग्य में नहीं कहे जाने पर भी "इस ब्रह्म से आकाश की उत्पत्ति, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी की उत्पत्ति हुई है–इस प्रकार का पाठ तैत्तिरीय श्रुति में देखने में आया है ॥ २ ॥

पुनर्वार पूर्व्वपक्षी शंका करता है कि वैशेषिक और नैयायिक ये दोनों पक्षों के जीवित रहते हुए आकाश की उत्पत्ति नहीं कल्पना की जा सकती है । श्रुति के द्वारा आकाश की उत्पत्ति जो कही गयी है वह "आकाश को करो" "आकाश हुआ" इत्यादि लौकिक उक्ति की तरह गौण है । क्योंकि आकाश की उत्पत्ति सम्भव नहीं है । निराकार और विभु स्वरूप आकाश की उत्पत्ति नितान्त असम्भव है । यदि आकाश कार्य्य है तो उसका कारण कौन है ? जिसका कारण नहीं है, वह कभी कार्य्य नहीं हो सकता है । विशेष करके बृहदारण्यकश्रुति में आकाश को नित्य रूप में कहा गया है । अतएव आकाश की उत्पत्ति नहीं है–यही स्थिर हुआ है ॥ ३ ॥

यदि कोई कहे कि इस तैत्तिरीयश्रुति में एक ही सम्भूत शब्द अग्नि आदिक में मुख्यरूप से अनुवर्त्तमान होकर फिर आकाश में किस प्रकार गौण रूप से प्रवर्त्तमान होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं—

ब्रह्म शब्द की भाँति एक का मुख्यभाव और गौणभाव दोनों सम्भव होता है । जैसा कि भृगुवल्ली में "तपस्या के द्वारा ब्रह्म जिज्ञासा करो" "तपस्या ही ब्रह्म" इन दोनों स्थल में एकमात्र ब्रह्म ब्रह्मविज्ञान की साधन रूपा तपस्या में गौण तथा विज्ञेयरूप ब्रह्म में मुख्यभाव से अनुवर्त्तमान है, ठीक उसी प्रकार सम्भूत शब्द को जानना चाहिए । अतएव छान्दोग्य में जब आकाश की उत्पत्ति नहीं है, तब अन्य किसी स्थल पर जो आकाश की उत्पत्ति सुनने में आती है, वह गौण है ॥ ४ ॥

इस प्रकार पूर्व्वपक्ष के परिहारार्थ परवर्त्ती सूत्र की अवतारणा करते हैं—ब्रह्म के अव्यतिरेक में प्रतिज्ञा का भंग नहीं होता है । विशेष करके यह श्रुतिसम्मत भी है । निखिल वस्तु यदि ब्रह्म व्यतिरेक से असिद्ध हैं तब छान्दोग्य का जिसके श्रवण में अश्रुत भी श्रुत होता है–इत्यादि वाक्य में जो प्रतिज्ञा की गयी है उसकी रक्षा होती

सम्पद्यते। व्यतिरेके तु सति सा विहीयेतैव। तदव्यतिरेकस्तु तदुपादानकत्वनिबन्धनः। तस्मादेकविज्ञानेन सर्व्व-विज्ञानं प्रतिजानन्त्या तया वियदुत्पत्तिरङ्गीकृता। तथा शब्देभ्यश्च "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयमैतदा-त्म्यमिदं सर्व्व"मित्यादिभ्यस्तद्गतेभ्यः प्राक् सर्गादेकत्वं परत्र तादात्म्यं च निरूपयद्भ्यः सा स्वीकार्य्या ॥ ५ ॥

ननु वाचकाभावात् कथमत्र सा वक्तुं शक्या तत्राह—

यावद्विकारन्तु विभागो लोकवत् ॥ ६ ॥

तुशब्दः शङ्काप्रहाणाय। ऐतदात्म्यमिदं सर्व्वमित्यत्र यावद्विकारं विभागो निरूपितः। प्रधानमहदादयो यावन्तो विकाराः सुवालादिश्रुत्यन्तरोक्तास्तेषां सर्व्वेषामेव विभागस्तयाऽपि बोधित इत्यर्थः। दृष्टान्तमाह लोकेति। लोके यथैते सर्व्वे चैत्रात्मजा इत्युक्त्वा तेषु केषांचिदेव चैत्रादुत्पत्तौ कीर्त्तितायां तस्मादेव सर्व्वेषामुत्पत्तिर्व्विदिता स्यात्तथेहाप्यैतदात्म्यमिदं सर्व्वमित्यनेन सर्व्वाणि प्रधानमहदादीनि तत्त्वानि सदुत्पन्नान्युक्त्वा तेषु तेजोऽब-न्नानां सत उत्पत्तौ कीर्त्तितायां सर्व्वेषां तेषां तस्मादुत्पत्तिर्विदिता भवतीति। तथा च वाचकाभावेऽप्यार्थिकी विय-दुत्पत्तिरत्र गम्येति। विभाग उत्पत्तिः। यत्तु गौण्यसम्भवाच्छब्दाच्चेत्युक्तं तन्न अचिन्त्यशक्तेरुत्पादकसामग्र्याः श्रवणात्। अमृतत्वन्त्वापेक्षिकमेवोत्पत्तिविनाशश्रवणात्। एवमनुमानाच्च तस्योत्पत्तिविनाशौ निश्चिनुमः। विय-दुत्पद्यते भूतत्वाद् विनश्यति चानित्यगुणाश्रयत्वादग्निवदित्युभयत्रान्वयदृष्टान्तः। यन्नैवं तन्नैवं यथात्मेत्युभयत्र व्यतिरेकदृष्टान्तश्च। एतेन स्याच्चैकस्येत्यपि निरस्तम्। तस्मान्नव्यो न व्योमजन्माभ्युपगमः ॥ ६ ॥

वायौ पूर्व्वोक्तमर्थमतिदिशति—

है। अर्थात् ब्रह्म यदि समस्त का कारण है, ब्रह्म के बिना यदि कोई वस्तु नहीं है तब एकमात्र ब्रह्म का श्रवण करने से सकल वस्तु का श्रवण सिद्ध होता है इत्यादिक प्रतिज्ञा की रक्षा हो सकती है। ब्रह्म के बिना यदि आकाशादि वस्तु है तब उक्त प्रतिज्ञा भंग होती है। ब्रह्म सबका उपादान है, ब्रह्म के बिना उपादान असिद्ध है। अतएव ब्रह्म-ज्ञान से सबका ज्ञान करके श्रुति आकाश की उत्पत्ति स्वीकार करती है। और यह भी है कि सृष्टि के पहले एकमात्र ब्रह्म था" इस प्रकार कह कर पश्चात् समस्त वस्तु ही ब्रह्मात्मक रूप हैं—ऐसा निरूपण कर श्रुतियाँ आकाश की उत्पत्ति स्वीकार करती हैं ॥ ५ ॥

यदि कहो कि वाचक के अभाव में यहाँ किस प्रकार आकाश की उत्पत्ति कही जा सकती है ? इस विषय में कहते हैं कि लौकिक व्यवहार की भाँति श्रुति में भी विकारपर्य्यन्त विभाग किया गया है। "तु" शब्द शंका-निरास के लिये है। "ऐतदात्म्यमिदं सर्व्वं" इत्यादि श्रुति में विकार पर्य्यन्त विभाग का निरूपण है। सुवालादिश्रुति में भी प्रधान महदादिक समस्त विकार का ही विभाग किया गया है ऐसा समझना चाहिए। लौकिक व्यवहार में भी इस प्रकार देखने में आता है। ये सब चैत्र के पुत्र हैं इस तरह बोलने पर उनमें से फिर किसी २ की चैत्र से उत्पत्ति का कीर्त्तन करने से समस्त की उत्पत्ति स्वीकार की जाती है, ठीक उसी प्रकार समस्त ही ब्रह्म से उत्पन्न हैं—ऐसा कहकर पश्चात् प्रधान महत्तत्व आदिक विकारों का ब्रह्म से उत्पन्न होना कहने से आकाशादि की उत्पत्ति भी निर्द्धा-रित होती है। अतएव (जहाँ) स्पष्ट रूप से आकाश की उत्पत्ति नहीं कही जाने से भी वहाँ इस रूप से आकाश की उत्पत्ति मानी जावेगी। विभाग शब्द का अर्थ उत्पत्ति है। तृतीयसूत्र में आकाश की उत्पत्ति को जो गौण कहा गया है वह अयुक्त है। कारण यह है कि परब्रह्म की अचिन्त्यशक्ति हीं आकाशादि उत्पादन की सामग्री है। तो भी कहाँ आकाश का नित्यत्व जो सुना जाता है वह आपेक्षिकमात्र है। क्योंकि जिसकी उत्पत्ति और विनाश है वह कभी नित्य नहीं हो सकता है। इस प्रकार अनुमान से भी आकाश की उत्पत्ति और विनाश का निश्चय किया जाता है। भूतमात्र की उत्पत्ति है। आकाश भूत मध्य में गण्य है। अतएव उसकी उत्पत्ति है। जो

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥ ७ ॥

एतेन वियज्जन्मव्याख्यानेन मातरिश्वा तदाश्रितो वायुरपि कार्य्यतयोक्त इत्यर्थः। इहाप्येवमङ्गानि बोध्यानि। वायुर्नोत्पद्यते छान्दोग्येऽनुक्तेः। अस्त्युत्पत्तिराकाशाद्वायुरित्युक्तेस्तैत्तिरीयके गौण्युत्पत्तिरमृतत्वश्रुतेः, प्रतिज्ञानु-रोधादैतदात्म्यमिदं सर्व्वमिति सर्व्वेषां ब्रह्मकार्य्यत्वोक्तेश्च छान्दोग्येऽपि वायोरुत्पत्तिर्बोध्येति सिद्धान्तः। अमृतत्वं त्वापेक्षिकमित्युक्तम्। योगविभागस्तेजः सूत्रे मातरिश्वपरामर्शार्थः ॥ ७ ॥

अथ सदेवसौम्येदमित्यादौ संदेहान्तरम्। सद्ब्रह्माप्युत्पद्यते न वेति। कारणानामपि प्रधानमहदादीनामु-त्पत्त्यभिधानात् सदप्युत्पद्यते तस्यापि कारणत्वाविशेषादित्येवं प्राप्तौ—

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥ ८ ॥

तुशब्दः शङ्काच्छेदे निश्चये वा। सतो ब्रह्मणः सम्भवः उत्पत्तिर्नैवास्ति। कुतः ? अनुपपत्तेः। हेतुविरहि-णस्तस्य तदयोगादित्यर्थः। अत एवं श्रुतिराह। "स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिप" इति। न च कारणत्वादुत्पत्तिमदित्यनुमातुं शक्यं श्रुत्यानुमानबाधात्। मूलकारणस्य स्वीकार्य्यत्वात्तदभावेऽन-वस्थापाताच्च। यन्मूलकारणं तत् त्वमूलमेव। मूले मूलाभावादिति। इह ब्रह्मोत्पत्तिशङ्कापरिहारेणैवं ज्ञाप्यते। ब्रह्मैव

अनित्य गुण का आश्रय है उसका नाश भी है। आकाश अनित्य गुण के आश्रय होने के कारण अवश्य विनाशी है। अग्नि के सदृश बोलने से उभय स्थल में अन्वय दृष्टान्त प्रदर्शित है। जिसमें भूतत्व नहीं है वा जो अनित्य गुण के आश्रय रूप नहीं है, वह नित्य है। जैसा कि आत्मा है। अर्थात् आत्मा ही व्यतिरेक दृष्टान्त रूप है। इस से चतुर्थसूत्रोक्त युक्ति खण्डित हुई है। अतएव आकाश की उत्पत्ति यह नवीन मत नहीं है ॥ ६ ॥

अब वायु में भी उक्त सिद्धान्त का अतिदेश करते हैं।—

इस आकाश की व्याख्या के द्वारा वायु की भी व्याख्या हुई। आकाश के कार्य्यरूप कथन से उसके आश्रित वायु का भी कार्य्यरूपत्व स्थिर हो जाता है। यहाँ विचार पूर्व्वप्रकार से जानना चाहिए। छान्दोग्य में अनुक्त होने के कारण वायु की उत्पत्ति अस्वीकार्य्य है। तैत्तिरीयक में जो वायु की उत्पत्ति देखने में आई है, वह गौण है। कारण यह है कि वायु का अमृतत्व सुनने में आता है। यह पूर्व्वपक्ष है। प्रतिज्ञा के अनुरोध से और समस्त ही ब्रह्म का कार्य्य है इस प्रकार वचन के अनुरोध से छान्दोग्य में भी वायु की उत्पत्ति संकेत की गयी है—यह सिद्धान्त है। अमृतत्व आपेक्षिक मात्र है। तेजः सूत्र में जो योग विभाग कहा गया है वह मातरिश्व परामर्शार्थ है।७

"सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" इत्यादि स्थल में सन्देहान्तर आ पड़ता है। संशय यह है कि—सत्स्वरूप ब्रह्म उत्पन्न होता है किम्वा नहीं। महदादिक कारण-समूह की जब उत्पत्ति स्वीकृत हुई है तब ब्रह्म की उत्पत्ति स्वीकृत हो जाती है। क्योंकि ब्रह्म कारण से विशेष वस्तु नहीं है। इस प्रकार पूर्व्वपक्ष उठने पर बोलते हैं—

अनुपपत्ति के वश सत्स्वरूप पदार्थ की उत्पत्ति असम्भव है। "तु" शब्द शङ्कानिरास व निश्चयार्थ में है। सत्स्वरूप ब्रह्म की उत्पत्ति असम्भव है। इसका हेतु यह है कि—जिसका कारण नहीं है उस की उत्पत्ति अयुक्त है। इसलिये ही श्रुति बोलती है—वे कारण के कारण और लोकपाल समूह के भी पति हैं। उन का कोई कारण व अधिपति नहीं है। उनके कारण होने के हेतु उनकी उत्पत्ति का अनुमान नहीं किया जा सकता है। श्रुति ही उक्त अनुमान का बाधक है। एक मूलकारण अवश्य स्वीकार करना होता है, नहीं तो अनवस्था की आपत्ति आ जाती है। मूल कारण स्वयं मूलरहित होता है। मूल का फिर मूल नहीं रह सकता है। यहाँ ब्रह्म की उत्पत्ति की शङ्का के परिहार के द्वारा यह जाना जाता है कि ब्रह्म पदार्थ परम कारण होने से स्वयं उत्पत्ति रहित है तथा

परमकारणत्वादुत्पत्तिशून्यं तदन्यदव्यक्तमहदादिकन्तु सर्व्वमुत्पत्तिमदेव । खादिजन्मनिरूपणं तूदाहरणार्थमिति॥८॥

एवं प्रासङ्गिकं समाप्य तेजोविषयकं श्रुतिविरोधं परिहरति । तत्तेजोऽसृजतेति ब्रह्मजत्वं तेजसः श्रुतम् । वायोरग्निरिति तु वायुजत्वम् । तत्र वायोरिति पञ्चम्या आनन्तर्य्यार्थत्वस्यापि सम्भवात् ब्रह्मजं तदिति प्राप्ते—

तेजोऽतस्तथा ह्याह ॥ ९ ॥

अतो मातरिश्वनः सकाशात्तेज उत्पद्यते । तथाहि श्रुतिराह । वायोरग्निरिति । इदमत्र बोध्यम् । अनुवर्त्तमानसम्भूतशब्दान्वितत्वेन वायोरिति पञ्चम्या अपादानार्थत्वमेव मुख्यं क्लृप्तत्वात् । आनन्तर्य्यार्थत्वं तु भाक्तं कल्प्यत्वात् । ततश्च मुख्यमेव न्याय्यत्वाद् ग्राह्यम् । एवमपि वक्ष्यमाणयुक्त्या ब्रह्मजत्वं च न विरुध्यते ॥ ९ ॥

अथापामुत्पत्तिमाह । तत्र यद्युभयत्राप्यग्नेरेव तदुत्पत्तिरुक्ता तथापि विरुद्धात्तस्मात् सा न युज्येतेति कस्यचित् शङ्का स्यात् । तामपनेतुं सूत्रारम्भः ।

आपः ॥ १० ॥

अतस्तथाह्याहेत्यनुवर्त्तते । आपोऽतस्तेजस उत्पद्यन्ते । हि यतस्तथा श्रुतिराह । तदपोऽसृजतेत्यग्नेराप इति च । न हि वाचनिकेऽर्थे न्यायोऽवतरति । छान्दोग्ये तूपपादिका युक्तिरपि दृश्यते ।"तस्मात् यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते" इति ॥ १० ॥

"ता आप ऐक्षन्त बह्वयः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्ते"त्यत्र विचारान्तरम् । किमनेनान्नशब्देन यवादिकं ग्राह्यं किं वा पृथिवीति । "तस्मात् यत्र क्वचन वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायत" इति तत्रैव युक्तिप्रदर्शनाद्रूढेश्च यवादिकमिति प्राप्ते—

ब्रह्मातिरिक्त अव्यक्त महदादिक तत्व-समूह उत्पत्ति-विशिष्ट है । आकाशादि की उत्पत्ति निरूपण केवल उदाहरण के लिये जानना चाहिए ॥ ८ ॥

इस प्रकार प्रासंगिक विचार को समाप्त कर तेज विषयक श्रुतिविरोध का परिहार करते हैं । "उन्होंने तेज की सृष्टि की" इत्यादि श्रुति में ब्रह्म से ही तेज की उत्पत्ति सुनने में आती है । फिर "वायोरग्निः" इत्यादि श्रुति से वायु को ही तेज का कारण करके बोध होता है । यहाँ वायु शब्द में जो पञ्चमी विभक्ति है उसका अर्थ अनन्तर में भी सम्भव हो सकता है । अतएव तेज वायु से उत्पन्न हुआ है–इस तरह बोध होवे–इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के खण्डनार्थ कहते हैं—

वायु से ही तेज की उत्पत्ति होती है । "वायोरग्निः" इस प्रकार श्रुतिवाक्य ही देखने में आता है । यहाँ इस प्रकार की विवेचना करनी होगी । अनुवर्त्तमान सम्भूतशब्द के साथ रहने से "वायोः" इस पञ्चमी विभक्ति का अपादानार्थ ही मुख्य है । आनन्तर्य्यार्थ कल्पना के कारण गौण है । अतएव न्याय संगत होनेके कारण मुख्यार्थ ही ग्राह्य है । ऐसा होने पर वक्ष्यमाण युक्ति के अनुसार तेज का ब्रह्मजत्व विरुद्ध नहीं होता है ॥ ९ ॥

अब जल की उत्पत्ति बतलाते हैं । यद्यपि अग्नि से जल की उत्पत्ति कही गयी है तो भी विरुद्ध तेज से जल की उत्पत्ति असंगत होती है–इस प्रकार की शङ्का उठ सकती है । अतएव उसके दूरीकरण के लिये परवर्त्तीसूत्र की अवतारणा करते हैं ॥—

अग्नि से ही जल की उत्पत्ति हुई है । क्योंकि श्रुति में इस प्रकार कहा गया है । "उन्होंने जल की सृष्टि की" "अग्नि से जल की उत्पत्ति हुई" ऐसे श्रुति के वचन हैं । वाचनिक अर्थ में न्याय की अवतारणा नहीं हो सकती है । छान्दोग्य में तदुपपादिका युक्ति भी देखने में आती है । इसलिये ही जब पुरुष ने शोचा है तब उसका अश्रु पतित हुआ–इस प्रकार का श्रुति वाक्य मौजूद है ॥ १० ॥

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥ ११ ॥

पृथिव्येव ग्राह्या न तु यवादि । कुतः ? अधिकारेत्यादेः । तत्तेजोऽसृजतेति महाभूतानामेवाधिकारात् यत् कृष्णं तदन्नस्येति पार्थिवरूपत्वात् अद्भ्यः पृथिवीति श्रुत्यन्तराच्चेत्यर्थः । एवं सति तस्माद् यत्र क्वचनेत्यादिकं तु हेतुफलयोरैक्यविवक्षया सङ्गमनीयम् ॥ ११ ॥

वियदादिक्रमेण तत्वसृष्टिविमर्शो विसम्वादपरिहारार्थैव कृतः । प्रधानमहदादिरूपेण तद्विमर्शस्तु जन्मादिसूत्रेणैव सिद्धः । अथ तस्मिन् विशेषं वक्तुमारभते । सुवालोपनिषदि पठ्यते—"तदाहुः किं तदासीत् तस्मै सहोवाच न सन्नासन्न सदसदिति तस्मात्तमः सञ्जायते तमसो भूतादिर्भूतादेराकाशमाकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी तदण्डमभवत्" इति । इह तमआकाशयोरन्तरालेऽक्षराव्यक्तमहद्भूतादितन्मात्रेन्द्रियाणि क्रमेण बोध्यानि । सन्दग्ध्वा सर्व्वाणि भूतानि पृथिव्यप्सु प्रलीयते । आपस्तेजसि लीयन्ते । तजो वायौ विलीयते । वायुराकाशे विलीयते । आकाशमिन्द्रियेष्विन्द्रियाणि तन्मात्रेषु तन्मात्राणि भूतादौ विलीयन्ते । भूतादिर्महति विलीयते महानव्यक्ते विलीयते अव्यक्तमक्षरे विलीयते । अक्षरं तमसि विलीयते । तम एकीभवति परस्मिन् । परस्मात् न सन्नासन्न सदसत्" इत्यग्रिमलयवाक्यानुरोधात् । एतच्चापाततो वस्तुतस्तु भूतादिशब्देनाहङ्कारस्त्रिविधः । तस्मात्

"ताः आपः ऐक्षन्त बह्वयः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त"इत्यादि श्रुति में विचारान्तर का प्रयोग दिखलाते हैं—यहाँ पहले संशय यह है कि इस स्थल में अन्नशब्द से यवादिक का बोध होता है किम्वा पृथिवी का ? अनन्तर "जहाँ वर्षण होता है वह प्रचुर अन्न रूप से परिणत होता है" "जल से ही अन्नादि की उत्पत्ति होती है" इत्यादि वाक्य से युक्ति के कारण तथा रूढ़ि के वश अन्नशब्द से यवादिक को ही जानना होगा–इस प्रकार के पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं —

.अधिकार रूप और शब्दान्तर के द्वारा अन्नशब्द से पृथिवी ही प्राप्त होती है, यवादिक नहीं । क्योंकि "तत्तेजोऽसृजत" यहाँ महाभूतों का अधिकार दीखने में आता है । "यत् कृष्णं तदन्नस्य" इस स्थल में जो कृष्ण रूप कहा गया है वह पार्थिव रूप है । और भी "अद्भ्यः पृथिवी"इस प्रकार का श्रुत्यन्तर का वचन भी देखने में आया है । इन सब कारणों से अन्न शब्द के द्वारा पृथिवी को ही जानना चाहिए । ऐसा होने पर "यत्र क्वचन" प्रभृति वाक्य समूह हेतु और फल की ऐक्यविवक्षा से संगमनीय होता है ॥ ११ ॥

विवाद परिहारार्थ आकाशादि क्रम से तत्वसृष्टि का विचार किया गया है । प्रधान महदादि क्रम से सृष्टि का विचार "जन्मादि" सूत्र के द्वारा ही सिद्ध होता है । तदनन्तर उस विषय में विशेष बोलने के लिये प्रकरणान्तर का आरम्भ करते हैं । सुवालोपनिषद् में पाठ है कि शिष्यगण गुरु से जिज्ञासा करते हैं कि सृष्टि के पहले अविनाशी वस्तु क्या थी ? गुरु कहते हैं–सृष्टि के पहले तेज आदिक स्थूलवस्तु वा प्रधानादि सूक्ष्मवस्तु अथवा स्थूल, सूक्ष्म दोनों नहीं थे। उस समय स्थूल-सूक्ष्म उभय विलक्षण तमः शक्तिक ब्रह्म ही विराजमान था। उससे तमः की उत्पत्ति हुई अर्थात् तमःशक्ति ब्रह्म के द्वारा अधिष्ठित होकर प्रधानशरीर अक्षरशब्द प्राप्त क्षेत्रज्ञ की अभिव्यञ्जक दशा में अभिमुखी हुई । इस अक्षर क्षेत्रज्ञ से त्रिगुणमय अव्यक्त उत्पन्न हुआ । अव्यक्त से महत्तत्वादिक उत्पन्न हुए । महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी–उत्पन्न हुए । इस प्रकार ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ है । पूर्व्वोक्त तम और शेषोक्त आकाश ये दोनों के मध्य में अक्षर, अव्यक्त, महत्तत्व, अहंकार, पञ्च तन्मात्र और इन्द्रियादि की यथाक्रम से उत्पत्ति जाननी चाहिए । समस्तभूतों के विनाश में–पृथिवी जल में, जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में, आकाश इन्द्रियों में, इन्द्रियाँ तन्मात्रा में, तन्मात्रासमूह अहंकार में, अहंकार महत्तत्व में, महत्तत्व अव्यक्त में, अव्यक्त अक्षर में, अक्षर तमः शक्ति

सात्त्विकात् मनो देवताश्च । राजसादिन्द्रियाणि । तामसात्तु तन्मात्रद्वाराकाशादीनीति बहुव्याख्यानुसारात् । श्रीगो-पालोपनिषदि च "पूर्व्वं ह्येकमेवाद्वितीयं ब्रह्मासीत् । तस्मादव्यक्तं व्यक्तमेवाक्षरं तस्मादक्षरात् महान् महतो वा अहङ्कारस्तस्मादहङ्कारात् पञ्च तन्मात्राणि तेभ्यो भूतानि तैरावृतमक्षरं भवति" इति । तत्र संशयः । प्रधा-नादीनि स्वानन्तरतत्त्वादुपजायन्ते उत साक्षादेव सर्व्वेश्वरादिति । शब्दस्वारस्यात् स्वानन्तरतत्त्वादेवेति प्राप्ते —

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् सः ॥ १२ ॥

शङ्काच्छेदाय तुशब्दः । स तम आदिशक्तिकः सर्व्वेश्वर एव प्रधानादीनां पृथिव्यन्तानां कार्य्याणां साक्षाद्धेतुः । कुतः ? तदभीति । सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेत्यादौ तस्यैव तच्छक्तिकस्य प्रधानादिबहुभवनसङ्कल्पात् लिंगात् ब्रह्मैव तमःप्रभृतीनि प्रविश्य:प्रधानादिरूपेण तानि परिणमयति । यस्य पृथिवी शरीरमित्यादिश्रुतेरन्तर्य्यामि-ब्राह्मणाच्च ॥ १२ ॥

विपर्य्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥ १३ ॥

तुशब्दोऽवधारणे । "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्व्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथिवी विश्वस्य धारिणी"ति मुण्डकादिश्रुतौ सुबालश्रुत्यादिदृष्टात् प्रधानमहदादिक्रमात् विपर्य्ययेण यः क्रमः साक्षात् सर्व्वेश्व-रानन्तर्य्यरूपः सर्व्वेषां प्राणादिपृथिव्यन्तानां प्रतीयते स खल्वतः सर्व्वेश्वरादेव तत्तद्वस्तुशक्तिकात् तत्तत्कार्य्यो-त्पत्तेरुपपद्यते । अन्यथा शब्दस्वारस्यभङ्गः । सर्व्वेश्वरस्य सर्व्वोपादानत्वं सर्व्वस्रष्टृत्वं तद्विज्ञानेन सर्व्वविज्ञानं व्याकुप्येत् । जडैः प्रधानादिभिस्तत्तत् परिणामासम्भवश्चेति चशब्दात् । तस्मात् स एव सर्व्वत्र साक्षाद्धेतुरिति॥१३॥

में और तमःशक्ति परब्रह्म में विलीन हुए । "परब्रह्म से अतिरिक्त स्थूल सूक्ष्म कुछ नहीं था" इस अग्रिम लय-वाक्य के अनुरोध से इस प्रकार सृष्टि-प्रलयक्रम को स्वीकार किया जाता है । परन्तु भूतादिशब्द से त्रिविध अहं-कार, उनमें से सात्विक अहंकार से मन और देवता, राजस अहङ्कार से सकल इन्द्रिय तथा तामस अहंकार से तन्मात्रा के द्वारा समस्त आकाशादिभूत उत्पन्न होते हैं । इस तरह सर्व्वत्र व्याख्या देखने में आती है । श्रीगोपा-लोपनिषद् में भी कहा गया है—"पहले एक अद्वितीय ब्रह्म ही था । उससे अव्यक्त अर्थात् त्रैगुण्यशरीर व्यक्तत्वभि-मत अक्षर, अक्षर से महत्तत्व, महत्तत्व से अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्रा, तन्मात्रा से भूतसमूह उत्पन्न होते हैं" । इन पञ्चीकृत भूतों से अक्षर अर्थात् जीव आवृत होता है । यहाँ संशय यह है कि—प्रधानादि तत्वसमूह निज अव्यवहित पूर्ववर्त्ती तत्व-समूह से उत्पन्न होते हैं अथवा साक्षात् परमेश्वर से उत्पन्न होते हैं ? शब्दस्वारस्य के हेतु स्वानन्तर तत्वों से उत्पत्ति को स्वीकार करना होता है । इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं—उस ब्रह्म के संकल्प से ही जब उत्पत्ति है, तब ब्रह्म ही कारण है । शंकाच्छेद के लिये "तु" शब्द है । वह तमः-आदि शक्ति समन्वित सर्वेश्वर ही प्रधानादि पृथिव्यन्तकार्य्यसमूह का साक्षात् कारण हैं । क्योंकि उनके बहु होऊँगा इस प्रकार के संकल्प से सब की उत्पत्ति देखने में आती है । वे ही तमः प्रभृति शक्ति के मध्य में प्रविष्ट होकर उन सबको प्रधानादि रूप से परिणाम प्राप्त कराते हैं । "जिसका पृथिवी शरीर है" इत्यादि श्रुति से अन्तर्य्यामि ब्राह्मण से इस प्रकार का सिद्धान्त किया जाता है ॥ १२ ॥

विपर्य्यय रूप से जो क्रम देखने में आता है उससे भी ब्रह्म का कारणत्व उपपन्न होता है । "तु" शब्द अव-धारण में है । इन से ही प्राण, मन, इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथिवी की उत्पत्ति है" इत्यादि मुण्ड-कादि श्रुति में सुबालोपनिषदादि-दृष्ट प्रधानमहदादि क्रम के विपर्य्यय से साक्षात् सर्व्वेश्वर का आनन्तर्य्य रूप जो क्रम देखा जाता है, वह तत्तद् वस्तु शक्तिक सर्व्वेश्वर से तत्तत् कार्य्य की उत्पत्ति के वश उपपन्न होता है । नहीं

आशङ्क्य परिहरति—

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ॥ १४ ॥

विज्ञानशब्देनात्मेन्द्रियाणि भण्यन्ते । सर्व्वेषां तत्त्वानां साक्षात् सर्व्वेशादुत्पत्तिरभिध्यानलिंगादवगता एतस्मा-दिति श्रुत्या निश्चीयते इति न सम्भवति, तस्याः क्रमविशेषपरत्वात् । आकाशादिषु श्रुत्यन्तरसिद्धः क्रमस्तयापि खं वायुरित्यादिना प्रतीयते । तल्लिङ्गात् तैः सह पाठलिङ्गात् । भूतप्राणयोरन्तराले तेनैव क्रमेण विज्ञानमनसी च प्रजायेते इत्यवबुद्ध्यते । अतस्तया श्रुत्या सर्व्वेषां तत्त्वानां साक्षात् सर्व्वेशादुत्पत्तिर्निश्चेतुं न शक्येति चेन्नः । कुतः ? अविशेषात् । तस्यां सर्व्वेषां प्राणादिपृथिव्यन्तानां साक्षात् सर्व्वेशाजातत्वाभिधानस्य समानत्वादित्यर्थः । एतस्मादित्येनन हि सर्व्वे प्राणादयः सम्बध्यन्ते । अयं भावः । सोऽकामयत बहुस्यामित्यादेरेतस्मात् जायते प्राण इत्या-देश्च श्रवणात् , "अहं सर्व्वस्य प्रभवो मत्तः सर्व्वं प्रवर्त्तते" । "तत्र तत्र स्थितो विष्णुस्तत्तच्छक्तिं प्रबोधयेत् । एक एव महाशक्तिः कुरुते सर्व्वमञ्जसा" इत्यादिस्मृतेश्च सर्व्वाणि प्रधानादीनि साक्षात् सर्व्वेशोद्भवानीति मन्तव्यम् । न चैवं सुबालश्रुत्यादिदृष्टक्रमविरोधः । तम-आदिशक्तिमान् प्रधानादिकार्य्यहेतुरिति तत्र विवक्षितत्वात् । तथा चोभयं सूपपन्नम् । तदेवं सति तत्तेजोऽसृजतेत्यत्र तत्तमः प्रभृतिशक्तिकं ब्रह्म प्रधानादिवाय्वन्तं सृष्ट्वा तेजो-ऽसृजतेति तस्माद्वा इत्यत्र तत्तस्मा तमःप्रभृतिशक्तिकात् सम्भावितप्रधानादिकादात्मनः सर्व्वेशादाकाशः सम्भूत इति सङ्गमनीयम् ॥ १४ ॥

तो शब्दस्वारस्य-भंग होता है । क्योंकि सर्व्वेश्वर का समस्त-उपादानत्व, सकल-स्रष्टृत्व और उनके विज्ञान से-सर्व्वविज्ञान आदिक असंगत हो जाता है । च शब्द के द्वारा जड़ प्रधानादि कर्त्तृक वह वह परिणाम भी असम्भव होता है । अतएव सर्व्वेश्वर ही सकल का साक्षात् कारण हैं ॥ १३ ॥

पुनः आशंका उठाकर उसका परिहार करते हैं । सहपाठरूप लिंग से अन्तराल में विज्ञान और मन के क्रम से समस्त तत्व की उत्पत्ति साक्षात् सर्व्वेश्वर से है—यह निश्चय नहीं किया जाता है—इस प्रकार का वचन असंगत है, क्योंकि उक्त श्रुतिसमूह की उस विषय में कोई विशेषता नहीं है । विज्ञान शब्द से आत्मा तथा इन्द्रिय-समूह कहा जाता है । "एतस्मात्" इत्यादि श्रुति के द्वारा सकलतत्वों की ही साक्षात् सर्व्वेश्वर से उत्पत्ति अभिध्यान—लिंग से निश्चय की जाती है । इस प्रकार बोलना सम्भव नहीं है । यह श्रुति क्रम विशाष पर है । आकाशादिक में श्रुत्य-न्तरसिद्ध क्रम उस उस श्रुति का "खं वायुः" इत्यादि वचन के द्वारा प्रतीत होता है । उन सब के साथ एकत्र पाठ रूप लिंग से भूत और प्राण के अन्तराल में उक्त क्रम से विज्ञान तथा मन उत्पन्न होता है—यह प्रतीत हो जाता है । अतएव उक्त श्रुति के द्वारा तत्वों की उत्पत्ति साक्षात् सर्व्वेश्वर से निश्चय की नहीं जा सकती है—इस प्रकार नहीं कहा जाता है । क्योंकि उस श्रुति में भी प्राणादि पृथिव्यन्त तत्वों की साक्षात् सर्व्वेश्वर से उत्पत्ति वचन का कोई विशेष नहीं देखने में आता है । "एतस्मात्" इस वाक्य के साथ प्राणादि सकल का सम्बन्ध है । इसका तात्पर्य्य यह है कि—"उन्होंने बहु होऊँगा इस प्रकार कामना की" "उनसे ही प्राण की उत्पत्ति हुई" इत्यादि श्रुति तथा "मैं ही सब की उत्पत्ति का कारण हूँ" "मुझ से ही सबकी उत्पत्ति है" "विष्णु वहाँ वहाँ रहकर उस उस शक्ति को-प्रबोधन करते हैं" इत्यादि स्मृति से प्रधानादि तत्व समूह साक्षात् सर्व्वेश्वर से उत्पन्न होते हैं यह जानना चाहिए । इससे सुबालोपनिषदादि दृष्ट क्रम का कोई विरोध नहीं होता है । जिससे तम आदि शक्तिमान् सर्व्वेश्वर को ही प्रधानादि कार्य्यों का कारण रूप कहा गया है । अतएव दोनों ही सम्यक् रूप से घटते हैं । इस प्रकार होने पर-"तत्तेजोऽसृजत" इत्यत्र उस तमः प्रभृति शक्तियों से समन्वित ब्रह्म ने प्रधानादि वायु-अन्त की सृष्टि कर तेज की सृष्टि की इत्यादि तथा "तस्माद्वा" यहाँ पर उन उन तमः प्रभृति शक्तियों से समन्वित, सम्भावित प्रधानादि तत्व

नन्वेवं सर्व्वेश्वरो हरिरेव चेत् सर्व्वात्मकस्तर्हि सर्व्वेषां चराचरवाचिनां शब्दानां तद्वाचकतापत्तिः । न च सा तेषां समस्ति चराचरेषु मुख्यव्युत्पन्नत्वात् । स्वीकृतायां च तस्यां गौणी तेषां तस्मिन् प्रवृत्तिरित्याशङ्क्याह—

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात् तद्व्यपदेशोऽभाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥ १५ ॥

तुशब्दः शङ्कानिरासार्थः । चराचरव्यपाश्रयस्तद्व्यपदेशो जङ्गमस्थावरशरीरवाचकस्तत्तच्छब्दो भगवत्यभाक्तो मुख्यः स्यात् । कुतः ? तद्भावेति । तद्भावस्य सर्व्वेषां शब्दानां भगवद्वाचक-भावस्य शास्त्रश्रवणादूर्द्ध्वं भविष्यत्वात् । तद्बुद्धेरुदेष्यत्वादिति यावत् । श्रुतिश्चैवमाह । "सोऽकामयत बहुस्यां" "स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति" इत्यादिना । स्मृतिश्च "कटकमुकुटकर्णिकादिभेदैः कनकमभेदमपीष्यते यथैकम् । सुरपशुमनुजादिकल्पनाभिर्हरिरखिलाभिरुदीर्य्यते तथैक" इत्याद्या । अयं भावः । शक्तिवाचकाः शब्दाः शक्तिमति पर्य्यवस्यन्ति शक्तीनां तदात्मकत्वादिति ॥ १५ ॥

सर्व्वं यस्मादुत्पद्यते यस्य मूलकारणत्वादुत्पत्तिर्नास्ति स परमात्मेतीश्वरो निरूपितः । अथ जीवं निर्णेतुमुपक्रमते । तस्य तावदुत्पत्तिर्निरस्यते । "यतः प्रसूता जगतः प्रसूतिस्तोयेन जीवान् व्यससर्ज भूम्यामिति" तैत्तिरीयके, "सन्मूलाः सौम्येमाः सर्व्वाः प्रजा" इति चान्यत्र श्रूयते । अत्र जीवस्योत्पत्तिरस्ति न वेति संशये चिज्जडात्मकस्य जगतः कार्य्यत्वावगमात् व्यतिरेके प्रतिज्ञाभङ्गाच्चास्तीति प्राप्ते—

स्वरूप, परमात्मा सर्व्वेश्वर से ही आकाश सम्भूत होता है–इस प्रकार संगति करनी होगी ॥ १४ ॥

अच्छा ? सर्व्वेश्वर हरि ही यदि सर्व्वात्मक हुए हैं तब तो चर-अचर वाची समस्त शब्दों की ही तद्वाचकापत्ति आ पड़ती है । परन्तु इन सकल शब्द की श्रीहरिवाचकता देखने में नहीं आती है । ये सब चर-अचर में मुख्यरूप से व्युत्पन्न होते हैं । ऐसा स्वीकार करने पर इन सब शब्दों की सर्व्वेश्वर में गौणी प्रवृत्ति होती है–इस प्रकार की आशंका उठने पर कहते हैं—

तद्भावभावित्व के कारण चराचरव्यपाश्रय व्यपदेश गौण न होकर मुख्य होता है । "तु" शब्द शङ्का निराकरण के लिये है । चरचरवाची अर्थात् स्थावर जंगमवाची सकल शब्द भगवान् में मुख्य हैं, गौण नहीं हैं । कारण यह है कि शब्द-समूह का भगवद्वाचक भाव शास्त्र श्रवण के पश्चात् होता है । तादृश ज्ञान ही उद्देश्य है । श्रुति में भी इस प्रकार कहा गया है । उन्होंने संकल्प किया "मैं बहु होऊगा", वासुदेव ही पर पुरुष हैं । उनसे अतिरिक्त कुछ नहीं है । स्मृति में भी कहा गया है । कटक, मुकुट और कर्णिकादि अलंकार भेद से जिस प्रकार सुवर्ण का भेद नहीं है ठीक उसी प्रकार देवता,पशु और मनुष्यादि भेद से श्रीहरि का भेद नहीं है । देवतादि अखिलशब्द के द्वारा श्रीहरि ही कहे जाते हैं । इसका तात्पर्य्य यह है कि शक्ति वाचक शब्द-समूह शक्तिमान् में हीं पर्य्यवसित होते हैं । शक्ति-समूह शक्तिमान् से अतिरिक्त वस्तु नहीं है ॥ १५ ॥

जिनसे समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिनकी मूलकारणरूप उत्पत्ति नहीं है, वे परमात्मा ईश्वर करके निरूपित हैं । अब जीव का निर्णय प्रारम्भ किया जाता है । पहले जीव की उत्पत्ति का निरासन किया जाता है । तैत्तिरीय-श्रुति में इस प्रकार कहा गया है । "तमःशक्ति सम्पन्न ब्रह्म से जगत्-प्रसूति ब्रह्मशक्ति और महदादि क्षितिपर्य्यन्त स्वोत्पन्न तत्व-समूह के द्वारा जगदण्ड में देहेन्द्रिय विशिष्ट जीव की उत्पत्ति हुई" । अपरापर श्रुति में भी देखा गया है "हे सौम्य ! सकल जीव ही सत्स्वरूप परब्रह्म से उत्पन्न हैं" । अब जीव की उत्पत्ति है किम्वा नहीं है ? इस प्रकार का संशय उठता है । जड़ात्मक जगत् के कार्य्यत्वावगम के हेतु व्यतिरेक में प्रतिज्ञा-भंग के कारण जीव की उत्पत्ति है–ऐसा पूर्व्वपक्ष स्थिर होता है । उसके उत्तर में कहते हैं—

नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥ १६ ॥

आत्मा जीवो नैवोत्पद्यते । कुतः ? श्रुतेः । "न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चित् न बभूव कश्चित् । अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे" इति काठके । "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावि"ति श्वेताश्वतरश्रुतौ चाजत्वश्रवणात् । तथा ताभ्यः श्रुतिस्मृतिभ्यो नित्यत्वप्रतीतेश्च । चेतनत्वं चशब्दात् । तास्तु "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां" "अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराण" इत्याद्याः । एवं सति जातो यज्ञदत्तो मृतश्चेति योऽयं लौकिको व्यवहारो, यश्च जातकर्म्मादिविधिः, सतु देहाश्रित एव भवेत् । "स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाण" इति बृहदारण्यकात् । "जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत"इति छान्दोग्याच्च । कथं तर्हि श्रुतिप्रतिज्ञानुपरोधः । इत्थं जीवस्यापि कार्य्यत्वात् तदुत्पत्तिरिति । सूक्ष्मोभयशक्तिकं ब्रह्मैवावस्थान्तरापन्नं कार्य्यं नाम । इयांस्तु विशेषः । प्रधानादेरचेतनस्य भोग्यजातस्य स्वरूपेणान्यथाभावो जीवस्य तु भोक्तुर्ज्ञानसंकोचविकाशात्मनेति । उभयत्रापि कार्य्यहेत्वोरैक्यात् सा नोपरुध्यते । श्रुतयश्चाञ्जस्यं भुञ्जीरन् । तस्माज्जीवस्योत्पत्तिर्नेति ॥ १६ ॥

अथास्य स्वरूपं विचारयति । "यो विज्ञाने तिष्ठन्" इति "सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिष" इति च श्रूयते । तत्र ज्ञानमात्रस्वरूपो जीव उत ज्ञानज्ञातृस्वरूप इति संशये ज्ञानमात्रस्वरूपः सः, यो विज्ञाने तिष्ठन्नित्यत्र तथैव प्रत्ययात् । ज्ञानं तु बुद्धेरेव धर्म्मस्तया सम्बन्धे तत्राध्यस्यते सुखमहमस्वाप्समिति । एवं प्राप्ते—

श्रुति और स्मृति के द्वारा आत्मा के नित्यत्व के श्रवण होने के कारण उसकी उत्पत्ति स्वीकार नहीं की जा सकती है । जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता है । "जीव का जन्म वा मृत्यु नहीं । जीव नित्य और अज है । शरीर का नाश होने पर भी जीवात्मा का नाश नहीं है" इस प्रकार काठक श्रुति कहती है । " परमात्मा और जीवात्मा दोनों अज तथा ईशान हैं" इस प्रकार श्वेताश्वतर श्रुति से भी जीव का नित्यत्व प्रतीत होता है । "च" शब्द के द्वारा आत्मा के चेतनत्व का भी बोध होता है । "नित्यों का नित्य, चेतनों का चेतन, अज, नित्य, शाश्वत, पुराण–इस प्रकार कहने वाली श्रुति तथा स्मृति उसका प्रमाण हैं । इस प्रकार स्थिर होने पर"यज्ञदत्त का जन्म हुआ, यज्ञदत्त मर गया" ऐसा जो लौकिक व्यवहार तथा जीव की जातकर्म्मादि विधि-समूह देह के आश्रय से होता है । "जीव जन्म समय में शरीर को प्राप्त करता है तथा मृत्युकाल में शरीर से निकल जाता है" इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति से और "जीव की मृत्यु नहीं, जीव से पृथक् प्राप्त शरीर की ही मृत्यु है" इत्यादि छान्दोग्यश्रुति से इस तरह विदित होता है । अच्छा, कार्य्यत्व के हेतु जीव की उत्पत्ति है । इस प्रकार श्रुतिप्रतिज्ञा का उपरोध किस प्रकार सम्भव होगा ? उसकी मीमांसा यह है–तमः शक्तिसम्पन्न और जीवशक्तिसम्पन्न ब्रह्म ही अवस्थान्तर प्राप्त होकर कार्य्यस्वरूप में कहे जाते हैं । इसका विशेष यह है–प्रधानादि अचेतन भोग्य वस्तु-समूह का स्वरूपतः परिणाम होता है तथा भोक्ता जीव के ज्ञान के संकोच और विकाश रूप से परिणाम होता है । उभय स्थल में कार्य्य और कारण का ऐक्य के हेतु उक्त श्रुतिप्रतिज्ञा का उपरोध नहीं हो सकता है । श्रुतिसमूह मुख्यार्थता को प्राप्त होते हैं । अतएव जीव की उत्पत्ति नहीं है ॥ १६ ॥

अब जीव का स्वरूप विचार करते हैं । "जो विज्ञान में ठहरता हुआ" इस श्रुति से जीव की ज्ञानरूपता, तथा "मैं सुख पूर्व्वक निद्रा में लीन हो गया था, कुछ नहीं जाना" इस श्रुति से उसका ज्ञानविशिष्टत्व अवगत होता है । यहाँ संशय यह है कि वह जीव ज्ञानमात्रस्वरूप है अथवा ज्ञातृस्वरूप है । प्रथम श्रुति देखने पर जीव का ज्ञानरूपत्व स्थिर होता है । यह ज्ञान बुद्धि का धर्म्म है । परवर्त्ती श्रुति में जीव का जो ज्ञातृस्वरूपत्व व्यक्त हो रहा है वह बुद्धि के साथ सम्बन्ध के हेतु जीव में उपचार रूप से है–ऐसा जानना चाहिए इस प्रकार पूर्व्वपक्ष का उत्तर

ज्ञोऽत एव ॥ १७ ॥

ज्ञ एवात्मा, ज्ञानरूपत्वे सति ज्ञातृस्वरूप एव। "एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता रसयिता घ्राता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुष" इति 'षट्प्रश्नीश्रुतेरेवेत्यर्थः। श्रुतिबलादेव तथा स्वीकृतं, न तु युक्तिबलात्। श्रुतेस्तु शब्द-मूलत्वादिति हि नः स्थितिः। "ज्ञाता ज्ञानस्वरूपोऽयमि"ति स्मृतेश्च। न चात्मा ज्ञानमात्रस्वरूपः सुखमहमिति सुप्तोत्थितपरामर्शानुपपत्तेः ज्ञातृत्वश्रुतिविरोधाच्च। तस्मात् ज्ञानस्वरूपो ज्ञातेति॥ १७॥

अथास्य परिमाणं चिन्तयति। मुण्डके "एषो अणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा सम्विवेश" इति पठ्यते। इह संशयः। जीवो विभुरणुर्व्वेति। तत्र विभुरेव जीवः। तं प्रकृत्य महानिति श्रुतेस्तथैव वादिभिरभ्युपगमाच्च। अणुत्वं तु बुद्धिगतं तत्रोपचर्य्यते। एवं प्राप्तौ—

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥ १८ ॥

अत्राणुरिति पदमूह्यं परत्र नाणुरिति पूर्व्वपक्षत्वात्। पञ्चम्यर्थे षष्ठी। :परमाणुरेवायं जीवो न विभुः। कुतः? उत्क्रान्त्यादिभ्यः। "तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते। तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्द्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्य" इति। "अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति अविद्वांसोऽबुधो जना" इति। "प्राप्यान्तं कर्म्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्यम्। तस्मात् लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्म्मणे" इति च वृहदारण्यकश्रुत्या जीवस्योत्क्रान्त्यादयो निगदिताः। न च सर्व्वगतस्तस्य ताः सम्भवेयुः। "अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्व्वगतास्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथे"त्यादिका हि स्मृतिः। परेशस्य तु विभोरपि गत्यादिकमचिन्त्यत्वात् न विरुद्धम्॥ १८॥

यह है—आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानरूपत्व होने पर भी ज्ञातृस्वरूप है। क्योंकि "यह ही द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, रसयिता, घ्राता, मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता, विज्ञानात्मा पुरुष है" इत्यादि षट्प्रश्नीश्रुति में ऐसा कहा गया है। आत्मा का उभयरूपत्व श्रुति बल से ही स्वीकार किया जाता है, युक्तिबल से नहीं। श्रुति का शब्दमूलत्व ही हम सब का सिद्धान्त है। स्मृति में भी जीव का ज्ञातृस्वरूप तथा ज्ञानस्वरूप उभय प्रकार का कहा गया है। अन्यथा आत्मा केवल ज्ञान मात्र स्वरूप है यदि ऐसा मानोगे तब "मैं सुख पूर्व्वक सोया था, कुछ नहीं जाना" यहाँ जो सुप्तोत्थित परामर्श है उसकी उपपत्ति नहीं हो सकती है और भी ज्ञातृत्वश्रुति का विरोध आ जाता है। अतएव जीव ज्ञानस्वरूप होकर भी ज्ञातृस्वरूप है—यह स्थिर हुआ है॥ १७॥

अब जीव का परिणाम विचार करते हैं। मुण्डकोपनिषद् में "यह आत्मा अणुरूप है" इत्यादि वचन के द्वारा आत्मा को अणु परिमाणक रूप से कहा गया है। उस विषय में संशय यह है कि जीव विभु है किम्वा अणुरूप है? श्रुति में जीव को "वे महान्" ऐसा कहा गया है। अतएव जीव का विभुत्व बोला गया है। गौतमादि वादियों का ऐसा ही अभिमत है। जीव का अणुत्व बुद्धिगत है जो कि जीव में उपचरितमात्र है। इस प्रकार पूर्व्वपक्ष का उत्तर देते हैं—

उत्क्रान्ति, गति और आगति दर्शन से जीव का अणुस्वरूपत्व स्वीकार किया जाता है। यहाँ अणु यह पद ऊह्य है। परवर्त्ती सूत्र में "नाणुः" यह पूर्व्वपक्ष है। सूत्र में षष्ठी विभक्ति पञ्चमी अर्थ में है। यह जीव परमाणु रूप है, विभु नहीं है। उत्क्रान्ति प्रभृति से इस प्रकार अवगत हो जाता है। "तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति" इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति में जीव की उत्क्रान्ति कही गयी है। स्मृति में भी—हे भगवन् यदि जीव अपरिमित, नित्य, और विभु है तब "वह शास्य, आप शास्ता" इस प्रकार नियम नहीं रहता है परन्तु जीव यदि अणु हो तब यह नियम ठहरता है। सर्व्वगत जीव की उत्क्रान्ति नहीं हो सकती है।

अत्र विभोरचलतोऽप्युत्क्रान्तिर्देहाभिमाननिवृत्तिमात्रेण ग्रामस्वाम्यनिवृत्तिवत् कदाचित् सम्भाव्येत गत्यागती तु नाचलतः सम्भवेतामित्याह—

स्वात्मना चोत्तरयोः ॥ १९ ॥

चोऽवधारणे उत्तरयोर्गत्यागत्योः स्वात्मनैव सम्बन्धो वाच्यः कर्तृस्थक्रियात्वात्। सत्योश्च तयोरुत्क्रान्तिरपि देहप्रदेशादेव मन्तव्या। तेन प्रद्योतेनेत्यादिश्रवणात्। "शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्" इत्यादिस्मरणाच्च। यत्तूत्क्रान्त्यादिकमुपाध्युत्क्रान्त्यादिभिर्व्यपदिष्टमित्युच्यते तन्मन्दम्। "स यदाऽस्मात् शरीरात् समुत्क्रामति सहैवैतैः सर्व्वैरुत्क्रामती"ति कौषीतकीब्राह्मणश्रुतसहशब्दविरोधात्। स हि प्रधानाप्रधानयोः समानामेव क्रियां बोधयति, पुत्रेण सह पिता भुंक्त इतिवत्। वायुदृष्टान्ते ग्राहिग्राह्ययोरसामञ्जस्याच्च। एतेन घटाकाशवदज्ञदृष्ट्यभिप्रायमेतदिति बालकोलाहलोऽपि निरस्तः॥ १९॥

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥ २० ॥

ननु नाणुर्जीवः वृहदारण्यके "स वा एष महानज आत्मे"ति तद्विपरीतस्य महत्परिमाणस्य श्रुतत्वादिति चेन्न। कुतः? इतरेति। तत्रेतरस्य परमात्मनोऽधिकारात्। यद्यपि "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु" इति जीवस्योपक्रमस्तथापि "यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मे"ति मध्ये जीवेतरं परेशमधिकृत्य महत्त्वप्रतिपादनात् तस्यैव तत्त्वं न जीवस्येति॥ २०॥

परमेश्वर विभु होने पर भी अचिन्त्यशक्ति के द्वारा गतिमान् आदिक होते हैं। अतएव इसमें कोई विरोध नहीं होता है॥ १८॥

अब विभु पदार्थ अचल होने पर भी उसकी ग्रामाधिपति की निवृत्ति की भाँति देहाभिमान निवृत्ति मात्र से कथञ्चित् उत्क्रान्ति सम्भावित हो सकती है परन्तु अचल वस्तु की गति तथा आगति असम्भव है इसे कहते हैं—

गति और आगति का आत्मा के साथ सम्बन्ध जानना चाहिए। "च" शब्द अवधारण में है। कर्त्ता की क्रियात्व-प्रयुक्त गति और आगति का सम्बन्ध जीवात्मा के साथ जानना चाहिए। गति और आगति रहने से ही देह-प्रदेश से उत्क्रान्ति हो सकती है—इस प्रकार स्थिर किया जाता है। "उस उज्ज्वल आत्मा के साथ गमन करता है" इत्यादि श्रुतिवाक्य तथा "वायु जिस प्रकार गन्धयुक्त वस्तु से गन्ध के साथ गमन करता है उसी प्रकार जीव भी उत्क्रमण समय में प्राण तथा इन्द्रियादिकों के साथ उत्क्रान्त होता है" इत्यादि स्मृतिवाक्य इसका प्रमाण है। कोई कोई उपाधि उत्क्रान्ति के द्वारा जीव की उत्क्रान्ति होती है ऐसा कहते हैं। वे नितान्त मन्द हैं। क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर कोषीतकी ब्राह्मण के "जीव इस शरीर से उत्क्रमण समय में प्राणादिक के साथ गमन करता है" इत्यादि वाक्य में जो सह शब्द है, उसका विरोध होता है। सह शब्द प्रधान और अप्रधान दोनों की समान क्रिया का बोध कराता है। पुत्र के साथ पिता भोजन करता है—यह वाक्य उसका दृष्टान्त है। वायु दृष्टान्त से ग्रहणकारी और ग्राह्यपदार्थ का असामञ्जस्य है। इससे घट और आकाश की भाँति अज्ञ दृष्टि के अभिप्राय में "उपाधि त्याग ही उत्क्रान्ति" इस प्रकार जो कहा गया है, वह तुच्छ करके निरस्त हो गया है॥ १९॥

महत् परिमाण के श्रवण के कारण जीव अणु नहीं है ऐसा नहीं बोला जा सकता है। कारण यह है कि महत् परिमाण की उक्ति जीवाधिकार में नहीं है किन्तु परमात्माधिकार में है। बृहदारण्यक में "यह अज आत्मा महान्" इत्यादि वाक्य से आत्मा के अणुत्व के विपरीत महत् परिमाण सुनने में आता है। अतएव जीव अणु नहीं है—ऐसा नहीं कह सकते हो। क्योंकि यहाँ इतर अर्थात् परमात्मा का अधिकार देखा जाता है। यद्यपि "जो प्राणमय

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ॥ २१ ॥

स्वशब्दोऽणुत्ववाची शब्दः श्रूयते एषोऽणुरात्मेति। तथोन्मानं च परमाणुतुल्यम्। वस्तुनिदर्श्यतन्मानत्वं जीवस्योच्यते। "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्प्यते" इति श्वेताश्वतरैः। ताभ्यामणुरेव सः। आनन्त्यशब्दो मुक्त्यभिधायी। अन्तो मरणं तद्राहित्यमानन्त्यमित्यर्थात् ॥२१॥

नन्वणोरेकदेशस्थस्य सकलदेहगतोपलब्धिर्विरुध्येतेति चेत्तत्राह—

अविरोधश्चन्दनवत् ॥ २२ ॥

एकदेशस्थस्यापि हरिचन्दनविन्दोः सकलदेहाल्हादवदनुभूतस्यापि तस्य सा न विरुद्धयत इत्यर्थः। स्मृतिश्च "अणुमात्रोऽप्ययं जीवः स्वदेहं व्याप्य तिष्ठति। यथा व्याप्य शरीराणि हरिचन्दनविप्रुष" इति ॥ २२ ॥

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमात् हृदि हि ॥ २३ ॥

ननु तद्बिन्दोः शरीरैकदेशेऽवस्थितिविशेषः प्रत्यक्षसिद्धो नतु जीवस्य न चानुमेयोऽसौ खादिदृष्टान्तेन विपरीतानुमानस्यापि सम्भवादतो विषमो दृष्टान्त इति चेन्न। कुतः अभीति। तद्वज्जीवस्यापि तदेकदेशे तद्विशेषस्वीकारादित्यर्थः। ननु कोऽसौ देशो यत्र जीवस्तिष्ठतीति चेत् तत्राह हृदि हीति। "हृदि ह्येष आत्मे"ति षट्प्रश्नीश्रुतेरेवेत्यर्थः ॥२३॥

सिद्धायां चाणुतायामित्थमप्यविरोधः स्यादिति मुख्यं मतमाह—

में विज्ञानमय" इस वाक्य से जीव का उपक्रम देखा जाता है तो भी "जो उपासक जीव श्रीहरि को जान सकता है, वह प्रतिबुद्ध होता है" इत्यादि वाक्य के मध्य में जीव से भिन्न परमेश्वर में ही महत्व प्रतिपादन होने के कारण यह महत्ता परमेश्वर की ही जाननी चाहिए, जीव की नहीं है ॥ २० ॥

"एषोऽणुरात्मा" इस श्रुति में जीव का अणुत्व वाचक शब्द पाया जाता है तथा और भी जीव का परमाणु के तुल्य परिमाण है-ऐसा कहा गया है। श्वेताश्वतर ने पाठ किया है-एक केश के अग्रभाग को सौ भाग में विभक्त कर फिर उसके एक-एक भाग के सौ भाग करने पर जो सूक्ष्म होता है जीव उसके सदृश अति सूक्ष्म पदार्थ है इत्यादि। यहाँ जीव का अणु परिमाणत्व व्यक्त हो रहा है। फलतः उन दोनों कारणों से जीव का अणुत्व स्थिर होता है। तो भी कहाँ कहाँ जीव को अनन्त करके कहा गया है वह मुक्त जीव के उद्देश्य में कहा गया है। बद्ध जीव के उद्देश्य में नहीं है। आनन्त्य का अर्थ ही मरण राहित्य है-ऐसा जानना चाहिए ॥ २१ ॥

इस प्रकार जब जीव का अणुरूप है तब उसकी सकल देह में उपलब्धि का विरोध हो सकता है-इस प्रकार के पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं।—

चन्दनविन्दु के सदृश अविरोध जानना होगा। हरिचन्दनबिन्दु जिस प्रकार शरीर के एक देश में स्थित होकर समस्त शरीर के आल्हादक रूप से अनुभूत होता है ठीक उसी प्रकार जीवात्मा एकदेश में रहकर भी समस्त शरीर में व्यापकरूप से ठहरता है। अतः इसमें कोई विरोध नहीं होता है। स्मृति में भी कहा है "हरिचन्दनबिन्दु जिस प्रकार एक स्थान में रहकर समस्त शरीर का सुखकर होता है, जीव भी उसी प्रकार एकस्थान में रहकर समस्त शरीर में व्यापक रूप बन जाता है ॥ २२ ॥

अवस्थिति का वैषम्य प्रयुक्त दृष्टान्त का वैषम्य भी नहीं बोला जा सकता है, जिससे जीव के हृदय में अवस्थिति स्वीकृत की गयी है। यदि कहो कि हरिचन्दनविन्दु की शरीर में एकदेश-स्थिति प्रत्यक्ष सिद्ध है। जीव का अवस्थान प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है। उक्त अवस्थान का अनुमान भी नहीं किया जाता है, जिससे आकाशादि दृष्टान्त के अनुसार विपरीत अनुमान का सम्भव होता है। अतएव दृष्टान्त-वैषम्य हो रहा है, इस प्रकार बोलना संगत

गुणाद्वाऽऽलोकवत् ॥ २४ ॥

अणुरपि जीवश्चेतयितृत्वलक्षणेन चिद्गुणेन निखिलदेहव्यापी स्यात् आलोकवत्। यथा सूर्य्यादिरालोक एकदेशस्थोऽपि प्रभया कृत्स्नं खगोलं व्याप्नोति तद्वत्। आह चैवं भगवान्। "यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारतेति"। न च सूर्य्यात् विशीर्णाः परमाणवः सूर्य्यप्रभेति वाच्यम्। तथा सति तस्य ह्रासप्रसङ्गात्। पद्मरागादिमणयोऽपि प्रभया निजपरिसरान् रञ्जयन्तो दृष्टाः। न च तेभ्यः परमाणवश्च्यवन्ते इति शक्यं वक्तुं अत्यन्तासम्भवात् उन्मानहान्यापत्तेश्च। इत्थं च गुण एव प्रभा ॥ २४ ॥

गुणस्य गुण्यतिरेके देशे वृत्तिरुक्ता। तां दृष्टान्तेन बोधयति—

व्यतिरेको गन्धवत् तथाहि दर्शयति ॥ २५ ॥

यथा कुसुमादिगुणस्य गन्धस्य गुणव्यतिरेकेऽपि प्रदेशे वृत्तिर्भवेदेवं चेतयितृत्वस्य जीवगुणस्य तत्प्रदेशे हृद्व्यतिरिक्ते शिरोऽङ्घ्र्यादौ वृत्तिः स्यात्। तथा हि दर्शयति। "प्रज्ञया शरीरं समारुह्ये"ति कौषीतक्युपनिषद्। गन्धः खलु दूरं प्रसर्पन्नपि स्वाश्रयात् न भिद्यते मणिप्रभावत्। "उपलभ्याप्सु चेद्गन्धं केचिद् ब्रूयुरनैपुणाः। पृथिव्यामेव तं विद्यादपो वायुं च संश्रित"मिति स्मृतेः ॥ २५ ॥

नहीं है। क्योंकि हरिचन्दनबिन्दु की भाँति जीव की भी शरीर के एक देश में अवस्थिति विशेष का अंगीकार होता है। यदि कहो कि वह स्थान कौन है, जहाँ जीव ठहरता है तो कहते हैं-हृदय जीव का ठहरने का स्थान है। षट्प्रश्नीश्रुति में कहा गया है "यह आत्मा हृदय में ठहरता है" ॥ २३ ॥

इस प्रकार जीव का अणुत्व सिद्ध होने पर तो भी अविरोध परिहार के लिये मुख्यमत का प्रकाश करते हैं-

जीव अपने गुण से आलोक की भाँति देहव्यापी रहता है। जीव अणु होने पर भी चेतयितृत्वलक्षण चिद्गुण के द्वारा आलोक की तरह सकलदेहव्यापी होता है। सूर्य्यादि आलोक जिस प्रकार एकदेश में रहकर भी अपनी अपनी प्रभा के द्वारा समस्त आकाशलोक को व्याप्त करता है, जीव उसी प्रकार एकदेश में रहकर समस्त शरीर को व्याप्त करता है। भगवान् ने स्वयं भी कहा है "सूर्य्य जिस प्रकार एकाकी इस निखिललोक को प्रकाश करता है, जीव ठीक उसी प्रकार समस्त शरीर को प्रकाश करता है। सूर्य्य से निकले हुए परमाणु समस्त सूर्य्य की प्रभा है-इस प्रकार नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि ऐसा होने पर सूर्य्य का ह्रास होना सम्भव होता है। पद्मरागादि समस्त मणियों का भी अपनी प्रभा के द्वारा चतुर्दिग आलोकित करना देखा गया है। उन मणियों से परमाणु समूह विश्लिष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार नहीं कह सकते हो। क्योंकि ऐसा होना अत्यन्त असम्भव है। उससे मणि का परिमाण घट सकता है। अतएव गुण ही प्रभा शब्द से बोधित होता है ॥ २४ ॥

गुण, गुणी के स्थान से स्वतन्त्र स्थान में अवस्थान करता है। यह पहले कहा गया है। अब दृष्टान्त के द्वारा बतलाते हैं।—

गन्ध की भाँति व्यतिरेक स्वीकार्य्य है। श्रुत्यादि में इस प्रकार देखा जाता है। कुसुमादि का गुण गन्ध जिस प्रकार कुसुमादि व्यतिरिक्त प्रदेश में अवस्थान करता है ठीक उसी प्रकार चेतयितृत्व प्रभृति जीवगुण जीव का आश्रय हृदयादि से अतिरिक्त मस्तकादि स्थान में अवस्थान करता है। कौषीतकोपनिषद् में देखा गया है।— "प्रज्ञा के द्वारा शरीर को आश्रय कर" इत्यादि। गन्ध, मणिप्रभा की तरह दूरगत होकर भी निज आश्रय गुणी पदार्थ से भिन्न नहीं होता है। अज्ञ व्यक्तिगण जलादिक में गन्ध पाकर उसे जलादिक का गुण कहते हैं, किन्तु वास्तविक गन्ध जलादिक का गुण नहीं है। गन्ध तो पृथिवी का गुण है। जल और वायु का आश्रय करने से इस प्रकार प्रतीत होता है। स्मृति में भी इस प्रकार कहा गया है ॥ २५ ॥

एष हि द्रष्टेत्यादौ संशयः। जीवस्य धर्म्मभूतं ज्ञानमनित्यं नित्यं वेति। पाषाणकल्पे जीवे मनसा संयुक्ते ज्ञानमुत्पद्यते। सुखमहमित्यादिश्रुतेः। ज्ञानत्वं तस्य ज्ञानसम्बन्धात् बोध्यम्। वह्नित्वमिव वह्निसम्बन्धादयसः। यदि ज्ञानं नित्यं तर्हि सुषुप्त्यादौ तत्र स्यात् करणव्यर्थता चेति प्राप्ते—

पृथगुपदेशात् ॥ २६ ॥

धर्म्मभूतं ज्ञानं नित्यम्। कुतः पृथगिति। एष हीत्यादिवाक्यात् पृथग्भूते "अविनाशी वा अरे अयमात्मानुच्छित्तिधर्म्मा" इत्यादि बृहदारण्यकवाक्ये तत्त्वेन तस्योपदेशात्। न च मनसा संयोगादात्मनि ज्ञानोत्पत्तिः निरवयवयोस्तयोः संयोगासिद्धेः। भगवद्वैमुख्येनावृतमिदं तत्सांमुख्येन तस्मिन् विनष्टे सत्याविर्भवतीति स्मृतिराह। "यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः। दोषप्रहाणात् न ज्ञानमात्मनः क्रियते तथा। यथोदपानखननात् क्रियते न जलान्तरम्। सदेव नीयते व्यक्तिमसतः सम्भवः कुतः। तथा हेयगुणध्वंसादवरोधादयो गुणाः। प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते" ॥ इति ॥ २६ ॥

यो विज्ञाने तिष्ठन्नित्यादि श्रुतेर्गतिमाह—

तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥ २७ ॥

ज्ञातुरपि जीवस्य ज्ञानस्वरूपत्वेन व्यपदेशः। कुतः? तद्गुणेति। स ज्ञानलक्षणो गुणः सारो यत्र तथात्वात्। सारो व्यभिचाररहितः स्वरूपानुसन्धीति यावत्। प्राज्ञवत् यथा यः सर्व्वज्ञः सर्व्वविदिति प्राज्ञत्वेनोक्तस्य विष्णोः सत्यं ज्ञानमिति ज्ञानस्वरूपव्यपदेशस्तद्वत्। अत्र ज्ञाता ज्ञानस्वरूपो निर्दिष्टः ॥ २७ ॥

अब "एष हि द्रष्टा" इत्यादि श्रुति में संशय दिखाते हैं। जीव का धर्म्मभूत ज्ञान अनित्य है अथवा नित्य है? "सुखमहमस्वाप्सम्" इत्यादि श्रुति से जीव का ज्ञानरूपत्व प्रतीत होता है। ज्ञान सम्बन्ध से उसका ज्ञान है। अग्नि सम्बन्ध-प्रयुक्त लोह का जिस प्रकार अग्नित्व बोध होता है, जीव का ठीक उसी प्रकार ज्ञान सम्बन्ध-प्रयुक्त होने से ज्ञानरूपत्व प्रतीत होता है। जीव का ज्ञान यदि नित्य है, तब सुषुप्ति प्रभृति में भी वह ज्ञान रह सकता है और उससे इन्द्रियों की व्यर्थता घटती है—इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष का उत्तर देते हैं—

पृथक् उपदेश के कारण जीव का नित्यज्ञान स्वीकार होता है। जीव का धर्म्मभूत ज्ञान नित्य है। क्योंकि "एष हि द्रष्टा" इत्यादि वाक्य से पृथकरूप "अविनाशी अयमात्मानुच्छित्तिधर्म्मा" इत्यादि बृहदारण्यक वाक्य से इस ज्ञान का नित्यत्व उपदिष्ट होता है। मन के साथ आत्मा के संयोग से ज्ञान की उत्पत्ति होती है—इस प्रकार नहीं बोल सकते हो। क्योंकि मन और आत्मा दोनों निरवयव हैं। निरवयव दोनों वस्तु का संयोग असम्भव है। भगवद्-वैमुख्यता के कारण यह ज्ञान आवृत होता है और भगवद् साम्मुख्य से उस आवरण के अपगम हो जाने पर पुनर्वार ज्ञान का आविर्भाव होता है। स्मृति में भी कहा है—"मणि में मल आवृत होने पर जिस प्रकार उसकी प्रभा और आलोक उत्पन्न नहीं होते हैं परन्तु मल का अपगम होने पर आवृत अवस्था में स्थित तेज का पुनः प्रकाश होता है, ठीक उसी प्रकार वैमुख्य दोष का नाश होने पर आत्मा में अप्रकाशित ज्ञान का प्रकाश होता है। जलाशय के खनन से जल की उत्पत्ति होती है—ऐसा नहीं है परन्तु जो जल पहले मृत्तिका के द्वारा आवृत था उसका प्रकाश होता है। उसी प्रकार जीव के ज्ञान का उस समय प्रकाश प्राप्त होता है। जो नहीं है, उसकी उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है। जीव का ज्ञान गुण नित्य है। हेय गुण-समूह का विनाश होने पर उस नित्य गुण का प्रकाश होता है। वस्तुतः वह उत्पत्ति नहीं होती है ॥ २६ ॥

अब "यो विज्ञाने तिष्ठन्" इत्यादि श्रुति की गति कहते हैं। तद्गुण सारत्व प्रयुक्त प्राज्ञ शब्द की तरह ज्ञाता

अथ ज्ञानस्वरूपो ज्ञाता निर्देश्य इत्याह—

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥ २८ ॥

ज्ञानस्वरूपो जीवो ज्ञातेति व्यपदेशो न दोषः निर्दोष इत्यर्थः। कुतः? यावदिति। तथा प्रतीतेरात्मसमानकालभावित्वान्न स बाध्यत इत्यर्थः। आत्मा खल्वनाद्यन्तकालः सम्प्रतिपन्नः प्रकाशरूपोऽपि रविः प्रकाशयितेति वीक्षणाच्च। यावद्द्रविर्भावी ह्येष व्यपदेशः, निर्भेदेऽपि वस्तुनि द्वेधा भाति, विशेषादित्याहुः ॥ २८ ॥

ननु गुणभूतं ज्ञानं नात्मनो नित्यं सुषुप्तावसत्त्वाज्जागरे सामग्र्याः सम्भवाच्चेति चेत्तत्राह—

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥ २९ ॥

तुशब्दः शङ्काच्छेदार्थः। नेत्यनुवर्त्तते। सुषुप्तावसतो ज्ञानस्य जागरे सम्भव इति न। कुतः? अस्येति। अस्य ज्ञानस्य सुषुप्तौ सत एव जागरेऽभिव्यक्तेरित्यर्थः। दृष्टान्तः पुंस्त्वादिवत्। बाल्ये जीवात्मना सत एव पुंस्त्वादेः कैशोरे यथाभिव्यक्तिस्तद्वत। सुषुप्तौ ज्ञानप्रसङ्गस्तु श्रुत्यैव परिहृतः। सुषुप्तं प्रकृत्य बृहदारण्यके पठ्यते। "यद्वै तन्न विजानाति विजानन् वैतद् विज्ञेयं न विजानाति न हि विज्ञातुर्विज्ञानात् विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात् न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयादिति। इह तदा सदपि ज्ञानं विषयितया नाभ्युदेति विषयाभावादेवेति प्रतीयते। इतरथा सुषुप्तौ स्थितस्यापरामर्शप्रसङ्गः स्यात्। इन्द्रियसंयोगरूपा कारणसामग्री तु तदभिव्यञ्जिका। असतः सम्भवे तु क्लीबस्यापि तदापत्तिः। तस्मात् ज्ञानस्वरूपोऽणुर्जीवो नित्यज्ञानगुणकः सिद्धः ॥ २९ ॥

जीव का ज्ञानस्वरूप में व्यपदेश होता है। जीव ज्ञाता होने पर भी उसका ज्ञानस्वरूपत्व का व्यपदेश होता है। व्यभिचार रहित स्वरूपानुबन्धी गुण ही गुणसार है। विष्णु जिस प्रकार ज्ञानविशिष्ट रूप से उक्त होने पर भी फिर ज्ञानस्वरूप में अभिहित होते हैं जीव ठीक उसी प्रकार होता है। अतएव ज्ञाता जीव ही ज्ञानस्वरूप में निर्दिष्ट होता है। यह स्थिर हुआ ॥ २७ ॥

अब ज्ञानस्वरूप ज्ञाता निर्देश्य है—उसे कहते हैं। प्रमाणबल से यावदात्मभावित्व-प्रयुक्त ज्ञानस्वरूप का ज्ञातृत्व-निर्देश दोषावह नहीं है तथा ज्ञानस्वरूप जीव का ज्ञातृत्वव्यपदेश दोषावह नहीं है अर्थात् वह निर्दोष है। क्योंकि वह प्रतीति आत्मसमानकालभाविनी है। रवि जिस प्रकार प्रकाशरूप होकर भी प्रकाशक हैं जीवात्मा का भी उसी प्रकार अनादि अनन्तकाल सम्पन्न होना देखा जाता है। जब तक चन्द्र सूर्य्य हैं तब तक उसी प्रकार कहा जावेगा। निर्भेदवस्तु में भी स्वगत विशेष बल से द्विधा प्रकाश होता है—ऐसा कोई कोई कहते हैं ॥ २८ ॥

सुषुप्ति में अदर्शन के हेतु जीव का गुणभूतज्ञान नित्य नहीं है परन्तु जाग्रति अवस्था में ज्ञान सामग्री की विद्यमानता के कारण वह ज्ञान जागरमात्रस्थायी है इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं—

पुंस्त्वादि की भाँति सुषुप्ति में जो है, जागर में उसकी अभिव्यक्ति होती है। अतएव वह नित्य है। "तु" शब्द शङ्का निरास के लिये है। पूर्व्वसूत्र से नकार की अनुवृत्ति है। जो ज्ञान सुषुप्ति में नहीं था, वह जागर में उत्पन्न हुआ—इस प्रकार नहीं बोला जा सकता है। कारण यह है कि यह ज्ञान सुषुप्तिकाल में आवृत रह कर जागर में अभिव्यक्त होता है। बाल्यकाल में सूक्ष्मभाव में अवस्थित पुरुषत्वादि जिस प्रकार यौवन में अभिव्यक्त होता है, ठीक उसी प्रकार जीव के ज्ञान को जानना चाहिए। सुषुप्ति समय में ज्ञान का प्रसंग श्रुति के द्वारा ही परिहृत होता है। सुषुप्तिप्रक्रम में बृहदारण्यक में कहा गया है। "सुषुप्तिकाल में जीव के चैतन्य रहने पर भी उसकी अभिव्यक्ति नहीं रहती है। ज्ञान अविनाशी है, उसका नाश नहीं है" इत्यादिक। यहाँ सुषुप्तिकाल में ज्ञान रहने पर भी विषयीरूप से अभ्युदित नहीं हैं। विषय का अभाव उसका कारण है। नहीं तो सुषुप्ति में जीव के अवस्थान का परामर्श नहीं होता। इन्द्रिय संयोगरूप कारणसामग्री ही ज्ञान का अभिव्यञ्जक है। उस समय उसका अभाव रहने

अथैतत् प्रतिपक्षभूतान् सांख्यान् दूषयति । अत्र ज्ञानमात्रो विभुरात्मेति युक्त न वेति विषये सर्व्वत्र कार्य्यो-पलम्भात् युक्तं तत् । अणुत्वे सर्व्वाङ्गीणसुखदुःखानुपलम्भः । मध्यमत्वे त्वनित्यतापत्तिः । कृतह न्यकृताभ्या-गमश्चेत्येवं प्राप्ते—

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वान्यथा ॥ ३० ॥

अन्यथा ज्ञातमात्रो विभुरात्मेति मते नित्यमुपलब्ध्यनुपलब्ध्योः प्रसङ्गः स्यात् । अन्यतरस्य नियमः प्रतिबन्धो वा नित्यं स्यात् । अयमर्थः । लोकसिद्धोपलब्धिरनुपलब्धिश्चास्ति । तयोर्विभुरात्मा चिन्मात्रश्चेत् कारणं, तर्हि नित्यं युगपच्च ते सर्व्वस्य लोकस्य प्राप्नुयाताम् । अथोपलब्धेरेव चेत्कारणं, तदा कस्यापि कुत्रापि अनुपलब्धिर्न स्यात् । अनुपल-ब्धेरेव चेत्तर्हि कस्यापि कुत्राप्युपलब्धिर्न स्यादिति । न च करणायत्ता तयोर्व्यवस्था । आत्मनो विभुत्वेन करणैः सर्व्वदा संयोगात् किंच तन्मते सर्व्वात्मनां विभुतया सर्व्वशरीरैर्योगात् सर्व्वत्र भोगप्राप्तिः । एतेनादृष्टविशेषात् भोगव्यवस्थेति सङ्कल्पविशेषाददृष्टव्यवस्थेति प्रत्युक्तम् । मतान्तरेऽप्येतत् समं दूषणम् । अस्माकं त्वात्मनाम-णुत्वेन प्रतिशरीरं भेदान्न कश्चिदधिक्षेपः । अणोरपि सर्व्वत्र कार्य्यक्रमेणैव न युगपदित्यदोषः सर्व्वाङ्गीणसुखाद्यु-पलम्भस्तु गुणेन व्याप्तेरित्युक्तम् ॥ ३० ॥

इदमिदानीं विचारयति । "विज्ञानं यज्ञं तनुते । कर्म्माणि तनुतेऽपि च"इति तैत्तिरीयाः पठन्ति । इह सन्देहः । विज्ञानशब्दितो जीवः कर्त्ता न वेति । "हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् । उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते" इति कठश्रुत्या तस्य कर्त्तृत्वप्रतिषेधान्न स कर्त्ता, किन्तु प्रकृतिरेव कर्त्री, प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्म्माणि सर्व्वशः । अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते" ॥ "कार्य्यकारणकर्त्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते । पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते" इत्यादिस्मृतिभ्यः । तस्मान्न जीवस्य कर्त्तृत्वं प्रकृतिगतं तत्त्वविवे-कात् स्वस्मिन् सोऽध्यस्यति भोक्ता तु कर्म्मफलानामिति प्राप्ते—

कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥ ३१ ॥

जीव एव कर्त्ता, न गुणाः । कुतः ? शास्त्रेति । स्वर्गकामो यजेतात्मानमेव लोकमुपासीतेत्यादिशास्त्रस्य चेतने कर्त्तरि सति सार्थक्यात् गुणकर्त्तृत्वेन तदनर्थक्यं स्यात् । शास्त्रं किल फलहेतुताबुद्धिमुत्पाद्य कर्म्मसु तत्फलभोक्तारं पुरुषं प्रवर्त्तयते । न च तद्बुद्धिर्जडानां गुणानां शक्योत्पादयितुम् ॥ ३१ ॥

वास्तवमेव कर्त्तृत्वं जीवस्येत्याह—

विहारोपदेशात् ॥ ३२ ॥

"स तत्र पर्य्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः" इत्यादिना मुक्तस्यापि क्रीडाभिधानादित्यर्थः । अतः कर्त्तृत्वमात्र न दुःखावहं किंतु गुणसम्बन्धमेव तस्य स्वरूपग्लानिकरत्वात् ॥ ३२ ॥

उपादानात् ॥ ३३ ॥

"स यथा महाराज" इत्युपक्रम्यैवमेवैष एतान् प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्त्तत" इति श्रुतौ "गृहीत्वै-तानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्"इति स्मृतौ च जीवकर्त्तृकस्य प्राणोपादानस्याभिधानात् लोहाकर्षकमणेरिव चेत-नस्यैव जीवस्य कर्त्तृत्वं बोध्यम् । अन्यग्रहणादौ प्राणादि करणं, प्राणग्रहणादौ तु नान्यदस्तीति तस्यैव तत् ॥ ३३ ॥

के कारण ज्ञान की स्फूर्त्ति नहीं होती है । असत् वस्तु की उत्पत्ति सम्भव होने से यौवन में नपुंसक का भी पुंस्त्व का आविर्भाव होना देखा जा सकता है । अतएव ज्ञानस्वरूप अणु जीव नित्यज्ञानादि गुण से समन्वित यह-सिद्ध हुआ ॥ २६ ॥

इसके अनन्तर प्रतिपक्षरूप सांख्यपक्ष में उसका दोष प्रदान करते हैं । उस विषय में ज्ञानमात्र आत्मा का विभुत्व युक्त है किम्बा नही है-इस प्रकार का संशय उठाकर सर्व्वत्र कार्य्योपलम्भरूप हेतु से वह युक्त है-यह पूर्व्वपक्षी का सिद्धान्त है-ऐसा कहते हैं । जिससे जीव के अणुरूप के स्वीकार से सर्व्वाङ्ग में सुख-दुःख का अनुपलम्भ एवं मध्यमत्व स्वीकार से अनित्यत्वापत्ति कृतहानि अकृताभ्यागम रूप दोष आता है । उसके उत्तर में कहते हैं ।—

अन्यथा नित्य उपलब्धि और अनुपलब्धि प्रसङ्ग के अन्य एक नियम व प्रतिबन्ध घटता है । "आत्मा ज्ञानमात्र और विभु" इस मत में करण के योग से उपलब्धि और उसके अयोग में अनुपलब्धि का प्रसङ्ग होता है । एवं उस में उन दोनों का अन्य एक नियम वा प्रतिबन्ध नित्य ही घटता है अर्थात् होता है । यहाँ नित्य उपलब्धि नहीं, प्रत्युत नित्य अनुपलब्धि अवश्य ही घटेगी । लोक में उपलब्धि और अनुपलब्धि उभय प्रसिद्ध हैं । आत्मा का विभुत्व यदि उन उभय का कारण होता है तब एक समय में ही सकल लोगों की उपलब्धि और अनुपलब्धि दोनों घट सकते हैं । उसको यदि केवल उपलब्धि का कारण बोला जाता है तब उपलब्धि के समय में किसी की भी अनुपलब्धि सम्भव नहीं होती है । फिर उसको यदि केवल अनुपलब्धि का कारण बोला जाता है तब अनुपलब्धि-काल में किसी की भी उपलब्धि सम्भव नहीं हो सकती है । इस व्यवस्था को करण के अधीन भी नहीं बोल सकते हो । जिससे आत्मा का विभुत्व-प्रयुक्त सकल समय में उसका करण-संयोग अवश्य स्वीकार्य्य है । अधिक इस मत में आत्मा के विभुत्व के कारण सकल समय में ही सकल शरीर के साथ संयोग वश सर्व्वत्र भोग की प्राप्ति होती है । इससे अदृष्ट विशेष हेतु भोगव्यवस्था और संकल्प विशेष से अदृष्ट व्यवस्था प्रत्युक्त हुई । मतान्तर में यह दोष समान है । हमारे मत में आत्मा के अणुत्व से प्रतिशरीर में भेद प्राप्त होने के कारण कोई अधिक्षेप नहीं है । अणु का भी सर्व्वत्र कार्य्यक्रम से संचार है युगपत् नहीं है अतएव अदोष है ॥ ३० ॥

अब यह विचार किया जाता है । तैत्तिरीय में "विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुते" इत्यादि वाक्य देखने में आते हैं । उस विषय में सन्देह यह है कि विज्ञान शब्द प्राप्त जीव कर्त्ता है किम्वा नहीं है ? "हन्ता चेन्मनुते-हन्तुं"इत्यादि कठ-श्रुतिमें जीव का कर्त्तृत्व के निषेध के कारण जीव कर्त्ता नहीं है किन्तु प्रकृति ही कर्त्ता है । गीता में भी "प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्व्वशः । अहङ्कार विमूढात्मा"इत्यादि श्लोकों में जीव के कर्त्तृत्व का निषेध कर प्रकृति का कर्त्तृत्व कहा गया है । अतएव जीव का कर्त्तृत्व अस्वीकार्य्य है । वह प्रकृतिगत है । जीव अज्ञता के वश प्रकृतिगत कर्त्तृत्व को अपने में अध्यस्त करता है । जीव कर्म्मफल का भोक्ता मात्र है । इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं ।—

जीव ही कर्त्ता है । गुण कर्त्ता नहीं है । "स्वर्गकामी व्यक्ति यज्ञ करेंगे" इत्यादि शास्त्र की चेतनकर्त्ता में ही सार्थकता देखी जाती है । गुण के कर्त्तृत्व में उसकी निरर्थकता होती है । शास्त्र निश्चय फलहेतुत्व ज्ञान का उत्पा-दन करके कर्म्म-समूह में उसके फलभोक्ता पुरुष को प्रवर्त्तित करता है । जड़ गुण-समूह में तादृश ज्ञान उत्पादन नहीं किया जाता है ॥ ३१ ॥

इसके अनन्तर जीव का कर्त्तृत्व यथार्थ है-उसे कहते हैं । विहार के उपदेश के कारण जीव का कर्त्तृत्व अवश्य स्वीकार्य्य है । "वह वहाँ जाता है, भोजन करता है, क्रीडा और रमण करता है" इत्यादि वाक्यों से मुक्त का भी क्रीडा अभिधान होने के कारण जीव का कर्त्तृत्व सत्य है । अतएव कर्त्तृत्वमात्र ही दोषावह है-ऐसा नहीं है किन्तु गुण सम्बन्ध से दुःख की उत्पत्ति होती है । जिससे गुण सम्बन्ध ही स्वरूप की ग्लानि का उत्पादन करता है ॥३२॥

उपादान से भी जीव कर्त्तृत्व स्थिर होता है । "स यथा महाराज" इस प्रकार उपक्रम करके "एवमेवैष एतान् प्राणान् गृहीत्वा" इत्यादि श्रुति में जीव का प्राणादिक के साथ गमन कहा गया है । स्मृति में भी कहा है—"वायु जिस प्रकार गन्ध लेकर गमन करता है जीव भी तद्रूप प्राणादिक के साथ गमन करता है" इन सकल वाक्यों से

युक्त्यन्तरं चाह— **व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्द्देशविपर्य्ययः ॥ ३४ ॥**

विज्ञानं यज्ञमित्यादिना वैदिक्यां लौकिक्यां च क्रियायां मुख्यत्वेन व्यपदेशात् जीवः कर्त्ता। अथ चेत् विज्ञानशब्देन जीवो नाभिधीयते किन्तु बुद्धिरेव, तर्हि निर्देशविपर्य्ययः स्यात्। विज्ञानमिति प्रथमान्तकर्त्तृनिर्देशस्य विज्ञानेनेति तृतीयान्तकरणनिर्देशो भवेत्। बुद्धेः करणत्वात्। न चात्र तथाऽस्ति। किंच बुद्धेः कर्त्तृत्वे तस्याः करणमन्यत् कल्प्यम् सर्व्वस्य करणस्यैव कर्म्मसु प्रवृत्तिदर्शनात्। ततश्च नाममात्रेण विसम्वादः, करणाभिन्नस्य कर्त्तृत्वस्वीकारात्। ननु जीवकर्त्तृत्वे हितस्यैव, न तु अहितस्य सृष्टिः स्यात्। स्वतन्त्रस्य कर्त्तृत्वात्। मैवम्। हितमेव सिसृक्षोरपि सहकारिकर्म्मवैचित्र्येण क्वचिदहितस्याप्यापातात्। तस्मात् जीव एव कर्त्ता। एवं सति क्वचिदकर्त्तृत्ववचनमस्वातन्त्र्यात्। कर्त्तृत्वे क्लेशसम्बन्धदर्शनात् न तत्र श्रुतेस्तात्पर्य्यमित्यादिकुसृष्टयस्तु दर्शपौर्णमासादिष्वप्यतात्पर्य्यापत्त्यादिभिर्निरसनीयाः ॥ ३४ ॥

अथ प्रकृतिकर्त्तृत्ववादे दोषान् दर्शयति—

उपलब्धिवदनियमः ॥ ३५ ॥

आत्मनो विभुत्वादुपलब्धेरनियमो दर्शितः प्राक्। तथा प्रकृतेरपि विभुत्वेन सर्व्वपुरुषसाधारण्यात् कर्म्मणोऽप्यनियमः स्यात् सर्व्वं कर्म्म सर्व्वस्य भोगाय यथा स्यात् नैव वा स्यात्। न चासन्निधिकृता व्यवस्था, विभूनामात्मनां सर्व्वत्र सान्निध्यात् ॥ ३५ ॥

जीव कर्त्तृक प्राण के ग्रहण के दर्शन से चुम्वक की भाँति चेतन जीव का ही कर्त्तृत्व बोध होता है। अन्य के ग्रहण से प्राणादिक की करणता है किन्तु प्राणादिक के ग्रहण में अन्य की करणता नहीं है अतः जीव का ही कर्त्तृत्व जानना चाहिए ॥ ३३ ॥

इस विषय में युक्त्यन्तर का प्रयोग दिखाते हैं। क्रिया में मुख्य रूप से व्यपदेश के वश जीव का ही कर्त्तृत्व स्थिर होता है। अन्यथा निर्देश का विपर्य्यय घटता है। "विज्ञान ही यज्ञ" इत्यादि वाक्य के द्वारा वैदिकी और लौकिकी क्रिया में मुख्यरूप से व्यपदेश के कारण जीव ही कर्त्ता है—यह स्थिर होता है। विज्ञानशब्द से यदि जीव अभिहित नहीं होता है किन्तु वह बुद्धि का बोध कराता है तब निर्देश का विपर्य्यय होता है। "विज्ञानं" इस प्रथमान्त कर्त्तृ निर्देश का "विज्ञानेन" इस प्रकार तृतीयान्त करण निर्देश में होना उचित था। क्योंकि बुद्धि करण है। किन्तु यहाँ उस प्रकार नहीं है। और भी बुद्धि के कर्त्तृत्व के स्वीकार करने में उसके अन्य करण की कल्पना करनी होगी। क्योंकि समस्त करण की ही कर्म्म में प्रवृत्ति देखने में आती है। सुतरां जिसका करण नहीं है तादृश करण रहित के कर्त्तृत्व स्वीकार करने में नाममात्र से केवल विसंवाद होता है, फल में किन्तु एक ही है। यदि कहो कि जीव के कर्त्तृत्व स्वीकार से हित के भिन्न अहित की सृष्टि नहीं होती है। क्योंकि जीव स्वतन्त्र कर्त्ता है। वह निज इच्छा के अनुसार सृष्टि करेगा, ऐसा संगत नहीं है। क्योंकि हित सृष्टि में अभिलाषी होने पर भी सहकारी कर्म्म के वैचित्र्य के वश कहीं भी अहित की घटना हो सकती है। अतएव जीव ही कर्त्ता है। तो भी कहीं कहीं जीव के अकर्त्तृत्व होने का वचन देखने में आता है। वह केवल उसका अस्वातन्त्र्य प्रयुक्त ही है ऐसा मानना होगा। कर्त्ता के दुःख सम्बन्ध दर्शन के हेतु जीव के कर्त्तृत्व में श्रुति का तात्पर्य्य नहीं है—इस प्रकार नहीं बोला जा सकता है—इत्यादि कुमत-समूह दर्शपौर्णमासादि में भी श्रुति-तात्पर्य्य के अभाव की आपत्ति के द्वारा निरसन होते हैं ॥ ३४ ॥

अब प्रकृतिकर्त्तृत्ववाद में दोषारोप करते हैं—

पूर्व्वोक्त उपलब्धि की भाँति प्रकृति के कर्त्तृत्व में कर्म्म का अनियम होता है। आत्मा के विभुत्व के कारण

शक्तिविपर्य्ययात् ॥ ३६ ॥

प्रकृतेः कर्त्तृत्वे पुरुषनिष्ठाया भोक्तृत्वशक्तेर्विपर्य्ययात् प्रकृतिगामितापत्तेः पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावादि"त्यभिमतहानिरितिशेषः। कर्त्तुरन्यस्य भोक्तृत्वासम्भवात् तच्छक्तिरपि प्रकृतिगता मन्तव्या ॥ ३६ ॥

समाध्यभावाच्च ॥ ३७ ॥

मोक्षसाधनस्य समाधेरप्यभावाच्च दुष्टः प्रकृतिकर्त्तृत्ववादः। प्रकृतेरन्योऽहमस्मीत्येवंविधः खलु समाधिः। स च न सम्भवति स्वस्य स्वान्यत्वाभावात् जाड्याच्च। तस्माज्जीव एव कर्त्ता सिद्धः ॥ ३७ ॥

अथ तस्य कर्त्तृत्वं करणयोगेन स्वशक्त्या चास्तीति दृष्टान्तेन बोधयति—

यथा च तक्षोभयथा ॥ ३८ ॥

तक्षा यथा तक्षणे वास्यादिना कर्त्ता वास्यादिधारणे तु स्वशक्त्यैवेत्युभयथापि कर्त्ता भवेदेवं जीवोऽप्यन्यग्रहणादौ प्राणादिना कर्त्ता, प्राणादिग्रहणे तु स्वशक्त्यैवेत्यर्थः। इत्थं प्राकृतदेहादिना यत् कर्त्तृत्वं तत्किल शुद्धादेव पुरुषात् प्रवृत्तमपि गुणवृत्तिप्राचुर्य्यात् तद्धेतुकमित्युपचर्य्यते। "कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मस्वि"ति तत्रैवोक्तेः। एतेन गुणकर्त्तृत्ववचांसि व्याख्यातानि। मौढ्याद्युक्तिस्तु पञ्चापेक्षेऽपि स्वैकापेक्षमननात्। न चैषामापातविभातोऽर्थः शक्यो नेतुं तत्रत्यमोक्षसाधनोक्तिविरोधात्। "नायं हन्ति न हन्यते" इत्यादिवाक्यं तु हन्तिफलमेव च्छेदं प्रतिषेधति नित्यस्यात्मनस्तदयोगात्। न तु कर्त्तृत्वमपि, तस्य पूर्व्वं सिद्धेः। एवं च भागवतानां

पहिले उपलब्धि का अनियम कह आये हैं। उस प्रकार प्रकृति का भी विभुत्व के कारण सर्व्वपुरुष साधारण भाव होने से कर्म्म का अनियम घटता है। प्रकृति के कर्त्तृत्व के स्वीकार में समस्त कर्म्म ही सब के भोग के निमित्त होवें अथवा नहीं होवें यह असन्निधिकृत व्यवस्था भी स्थापित नहीं हो सकती है। क्योंकि आत्मा का विभुत्व होने के कारण सर्व्वत्र सान्निध्य है ॥ ३५ ॥

उसमें शक्ति के विपर्य्यय होने के कारण वह अस्वीकार्य्य है पुरुष के कर्त्तृत्व में पुरुषनिष्ठ भोक्तृत्व शक्ति का विपर्य्यय घटता है। जिससे प्रकृतिगामिता आ पड़ती है। अतएव "पुरुष है" भोक्तृभाव से ज्ञात है इस अभिमत की हानि होती है। कर्त्ता से अतिरिक्त भोक्तृत्व के असम्भव होने के हेतु पुरुष की शक्ति भी प्रकृतिगत हो जाती है यह जानना चाहिए ॥ ३६ ॥

मोक्षसाधनभूत समाधि के अभाव के कारण प्रकृतिकर्त्तृत्ववाद दोषावह है। मैं प्रकृति से भिन्न हूँ इस प्रकार ज्ञान ही समाधि है। प्रकृति के कर्त्तृत्व में यह समाधि सम्भव नहीं है। प्रकृति का प्रकृति से अन्यत्व का अभाव तथा जड़ता के वश यह दोष घटता है। अतएव जीव ही कर्त्ता है यह सिद्ध हुआ है ॥ ३७ ॥

इसके अनन्तर जीव का कर्त्तृत्व करणयोग से है अथवा निज शक्ति से है—इसे दृष्टान्त के द्वारा बोध कराते हैं। सूत्रधर उभय रूप से कर्त्ता होता है अर्थात् सूत्रधर जिस प्रकार काष्ठच्छेदन के कार्य्य में वास्यादि के द्वारा कर्त्ता होता है जीव भी ठीक उसी प्रकार अन्य के ग्रहण विषय में प्राणादि के द्वारा कर्त्ता तथा प्राणादि के ग्रहण में निज शक्ति प्रयोग के द्वारा कर्त्ता होता है। इस प्रकार प्राकृत देहादि के हेतु जो कर्त्तृत्व है, वह निश्चय शुद्ध पुरुष से प्रवृत्त होने पर भी गुणवृत्ति प्रचुरता के द्वारा प्रयुक्त देहादिहेतु रूप से उपचारित होता है। क्योंकि जीव के जन्मादिक में प्रकृति गुण-संग ही कारण होता है। यह स्मृति का वचन है। इससे गुणकर्त्तृत्व बोधक सकल वाक्य-व्याख्यात हुए हैं। तो भी कहीं कहीं जीव की जो मौग्ध्यता का वर्णन है वह केवल अधिष्ठानादि पञ्चसाधनापेक्षि कर्त्तृत्व में भी निज एक साधनापेक्षिबुद्धि से ही जानना चाहिए। इस गुणकर्त्तृत्वबोधक वाक्य-समूह का आपा-

यदिहामुत्र च तदर्चनादिकर्त्तृत्वं तन्निर्गुणमेव पूर्व्वत्र गुणान् विमर्द्य चिच्छक्तिवृत्तेर्भक्तेः प्राधान्यात् परत्र कैवल्यात्। एतदभिप्रेत्योक्तं श्रीभगवता—"सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः। तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रय" इति। भोक्तृत्वं तु शुद्धस्य पुंसः। "पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यत" इत्यादिस्मृतेः। गुणसंगेनापि भवतस्तस्य सम्वेदनरूपत्वात् चिद्रूपपुंप्राधान्यं न तु गुणप्राधान्यं तत्त्वेन तद्विरोधित्वात्। स्वरूपसम्वेदनसुखादौ तु सुसिद्धं तत्। स्वस्मै स्वयं प्रकाशत्वादिति। तस्मात्तदुभयं जीवस्यैव मन्तव्यम्। "एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोते"त्यादि श्रुतेश्च। तक्षदृष्टान्तेन कर्त्तृत्वं सातत्यं च निरस्तम् ॥ ३८ ॥

अथ तत्रैव विमर्शान्तरम्। इदं जीवस्य कर्त्तृत्वं स्वायत्तं परायत्तं वेति संशये "स्वर्गकामो यजेत", "तस्माद्-ब्राह्मणः सुरां न पिवेत् पाप्मनोत्संसृजे"त्यादि विधिनिषेधशास्त्रार्थवत्त्वात् स्वायत्तं तत्। स्वबुद्धया प्रवर्त्तितुं निवर्त्तितुं च शक्तो हि नियोज्यो दृश्यते। तत्राह—

परात् तु तच्छ्रुतेः ॥ ३९ ॥

तुशब्दः शङ्काच्छेदार्थः। तत्कर्त्तृत्वं जीवस्य परात् परेशादेव हेतोः प्रवर्त्तते। कुतः? तच्छ्रुतेः। "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां" "य आत्मनि तिष्ठन् आत्मानमन्तरो यमयति" "एष एव साधु कर्म्म कारयती"त्यादौ तथा श्रवतात् ॥ ३९ ॥

ततः प्रकाशमान गुणकर्त्तृत्व रूप अर्थ ग्रहणीय नहीं हो सकता है। क्योंकि इन सकल स्थानों में जो मोक्षसाधनोक्ति देखने में आती है गुणकर्त्तृत्व स्वीकार में उसका विरोध अपरिहार्य्य हो जाता है। "नायं हन्ति न हन्यते" इत्यादि वाक्य हनन के फल रूप छेदन का निषेध करता है। क्योंकि नित्य आत्मा का छेदन कभी भी सम्भव नहीं है। उसके द्वारा कर्त्तृत्व का निषेध नहीं होता है जो कि कर्त्तृत्व पूर्वसिद्ध है। इस प्रकार भगवद् भक्तों का इहलोक और परलोक में जो भगवदर्च्चनादि कर्त्तृत्व है उसे निर्गुणरूप जानना चाहिए क्योंकि पहले वह इस लोक में गुण-समूह का विसर्जन करके चिच्छक्ति की वृत्तिरूप भक्ति के प्राधान्य के हेतु भगवद्धाम में कैवल्यरूप में ठहरता है। इस अभिप्राय में भगवान् ने कहा है—"असंग कर्त्ता ही सात्विक, रागान्ध कर्त्ता राजस, स्मृतिविभ्रष्ट कर्त्ता तामस, और मेरे आश्रित कर्त्ता निर्गुण हैं। शुद्ध पुरुष का ही भोक्तृत्व स्वीकार होता है। स्मृति में कहा गया है "पुरुष ही सुख दुःख के भोग का हेतु है। गुणसंग में वर्त्तमान जीव के संवेदनरूपत्व-प्रयुक्त चिद्रूप पुरुष का प्राधान्य है, गुण का प्राधान्य नही है। क्योंकि जीव का संवेदनरूपत्व के हेतु गुणविरोधित्व ही देखने में आता है। स्वरूप संवेदनसुखादि में जीव का भोक्तृत्व सुसिद्ध है। जीव स्वयं ही अपने का प्रकाशक है। अतएव जीव का ज्ञानरूपत्व होने पर भी ज्ञातृत्वस्वरूप संगत है। "एष हि द्रष्टा"इत्यादि श्रुतिवाक्य भी उक्त मत का पोषक है। सूत्रधर के दृष्टान्त से जीव का कर्त्तृत्व सिद्ध होता है तथा उस विषय में नैयत्य निरस्त हो गया है ॥ ३८ ॥

इसके अनन्तर उक्त विषय में अन्य एक विचार का उत्थापन करते हैं। यह जीव का कर्त्तृत्व स्वायत्त है किंवा परायत्त है? इस प्रकार का संशय उठने पर "स्वर्ग की कामना से यज्ञ करे" "ब्राह्मण सुरापान नहीं करे" इत्यादि विधि-निषेध शास्त्र से जीव का कर्त्तृत्व का स्वायत्त होना बोध होता है। जो निज इच्छा के अनुसार कार्य्यमें प्रवृत्त तथा उससे निवृत्त हो सकता है, उसी को ही कर्म्म में नियोग करना देखा जाता है—इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष स्थिर होने पर उसके उत्तर में कहते हैं।—

श्रुतिप्रमाण सद्भाव के हेतु जीव का कर्त्तृत्व परायत्त ही जानना चाहिए। "तु" शब्द शङ्का निरास के लिये है। जीव का कर्त्तृत्व परमेश्वर के हेतु प्रवर्तित होता है। क्योंकि परमेश्वर ही जीव समूह के अन्तर में प्रवेश होकर उनका कर्म्म में नियोजन करते हैं। "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां" "य आत्मनि तिष्ठन् आत्मानमन्तरो यमयति"

स्यादेतत्। परेशायत्ते कर्त्तृत्वे विधिनिषेधशास्त्रवैयर्थ्यं स्यात्। स्वधिया प्रवृत्तिनिवृत्तिशक्तस्य शास्त्रविनियोज्यत्वादिति चेत्तत्राह—

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ॥ ४० ॥

तुशब्दाच्छङ्का निरस्यते। जीवेन कृतं धर्म्माधर्म्मलक्षणं प्रयत्नमपेक्ष्य परेशस्तं कारयत्यतो नोक्तदोषावतारः। धर्म्माधर्म्मवैषम्यादेव विषमाणि फलानि पर्जन्यवन्निमित्तमात्रः सन्नर्पयति। यथा साधारणस्वबीजोत्पन्नस्य तरुलतादेः पर्जन्यः साधारणो हेतुः। न ह्यसति वारिदे तस्य रसपुष्पादिवैषम्यं सम्भवेत्। नाप्यसति बीजे। तद्वत् तत्कर्म्मापेक्षः शुभाशुभान्यर्पयतीति श्लिष्टम्। तथा च कर्त्ताऽपि परप्रेरितः करोतीति कर्त्तृत्वं जीवस्य न विवार्य्यते। एवं कुतस्तत्राह विहितेति। आदिना निग्रहानुग्रहवैषम्यादिपरिहारोपपत्तिग्रहः। एवं हि विध्यादिशास्त्रस्य वैयर्थ्यं न स्यात्। यदि विधौ निषेधे च परेश एव काष्ठलोष्ट्रतुल्यं जीवं नियुञ्ज्यात् तर्हि तस्य वाक्यस्य प्रामाण्यं हीयेत कृतिमतो नियोज्यत्वात्। उन्निनीषया साधुकर्म्मणि प्रवर्त्तनमनुग्रहः अधो निनीषया असाधुकर्म्मणि प्रवर्त्तनं तु निग्रहः। तौ चैतौ जीवस्य तथात्वेनोपपद्येते, वैषम्यादिदोषपरिहारश्च न स्यात्। तस्माज्जीवः प्रयोज्यकर्त्ता परेशस्तु हेतुकर्त्ता तदनुमतिमन्तराऽसौ कर्त्तुं न शक्नोतीति सर्व्वमवदातम् ॥ ४० ॥

पूर्व्वार्थस्थेम्ने जीवस्य ब्रह्मांशत्वमुच्युते। द्वा सुपर्णेत्यादीनि वाक्यानि श्रूयन्ते। तत्रैक ईशो द्वितीयस्तु जीव इति प्रतीयते। इह संशयः किमीश एव मायया परिच्छिन्नो जीवः किंवा रवेरंशुरिव तद्भिन्नस्तत्सम्बन्धापेक्षी तस्यांश इति। किं प्राप्तं मायया परिच्छिन्न ईश एव जीव इति। "घटसंवृतमाकाशं नियमाने घटे यथा। घटो

"एष एव साधु कर्म्म कारयतीत्यादि" श्रुतिवाक्य समूह इस प्रकार उपदेश करते हैं ॥ ३९ ॥

अच्छा? रहने दीजिये। जीव का कर्त्तृत्व यदि परमेश्वर के अधीन में है तब विधि-निषेध-शास्त्र वृथा हो-जाता है। क्योंकि निजबुद्धि से प्रवृत्तिनिवृत्ति समर्थ व्यक्ति के पक्ष में ही शास्त्र शासन देखने आता है—इस प्रकार की आशङ्का के निराकरण के लिये कहते हैं।—

"तु" शब्द शङ्का निरासार्थ है। जीव कृत धर्म्म-अधर्म्म लक्षण प्रयत्न की अपेक्षा करके ही परमेश्वर उन्हें कर्म्म में प्रवृत्त करते हैं, अतएव उक्त दोष का प्रवेश नहीं है। परमेश्वर मेघ की तरह निमित्तमात्र होकर जीवों के धर्म्म अधर्म्म से उत्थित वैषम्य के वश विषमफल को प्रदान करते हैं। मेघ जिस प्रकार असाधारण निज बीज से उत्पन्न तरु-लताओं का साधारण कारण है। मेघ न होने से उनका रस पुष्पादिकों का वैषम्य सम्भव नहीं है। बीज न होने पर वे सब उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। ठीक उसी प्रकार परमेश्वर निमित्त (साधारण) कारण होकर जीवकृत कर्म्म के अनुसार उन्हें फल प्रदान करते हैं। कर्त्ता होकर पर प्रेरणा से कार्य्य करने के कारण उसका कर्त्तृत्व-निवारित नहीं होता है। ऐसा क्यों होता है? इसके उत्तर में कहते हैं—अवैयर्थ्यादि के वश विहित-निषेध का ही इस प्रकार होता है। आदि शब्द से निग्रह-अनुग्रह वैषम्यादि परिहार की उपपत्ति का ग्रहण है। उससे विधिशास्त्र वा निषेधशास्त्रादि व्यर्थ नहीं होते हैं। परमेश्वर यदि विधि में वा निषेध में काष्ठ लोष्ट्रादि की तरह जीव को नियुक्त करते हैं तब तो इन सब शास्त्र-प्रामाण्य की हानि होती है। नियोज्य कर्त्ता का ही कृतित्व रहना आवश्यक है। उन्नति के लिये सत्कर्म्म में प्रवर्त्तन करने का नाम अनुग्रह तथा अवनति के लिये असत् कर्म्म में प्रवर्त्तन करने का नाम निग्रह है। परमेश्वर के निमित्त कर्त्तृत्व में निग्रह-अनुग्रहादिक सम्भव होते हैं। अन्यथा वे सब सम्भव नहीं होते तथा वैषम्यादि दोष का परिहार नहीं होता। अतएव जीव प्रयोज्यकर्त्ता और परमेश्वर हेतुकर्त्ता अर्थात् प्रयोजक कर्त्ता है। परमेश्वर के अनुमोदन के व्यतिरेक में जीव का कर्त्तृत्व सम्भव नहीं है। इस प्रकार समस्त सिद्धान्त निर्दोष होता है ॥ ४० ॥

नीयेत नाकाशं तद्वज्जीवो नभोपम" इत्यथर्व्वश्रुतेः। एवं च तत्त्वमस्यादि वाक्यान्यनुगृहीतानि स्युः। एवं प्राप्ते पठति—

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दासकितवादित्वमधीयत एके ॥ ४१ ॥

परेशस्यांशो जीवः अंशुरिवांशुमतः तद्भिन्नस्तदनुयायी तत्सम्बन्धापेक्षीत्यर्थः। कुतः ? नानेति। "उद्भवः सम्भवो दिव्यो देव एको नारायणो माता पिता भ्राता निवासः शरणं सुहृद्गतिर्नारायण" इति सुबालश्रुतौ "गतिभर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्"इत्यादिस्मृतौ च स्रष्टृसृज्यत्वनियन्तृनियम्यत्वाधाराधेयत्वस्वामिदासत्वसखासखित्वप्राप्यप्राप्तृत्वादिरूपनानासम्बन्धव्यपदेशात्। अन्यथा अन्यया च विधया तद्व्याप्यतयैनं जीवं तदात्मकमेके आथर्वणिका अप्यधीयन्ते। "ब्रह्मदासा ब्रह्मदासा ब्रह्मे मे कितवा"इति। न ह्येते व्यपदेशाः स्वरूपाभेदे सम्भवेयुः। न हि स्वयं स्वस्य सृज्यादिर्व्याप्यो वा। न वा चैतन्यघनस्य दासादिभावः। तथा सति वैराग्योपदेशव्याकोपात्। न चेशस्य मायया परिच्छेदः तस्य तदविषयत्वात्। न च टंकच्छिन्नपाषाणखण्डवत् तच्छिन्नस्तत्खण्डो जीवः अच्छेद्यत्वशास्त्रव्याकोपात् विकाराद्यापत्तेश्च। तस्मात् तत् सृज्यत्वादिसम्बन्धवांस्तद्भिन्नो जीवस्तदुपसर्ज्जनत्वात् तदंश उच्यते। तत्त्वं च तस्य तच्छक्तित्वात् सिद्धम्। तच्च विष्णुशक्तिरित्यादौ "क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा" इति स्मृतेः। चन्द्रमण्डलस्य शतांशः शुक्रमण्डलमित्यादौ दृष्टं चैतत्। एकवस्त्वेकदेशत्वमंशत्वमित्यपि न तदतिक्रामति। ब्रह्म खलु शक्तिमदेकं वस्तु ब्रह्मशक्तिर्जीवो ब्रह्मैकदेशत्वात् ब्रह्मांशो भवतीति तदुपसृष्टत्वं सुघटम्। घटेत्यादिवाक्यं तूपाधिहानौ तयोः सायुज्यं ब्रुवत् सङ्गतम्। तत्त्वमसीत्येतदपि परस्य पूर्व्वायत्तवृत्तिकत्वादि बोधयति पूर्व्वोक्तश्रुत्यादिभ्यो न त्वन्यत्। तस्मात् ईशात् जीवस्यास्ति भेदः। स च नियन्तृत्वनियम्यत्वविभुत्वाणुत्वादिधर्म्मकृतत्वेन प्रत्यक्षगोचरत्वान्नान्यथासिद्धः ॥ ४१ ॥

अथ वाचनिकमाह—

मन्त्रवर्णात् ॥ ४२ ॥

"पादोऽस्य सर्व्वा भूतानि" इति मन्त्रवर्णोऽपि जीवस्य ब्रह्मांशत्वमाह। अंशपादशब्दौ तु ह्यनर्थान्तरवाचकौ। इह सर्व्वाभूतानीति बहुत्वे श्रौते सूत्रे अंशशब्दो जात्यभिप्रायेणैकवचनान्तो बोध्यः। एवमन्यत्रापि ॥ ४२ ॥

अपि स्मर्य्यते ॥ ४३ ॥

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन" इति श्रीभगवता इह सनातनत्वोक्त्या जीवस्यौपाधिकत्वं निरस्तम्। तस्मात् तत्सम्बन्धापेक्षी जीवस्तदंश इति। तत्कर्त्तृत्वादिकमपि तदायत्तम्। स्मृतिश्च जीवस्वरूपं विशिष्याह। "ज्ञानाश्रयो ज्ञानगुणश्चेतनः प्रकृतेः परः। न जातो निर्विकारश्च एकरूपः स्वरूपभाक्। अणुर्नित्यो व्याप्तिशीलश्चिदानन्दात्मकस्तथा ॥ अहमर्थोऽव्ययः साक्षी भिन्नरूपः सनातनः। अदाह्योऽच्छेद्य अक्लेद्यः अशोष्योऽक्षर एव च। एवमादिगुणैर्युक्तः शेषभूतः परस्य वै। मकारेणोच्यते जीवः क्षेत्रज्ञः परवान् सदा ॥ दासभूतो हरेरेव नान्यस्यैव

पूर्वार्थदाढर्य के लिये जीव का ब्रह्मांशत्व कहा गया है। "द्वा सुपर्णा" इत्यादि श्रुति से जीव और ईश्वर दो-पदार्थ प्रतीत होते हैं। यहाँ संशय होता है कि क्या ईश माया से परिच्छिन्न होकर जीव होते हैं ? किम्वा रवि की किरण की भाँति ब्रह्म से भिन्न अथच तत्सम्बन्धापेक्षी तदंश जीव है ? माया से परिच्छिन्न ईश ही जीव है–इसका प्रमाण कहाँ है ? ऐसे प्रश्न पर कहते हैं कि अथर्व्वश्रुति में ऐसा पाठ है कि जीव आकाशोपम है। घटादि के स्थानान्तर प्राप्ति में जिस प्रकार आकाश का अवस्थान्तर नहीं है ठीक जीव को भी उसी प्रकार जानना चाहिए इत्यादि। इससे तत्त्वमस्यादि वाक्य-समूह सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं ॥—

नाना सम्बन्ध के व्यपदेश के कारण जीव को अंश ही कहा जाता है। अन्य प्रकार से भी–आथर्व्वणिक श्रुति जीव का ब्रह्मात्मकत्व सिद्ध करती है। यथा–"जीव ब्रह्म का दास-कितव है"। इससे अंशांशिभाव व्यक्त हो रहा है। जीव परेश का अंश है। सूर्य्य किरण जिस प्रकार सूर्य्य का अंश है, ठीक उसी प्रकार है। जीव ब्रह्म से भिन्न होने पर भी तत्सम्बन्धापेक्षी है। क्योंकि सुवालश्रुति में कहा गया है "एक नारायण ही माता, पिता, भ्राता, निवास, शरण, सुहृद्, गति आदिक समस्त हैं"। स्मृति में भी कहा है–" भगवान् सब का गति, भर्त्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, और सुहृद् आदि समस्त हैं"। इन समस्त श्रुतियों में स्रष्टा-सृज्य, नियन्ता-नियम्य, आधार-आधेयत्व, स्वामी-दासत्व, सखा-सखित्व, प्राप्य-प्राप्तृत्वादि नाना सम्बन्ध के व्यपदेश होने के कारण जीव का ब्रह्म सम्बन्धापेक्षित्व निर्द्धारित हो रहा है। तिल में तैल की भाँति, दधि में घृत के समान जीवात्मा में ब्रह्म की सत्ता है। अतः जीव ब्रह्मात्मक है इस प्रकार का आथर्व्वण श्रुति में पाठ है। यथा—"ब्रह्मदासा ब्रह्मदासा ब्रह्मे मे कितवा इति"। स्वरूप के अभेद होने में इस प्रकार का व्यपदेश सम्भव नहीं है। कोई कभी आप ही अपने का सृज्य किम्वा व्याप्य नहीं हो सकता है। चैतन्यघन वस्तु का स्वरूप से दास कैतव भावों का होना सम्भव नहीं है। ऐसा होने पर वैराग्य का उपदेश कुपित हो जाता है। माया के द्वारा ईश्वर का परिच्छेद है ऐसा नहीं कह सकते हो। क्योंकि ईश्वर माया का विषय नहीं है। जीव को टंक के (टांकीके) द्वारा छिन्न पाषाणखण्ड की भाँति ब्रह्म का विच्छिन्न अंश नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि ऐसा होने पर तो आत्मा का अच्छेद्यत्व बोधक शास्त्र-समूह मिथ्या हो जाता है। इससे विकारादि की आपत्ति हो सकती है। अतएव ब्रह्मसृज्यत्वादि सम्बन्ध विशिष्ट ब्रह्म से भिन्न जीव स्थिर हुआ है। ब्रह्म सृज्यत्व प्रयुक्त जीव को ब्रह्म का अंश बोला जाता है। जीव को ब्रह्म की शक्ति होने के कारण उसका सृज्य कहा जाता है। जीव विष्णु की शक्ति है। यह "विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा" इत्यादिक स्मृति में प्रसिद्ध है। सृज्यार्थ में अंश शब्द का प्रयोग होता है यह "चन्द्रमण्डल के शतांश में शुक्रमण्डल" इत्यादि वाक्य में स्पष्ट देखने में आता है। 'वस्तु का एकदेश ही उसका अंश" यहाँ पर भी यह अर्थ उलङ्घित नहीं होता है। ब्रह्म शक्तिसमन्वित एक वस्तु है। जीव ब्रह्म का शक्तिभूत है। वह ब्रह्म का एकदेश होने के कारण अंशरूप से अभिहित होता है। इस प्रकार जीव का ब्रह्मसृष्टत्व उपपन्न हुआ है। "घटसम्भृतं" इत्यादि वाक्य उपाधि-हानि से ही संगत होता है। क्योंकि उक्त वाक्य के द्वारा जीव और ब्रह्म का सायुज्य व्यक्त हो रहा है। "तत्त्वमसि" प्रभृति समस्त वाक्य भी जीव के ब्रह्मायत्तवृत्तिकत्वादिक का बोध कराता है। इस प्रकार यह पूर्व्वोक्त श्रुत्यादि से प्रतीत होता है। जीव ब्रह्म का अभेद किसी भी प्रकार बोध नहीं होसकता है। अतएव दोनों का भेद अवश्य स्वीकार्य्य है। यह भेद फिर नियन्तृत्व और नियम्यत्व प्रभृति धर्म्म के द्वारा प्रत्यक्ष-गोचर न होने पर भी शास्त्रों के द्वारा सिद्ध हो रहा है ॥ ४१ ॥

इसके अनन्तर जीव के वाचनिक अंशत्व को कहते हैं—

मन्त्रवर्ण में यह अंशत्व परिदृष्ट होता है। "पादोऽस्य सर्वा भूतानि" प्रभृति मन्त्रवर्ण भी जीव का ब्रह्मांशत्व निर्देष करता है। मन्त्रोक्त "पाद"शब्द अंश को ही बोध कराता है। उक्त शब्दद्वय अन्य अर्थ का वाचक नहीं हैं। यहाँ "सर्वा भूतानि" वहुवचन है। श्रौतसूत्र में जात्याभिप्राय से अंश शब्द के एकवचनान्तत्व का उपदेश है। अन्यत्र भी इस प्रकार जानना चाहिए ॥ ४२ ॥

स्मृति में भी जीव का ब्रह्मांशत्व व्यक्त है। श्रीभगवान् ने भी गीता में कहा है–"इस भूलोक में जीव भूत सनातन वस्तु मेरा ही अंश है"। यहाँ सनातन शब्द से जीव का औपाधिकत्व निरस्त हो रहा है। अतएव ब्रह्मसम्बन्धापेक्षी ब्रह्मांश ही जीव है। उसका कर्त्तृत्वादि भी ब्रह्मायत्त है। स्मृति में भी जीव का स्वरूप विशेष रूप से कहा है। यथा–जीव ज्ञानाश्रय, ज्ञानगुण, चेतन, प्रकृति से पर, जन्म विकार से रहित, एकरूप और शरीरविशिष्ट है। वह अणु, नित्य, व्याप्तिशील, तथा चिदानन्दात्मक, अस्मत् शब्द वाच्य, अव्यय, साक्षी, भिन्नरूप और

कदाचन" इति। एवमादीत्यादिपदात् कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व-स्वस्मै-स्वयं-प्रकाशत्वानि बोध्यानि । प्रकाशः खलु गुण-द्रव्यभेदेन द्विभेदः। प्रथमः स्वाश्रयस्य स्फूर्त्तिः। द्वितीयस्तु स्वपरस्पूत्तिहेतुर्वस्तुविशेषः। स चात्मैव । दीपश्चक्षुः प्रकाशयन् स्वरूपस्फूर्त्तिं च स्वयमेव करोति न तु घटादिप्रकाशवत् तदादिसापेक्षः। तस्माद्यं स्वयं प्रकाशः। तथापि स्वं प्रति न प्रकाशते स्वस्मिन् जाड्यात्। आत्मा तु स्वयं परं च प्रकाशयन् स्वं प्रति प्रकाशते। अतः स्वस्मै स्वयं प्रकाशः यदसौ चिद्रूप इति ॥ ४३ ॥

प्रसङ्गादिदं विचिन्त्यते "एको वशी सर्व्वगः कृष्ण ईड्य एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति" इति श्रीगोपालतापन्यां पठ्यते। स्मृतौ च "एकानेकस्वरूपाये"त्यादि। अत्रांशिरूपेणैकोऽंशकलारूपेण तु बहुधेत्यर्थः प्रतीयते । तत्र जीवांशान् मत्स्याद्यंशस्य विशेषोऽस्ति न वेति संशये अंशत्वाविशेषात् नास्तीति प्राप्ते—

प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥ ४४ ॥

अंशशब्दितत्वेऽपि परो मत्स्यादिर्न एवं जीववन्न भवति। तत्र दृष्टान्तमाह प्रकाशेति। यथा तेजोऽंशो रविः खद्योतश्च तेजःशब्दितत्वेऽपि नैकरूप्यभाक्। यथा जलांशः सुधामद्यादिश्च जलशब्दितत्वेऽपि न साम्यं लभते तद्वत् ॥४४॥

स्मरन्ति च ॥ ४५ ॥

"स्वांशश्चाथ विभिन्नांश इति द्वेधाऽंश इष्यते। अंशिनो यत्तु सामर्थ्यं यत् स्वरूपं यथा स्थितिः। तदेव नाणुमात्रोऽपि भेदः स्वांशांशिनोः क्वचित्। विभिन्नांशोऽल्पशक्तिः स्यात् किंचित्सामर्थ्यमात्रयुक्" इति। "सर्व्वैः

सनातन है। अदाह्य, अच्छेद्य, अक्लेद्य, अशोष्य, अक्षरादिगुण-युक्त ब्रह्म का अंशभूत है। मकार के द्वारा सदा परवान्, क्षेत्रज्ञ, जीव कहा जाता है। वह श्रीहरि का दासभूत है और किसी का नहीं है। आदि पद के द्वारा जीव का कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व, और अपने के लिये स्वयंप्रकाशमानत्वादि व्यक्त हो रहा है। प्रकाश गुण-द्रव्यभेद से दो प्रकार का है। स्व-आश्रय की स्फूर्त्ति प्रथमप्रकाश है। दूसरा प्रकाश स्व-पर-स्फूर्त्ति का हेतुभूत वस्तुविशेष है। वह वस्तु आत्मा है। प्रदीप नेत्र का प्रकाश कर स्वयं स्वरूप की स्फूर्त्ति करता है। वह घटादि प्रकाश की भाँति प्रकाशक की अपेक्षा नहीं करता है। अतएव दीप स्वप्रकाशस्वरूप है। तो भी वह अपने में जड़ता के कारण अपने पक्ष में प्रकाशित नहीं होता है। किन्तु आत्मा अपने को और पर को प्रकाश कर निज पक्ष में प्रकाशित होता है। वह अपने पक्ष में भी स्वप्रकाश है। उसका चिद्रूपत्व ही उसका कारण है ॥ ४३ ॥

प्रसंग-क्रम से अन्य एक विचार का उत्थापन करते हैं। गोपालतापनी में "एको वशी" इत्यादि वाक्य में ब्रह्म का एकत्व सत्व में बहुरूपत्व कहा गया है। स्मृति में भी—"वे एक होकर भी अनेक रूप हैं" इत्यादि कथन है।—यहाँ अंशी रूप से एक तथा अंश कला रूप से बहु यह प्रतीत होता है। इस विषय में संशय यह है जीव रूप अंश से मत्स्यादि अवतार रूप अंशसमूह भिन्न है किम्वा नहीं है? अंश के अविशेष होने के कारण भेदाभाव ही प्रतीत होना चाहिए—इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं—

अंश शब्द से अभिहित होने पर भी मत्स्यादि अवतार प्रकाशादि की भाँति जीव के सदृश नहीं हो सकते हैं। मत्स्यादि अवतार-समूह का यद्यपि अंश शब्द से अभिधान किया जाता है तो भी वे सब जीव के तुल्य नहीं हैं। प्रकाशादि ही उसका दृष्टान्त है। तेजांश रवि जिस प्रकार तेजःशब्द से शब्दित खद्योत (जुगनू) के सदृश नहीं है और जलांशभूतसुधा जिस प्रकार जलशब्द से शब्दित मद्यादि के सदृश नहीं होती है, ठीक उसी प्रकार मत्स्यादि अवतार-समूह जीव के सदृश नहीं हो सकते हैं ॥ ४४ ॥

स्मृति में भी इस प्रकार देखने में आता है। अंश दो प्रकार का है—स्वांश और विभिन्नांश। अंशी का जिस

सर्व्वगुणैः पूर्णाः सर्व्वदोषविवर्जिता" इति च। अयं भावः। "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयमि"त्यादौ कृष्णाख्यस्य वस्तुनः स्वयं रूपस्य ये मत्स्यादयोऽंशाः स्मृताः न ते जीववत् ततो भिद्यन्ते, तस्यैव वैदूर्य्यादिवत् तत्तद्भावाविष्कारात्। सर्व्वशक्तिव्यक्त्यव्यक्तिसव्यपेक्षो हि तत्तद्व्यपदेशः। यः कृष्णः कृत्स्नषाड्गुण्यव्यञ्जकोऽंशी, स एवाकृत्स्नतद्व्यञ्जको द्व्येकव्यञ्जको वाऽंशः कला चेत्युच्यते । यथैकः कृत्स्नषट्शास्त्रप्रवक्ता सर्व्वविदुच्यते स एव क्वचिदकृत्स्नतद्वक्ता द्व्येकशास्त्रवक्ता च सर्व्ववित्कल्पोऽल्पज्ञश्चेति। पुरुषबोधिन्यादिश्रुता राधाद्याः पूर्णाः शक्तयो दशमादिस्मृता गुणाश्च सर्व्वातिशयिप्रेमपूर्णपरिकरत्व-द्रुहिणादिविद्वत्तमविस्मापकवंशीमाधुर्य्यस्वपर्य्यन्तसर्व्वविस्मापकरूपमाधुर्य्यनिरतिशयकारुण्यादयो यशोदास्तनन्धये कृष्ण एव नित्याविर्भूताः सन्ति न तु मत्स्यादित्वे सतीति तस्यैव तत्तद्भावाविष्कारान्न मत्स्यादेर्जीववत् तत्त्वान्तरत्वं किंतु तदात्मकत्वमेवेति ॥४५॥

युक्त्यन्तरेण विशेषं दर्शयति।

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धात् ज्योतिरादिवत् ॥ ४६ ॥

सत्यपि ब्रह्मांशत्वेऽनाद्यविद्याविजृंभितात् देहसम्बन्धात् जीवरूपस्यांशस्य परेशकृतावनुज्ञापरिहारौ श्रूयेते नैवं मत्स्यादिरूपस्य। किंतु देहसम्बन्धराहित्यं साक्षात् परेशत्वं च तस्य श्रूयते अतो महान् विशेषः। अनुज्ञानुमतिः साध्वसाधुकर्म्मप्रेरणेति यावत्। "एष एव साधुकर्म्म कारयति" इत्यादि श्रुतेः। परिहारश्च ततो निवृत्तिर्मोक्ष

प्रकार की सामर्थ्य, जो स्वरूप, जिस प्रकार की स्थिति है ठीक उसी प्रकार स्वांश की होती है। स्वांश से अंशी का अणुमात्र भेद नहीं हैं। परन्तु विभिन्नांश-समूह अपेक्षाकृत अल्पशक्ति-विशिष्ट है। उनकी सामर्थ्य भी अति अल्पमात्र है। स्वांश अवतार-समूह समस्त गुण से पूर्ण तथा सकल दोष से रहित है। इसका तात्पर्य यह है—"ये सब अवतार अंश कलारूप हैं, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं" इत्यादि वचन से सकल पुरुषादि श्रीकृष्ण का अंश हैं। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् सर्वांशी हैं। मत्स्यादि अवतार-समूह अंश होने पर भी जीव की तरह श्रीकृष्ण से भिन्न नहीं हैं। वे स्वयं वैदूर्य्यमणि की तरह तत्तत् भाव का आविष्कार करते हैं। समस्त शक्ति के प्रकाश और अप्रकाश से ही अंश कला भेद का व्यपदेश होता है। समस्त षाड्गुण्यव्यञ्जक अंशी श्रीकृष्ण ही असमस्तषाड्गुण्य-व्यञ्जक मत्स्यादि अवतार रूप हैं। एक, दो, शक्ति का व्यञ्जक अंश वा कला रूप से कहा जाता है। सर्व्वशास्त्रवेत्ता को जिस प्रकार सर्ववेत्ता और दो अथवा एक ही शास्त्रवेत्ता को सर्ववेत्ता के तुल्य वा अल्पज्ञ कहा जाता है ठीक उसी प्रकार भगवान् एवं उनके अवतार-समूह को जानना चाहिए। पुरुषबोधिनी श्रुति में श्रीराधिकादि को परिपूर्ण शक्तियाँ कहा गया है। दशमस्कन्ध में भगवान् के परिपूर्ण गुण-समूह का वर्णन है। वे सब शक्तियाँ तथा सर्वातिशयि प्रेमपूर्ण परिकर वाले, ब्रह्मादिवृद्धजनविस्मापितवंशीमाधुर्य्यशाली, स्वपर्य्यन्त सर्वविस्मापकरूपमाधुर्य्यरूप निरतिशय कारुण्यत्वादि गुण-समूह यशोदास्तनपायी श्रीमन्नन्दनन्दन श्रीकृष्ण में नित्य विराजमान हैं। मत्स्यादि अवतारों में ये सब गुण नहीं हैं। क्योंकि इन सकल भावों का श्रीकृष्ण में ही नित्य आविर्भाव होता है। अतएव मत्स्यादि अवतार-समूह जीव की भाँति तत्वान्तर नहीं है, वे सब तदात्मक हैं ॥ ४५ ॥

फिर युक्त्यन्तर के द्वारा विशेषता दिखाते हैं।—

देह सम्बन्ध से ज्योति प्रभृति के सदृश जीव की अनुज्ञा और परिहार दृष्ट होता है। ब्रह्मांशत्व रहने पर भी अनादि अविद्या के द्वारा विजृम्भित जीव रूप अंश का देह सम्बन्ध प्रयुक्त परेशकृत अनुज्ञा और परिहार सुनने में आता है। मत्स्यादि अवतारों का उस प्रकार नहीं है। अधिक ये सब अवतार प्राकृत देह सम्बन्ध से रहित, परेशरूप से सुने जाते हैं। अतएव दोनों का महान् विशेष है। अनुज्ञा शब्द का अर्थ अनुमति अर्थात् साधु कर्म्म और असाधु कर्म्म में प्रेरणा। परिहार शब्द का अर्थ इन सब से निवृत्ति वा मुक्ति। "एष एव साधुकर्म्म कारयति"

इति यावत्। तमेव विदित्वेत्यादिश्रुतेः। तत्र दृष्टान्तमाह ज्योतिरिति। ज्योतिश्चक्षुस्तस्य यथा सूर्य्यांशस्यापि देहसम्बन्धात् नानाविधत्वं तदनुग्राह्यत्वं तत्प्रवृत्तिनिवृत्ती च तद्धेतुके एव नैवं खस्थस्य सूर्यांशस्यापि, तत्प्रकाशस्य तस्य सूर्य्यात्मकत्वात् तद्वत् ॥ ४६ ॥

असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॥ ४७ ॥

जीवस्यासन्ततेरपूर्णत्वादव्यतिकरः। पूर्णेन मत्स्यादिना साम्यं नेत्यर्थः। बालाग्रशतभागस्येत्याद्या श्रुतिर्जीवस्यापूर्त्तिमाह। पूर्णमदः पूर्णमिदमित्याद्या तु मत्स्यादेः पूर्त्तिम् ॥ ४७ ॥

हेतुं दूषयति— **आभास एव च ॥ ४८ ॥**

अंशशब्दितत्वाविशेषादिति यो हेतुर्मत्स्याद्यंशस्य जीवांशेन साम्यं बोधयितुमुपन्यस्तः स त्वाभास एव सत्प्रतिपक्षाख्यो हेत्वाभास एव। वैषम्यसाधकस्य पूर्त्यादेर्हेत्वन्तरस्य सत्त्वात्। चकारो दृष्टान्तसूचनाय। न हि द्रव्यत्वेन पृथिवीनभसोः साम्यपारम्यं साधनीयम्। न वा पदार्थत्वेन, भावाभावयोस्तत्। तथा च मत्स्यादावसर्व्वव्यञ्जकत्वं जीवे तु तदुपसर्ज्जनत्वमंशत्वमिति ॥ ४८ ॥

एवं प्रासङ्गिकं समाप्य प्रकृतं चिन्तयति। "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामानि" त्यादीनि वाक्यानि काठकादिषु श्रूयन्ते। तत्र नित्यचेतनतया प्रतीता बहवो जीवाः साम्यभाजो न वेति सन्देहे विशेषाप्रतीतेः साम्यभाज इति प्राप्ते—

इत्यादि तथा "तमेव विदित्वा" इत्यादि श्रुति वचन से यह सब अर्थ स्थिर होता है। उस विषय में दृष्टान्त यथा-ज्योतिः पदार्थरूप नेत्र सूर्य्यांश होने पर भी जिस प्रकार देह सम्बन्ध प्रयुक्त नाना प्रकार और तदनुग्राह्य होता है। अर्थात् नेत्र की प्रवृत्ति वा निवृत्ति जिस प्रकार सूर्य्य को ही अपेक्षा करती है ठीक उसी प्रकार आकाशस्थित सूर्य्यांशरूप सूर्य्य-प्रकाश सूर्य्यात्मक होने का कारण सूर्य्य की अपेक्षा नहीं करता है। जीव और मत्स्यादि अवतारों का ठीक उसी प्रकार भेद जानना ॥ ४६ ॥

अपूर्ण और असाम्य का अन्य एक कारण है कि जीव सकल अपूर्ण होने का कारण पूर्णरूप मत्स्यादि अवतार के साथ साम्य नहीं हैं। "बालाग्रशतभागस्य" प्रभृति श्रुति सकल जीव का अपूर्णत्व निर्देश करते हैं। "पूर्णमदः पूर्णमिदम्" प्रभृति श्रुतियाँ भी मत्स्यादि-अवतारों का पूर्णत्व निर्देश करती हैं ॥ ४७ ॥

इसके अनन्तर उक्त पक्ष के हेतु में दोषारोप करते हैं।—पूर्व्वोक्त हेतु हेतु नहीं है, हेत्वाभासमात्र है। जीव और मत्स्यादि अवतार उभय अंश शब्द से अभिहित होते हैं। अतएव दोनों का साम्य कहा जाना चाहिए-इस प्रकार समझाने के लिये "अंशशब्दितत्त्वाविशेषात्" जो इस हेतु के उपन्यस्त किया गया है, वह हेतु नहीं है। सत्प्रतिपक्ष नामक हेत्वाभास है। क्योंकि वैषम्य-सूचक पूर्णत्व प्रभृति हेत्वन्तर की विद्यमानता है। तुल्यबल विरोधि हेतुद्वय (दोनों कारण) एक पक्ष में होने पर सत्प्रतिपक्ष नामक हेत्वाभास होता है। सूत्र में चकार दृष्टान्त सूचना के लिये है। पृथिवी-आकाश दोनों में द्रव्यत्व हेतु के कारण साम्य नहीं हो सकता है। पदार्थत्व हेतु के द्वारा वह साधन भी सम्भव नहीं होता है। इससे कि वह भाव और अभाव पदार्थ में देखा जाता है। मत्स्यादि अवतारों में असर्व्वशक्तिव्यञ्जकत्व और जीव में ब्रह्मउपसर्ज्जनत्व तथा अंशत्व सिद्ध हुआ है ॥४८॥

अब प्रासङ्गिक विषय का समापन कर प्रकृत विषय पर विचार करते हैं। "नित्यों का नित्य,चेतनों का चेतन", इत्यादि वचन काठकादि में सुने जाते हैं। यहाँ नित्य, चैतन्य के द्वारा प्रतीत सकल जीव समान हैं किम्बा असमान हैं ? इस प्रकार की आशंका होने हर विशेष के अप्रतीति निबन्धन सकल जीव समान हैं—यह जो पूर्व्वपक्ष है, उसके उत्तर में कहते हैं—

अदृष्टानियमात् ॥ ४९ ॥

मण्डूकप्लुत्या नेत्यनुवर्त्तते। नैव ते साम्यभाजः। कुतः ? स्वरूपसाम्येऽपि तददृष्टानामनियमात् नानाविधत्वात्। अदृष्टं त्वनादि ॥ ४९ ॥

नन्विच्छाद्वेषादिभिर्वैषम्यं स्यान्नेत्याह—

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॥ ५० ॥

तेष्वपि वैचित्र्यहेतुतयाऽङ्गीकृतेष्वेवं हेत्वन्तरापेक्षात्तेस्तेऽप्यदृष्टादेवेत्यर्थः। चकारः प्रतिक्षणवैचित्रीं समुच्चिनोति ॥ ५० ॥

ननु स्वर्गभूम्यादिप्रदेशवैशेष्यात् वैचित्र्यं स्यान्नेत्याह—

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥ ५१ ॥

तत्प्राप्तेरप्यदृष्टापेक्षत्वेनादृष्टान्तर्भावात् प्रदेशादेकदेशस्थितानामपि वैचित्रीदर्शनाच्च ॥ ५१ ॥

॥ इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

॥ चतुर्थः पादः ॥

त्वज्जाताः कलितोत्पाताः मत्प्राणाः सन्त्यमित्रभित्। एतान् शाधि तथा देव यथा सत्पथगामिनः ॥ ० ॥

भूतविषयः श्रुतिविरोधः परिहृतस्तृतीयपादे। चतुर्थे तु प्राणविषयः स परिह्रियते। गौणमुख्यभेदेन द्विविधाः प्राणाः। गौणाश्चक्षुरादीन्येकादशेन्द्रियाणि मुख्यास्तु प्राणापानादयः पञ्चेति। तेषु गौणाः परीक्ष्यन्ते। एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्व्वेन्द्रियाणि च इत्यादि श्रूयते। किमत्र जीववदिन्द्रियाणामुत्पत्तिरुत खादिवदिति संशये "असद्वा इदमग्र आसीत्तदाहुः किं तदासीदिति ऋषयो वाव ते असदासीत् तदाहुः के ते ऋषय इति प्राणा वाव ऋषय" इत्यत्र ऋषिप्राणशब्दितानामिन्द्रियाणां सृष्टेः प्राक् सत्त्वश्रवणात् जीववदिति प्राप्ते पठति—

अदृष्ट के अनियम के वश समस्त जीव का साम्य नहीं स्वीकार किया जाता है। मण्डूकप्लुति के द्वारा नकार का अनुवर्त्तन है। सकल जीव समान नहीं हैं। कारण यह है कि स्वरूपतः साम्य रहने पर भी अदृष्ट के अनियम के हेतु जीव नाना प्रकार के होते हैं। यह अदृष्ट अनादि है ॥ ४९ ॥

अच्छा ? इच्छा, द्वेषादि के द्वारा वैषम्य हो जाता है इस प्रकार नहीं बोला जा सकता है इसको समझाते हैं—

अभिसन्धि प्रभृति में भी जब अदृष्ट की कारणता दीखती है तब अदृष्ट को वैचित्र्य का कारण कहा जावेगा। द्वेषादि को वैचित्र्य का कारण स्वीकार करने पर भी वे सब जब अदृष्टरूप हेत्वन्तर की अपेक्षा करते हैं, तब अदृष्ट को ही एकमात्र वैचित्र्य का कारण बोलना होगा। चकार के द्वारा प्रतिक्षण में वैचित्र्य समुच्चित होता है॥५०॥

स्वर्ग और पृथिवी प्रभृति प्रदेश भी इस वैचित्र्य का कारण नहीं है—इसे कहते हैं—

अन्तर्भाव प्रयुक्त प्रदेश को भी वैचित्र्य का कारण बोलना संगत नहीं होता है। स्वर्गादि लाभ ही जब अदृष्टापेक्ष है, तब अदृष्ट ही मूलकारण है। विशेषतः प्रदेश से एकदेश स्थित व्यक्ति का वैचित्र्य देखा जाता है ॥५१॥

इति श्रीगोविन्दभाष्य का अनुवाद में द्वितीय अध्याय का तृतीयपाद समाप्त ॥

हे देव ! मेरे यह नेत्रादिक इन्द्रिय समूह आप से उत्पन्न होकर भी विषय में अत्यासक्त हो रहे हैं। वे सब मुझे आपका विमुखकारी प्रबल विषय के द्वारा आपके पथ से विभ्रष्ट कर रहे हैं। आप इन मन्दगामी इन्द्रियों को इस प्रकार उपदेश प्रदान करें जिससे वे सब त्वत्पदगामी हों ॥ ० ॥

तथा प्राणाः ॥ १ ॥

यथा खादयः परस्मादुत्पद्यन्ते तथा प्राणा इन्द्रियाणि चेत्यर्थः। प्राक् सृष्टेरेकत्वावधारणात् "मनः सर्व्वेन्द्रियाणि चैतस्मात् जायन्त" इति श्रुतेश्च। न च जीवोत्पत्तिवदिन्द्रियोत्पत्तिर्भवितुमर्हति जीवानां चैतन्यरूपाणां षड्भावविकाराभावात्। क्वचित्तदुत्पत्तिश्रुतिर्गौणी, इन्द्रियाणां तु प्राकृतत्वात् मुख्या सेति। एवं सति ऋषिप्राणशब्दाभ्यां ब्रह्मैव तत्र ग्राह्यम्, तयोः सार्व्वज्ञ्यप्राणनाभिधायित्वात् ॥ १ ॥

ननु ऋषयः प्राणा इति बहुत्वानुपपत्तिस्तत्राह—

गौण्यसम्भवात् ॥ २ ॥

बहुत्वश्रुतिर्गौणी। कुतः? स्वरूपनानात्वाभावेन बह्वर्थासम्भवात्। तथा च प्रकाशाभिप्रायं तत्र बहुत्वं भविष्यति। एक एवासौ वैदूर्य्यवदभिनेतृनटवच्च बहुधावभासते। "एकं सन्तं बहुधा दृश्यमानं" "एकानेकस्वरूपाय" इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यश्च ॥ २ ॥

तत् प्राक् श्रुतेश्च ॥ ३ ॥

न च तदानीमनपीताः कतिचित् पदार्थाः स्युस्तैर्बहुत्वोपपत्तिरिति शक्यं शङ्कितुं सृष्टेः पूर्व्वमेकत्वावधारणश्रवणात्। अतश्च सा गौणीत्यर्थः ॥ ३ ॥

तृतीयपाद में भूतविषयक श्रुतिविरोध का परिहार किया गया है। चतुर्थपाद में प्राणविषयक श्रुतिविरोध का परिहार किया जाएगा। प्राण गौण-मुख्य भेद से दो प्रकार हैं। चक्षु आदिक ग्यारह इन्द्रियाँ गौण तथा प्रान-अपान आदिक पाँच मुख्य हैं। पहिले उनमें से गौण प्राणसमूह की परीक्षा की जाती है। "इससे प्राण, मन और सकल इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई है" इस प्रकार श्रुति में देखा जाता है। यहाँ संशय यह है कि इन्द्रियों की उत्पत्ति जीव के न्याय अथवा आकाशादि के न्याय। "क्या सृष्टि के पहले असत् था? ऋषियाँ कहते हैं हँ वह असत् ही था। वह असत् कौन है? ऋषिगण हैं, वे ऋषियाँ कौन हैं? प्राण सकल ही ऋषि हैं" यहाँ ऋषि और प्राण शब्द के द्वारा इन्द्रिय सकल बोध हो रहे हैं। सृष्टि के पहले इन सब इन्द्रियों की सत्ता सुनने में आती है। अतएव उन्हों की उत्पत्ति जीव के न्याय है इस प्रकार पूर्व्वपक्ष का उत्तर में कहते हैं ॥—

आकाशादि जिस प्रकार परमेश्वर से उत्पन्न होते हैं ठीक उसी प्रकार प्राण और इन्द्रिय सकल उन परमेश्वर से उत्पन्न होते हैं। सृष्टि के पहले एकत्व का ही अवधारण होता है। विशेष करके श्रुति में मन तथा समस्त इन्द्रियाँ इससे ही उत्पन्न होते हैं—इस प्रकार का वचन है। अतएव जीव की उत्पत्ति की भाँति इन्द्रियों की उत्पत्ति युक्त नहीं है। सकल जीव चैतन्य स्वरूप हैं, उनका षट्भावविकार नहीं देखा जाता है। तो भी कहीं कहीं जो जीव की उत्पत्ति सुनने में आती है, वह गौणमात्र है। समस्त इन्द्रियों के भौतिक होने के कारण उनकी उत्पत्ति मुख्य ही-जाननी होगी। इस प्रकार स्थिर होने पर ऋषिशब्द वा प्राणशब्द के द्वारा ब्रह्म ही गृहीत होता है। क्योंकि उक्त दोनों शब्द से सार्वज्ञ्य प्राण ही अभिहित होता है ॥ १ ॥

अच्छा? इस प्रकार कहने से "ऋषयः प्राणाः" यहाँ जो बहुवचन विभक्ति का प्रयोग किया गया है, उसकी अनुपपत्ति होती है? इसके उत्तर में कहते हैं—

बहुत्व-श्रुति गौण है। क्योंकि स्वरूप के नानात्व-अभाव के वश बहु अर्थ का होना असम्भव है। प्रकाश के अभिप्राय से ही ब्रह्म में बहुत्व हो सकता है। एक ही ब्रह्म वैदूर्य्यमणि की भाँति तथा अभिनेता नट की तरह बहु प्रकार विभात होता है। श्रुति में कहा है-"ब्रह्म एक होकर भी बहु प्रकार दृश्यमान होता है"। स्मृति में भी कहा है-"वे एक रूप होकर भी अनेक रूप हैं ॥ २ ॥

प्राणशब्दस्य ब्रह्मपरत्वे युक्तिमाह—

तत्पूर्व्वकत्वाद्वाचः ॥ ४ ॥

वाचः सूक्ष्मशक्तिकब्रह्मान्यविषयस्य नाम्नः प्रधानमहदादिसृष्टिपूर्व्वकत्वात् तदा नामरूपवतामभावेन तदुपकरणानामिन्द्रियाणामप्यभावात् प्राणशब्दस्तत्र ब्रह्माभिधायीत्यर्थः। "तद्धेदं तर्हीति श्रुतिः" सृष्टेः पूर्व्वं नामरूपिणामभावमाह। तस्मादिन्द्रियाणि खादिवदुत्पन्नानीति ॥ ४ ॥

एवमिन्द्रियविषयकं श्रुतिविरोधं निरस्य तत्संख्याविषयकं तं निरस्यति। "सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्तहोमाः सप्त मे लोका येषु सञ्चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिता सप्त सप्ते"ति मुण्डके। "दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादश" इति च बृहदारण्यके श्रूयते। तत्र सप्तैव प्राणा उतैकादशेति संशये पूर्व्वपक्षमाह—

सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥ ५ ॥

प्राणाः सप्तैव। कुतः? गतेः। समानामेव जीवेन सह सञ्चाररूपाया गतेः श्रवणात्। "यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिमि"ति काठके योगदशायां ज्ञानानीति विशेषितत्वाच्च। श्रोत्रादिपञ्चकबुद्धिमनांसि सप्तैव जीवस्येन्द्रियाणि भवन्ति। यानि तु वाक्पाण्यादीनि श्रूयन्ते तेषां जीवेन सह गत्यश्रवणादीषदुपकारमात्रेणेन्द्रियत्वभणितिर्गौणीति ॥ ५ ॥

एवं प्राप्ते सिद्धान्तयति— **हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥ ६ ॥**

तुशब्दश्चोद्यनिरासार्थः। हस्तादयः सप्तातिरिक्ताः प्राणा मन्तव्याः। कुतः? जीवे देहस्थिते तेषामपि बह्वोग-

---

सृष्टि के पहले अविलीन अवस्था में कुछ पदार्थ रहते हैं जिससे बहुत्व की उपपत्ति होती है—इस प्रकार की आशङ्का नहीं कर सकते हो। क्योंकि उस समय एकत्व का अवधारण सुनने में आता है ॥ ३ ॥

अब प्राण शब्द के ब्रह्मपरत्व में युक्ति दिखाते हैं—

वाक्य अर्थात् सूक्ष्मशक्तिकब्रह्म अन्य विषयभूत नाम का प्रधान महदादि सृष्टि पूर्वकत्व के हेतु उस समय अरूप के सदृश सकल वस्तु के अभाव के वश तदुपकरण रूप इन्द्रियवर्ग का भी अभाव होने के कारण प्राण-शब्द ब्रह्माभिधायी होता है। "तद् वा इदं तर्हि" यह श्रुति सृष्टि के पहले नाम-रूप का अभाव कहती है। अतएव सकल इन्द्रिय आकाशादि की भाँति उत्पन्न हैं ॥ ४ ॥

इस प्रकार इन्द्रिय विषयक श्रुतिविरोध का परिहार कर तत्संख्याविषयक विरोध का निरास करते हैं। "सप्त प्राण उत्पन्न होते हैं उनसे सप्तर्च्चि, समिध, सप्त होम और ये सप्त लोक होते हैं। जिनमें गुहाशय सकल प्राण सञ्चरण करते हैं" इत्यादि मुण्डकश्रुति से तथा "दशम पुरुष में सकल प्राण और एकादश आत्मा" इत्यादि बृहदारण्यकश्रुति से प्राण सात हैं अथवा ग्यारह हैं—इस प्रकार के सन्देह में परवर्त्ती पूर्वपक्षीय सूत्र की अवतारणा करते हैं ॥—

प्राण सात हैं। क्योंकि सातों प्राण की ही जीव के साथ सञ्चारण रूप गति का श्रवण किया जाता है। "जब पञ्च ज्ञान और बुद्धि मन के साथ चेष्टा नहीं करते हैं तब उसी अवस्था को परमगति कहा जाता है"—इस काठकश्रुति में योगदशा में "ज्ञानानि" अर्थात् सकल ज्ञान इस प्रकार के विशेषण के प्रयोग के कारण श्रोत्रादि पञ्च इन्द्रियाँ एवं बुद्धि और मन ये सात जीव की इन्द्रियाँ सूचित होती हैं। वाक् और पाणि आदिक अपर पाँच का जीव के साथ गति के अश्रवण होने के हेतु ईषत् उपकारकत्व होने से उनकी इन्द्रिय रूप से उक्ति गौण ही समझनी चाहिये ॥ ५ ॥

साधनत्वात् कार्य्यभेदाच्च । तथा च बृहदारण्यके पठ्यते । "हस्तो वै ग्रहः सर्व्वकर्म्मणाभिग्रहेण गृहीताः हस्ताभ्यां कर्म्म करोति" इत्यादि । अतः सप्तातिरेकादेव हेतोर्नैवं मन्तव्यं सप्तैवेति किन्तु पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्म्मेन्द्रियाणि एकमन्तरिन्द्रियमित्येकादशैवेन्द्रियाणि ग्राह्याणि । आत्मैकादशेत्यत्रात्माऽन्तरिन्द्रियं प्रकरणात् । इदमत्र बोध्यम् । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धविषयाः पञ्च ज्ञानभेदास्तदर्थानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनघ्राणाख्यानि, वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाः पञ्च कर्म्मभेदास्तदर्थानि पञ्च कर्म्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि । सर्व्वार्थविषयं त्रिकालवर्त्त्यन्तःकरणमेकमनेकवृत्तिकम् । तदेव संकल्पाध्यवसायाभिमानचिन्तारूपकार्य्यभेदात् क्वचिद्भेदेन व्यपदिश्यते मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेति । तथा चैकादशैवेन्द्रियाणीति ॥ ६ ॥

प्राणानां परिमाणं चिन्तयति । प्राणा व्यापिनोऽणवो वेति संशये दूरश्रवणदर्शनादेवानुभवाद्व्यापिन एवेति प्राप्ते—

अणवश्च ॥ ७ ॥

चो निश्चये । अणव एवैकादश प्राणाः । उत्क्रान्तिश्रुतेरिति शेषः । दूरश्रवणादिकं तु गुणप्रसारात् सिद्धम् । जीवस्येव शिरोंघ्रिव्यापित्वम् । एतेन प्राणव्याप्तिवादिनः सांख्या निरस्ताः ॥ ७ ॥

"अथैतस्मात् जायते प्राण" इत्यत्र मुख्यः प्राणः परीक्ष्यते । श्रेष्ठः प्राणो जीववन्नोत्पद्यते स्वादिवद्वेति विषये

इस प्रकार पूर्वपक्षी के उत्तर में सिद्धान्त सूत्र का प्रदर्शन करते हैं ।–जीवदेह में हस्तादि सप्तातिरिक्त प्राण स्वीकार्य्य हैं । अतएव प्राण सात हैं—इस प्रकार नहीं बोला जा सकता है । आशङ्का निरास के लिये "तु" शब्द है । हस्तादिक सातों से अतिरिक्त प्राण अर्थात् इन्द्रियाँ स्वीकार्य्य हैं । क्योंकि देह में जीव रहने पर ही उनको भोगसाधन के लिये जानना चाहिए जिससे कि कार्य्यभेद स्वीकार किया जाता है । बृहदारण्यक में पाठ है–"कर्म्म रूप अभिग्रह के द्वारा गृहीत होने के कारण हस्त को ग्रह बोला जाता है । जीव हस्त के द्वारा कर्म्म साधन करता है" । इस प्रकार से जब अधिक देखा जाता है तब सप्तमात्र प्राण बोलना संगत नहीं होताहै । पांचज्ञानेन्द्रिय,पाँच कर्म्मेन्द्रिय, एक अन्तरिन्द्रिय इस प्रकार एकादश इन्द्रियाँ हैं । "आत्मैकादश" यहाँ आत्म शब्द से अन्तरिन्द्रिय का बोध होता है । यह बोध प्रकरण से ही घटता है । यहाँ तात्पर्य्य यह है कि शब्द,स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँच विषय हैं । विषय भेद से ज्ञान-भेद होता है । इसलिये ज्ञानेन्द्रिय ही पांच प्रकार की हैं । श्रोत्र,त्वक्,चक्षु,रसन और घ्राण ये पांच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । वचन,आदान,विहरण,उत्सर्ग और आनन्द ये पाँच कर्म्म भेद हैं । इसलिये वाक्,पाणि,पाद, पायु, और उपस्थ ये पांच कर्म्मेन्द्रियाँ हैं । समस्त ज्ञान के लिये त्रिकालवर्ति, अनेकवृत्तिशाली एक अन्तरिन्द्रिय है, उसका नाम मन है । यह मन संकल्प, अध्यवसाय, अभिमान और चिन्तारूप कार्य्य के भेद के वश कभी कभी भिन्नरूप से व्यपदेश को प्राप्त होता है । जब भिन्नरूप से व्यपदिष्ट होता है, तब उसका नाम यथा क्रम से मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त यह अभिहित होता है । अर्थात् मन संकल्पात्मक, बुद्धि अध्यवसायात्मक, अहंकार अभिमानात्मक और चित्त चिन्तात्मक है । इस प्रकार एकादश इन्द्रियाँ हैं—यह स्थिर हुआ है ॥ ६ ॥

अब प्राणों का परिमाण कहते हैं । प्राण अर्थात् सकल इन्द्रिय व्यापक अथवा अणु हैं इस प्रकार के संशय में दूरश्रवण और दूरदर्शन के अनुभव के हेतु सकल इन्द्रिय व्यापक हैं इस प्रकार के पूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं— समस्त इन्द्रियाँ अणुरूप हैं । "च" शब्द निश्चयार्थ में है । ग्यारह इन्द्रियाँ अणुरूप हैं । उत्क्रान्ति श्रुति से उनका अणुरूपत्व सिद्ध होता है । गुण के प्रसारण से ही दूरश्रवणादि सिद्ध है । जीव जिस प्रकार अणुरूप होकर भी गुणप्रसार से पाद से मस्तक पर्य्यन्त व्याप्त होता है, प्राण को भी उसी प्रकार जानना चाहिए । इससे प्राण को व्यापक कहने वाला सांख्यमत निरस्त होता है ॥ ७ ॥

नैव प्राण उदेति नास्तमेति" इत्यादिश्रुतेः । "यत्प्राप्तिर्यत् परित्याग उत्पत्तिर्मरणं तथा । तस्योत्पत्तिर्म्रतिश्चैव कथं प्राणस्य युज्यत" इति स्मृतेश्च जीववदिति प्राप्ते—

श्रेष्ठश्च ॥ ८ ॥

श्रेष्ठः प्राणोऽपि स्वादिवदुत्पद्यते "जायते प्राण" इति श्रुतेः । "स इदं सर्व्वमसृजते"ति प्रतिज्ञानुपरोधाच्चेति शेषः । एवं सत्यनुत्पत्तिरापेक्षिकी । श्रैष्ठ्यं चास्य कायस्थितिहेतुत्वात् वदन्ति । पृथग् योगकरणमुत्तरचिन्तार्थम् ॥ ८ ॥

अथ तस्य स्वरूपं परीक्ष्यते । स किं वायुरेव केवलः किंवा तत् स्पन्दरूपा क्रियाथवा देशान्तरगतो वायुरिति विचिकित्सा । किं प्राप्तम् । बाह्यो वायुरेवेति । "योऽयं प्राणः स वायुः" इति बृहदारण्यकश्रुतेः । वायुक्रियायां प्राणः उच्छ्वासनिश्वासरूपायां तत्क्रियायां तच्छब्दस्य प्रसिद्धेः । वायुमात्रे तस्य प्रसिद्धेश्चेति प्राप्ते—

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥ ९ ॥

श्रेष्ठः प्राणो न वायुर्न च तत्स्पन्दः । कुतः ? पृथगिति । "एतस्माज्जायते प्राण" इत्यादौ वायोः सकाशात् प्राणस्य पृथगुक्तेः । यदि वायुरेव प्राणस्तर्हि तस्मात् तस्य सा न स्यात् । यदि वा वायुस्पन्दः प्राणस्तदाऽपि वायोः सकाशात् तत्क्रियारूपस्य प्राणस्य न सा सम्भवेत् । न ह्यग्न्यादेः क्रिया तेन साकं पृथगुक्ता दृश्यते । "योऽयं प्राणः स वायु" इति तु वायुरेव किञ्चित् विशेषमापन्नः प्राणो, न तु ज्योतिरादिवत् तत्त्वान्तरमिति ज्ञापनार्थम् । यत्तु "सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च" इति सांख्यैः सर्व्वेन्द्रियव्यापारः प्राण इत्युक्तं तन्न एकरूपप्राणस्य विजातीयनानेन्द्रियव्यापारत्वायोगात् ॥ ९ ॥

इसके अनन्तर "एतस्मात् जायते प्राणः" यहाँ मुख्य प्राण की परीक्षा करते हैं । मुख्य प्राण जीव की भाँति अथवा आकाशादि की भाँति उत्पन्न होता है ? इस प्रकार के संशय में "प्राण की उत्पत्ति तथा नाश नहीं है" इत्यादि श्रुति तथा "जिसकी प्राप्ति ही उत्पत्ति तथा जिसका परित्याग ही मरण है, उस प्राण की उत्पत्ति वा विनाश सम्भव नहीं है" इत्यादि स्मृति से प्राण की उत्पत्ति जीव की भाँति स्वीकार करनी होती है–इस प्रकार का पूर्वपक्षीय सिद्धान्त होने पर उत्तर देते हैं ।–

मुख्य प्राण भी आकाशादि की भाँति उत्पन्न होता है । "जायते प्राणः" इत्यादि श्रुतिवाक्य उसका प्रमाण है । परमेश्वर इन सब पदार्थों की सृष्टि करते हैं इत्यादि प्रतिज्ञा के अनुरोध से प्राण की उत्पत्ति स्वीकार्य्य है । यदि ऐसा ही है तो भी कहीं कहीं प्राण की जो अनुत्पत्ति कही गयी है, वह आपेक्षिकी है । देह-स्थिति के कारण प्राण का श्रेष्ठत्व कहा गया है । उत्तर चिन्ता के लिये ही पृथक् योगकरण है ॥ ८ ॥

अतः पर प्राण का स्वरूप कहते हैं । वह प्राण केवल वायुरूप अथवा स्पन्दन रूप क्रिया विशिष्ट किम्वा देशान्तर गत वायु है । इस प्रकार के संशय से "प्राण ही वायु" इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति के अनुसार "प्राण वायु की क्रिया है" ऐसा सिद्धान्त होता है । जिससे उच्छ्वास और निश्वास रूप वायु की क्रिया में वायु शब्द का प्रयोग देखने में आता है । वायु मात्र में यह क्रिया प्रसिद्ध है इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं ।— पृथक् उपदेशके हेतु श्रेष्ठ प्राण शब्द से वायु किम्वा उसकी स्पन्दनरूप क्रिया का बोध नहीं होताहै । "एतस्मात् जायते प्राणः" इत्यादि श्रुति में वायु से प्राण पृथक् रूप करके उपदिष्ट हो रहा है । वायु ही यदि प्राण होता तो इस प्रकार पृथक् उक्ति नहीं होती है । फिर वायु की स्पन्दनरूप क्रिया भी यदि प्राण होता तो भी इस प्रकार पृथक् उक्ति नहीं होती । अग्नि प्रभृति की क्रिया का कभी अग्नि से पृथक भाव से उक्त होना नहीं देखा जाता है । "जो प्राण वह वायु" यह वचन, प्राण वायु की भाँति है तो भी उससे कुछ विशेष है, परन्तु ज्योतिः प्रभृति के भाँति तत्वान्तर नहीं है–इस प्रकार समझाने के लिये जानना चाहिए । प्राणादिक पञ्च वायु सामान्यकरणवृत्ति रूप है और प्राण सकल इन्द्रियों का व्यापार है–इस प्रकार का सांख्यमत अयुक्त है । प्राण कभी विजातीय नाना इन्द्रियों का

सुप्तेषु वागादिषु प्राण एको जागर्त्ति,प्राण एको मृत्युनानाप्तः,प्राणः सम्वर्गो वागादीन् संवृङ्क्ते, प्राण इतरान् प्राणान् रक्षति मातेव पुत्रान् इति बृहदारण्यके पठ्यते। तत्र संशयः। मुख्यः प्राणो जीव एवास्मिन् देहे स्वतन्त्र उत जीवोपकरणमिति। बहुविभूतिश्रवणात् स एव स्वतन्त्र इति प्राप्ते—

चक्षुरादिवत्तु तत्सह शिष्ठ्यादिभ्यः ॥ १० ॥

तुशब्दः शङ्काहानाय। प्राणोऽपि चक्षुरादिवत् जीवकरणमेव। कुतः ? तत्सहेति। प्राणसम्वादेषु तैश्चक्षुरादिभिर्जीवकरणैः सह प्राणस्य शासनात्। समानधर्म्मणां हि सहशासनं युक्तं बृहद्रथान्तरादिवत्। आदिशब्दात् "अथ यत्र वाऽयं मुख्यः प्राणः स एवायं मध्यमः प्राण" इत्यादिना प्राणशब्दपरिगृहीतेष्विन्द्रियेषु विशिष्याभिधानं गृह्यते। संहतत्वादि च स्वातन्त्र्यनिराकृतिहेतुः ॥ १० ॥

ननु चक्षुरादिवज्जीवोपकरणत्वे प्राणस्याङ्गीकृते तद्वज्जीवोपकारक्रियापि स्यात् न च तादृशी काचिदस्ति यदर्थमयं द्वादशः प्राणस्ततो न चक्षुरादितौल्यमित्याक्षिप्य समाधत्ते—

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथाहि दर्शयति ॥ ११ ॥

आक्षेपनिरासाय चशब्दः। करणं क्रिया। अक्रियत्वात् जीवोपकारक्रियाविरहात् यो दोषः सम्भाव्यते स न स्यात् शरीरेन्द्रियधारणादिलक्षणपरमोपकारसत्वादिति भावः। हि यतस्तथा छान्दोग्यश्रुतिर्दर्शयति। "अथ ह प्राणा अहं श्रेयसे व्यूदिरे" इत्यादिना। तस्माज्जीवोपकरणमेव मुख्यः प्राणः। जीवस्य कर्त्तृत्वं च भोक्तृत्वं च प्रति चक्षुरादीनि राजपुरुषवत् करणानि, प्राणस्तु राजमन्त्रिवत् सर्व्वार्थसाधकतया मुख्योपकरणमिति नास्य स्वातन्त्र्यम् ॥११॥

व्यापार नहीं हो सकता है। ॥ ९ ॥

"वागादि सकल इन्द्रियाँ सुप्त होने पर एक प्राण ही जागरित रहता है। प्राण एक तथा मृत्यु से रहित है। वागादि इन्द्रियों की व्याप्ति से प्रयुक्त प्राण को संवर्ग बोला जाता है। जननी जिस प्रकार पुत्र की रक्षा करती है, प्राण भी उसी प्रकार प्राण-समूह का रक्षक है इस प्रकार बृहदारण्यक का वचन है। उस विषयमें संशय यह है कि-मुख्य प्राण इस देह में जीव के सदृश स्वतन्त्र है किम्वा जीव का उपकरण है ? अनेक विभूति के श्रवण के हेतु प्राण का जीव की भाँति स्वतन्त्र बोध करना होता है। इस प्रकार पूर्व्वपक्षीय सिद्धान्त के खण्डन के लिये कहते हैं—

अनुशासन के वश प्राण को चक्षुः प्रभृति इन्द्रियों की भाँति जीव का उपकरण बोलना होता है। "तु" शब्द आशङ्का निराकरण के लिये है। प्राण और चक्षुः प्रभृति, इन्द्रियों की तरह जीव करण है। क्योंकि प्राणसम्बन्ध में चक्षुः प्रभृति इन्द्रियों के साथ प्राण का शासन देखा जाता है। बृहद्रथान्तरादि की भाँति समान धर्म्म का ही अनुशासन युक्त होता है। आदिशब्द के द्वारा "अथ यत्र वायं मुख्यः प्राणः" इत्यादि वाक्य से प्राणशब्द-परिगृहीत इन्द्रिय-समूह में विशेष अभिधान गृहीत होता है। संहतत्व प्रभृति को स्वातन्त्र्य निराकरण के लिये जानना चाहिए ॥ १० ॥

अच्छा ? प्राण को चक्षुः प्रभृति इन्द्रिय की तरह जीव का उपकरण स्वीकार करने पर उनकी भाँति जीवोपकार क्रिया का भी स्वीकार करना होता है। किन्तु उस प्रकार क्रिया तो नहीं देखी जाती है कि जिस क्रिया के लिये प्राण को द्वादश इन्द्रिय रूप से गिना जा सकता है। अतएव प्राण को चक्षुः प्रभृति इन्द्रिय के समान बोलना संगत नही होता है इस प्रकार के आक्षेप के समाधानार्थ कहते हैं।—

अकरण के कारण दोष नहीं है। श्रुति में भी इस प्रकार दिखलाते हैं। आक्षेप निरास के लिये "च" शब्द है। करण शब्द से क्रिया समुझी जाती है। अकरणत्व शब्द से क्रिया का अभाव है। जीवोपकारक रूप क्रिया के विरह में जो दोष सम्भावित होता है,वह नहीं हो सकता है। क्योंकि प्राण का शरीर-इन्द्रियादि धारण लक्षण परम उपकारत्व ही देखा जाता है। इसलिये छान्दोग्यश्रुति में कहा गयाहै-"अथ ह प्राणा अहं श्रेयसे" इत्यादि। अतएव

यः प्राणः स वायुः। स एव वायुः पञ्चविधः प्राणोऽपानो व्यान उदानः समान इति श्रुतम्। तत्र किमेते अपानादयः प्राणाद्भिद्यन्ते उत तद्वृत्तय एवेति वीक्षायां संज्ञाभेदात् कार्य्यभेदाच्च भिद्यन्त इति प्राप्ते—

पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ॥ १२ ॥

एक एव प्राणो हृदयादिषु स्थानेषु पञ्चधा वर्त्तमानो विलक्षणानि कार्य्याण्यावहतीति पञ्चवृत्तिः। स एव तथा व्यपदिश्यते। तस्मात् प्राणवृत्तय एव ते, न ततो भिद्यन्ते। कार्य्यभेदनिमित्तः संज्ञाभेदः। स्वरूपभेदस्तु नास्त्यतः पञ्चस्वपि प्राणशब्दः। प्राणोऽपानो व्यान उदानः समान इति। एतत् सर्व्वं प्राण एव" इति वचनाच्च। बृहदारण्यके मनोवत् "कामः संकल्पो विकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्व्वं मन एव" इति। तत्रैव संज्ञाभेदे कार्य्यभेदेऽपि यथा कामादयो मनसो न भिद्यन्ते किन्तु तस्य वृत्तय एव तद्वत् बहुवृत्तित्वमात्रेणायं दृष्टान्तः। योगशास्त्रे मनोऽपि पञ्चवृत्तिकमुक्तम्। तदभिप्रायेण वा निदर्शनमित्येके ॥ १२ ॥

श्रेष्ठः प्राणो विभुरणुर्वेति वीक्षायां "सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः" इत्यादिश्रुतेर्विभुरिति प्राप्ते—

अणुश्च ॥ १३ ॥

श्रेष्ठोऽप्यणुरेव उत्क्रान्तिश्रुतेः। व्याप्तिश्रुतिस्तु सर्व्वेषां प्राणिनां प्राणाधीनस्थितिकतया नेया ॥ १३ ॥

सुप्तेषु वागादिषु प्राण एको जागर्त्तीत्यादौ मुख्यप्राणस्य प्रवृत्तिः श्रूयते। "सप्तेमे लोका येषु सञ्चरन्ति प्राणा" इत्यादौ गौणप्राणानां च तत्र तानि सप्राणानि इन्द्रियाणि स्वस्वकार्य्याय स्वयं प्रवर्तेरन्नुतैषां प्रेरकोऽन्यो-

---

मुख्य प्राण जीवोपकरण है। जीव का ही कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व है। चक्षुः प्रभृति सकल इन्द्रिय राजपुरुष की तरह करणमात्र है। प्राण राजमन्त्री की भाँति सर्व्वार्थ साधक रूप में मुख्यउपकरण है। अतएव प्राण का स्वातन्त्र्य नहीं है ॥ ११ ॥

जो प्राण है, वह वायु है। यह वायु प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान भेद से पाँच प्रकार की है-इस प्रकार सुनने में आता है। यह शेषोक्त प्राणादि पञ्च-वायु पूर्वोक्त प्राण से भिन्न हैं। अथवा वे उसकी वृत्ति रूप हैं-इस प्रकार का संशय उठने पर संज्ञाभेद और कार्य्यभेद की दृष्टि से भेद स्वीकार होता है—इस प्रकार का पूर्व्वपक्ष स्थिर होने पर उसके उत्तर में कहते हैं।—

प्राणादि पांच वायु उसकी वृत्तिविशेष हैं। मन की भाँति भेद व्यपदेशमात्र है। एक ही प्राण हृदयादि सकल स्थानों में पांच प्रकार से वर्त्तमान होकर विलक्षण कार्य्य का सम्पादन करता है। इसलिये ये पांच प्राण की वृत्ति हैं। एक ही प्राण पञ्च प्रकार से व्यपदेश होता है। अतएव प्रण का ही वृत्तिरूप पञ्च प्राण मुख्य प्राण से भिन्न नहीं हैं। कार्य्यभेद निमित्तक संज्ञाभेद है, स्वरूप से कोई भेद नहीं है। इसलिये प्राणादि पाँच में प्राण शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। प्राण, अपान, व्यान, उदाब, और समान समस्त ही प्राण है-यह अपने वचन से ही समुझा जाता है। वृहदारण्यक में कहा है-काम, संकल्प, विकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, धृति, अधृति, ह्री और धी ये सब मन हैं। यहाँ जिस प्रकार संज्ञाभेद और कार्य्यभेद के सत्व में उन सबको मन से भिन्न नहीं बोला जाता है किन्तु कामादि को मन की वृत्ति कहा जाता है ठीक उसी प्रकार प्राणादि को भी प्राण की वृत्ति समझना चाहिए। बहु वृत्तित्व मात्र से यह दृष्टान्त जानना होगा। योगशास्त्र में मन की ही पञ्चवृत्तियाँ कही गयी हैं। उसी अभिप्राय से यह दृष्टान्त है—इस प्रकार कोई कोई बोलते हैं ॥ १२ ॥

इसके अनन्तर यह मुख्य प्राण विभु है किम्वा अणु है—इस प्रकार के संशय से "सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः"-इत्यादि श्रुति के अनुसार पूर्वपक्षी के सिद्धान्त में विभुत्व स्थिर होने पर उसके उत्तर में कहते हैं।—

प्राण अणु है। उत्क्रान्ति श्रुति-दर्शन से श्रेष्ठ प्राण को भी अणु बोलना होता है। सकल प्राणियों की प्राणाधीनस्थिति होने से ही व्याप्तिश्रुति देखने में आती है ॥ १३ ॥

उस्ति। स च देवतागणो जीवः परो वेति वीक्षायां स्वयमेव तानि प्रवर्त्तेरन् कार्य्यशक्तियोगात् देवतागणो वा
तत्प्रवर्त्तकोऽस्तु। "अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशदि"त्यादि श्रुतेः। जीवो वा तद्भोगसाधनत्वादित्येवं प्राप्ते—

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥ १४ ॥

तुशब्दः शङ्कानिरासार्थः। ज्योतिर्ब्रह्मैव तेषामाद्यधिष्ठानं मुख्यप्रवर्त्तकम्। कर्त्तरि ल्युट्। कुतः ? तदिति। बृहदारण्यके "यः प्राणेषु तिष्ठन्" इत्यादिषु देवानां
अन्तर्य्यामिब्राह्मणे तस्यैव प्राणेन्द्रियप्रवर्त्तकत्वावगमात्। स्वतः प्रवृत्तिस्तु न भवेत् जाड्यात् ॥ १४ ॥
जीवस्य च तत्प्रयोज्यानामेव प्रयोजकता न निवार्य्यते।

जीवस्तु तानि भोगार्थमधितिष्ठतीत्याह—

प्राणवता शब्दात् ॥ १५ ॥

प्राणवता जीवेन तानि सप्राणानीन्द्रियाणि संगृह्यन्ते भोगाय। एवं कुतः ? शब्दात्। "स यथा महाराजो जान-
पदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्त्तते एवमेवैष एतत् प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्त्तत" इति
तत्रैव श्रवणात्। अयमत्र निष्कर्षः। परमात्मनाधिष्ठिता देवा जीवाश्चेन्द्रियाणि अधितिष्ठन्ति। पूर्व्वे तत् प्रवर्त्त-
नमात्राय, परे तु तैर्भोगाय। तथैव तत् संकल्पादिति ॥ १५ ॥

न चैतत् कदाचित् व्यभिचरतीत्याह—

तस्य च नित्यत्वात् ॥ १६ ॥

तस्य सर्व्वकर्म्मकपरमात्माधिष्ठानस्य तत् स्वरूपानुबन्धित्वेन नित्यत्वात् तत्-सङ्कल्पादेव तेषामधिष्ठातृत्वम्।

वागादि इन्द्रिय-समूह सुप्त होने पर एक प्राण का ही जागरण होता है—इत्यादि स्थल में मुख्य प्राण की प्रवृत्ति सुनने में आती है। "इन सप्तलोकों में ही प्राण सञ्चरण करता है" इत्यादि स्थल में गौण प्राण की प्रवृत्ति सुनने में आती है। यह प्राण और सकल इन्द्रिय स्वयं ही कार्य्य में प्रवृत्त होते हैं अथवा उनके और-कोई प्रेरक है ? इस प्रकार के प्रश्न पर यदि कहो कि उनका अन्य प्रेरक है तो यह प्रेरक देवगण है ? जीव अथवा परमेश्वर है ? कार्य्यशक्ति योग के हेतु उनकी स्वतः प्रवृत्ति नहीं बोली जा सकती है। फिर "अग्नि वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्" इत्यादि श्रुति से देवतागण को ही उसका प्रवर्त्तक बोलना चाहिये था। पुनः जीव के ही भोग साधन के कारण जीव को ही उसका प्रवर्त्तक बोला जा सकता है-इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं।-

ज्योतिर्म्मय ब्रह्म ही उन सबका मुख्य प्रवर्त्तक है। क्योंकि श्रुति में ऐसा ही अभिहित हुआ है। "तु" शब्द शङ्का निरास के लिये है। ज्योति अर्थात् ब्रह्म ही उनके आदि अधिष्ठान अर्थात् मुख्य प्रवर्त्तक है। कर्त्ता में ल्युट् है। क्योंकि अन्तर्य्यामि ब्राह्मण में ब्रह्म को ही प्राण तथा इन्द्रियों का प्रवर्त्तन रूप से निर्देश किया गया है। बृहदारण्यक श्रुति में भी "यः प्राणेषु तिष्ठन्" इत्यादि वाक्य में ब्रह्म के द्वारा प्रयोज्य देवतागण तथा जीव-गण की प्रयोजकता का भी निवारण नहीं हुआ है। जड़ता के कारण प्राणादिक की स्वतः प्रवृत्ति नहीं हो सकती है ॥ १४ ॥

जीव भोग के लिये प्राण तथा इन्द्रिय समूह को अधिष्ठान करता है-इसको कहते हैं।—

प्राणविशिष्ट जीव ही इन सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता है-ऐसा श्रुति में देखा जाता है। प्राणविशिष्ट जीव ही प्राण तथा सकल इन्द्रियों को भोग के लिये संग्रह करता है-ऐसा श्रुति में देखने में आया है। क्योंकि "स यथा महाराजः" इत्यादि श्रुति में इस प्रकार कहा गया है। महाराज जिस प्रकार जनपदों का ग्रहण कर निज जनपद में यथेच्छा परिवर्त्तन करता है, ठीक उसी प्रकार जीव इन प्राणों का ग्रहण कर यथा काम परिवर्त्तन करता है। तात्पर्य्य यह है कि परमात्मा के द्वारा अधिष्ठित देवता तथा जीव समस्त इन्द्रियों को अधिष्ठान करते हैं। देवताओं को उनके प्रवर्त्तनार्थ जीवों के भोग के लिये परमेश्वर के संकल्प से इन्द्रियों का अधिष्ठानत्व जानना चाहिए ॥१५॥

मुख्याधिष्ठातृत्वं तु तस्यैवेति मन्तव्यं अन्तर्य्यामिब्राह्मणात् ॥ १६ ॥

अथ पूर्व्वस्मिन् विषये विमर्शान्तरम्। तत्र प्राणशब्दिताः सर्व्वे इन्द्रियाण्युत श्रेष्ठेतरे इति संशये प्राणशब्द-बोध्यत्वात् जीवोपकारित्वाच्च सर्व्वे इति प्राप्ते—

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥ १७ ॥

ते प्राणशब्दिताः श्रेष्ठेतरे एवेन्द्रियाणि। कुतः ? तदिति। एतस्मादित्यादिश्रुतौ मुख्यप्राणादितरेषु श्रोत्रादि-ष्विन्द्रियत्ववचनात्। "इन्द्रियाणि दशैकं च" इत्यादि स्मृतौ च तथा "प्राणो मुख्यः स त्वनिन्द्रिय"मिति श्रुत्यन्तराच्च ॥ १७ ॥

ननु "हन्तास्यैव सर्व्वे रूपमसामेत्येतस्यैव सर्व्वे रूपमभवत्" इति च बृहदारण्यकात् मुख्यप्राणस्य वृत्तिभेदान-न्यान् प्राणानवधारयामस्तत् कथमुक्तव्यवस्थेति तत्राह—

भेदश्रुतेः ॥ १८ ॥

"प्राणो मनः सर्व्वेन्द्रियाणि च" इति प्राणादिन्द्रियाणां भेदश्रवणात् तत्त्वान्तराणि तानीत्यर्थः। न च भेदश्रु-तेर्मनसोऽनिन्द्रियत्वं शङ्क्यम्। "मनः षष्ठानीन्द्रियाणि" इति "इन्द्रियाणां मनश्चास्मि" इति च स्मृतेः ॥ १८ ॥

वैलक्षण्याच्च ॥ १९ ॥

सुप्तौ प्राणस्य वृत्त्युपलम्भो न तु श्रोत्रादीनाम्। तस्य देहेन्द्रियधारणं तेषान्तु ज्ञानकर्म्मसाधनत्वमिति स्वरूपतः कार्य्यतश्च वैसादृश्यात् तानि तथा। मुख्यप्राणरूपता चैषां तदधीनवृत्तिकत्वादिना व्यपदिश्यते, यथा ब्रह्मरूपता जीवानाम् ॥ १९ ॥

उसका कभी व्यभिचार नहीं होता है-इसे कहते हैं। उस अधिष्ठान का नित्यत्व है। सर्वकर्म्मकारक परमात्मा का अधिष्ठान उस परमात्मास्वरूप अनुबन्धि के कारण नित्य है। परमात्मा का संकल्प से जीव का जो अधिष्ठान है, वह गौण है। किन्तु परमात्मा का अधिष्ठान मुख्य है,अन्तर्य्यामि ब्राह्मण में इस प्रकार कहा गया है ॥ १६ ॥

इसके अनन्तर पूर्व्वविषय में विचारान्तर का उत्थापन करते हैं। उस विषय में संशय यह है कि-प्राण शब्द से समस्त इन्द्रियों का बोध है अथवा श्रेष्ठ शब्द से इतर प्राण-समूह का बोध है ? प्राणशब्द से बोध प्राप्त और जीव के उपकारित्व होने के कारण इन्द्रियों का बोध होवे—इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं।—

तद्व्यपदेश के वश प्राण शब्द से मुख्येतर सकल इन्द्रियों को समझना होगा। प्राण शब्द के द्वारा मुख्येतर सकल इन्द्रियाँ ही बोधित हो रही हैं। क्योंकि "एतस्मात्" इत्यादि श्रुति में मुख्य प्राण से भिन्न श्रोत्रादि समस्त इन्द्रियों के उद्देश्य में इन्द्रिय शब्द का प्रयोग है। "इन्द्रियाणि दशैकञ्च" इत्यादि वचन स्मृति में भी कहा गया है। "प्राणो मुख्यस्त्वनिन्द्रियम्" इत्यादि श्रुत्यन्तर से भी इसका पोषण हो रहा है ॥ १७ ॥

अच्छा, यदि कहो कि बृहदारण्यक में "हन्तास्यैव सर्वं रूपमसाम" इस वाक्य में इतर प्राण सकल को मुख्य प्राण करके अवधारण किया जाता है, अतएव पूर्वोक्त व्यवस्था की संगति किस प्रकार हो सकती है-इसके उत्तर में कहते हैं ॥—

श्रुति के "प्राणो मनः" इत्यादि वाक्य में प्राण से सकल इन्द्रियों का भेद निर्देश किया गया है। अतएव-सकल इन्द्रियाँ पृथक तत्व है,प्राण नहीं है। उक्त भेदश्रुति से मन का अनइन्द्रियत्व की आशङ्का नहीं हो सकती है। क्योंकि स्मृति में मन को षष्ठ इन्द्रिय कह करके निर्देश किया गया है। विशेष करके अन्यत्र भी भगवान् ने कहा-"इन्द्रिय समूह के मध्य में मन हीं मैं हूँ ॥ १८ ॥

प्राण से इन्द्रियों का जो वैलक्षण्य दृष्ट होता है वह इस प्रकार सिद्धान्त का अपर हेतु है। सुषुप्तिकाल में प्राण की ही वृत्ति का उपलम्भ होता है श्रोत्रादि इन्द्रिय वृत्ति का उपलम्भ नहीं है। प्राण देह तथा इन्द्रियादि को धारण

भूतेन्द्रियादिसमष्टिसृष्टिर्जीवकर्त्तृका च परस्मादित्युक्तम्। इदानीं व्यष्टिसृष्टिः कस्मादिति परीक्ष्यते। छान्दोग्ये तेजोऽबन्नसृष्टिमभिधाय उपदिश्यते। "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्त्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति। सेयं देवतेमास्तिस्त्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्" इति। इह नामरूपव्याक्रिया जीवकर्त्तृका स्यादुतेशकर्त्तृकेति विचिकित्सायां जीवकर्त्तृकेति प्राप्तम्। अनेन जीवेन प्रविश्य व्याकरवाणीति तथा प्रत्ययात्। न च सहार्थेयं तृतीया। सम्भवन्त्यां कारकविभक्त्यामुपपदविभक्तेरन्याय्यत्वात्। न च करणार्था सत्यसङ्कल्पेश्वरकार्य्ये जीवस्य साधकतमत्वाभावात्। न च प्रवेशो जीवकर्त्तृकोऽस्तु व्याक्रिया त्वीश्वरकर्त्तृका क्त्वाप्रत्ययेनैककर्त्तृकत्वबोधनात्। न चैतस्मिन् पक्षे व्याकरवाणीत्युत्तमपुरुषानुपपत्तिः, चारेणानुप्रविश्य परसैन्यं संकलयानीतिवदुपपत्तेः। न चैतत् कपोलकल्पनं "विरिञ्चो वा इदं विरेचयति विदधाति ब्रह्मा वाव विरिञ्च एतस्माद्धीमे रूपनामनी"ति श्रुत्यन्तरात्। "नामरूपं च भूताना"मित्यादि स्मरणाच्च। तस्मात् जीवकर्त्तृका सेति प्राप्तौ—

संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत् कुर्व्वत उपदेशात् ॥ २० ॥

तुशब्दादाक्षेपो व्यावृत्तः। संज्ञा-मूर्त्ती नामरूपे तयोः क्लृप्तिर्व्याक्रिया त्रिवृतकुर्व्वतः परमेश्वरस्यैव कर्म्म न तु जीवस्य। कुतः? उपदेशात्। तस्यैव तत्क्लृप्तिनिगदात्। त्रिवृत्करणनामरूपव्याकरणयोरेककर्त्तृकत्वेनोक्ते रित्यर्थः। त्रिवृत्करणं चोक्तम्। त्रीण्येकैकं द्विधा कुर्य्यात् त्र्यर्द्धानि विभजेद्द्विधा। तत्तन्मुख्यार्द्धमुत्सृज्य योजयेच्च त्रिरूपता।

करता है तथा इन्द्रिय सकल ज्ञान और कर्म्म का साधन रूप होते हैं। इस प्रकार प्राण तथा इन्द्रियों का स्वरूपतः और कार्य्यतः वैसादृश्य दृष्ट होता है। अतएव प्राण के द्वारा मुख्येतर इन्द्रिय सकल बोधित होते हैं यह युक्ति युक्त है। प्राणाधीनवृत्ति प्रयुक्त ही इन्द्रियसमूह की मुख्यरूपता कही जाती है। जीव का ब्रह्मरूपता कथन के सदृश-इन्द्रिय सकल का प्राण रूपता है ॥ १६ ॥

भूतेन्द्रियादि की समष्टि सृष्टि जीव के द्वारा परमेश्वर आयत्त यह पहले कहा गया है। अब व्यष्टि-सृष्टि किस से होती है इसकी परीक्षा करते हैं। छान्दोग्य में—तेज,जल और अन्न की सृष्टि कह करके पश्चात् "सेयं देवतैक्षत" इत्यादि "तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्" इत्यन्त वाक्य का उपदेश करते हैं। यहाँ जो नाम तथा रूप की सृष्टि कही गयी है वह जीवकर्त्तृक किम्वा परेशकर्त्तृक? इस प्रकार संशय उठने पर "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य व्याकरवाणि" प्रभृति श्रुति दर्शन से उसे जीवकर्त्तृक करके स्थिर किया जाता है। यहाँ सहार्थ में तृतीया विभक्ति ऐसा नहीं कहा जा सकता है। कारण कारकविभक्ति की सम्भावना रहने पर उपपदविभक्ति का उचित नहीं है। करणार्थ में तृतीया भी नहीं कह सकते हो। जिससे सत्यसंकल्प ईश्वर का कार्य्य में जीव का करणत्व सम्भव नहीं है। यदि कहो कि प्रवेश जीवकर्त्तृक और व्याक्रिया ईश्वरकर्त्तृक है ऐसा भी संगत नहीं है। क्योंकि "क्त्वा" प्रत्यय के द्वारा उभय क्रिया का एककर्त्तृत्व बोध कराता है। फिर इस पक्ष में "व्याकरवाणि" इस उत्तम पुरुष की अनुपपत्ति भी नहीं कही जा सकती है। क्योंकि "चारेणानुप्रविश्य परसैन्यं संकलयामि" एतद् वाक्यस्थ "संकलयामि" पद की भाँति वह उपपन्न होता है। यह मत स्वकपोल कल्पित भी नहीं कहा जा सकता है। कारण यह है कि यह "विरिञ्चो वा इदं विरचयति" प्रभृति श्रुत्यन्तर में देखा जाता है। स्मृति में भी "भूतगण का नाम और रूप जीव के द्वारा" ऐसा वचन है। अतएव नाम-रूप व्याक्रिया जीव कर्त्तृक है—इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के स्थिर होने पर उत्तर में कहते है ॥—

त्रिवृत्कर्त्ता परमेश्वर के ही संज्ञा मूर्त्तिकर्त्तृत्व उपदेश होने के कारण उक्त पूर्व्वपक्ष अयुक्त हो जाता है। "तु" शब्द से पूर्वपक्षीय आक्षेप की व्यावृत्ति हो रही है। नाम और रूप की सृष्टि परमेश्वर का कर्म्म है, जीव का नहीं है। क्योंकि परमेश्वर का कार्य्य करके उपदेश है। त्रिवृत्करण और नाम-रूप व्याकरण एक कर्त्तृक करके कहा गया

पञ्चीकरणस्योपलक्षणमेतत्। न च त्रिवृत्कृतिश्चतुर्मुखस्य शक्या वक्तुम्। त्रिवृत्कृततेजोऽबन्ननिर्मिताण्डमध्यजातत्वात्तस्य। तथा च स्मृतिः "तस्मिन्नण्डेऽभवद् ब्रह्मा सर्व्वलोकपितामह" इत्याद्या। तस्मात् सेयमित्यत्र नामरूपव्याकृतित्रिवृत्कृत्योरेककर्त्तृकत्वं विवक्षितं न तु पौर्व्वापर्य्यं अर्थक्रमेण पाठक्रमस्य बाधात्। पूर्व्वा त्रिवृत्कृतिरुत्तरा तु नामरूपव्याकृतिरिति। न चात्रिवृत्कृतैस्तेजोऽबन्नैरण्डोत्पत्तिः। अत्रिवृतां तेषां तत्रासामर्थ्यात्। तथाहि स्मृतिः। "यदैते ऽसङ्गता भावा भूतेन्द्रियमनोगुणाः। तदायतननिर्माणे न शेकुर्ब्रह्मवित्तम। तदा संहत्य चान्योन्यं भगवच्छक्तिचोदिताः। सदसत्त्वमुपादाय चोभयं ससृजुर्ह्य द" इत्याद्या। इह पञ्चीकरणमुक्तम्। तच्चेत्थं बोध्यम्। विभज्य द्विधा पञ्चभूतानि देवस्तदर्द्धानि पञ्चविधभागानि कृत्वा तदन्येषु मुख्येषु भागेषु तत्तन्नियुञ्जन् स पञ्चीकृतिं पश्यति स्म। "अन्नमशितं त्रिधा विधीयत" इत्यादौ तु पृथिव्यादेरेकैकस्य त्रेधा परिणामो वर्ण्यते न तु त्रिवृत्कृतिः। न चानेन जीवेनेति जीवस्य नामरूपनिर्मातृत्वं बोधयेदिति वाच्यम्। आत्मना जीवेनेति सामानाधिकरण्येन जीवशक्तिमतस्तद्व्यापिनो ब्रह्मण एव तत्वाभिधानात्। एतेन विरिञ्चो वा इत्यादिकं व्याख्यातम्। एवं च प्रविश्योत्तमपुरुषयोरकष्टता मुख्यार्थता च स्यात्। तथा च प्रवेशव्याकरणयोरेककर्त्तृकता च। तस्मादीशकर्त्तृकैव तद्व्याकृतिः। "सर्व्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते" इति तैत्तिरीयकाच्च ॥ २० ॥

अथ मूर्त्तिशब्दितो देहः परीक्ष्यते। "शरीरं पृथिवीमप्येति" इति श्रुतेः पार्थिवो देहः अद्भ्यो हीदमुत्पद्यते आपो वाव मांसमस्थि च भवन्त्यापः शरीरमाप एवेदं सर्व्वम्" इति श्रुतेराप्यः "सः अग्नेर्देवयोन्या" इत्यादि

है। त्रिवृत्करण यह है—तीनों वस्तुओं में एक-एक को पहले समान रूप से दो भाग करके विभक्त करना। पश्चात् इन तीनों को प्रथम अर्द्धांश में द्वितीय और तृतीय को समान दो भाग में विभक्त कर उस के मुख्यार्द्ध का परित्याग कर अन्य अर्द्धांश दोनों का एकत्र योग करने पर त्रिवृत्करण सिद्ध होता है। यह त्रिवृत्करण पञ्चीकरण का उपलक्षण है। उक्त त्रिवृत्करण चतुर्म्मुख ब्रह्मा का कार्य्य है—ऐसा नहीं बोला जा सकता है। क्योंकि ब्रह्मा स्वयं ही इस त्रिवृत्कृत तेज-जल और अन्न के द्वारा निर्म्मित अण्ड मध्य से उत्पन्न होते हैं। उस विषय में वक्ष्यमाण स्मृति भी दृष्ट हो रही है। यथा "इस अण्ड में सर्वलोक पितामह ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं"। अतएव "सेयम्" इत्यादि वाक्य में नामरूप व्याकरण और त्रिवृत्करण का एककर्त्तृत्व विवक्षित हुआ है ऐसा कहना चाहिए। यहाँ क्रिया का पौर्व्वापर्य्य अभिहित नहीं है। क्योंकि अर्थक्रम से पाठक्रम की बाधा होती है। पहले त्रिवृत्करण पश्चात् नाम रूप व्याकरण—ऐसा बोलना चाहिए था। अत्रिवृत्कृत तेज प्रभृति से अण्डोत्पत्ति सम्भव नहीं है। स्मृति में भी कहा गया है—"हे द्विजश्रेष्ठ! ये सकल भूतादि जब स्वतन्त्रभाव से अण्डनिर्म्माण में समर्थ नहीं हुए तब परमेश्वर ने उन सबको मिलित करके इस विश्व की सृष्टि की" इत्यादि। यहाँ पञ्चीकरण कहा गया है। पञ्चीकरण इस प्रकार है—एक एक को द्विधा विभक्त कर प्रथमार्द्ध का पुनः चार भाग में विभाग कर निज निज से इतर द्वितीयार्द्ध के साथ योग करने पर पञ्चीकरण सिद्ध होता है। "भुक्त अन्न त्रिधा विभक्त होता है" इस वाक्य से पृथिव्यादि का त्रिविध परिणाम व्यक्त होताहै। उसमें त्रिवृत्करण की अभिव्यक्ति नहीं है। इसके द्वारा "जीवेन" इस शब्दसे जीवके नाम रूपका निर्म्मातृत्व बोधित होताहै—इस प्रकार नहीं बोला जा सकता। क्योंकि "आत्मना जीवेन" इस सामान्य अधिकरण के द्वारा जीवशक्ति समन्वित ब्रह्म के ही तन्निर्म्मातृत्व का बोध होता है। इससे "विरिञ्चो वा" इत्यादि वाक्य व्याख्यात हुआ है। इस प्रकार "प्रविश्य" तथा "उत्तम पुरुष" प्रयोग से प्रवेश कर तथाउत्तम पुरुष इनकी अकष्टता तथा मुख्यार्थता सिद्ध होती है। अतएव प्रवेश और व्याकरण का एककर्त्तृत्व संगत हुआ है। इन समस्त हेतुओं से भी व्याकरण का परमेश्वर कर्त्तृकत्व निर्द्धारित होता है। तैत्तिरीय उपनिषद्में कहा है—सर्वज्ञ, परमेश्वर श्रीहरि देव-मनुष्यादि शरीर का निर्म्माण तथा उनके नाम की सृष्टि कर निज विभिन्नांशरूप इन सब जीवों के द्वारा वाक्य का प्रकाश पूर्वक अवस्थान करते हैं ॥ २० ॥

मूर्त्तस्तैजसश्च । इह भवति संशयः । देहः पार्थिवः आप्यस्तैजसश्च स्यादुत सर्व्वोऽपि त्र्यात्मक इति त्रैविध्यश्रवणादनिर्णयेन भाव्यमिति प्राप्ते—

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥ २१ ॥

मांसाद्येव देहस्य भौमं भूमेः कार्य्यं भवति । तथेतरयोर्जलतेजसोश्च कार्य्यमसृगस्थ्यादिकं तत्रास्ति । तदेतत् यथा शब्दमभ्युपेयम् । शब्दश्च "यत् कठिनं सा पृथिवी, यद् द्रवं तदापो यदुष्णं तत्तेजः" इति गर्भोपनिषत् । तथा च सर्व्वो देहस्त्रिरूपः सिद्धः ॥ २१ ॥

ननु सर्व्वं चेद्भूतभौतिकं त्रिरूपं तर्हि किं निमित्तोऽयं व्यपदेशः इदं तेज इमा आप इयं पृथिवीति तैजसमाप्यं पार्थिवं च शरीरमिति । तत्राह—

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥ २२ ॥

शङ्काच्छेदाय तुशब्दः । सत्यपि सर्व्वत्र त्रैरूप्ये क्वचित् कस्यचिद्भूतस्य वैशेष्यादाधिक्यात् तद्वाद इत्यर्थः । पदाभ्यासोऽध्यायपूर्त्तये ॥ २२ ॥

वर्द्धस्व कल्पाग समं समन्तात् कुरुष्व तापक्षतिमाश्रितानाम् ।
त्वदङ्गसङ्कीर्णिकराः परास्ता हिंस्रा लसद्युक्तिकुठारिकाभिः ॥

॥ इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ २ ॥ ४ ॥

अब मूर्त्ति-शब्द-प्राप्त देह की परीक्षा करते हैं । "शरीरं पृथिवीमप्येति" इस प्रकार श्रुति से देह का पार्थिवत्व "अद्भ्यो हीदमुत्पद्यते" इत्यादि श्रुति से जलीयत्व और "अग्नेर्देवयोन्याः" इत्यादि श्रुति से उसका तैजसत्व अनुमित होता है । उस विषय में संशय यह है कि–देह पार्थिव है किम्वा जलीय है अथवा तैजस है किम्वा त्रिरूपात्मक है ? उन सब के निराकरण के लिये कहते हैं ॥—

मांसादि भौम है तथा अन्य दो पदार्थ यथाक्रम से जलीय और तैजस हैं । शब्द से उसका निर्णय होगा । देह के अन्तर्गत मांसादि पार्थिव है । रक्त और अस्थ्यादि यथा क्रम से जलीय और तैजस है । शब्द के अनुसार ही स्थिर करना होगा । शब्द यह है, जो कठिन वह पार्थिव है, जो तरल है वह जलीय है और जो उष्ण है, वह तैजस है, ऐसा जानना चाहिए । गर्भोपनिषद् में ऐसा कहा गया है । अतएव सकल देह ही त्रिरूप है–यह सिद्ध हुआ है ॥ २१ ॥

अच्छा ? समस्त भूत-भौतिक वस्तु यदि त्रिरूप है, तब यह तेज, यह जल, यह पृथिवी है, जिससे यह तैजस शरीर, यह जलीय शरीर, यह पार्थिव शरीर है–इस प्रकार के भेद का व्यपदेश किस कारण से होता है ? इस प्रकार संशय उठने पर कहते हैं—आधिक्य वश से ही भेद-व्यपदेश जानना चाहिए । "तु" शब्द, शङ्काच्छेदन के लिये है । सकल त्रैरूप्य होने पर भी कोई कोई में अपेक्षाकृत आधिक्य के होने के वश उस प्रकार का व्यपदेश होता है । अर्थात् जिस वस्तु में जिस भूत का आधिक्य है उसको उसी नाम से कहा जाता है । पदाभ्यास अध्याय समाप्ति के लिये है ॥ २२ ॥

हे कल्पतरो ! भगवद्विमुख सांख्यादि रूप जो सब हींस अर्थात् कण्टकलता तुमको वेष्टित कर तुम्हारे प्रसारण में प्रतिरोध किये एहु हैं अब युक्तिरूप कुठार से उनका च्छेदन किया गया है । अतएव तुम समान भाव से सर्वप्रकार परिवर्द्धित होकर आश्रित जन के त्रिताप का क्षय साधन करो ॥

इति गोविन्दभाष्य का अनुवाद में द्वितीय अध्याय का चतुर्थपाद समाप्त हुआ

तृतीयोऽध्यायः

॥ प्रथम पादः ॥

न विना साधनैर्देवो ज्ञानवैराग्यभक्तिभिः । ददाति स्वपदं श्रीमानतस्तानि बुधः श्रयेत् ॥

पूर्व्वाध्यायद्वयेन विश्वैकहेतुं निर्दोषगुणरत्नाकरं सच्चिदानन्दात्मकं पुरुषोत्तमं मुमुक्षुध्येयतया सर्व्वो वेदान्तः प्रतिपादयतीत्येतत् सर्व्वाविरुद्धमित्युक्तं ब्रह्मस्वरूपं निरूपितम् । अथास्मिन्तृतीयेऽध्याये तत्प्राप्तिसाधनानि निरूप्यन्ते । तेषु मुख्यं तावत् प्राप्येतरवैतृष्ण्यं प्राप्यतृष्णा चेति तत् सिद्धये पूर्व्वपादद्वयमारभ्यते । तत्र प्रथमे पादे पञ्चाग्निविद्यामाश्रित्य नानावस्थस्य जीवस्य लोकगत्या गतिरूपा दोषाः प्रकाश्यन्ते [illegible] । द्वितीये तु प्राप्यानुरागहेतवः तन्महिमादयो गुणा वक्ष्यन्ते । छान्दोग्ये "श्वेतकेतुर्हारुणेयः पाञ्चालानां [illegible]" इत्यादिना पञ्चाग्निविद्या पठिता । तत्र जीवः परलोकं गच्छति तस्मात् पुनरिमं लोकमागच्छतीति [illegible] । [illegible] संशयः । परलोकं गच्छन् जीवः सूक्ष्मभूतैर्वियुक्तः परिष्वक्तो वा गच्छतीति । तत्रापि तेषां [illegible] गच्छतीति प्राप्ते—

तदनन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥ १ ॥

तच्छब्देन देहः परामृष्टः, पूर्व्वं तस्य मूर्त्तिशब्दितस्य प्रक्रमात् । देहाद्देहान्तरप्राप्तौ भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तो जीवो रंहति गच्छति । कुतः ? वेत्थ यथेत्यादिरूपात् प्रश्नात्, असौ वावेत्यादिरूपात् तदुत्तराच्च । तत्रेयमाख्यायिका । प्रवाहणो नाम क्षत्रियः पञ्चालाधिपतिर्निजान्तिकागतं श्वेतकेतुं विप्रकुमारं पञ्चार्थान् पप्रच्छ—कर्म्मिणां गन्तव्यदेशं, पुनरावृत्तिप्रकारं, अमुष्य लोकस्याप्राप्तारं देवयानपितृयानयोर्भेदकं रूपं च वेत्थेति "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुता वापः पुरुषवचसो भवन्ति" इति च । स च कुमारः प्रश्नपारज्ञानाद्विमनाः पितरं गौतमं उपेत्य परिदेव-

---

ज्ञान, वैराग्य, भक्ति रूप साधन के बिना भगवान् किसी को भी अपना पद नहीं प्रदान करते हैं अतएव बुध-गण इन सब साधनों का आश्रय करें ।—

पूर्व दोनों अध्यायों में विश्व के हेतु, निर्दोष, गुणों के सागर, सच्चिदानन्दात्मक, पुरुषोत्तम को ही मुमुक्षु व्यक्तियों के ध्येय रूप में निखिल वेदान्त ने प्रतिपादन किया है । उन में फिर तद्विषयक विरोध-समूह के परिहार के साथ ब्रह्म का स्वरूप निरूपण किया गया है । अब तृतीय अध्याय में ब्रह्म-प्राप्ति का साधन-समूह निरूपित होगा । इन साधनों के मध्य में ब्रह्म से इतर विषय में वितृष्णा और ब्रह्म विषय में तृष्णा ही मुख्य साधन है । इसे सिद्ध करने के लिये प्रथम दो पाद का आरम्भ हो रहा है । प्रथमपाद में लोक में वैराग्य के उपदेश करने के लिये पञ्चाग्निविद्या के आश्रय से नानावस्था प्राप्त समस्त जीवों के लोकगति के द्वारा गति के दोष-समूह प्रकाशित होंगे । द्वितीयपाद में प्राप्य रूप परमेश्वर के लिये अनुराग के हेतु रूप तदीय महिमादि गुणसमूह कहे जायेंगे । छान्दोग्य उपनिषद् में "अरुणपुत्र श्वेतकेतु पाञ्चालसभा में उपस्थित हुए" इत्यादि वाक्य के द्वारा पञ्चाग्निविद्या का कथन है । यहाँ जीव परलोक में आगमन करता है तथा पुनर्वार वहाँ से इस लोक में आगमन करता है । इस प्रकार प्रतीत होता है । यहाँ संशय यह होता है—जीव परलोक गमन के समय सूक्ष्मभूतों से वियुक्त होकर किंवा सूक्ष्मभूतों से युक्त होकर गमन करता है ? तो भी सुलभता के कारण उन से वियुक्त होकर गमन करता है इस प्रकार के पूर्व पक्ष उठने पर सिद्धान्त में उत्तर देते हैं ।—प्रश्न तथा उत्तर के द्वारा सूक्ष्म भूत के साथ देहान्तर-प्राप्ति प्रतीत हो रही है । पहले मूर्त्ति शब्द के प्रक्रम के कारण तत् शब्द से देह का ही परामर्श है । देह से देहान्तर-प्राप्ति में सूक्ष्मभूत के साथ ही गमन प्रतीत हो रहा है । क्योंकि "वेत्थ यथा" इत्यादि प्रश्न और

यामास। पिताऽप्यविदितप्रष्टव्यस्तद्बुभुत्सया प्रवाहणमामत्य कृतार्हणं वित्तदित्सुं च तं प्रति तानेव पञ्च-प्रश्नान् बिभित्ते। स च तमन्तिमं प्रश्नं प्रति ब्रुवन्नाह—"असौ वाव लोके गौतमाग्निः" इत्यादि । तत्र हि द्युपर्ज-न्यपृथिवीपुरुषयोषाः पञ्चाग्नितया निरूपिताः। तेषु पञ्चस्वग्निषु श्रद्धासोमवृष्ट्यन्नरेतोरूपाः क्रमात् पञ्चाहुतयः पठिताः। होतारः सर्व्वत्र देवाः। होमस्तु भूतसूक्ष्मपरिवेष्टितस्य जीवस्य स्वर्भोगादिलाभाय देवैः कृतो द्युलोकादिषु प्रक्षेपः। मृतस्य जीवस्य इन्द्रियाणि खलु देवाः कथ्यन्ते। ते हि द्युलोकाग्नौ श्रद्धां जुह्वति। सा श्रद्धा स्वर्गभोगा-र्हं सोमराजाख्यदिव्यदेहरूपेण परिणमते। स च देहो भोगान्ते तैः पर्ज्जन्याग्नौ हुतो वर्षं भवति । तच्च वर्षं पृथिव्यग्नौ तैर्हुतमन्नं भवति। तच्चान्नं पुरुषाग्नौ तैर्हुतं रेतो भवति। तच्च रेतो योषाग्नौ तैरेव हुतं गर्भो भवतीत्युक्त्वाह—"इति तु पञ्चम्यामाहुता वापः पुरुषवचसो भवन्ति" इति । इत्युक्तक्रमेण रेतोरूपायां पञ्चस्यामाहुतौ हुतायामापः पुरुषवचसः पुरुषशब्दवाच्या देहरूपा भवन्तीत्यर्थः। इह याभिरद्भिर्युक्तो दिवं गत-स्तासामेवोक्तरीत्या स्त्रीमापन्नानां पुरुषरूपतेति प्रतीतेः सूक्ष्मभूतपरिष्वक्तो रंहतीति सिद्धम् ॥ १ ॥

नन्वापः पुरुषवचस इत्युक्तेः सर्व्वेषां भूतानां परिष्वङ्गः कथमिति तत्राह—

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥ २ ॥

शङ्कानिवृत्तेय तुशब्दः। त्रिवृत्कृतानामपां त्रिभूतीरूपत्वात् तासां गतौ त्रयाणामपि गतिरनुमतेत्यर्थः। तथा-प्यप्शब्दप्रयोगः, शुक्रशोणितरूपे देहबीजे द्रवभूम्ना तासां भूयस्त्वात् । "तापापनोदो भूयस्त्वमम्भसो वृत्तय-स्त्विमा" इति स्मृतेश्च। भूम्ना हि व्यपदेशा भवन्ति ॥ २ ॥

"असौ वाव" इत्यादि प्रकार से उसका उत्तर ही प्रमाण है। छान्दोग्य में एक आख्यायिका यह है। प्रवाहण नामक पञ्चालदेश के अधिपति ने समीप प्राप्त श्वेतकेतु नामक विप्रकुमार से पाँच अर्थ का प्रश्न किया। कर्म्मियों का गन्तव्य देश, पुनरावृत्ति का प्रकार, इस लोक को जो प्राप्त नहीं होता है, देवयान तथा पितृयान का भेद और पञ्चमाग्नि में आहुत जल की पुरुषदेहप्राप्ति-प्रकार इति। श्वेतकेतु इन पाँच प्रश्नों का अर्थ अवगत न कर पिता गौतम के निकट गमन कर खेद का प्रकाश करने लगा। पिता भी इन सब प्रश्नों को न समझ कर प्रवा-हण के निकट गये। प्रवाहण उनकी यथा विधि पूजा करके वित्त-दानभिलाषी हुए। परन्तु उन ने प्रवाहण से उक्त पाँच ही प्रश्न की भिक्षा माँगी। प्रवाहण ने कहा हे गौतम ! इस संसार में स्वर्ग, मेघ, पृथिवी, पुरुष और स्त्री ये पाँच अग्नि हैं। श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न और वीर्य ये पांच उन पञ्चाग्नि की आहूतियाँ हैं। देवगण होता है। भूत-सूक्ष्मवेष्टित जीव का स्वर्गलाभ के लिये देवताओं से प्रक्षेप होम है। मृत जीव का इन्द्रियवर्ग देवता है। वे स्वर्गलोकाग्नि में श्रद्धा को होम देते हैं। यह श्रद्धा ही स्वर्गभोग के योग्य सोमराज नामक दिव्यदेह रूप में परिणत होता है। वह देह फिर भोगान्त के पश्चात् पर्ज्जन्य-अग्नि में हुत होकर वर्षा रूप होती है। वर्षा फिर पृथिवी रूप अग्नि में हुत होकर अन्नरूप से परिणत होती है। वह अन्न पुरुष रूप अग्नि में हुत होकर रेतोरूप धारण करता है। वह रेतो फिर योषारूप अग्नि में हुत होकर गर्भ हो जाता है। इस प्रकार पञ्चाग्नि में हुत जल की पुरुषाकार-प्राप्ति है। यहाँ जिन सब जलों के साथ जीव स्वर्गलोक में गमन करता है, वे सब जल ही पूर्वोक्त रीति से स्त्रीगर्भ में प्रवेश होकर पुरुषाकार में प्राप्त होते हैं। इस प्रकार प्रतीति-प्रयुक्त सकल जीव सूक्ष्मभूत के साथ गमन करते हैं, यह सिद्ध हुआ ॥१॥

यदि केवल जल ही पुरुषाकार प्राप्त होता है—इस प्रकार बोला जाता है तब सकल जीव सूक्ष्मभूत के साथ गमन करते हैं—यह फिर किस प्रकार संगत हो सकता है ? इस प्रकार की आशंका उठने पर उत्तर देते हैं।—

जल का भूतत्रयात्मकत्व भी बहुलत्व के हेतु संगत हो रहा है। शंका निवृत्ति के लिये "तु" शब्द है। भूतत्रया-

प्राणगतेश्च ॥ ३ ॥

देहान्तरप्राप्तौ प्राणानां गतिः श्रूयते बृहदारण्यके—"तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्व्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति" इत्यादिना। सा खलु निराश्रया न सम्भवेदतस्तदाश्रयभूतानां भूतानां गतिः स्वीकार्य्येत्यर्थः॥३॥

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥ ४ ॥

ननु "यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमा-काशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयत" इति तत्रैव वागादीनामग्न्यादीन् प्रति गतिश्रुतेर्न तेषां जीवेन सह गतिरत उक्तश्रुतिरन्यथैव नेयेति चेन्न। कुतः ? भाक्तत्वात्। "औषधीर्लोमानि वन-स्पतीन् केशा" इत्यादिना श्रुताया लोमादिगतेः प्रत्यक्षेण बाधात् भाक्तेयमग्न्यादिगतिश्रुतिः। तत्सहपाठात् न स्वा-र्थपरेत्यर्थः। न हि लोमान्युत्प्लुत्यौषधीर्गच्छन्तीत्यादि दृष्टम् । ततश्च मृतिकाले वागादीनामुपकारनिवृत्तिमात्रा-पेक्षया तथोक्तिर्गतेरपि श्रुतत्वात् ॥ ४ ॥

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥ ५ ॥

ननु यद्यापः पञ्चाप्याहुतयः स्युस्तदा पञ्चम्यामिति वाक्यादद्भिः परिष्वक्तो यातीति शक्यं वदितुम्। न च तथाऽस्ति प्रथमेऽग्नौ तासामाहुतित्वाश्रवणात्। तत्र हि श्रद्धैवाहुतिरुक्ता। "तस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति" इति तस्या मनोवृत्तिरूपत्वेन प्रसिद्धेर्नाप्त्वं सम्भवति। सोमादीनां च कथंचित्सम्भवेत् अतो नास्माद्वाक्यात् भूत-

---

त्मकत्व के हेतु त्रिवृत्कृत जल के ही गमन से तीनों का गमन सिद्ध होता है। तो भी शुक्र-शोणित रूप शरीर-बीज में द्रवबाहुल्य-प्रयुक्त जल के ही बाहुल्य के कारण अप शब्द का प्रयोग जानना चाहिए। स्मृति में भी कहा गया है—ताप निवर्त्तन और सब से आधिक्य ये दोनों जल की वृत्ति हैं। अतएव आधिक्य प्रयुक्त जल के ही नाम से व्यवहृत होता है ॥२॥

प्राण की गति के वश ही अपर अपर भूत की गति जाननी चाहिए। वृहदारण्यक में—देहान्तर प्राप्ति में प्राण की गति सुनने में आती है। यथा "जीव के साथ प्राण और प्राण के साथ समस्त प्राण उत्क्रमण करते हैं"। यह उत्क्रान्ति निराश्रय है ऐसा सम्भव नहीं है। अतएव उत्क्रमणशील प्राण के आश्रयभूत अपरापर भूतों का भी उत्क्र-मण स्वीकार्य्य होता है ॥ ३ ॥

श्रुति में अग्नि प्रभृति की गति कही गयी है, इसलिये भूत सकल की गति स्वीकार करना असंगत है, क्योंकि ये सब श्रुतियाँ गौण मात्र हैं। मृत्युकाल में "पुरुष का वाक्य अग्नि में, प्राण वायु में, चक्षुः सूर्य्य में, मन चन्द्रमा में, कर्ण दिशा में, शरीर पृथिवी में, आत्मा आकाश में, लोम औषधि में, केश वृक्ष में, रक्त और वीर्य्य जल में लीन होता है" इस प्रकार श्रुति कहती है। इस श्रुति के बल से अपरापर भूतों का जीव के साथ गमन का अनु-मान नहीं किया जाता है। कारण यह है कि यह श्रुति गौण है। लोम सकल का औषधि में और केशों का वन-स्पति में गमन प्रत्यक्षतः विरोधी है। अग्न्यादि में गमन-बोधक अर्थ मुख्य नहीं है, गौण मात्र है। क्योंकि सह पाठ के कारण अन्यार्थ का बोध होता है। लोमादिक शरीर से पतित होकर औषधि आदि में गमन करते हैं-ऐसा किसी ने कभी नहीं देखा। अतएव मरणकाल में वागादिकों की निवृत्ति ही में श्रुति का तात्पर्य्य है। गति ही उसका मुख्यार्थ है ॥४॥

पहिले आहुति में जल का अश्रवण होने के कारण जलादि भूतों के साथ जीव का गमन असिद्ध है ऐसा नहीं बोला जा सकता है। क्योंकि प्रथम आहुति में ये सकल जलादि भूत ही श्रद्धा शब्द के द्वारा कहे गये हैं इस

परिष्वक्तो गच्छतो मृतस्येति चेन्न । हि यतः प्रथमेऽप्यग्नौ ता एवापः श्रद्धाशब्देनोच्यन्ते । कुतः ? उपपत्तेः
प्रश्नोत्तरयोरितिशेषः । वेत्थ यथेति प्रश्ने पञ्चस्वग्निष्वापो होम्या विवक्षिताः । तस्योत्तरारम्भे प्रथमेऽग्नौ श्रद्धा
होम्योक्ता । तत्र श्रद्धाशब्देन चेन्नापो वाच्यास्तदा तयोर्वैरूप्यापत्तिरित्यर्थः । अपां पञ्चमहोमसम्बन्धो हीतरहोम-
चतुष्टयसम्बन्ध एवोपपद्यते । श्रद्धाकार्य्यं च सोमवृष्ट्यादि स्थूलीभवदब्बहुलं वीक्ष्यते । कारणानुरूपं च कार्य्य-
मिति श्रद्धाया अप्त्वे युक्तिश्च । तस्मात् तत्र श्रद्धाशब्देनापो ग्राह्याः । "श्रद्धा वा आप" इति श्रुतेश्च । मनोवृत्तिस्तु
न स्यात् । मनसो निष्कृष्य तस्या होमानुपपत्तेः । तस्मादद्भिः परिष्वक्तो यातीति ॥ ५ ॥
नन्वापो गच्छेयुः श्रुतत्वात् न तु तद्युक्तो जीवः अश्रुतत्वादित्याशङ्क्य परिहरति—

अश्रुतत्वादिति चेन्न इष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥ ६ ॥

अश्रुतत्वमसिद्धम् । तत्रैव छान्दोग्ये चन्द्रं प्रतीष्टादिकृतां गतिप्रत्ययात् । "अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्त्ते दत्त-
मित्युपासते ते धूममभिसंविशन्ति" इत्यादिना "आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा" इत्यन्तेन । तत्रेष्टादिकारिणां
चन्द्रं प्राप्य सोमराजाख्या भवन्तीत्यवगम्यते । तथा द्युलोकाग्नौ "देवाः श्रद्धां जुह्वति । तस्याः आहुतेः सोमो राजा
सम्भवति" इत्यत्रापि तदैकार्थ्यात् श्रद्धाशरीरयुक्तः सोमशरीरयुक्तो भवतीति अवसीयते । शरीरस्य जीवैका-
श्रयत्वस्वाभाव्यात् तद्वाचकस्य शब्दस्य जीवे पर्य्यवसानमिति तत्परिष्वक्तोऽसौ यातीति स्थिरम् ॥ ६ ॥

प्रकार उपपत्ति देखने में आती है। यदि इस प्रकार की आशंका करते हो कि जल यदि पञ्चाहुति करके स्वीकृत
होता, तब जल के साथ जीव का गमन स्वीकार किया जाता। किन्तु जब जल को प्रथम आहुति नहीं कहा गया है
तब जल उस प्रकार अवश्य स्वीकार नहीं हुआ है। प्रथम अग्नि में श्रद्धा ही आहुति शब्द से अभिहित हुआ है।
उस अग्नि में देवतागण श्रद्धा का ही होम करते हैं। यह श्रद्धा मनोवृत्ति रूपा है। उसका जलत्व होना असम्भव
है। सोमादिक का जलत्व कुछ सम्भव हो सकता है। अतएव इस वाक्य से भूतवर्ग के साथ जीव का गमन जो
अनुमान किया जाता है वह असंगत है। क्योंकि प्रथम अग्नि में जो होम है वह श्रद्धा शब्द-वाच्य जल के द्वारा
होता है-यह युक्तियुक्त है। पञ्चालाधिपति के प्रश्न में पञ्चाग्नि में जलरूप होम का कथन है तथा प्रश्न के उत्तर में
भी प्रथम अग्नि में श्रद्धा का ही होम रूप कहा गया है। यहाँ श्रद्धा शब्द यदि जल को नहीं समझाता है तब उन
दोनों की वैरूप्यापत्ति घटती है। अन्य होमचतुष्टय का सम्बन्ध होने पर ही जल का पञ्चम होम के साथ सम्बन्ध
उपपन्न हो सकता है। सोम तथा वृष्टि आदि श्रद्धा का कार्य्य है तथा श्रद्धा उन का कारण है। श्रद्धा ही स्थूल रूप
होकर सोमवृष्टि प्रभृति आकार में परिणत होती है। यह वृष्टि जल बहुल है। कार्य्य कारण के अनुरूप होता है।
श्रद्धा का कार्य्य जल श्रद्धा के ही अनुरूप है। यह श्रद्धा के जल रूपत्व में युक्ति है। अतएव श्रद्धा शब्द से यहाँ
जल ही स्वीकार होता है। श्रुति में "श्रद्धा ही जल" ऐसा कहा गया है। यहाँ श्रद्धा मनोवृत्ति नहीं है। मन से
निष्कासन होकर श्रद्धा होम रूप नहीं हो सकता है, अतएव जल के साथ संगत होकर जीव गमन करता है-यह
सिद्ध हुआ है ॥ ५ ॥

अब श्रुति-प्रमाण होने के कारण जल ही गमन करता है, ऐसा बोला जा सकता है, किन्तु श्रुति-प्रमाण के
असद्भाव होने के कारण उसके साथ जीव ही गमन करता है-इस प्रकार नहीं बोल सकते। इस प्रकार की
आशंका उठाकर उसका परिहार करते हैं।—

इष्ट प्रभृति कर्म्म के समस्त अनुष्ठाताओं की उस प्रकार की प्रतीति होने के हेतु श्रुतिप्रमाण का असद्भाव
होने से इस प्रकार की आशङ्का अकिञ्चित्कर है। श्रुतिप्रामाण्य का असद्भाव ही असिद्ध है। वहाँ छान्दोग्य
में इष्टादिकर्म्मकारी जीवों की चन्द्रलोक गति कही गयी है। यथा-जो इष्टापूर्त्ति के उपासक हैं, वे सब धूम्र में

ननु एष सोमो राजा देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति" इति सोमराजशब्दितस्य देवभक्ष्यत्वश्रवणात् न स जीवः
शक्यो वक्तुम् । तस्य भक्षयितुमशक्यत्वादिति चेत्तत्राह—

भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात् तथाहि दर्शयति ॥ ७ ॥

वेति शङ्काहानौ । सोमराजशब्दितस्य जीवस्य देवान्नत्वं भाक्तम् । अन्नवत्तद्भोगहेतुत्वादुपचरितमित्यर्थः ।
तद्धेतुत्वं तत्सेवकत्वात् । तच्चानात्मवित्त्वात् । श्रुतिरप्यनात्मज्ञस्य देवसेवकतां दर्शयति । "अथ योऽन्यां देवता-
मुपास्ते अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानां" इति बृहदारण्यके । अयं भावः । अन्नवद्-
भक्षणासम्भवात् तद्भोगसाधनत्वाच्च जीवस्य देवान्नत्वं तत्रोपचर्य्यते । "विशोऽन्नं राज्ञां पशवोऽन्नं विशां"
इत्यौपचारिकप्रयोगदर्शनाच्च । मुख्यत्वे तु ज्योतिष्टोमादिविधिवैयर्थ्योपत्तिः । देवाश्चेच्चन्द्रलोकगतं भक्षयेयुः
किमर्थं जनस्तत्र गच्छेत्, किमर्थं वा तत्प्रापकं ज्योतिष्टोमादिप्रयासं कुर्य्यादिति । तस्मादद्भिः परिष्वक्तो यातीति
सिद्धम् ॥ ७ ॥

अथ य इमे ग्राम इत्यादिना केवलकर्म्मिणां धूमादिमार्गेण स्वर्गप्राप्तिमभिधाय तदन्ते पुनरावृत्तिः पठ्यते तत्रैव
छान्दोग्ये-"यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्त" इति । तत्र संशयः । स्वर्गादवरोहन्निरनुशयः

प्रवेश करते हैं। पश्चात् आकाश से चन्द्र में प्रवेश कर सोमराज नाम प्राप्त करते हैं-इस प्रकार की प्रतीति है।
स्वर्गलोकाग्नि में देवता श्रद्धा का होम करते हैं तथा उस आहुति से सोमराजा होते हैं। दोनों श्रुति एक ही अर्थ
को प्रकाश करती हैं। जो पहले श्रद्धा शरीर विशिष्ट रहे वे ही पश्चात् सोमशरीर युक्त हुए-इस प्रकार का अर्थ
अवगत हो रहा है। एक मात्र जीव का आश्रय करना जब शरीर का स्वभाव है, तब शरीरवाचक शब्द का
जीव में ही पर्य्यवसान प्राप्त हो रहा है। अतएव भूतगण के साथ जीव का गमन स्थिर हुआ है ॥ ६ ॥

अच्छा ? "यह सोमराज देवताओं का अन्न है और देवतागण उसे भक्षण करते हैं"-इत्यादि वाक्य से जो
सोमराज देवताओं का अन्न है उसे कभी जीव नहीं बोला जा सकता है। क्योंकि जीव भक्षण के अयोग्य है—
इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष का उत्तर यह है-जीव का अन्नत्व गौण है, आत्मज्ञान के अभाव के वश जीव तादृश
भाव को प्राप्त होता है। श्रुति में भी इस प्रकार दिखाया गया है। "वा" शब्द आशंका निवृत्ति के लिये है।
सोमराज शब्द से उक्त जीव का देवान्नत्व गौण है। जीव-समूह अन्न की तरह देवताओं के भोग के कारण हैं,
इसलिये उनमें अन्न धर्म्म का उपचार है। सेवक होने का कारण जीवों को देवताओं का भोगरूप कहा जाता है।
आत्म-ज्ञान के अभाव से ही इस प्रकार देव-सेवकता घटती है। श्रुति भी आत्म-ज्ञान विहीन जीवों की देवसे-
वकता कहती है। बृहदारण्यक में कहा है-जो अन्य देवताओं की सेवा करता है, वह उन देवताओं का तथा
अपने आप का तत्व कुछ नहीं जानता है। वह उन देवताओं का पशु अर्थात् सम्पूर्ण अधीन है"। इसका ता-
त्पर्य्य यह है कि अन्न जिस प्रकार भक्षित होता है, जीव का उस प्रकार भक्षण असम्भव है, परन्तु अन्न जिस
प्रकार भोग का साधन है जीव भी ठीक उसी प्रकार है, इसलिये जीव में अन्नधर्म्म का आरोप है तथा वह अन्न
शब्द से व्यक्त किया गया है। वास्तविक प्रजा को जिस प्रकार राजा का अन्न तथा पशु को जिस प्रकार प्रजा का
अन्न कहा जाता है, ठीक उसी प्रकार जीव को देवताओं का अन्न कहा गया है। इस प्रकार का प्रयोग औपचा-
रिक है। यदि जीव वास्तविक ही देवताओं का भक्षणीय अन्न होता,तब तो ज्योतिष्टोमादिविधि वृथा हो जाती।
जीव चन्द्रलोक में गमन करने पर यदि देवतागण उन्हें खा जाते हैं, तब कौन जीव किस लिये वहाँ गमन
करेगा तथा किस लिये वे चन्द्रलोक प्रापक ज्योतिष्टोमादि यज्ञ का अनुष्ठान करेंगे ? अतएव जीव मरणकाल में
जलादि भूतत्रय के साथ गमन करता है-यह सिद्ध हुआ ॥ ७ ॥

सानुशयो वेति । यावत्सम्पातमुषित्वेत्युक्तेः “प्राप्यान्तं कर्म्मणस्तस्य” इत्याद्युक्तेश्च निरनुशयोऽवरोहतीति । सम्पातः कर्म्म सम्पतन्त्यनेन स्वर्गमिति व्युत्पत्तेः । अनुशयो भुक्तशिष्टं कर्म्म । अनुशेते कर्त्तारं फलभोगायेति व्युत्पत्तेः । तच्च कृत्स्नफलभोगे सति नावशिष्यते । एवं प्राप्ते पठति—

कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्याम् ॥ ८ ॥

चन्द्रलोके सुखभोगाय यत्कर्म्म कृतं तस्येष्टादेस्तत्र भोगेनात्यये क्षये सति तद्भोगक्षयजातशोकानलविलीन-भोगदेहोऽनुशयवानवरोहति । कुतः ? दृष्टेति । “तद्य इह रमणीयचरणाभ्यासो ह यत्ते रमणीयां योनि-मापद्येरन् ब्राह्मणयोनि वा क्षत्रिययोनिं वैश्ययोनिं वा । अथ य इह कपूयचरणाभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनिमा-पद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा इति तत्रैव दर्शनात् । रमणीयचरणा रमणीयकर्म्माणः । भुक्तशिष्टपक्वसुकृतवन्त इत्यर्थः । अभ्यासोऽभ्यागन्तारः अभ्यापूर्व्वादसेः विवपि रूपं । ह स्फुटं । यद् यदा, तदेत्यर्थात् । “इह पुनर्भवे ते उभयशेषाभ्यां निविशन्ति” इति स्मृतेश्च । तस्मात्सानुशयोऽवरोहति यावत्सम्पातं इत्यादिवाक्यं तु फलार्पणप्रवृत्तकर्म्मविशेषपरमित्यविरोधः ॥ ८ ॥

अवरोहे प्रकारविशेषं दर्शयति—

इसके अनन्तर “य इमे ग्रामे” इत्यादि वाक्य के द्वारा केवल कर्म्मियों का धूमादि मार्ग से स्वर्गादिक कह कर उसके उपरान्त उनका पुनः आगमन कहते हैं। छान्दोग्य में “जीव स्वर्गभोग के अनन्तर इस मार्ग से पुनरागमन करता है”–ऐसा पाठ है। यहाँ संशय यह है कि जीव स्वर्ग से अवरोहण-काल में अपना कर्म्म परिसमाप्ति करके पुनरागमन करता है अथवा भुक्तावशिष्ट कर्म्म के साथ वह आता है ? जिसके द्वारा गमन होता है, उसका नाम सम्पात है। कर्म्म ही सम्पात शब्द का व्युत्पत्ति प्राप्त अर्थ है। “यावत् सम्पातमुषित्वा” इस श्रुति का यावत् कर्म्म रहता है तावत् वास करके–ऐसा अर्थ प्राप्त हो रहा है। “प्राप्यान्तं कर्म्मणस्तस्य” इस वाक्य का तात्पर्य्य भी ऐसा ही है। अनुशय शब्द का अर्थ है जो कर्त्ता को फल भोग में नियुक्त करता है। इस प्रकार की व्युत्पत्ति से भुक्तावशेष कर्म्म ही जानना चाहिए। अतएव जीव फलभोग के अनन्तर निरनुशय अवस्था में ही इस लोक में पुनरागमन करता है, इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के उठने पर उसके खण्डन के लिये अन्यसूत्र की अवतारणा करते हैं।—

फलोन्मुख कर्म्म का क्षय होने पर जीव भुक्तावशिष्ट कर्म्म के साथ पुनरागमन करता है—यह अर्थ श्रुति-स्मृति-सिद्ध है। चन्द्रलोक में सुख भोग के लिये इस लोक में इष्ट आदिक जो समस्त कार्य्य किया जाता है, यहाँ भोग के द्वारा उसका क्षय होने पर, भोगक्षय–निमित्त शोकानल में जीव का भोगदेह विलीन होता है, सुतरां जीव उस समय बीजरूप में स्थित अफलोन्मुख भुक्तावशिष्ट कर्म्म के साथ इस लोक में पुनर्वार आगमन करता है। श्रुति में कहा है—आगमन कालीन उत्कृष्ट आचरण के द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि उत्तम योनि को तथा उस समय में होने वाले निन्दनीय आचरण के द्वारा कुक्कुर, शूकर, चाण्डालादि योनि को प्राप्त होताहै । रम-णीयचरण शब्द का अर्थ रमणीय कर्म्म तथा कपूयाचरण शब्द का अर्थ निन्दनीय आचरण है। रमणीय चरण उसका अर्थ है—भुक्तावशिष्ट परिपक्व सुकृतशाली। अभ्यास शब्द का अर्थ है–अभ्यागन्ता। अभि पूर्व्वक आ पूर्व्वक अस् धातु के उत्तर क्विप् प्रत्यय है। यद् शब्द का अर्थ यदा, तद् शब्द का तदा इस अर्थ में वह प्राप्त होता है। स्मृति में भी कहा है—“इस पुनर्जन्म के समय समस्त जीव पाप–पुण्य दोनों के अवशेष के साथ आ-गमन करते हैं। अतएव भुक्तावशिष्ट कर्म्म के साथ जीव का अवरोहण सिद्ध हुआ है। यावत् सम्पात शब्द का अर्थ है फलार्पण प्रवृत्त कर्म्म विशेष है। अतएव जो कर्म्म जितने दिवस तक फलोन्मुख रहता है, उतने दिन तक उस कर्म्म का फल भोग करता हुआ पुनरागमन करता है–ऐसा बोलने पर विरोध का भंग हो जाता है ॥८॥

यथेतमनेवं च ॥ ९ ॥

चन्द्रादवरोहन्ननुशयी यथेतमवरोहत्यनेवं च । यथेतं यथागतम् । अनेवं तद्विपर्य्ययेण । धूमाकाशयोरवरोहेऽपि संकीर्त्तनाद्यथेतमिति प्रतीयते । रात्र्याद्यसंकीर्त्तनादभ्राद्युपसंख्यानाच्चानेवं चेति ॥ ९ ॥

चरणादिति चेन्न तदुपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥ १० ॥

ननु स्वर्गात्प्रच्युतोऽनुशयाद्योनिं प्राप्नोतीति न युज्यते । रमणीयचरणा इत्यादिश्रुत्या चरणात् तदाप्त्यभिधा-नात् । न चानुशयचरणशब्दयोरैकार्थ्यम् । “यथाकारी यथाचारी तथा भवति” इति बृहदारण्यके तयोर्भिन्नार्थ-त्वोक्तेः । कर्म्मशेषोऽनुशयश्चरणं त्वाचार इति चेन्नायं दोषः । यतोऽनुशयोपलक्षणार्थैषा चरणश्रुतिरिति कार्ष्णाजि-निर्म्मन्यते । कर्म्मणः सर्व्वार्थहेतुतया शास्त्रार्थप्रसिद्धेरिति भावः ॥ १० ॥

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥ ११ ॥

ननु कर्म्मणः सर्व्वार्थहेतुत्वे वैफल्यमाचारस्य ततश्च तद्विधिर्व्यर्थ इति चेन्न । कुतः ? कर्म्मणोऽप्याचारसा-पेक्षत्वात् । न हि सदाचारविहीनः कर्म्मण्यधिक्रियते । “सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्व्वकर्म्मसु” इत्यादि-स्मृतेः । तथा च साचारस्य कर्म्मणः फलहेतुत्वात् तया कर्म्मोपलक्ष्यते इति कार्ष्णाजिनेर्मतम् ॥ ११ ॥

अब अवरोहण में अन्य प्रकार की विशेषता दिखाते हैं—

जिस प्रकार से गमन है, उस प्रकार से ही आगमन है। कभी अन्यरूप भी हो जाता है। अनुशयी जीव जिस प्रकार•गमन करता है ठीक उसी प्रकार चन्द्रलोक से आगमन करता है। कभी अन्यरूप से भी आगमन होता है। अवरोहणकाल में धूम एवं आकाश के कीर्त्तन के कारण पहले की तरह अवरोहण की ही प्रतीति होती है। फिर गमनकाल में रात्रि प्रभृति के अनुल्लेख तथा आगमन काल में मेघादि के उल्लेख के हेतु उसके विपरीत भी प्रतीत होता है ॥ ९ ॥

यदि कहो कि श्रुति में चरण शब्द का उल्लेख है, सुतरां कर्मावशेष से योनि की प्राप्ति है। इसलिये इस प्रकार का सिद्धान्त अयुक्त है–ऐसा नहीं है। क्योंकि कार्ष्णाजिनि ऋषि कहते हैं–चरण शब्द से अनुशय ही उपलक्षित होता है। यदि कहो कि स्वर्ग से पतन के समय भुक्तशेष के वश देहान्तर-प्राप्ति होती है–ऐसा बोलना अयुक्त है। क्योंकि “रमणीय चरण” इत्यादि श्रुति में चरण शब्द का अर्थ आचरण ही अभिहित होता है। अतएव आचरण क्रम से ही देह-प्राप्ति स्वीकार होती है। भुक्तावशेष-क्रम से नहीं है। अनुशय और चरण शब्द दोनों एकार्थवा-चक नहीं बोले जा सकते हैं। क्योंकि बृहदारण्यक में कहा है-“जिस प्रकार का कर्म्म तथा जैसा आचरण ठीक उसी प्रकार का जन्म होता है”। यहाँ कर्म्म तथा आचरण का अर्थ भिन्न किया गया है। उसके उत्तर में इतना ही बोला जा सकता है कि कर्म्म के शेष को अनुशय तथा आचार को ही चरण कह करके दोनों के एकार्थ स्वीकार करने में किसी प्रकार का दोष नहीं हो सकता है। श्रुति-उक्त चरण शब्द अनुशय अर्थ का ही लक्ष्य करके अभिहित है। ऐसा स्पष्टाक्षर में कार्ष्णाजिनि ऋषि ने कहा है। वास्तविक कर्म्म के समस्त अर्थ की कारणता शास्त्र में प्रसिद्ध है॥१०॥

अच्छा ? कर्म्म के सर्व्वार्थहेतुत्व रूप आचार की विफलता और पूर्व कथित विधि की व्यर्थता हो जावे इस प्रकार भी नहीं कहा जा सकता है, कारण यह है कि कर्म्म आचार सापेक्ष है। सदाचार विहीन व्यक्ति कभी कर्म्म का अधिकारी नहीं होता है। स्मृति में कहा है–“सन्ध्या-विहीन अशुचि व्यक्ति नित्य सकल कार्य्य में अनधिकारी है। फलतः सदाचार के साथ अनुष्ठित कर्म्म ही फलहेतु है। अतएव उसके द्वारा ही कर्म्म उपलक्षित होता है। यह कार्ष्णाजिन ऋषि का मत है ॥ ११ ॥

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥ १२ ॥

तुशब्दः पूर्व्वमतनिरासाय। चरणशब्देन सुकृतदुष्कृत एव वाच्ये इति बादरिर्मन्यते। पुण्यं कर्म्माचरती-
त्यादौ कर्म्मणि चरतेः प्रयोगात्। मुख्ये सम्भवति लक्षणा न युक्ता। चरणमनुष्टानं कर्म्मेति अनर्थान्तरम्।
आचारोऽपि कर्म्मविशेष एव। तथापि भेदोक्तिः कुरुपाण्डवन्यायेन। इदं स्वमतमित्येवशब्दः। तथा च चरण-
शब्देन कर्म्मविशेषोक्तेः सानुशयोऽवरोहतीति सिद्धम्॥ १२॥

इष्टादिकारिणश्चन्द्रं गत्वा सानुशयास्तस्मादवरोहन्तीत्युक्तम्। इदानीमनिष्टादिकारिणां पापिनामारोहावरोहौ
परीक्ष्येते। "असूर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना" इति
ईशावास्ये पठ्यते। अत्र पापिनश्चन्द्रलोकं गच्छन्त्युत यमलोकमिति संदेहे पूर्व्वपक्षं सूत्रयति—

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥ १३ ॥

इष्टादिकृतामिवानिष्टादिकृतामपि चन्द्रे गमनं श्रुतम्। "ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्व्वे
गच्छन्ति" इति कौषीतक्युपनिषदि सर्व्वेषामविशेषेण गतिश्रवणात् तेऽपि तं गच्छन्तीति। एवं सत्युक्तवाक्यं
दुराचारनिवृत्तिपरतया नेयम्। ननु पुण्यवतां पापिनां च समानं फलम्। नैवम्। पापिनां तत्र भोगाभावात्॥१३॥

एवं प्राप्ते सिद्धान्तयति—

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥ १४ ॥

तुशब्दः पूर्व्वपक्षनिरासार्थः। इतरेषामनिष्टादिकृतां संयमने यमपुरे गमनम्। तत्र यमदण्डमनुभूय पुनरिहा-

---

चरण शब्द से सुकृत और दुष्कृत दोनों का बोध होता है। इस प्रकार बादरिऋषि कहते हैं। "तु" शब्द-
पूर्व्वमत के निरासार्थ है। बादरि ऋषि के मत में चरण शब्द से सुकृत और दुष्कृत उभय का बोध होता है।
"पुण्यं कर्म्माचरति" इत्यादि स्थल में कर्म्म में हीं चर् धातु का प्रयोग है। मुख्यार्थ की सम्भावना में लक्षणा
अयुक्त है। चरण, अनुष्ठान और कर्म्म अर्थान्तर नहीं हैं। आचार शब्द में भी कर्म्मविशेष का बोध होता है। जिस
प्रकार पाण्डव कुरुवंशीय होने पर भी, उनमें कुरु पाण्डव शब्द का भिन्न भाव से व्यवहार किया जाता है, ठीक
उसी प्रकार यहाँ पर भी भेदोक्ति है। यह सूत्रकार का निज मत है। इसे व्यक्त करने के लिये यहाँ "एव" शब्द का
प्रयोग है। इस प्रकार चरण शब्द से कर्म्मविशेष के अभिधान के हेतु सानुशय जीव का अवरोहण सिद्ध हुआ है॥१२॥

इष्ट प्रभृति कर्म्मों का आचरण करने वाला चन्द्रलोक में गमन कर सानुशय हो वहाँ से अवरोहण करता है
यह कहा गया है। अब अनिष्ट प्रभृति कर्म्मों का आचरण करने वाले जीवों के आरोहण तथा अवरोहण की-
परीक्षा की जाती है। ईशावास्य उपनिशद् में ऐसा पाठ है। जो सब आत्मघाती हैं, वे सब मृत्यु के पश्चात् गाढ़
तिमिर से आच्छन्न सूर्य्य बिहीन लोक में गमन करते हैं। यहाँ समस्त पापी चन्द्रलोक में गमन करते हैं अथवा
यमलोक में—इस प्रकार के सन्देह उठने पर पूर्व्वपक्षीय सूत्र की अवतारणा करते हैं।—

इष्टादिकारी की भाँति अनिष्टादिकारी का भी चन्द्रलोक में गमन सुना जाता है। कौषीतकी उपनिषद् के जो
कोई इस लोक से गमन करते हैं, वे सब चन्द्रलोक में ही गमन करते हैं" इत्यादि वाक्य से सकल की अविशेष
रूप से गति के श्रवण के कारण सब कोई चन्द्रलोक में गमन करते हैं-इस प्रकार सिद्ध होता है। इस प्रकार होने
पर भी ये सब वाक्य दुराचार से निवृत्त करने के लिये कहे गये हैं ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि पुण्यशील
और पापी का समान फल कभी सङ्गत नहीं है। चन्द्रलोक में पापियों के भोग का अभाव देखा जाता है॥१३॥

इस प्रकार पूर्व्वपक्ष का सिद्धान्त है—"तु" शब्द पूर्व्वपक्ष निरास के लिये है। अनिष्टकारी समस्त व्यक्ति

गमनं च स्यात्। एवंभूतौ तेषामारोहावरोहौ भवतः। कुतः? तदिति। "न सम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं
वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इतिमानी पुनःपुनर्व्वशमापद्यते मे" ॥ इति कठवल्ल्यां यमलोकतद्दण्ड-
प्राप्तिश्रवणादित्यर्थः ॥ १४ ॥

स्मरन्ति च ॥ १५ ॥

'तत्र तत्र पतन् श्रान्तो मूर्च्छितः पुनरुत्थितः। पथा पापीयसा नीतस्तरसा यमसादनं" इत्यादौ "सर्व्वे चैते
वशं यान्ति यमस्य भगवन्" इत्यादिषु च पापिनां यमवश्यतां मुनयः स्मरन्तीति ॥ १५ ॥

अपि सप्त ॥ १६ ॥

"रौरवोऽथ महांश्चैव वह्निर्वैतरणी तथा। कुम्भीपाकः इति प्रोक्तान्यनित्यनरकाणि तु। तामिस्रश्चान्धतामिस्रो
द्वौ नित्यौ सम्प्रकीर्त्तितौ। इति सप्त प्रधानानि बलीयस्तूत्तरोत्तरमिति भारते। पापिनां फलभोगभूमित्वेन सप्त नर-
काणि स्मर्य्यन्ते। तानि ते यान्तीत्यर्थः। अपिशब्दात् पञ्चमान्तस्मृतानि पराणि गृह्यन्ते ॥ १६ ॥

नन्वेवमीश्वरकर्त्तृकसर्व्वनियमोक्तिबाधस्तत्राह—

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥ १७ ॥

चोऽवधारणे। तेषु यमादिषु दण्डकर्त्तृष्वीश्वरकर्त्तृकनियमनरूपाद्व्यापारात्तदुक्तेरबाध इत्यर्थः। ईश्वरप्रयुक्ताः
खलु यमादयः पापिनो दण्डयन्तीति पुराणेषु प्रसिद्धम्॥ १७॥

ननु पापिनामपि यमदण्डानन्तरं चन्द्रारोहः स्यात्। ये वै के चास्मादित्यादौ सर्व्वशब्दादित्याक्षेपनिरासायाह—

विद्याकर्म्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥ १८ ॥

तुशब्दादाक्षेपनिवृत्तिः। नेत्याकृष्यम्। पापिनां चन्द्रप्राप्तिर्नैवोपपद्यते। कुतः? देवयानपितृयानयोः प्रतिपत्तौ
विद्याकर्म्मणोरेव प्रकृतत्वात्। छान्दोग्ये "तद्य इत्थं विदु"रित्यादिना विद्यया देवयानपन्थाः प्राप्यः प्रकीर्त्त्यते। "अथ

संयमन नामक यमपुर में गमन करते हैं तथा वहाँ यमदण्ड से प्राप्त जन्म के दुःख का भोग कर पुनर्वार इस
लोक में आते हैं। अतः उनके आरोहण तथा अवरोहण दोनों सिद्ध होते हैं। कठवल्ली में यम ने कहा है—
"बालक प्रमादी तथा धन लोभ में मूढ़ व्यक्ति के परलोक की धारणा नहीं होती है। वे सब "यह लोक सत्य है,
परलोक नहीं है"—इस प्रकार के अन्ध विश्वास के वश मेरी अधीनता को स्वीकार करते हैं॥ १४॥

स्मृति में भी कहा गया है। "पापी मृत्यु के पश्चात् यमपुर-गमन के समय मार्ग में पुनः पुनः पतन से क्लान्ति
तथा मूर्च्छा को प्राप्त होते हैं। वे सब पुनर्वार उठकर द्रुतगति से यम के पास नीत होते हैं"। "पापीगण यम के
वश में आते हैं" इत्यादि ॥ १५ ॥

नरक प्रधानतः महाभारत में सात वर्णित हैं। रौरव, महान्, वह्नि, वैतरणी, कुम्भीपाक ये पांच अनित्य नरक हैं तथा
तामिस्र और अन्धतामिस्र ये दोनो नित्यनरक हैं। उत्तरोत्तर ये सब बलवान् हैं। पापियों के लिये फलभोग-
भूमिरूप से ये सप्त नरक हैं। सूत्रोक्त "अपि" शब्द के द्वारा उनसे अपर इक्कीस नरक और हैं॥ १६॥

"च" शब्द अवधारण अर्थ में है। यमादिक जो पापी को दण्ड देते हैं, वह ईश्वर-प्रेरणा से देते हैं—यह पुराणों
में प्रसिद्ध है। उनका दण्ड दातृत्व ईश्वर-प्रेरणा से होने के कारण ईश्वर का सर्वनियमन बाधित नहीं होता है॥१७॥

ननु (अच्छा?) "जो कोई इस लोक से गमन करता है, वह चन्द्रलोक में जाता है" इत्यादि वाक्य से समस्त
पापी यमपुर में यमदण्ड भोग के पश्चात् चन्द्रलोक में गमन करते हैं—इस प्रकार के आक्षेप उठने पर परसूत्र
में उसका निराकरण करते हैं।—"तु" शब्द आक्षेप निराकरण के लिये है। परसूत्र से नकार का अनुवर्त्तन है।—

[illegible] इत्यादिना तु कर्म्मणा पितृयानः पन्थाः प्राप्य इति । एवं सति स सर्व्वशब्दोऽधिकृतापेक्षो भवेत् ॥१८॥

[illegible] चन्द्रगत्यभावे पापिनामिह देहोपलम्भो न स्यात् । तद्धेतोः पञ्चमाहुतेरसम्भवात् । तस्याश्चन्द्रप्राप्तिपूर्व- [illegible]त्वात् । अतो देहोपलम्भाय सर्व्वेषां चन्द्रगतिरावश्यकीति चेत्तत्राह—

न तृतीये तथोपलब्धेः ॥ १९ ॥

तृतीये स्थाने देहलाभाय तत्पूर्व्वकपञ्चमाहुत्यपेक्षा नास्ति । कुतः ? तथेति । श्रुतौ तथा प्रत्ययात् । अयमर्थः । तत्रैव "यथाऽसौ लोको न सम्पूर्य्यत" इत्यस्य प्रश्नस्योत्तरे श्रूयते । "अथैतयोः पथोर्न कतरेण च तानीमानि क्षुद्रा- ण्यसकृदावृत्तीनि भूतानि जीवन्ति जायस्व म्रियस्व इत्येतत् तृतीयं स्थानम् । तेनासौ लोको न सम्पूर्य्यत" इति । यानि भूतान्युक्तयोः देवयानपितृयानयोः पथोर्मध्ये कतरेणचन केनापि पथा न गच्छन्ति तानीमानि क्षुद्राणि दंशम- शककीटादीन्यसकृदावृत्तीनि जायस्व म्रियस्वेति भवन्ति । पुनः पुनर्जायन्ते म्रियन्ते चेत्यर्थः । एतत्तृतीयं स्थानमिति । दंशादिदेहाः पापकर्म्मणः कथ्यन्ते । स्थानत्वं स्थानसम्बन्धात् । तृतीयत्वं तु पूर्व्वनिर्दिष्टब्रह्मलोकद्युलोकापेक्षया । ततश्च ये विद्यया देवयाने पथि नाधिकृता नापि कर्म्मणा पितृयाने तेषामेव क्षुद्रजन्तूनां दंशमशकाद्यसकृदावृत्तीनां तृतीयः पन्थास्तेनासौ लोको न सम्पूर्य्यत इति तेषां द्युलोकारोहावरोहाभावेन तल्लोकासम्पूर्त्युक्तेस्तृतीये स्थाने देहारम्भाय पञ्चमाहुतिर्नापेक्ष्येति ॥ १९ ॥

स्मर्य्यतेऽपि च लोके ॥ २० ॥

लोके पुण्यकर्म्मणामपि द्रोणधृष्टद्युम्नादीनामाहुतिसंख्यानपेक्षो देहारम्भः स्मर्य्यते । अपि चेति किञ्चिदन्य- दुच्यत इत्यर्थः ॥ २० ॥

पापियों को चन्द्रलोक की प्राप्ति नहीं घट सकती है । क्योंकि देवयान और पितृयान के स्वीकार होने से विद्या और कर्म्म का विषय आ पड़ता है । छान्दोग्य में कहा गया है । विद्या से देवयान और कर्म्म के द्वारा पितृयान ऐसा होता है । इस प्रकार होने पर बादरि प्रदर्शित श्रुति में जो सर्वशब्द देखने में आता है, वह अधिकृत मात्रापेक्षी है—ऐसा अवश्य स्वीकार करना होता है ॥ १८ ॥

अच्छा ? चन्द्रगति के अभाव से पापियों का देहोपलम्भ नहीं है । देहोपलम्भ के बिना पञ्चम-आहुति का होना असम्भव होता है । चन्द्रप्राप्ति पूर्वक ही पञ्चमाहुति है । अतः देहोपलम्भनार्थ सब की चन्द्रगति आवश्यक है । इस प्रकार कहने पर उसका उत्तर देते हैं ।—

तृतीयस्थान में देहलाभ के लिये चन्द्रलोक में गमन पूर्व्वक पञ्चम आहुती की अपेक्षा नहीं है । क्योंकि श्रुति में ऐसी ही उपलब्धि है । श्रुति में इस लोक की पूर्त्ति क्यों नहीं है–इस प्रश्न के उत्तर में सुनने में आता है कि- इस देवयान तथा पितृयान के किसी भी मार्ग में ये सब पुनः पुनः आवर्त्तनकारी क्षुद्र दंश मशकादि समस्त-भूत नहीं गमन करते हैं । वे सब जन्म लेते हैं मर भी जाते हैं । ये सब तृतीयस्थान का धर्म्म है । सुतरां चन्द्रलोक पूर्त्ति की कोई संभावना नहीं है । जो सब इन दोनों मार्गों में नहीं जा सकते हैं, वे दंश मशकादि क्षुद्र जन्मधारी, मरणाधीन सकल जीव तृतीयस्थान वाच्य हैं । दंश-मशकादि शरीर ही पाप कर्म्म का फल रूप कहा जाता है । ब्रह्म- लोक और द्युलोक की अपेक्षा से तृतीय होने के कारण इन सबको तृतीय स्थान कहा जाता है । अर्थात् जो सब विद्या के द्वारा देवयान पथ अथवा कर्म्म के द्वारा पितृयान पथ नहीं प्राप्त होते हैं, वे सब दंश मशकादि क्षुद्र जीव तृतीयस्थान हैं । वे सब चन्द्रलोक में नहीं गमन कर सकते हैं । सुतरां आरोहण तथा अवरोहण के अभाव के- कारण उनके द्वारा चन्द्रलोक की पूर्त्ति असम्भव है । अतएव तृतीयस्थान में देहारम्भ के लिये पञ्चमाहुति की अपेक्षा नहीं है ॥ १९ ॥

दर्शनाच्च ॥ २१ ॥

"तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति । अण्डजं जीवजमुद्भिज्जं" इति । तत्रैव विनैवाहुतिसंख्या- मुद्भिज्जस्वेदजयोर्भूतयोर्जन्मश्रवणाच्च तदनपेक्षोऽपि सः । तथा च येषां चन्द्रारोहावरोहौ सम्भवतस्तेषामेव तस्यां सत्यां तदारम्भोऽन्येषां तु त्रिनैव तामद्भिरेव स स्यात् प्रतिषेधकाभावादिति ॥ २१ ॥

ननु स्वेदजो न श्रूयते त्रीण्येवेति वचनादिति चेत्तत्र समादधाति—

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥ २२ ॥

उद्भिज्जमिति तृतीयशब्देन संशोकजस्य स्वेदजस्याप्यवरोधः संग्रहः कृतः । [illegible] वत्वस्य साम्यात् । लोके भेदोक्तिस्तु जङ्गमत्वाद्यवान्तरभेदमादाय । तस्मादनिष्टादिकारिणां [illegible] सिद्धम् ॥ २२ ॥

इष्टादिकृतः सूक्ष्मभूतयुक्ताः सानुशयाश्चावरोहन्तीति दर्शितम् । तत्प्रकारस्तु "अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुः वायुर्भूत्वा धूमो भवति,धूमो भूत्वा अभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रव- र्षति" इति । यथेतमनेवश्चोक्तस्तत्रैव । इहावरोहतायामाकाशादिभावः प्रतीयते । स किं तादात्म्यापत्तिरुत सादृश्या- पत्तिरिति विषये सादृश्यापत्तिपक्षे लक्षणाप्रसङ्गात्तादात्म्यापत्तिरेवासाविति प्राप्ते—

तत्स्वाभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥ २३ ॥

तत्सादृश्यापत्तिरूपः स मन्तव्यः । कुतः ? उपपत्तेः । चन्द्रलोके यदम्मयं वपुरारब्धं भोगाय [illegible] वृन्देन तुषारखण्डमिव भोगक्षये क्षणजेन शोकाग्निना विलीयमानं सौक्ष्म्यादाकाशतुल्यं भवति, ततो वायोर्वशमेति

इस प्रकार लौकिक दृष्टान्त पुराण में देखा जाता है । इस पृथिवी में ही पुण्यकर्म्मा द्रोण-धृष्टद्युम्नादिकों के देहारम्भ के लिये पञ्चमाहुति की अपेक्षा नहीं देखी गयी है । पञ्चमाहुति के बिना दंश मशकादि [illegible] संभव है किम्वा नहीं है–उसे दिखाने के लिये पौराणिकों ने द्रोणादि पुरुषों का उल्लेख किया है ॥ २० ॥

इन सब भूतों के अण्डज, जीवज, उद्भिज्ज ये तीन प्रकार के बीज देखने में आते हैं । उनमें से उद्भिज्ज और स्वेदज इन दोनों भूतों की पञ्चमाहुति की अपेक्षा नहीं है । जिनका चन्द्रलोक में आरोहण और वहाँ से अवरो- हण है उनको ही पञ्चमाहुति आवश्यक है । और का पञ्चमाहुति के बिना केवल जल के द्वारा ही देहारम्भ होता है । वेद में इसका किसी प्रकार प्रतिषेध नहीं है, सुतरां यह स्वीकार्य्य है ॥ २१ ॥

अच्छा ? "स्वेदज सुनने में नहीं आता है, उसका उल्लेख भी नहीं है" इसका समाधान करते हैं ।—

तृतीय उद्भिज्ज शब्द के द्वारा ही संशोकज अर्थात् स्वेदज का संग्रह है । उद्भिज्ज तथा स्वेदज दोनों भूमि और उदक से उद्भिन्न होकर जन्म लेते हैं । इसलिये दोनों में साम्य है । उनमें से उद्भिज्ज स्थावर तथा स्वेदज जङ्गम रूप से लोक में कहे जाते हैं । अतएव अनिष्टादिकारी की चन्द्रप्राप्ति नहीं है यह सिद्ध हुआ है ॥ २२ ॥

इष्टादिकारी व्यक्ति सकल सूक्ष्म भूत से युक्त होकर भुक्तावशिष्ट कर्म्म के साथ अवरोहण करते हैं यह दिखाया गया है । अवरोहण का प्रकार यह है कि वे सब जिस प्रकार आकाश से वायु, वायु से धूम, [illegible] उससे मेघ होकर वर्षित होते हैं–यह भी सब भली भाँति दिखाया गया है । इस अवरोहण में आकाशादि भाव प्रतीत हो रहा है । यह आकाशादि भाव तादात्म्यापत्ति अथवा सादृश्यापत्ति है–इस प्रकार के सन्देह उठने पर साद- श्यापत्ति के पक्ष में लक्षणा के प्रसंग के कारण वह तादात्म्यापत्ति होवे–इस प्रकार के पूर्व्वपक्षीय सिद्धान्त के ऊपर में कहते हैं ।—

तत्त्वेऽवरोहासम्भवाच्च ॥ २३ ॥ अन्यस्यान्यभावायोगात्
ततो धूमादिभिः संपृच्यते इत्येवोपपद्यते । अन्यस्यान्यभावायोगात् तत्त्वेऽवरोहासम्भवाच्च ॥ २३ ॥
आकाशादिप्रवर्षणान्तादवरोहो विलम्बेन त्वरया वेति संशये नियमहेत्वभावात् विलम्बेनेति प्राप्ते—

नातिचिरेण विशेषात् ॥ २४ ॥

परत्र व्रीह्यादिभावप्राप्तावतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं
आकाशादितो नातिचिरेणावरोहः । कुतः ? विशेषात् । परत्र व्रीह्यादिभावप्राप्तावतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं
इति विशेषोक्तेरित्यर्थः । तलोपश्छान्दसः । दुर्निष्प्रपतरं दुःखनिष्क्रमणमित्यर्थः । व्रीह्यादिप्राप्तौ दुःखनिर्गमोक्त्या-
काशादिप्राप्तौ त्वरया निर्गमो बोध्यते ॥ २४ ॥
प्रवर्षणानन्तरं "त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा जायन्त" इति तत्रैव श्रूयते । इह संशयः व्रीह्या-
दिष्वनुशयिनां मुख्यं जन्मोत संश्लेषमात्रमिति । जायन्त इत्युक्तेर्मुख्यं जन्मेति प्राप्तौ—

अन्याधिष्ठिते पूर्व्ववदभिलापात् ॥ २५ ॥

अन्यैर्जीवैर्भोक्तृतयाधिष्ठिते व्रीह्यादिदेहे तेषां संश्लेषमात्रमेव स्यात् । न तु ते भोगाय तत्र उत्पद्यन्ते । कुतः ?
पूर्व्वेति । आकाशादिभाववत् व्रीह्यादिभावस्याप्युक्तेरित्यर्थः । यथाकाशादिषु प्रवर्षणान्तेषु भोगहेतुः कर्म्म नाभिल-
प्यते तथा व्रीह्यादिभावेऽपि । यत्र तु भोगोऽभिमतस्तत्र "रमणीयचरणा" इत्यादिना तदभिलप्यते । तस्मात्संश्लेष-
मात्रमेव तत्, न तु मुख्यं जन्मेति ॥ २५ ॥

वह स्वाभाव्यापत्ति अर्थात् सादृश्यापत्ति रूप है । क्योंकि वह ही उपपन्न होता है । इस आकाशादि भाव के तत्सादृश्यापत्ति ही बोलना चाहिए । क्योंकि उस सम्बन्ध में ही उपपत्ति देखने में आती है । कारण चन्द्रलोक में भोग के लिये जो जलमय देह की उत्पत्ति होती है, वह सूर्य्यकिरण से उत्तप्त तुषारखण्ड की भाँति भोगक्षय में शोकाग्नि के द्वारा विलीन होने पर,सूक्ष्मता-प्रयुक्त आकाश तुल्य हो जाता है अनन्तर वायु की वशता को प्राप्त होता है । पश्चात् धूमादिक के साथ मिश्रित हो जाता है । यह युक्ति संगत है । एक पदार्थ का अन्यपदार्थत्व सम्भव नहीं है । विशेष करके तादात्म्यापत्ति में अवरोहण असम्भव होता है ॥ २३ ॥

आकाशादिक से लेकर प्रवर्षणान्त अवरोहण कहा गया है । यह अवरोहण विलम्ब से अथवा शीघ्र होता है-इस प्रकार संशय उठने पर नियम तथा कारण के अभाव के वश विलम्ब से ही ऐसा सिद्धान्त होता है-इसके उत्तर में कहते हैं ।—

आकाशादिक से अवरोहण सत्वर होता है । क्योंकि उस विषय में उक्ति है । "व्रीह्यादिभावप्राप्तौ" इत्यादि-वाक्य में "दुर्निष्प्रपतरं" यह विशेष वचन है । दुर्निष्प्रपतर शब्द का अर्थ दुःख-निष्क्रमण है । तकार का लोप छान्दस है । सुतरां व्रीह्यादिभाव प्राप्त होने पर दुःख का निष्क्रमण होता है-इस प्रकार के वचन के द्वारा आकाशादिभाव प्राप्ति में शीघ्र निर्गमन बोध हो रहा है ॥ २४ ॥

प्रवर्षण के अनन्तर वे सब व्रीहि, यव, औषधि, वनस्पति, तिल तथा माष होकर जन्म लेते हैं इस प्रकार श्रुति में मौजूद है । यहाँ संशय यह है कि सानुशयी जीवों की व्रीह्यादि अवस्था मुख्य जन्म अथवा संश्लेषमात्र है ? 'जायन्ते' (अर्थात् जन्म लेते हैं)—इस शब्द से मुख्य जन्म ही प्राप्त होता है । इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं ।—

अन्य जीवों के द्वारा भोक्तृ रूप से अधिष्ठित व्रीह्यादि देह में उनका संश्लेषमात्र होता है । कर्म्मफल भोग के लिये जो इस व्रीह्यादि को प्राप्त करते हैं, उनका ही वहाँ मुख्य जन्म है । स्वर्गभ्रष्ट जीवों का केवल संश्लेषमात्र होता है । स्वर्गभ्रष्ट जीव-समूह कुछ भोग के लिये व्रीह्यादि में उत्पन्न नहीं होते हैं । सुतरां इन सकल देहों में आकाशादि भाव की भाँति उनकी स्वाभाव्यापत्ति मात्र जाननी चाहिए । आकाशादि भाव में उनका जिस प्रकार कर्म्म

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥ २६ ॥

नन्वन्यैरधिष्ठिते व्रीह्यादिदेहे अनुशयिनां संश्लेषमात्रमेव न तु भोगार्थं जन्म, भोगहेतोः कर्म्मणोऽभावात् इत्युक्तिरयुक्ता तद्धेतोः सत्त्वात् । तथा हि, स्वर्गादिफलकमिष्टादिकर्म्मैवाशुद्धं अग्निसोमीयादि-पशुहिंसामिश्र-त्वात् । हिंसा तु पापमेव । मा हिंस्यात्सर्व्वा भूतानि"इति प्रतिषेधात् । ततश्च पुण्यांशः स्वर्गं दत्ते पापांशस्तु व्रीह्यादि-भावमिति । "शरीरजैः कर्म्मदोषैर्याति स्थावरतां नर" इति स्मृतेश्च । अतो व्रीह्यादिषु मुख्यं जन्मेति चेन्न । कुतः? शब्दात् । "अग्निसोमीयं पशुमालभेत" इत्यादिवेदवाक्यादित्यर्थः । तथा च धर्म्मत्वाधर्म्मत्वयोर्वेदैकगम्यत्वात् वेदेनैव हिंसानुग्रहात्मकस्येष्टादेर्धर्म्मत्वावधारणान्नाशुद्धं तदिति । न च मा हिंस्यादिति निषेधात् पापं हिंसेति वाच्यं, उत्सर्गो हि सः । अग्निसोमीयमिति त्वपवादः । उत्सर्गापवादयोर्व्यवस्थितविषयत्वात् न किञ्चिच्चोद्यमस्ति । तस्माद् व्रीह्यादिभिः संश्लेषमात्रं जन्मेति ॥ २६ ॥

इतोऽपीत्याह—

रेतः सिग्योगोऽथ ॥ २७ ॥

अथ व्रीह्यादिभावानन्तरं अनुशयिनो रेतःसिग्योगस्तत्रैव श्रूयते । "यो योऽन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्-भूय एव भवति" इति । न च तस्य मुख्यं रेतःसिग्रूपत्वं । अन्यस्यान्यरूपत्वासम्भवात् । तत्त्वे देहाप्त्ययोगाच्च । तस्मात्संश्लेषमात्रं तत्स्वीकार्य्यम् । एवं सति व्रीह्यादावपि तदेवास्तु वैरूप्ये हेत्वभावात् ॥ २७ ॥

नहीं है, ठीक उसी प्रकार व्रीह्यादि भाव में कोई कर्म्म नहीं रहता है । जहाँ उनका भोग में अभिमत है, वहाँ रमणीयचरण इत्यादि शब्द के द्वारा उसका अभिधान किया गया है । अतएव व्रीह्यादिभाव संश्लेषमात्र है, मुख्य जन्म नहीं है ॥ २५ ॥

यदि कहो कि अन्य जीव के द्वारा अधिष्ठित व्रीह्यादि भोगदेह में अनुशयी जीवों का संश्लेषमात्र है, मुख्य जन्म नहीं है, क्योंकि उस समय भोग हेतु कर्म्म का अभाव है, तो इस प्रकार का सिद्धान्त अयुक्त है । क्योंकि भोग हेतु कर्म्म अवश्य रहता है । कारण यह है कि स्वर्गादि फलरूप इष्टादि कर्म्म ही अशुद्ध है,क्योंकि यह समस्त कर्म्म अग्निसोमीयादि पशु हिंसा से मिश्रित है । हिंसा ही पाप है । वेद में–"किसी भूत की हिंसा मत करो"–इस प्रकार का निषेध है । अतएव पुन्यांश से स्वर्गभोग तथा पापांश से व्रीह्यादिभाव प्राप्ति होती है । और भी उस विषय में "मनुष्य शरीरजात कर्म्म दोष से स्थावरत्व प्राप्त होता है" इत्यादि स्मृतिप्रमाण भी देखा जाता है । इसलिये व्रीह्यादि में मुख्य जन्म का स्वीकार करना होगा–यह असंगत है । क्योंकि "अग्निसोमीय पशु का आल-म्भन करेंगे" इत्यादि श्रुतिवाक्य ही उसकी अयौक्तिकता का प्रमाण करते हैं । जब वेद धर्म्म अधर्म्म का बोधक है और इस वेद में जब हिंसा प्रयोजक इष्टादि कर्म्म को धर्म्म करके निर्द्देश किया जाता है तब इन सकल कर्म्म को कभी अशुद्ध नहीं कहा जा सकता है । यज्ञ में हिंसा पाप नहीं है । किसी स्थल में हिंसा का निषेध भी देखने में आता है, सुतरां हिंसामात्र ही को पाप करके स्थिर करना संगत नहीं है । पूर्वोक्त हिंसानिषेध-सूचक वाक्य साधा-रण है । परवर्त्ती हिंसा-प्रयोजक वाक्य-विशेष है । उत्सर्ग अपवाद अर्थात् सामान्य-विशेष ही व्यवस्था करने का विषय है । अतएव इस सम्बन्ध में कुछ बोलना नहीं है । सुतरां व्रीह्यादि में संश्लेषमात्र जन्म है । मुख्यजन्म नहीं है ॥ २६ ॥

यहाँ और भी कहते हैं—व्रीह्यादिभाव के अनन्तर अनुशयी का रेतःसिक् पुरुष में संयोग है । इस प्रकार श्रुति में अवस्थान्तर का उल्लेख है । "जो जो अन्न भोजन किया जाता है, जो रेत का सिञ्चन होता है, अनुशयी जीव उसका भाव प्राप्त होता है । अतएव रेतःसिक् पुरुष की अवस्था मुख्यावस्था नहीं है परन्तु अवान्तर एक अव-स्थामात्र है । एक पदार्थ का अन्य पदार्थत्व कभी सम्भव नहीं है । तत्व में देह-प्राप्ति का योग अभाव है । सुतरां

योनेः शरीरम् ॥ २८ ॥

ल्यबलोपे कर्म्मणि पञ्चमी । पितृशरीरात् मातृयोनिं प्रविश्य देहमाप्नोत्यनुशयफलभोगाय "तद् य इह रमणीयचरणा" इत्यादेः । तस्मादाकाशादिप्राप्तिरिव व्रीह्यादिप्राप्तिरिति सिद्धम् । इत्थं च दुःखसारे संसारे विरज्य हरिरेवानन्दमयो ध्येयः सुधियेति व्यञ्जितम् ॥ २८ ॥

॥ इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रभाष्ये तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

॥ द्वितीयपादः ॥

वित्तिर्विरक्तिश्च कृताञ्जलिः पुरो यस्याः परानन्दतनोर्वितिष्ठते ।
सिद्धिश्च सेवासमयं प्रतीक्षते भक्तिः परेशस्य पुनातु सा जगत् ॥०॥

अथास्मिन्पादे प्राप्यानुरागहेतुभूता भक्तिरुच्यते । प्राप्यस्य ब्रह्मणोर्भक्त्यर्हत्वाय स्वप्नादिसृष्टिकर्त्तृत्वरूपो महिमा तदाविर्भावानामैक्यं आत्ममूर्त्तित्वं भजद्भेदः प्रत्युक्त्वं तथापि भक्त्येकग्राह्यत्वमुभयावभासित्वं परानन्दत्वं भावानुसारिप्रकाशत्वं सर्व्वपरत्वं सर्व्वदातृत्वं चेति गुणनिचयो निरूप्यते । भक्तीच्छुः खलु तत्तत्सम्प्रतीतौ तस्यां प्रवर्त्तते, नेतरथा । तत्रादौ स्वप्नादिसृष्टिकर्त्तृत्वमुच्यते । तदितरस्य तत्कर्त्तृत्वे ब्रह्मणः सर्व्वकर्त्तृत्वबाधात् । किञ्चित्कर्त्तरि तस्मिन्भक्तिर्नोद्भवेदतस्तत्कर्त्तृतया तन्महिमा प्रदर्श्यते । बृहदारण्यके श्रूयते "न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते । न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते । न तत्र वेशन्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशन्तान् पुष्करिण्यः स्रवन्त्यः सृजते स हि कर्त्ता" इति । तत्रेयं स्वाप्निकी रथादिसृष्टिर्जीवकर्त्तृका परमात्मकर्त्तृका वेति संशये जीवकर्त्तृका स्यात् । तस्यापि प्रजापतिवाक्ये सत्यसङ्कल्पत्वश्रवणादिति प्राप्ते—

व्रीह्यादिभाव में संश्लेषमात्र स्वीकार करना होगा । अन्य प्रकार का हेतु नहीं है ॥ २७ ॥

ल्यबलोप में कर्म्म में पञ्चमी है । अनुशयी जीव पितृ-शरीर से मातृयोनि में प्रवेश पूर्वक मुख्यदेह को प्राप्त करता है । "तद् य इह रमणीयचरणा" इत्यादि वेदवाक्य उसका प्रमाण है । अतएव आकाशादि भाव प्राप्ति की भाँति व्रीह्यादिभाव-प्राप्ति है—यह सिद्ध हुआ है । इस प्रकार दुःखमय संसार से विरक्त होकर सुबुद्धिजन आनन्दमय श्रीहरि का ध्यान करें यह व्यञ्जित होता है ॥ २८ ॥

॥ इति श्रीमद् गोविन्दभाष्य का तृतीय अध्याय के प्रथमपाद अनुवाद ॥

जो परानन्दतनु भक्तिदेवी के समक्ष ज्ञान और वैराग्य कृताञ्जलि होकर अवस्थान करते हैं तथा समस्त-सिद्धियाँ जिस की सेवा-समय की प्रतीक्षा करती हैं वह परेश श्रीकृष्ण की भक्ति इस जगत् को पवित्र करें ॥ ०॥

इस तृतीय अध्याय के द्वितीयपाद में पाप्यवस्तु श्रीकृष्ण की अनुराग हेतुभूत साधनभक्ति कही जायगी तथा प्राप्य ब्रह्म की भक्तियोग्यत्व-प्रयुक्त स्वप्नादि सृष्टिकर्त्तृत्व रूप महिमा, उनके आविर्भाव-स्वरूपों की एकता, आत्ममूर्त्ति रूपता, उपासक से भेद, प्रत्यक्भाव, एकमात्र भक्तिग्राह्यत्व, उभयावभासित्व, परानन्दता, भावानुसारि प्रकाशत्व, सर्व्वपरत्व, सर्व्वदातृत्व प्रभृति गुणसमूह निरूपित होंगे । भक्तिकामी व्यक्ति भगवान् के इन सब गुणों से आकृष्ट होकर भक्ति में प्रवृत्त होंगे, अन्य विषय में नहीं । अब पहले भगवान् के स्वप्नादिसृष्टिकर्त्तृत्व का विचार होगा । ब्रह्म से भिन्न और यदि कोई स्वप्नादिसृष्टिकर्त्ता है, तब ब्रह्म का सर्वकर्त्तृत्व बाधित हो जाता है । हरि वे यदि किञ्चिन्मात्र कर्त्ता हैं तब उनमें भक्ति असम्भव हो जाती है । अतएव स्वप्नादि कर्त्तृत्व के द्वारा उनकी

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥

सन्ध्यं स्वप्नः "सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानं" इति तत्रैव श्रवणात्, जागरसुषुप्तिमध्यभवत्वाच्च । तत्र या रथादिसृष्टिः सा परमात्मकृतैव । कुतः ? हि यतः "स हि कर्त्तेति" श्रुतिरेव स्वप्ने रथादिसृष्टिं तत्कृतामाह । अयं भावः । अल्पाल्पकर्म्मानुसारिफलभोगाय स्वप्नद्रष्टृ पुंमात्रानुभाव्यांस्तावन्मात्रसमयान् रथादीन् परमात्मा सृजति । तस्मात्स हि कर्त्तेति सत्यसङ्कल्पस्याचिन्त्यशक्तेः तादृशकर्त्तृत्वं सम्भवत्येवेत्यर्थः । स्वप्नान्तमित्यादिश्रुत्यन्तराच्चेति । जैवी सत्यसङ्कल्पता तु मोक्षे स्यादतो न तया स्वप्नसृष्टिः ॥ १ ॥

निर्म्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥ २ ॥

यत एके कठाः परमात्मानमेव स्वाप्निकानां कामानां निर्म्मातारमामनन्ति । "य एषु सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषो निर्म्मिमाणः" इति । एषु जीवेषु ते च कामाः पुत्रादय एव न त्विच्छामात्रम् । "सर्व्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व" इति तेषामेव कामशब्देन प्रकृतत्वात् । "एतस्मादेव पुत्रो जायते । एतस्माद् भ्राता । एतस्माद् भार्या । यदेनं स्वप्ने नाभिहन्ति" इति स्मृत्यन्तराच्च ॥ २ ॥

स्वाप्निकपदार्थनिर्म्मातुर्भगवतः कारणमाह—

मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥ ३ ॥

स्वप्नसृष्टावतर्क्या मायैव करणम् । न तु पञ्चीकृतानि भूतानि चतुर्म्मुखादयश्च । कुतः ? कार्त्स्न्येनेत्यादेः सर्व्वानुभाव्यतयानभिव्यक्तेरित्यर्थः । तस्मात्परमात्मकृता स्वप्नसृष्टिरिति सिद्धम् ॥ ३ ॥

महिमा दिखलाई जाती है । बृहदारण्यक में कहा गया है—"स्वप्न में रथ, रथयोग वा पथ कुछ ही नहीं हैं किन्तु वे हरि रथ, रथयोग और पथ की सृष्टि करते हैं । वहाँ आनन्दादि कुछ नहीं है । परन्तु उनकी भी सृष्टि करते हैं । उस अवस्था में गृह, पुष्करिणी, नद्यादिक नहीं है, उन सबकी सृष्टि भी करते हैं । अतएव जो इन सबकी सृष्टि करते हैं वे ही कर्त्ता हैं"। यहाँ संशय उठता है कि यह स्वप्नसम्बन्धि रथादि सृष्टि जीव कर्त्तृक है वा ईश्वर कर्त्तृक है ? जीवकर्त्तृक होना उचित है । प्रजापति के वाक्य से जीव के सत्यसंकल्पत्व श्रवण के हेतु उन सब की सृष्टि जीव कर्त्तृक है—ऐसा होना सम्भव होता है । इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं—

वेद में स्वाप्निकसृष्टि ईश्वरकर्त्तृक करके निर्देश है । सन्धि शब्द का अर्थ स्वप्न । जाग्रत तथा सुषुप्ति के मध्यपाति स्वप्न को सन्ध्य अर्थात् तृतीयस्थान बोला जाता है । इस अवस्था में जो रथादिक की सृष्टि होती है सो ईश्वर के द्वारा जाननी चाहिए । क्योंकि वेद में "वे ही कर्त्ता" इत्यादि वचन है । इसका भावार्थ यह है—अल्प अल्प कर्म्मानुसारी फलभोग के लिये अति अल्पकालस्थायी रथादिकों की सृष्टि परमात्मा ही करता है, जिन्हें स्वप्न द्रष्टा पुरुषमात्र ही देखता है । सत्यसंकल्प और अचिन्त्यशक्ति-विशिष्ट ईश्वर के पक्ष में इस प्रकार का कर्त्तृत्व असम्भव नहीं है । "स्वप्नान्तम्" इत्यादि श्रुत्यन्तर से इस प्रकार की प्रतीति होती है । जीव की जो सत्यसंकल्पता है वह मोक्ष अवस्था में होती है । अतएव उस से स्वप्नसृष्टि सम्भव नहीं है ॥ १ ॥

कठोपनिषद् में परमात्मा को ही स्वाप्निक-कामों का तथा पुत्रादिकों का निर्म्माता करके कहा गया है । जब सकल जीव निद्रित होते हैं, तब परमात्मा ही जाग्रत् होकर उनकी कामना के अनुसार पुत्रादिकाम का निर्म्माण करता है । "समस्त काम की प्रार्थना करो, शतायु पुत्र पौत्र की प्रार्थना करो" इत्यादि वेदवाक्य से काम-शब्द के द्वारा ही पुत्र पौत्रादि बोधित हो रहे हैं । "इनसे ही पुत्र की उत्पत्ति, इनसे ही भ्राता की उत्पत्ति, इनसे ही भार्य्या की उत्पत्ति है । वे सब स्वप्न में जीव को बाँधते हैं" इत्यादि श्रुत्यन्तर उसका पोषण करता है ॥ २ ॥

अथ सा सत्योत मिथ्येति विशये बोधोत्तरं बाधात् मिथ्येति प्राप्तौ—

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥ ४ ॥

कुतस्तत्सूचकत्वं ? श्रुतेः।
हि यतः स्वाप्नः पदार्थः शुभाशुभयोर्मन्त्रादेश्च सूचकोऽतः सत्यः स्वप्नसर्गः।
"यदा कर्म्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेऽभिपश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्ननिदर्शन" इति छान्दो-
ग्यात्। "अथ स्वप्ने पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्तीति" कौषीतकीब्राह्मणाच्च । तद्विदः स्वप्नज्ञाश्च
स्वप्नं शुभादिसूचकमाचक्षते। स्वप्ने गजारोहणं शुभस्य, खरारोहणं त्वशुभस्य सूचकमित्यादि । "आदिष्टवान्
यथा स्वप्ने रामरक्षामिमां हरः। तथा लिखितवान् प्रातः प्रबुद्धो बुधकौशिक" इति स्वप्ने स्तोत्रलाभं स्मरन्ति।
एवं च भाविसत्यार्थसूचकत्वे क्वचिन्मंत्रौषधादिप्राप्तिदर्शनेन सूचकसत्यत्वे च सिद्धे सत्यताप्रत्ययात् साक्षात्
स्वप्नदृष्टकर्तृकहननश्रवणाच्च जाग्रत्सृष्टिरिव सत्या स्वप्नसृष्टिः ॥ ४ ॥

यत्तु बोधोत्तरं बाधान्मिथ्येत्युक्तं तत्राह—

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्य्ययौ ॥ ५ ॥

हि यतोऽस्य जीवस्य
परस्येश्वरस्याभिधानात् सङ्कल्पात्तिरोहितं स्वाप्निकं रथादि नतु शुक्तिरजतवत्तस्य बाधः। बन्धमोक्षकर्त्तुः स्वप्नतत्परिहारक-
ततः परेशादेव बन्धमोक्षौ भवतः। संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतुरित्यादिश्रुतेः । "स्वप्नादिबुद्धिकर्त्ता च तिर-
र्तृत्वं न चित्रमिति भावः। ततश्च तस्यापि तस्मादेवाविर्भावतिरोभावौ मन्तव्यौ।

अब स्वाप्निक पदार्थों के निर्म्माता भगवान् के उस निर्म्माण कार्य्य के सकल उपकरण बोलते हैं।—
स्वाप्निक सृष्टि का उपकरण एकमात्र अवितर्क्या माया है। पञ्चीकृत भूत वा चतुर्म्मुखादि उसके उपकरण
नहीं हैं। क्योंकि यह सृष्टि स्वप्नद्रष्टा पुरुष से भिन्न अन्य किसी के अनुभवयोग्य नहीं है। इसलिये स्वप्नसृष्टि
परमात्मा के द्वारा ही होती है—यह सिद्ध हुआ है ॥ ३ ॥

अब यह सृष्टि सत्य वा मिथ्या है—इस प्रकार का संशय उठने पर–अनुभव पर अवस्था में बाध के कारण
मिथ्या ही हो–इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष का निश्चय होने पर कहते हैं—शुभाशुभ का सूचक होने के कारण तथा उस
विषय में श्रुतिप्रमाण का सद्भाव के हेतु स्वप्न को सत्य बोलना होगा।"जब काम्य कर्म्म से स्वप्न में स्त्री दर्शन
होता है तब समृद्धि होती है यह जानना चाहिए" इत्यादि छान्दोग्य प्रमाण बल से स्वप्न में शुभ अशुभ की सूच-
ना प्रसिद्ध है। कौषीतकीब्राह्मण में कहा गया है–जो व्यक्ति स्वप्न में कृष्णदन्तवाले कृष्णवर्ण पुरुष का दर्शन
करता है, वह स्वप्नद्रष्टा पुरुष उसके द्वारा निहत होता है। स्वप्नविद्या को जानने वाले सकल पण्डित भी स्वप्न
को शुभ-अशुभ का सूचक रूप से वर्णन करते हैं। वे कहते हैं–स्वप्न में गजारोहण शुभ सूचक तथा गर्द्दभारोहण
अशुभ सूचक है। "विश्वामित्र जी ने स्वप्न में हर के द्वारा दिया हुआ रामरक्षामन्त्र का स्तव प्राप्त होकर निद्रा-
भंग के पश्चात् उस स्तव को लिखा था" इस प्रकार श्रुतिवाक्य समूह देखने में आते हैं। इस प्रकार भविष्यत् में
सत्यार्थ सूचक से तथा कभी कभी स्वप्न में मन्त्रौषधि आदि की प्राप्ति दर्शन से स्वप्न के सत्यत्व प्रत्यक्ष के कारण
और स्वप्नद्रष्टा पुरुष का स्वप्नदृष्ट पुरुष के द्वारा हनन श्रवण के हेतु जाग्रत्सृष्टि की भाँति स्वप्नसृष्टि सत्य यह
सिद्ध हुआ है ॥ ४ ॥

निद्राभंग के पश्चात् स्वप्नदृष्ट वस्तु के विलोप हो जाने के कारण जो मिथ्यात्व की प्रतीति है, उस सम्बन्ध
में कहते हैं—स्वाप्निक रथादिकों का तिरोभाव परमेश्वर के संकल्प से होता है। किन्तु शुक्ति में रजत की भाँति उस
का बाध नहीं है। क्योंकि परमेश्वर ही जीव के बन्ध-मोक्ष के कर्त्ता हैं। उसके बन्धन व मोक्ष परमेश्वर से ही होते

स्कर्त्ता स एव तु। तदिच्छया यतो ह्यस्य बन्धमोक्षौ प्रतिष्ठितौ"इति स्मृतेश्च। तस्मात्सत्या स्वप्नसृष्टिरैश्वरीति॥५॥

अथ जागरकर्तृत्वमीश्वरस्यैवेत्युच्यते। कठवल्ल्यां पठ्यते । "स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति" इति। तत्र जीवस्य श्रूयमाणो जागरः परेशकर्तृको न वेति संशये
कालाद्यधीनत्वदर्शनान्नेति प्राप्ते—

देहयोगाद्वा सोऽपि ॥ ६ ॥

देहयोगेन वा यो जागरः सः परेशादेव स्वप्नान्तमित्यादिश्रुतेः कालादेर्जाड्याच्च। सुषुप्तिमूर्च्छयोरप्यवस्थयोः
सृष्टिरीश्वरकर्तृकैवेत्यपिशब्देन समुच्चितम्। तस्यैव सर्व्वकर्तृकत्वश्रवणात् ॥ ६ ॥

अथ सुषुप्तिस्थानं चिन्त्यते। तत्रैताः सुषुप्तिविषयाः श्रुतयः। "आसु तदा नाडीषु सुप्तो भवति"इति छान्दोग्ये।
"ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते"इति "य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते"इति च बृहदारण्यके। एवमन्यत्र
च। इह आकाशशब्दो ब्रह्मवाचकः। अत्र नाड्यः पुरीतद्ब्रह्म च सुषुप्त्याधारतया श्रूयन्ते। किमेषां विकल्पः
समुच्चयो वेति वीक्षायां तुल्यार्थानां मिथोऽपेक्षादर्शनात् "तुल्यार्थास्तु विकल्पेरन्" इति न्यायाच्च विकल्पः
स्यादिति प्राप्ते—

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥ ७ ॥

चकारः पुरीतत्समुच्चयार्थः। तयोर्जागरस्वप्नयोरभावस्तदभावः सुषुप्तिरित्यर्थः। सा नाडीषु पुरीतत्यात्मनि च
ब्रह्मणि समुच्चिता भवति। कुतः ? तच्छ्रुतेः। तेषां सर्व्वेषां सुषुप्तिस्थानत्वश्रवणात्। विकल्पे ह्येषां पक्षे बाधः

हैं। श्रुति में कहा है "संसारबन्धन,स्थिति तथा मोक्ष का हेतु परमेश्वर हैं। बन्धन-मोक्ष-कर्त्ता परमेश्वर का स्वप्न-
कर्तृत्व वा उस का परिहार-कर्तृत्व होना कोई आश्चर्य्य नहीं है। अतएव स्वप्न का आविर्भाव वा तिरोभाव पर-
मेश्वर से जानना चाहिए। स्मृति में कहा है–परमेश्वर स्वप्नादिबुद्धि के कर्त्ता तथा उसका तिरोभाव के कर्त्ता हैं।
उनकी इच्छा से ही संसार का बन्धन, व मोक्ष होते हैं। अतएव ईश्वर कर्तृक स्वप्नसृष्टि सत्य है ॥ ५ ॥

अब ईश्वर का जागरणकर्तृत्व को कहते हैं। कठवल्ली में पाठ है–"जो स्वप्नान्त तथा जागरान्त उभय सृष्टि
को देखते हैं, ऐसे महान् व्यापक परमात्मा की चिन्ता करने पर धीर व्यक्ति शोकग्रस्त नहीं होता है" यहाँ श्रूय-
माण जीव का जागर परमेश्वर कर्तृक है किंवा नहीं है। इस प्रकार के संशय उठने पर कालादिकों का अधीनत्व
होने के कारण परमेश्वर कर्तृत्व नहीं है–ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं। देहयोग के हेतु रूप जागर परेश से होता
है। "स्वप्नान्त" श्रुति उसका प्रमाण है। कालादि जड़वस्तु है। अपि शब्द के द्वारा सुषुप्ति, मूर्च्छा दोनों अवस्था
की सृष्टि ईश्वरकर्तृक जाननी चाहिए। क्योंकि उनका ही सर्व्वकर्तृत्व सुना जाता है ॥ ६ ॥

अब सुषुप्ति अवस्था का विचार करते हैं–सुषुप्ति विषयक श्रुतियाँ ये हैं "उस समय ये सकल नाड़ियों में सुप्त
होता है" यह छान्दोग्य वचन है। "इन सकल नाड़ी के द्वारा प्रवेश पूर्वक पुरीतत में सुप्त होता है। अनन्तर
हृदयस्थ आकाश में शयन करता है" ये बृहदारण्यक के वचन हैं। इस प्रकार और भी श्रुति वचन हैं। यहाँ
आकाश शब्द ब्रह्मवाचक है। नाड़ी, पुरीतत् और ब्रह्म समस्त ही सुषुप्ति का आधार करके अभिहित होते हैं।
अब इनमें से कोई एक का विकल्प है, किम्वा समस्त ही है—इस प्रकार के संशय में तुल्यार्थ सकलशब्दों का
परस्पर में अपेक्षा–अदर्शन के कारण तुल्यार्थ का विकल्प होता है। इस न्याय के अनुसार विकल्प ही प्राप्त हो—
इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं—नाड़ी, ब्रह्म और पुरीतत में सुषुप्ति के समुच्चय-श्रवण के हेतु
समुच्चय का विचार हो रहा है। पुरीतत् समुच्चय का अर्थ चकार के द्वारा है। जागर और स्वप्न का अभाव
ही सुषुप्ति है। वह सुषुप्ति नाड़ियाँ, पुरीतत् तथा आत्मा में समुच्चित होती है। क्योंकि श्रुति में इस प्रकार

स्यात्। नाडीनां प्राणस्य च सुषुप्तौ समुच्चयो दृश्यते। "तासु तदा भवति। यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति" इति। न चोक्तन्यायाद्विकल्पः, तुल्यार्थताभावात्। तथा हि यथा द्वारेण प्रविश्य प्रासादे पर्यङ्के शेते तथा द्वारभूताभिर्नाडीभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतद्वर्त्तिनि ब्रह्मणीति प्रकारभेदान्नाडयादीनां समुच्चय एवेति। तस्माद्ब्रह्मैव साक्षात्सुप्तिस्थानम्। पुरीतत्तु हृदयपुण्डरीकावरकमुच्यते ॥ ७ ॥

अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥ ८ ॥

यतो ब्रह्मैव सुप्तिस्थानं नाडयादीनां तु द्वारमात्रतातोऽस्माद्ब्रह्मणः सकाशादेव स्वापोत्तरं प्रबोधः श्रूयते छान्दोग्ये। "सतश्चागत्य न विदुः सत आगच्छामहे" इति। विकल्पे तु कदाचिन्नाडीभ्यः कदाचित्पुरीततः कदाचिच्च ब्रह्मणः स श्रूयेत, न च तथाऽस्ति। तस्माद्ब्रह्मैव तत् ॥ ८ ॥

अथ "सतश्चागत्य न विदुः" इत्यत्र विचारान्तरम्। सुप्त एवोत्तिष्ठेदुतान्य एवेति संशये ब्रह्मसम्पन्नस्य प्राचीनदेहादिसम्बन्धासम्भवात् अन्य एवेति प्राप्ते—

स एव तु कर्म्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥ ९ ॥

तुशब्दः शङ्काक्षेपाय। सुप्त एवोत्तिष्ठति नान्यः। कुतः ? कर्म्मादिभ्यः। सुप्तिप्रागनुष्ठितशेषलौकिककर्म्मसमापनं कर्म्मशब्दार्थः। अनुस्मृतिर्योऽहं सुप्तः स एव प्रतिबुद्धोऽस्मि" इति प्रत्यभिज्ञा। शब्दस्तु "इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवति तदा भवति" इति छान्दोग्यश्रुतिः।

देखा जाता है। उन सबका सुषुप्ति-स्थानत्व सुनने में आता है। विकल्प में इस पक्ष का बोध होता है। नाड़ी तथा प्राण का सुषुप्ति में समुच्चय देखा जाता है। जब सुप्त व्यक्ति किसी प्रकार का स्वप्न नहीं देखता है, तब जीव इन सकल स्थानों में अवस्थान करता है। प्राण भी उसमें एकत्व प्राप्त हो जाता है। उस स्थल में तुल्यार्थ अभाव रूप विकल्प भी उक्त न्याय के अनुसार नहीं हो सका है। जिस प्रकार लोक-समूह द्वार देश हो प्रासाद में प्रवेश कर पलङ्ग पर शयन करते हैं, ठीक उसी प्रकार द्वार रूप नाड़ी के द्वारा प्रवेश कर पुरीतद्वर्त्ती ब्रह्म में अवस्थान करता है। इस प्रकार प्रकारभेद से नाड़ी प्रभृतियों का समुच्चय कहा गया है। अतएव ब्रह्म ही एकमात्र सुषुप्ति स्थान है। पुरीतत् हृदय-पद्म का आवरक मात्र कहा जाता है ॥ ७ ॥

अतएव ब्रह्म से ही प्रबोध होता है। जब ब्रह्म ही सुप्ति स्थान तथा नाड़ियाँ द्वार मात्र हैं, तब ब्रह्म से ही स्वप्न के पश्चात् प्रबोध बोलना होगा। "सत् स्वरूप पदार्थ से आगमन करके भी उसको नहीं जाना कि मैं सत् पदार्थ से आया हूँ"—इस प्रकार छान्दोग्य श्रुति में देखने में आता है। विकल्प होने पर कभी नाड़ी से, कभी पुरीतत् से अथवा कभी ब्रह्म से आगमन सुना जाता है। परन्तु इस प्रकार कभी नहीं सुना गया है। अतएव ब्रह्म ही सुषुप्ति स्थान है ॥ ८ ॥

अब "सत्पदार्थ से आय कर उसे नहीं जाना" यहाँ विचारान्तर उपस्थित हो रहा है। सुप्तव्यक्ति ही उठता है अथवा अन्य कोई उठता है–इस प्रकार के संशय में ब्रह्म–सम्पन्न व्यक्ति के प्राचीन देहादि-सम्बन्ध की असम्भावना के हेतु अन्य कोई उठता है–इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं।—

कर्म्म, अनुस्मृति, शब्द तथा विधि के द्वारा उसका ही उत्थान अवगत होता है। "तु" शब्द शंका निरासार्थ है। सुप्त ही उठता है। अन्य कोई नहीं है। क्योंकि कर्म्मादि के द्वारा वह अवगत हो जाता है। निद्रावस्था के पहले अनुष्ठित लौकिक कर्म्म का समापन ही शब्द का अर्थ है। जो मैं निद्रावस्था में सुप्त हो गया था सो मैं उठा हूँ–इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञान का नाम अनुस्मृति है। व्याघ्र, सिंह, वृक, वराह, कीट, पतंग, दंश, मशक, जो जैसा

व्याघ्रादयो जीवाः सुप्तेः प्राग् यद्यच्छरीरं प्राप्तास्त एव प्रतिबुद्धास्तत्तदेवान्नुवन्तीति तत्रार्थः। विधिश्च "आत्मानमेव लोकमुपासीत" इति बृहदारण्यकदृष्टो मोक्षविषयः। सोऽपि सुप्तस्य मुक्तत्वेऽनर्थकः स्यात्। अयं भावः। यथा लवणाम्बुपूर्णः पिहितमुखः कुम्भो गङ्गायां निक्षिप्तः पुनरुद्ध्रियते, तथा वासनावृतो जीवः सुप्तो विरतसमस्तकरणो विश्रामस्थानं ब्रह्म सम्पद्यापि पुनर्भोगायोत्तिष्ठति। न च निर्व्वासनवत्तत्सारूप्यमुपैति। तदेतच्च कर्म्मादिभ्योऽवगतमिति ॥ ९ ॥

प्रसङ्गादिदं चिन्त्यते। मूर्च्छायां ब्रह्मणि सम्प्राप्तिरर्द्धप्राप्तिर्वा जीवस्येति विषये तस्याः सुप्तिविशेषत्वात् तद्वत् सम्प्राप्तिरेवेति प्राप्ते—

मुग्धेऽर्द्धसंप्राप्तिः परिशेषात् ॥ १० ॥

मुग्धे मूर्च्छिते सति पुरुषे तस्य ब्रह्मण्यर्द्धप्राप्तिर्भवति। कुतः ? परिशेषात्। दुःखानुसन्धानात् न सुप्तिवत्तत्सम्प्राप्तिः। विषयादर्शनाज्जागरादिवन्नाप्राप्तिः। किन्तु पारिशेष्यादर्द्धप्राप्तिरेवेत्यर्थः। "हृदयस्थात् परान्जीवो दूरस्थो जाग्रदेष्यति। समीपस्थस्तथा स्वप्नं स्वपित्यस्मिल्लयं व्रजन्। अत एवं त्रयोऽवस्था मोहस्तु पारिशेषतः। अर्द्ध प्राप्तिरिति ज्ञेयो दुःखमात्रं प्रति स्मृतेः" इति हि स्मृतिः। दूरस्थोऽक्षिस्थः समीपस्थः कण्ठस्थः। ननु देहस्थस्य जीवस्य तिस्रोऽवस्थाः श्रूयन्ते। जागरः स्वप्नः सुषुप्तिरिति। नातोऽन्या क्वचिदीक्षते। तस्मान्मूर्च्छा नाम पृथगवस्था नास्तीति तिसृणामन्यतमैव सेति चेन्न अन्यत्वात्। तथा हि। न तावज्जागरो मूर्च्छा इन्द्रियैर्विषयावीक्षणात्। नापि स्वप्नः निःसंज्ञत्वात्। न च सुप्तिः

था सो ऐसा हुआ। अर्थात् निद्रा के पहले जो जो देह विशेष था, निद्राभंग के पश्चात् सो सो देहधारी हुआ–इस प्रकार छान्दोग्य वाक्य ही शब्दार्थ है। "आत्मा की ही लोकसमूह उपासना करते हैं" इत्यादि मोक्ष विषयक बृहदारण्यकादि श्रुतिवाक्य-समूह विधि है। सुप्त व्यक्ति की मुक्ति (मुक्तत्व) स्वीकार करने में ये सब विधियाँ व्यर्थ हो जाती हैं। इसका यह भाव है–जिस प्रकार लवणजल से परिपूर्ण घड़े का मुख ढाक गंगा में डुबा कर उठाने पर उसमें गंगा जल का आस्वादन नहीं होता है, ठीक उसी प्रकार वासना से युक्त जीव निन्द्रित तथा निश्चल इन्द्रिय वाला हो विश्रामस्थान ब्रह्म को प्राप्त होने पर भी उसका पुनः भोग के लिये उत्थान होता है। परन्तु वासना-रहित जीव की भाँति ब्रह्म की सारूप्य-प्राप्ति नहीं है। अतएव कर्म्मादिक के द्वारा यह अवस्था अवगत हो जाती है ॥ ९ ॥

अब इस प्रसंग से यह विचार किया जाता है। मूर्च्छा अवस्था में जीव की ब्रह्मप्राप्ति परिपूर्ण प्राप्ति है अथवा अर्द्ध प्राप्ति है। मूर्च्छा सुप्ति की तरह एक अवस्था है। अतएव उस अवस्था में सुप्ति की भाँति पूर्णप्राप्ति की सम्भावना है, अतः उसके उत्तर में कहते हैं।—

मूर्च्छित अवस्था में जीव की ब्रह्म-प्राप्ति अर्द्ध मात्र है। दुःखानुसन्धान के हेतु सुप्तिकाल की तरह पूर्णब्रह्म-प्राप्ति नहीं है। विषय के अदर्शन होने के कारण जागर की तरह अप्राप्ति भी नहीं है, किन्तु परिशेष के वश अर्द्ध-प्राप्ति है। स्मृति में इस प्रकार का वचन देखा गया है। जीव जब ईश्वर से दूरस्थ होता है तब उसके जाग्रदवस्था, समीप अवस्थान में स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था में लय होते हैं। इन तीनों अवस्था का परिशेष मूर्च्छा है। उसमें अर्द्ध प्राप्ति मात्र है। क्योंकि इस अवस्था में दुःखानुभव रहता है। यहाँ दूरस्थ शब्द का अर्थ इन्द्रियस्थ तथा समीपशब्द का अर्थ कण्ठस्थ है। पुनर्वार शंका करते हैं कि–देहस्थ जीव की तीन अवस्था सुनने में आती हैं जैसे–जागर, स्वप्न, सुषुप्ति। इनसे अन्य अवस्था को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। अतएव मूर्च्छा के नाम से कोई चतुर्थ अवस्था नहीं है। वह उन तीनों अवस्था के मध्य में कोई अन्यतम अवस्था है। वास्तव में इस प्रकार का संशय अयुक्त है। कारण यह है कि इन्द्रियों के द्वारा विषय का अदर्शन होने के कारण उस अवस्था को जागर नहीं कहा जा सकता है। संज्ञा के अभाव के कारण वह स्वप्न भी नहीं है। उस को सुषुप्ति भी नहीं

सा चेयं लोके वैद्यके च प्रसिद्धेति। मुखप्रसादनिष्कम्पत्वाद्यभावात्। तस्मादवस्थान्तरमेव परिशेषादवसीयते। तथा च जागरस्वप्नादिनिखिलकर्त्तृत्वरूपो यस्य महिमा स हरिरेव सेव्य इति प्रकरणाभिप्रायः ॥ १० ॥

एवं निखिलनियामकतया भगवतो महिमा दर्शितः। इदानीं बहुधावभातोऽप्यैक्यं स्वस्मिन्न त्यजतीत्यचिन्त्य स्वरूपता तस्य दर्श्यते। यद्यपि "प्रकाशादिवन्नैवं परः" इत्यादिनोक्तमेतत्तथापि युगपद्बहुभावेन भेदप्रतीतौ न समाहितमतोऽत्राचिन्त्यत्वेन तत्समर्थनम्। "एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति" इत्यादिश्रुतम्। तत्र संशयः। स्थानभेदेन स्थानिनोऽपि भेदाद्विनानाविधेषु स्थानेषु स्थितानि भगवतो बहूनि रूपाणि मिथो भिन्नानि न वेति। एकोऽपि सन्निति तु सामान्यानि तानि। नहि मिथो विलक्षणस्थानसंस्थानगुणादीनि वस्तून्यभेदं लब्धुमर्हन्ति। ततश्च वस्तुतो भिन्नेषु बहुष्वनेकेश्वरतापत्तिस्तस्यां च सत्यां बहुविषया भक्तिरेकस्यान्याभिप्रायं भावि सम्भाविनीत्येवं प्राप्ते—

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्व्वत्र हि ॥ ११ ॥

परस्य भगवतः स्वरूपं स्थानतोऽपि नोभयलिङ्गमुभयलक्षणम्। स्थानभेदेऽपि स्थानि विशेष्यं न भिद्यते इत्यर्थः। हि यस्मादेकमेव स्वरूपमचिन्त्यशक्त्या युगपत् सर्व्वत्रावभाति "एकोऽपि सन्निति श्रुतेः"। स्थानानि भगवदाविर्भावास्पदानि तद्विविधलीलाश्रयभूतानि संव्योमशब्दितानि। विविधभाववन्तो भक्ताश्च। तेषु सर्व्वेष्वेकमेव स्वरूपं विभाति ॥ ११ ॥

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥ १२ ॥

बहुधावभातस्यापि तात्त्विकत्वेन भेदाभेदप्राप्तेः पूर्व्वोक्तं न युक्तमिति चेन्न। कुतः प्रतीत्यादेः। "इन्द्रो मायाभिः

कहा जा सकता। क्योंकि उस अवस्था में मुखप्रसन्न तथा कम्पादि का अभाव है। सुतरां परिशेष में मूर्च्छा एक अवस्था विशेष ही ठहरती है। लोक में तथा वैद्यशास्त्र में उसकी प्रसिद्धि है। जागर-स्वप्नादि निखिल अवस्था के कर्त्तृत्वरूप में जिनकी महिमा मौजूद है, वे हरि ही सेव्य हैं यह प्रकरण अभिप्राय लेकर अवगत होजाता है ॥१०॥

इस प्रकार निखिल नियामक रूप से भगवान् की महिमा दिखलाई गयी है। अब बहुरूप से प्रकाशमान होने पर भी भगवान् निज स्वरूप में एकता त्याग नहीं करते हैं। इसके द्वारा उनकी अचिन्त्यस्वरूपता दिखलाई जाती है। यद्यपि "प्रकाशादिवन्नैवं परः" इत्यादि सूत्र से पहले यह कहा गया है तो भी उस उस स्थल में युगपत् बहुभाव से भेद-प्रतीति का समाधान नहीं किया गया है। इस अचिन्त्यशक्ति के द्वारा ही उसका समर्थन किया गया है। जो एक होकर भी बहुधा प्रकाशित होते हैं ऐसा सुनने में आता है। यहाँ संशय यह है कि-नाना अवस्था में स्थित भगवान् का नाना रूप एक है अथवा भिन्न है? स्थान-भेद से स्थानी के भेद होने के कारण वे सब भिन्न हों। परस्पर विलक्षण नाना आश्रय में अवयव वा गुणसमूह कभी वस्तु की ऐकता का बोध नहीं करा सकते हैं। "जो एक होकर" इत्यादि सामान्य अभिप्राय मात्र है। वास्तविक भिन्न बहु रूप से अनेक ईश्वर की आपत्ति उठ सकती है। ईश्वर का बहुत्व सिद्ध होने पर तन्निष्ठ भक्ति का एकत्व असम्भव हो जाता है। इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष प्राप्त होने पर उसके उत्तर में कहते हैं।—

परम भगवान् का स्वरूप स्थानभेद से भी उभय लक्षण विशिष्ट नहीं है। स्थानी एक विशेष्य वस्तु है। स्थान-भेद से उसका भेद सम्भव नहीं है। क्योंकि एक ही स्वरूप निज अचिन्त्यशक्ति के द्वारा युगपद् सर्व्वत्र प्रकाश को प्राप्त होता है। "एकोऽपि सन्" यह श्रुति प्रमाण है। स्थान शब्द से भगवान् के आविर्भाव का आस्पद तथा उनकी विविध लीला का आश्रयभूत स्थल, संव्योम शब्द के द्वारा कथित जानना चाहिए। विविधभाव विशिष्ट उनके सकल भक्त भी बोधित होते हैं। इन सकल स्थानों में एक ही स्वरूप का प्रकाश स्वीकार किया जाता है ॥ ११ ॥

पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादशेत्ययं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि च बहूनि चानन्तानि च तदेतद्ब्रह्मापूर्व्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्व्वानुभूतिरित्यनुशासन"मिति बृहदारण्यके सर्व्वेषां रूपाणामैक्योक्तेरित्यर्थः ॥ १२ ॥

अपि चैवमेके ॥ १३ ॥

अपि चेति किंचेत्यर्थः। "अमात्रोऽनन्तमात्रश्च" इत्येके शाखिन एवमभेदेनानन्तरूपत्वेन चैनं पठन्ति। अमात्रः स्वांशभेदशून्यः। अनन्तमात्रो ऽसंख्येयस्वांशः। "एक एव परो विष्णुः सर्व्वत्रापि न संशयः। ऐश्वर्य्याद्रूपमेकं च सूर्य्यवद्बहुधेयत" इति स्मृतेश्च। अयं भावः। यथैक एव वैदूर्य्यमणिर्द्रष्टृभेदाद्रूपभेदान् दधानोऽपि, यथा वाभिनेता नटः स्वस्थितान् भावान् प्रकटयन् बहुधावभातोऽप्यैक्यं स्वस्मिन्नविमुञ्चति एवं ध्यातृभावभेदात् कार्य्यभेदाच्चानेकतया प्रतीतोऽपि हरिः स्वरूपैक्यं स्वस्मिन्न मुञ्चति। "मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्युतः। रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथाच्युतः"। "यत्तद्वपुर्भाति विभूषणायुधैरव्यक्तचिद्व्यक्तमधारयद्धरिः। बभूव तेनैव स वामनो बटुः सम्पश्यतोर्दिव्यगतिर्यथा नटः" इत्यादिस्मृतिभ्यः। मणिरत्र वैदूर्य्यः। नटोऽभिनेता। तथा चैकस्यैव सतोऽविचिन्त्यशक्तेर्विरुद्धगुणाश्रयस्य युगपद्बहुधावभासोऽपि तस्मिन् विरुद्धधीविषयो गुण एवेति तस्मिन्नेकस्मिन्नेवाविचिन्त्यशक्तिके सर्व्वेश्वरे भक्तिरुपपन्नेति ॥ १३ ॥

अथात्मविग्रहत्वं भगवतः प्रतिपाद्यते। विग्रहस्यात्मनो भेदे सत्यात्मोपसर्जने तस्मिन् भक्तिरप्युपसर्जनीभावमासीदिति चेन्न चैवमस्ति। तत्रैव तस्याः प्राधान्येनानुभवात्। तथाहि। "सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे"

बहुधा प्रकाश का तत्वतः भेद स्वीकार होता है। भेद स्वीकार में अभेद-उक्ति अयुक्त हो जाती है। किन्तु उस को अयुक्त नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि बृहदारण्यक श्रुति में भेद सूचक वाक्य की प्रतीति नहीं है। "इन्द्र माया के द्वारा अनेक रूप में प्रकाश को प्राप्त होते हैं। उनके दशशत बहु अनन्त अश्व हैं। वे ब्रह्म अपूर्व, अनपर, अनन्तर, अबाह्य, आत्मा, व्यापक, सर्वानुभूति स्वरूप"—इत्यादि वाक्य से बहुधा प्रकाश में भी ब्रह्म का ऐक्य-कहा गया है ॥ १२ ॥

और भी अनेकानेक एक वेद शाखाध्यायीगण ईश्वर का अमात्र तथा अनेकमात्र करके पाठ करते हैं। उनका कहना है—ब्रह्म अभिन्न तथा अनेक रूप है। अमात्र शब्द का अर्थ स्वांशभेद शून्य और अनन्तमात्र शब्द का अर्थ असंख्येय स्वांश है। अर्थात् जिनके अंश का भेद नहीं है, तथा जिनके अंश असंख्य है, वे ही यथाक्रम से अमात्र तथा अनन्तमात्र शब्द से अभिहित होते हैं। स्मृति में भी कहा है—"एक ही परमेश्वर विष्णु सर्व्वत्र मौजूद हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं है। वे एकरूप होकर भी ऐश्वर्य्य के द्वारा सूर्य्य की तरह बहुधा प्रकाश को प्राप्त होते हैं। इसका भाव यह है कि जिस प्रकार एक ही वैदूर्य्यमणि द्रष्टा के भेद से रूपभेद धारण करता हुआ भी तथा अभिनेता नट अनेक भाव को धारण करता हुआ भी स्वरूप से एक ही है, ठीक उसी प्रकार श्रीहरि एक होकर भी ध्यातृभेद तथा कार्य्यभेद से अनेक रूप से प्रतीयमान होते हैं। उनके स्वरूप की एकता का परित्याग नहीं होता है। "वैदूर्य्यमणि जिस प्रकार विभाग के वश नील-पीतादियुक्त होकर रूप-भेद को प्राप्त होता है, श्रीहरि भी उसी प्रकार ध्यानभेद से रूप भेद को प्राप्त होते हैं"। "अव्यक्त चिन्मात्रस्वरूप श्रीहरि ने परिदृष्ट विभूषण-आयुध से शोभायमान शरीर को धारण किया और वे देखते-देखते उसी शरीर से दिव्यगति नट की तरह वामन बटु रूप हो गये"। इत्यादि स्मृति वचन है। एक ही विरुद्धगुणाश्रय पदार्थ का अविचिन्त्यशक्ति के बल से एक ही समय में बहुधा प्रकाश होता है। यह प्रकाश उसमें विरुद्ध बुद्धि का उत्पादन कर गुण रूप से परिचित होता है। अतएव एक ही अविचिन्त्यशक्ति सर्वेश्वर भगवान् में भक्ति उपपन्न हुई है ॥ १३ ॥

"तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहमि"त्यादिकमथर्व्वशिरसि श्रूयते। तत्र ब्रह्म विग्रहवन्न वेति संशये सच्चिदानन्दो रूपं यस्येति बहुव्रीह्याश्रयणाद्विष्णोमूर्त्तिरित्यादिव्यपदेशाच्च विग्रहवत्तदिति प्राप्ते—

अरूपवदेव तत्प्रधानत्वात् ॥ १४ ॥

रूपं विग्रहस्तद्विशिष्टं ब्रह्म न भवतीति अरूपवदित्युच्यते विग्रहस्तदित्यर्थः। युक्तिनिरासार्थमेवशब्दः। कुतः ? तदिति। तस्य रूपस्यैव प्रधानत्वादात्मत्वात्। विभुत्वज्ञातृत्वप्रत्यक्त्वादिधर्म्मधर्म्मित्वादित्यर्थः ॥ १४ ॥

ननु चिन्त्यमानेन ज्ञानानन्देन परमात्मवस्तुना जडदुःखरूपत्वेन तद्विरुद्धा प्रकृतिर्निवर्त्तेतैव तादृशि ब्रह्मणि विग्रहवत्वं सूत्रकृता कथमभ्युपेयते इति चेत्तत्राह—

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यम् ॥ १५ ॥

शंकानिरासाय च शब्दः। सप्तम्यन्तादिवार्थे वतिः। प्रकाशैकरूपेऽपि रवौ विग्रहवत्वस्य यथा ध्यानहेतुत्वादवैयर्थ्यं तथा ज्ञानानन्दैकरसेऽपि ब्रह्मणि तस्य तन्मन्तव्यम्। तद्धेतुत्वादेव। इतरथा ध्यानानुपपत्तिः। "ध्यायति कान्तं विरहिणी"त्यादौ विग्रहविषयं तद्दृष्टम् ॥ १५ ॥

न च ध्यानार्थमसदेव तत्त्वं तत्र कल्प्यते। यत् तत्र प्रमाणमस्तीत्याह—

आह च तन्मात्रम् ॥ १६ ॥

अवधृतौ मात्रशब्दः। तं विग्रहमेव यस्मात् परमात्मानमाह श्रुतिरतः प्रमेयं तत्त्वमित्यर्थः। तत्रैव श्रूयते।

अब भगवान् के आत्मविग्रहत्व का प्रतिपादन किया जाता है। आत्मा ही भगवान् का नित्य एकमात्र विग्रह है—यह तात्पर्यार्थ है। विग्रह यदि आत्मा से भिन्न है, तब आत्मा अवश्य उस विग्रह में विशेषण रूप है। इस-आत्मविशिष्ट विग्रह में भक्ति भी विशेषणी भूत है अर्थात् गौण है। किन्तु ऐसा तो नहीं है। क्योंकि उस की प्रधानता का अनुभव होता है। और भी "सच्चिदानन्दरूप अक्लिष्टकारी कृष्ण को" "उन एक सच्चिदानन्द-विग्रह गोविन्द को" इत्यादि वाक्य अथर्व्वोपनिषद् में देखे जाते हैं। इन समस्त वाक्यों से ब्रह्म स्वयं ही विग्रह है वा विग्रहविशिष्ट है—इस प्रकार के संशय उठने पर सच्चिदानन्द ही जिनका रूप—इस बहुव्रीहि समास के द्वारा तथा "विष्णु की मूर्त्ति" इस प्रकार के प्रयोग के वल से वे स्वतन्त्र विग्रहविशिष्ट होवें—इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं।—

ब्रह्म रूप अर्थात् विग्रहविशिष्ट नहीं होता है। वह स्वयं ही विग्रह है। अतः वे अरूपवत् कहा जाता है। "एव" शब्द युक्तिनिरास के लिये है। ब्रह्म का रूप ही प्रधान है। आत्मा ही उसका रूप वा विग्रह है। वह विभुत्व, ज्ञातृत्व तथा व्यापकत्व प्रभृति धर्म्मों से विशिष्ट धर्म्मी आत्मा है। अतएव आत्म स्वरूप ब्रह्म आत्म-विग्रह से-पृथक् नहीं हैं ॥ १४ ॥

अच्छा ? ज्ञानानन्दरूप परमात्मा वस्तु के चिन्तन के द्वारा उससे विरुद्ध दुःखरूपिणी जड़ प्रकृति की निवृत्ति होती है। अतएव सूत्रकार तादृश ब्रह्म में विग्रहवत्व किस प्रकार स्वीकार करते हैं—इस प्रकार के संशय के-उत्तर में कहते हैं।—

प्रकाशविशिष्ट रवि की भाँति ब्रह्म का विग्रह व्यर्थ नहीं होता है। शङ्का निरास के लिये "च" शब्द है। सप्तम्यन्त-प्रकाश शब्द के उत्तर "इव" के अर्थ में "वति" प्रत्यय करके प्रकाशवत् शब्द निष्पन्न है। जिस प्रकार प्रकाश स्वरूप सूर्य्य में ध्यानार्थ विग्रह संगत होता है, ठीक उसी प्रकार ज्ञानानन्द स्वरूप-ब्रह्म में ध्यान के लिये यह विग्रह स्वीकार करना युक्त है। विग्रह के विना ध्यान का होना असम्भव है। क्योंकि विग्रह ही ध्यान का कारण है। "विरहिणी अपने कान्त का ध्यान करती है" इत्यादिस्थल में ध्यान विग्रह-विषय में देखा गया है ॥ १५ ॥

"सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्। द्विभुजं मौनमुद्राढ्यं वनमालिनमी[illegible] पुण्डरीकाक्षत्वादिधर्म्मा सविग्रह एव ईश्वर इति विस्फुटम्। "देहदेहिभिदा चैव नेश्वरे विद्यते [illegible] तयाह। अत्र देहाद्भिन्नो देहीत्येवं भिदेश्वरवस्तुनि नास्ति। किं तु देह एव देहीति लभ्यम् ॥ [illegible]

दर्शयति चाथो अपि स्मर्य्यते ॥ १७ ॥

"साक्षात्प्रकृतिपरोऽयमात्मा गोपालः कथं त्ववतीर्णो भूम्यां हि वै" इति तत्रैवोत्तर[illegible]नमेव विग्रहं दर्शयति। गोपालशब्दः खलु परमकमनीयपादमुखादिसंनिवेशिन्यभ्रश्यामे [illegible] पूर्व्वत्र "गोपवेषमभ्राभं तरुणं कल्पद्रुमाश्रितं, तदिह श्लोका भवन्ति। सत्पुण्डरीकनयनमि"[illegible] चात्मैव विग्रह इति। ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः" इत्यादिभिः। अथो शब्दः [illegible] व्यतिहारो दर्शितः। विग्रह एवात्मा, [illegible] श्रुत्यादिगम्येऽचिन्त्येऽर्थे तर्का[illegible] ग्रहत्वम् सिद्धम्। तेन परैव तत्र भक्तिः स्यादिति। [illegible] पत्तव्यम्। तन्मूर्त्तत्वं खलु भक्तिभावितेन हृदा ग्राह्य[illegible] रागमूर्त्तिमिव। अन्यथा विज्ञान-घनानन्दघनेति श्रुतिर्व्याकुप्येत्। तदेवं प्रत्यक्त्वादयो धर्म्माः श्रीविग्रहस्यैव। तस्मिन्नन्यथा विज्ञानं तु मायैवेति भवति। "एतत्त्वया न विज्ञेयं रूपवानिति दृश्यते। इच्छन्मुहूर्त्तान्नश्येयमीशोऽहं जगतो गुरुः। माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद। सर्व्वभूतगुणैर्युक्तं नैव त्वं ज्ञातुमर्हसि" इति स्मृतेः। नश्येयमदृश्यः स्यामित्यर्थः ॥ १७ ॥

ध्यान के लिये विग्रह का स्वीकार करना मिथ्या कल्पना नहीं है। उस विषय में प्रमाण मौजूद हैं। श्रुति में विग्रह को ही परमात्मा कहा गया है। अतएव यह विग्रह सत्य है। गोपालतापिनी में सुना जाता है कि—उसमें ब्रह्म को सत्पुण्डरीकनयन, नवीननीरदश्याम, विद्युद्वसन, द्विभुज, मौनमुद्रायुक्त, वनमालाधारी ईश्वर करके निर्देश किया गया है। यहाँ पुण्डरीकाक्षत्वादि धर्म्म वाला विग्रह ही ईश्वर करके स्पष्ट कहा गया है। स्मृति में भी [illegible] है। ईश्वर का देह-देही-भेद नहीं है। यहाँ देह से भिन्न देही है—इस प्रकार का भेद ईश्वर वस्तु में नहीं है। परन्तु देह ही देही है यह लब्ध हो जाता है ॥ १६ ॥

श्रुति और स्मृति दोनों ही आत्मा का विग्रहत्व प्रदर्शन कराते हैं। प्रकृति से अतीव, साक्षात् आत्मस्वरूप श्रीगोपाल किस प्रकार धरा में अवतीर्ण हुए ? इस प्रश्नवाक्य के उत्तरवाक्य में जो श्रुति का पाठ है, उसमें परमात्मा को ही विग्रहरूप से प्रदर्शन किया गया है। उक्त गोपालशब्द परमकमनीय चरण-मुखादिविशिष्ट, मेघश्याम, सर्व्वेश्वर में मुख्य है। पहले गोपवेश, अभ्राभ, तरुण, कल्पद्रुमाश्रित इस प्रकार की उक्ति है। सत्पुण्डरीकनयन इत्यादि भी सुना जाता है। स्मृति में विग्रह का ही आत्मत्व कहा गया है। यथा—"सच्चिदानन्दविग्रह परमेश्वर श्रीकृष्ण" इत्यादि। अथ शब्द कार्त्स्न्य में है। दोनों सूत्रों से व्यतिहार दिखलाया गया है। विग्रह ही आत्मा है, आत्मा ही विग्रह है इति। फलतः श्रुति प्रभृति गम्य अविचिन्त्य अर्थ में तर्क के अनवतार होने के हेतु आत्मविग्रहत्व सिद्ध हुआ है, जिससे कि इस साक्षात् विग्रह में पराभक्ति सिद्ध होती है। आत्मा विज्ञान-आनन्द स्वरूप होने पर भी अलौकिक वस्तु होने के कारण उसका मूर्त्तत्व इस श्रुति प्रमाण के अनुसार संगत होता है। अतएव यह मूर्त्तत्व गन्धर्व्वकला संस्कारयुक्त कर्णों में मूर्त्तिमान् राग की तरह भक्तिभावना से भावित हृदय में ग्राह्य है। नहीं तो विज्ञानघन आनन्दघन प्रभृति श्रुति कुपिता हो सकती है। इस प्रकार श्रीविग्रह का व्यापकत्वादि धर्म सिद्ध होता है। इस विग्रह में अन्य प्रकार का ज्ञान माया से जानना चाहिए। "इस तरह जो तुमने देखा, उसको ऐसा धारणा में नहीं करना चाहिए। क्योंकि मैं इच्छा करने पर उसका नाश कर सकता हूँ अर्थात् मैं रूपवान् होने पर भी इच्छा मात्र से अदर्शन हो जा सकता हूँ। हे नारद ! तुम जो देखते हो, वह सब मेरी माया से सृष्ट है। मैं

अथ भजद्भयो भजनीयस्य भेदः प्रतिपाद्यते। इतरथा स्वाभेदावभासे स्वस्मिन्नाराध्यत्वबुद्धेरनुदयाद्भक्तिर्नोपजायेत। यद्यपि जीवान्यत्वं बहुकृत्वः प्रतिपादितं तथापि प्रतिबिम्बशास्त्रविभ्रान्तः कश्चित्तदभेदमाचक्षीत तत्परिहाराय विद्यान्तरमेतत्। "बहवः सूर्य्यका यद्वत्सूर्य्यस्य सदृशा जले। एवमेवात्मका लोके परात्मसदृशा मता" इत्यादि श्रूयते। इह भवति संशयः। आनन्दचिन्मूर्त्तिः परमात्मा पूर्व्वं निरूपितः। स एव किं कयाचिदवस्थया जीवः किं वा जीवादन्योऽसाविति। किं प्राप्तं ? स एव जीव इति। अस्यैवाविद्यायां प्रतिबिम्बितस्य जीवरूपत्वात्। प्रतिबिम्बो हि बिम्बान्नार्थान्तरं अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तथा निश्चयात्। अतः उक्तं "दर्पणाभिहिता दृष्टिः परावृत्य स्वमाननम्। व्याप्नुवत्याभिमुख्येन व्यत्यस्तं दर्शयेन्मुख"मिति। तस्मात्परमात्मैवाविद्यायोगाज्जीव इति प्राप्ते प्रतिविधत्ते—

अत एव चोपमा सूर्य्यकादिवत् ॥ १८ ॥

यस्मात्परमात्मनोऽन्यो जीवोऽत एव सूर्य्यकादिवदिति तस्योपमा श्रूयते। न ह्यभेदे बिम्बप्रतिबिम्बभावः। तथा सति वह्निच्छायया दाहः खड्गाभासेन छेदश्च स्यात्। न च तस्मिन् सादृश्यं तस्य भेदतन्त्रत्वात्। चकारोऽन्यान् भेदहेतून् समुच्चिनोति। तस्माज्जीवविलक्षणः परमात्मेति ॥ १८ ॥

नन्वस्तु तयोपमया जीवपरयोर्भेदः। किन्तु चिदाभासत्वं जीवस्य ततः प्राप्तम्। यथाम्बुनि सूर्य्यस्याभासः सूर्य्यक उच्यते तथाऽविद्यायां परस्याभासो जीव इति। एतन्निरस्यति—

ईश्वर जगद्गुरु हूँ। मेरा इस रूप को सर्वभूतगुणों से युक्त जानकर उसके दर्शन में तुम चरितार्थ नहीं हो सकते हो। क्योंकि यह उस प्रकार नहीं है" ॥ १७ ॥

अब उपासक से उपास्य का भेद प्रतिपादन किया जाता है। नहीं तो भेद के अस्वीकार करने से भगवान् में आराध्यत्व बुद्धि के अनुदय होने के हेतु भक्ति की उत्पत्ति नहीं होगी। यद्यपि जीव और ब्रह्म का पारमार्थिकभेद अनेकबार प्रतिपादन किया गया है तो भी प्रतिबिम्ब शास्त्र विभ्रान्त कोई कोई अज्ञ जीव-ब्रह्म का अभेद बोल सकते हैं, इस आशङ्का के होने पर उसके परिहार के लिये प्रकरणान्तर का आरम्भ हो रहा है। जिस प्रकार जल में सूर्य्य के सदृश अनेक सूर्य्यप्रतिबिम्ब देखे जाते हैं, उसी प्रकार परमात्मा के सदृश अनेक आत्मप्रतिबिम्ब इस लोक में लक्षित होते हैं। यहाँ संशय यह है कि आनन्दचिन्मूर्त्ति परमात्मा का पहले जो निरूपण किया गया है, वह परमात्मा क्या किसी अवस्थाविशेष को प्राप्त होकर जीव होता है किम्वा जीव से अन्य है ? अथवा क्या प्राप्त होकर वह जीव होता है ? इस विषय में प्रतिबिम्बवादिगण कहते हैं कि–अविद्या में प्रतिबिम्बित होकर परमात्मा ही जीव बन जाता है। प्रतिबिम्ब बिम्ब से पृथक् वस्तु नहीं है। बिम्ब के रहने पर प्रतिबिम्ब का सत्व तथा बिम्ब के असत्व में प्रतिबिम्ब का असत्व है–इस अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा निश्चय होता है। इसलिये कहा गया है कि दर्पण के सामने मुख लगाने पर मनुष्य अपना मुख देखता है। प्रतिमुख से दृष्टि देने पर नहीं देखता है। अतएव परमात्मा ही अविद्या के योग से जीव होता है। इस प्रकार पूर्वपक्षीय युक्ति के निराकरण के लिये कहते हैं।—

परमात्मा जीव से भिन्न होने के कारण सूर्य्यकादिवत् शब्द के द्वारा परमात्मा के साथ जीव की उपमा दी गयी है। अभिन्न वस्तु में कभी बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव नहीं घटता है। अभेद में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव स्वीकार करने पर तो अग्नि की छाया से दाह तथा खड्गाभास से छेदन भी घट सकता है। एवं विध स्थल में सादृश्य सम्भव नहीं होता है। क्योंकि भेद में ही सादृश्य है। चकार के द्वारा अन्य भेदहेतु-समूह समुच्चित होते हैं। अतएव परमात्मा जीव से विलक्षण है ॥ १८ ॥

अच्छा ? इस उपमा के द्वारा जीव और ब्रह्म का भेद हो सकता है किन्तु जीव चिदाभास है। अतएव जल-

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥ १९ ॥

तुरवधारणे। षष्ठ्यन्तात् सप्तम्यन्ताद्वा वतिः। अम्बुवद्बिम्बविप्रकृष्टस्योपाधेरग्रहणान्न तथात्वम्। परमात्मनो विभुत्वेन तद्विदूरपदार्थाप्रसिद्धेरुपमेयकोटेरुपमानकोटितुल्यत्वं नेत्यर्थः। बिम्बविदूरे जलाद्युपाधौ परिच्छिन्नस्य सूर्य्यादेराभासो गृह्यते, नैवं परमात्मनः तस्यापरिच्छेदात्। अतो न तथात्वमिति वा, परमात्मनः प्रतिबिम्बो जीवो न भवति। "अलोहितमच्छायमिति श्रुतेः। किन्तु तद्वच्चेतन एव सः। "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामि"ति श्रुतेः। इत्थं चाकाशदृष्टान्तोऽपि निरस्तः। तद्गतपरिच्छिन्नज्योतिरंशस्यैव तत्तया प्रतीतिरवैदुषी। इतरथा दिगादेरपि तदापत्तिः। न चात्र शब्दोऽपि दृष्टान्तः वैधर्म्यात्। तस्माद्विष्णोः प्रतिबिम्बो नेति ॥ १९ ॥

अथ शास्त्रं सङ्गमयति—

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥ २० ॥

प्रतिबिम्बशास्त्रेण मुख्यया वृत्त्या नायं दृष्टान्तः प्रयुज्यते किंतु गुणवृत्त्यैव वृद्धिह्रासभाक्त्वम्। साधर्म्यांशमाश्रित्य उपलक्षणमेतत्। कुतः ? अन्तर्भावात्। एतस्मिन्नेवांशे शास्त्रतात्पर्य्यपरिसमाप्तेरित्यर्थः। एवं सत्युभयसामञ्जस्यात्। उपमानोपमेययोः संगतेरित्यर्थः। अयं भावः। पूर्व्वसूत्रे बिम्बप्रतिबिम्बभावस्य मुख्यस्य निरासात् किञ्चित्साधर्म्यमादाय प्रकृते तद्भावः प्रकीर्त्यते। तच्चेत्थं बोध्यम्। सूर्य्यो हि वृद्धिभाक् जलाद्युपाधिधर्म्मैरसम्पृक्तः

स्थित सूर्य्याभास को जिस प्रकार सूर्य्य बोला जाता है उसी प्रकार अविद्या से परमात्मा के आभास को ही जीव बोला जा सकता है ? इस के उत्तर में कहते हैं।–"तु" शब्द अवधारण में है। षष्ठ्यन्त वा सप्तम्यन्त से वति–प्रत्यय है। दूरस्थ सूर्य्य और तदाभास के आश्रयरूप जल के साथ परमात्मा तथा उसकी उपाधि की समता न होने के कारण जीव को चिदाभास नहीं बोला जा सकता है। अविद्या परमात्मा की एक शक्तिविशेष है। वह–जल जिस प्रकार सूर्य्य से दूरवर्त्ती स्थान में है, उस प्रकार परमात्मा से दूरस्थ नहीं है। इसलिये जीव परमात्मा का आभास नहीं हो सकता है। परमात्मा विभु होने के कारण उससे विदूर किसी पदार्थ का होना असम्भव है। इसलिये उपमान-उपमेय का परस्पर सादृश्य नहीं घटता है। बिम्ब से दूरवर्त्ती जलादि–उपाधि में परिच्छिन्न सूर्य्यादि का आभास ग्रहण हो सकता है। किन्तु परमात्मा का आभास उस प्रकार नहीं घट सकता है। परमात्मा अपरिच्छिन्न है। सुतरां उसका आभास नहीं है। अतः जीव कभी परमात्मा का प्रतिबिम्ब नही हो सकता है। श्रुति में कहा है–"परमात्मा अलोहित और अच्छाय है"। जिसकी छाया नहीं है उसका प्रतिबिम्ब कभी सम्भव नहीं हो सकता है। परन्तु जीव परमात्मा की भाँति चेतन वस्तु है। "नित्यों का नित्य, चेतनों का चेतन" इस प्रकार चेतनत्व-श्रुति में व्यक्त है। इस तरह आकाश का दृष्टान्त भी निराकृत हुआ है। आकाशस्थ परिच्छिन्न तेजः का अंशविशेष ही प्रतिबिम्ब स्वरूप में प्रतीत होता है। ऐसा देखकर आकाश का प्रतिबिम्ब–भाव स्वीकार करना अज्ञ का कार्य है। यदि ऐसा नहीं मानोगे तो दिशाओं का भी प्रतिबिम्बभाव उठ सकता है। यहाँ शब्द भी दृष्टान्त रूप नहीं हो सकता है। क्योंकि परमात्मा तथा शब्द का परस्पर वैधर्म्य सुप्रसिद्ध है। अतएव जीव परमात्मा (विष्णु) का प्रतिबिम्ब नहीं है ॥ १९ ॥

इसके अनन्तर उक्त प्रतिबिम्ब शास्त्र की संगति किस प्रकार होगी उसे दिखाते हैं। प्रतिबिम्ब शास्त्र में मुख्यवृत्ति के द्वारा यह दृष्टान्त प्रयोजित नहीं है किन्तु गौणवृत्ति के द्वारा उसका प्रयोग किया गया है। पूर्व्वसूत्र में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का मुख्य सादृश्य निराकृत होने पर भी वृद्धि, ह्रासादिक कुछ साधर्म्य होने से गौण सादृश्य का स्वीकार किया गया है। क्योंकि इस अंश में शास्त्र-तात्पर्य्य की परिसमाप्ति की गयी है। इस प्रकार उपमान उप-

स्वतन्त्रश्च तत्प्रतिबिम्बाः सूर्य्यकास्तद्ध्रासभाजो जलाद्युपाधिधर्म्मयोगिनः परतन्त्राश्च भवन्त्येवं परमात्मा विभुः स्वतन्त्रश्च तत्प्रतिबिम्बाः सूर्य्यकास्तद्‌ह्रासभाजो जलाद्युपाधिधर्म्मयोगिनः परतन्त्राश्चेति । तस्मादियमुपम प्रकृतिधर्म्मैरसम्पृक्तः स्वतन्त्रश्च, तदंशका जीवास्त्वणवः प्रकृतिधर्म्मयोगिनः परतन्त्राश्चेति । तस्मादियमुपम तद्भिन्नत्वतदधीनत्वतत्सादृश्यैरेव धर्म्मैः सिद्धा । न तूपाधिप्रतिफलितरूपाभासत्वेन धर्म्मेणेति । अत एव निरुपाधि-प्रतिबिम्बो जीव इत्याह पैङ्गिश्रुतिः । "सोपाधिरनुपाधिश्च प्रतिबिम्बो द्विधेष्यते । जीव ईशस्यानुपाधिरिन्द्रचापो यथा रवेरिति ॥ २० ॥

दर्शनाच्च ॥ २१ ॥

सिंहो देवदत्त इत्यादयः प्रयोगा विवक्षितसाधर्म्यांशमाश्रित्य लोके प्रवृत्ता दृश्यन्ते । तस्माच्च गौण्यैव वृत्त्या शास्त्रसङ्गतिरिति भावः ॥ २१ ॥

ननु नैतदुपपद्यते परमात्मवच्चेतनो जीव इति, किंतु तदाभास एव सः । बृहदारण्यके द्वे वावेत्यादिना तदन्य-वस्तुमात्रप्रतिषेधात् । तथा हि "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चैवामूर्त्तञ्चे' त्युपक्रम्य द्वैराश्येन विभक्तानि पञ्च-भूतानि ब्रह्मणो रूपत्वेन परामृश्य "तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा माहारजनं वासो यथा पाण्डवाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युतं सकृद्विद्युतैव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेद" इत्यनेन पुनः पुरुष-शब्दोदितस्य तस्य माहारजनादीनि रूपाणि दर्शयित्वेदमाम्नायते । "अथात आदेशो नेति नेति । न ह्येतस्मादिति। नेत्यन्यत् परमस्ति । अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति । प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्य" मिति । अस्यार्थः । अथ सप्रपञ्चमूर्त्तामूर्त्तादिरूपनिरूपणानन्तरं यस्मात् तत्परिज्ञानान्निरतिशयं श्रेयो नास्ति अतो नेति नेति इत्यादेशः । नेति

मेय की संगति के हेतु सादृश्य परिदृष्ट हो रहा है । सूर्य्य ही वृद्धिविशिष्ट अर्थात् बृहद्वस्तु है । जलादि उपाधिधर्म्म में वह संस्पृक्त नहीं हो सकताहै । विशेष करके सूर्य्य स्वतन्त्र है । जलमें उसका संयोग किस प्रकार हो सकताहै। प्रतिविम्बप्राप्त समस्त सूर्य्य ह्रासविशिष्ट अर्थात् क्षुद्र हैं । जल प्रभृति उपाधि-धर्म्म से संयोग प्राप्त करने वाले हैं। अतएव वह सब परतन्त्र हैं । इस प्रकार परमात्मा विभु,प्रकृति-धर्म्म से अस्पृक्त,विशेष करके परम स्वतन्त्र है किन्तु परमात्मा के अंशरूप समस्त जीव अणु चैतन्य, प्रकृति धर्म्म से युक्त, विशेष करके परतन्त्र हैं। अतएव "तद्भि-न्नत्व," "तदधीनत्व" प्रभृति तत् सदृश धर्म्म के द्वारा यह उपमा सिद्ध होती है । उपाधि में प्रतिफलित रूपाभास रूप धर्म्म के द्वारा इस उपमा की सिद्धि नहीं बोली जा सकती । इसलिये "निरूपाधि प्रतिबिम्व जीव" ऐसा पैंगि-श्रुति ने कहा है । निरूपाधिक और सोपाधिक भेद से प्रतिविम्ब दो प्रकार का है । इन्द्रधनु जिस प्रकार सूर्य्य का निरूपाधिक प्रतिबिम्ब है, जीव भी उसी प्रकार परमात्मा का निरूपाधिक प्रतिबिम्ब है ॥ २० ॥

"सिंह देवदत्त" इत्यादिक प्रयोग सकल विवक्षित साधर्म्म्य अंश को आश्रय करके लोक में व्यवहृत होते हैं। अतएव यहाँ गौणवृत्ति के द्वारा ही शास्त्र की संगति जाननी चाहिए ॥ २१ ॥

अच्छा ? परमात्मा की भाँति जीव चेतन है । ऐसा नही हो सकता है । जीव चेतनाभासमात्र है । बृहदार-ण्यक में "द्वे वाव" इत्यादि मन्त्र के द्वारा ब्रह्म से इतर वस्तु का निषेध किया गया है । यहाँ कथन है–ब्रह्म के दो रूप हैं । मूर्त्त और अमूर्त्त । ये दोनों मूर्त्ति यथाक्रम से भूतमय और इच्छामय हैं । पुरुष की यह मूर्त्ति हरिद्रा-वर्ण, पाण्डुवर्ण, इन्द्रगोपकीट की भाँति रक्तवर्ण, अग्निशिखावर्ण, पुण्डरीकवर्ण, घनविद्युद्वर्ण है । उनकी श्री नाना प्रकार की है । जो इनकी अवगत कर लेता है वह निरतिशय कल्याण लाभ करता है" । फिर पुरुष शब्द से कहे गये उनके महादिव्यत्व हरिद्रादि रूपों को दिखा कर पुनः श्रुति कहती है । "अथात आदेशो नेति नेति" "न ह्येतस्मादिति" "नेत्यन्यत् परमस्ति" "अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यं" "प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यमिति" । इसका अर्थ–सप्रपञ्च मूर्त्त-अमूर्त्तादि रूप निरूपण के अनन्तर-जिससे उनके परिज्ञान से बढ़कर अन्य श्रेय नहीं है इस

नेतीत्युपदेश्यमानं ब्रह्मैव बोध्यमित्यर्थः । तत्र वासनाराशिभूतराश्योर्जडचेतनयोर्वा तदन्ययोः प्रतिषेधाय वीप्सा । आदेशार्थमेवाह न हीति । एतस्माद् ब्रह्मणोऽन्यत्र ह्यस्तीति नेतीत्युच्यते । ननु प्रपञ्चवद् ब्रह्मापि न स्यात् । नेत्याह । अन्यद् दृश्यात् प्रपञ्चाद्विलक्षणं परं सर्व्वभ्रमावधिभूतं सन्मात्रं ब्रह्मस्वरूपमस्तीति । तथा च । नेतीति ब्रह्मान्य-वस्तुमात्रनिषेधात् तस्माद्भिन्नस्तद्वच्चेतनश्च जीव इति नोपयुक्ता भणितिरपि तु ब्रह्मैवाविद्यायां प्रतिबिम्बितं जीवरूपमिति युज्यते । यत्तु जीवपरौ द्वावात्मानौ भवतः तयोर्भेदे कारणमणुत्वविभुत्वादिधर्म्मजातमित्युक्तं तत्किल घटाकाशमहाकाशगतमल्पत्वविभुत्वादिकमिव तयोर्भेदाय नालं कल्पितत्वादिति चेत्तत्राह—

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥ २२ ॥

न ह्येषा श्रुतिर्निर्व्विशेषमेकमेव ब्रह्मेति प्रतिपादयन्ती तदन्यद्वस्तुमात्रं प्रतिषेधति । किं तर्हि रूपविशिष्टं तदनु-वन्ती प्रकृतैतावत्त्वं प्रतिषेधति । द्वे वावेत्यादिना । यानि रूपाणि मूर्त्तामूर्त्तादीनि प्रकृतानि तैर्यद्ब्रह्मण एतावत्त्व-मियत्ता तत्प्रत्याख्याति न तु प्रकृतानि रूपाणीति । ततः प्रतिषेधानन्तरं भूयः प्रचुरं तस्य सत्यनामादिकं रूपं ब्रवीति च । ततश्चायमादेशवाक्यार्थः । अथ मूर्त्तादिरूपनिरूपणानन्तरम् । यस्मादपरिमितरूपं ब्रह्म अतो नेति नेतीत्यादेशः । इति शब्दस्य समाप्त्यर्थकत्वात् । इति न पूर्व्वोक्तमूर्त्तादिलक्षणमियत्तावदेव ब्रह्मणो रूपं नेत्यर्थः । किंतु नेति स सत्यनामादिकमनीयद्रूपमस्तीति । एतमर्थं श्रुतिरेव व्याचष्टे । न ह्येतस्मादित्यादिना । अस्यार्थः । एतस्मान्मूर्त्ता-दिलक्षणाद्रूपात् परमन्यत् सत्यनामादिरूपं इति इयदेव न वाच्यम् । किं तर्हि नेति । तेन रूपान्तराणामुपलक्षणा-दनियदेव तद्वाच्यमित्यर्थः । तदेव दिक्प्रदर्शनार्थमाह । अथ नामधेयमिति । सत्यस्य सत्यमिति । यन्नाम तच्च

लिये "नेति नेति" शब्द का आदेश है । "नेति नेति" से उपदेश्यमान ब्रह्म ही बोध का विषय है । ब्रह्म से अति-रिक्त पदार्थ नहीं है । इसलिये उसका नाम सत्य का सत्य है ।

यहाँ भूतराशि तथा वासनाराशि अथवा जड़ चेतन इन दोनों पदार्थ से अन्यतर पदार्थ के निषेध के लिये अन से भिन्न और कोई पदार्थ नहीं है–ऐसा दो बार कहा गया है । नहीं इत्यादि के द्वारा आदेश के अर्थ को कहती है, ब्रह्म से अन्य कोई नहीं है । इसलिये"नतीति"कहती है । अच्छा ? प्रपञ्च की तरह ब्रह्म नहीं है ? उस से नेति कहती है । क्योंकि ब्रह्म पदार्थ प्रपञ्च से विलक्षण है । समस्त भ्रम का अवधिभूत सन्मात्र ब्रह्म स्वरूप है । "ब्रह्म से अतिरिक्त वस्तु नहीं है" इस वचन के द्वारा ब्रह्म से भिन्न तथा उसके समान ही चेतन जीव है–इस प्रकार का सिद्धान्त युक्त नहीं है । परन्तु ब्रह्म ही अविद्या में प्रतिबिम्बित होकर जीव रूप होता है–ऐसा सिद्धान्त युक्त है। तो भी जो जीवात्मा और परमात्मा ये दोनों पृथक सुने जाते हैं वहाँ केवल अणुत्व तथा विभुत्व प्रभृति धर्म्म के कारण भेदमात्र है । घटाकाश और महाकाश का अल्पत्व और महत्व प्रभृति भेद की भाँति परमात्मा और जीवात्मा का भेद कल्पित है । इस प्रकार की आशङ्का के निराकरण के लिये कहते हैं ॥—

उक्त श्रुति के द्वारा एकमात्र निर्विशेष ब्रह्म की स्थापना के साथ ब्रह्मेतर पदार्थ का निषेध नहीं किया गया है। किन्तु पहले उनका किञ्चित् रूप वर्णन कर उसकी सीमा का निषेध किया गया है। पूर्वोक्त श्रुति ने ब्रह्म के जो मूर्त्त-अमूर्त्त दोनों रूप कहे हैं, इन दो संख्या के द्वारा ही उसकी सीमा प्रत्याख्यात होती है । यहाँ प्रकृत रूप का प्रत्याख्यान नहीं किया गया है । प्रतिषेध के पश्चात् भी फिर प्रचुर रूप से उसके सत्य-नामादि रूप कहे गये हैं। अतएव उस श्रुति-वाक्य का अर्थ इस प्रकार जानना होगा कि मूर्त्त प्रभृति रूप के निरूपण के पश्चात् अपरिमेय ब्रह्मरूप के व्याख्यानार्थ नेति नेति वाक्य है । इति शब्द का समाप्ति अर्थ है । "इति न" अर्थात् पूर्वोक्त मूर्त्तादि-लक्षण निरूपण के पश्चात् रूप की इयत्ता के निषेध के लिये ही "नेति" शब्द का प्रयोग है । मूर्त्तादिलक्षण के अतिरिक्त ब्रह्म के नामादिलक्षण की भी ईयत्ता नहीं है । इस अर्थ की "न ह्येतस्मात्" इत्यादि से श्रुति व्याख्या

ब्रह्मणो रूपं ब्रवीति। तस्य निरुक्तिः प्राणो वै सत्यमिति। प्राणाः प्राणिनः। रूपाण्यत्र विशेषाः। इह हि प्राकृताप्राकृतानन्तविशेषणवैशिष्ट्यं ब्रह्मणः प्रतिपाद्यते। न तु तदन्यत् वस्तुमात्रं प्रतिषिध्यते। तत्र मूर्त्तामूर्त्तानि रूपाणि प्राकृतानि। माहारजनादीनि त्वप्राकृतानीति बोध्यम्। प्राणशब्दितानां जीवानां सत्यशब्दवाच्यत्वम्। खादिवत् स्वरूपान्यथाभावात्मकपरिणामाभावात् तेभ्योऽपि ब्रह्मणोऽपि सत्यत्वं,तद्वज्ज्ञानसंकोचविकाशात्मकस्य परिणामस्य तस्मिन्नभावात्। तस्मान्नित्यचैतन्यात्मको जीवस्तद्विलक्षणोऽनन्तकल्याणगुणगणः परमात्मेत्युपपन्ना तस्मिन्भक्तिरिति। इह रूपमात्रनिषेधे श्रुत्यभिमते सति माहारजनादिसदृशं रूपमलोकसिद्धं स्वयमुपदिश्य पुनर्निषेधकारिण्यास्तस्या उन्मत्तप्रलपितापत्तिः। सूत्रकारोऽप्येतावत्त्वमिति प्रयुञ्जानोऽसमीक्ष्यकारितायै कल्प्येत। एतद्रूपं प्रतिषेधतीत्येव सूत्रयेत्। तस्माद्यथोक्तमेव साधीयः ॥ २२ ॥

अथ प्रत्यग्रूपत्वं प्रतिपाद्यते। अन्यथा घटादिवत् सर्व्वसौलभ्ये भक्तिस्तस्मिन्न स्यात्। तथाहि सच्चिदानन्दरूपायेत्यादि श्रूयते। तत्र विग्रहात्मकं परं ब्रह्म ग्राह्यं प्रत्यग्वेति संशये सुरासुरमनुष्यप्रत्यक्षत्वात् ग्राह्यमिति प्राप्ते—

तदव्यक्तमाह हि ॥ २३ ॥

तद्ब्रह्म स्वतो व्यक्तं प्रत्यगेव हि यस्मात् "न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनमि"ति कठश्रुतिस्तथाह। "अगृह्यो न हि गृह्यते" इति श्रुत्यन्तरं च। "अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिमि"ति स्मृतिश्च ॥ २३ ॥

करती है। मूर्त्तादिलक्षण इस रूप से अन्य सत्यनामादि रूप की इयत्ता है-ऐसा नहीं कहा जा सकता है। रूपान्तर के उपलक्षण से इसे अनियत जानना होगा। इसके अनन्तर नामधेयशब्द को दिक्-प्रदर्शन के लिये समझना चाहिये। "सत्य का सत्य""जो नाम वह ब्रह्म का स्वरूप है"। उसकी निरुक्ति-प्राण ही सत्य है। प्राणशब्द से प्राणीसमूह का बोध है। रूप शब्द से विशेष का बोध है। यहाँ प्राकृत-अप्राकृत अनन्त विशेषण-विशिष्ट ब्रह्म ही प्रतिपाद्य होताहै। ब्रह्मेतर वस्तु का प्रतिषेध नहीं है। मूर्त्तामूर्त्त रूप ही प्राकृत है। हरिद्रावर्णादिक अप्राकृत है। प्राण शब्दित जीव ही सत्यशब्द वाच्य है। क्योंकि आकाशादि की भाँति जीव के स्वरूप में अन्यथाभाव नहीं है। तो भी उनसे ब्रह्म का अति सत्यत्व स्वीकार किया जाता है। जीव की भाँति ज्ञान का संकोच-विकाश रूप परिणाम ब्रह्म में नहीं है। जीव नित्य चैतन्यात्मक है। उससे विलक्षण, अनन्त कल्याण गुणवान् परमात्मा है। अतएव उसमें भक्ति करना उचित है। रूपमात्र के निषेध में यदि श्रुति का तात्पर्य्य है तो हरिद्रावर्णादिक अलौकिक रूप का स्वयं स्वीकार-तथा उपदेश करती है और फिर उनका निषेध करती है तव तो श्रुति में उन्मत्त प्रलापापत्ति दोष आ पड़ता है। सूत्रकार भी"एतावत्त्व"शब्द का प्रयोग कर असमीक्ष्यकारिता दोष में दूषित हो जाते हैं। अन्यथा जो इस रूप का प्रतिषेध करता है इस प्रकार का सूत्र वे वनाते। अतएव जिस प्रकार सिद्धान्त किया गया है, वही उत्तम है ॥२२॥

अब ब्रह्म का व्यापकरूपत्व का प्रतिपादन किया जाता है। नहीं तो घटादि की भाँति सर्वसुलभ वस्तु में भक्ति नहीं हो सकती है। श्रुति में सच्चिदानन्दरूप प्रभृति सुनने में आते हैं। यहाँ परब्रह्म विग्रहात्म रूप से ग्राह्य है अथवा सर्व्वव्यापक है—इस प्रकार का संशय उठाकर सुर-असुर मनुष्यों के प्रत्यक्ष होने के कारण उनको विग्रहरूप बोलना युक्त है ऐसे पूर्व्वपक्ष का उत्तर देते हैं।—

ब्रह्म वस्तु अव्यक्त अर्थात् व्यापक है। क्योंकि "उनका रूप सम्मुख में स्थिर नहीं होता है। उनका चक्षु के द्वारा दर्शन नहीं किया जाता है" इत्यादि कठश्रुति तथा "वे अग्राह्य हैं उनको इन्द्रियों का विषयीभूत नहीं किया जाता है" इत्यादि श्रुत्यन्तर से इस प्रकार जाना जाता है। स्मृति में भी ब्रह्म को अव्यक्त, अक्षर और परमगतिरूप करके निर्देश किया गया है ॥ २३ ॥

अथ प्रतीचोऽपि तस्य ज्ञानभक्तिलभ्यत्वं दर्शयति। सर्व्वथा दौर्लभ्ये नैराश्येन भक्तेरनुदयः। तथा हि श्रूयते। कैवल्योपनिषदि। "श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवैति" इति। अत्र श्रद्धालुर्भक्तिमान् हरिं ध्यायन् प्राप्नोतीति प्रतीयते। इह मानसेन प्रत्यक्षेण ग्राह्यो हरिरुत चक्षुरादिना वेति वीक्षायां मनसैवेदमाप्तव्यं, मनसैवानुद्रष्टव्यमिति सावधारणाद् वृहदारण्यकवाक्यात् मानसेनैव तेन ग्राह्य इति प्राप्ते—

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २४ ॥

अपिरत्र गर्हायाम्। गर्हितोऽयं पूर्व्वपक्षः। संराधने सम्यग् भक्तौ सत्यां चाक्षुषादिना प्रत्यक्षेण ग्राह्योऽसौ भवति। कुतः? श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः। "पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयम्भुस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदा वृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्नि"ति काठके। "ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमान" इति मुण्डके च विद्वद्भक्तदृश्यत्वश्रवणात्। "नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परंतपे"त्यादि स्मरणाच्च। तस्मात्सम्यग्भक्त्या ग्राह्यः श्रीहरिरिति सिद्धं। चक्षुरादीनि तु तया भावितानि। अतस्तैः स वेद्यः। एवं सति एवकारोऽयोगव्यवच्छेदी भवेत् ॥ २४ ॥

प्रकाशवच्चावैशेष्यात् ॥ २५ ॥

नेत्यनुवर्त्तते। प्रकाशो वह्निः स यथा सूक्ष्मरूपेणाव्यक्तः स्थूलरूपेण तु दृश्यते एवमीश्वर इति चेन्न। कुतः? अग्निवत् सौक्ष्म्यस्थौल्यविशेषाभावात्। "अस्थूलमनण्वह्रस्वं" इति श्रुतेः। "स्थूलसूक्ष्मविशेषोऽत्र न कश्चित्परमेश्वरे। सर्व्वत्रैव प्रकाशोऽसौ सर्व्वरूपेष्वजो यतः" इति स्मृतेश्च ॥ २५ ॥

अब व्यापक होने पर भी उनका ज्ञानग्राह्यत्व और भक्तिग्राह्यत्व कहा जाता है। वे यदि सर्व प्रकार से दुर्लभ होते हैं तव उनमें भक्ति का उदय ही नहीं हो सकता है। कैवल्योपनिषद् में सुना जाता है "ब्रह्म वस्तु को श्रद्धा, भक्ति, तथा ध्यानयोग के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।"यहाँ श्रद्धासम्पन्न भक्तिमान् श्रीहरि को ध्यानवल से प्राप्त होता है-इस प्रकार की प्रतीति है। यहाँ श्रीहरि मानस प्रत्यक्ष में ग्राह्य हैं अथवा चाक्षुष प्रत्यक्ष के द्वारा ग्राह्य हैं इस प्रकार के संशय में"ब्रह्म का मन द्वारा ही लाभ किया जाता है, उसका मन के द्वारा ही दर्शन किया जाता है" इस प्रकार निश्चयात्मक बृहदारण्यक वाक्य से वे मन के ही ग्राह्य हैं-इस प्रकार के सिद्धान्त के उत्तर में कहते हैं-

अपि शब्द गर्हा में है। इस प्रकार का पूर्व्वपक्ष गर्हित है। सम्यक भक्ति होने पर परमेश्वर चक्षुः प्रभृति-प्रत्यक्ष के द्वारा ग्राह्य होते हैं। कठोपनिषद् में लिखा है-"ब्रह्मा ने बाह्य इन्द्रियों का निरोध करके इन्द्रिय के द्वारा आत्मविग्रह भगवान् को नहीं देखा"। ध्यानशील विशुद्धसत्व पुरुष उस निष्कल ब्रह्म का दर्शन करते हैं"।- इत्यादि। "ज्ञान परिष्कृत भक्ति के द्वारा ही ध्यान कर परमेश्वर को प्राप्त होते हैं" इत्यादि मुण्डक में भी पाठ है। विद्वान भक्तों के द्वारा दृश्यत्व की सर्व्वत्र प्रसिद्धि है। गीता में भी कहा है-हे अर्जुन! तुमने हमको जिस प्रकार देखा है, उस प्रकार वेद, तपस्या, दान और पूजा के द्वारा कोई नहीं देख सकता है। भक्त अनन्य भक्ति के द्वारा ही मुझको जान सकता है व देख सकता है-इत्यादि। अतएव श्री हरि भक्ति के द्वारा ही सम्यक् ग्राह्य हैं-यह स्थिर हुआ है। चक्षुः प्रभृति से भक्तिभाव में भावित होने पर वे जाने जाते हैं। एवकार अयोगव्यवच्छेदी है॥२४॥

नकार अनुवर्त्तित है। वह्नि जिस प्रकार सूक्ष्मरूप से अव्यक्त तथा स्थूलरूप से दृश्य है,ठीक परमेश्वर भी उस प्रकार हैं-ऐसा नहीं बोला जा सकता है। क्यों कि अग्नि की भाँति स्थूलता-सूक्ष्मता उनका रूपविशेष नहीं है। श्रुति में कहा है-"परमेश्वर स्थूल नहीं हैं तथा सूक्ष्म भी नहीं हैं"। स्मृति में भी-परमेश्वर में स्थूल-सूक्ष्मादि कोई विशेष नहीं है। वे सर्व्वत्र सर्व्व रूप में प्रकासमान तथा अज हैं ऐसा कहा है ॥ २५ ॥

ननु सम्यग् भक्त्या साक्षात्कृतिरनुपपन्ना । तद्वत्स्वपि तददर्शनादित्याशङ्क्याह—

प्रकाशश्च कर्म्मण्यभ्यासात् ॥ २६ ॥

शङ्काच्छेदाय चशब्दः । तद्ध्याननिर्मिते कर्म्मण्यर्चनादिकेऽभ्यासात्तत्प्रकाशो भवेदेव । "ध्याननिर्म्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्" इति ब्रह्मोपनिषदादिषु तथा दर्शनात् । अभ्यासेन स्नेहतामापद्यते । ततो दर्शनम् । "न तमाराधयित्वापि कश्चिद्व्यक्तीकरिष्यति । नित्याव्यक्तो यतो देवः परमात्मा सनातनः" इत्यत्र तु स्नेहविहीनमाराधनं बोध्यम् ॥ २६ ॥

ननु प्रत्यङ्ङीश्वरस्तस्य पुनरभिव्यक्तिरिति इदमभिधानं विरुद्धम् । साक्षात्कारसाधनोक्तिवैयर्थ्यात् प्रत्यक्त्वप्रहाणाच्चेत्तत्राह—

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॥ २७ ॥

अतः प्रत्यक्त्वे ध्यातृगोचरत्वे च प्रमाणलाभादनन्तेनापरिच्छिन्नेन प्रतीचापि भगवता भक्तिप्रसन्नेन स्वभक्तेषु स्वस्वरूपमभिव्यज्यते निजाचिन्त्यकृपाशक्तियोगादिति स्वीकार्य्यम् । इदं कुतस्तत्राह तथेति । "विज्ञानघनानन्दघनसच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगे तिष्ठति" इत्यथर्व्वश्रुतिलिङ्गादित्यर्थः । कृपयैव भजत्सु व्यक्तिः । "नित्याव्यक्तोऽपि भगवानीक्षते निजशक्तितः । तामृते परमात्मानं कः पश्येतामितं प्रभुमि"ति स्मृतेः । स्वयञ्चाप्येतद्व्यञ्जितम् । "अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः । परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तममि"ति । प्रेम्णा गोचरेऽपि प्रत्यक्त्वं न हीयते । तस्य स्वरूपशक्तिवृत्तित्वात् । प्रेमविहीनेषु त्वाभासरूपेणैव व्यक्तिः । "नाहं प्रकाशः सर्व्वस्य योगमायासमावृतः" इति तदुक्तेः । अत एव परमानन्दादिरूपस्य तस्य दारुणत्वादिनावभासः । तथा च प्रेमेतरकरणाग्राह्यत्वमेव प्रत्यक्त्वम् ॥ २७ ॥

अच्छा ? सम्यक् भक्ति से साक्षात्कार भी नहीं हो सकता है । सम्यग्भक्तिमानों का भी भगवद्दर्शन अभाव देखा जाता है इस प्रकार की आशङ्का का निराकरण करते हैं ।—शङ्काच्छेद के लिये "च" शब्द है । ध्याननिर्म्मित पूजादिकर्म्म के अभ्यास से ही उनका प्रकाश होता है । "ध्यान के सम्यग् अभ्यास से ही गुप्ततम परब्रह्म का प्रकाश होता है" इत्यादि ब्रह्मोपनिषदादि में देखा जाता है । अभ्यास से स्नेह होता है, तदनन्तर दर्शन है । "उनको आराधना करके कोई व्यक्त नहीं कर सकता है । क्योंकि वह नित्य अव्यक्त परमात्मा सनातन हैं इत्यादि स्थल में स्नेहविहीन आराधना से वे अव्यक्त हैं । वे वास्तविक स्नेह से युक्त आराधनासे व्यक्त होते हैं ऐसा ही जानना चाहिए॥२६॥

अच्छा ? प्रत्यङ् ईश्वर उनकी पुनः अभिव्यक्ति यह विरुद्ध है । साक्षात्कार के साधनसूचक वचनों की व्यर्थता होती है तथा व्यापकता भी व्यर्थ हो जाती है । इसके उत्तर में कहते हैं—

व्यापकत्व और ध्यानगोचरत्व दोनों के प्रामाण्य के हेतु अनन्त अपरिच्छिन्न और सर्व्वव्यापक होने पर भी भगवान् भक्ति के द्वारा प्रसन्न होकर अपने भक्तों के निकट निज स्वरूप को अभिव्यक्त करते हैं । उनकी अचिन्त्यशक्ति ही इसका हेतु है । अथर्व्वश्रुति में कहा है । "विज्ञानघन, आनन्दघन, सच्चिदानन्द एकरस वे भक्तियोग में ठहरते हैं" । कृपा से ही भक्तों में उनकी अभिव्यक्ति है । स्मृति में कहा है–भगवान् नित्य अव्यक्त होने पर भी निज शक्ति के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं । नहीं तो अमित भगवान् का कौन दर्शन कर सकता है ? भगवान् ने स्वयं गीता में भी कहा है–"मैं अव्यक्त होकर भी अपनी कृपा शक्ति के द्वारा व्यक्त होता हूँ । अबुद्धि लोकसमूह मेरा इस अव्यय अत्युत्तम परम भाव को नही जानते हैं"इत्यादि । प्रेम के द्वारा ही उनकी अभिव्यक्ति का होना बोलने पर व्यापकता की हानि नहीं होती है । क्योंकि प्रेम वस्तु भगवान् की स्वरूपशक्ति की वृत्ति है । प्रेम-विहीन व्यक्तियों में आभास रूप से अभिव्यक्ति है । "मैं योगमाया से समावृत होकर सर्व्वत्र प्रकाशमान नहीं हूँ"–ऐसा गीता में भगवान् का वचन है । इसलिये ही भगवान् का परमानन्दमय रूपादिक कभी कभी दारुण रूप से प्रती-

अथ स्वरूपाद् गुणनामभेदः प्रतिपाद्यते । भेदे हि तस्मात्तेषां गौण्यात्तद्भक्तेरपि तत्स्यान्न चैवमस्ति तेषु तस्याः प्राधान्येनानुभवात् । "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" "यः सर्व्वज्ञः सर्व्वविदानन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" इत्यादीनि वाक्यानि श्रूयन्ते । तत्र संशयः । भजनीयं ब्रह्म ज्ञानानन्दो ज्ञानानन्दि वेति । द्विविधवाक्यदृष्टे रनिर्णयेन भाव्यमिति प्राप्ते–

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥ २८ ॥

ज्ञानानन्दस्वरूपस्य ब्रह्मणो ज्ञानानन्दो धर्म्मत्वेन मन्तव्यः अहिकुण्डलवत् । कुण्डलात्मनो ऽप्यहेर्यथा कुण्डलं विशेषणत्वेन मन्यते तद्वत् । कुत एतत्तत्राह उभयेति । उक्तश्रुतिषूभयाभिधानादित्यर्थः । तुशब्देन श्रुत्येकगम्यता दर्शिता । अविचिन्त्यत्वादित्थं भाति । न च द्विविधवाक्योपलम्भात् पाक्षिकं स्वरूपं, न वा स्वगतभेदवदिति ॥ २८ ॥

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥ २९ ॥

ब्रह्मणस्तेजस्त्वाच्चैतन्यस्वरूपत्वात् प्रकाशाश्रयवद्वा तस्य निर्णयः स्यात् । प्रकाशात्मा रविर्यथा प्रकाशाश्रयो भवत्येवं ज्ञानात्मा हरिर्ज्ञानाश्रय इत्यर्थः । अविद्याविरोधि तिमिरविरोधि च वस्तु तेजः कथ्यते ॥ २९ ॥

पूर्व्ववद्वा ॥ ३० ॥

यथा पूर्व्वः काल इत्येक एवावच्छेद्योऽवच्छेदकश्च प्रतीयते तद्वज्ज्ञानानन्दोऽर्थो धर्म्मो धर्म्मी च प्रत्येतव्यः आनन्देन त्वभिन्नेन व्यवहारः प्रकाशवत् । पूर्व्ववद्वा यथा कालः स्वावच्छेदकतां व्रजेदिति यथोत्तरं दृष्टान्ताः सूक्ष्माः ॥३०॥

यमान होते हैं । इस प्रकार प्रेम-विहीन करण का अगोचरत्व ही भगवान् का प्रत्यक्त्व अर्थात् व्यापकत्व है ॥२७॥

अब स्वरूप से गुणों के अभेदत्व का प्रतिपादन करते हैं । उनका भेद स्वीकार करने में भगवान् की भक्ति गौण हो जाती है । किन्तु भक्ति तो गौण नहीं है । भक्तों में भक्ति का ही प्रधानता रूप से अनुभव होती है ।– "ब्रह्म विज्ञान स्वरूप तथा आनन्द स्वरूप है । वह सर्वज्ञ, सर्ववित् है । ब्रह्म के आनन्द को जानना" इत्यादि श्रुति में कहा गया है । यहाँ संशय यह है कि भजनीय ब्रह्म ज्ञानानन्द है किम्वा ज्ञानानन्दी है ? अर्थात् ब्रह्म एतादृश गुण स्वरूप है किम्वा गुणी स्वरूप है ? दोनों प्रकार के वाक्यों से कुछ निर्णय नहीं होता है । इसके लिये कहते हैं–

अहिकुण्डल की तरह उभय व्यपदेश हैं । ब्रह्म ज्ञानस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप होकर भी ज्ञानरूप तथा आनन्दरूप धर्म्म विशिष्ट है । अहिकुण्डल उसका दृष्टान्त है । सर्प कुण्डलात्मक होने पर भी कुण्डल को जिस प्रकार सर्प के विषेवण रूप से मानते हैं, ठीक उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञानानन्दात्मक होने पर भी ज्ञान और आनन्द को उस का विशेषण बोला जाता है । उक्त श्रुतियों में उभयरूप अभिधान किया गया है । "तु" शब्द से ये सब श्रुतिमात्रगम्य हैं । ब्रह्म की शक्ति अविचिन्त्य होने के कारण इस प्रकार प्रतीति होती है । दोनों प्रकार के वाक्यों का उपलम्भ से ब्रह्म स्वरूप को पाक्षिक नहीं बोल सकते हैं । उभय पक्ष ही सत्य है । ब्रह्म स्वरूप का स्वगतभेद स्वीकार नहीं किया जाता है ॥ २८ ॥

ब्रह्म तेजस्वरूप तथा चैतन्य स्वरूप होने के कारण प्रकाश-आश्रय की भाँति उसके स्वरूप का निर्णय नहीं किया जाता है । प्रकाशात्मा सूर्य्य जिस प्रकार प्रकाश का आश्रय होता है उस प्रकार ज्ञानात्मा श्रीहरि भी ज्ञान का–आश्रय होते हैं । अविद्या विरोधी तथा तिमिर विरोधी वस्तु को तेज कहा जाता है ॥ २९ ॥

पूर्वकाल बोलने पर जिस प्रकार एक ही काल वस्तु अवच्छेद्य तथा अवच्छेदक रूप से प्रतीत होती है, ठीक इसी प्रकार ज्ञान और आनन्द ब्रह्म का धर्म्म होने पर भी धर्म्मी ब्रह्म रूप से प्रतीत होते हैं । स्मृति में कहा-ब्रह्म आनन्द से भिन्न न होने पर भी ब्रह्म का आनन्द इस प्रकार का व्यवहार होता है । इसी प्रकार काल का भी

प्रतिषेधाच्च ॥ ३१ ॥

चोऽवधारणे । "मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति । यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्व्वतेषु विधावति । एवं धर्म्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति" इति कठश्रुतौ । "निर्दोष-पूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्रो निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः । आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः सर्व्वत्र च स्वगतभेदविवर्जितात्मा"इत्यादि स्मृतौ च । गुणगुणिभेदनिषेधात् स्वरूपात् गुणा न भिद्यन्ते । अत एव ज्ञानादीनां धर्म्माणां भगवच्छब्दवाच्यता स्मर्य्यते । "ज्ञानशक्तिबलैश्वर्य्यवीर्य्यतेजांस्यशेषतः । भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः" इति । तथा चैकस्यैव द्वेधा भणितिरम्बुवीचिवत् विशेषाद्भवति । एवं रसावस्थस्य तस्य रसा-नन्दश्च स्वोल्लासवपुरभ्युपेयः । नित्यश्चैषः कर्म्मनित्यत्वविनिर्णयात् । विशेषस्तु भेदप्रतिनिधिर्भेदाभावेऽपि भेद-कार्य्यस्य धर्म्मधर्म्मिभावादेर्व्यवहारस्य निर्व्वर्त्तकः । अन्यथा सत्ता सती, कालः सर्व्वदास्ति, देशः सर्व्वत्रेत्याद्य-बाधितव्यवहारानुपपत्तिः । न च सत्ता सतीत्यादिबुद्धिर्भ्रमः "सन् घटः" इत्यादिवदबाधात् । न चारोपः सिंहो देवदत्तो नेतिवत् । सत्ता सती नेति कदाप्यव्यवहारात् । न च सत्ताद्यन्तराभावेऽपि स्वभावादेव तद्व्यवहारः । तस्यैवात्र तच्छब्देनोक्तेः । तत्सिद्धिस्त्वर्थापत्तेर्यथोदकमिति वाक्यबलाच्च बोध्या । इह भगवद्गुणानभिधाय तद्भेदः प्रतिषिध्यते । न हि भेदप्रतिनिधेस्तस्याप्यभावे गुणगुणिभावो गुणबहुत्वे युज्येत । स च वस्त्वभिन्नः स्वनिर्व्वाहकश्चेति नानवस्था । तथात्वं तु तस्य धर्म्मिग्राहकमानसिद्धम् ॥ ३१ ॥

व्यवहार है। दृष्टान्त-समूह उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं ॥ ३० ॥

भगवान् में गुण गुणी भेद सर्वशास्त्रों में निषिद्ध हैं। "च" अवधारण में है। "मन के द्वारा ही ब्रह्म प्राप्त हो सकता है, ब्रह्म के अतिरिक्त नाना वस्तु नहीं हैं। जो नाना भेद देखता है, वह मृत्यु मुख में पड़ता है। पर्वत में पड़ा हुआ जल जिस प्रकार निम्नस्थान में चला जाता है, ठीक उसी प्रकार भेददर्शी भी उसका ही अनुधावन करता है" इत्यादि कठश्रुति का वचन है। स्मृति में भी कहा है कि परमेश्वर दोषों से रहित, पूर्णगुणमय विग्रह विशिष्ट, आत्मतन्त्र, जड़मय-शरीर-गुणों से हीन हैं। उनके कर, चरण, मुख, उदरादि सकल अवयव आनन्द-मात्र हैं। वे सर्वत्र स्वगतभेद से रहित हैं। इन सकल निषेध वाक्यों के कारण ईश्वर के स्वरूप से गुणों का भेद स्वीकार करना अयुक्त है। ज्ञान-आनन्दादि गुण-समूह की भगवत् शब्दवाच्यता सुनने में आती है। अशेष-ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य्य, वीर्य्य, और तेजः-समूह भगवद् शब्द वाच्य हैं। अर्थात् भगवान् कहने पर ये सब आ जाते हैं। हेयगुण-समूह भगवान् में नहीं हैं"। जिस प्रकार भेद नहीं रहने पर भी किसी विशेष के लिये जल और तरंग का भेद स्वीकार किया जाता है, ठीक उसी प्रकार रसावस्थ भगवान् का रसानन्द तथा उल्लासात्मक श्रीविग्रह का स्वीकार है। कर्म्म (धर्म्म) सकल नित्य होने के कारण भगवान् का यह विग्रह सर्वदा नित्य है। गुण और गुणी का परस्पर भेद नहीं रहने पर भी भेद के प्रतिनिधि स्वरूप एक विशेषता का स्वीकार करना होता है। यह विशेष भेद के अभाव में भी भेदकार्य्य धर्म्म धर्म्मि का व्यवहार सम्पादन करता है। विशेष का अस्वी-कार करने पर "सत्ता है" "काल सर्वदा है" "देश सर्वदा है" ये सब अबाधित भेद व्यवहार नहीं हो सकते हैं। ये सब व्यवहार बुद्धि के भ्रम के वश ऐसा नहीं कह सकते हो। "घट है" बोलने पर जिस प्रकार सत् पदार्थ की सत्ता कही जाती है, ठीक उसी प्रकार उनकी उक्ति है। उसे आरोप भी नहीं कह सकते हो। "देवदत्त सिंह नहीं है" इस प्रकार के व्यवहार की भाँति "सत्ता सती नहीं" इस प्रकार व्यवहार कभी किसी ने नहीं देखा है। सत्ता प्रभृति में अन्य सत्तादि का अभाव होने पर भी स्वभावतः इस प्रकार व्यवहार होता रहता है, इस प्रकार नहीं बोला जा सकता है। क्योंकि इस प्रकार स्वभाव विशेष का ही नामान्तर मात्र है। यहाँ तत् शब्द से उसी को ही

इदानीं परानन्दादित्वं श्रीहरेर्निरूप्यते । जीवानन्दादिसाम्ये तत्र भक्तेरनुदयः । यदाहि धर्म्मबोधकानि वाक्यानि विषयः । ब्राह्म्यमानन्दादि जैवानन्दादेर्व्विलक्षणं न वेति सन्देहे लौकिकानन्दादिपदवाच्यत्वात्तद्विलक्षणं तत् । न हि घटपदवाच्यं घटविलक्षणं स्यादिति प्राप्ते—

परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥ ३२ ॥

अतो जैवानन्दादेर्ब्रह्मानन्दादि परं जात्या परिमाणेन चोत्कृष्टम् । कुतः ? सेत्वित्यादेः । "एष सेतुर्विधृतिर् एष आनन्दः परस्य" इति सेतुत्वस्य व्यपदेशात् । "यतो वाचो निवर्त्तन्त" इत्युन्मानस्य "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" इति सम्बन्धस्य । "अन्यज्ज्ञानं तु जीवानामन्यज्ज्ञानं परस्य च । नित्यानन्दाव्ययं पूर्णं परं ज्ञानं विधीयत" इति भेदस्य च । न हि सेतुत्वादिकं लौकिकानन्दादावस्ति ॥ ३२ ॥

ननु घटपदवाच्यं घटविलक्षणं नेत्युक्तं तत्राह—

सामान्यात्तु ॥ ३३ ॥

तुशब्दः शङ्काच्छेदाय । यथैक एव घटशब्दो नानाविधेषु घटेषु घटत्वसामान्यमादाय वर्त्तते तथानन्दादिशब्दो-ऽप्यानन्दत्वादिसामान्यमादाय लौकिकालौकिकेष्वानन्दादिष्विति नैतावता व्यक्तिसादृश्यं सर्व्वथा । अत एव 'परज्ञानमयोऽसद्भिर्नामजात्यादिभिर्विभुः । न योगवान्न युक्तोऽभून्नैव पार्थिव योक्ष्यति" इति जीवज्ञानात् परं यज्ज्ञानं तन्मय इत्युक्तम् ॥ ३३ ॥

कहा जाता है। उसकी सिद्धि अर्थापत्ति से है। यथा "पर्वत में पतित जल जिस प्रकार" इत्यादि वाक्यबल से अर्थापत्ति के द्वारा विशेष की सिद्धि होती है। यहाँ भगवान् के गुणों को कह कर उसका भेद प्रतिषिद्ध करते हैं। भेद प्रतिनिधि विशेष के अभाव में गुण का बहुत्व प्रयुक्त जो गुण-गुणी भाव वह युक्त नहीं है और भी विशेष का स्वीकार करना होगा, इस प्रकार तर्क उठाकर विशेष के स्वीकार में अनवस्था दोष का प्रदर्शन करना अयुक्त है। क्योंकि विशेष वस्तु से अभिन्न होकर भी स्वनिर्वाहक है इस प्रकार का लक्षण स्वीकार करने पर अनवस्था नहीं घटती है। विशेष का इस प्रकार लक्षण धर्म्मि ग्राहक प्रमाणसिद्ध है ॥ ३१ ॥

अब श्रीहरि के परानन्दत्वादि का निरूपण किया जाता है। जीवानन्द के समान उसको मानने पर ब्रह्म में-भक्ति का उदय नहीं हो सकता है। यहाँ धर्म्मबोधक सकल वाक्य देखने का विषय है। ब्रह्मानन्द जीवानन्द से विलक्षण है किम्वा नहीं—इस प्रकार का संशय उठने पर लौकिक आनन्दादिपद के वाच्यत्व प्रयुक्त वे सब परस्पर भिन्न नहीं हैं, ऐसा बोध हो रहा है। घट पद का वाच्य कभी घट से भिन्न नहीं है। इस प्रकार के पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं।—

सेतु, उन्मान, सम्बन्ध और भेद के बोधक शब्द-समूह से ब्रह्मानन्द का ही परत्व प्रतिपादन किया जाता है। ब्रह्मानन्द जीवानन्द से जाति तथा परिमाण के द्वारा उत्कृष्ट है। "परमेश्वर आनन्द के सेतु तथा धारक हैं"। यहाँ सेतु शब्द की उक्ति है। "जिससे वाक्य-मन के साथ निवृत्त होता है" यहाँ उन्मान का व्यपदेश है। "अन्यान्य आनन्द सकल ब्रह्मानन्द का कणमात्र हैं" यहाँ सम्बन्ध कहा गया है। "ब्रह्मज्ञान जीवज्ञान से अन्य है। ब्रह्मज्ञान नित्य आनन्दमय, अव्यय, परिपूर्ण है" इत्यादि स्थल में भेद का व्यपदेश दिखलाया गया है। सेतुत्वादि लौकिक आनन्द में नहीं है ॥ ३२ ॥

घट पद वाच्य पदार्थ घट से विलक्षण नहीं है—इस युक्ति की मीमांसा के लिये कहते हैं। "तु" शब्द शङ्का-च्छेदन के लिये है। यथा एक ही घटशब्द घटत्व जाति पुरस्कार से अर्थात् घटत्व इस असाधारण धर्म्म को लेकर नाना प्रकार के घटों में विराजमान रहता है, उसी प्रकार आनन्दादि शब्द आनन्दत्व प्रभृति जाति-पुरस्कार से लौ-

ननु जीवजडात्मकात् प्रपञ्चाद्विलक्षणं चेद्धर्म्मिभूतं ब्रह्म तर्हि सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत" इत्युपदेशः कथं सङ्गच्छेत तत्राह—

बुद्धयर्थः पादवत् ॥ ३४ ॥

सोऽयमुपदेशो बुद्धयर्थः। सर्व्वत्र तदीयत्वज्ञानार्थः पादवत्। "पादोऽस्य विश्वा भूतानि" इत्यत्र यथा विश्वस्य भगवत्पादत्वोपदेशस्तद्वत्। एवं हि द्वेषनिहीनं मनस्तत्प्रवणं भवति। न चैवं रागप्राप्तिर्निहीनत्वबुद्धेर्बाधकत्वात्॥३४॥

अथ भक्तिवैचित्र्याय भजनीयस्य श्रीहरेर्भानवैचित्र्यं निरूप्यते। इतरथा भक्तिवैचित्र्यानुपपत्तिः। भानवैचित्र्यं तु स्थानानादित्वादनादिसिद्धम्। "एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति" इत्यादिश्रुतिमाश्रित्य न स्थानतोऽपीत्यादिनानास्थानेषु स्थानीभूतमेकं ब्रह्म प्रकाशत इत्युक्तम्। अथ तेषु तत्प्रकाशस्य तारतम्यं स्यान्न वेति वीक्षायां वस्त्वैक्यात्समानशब्दबुद्धिबोध्यत्वाच्च नेति प्राप्ते—

स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ॥ ३५ ॥

यद्यप्येकमेव ब्रह्मस्वरूपं तथापि तत्प्राकट्यस्थानानां तेषां धाम्नां भक्तानां च विशेषादैश्वर्य्यमाधुर्य्यकृताच्छान्तिदास्यसख्यादिकृताच्च तारतम्यात्तत्प्राकट्यमपि तारतम्यभाक् स्यात् प्रकाशादिवत्। यथा प्रकाशो दैपः स्फाटिकेषु कौरुविन्देषु च मन्दिरेषु चाकचिक्यारुण्याभ्यां तारतम्यभाक्, यथा चैकविधोऽपि शब्दः कम्बुमृदङ्गवंशप्रभृतिषु मन्द्रत्वमधुरत्वादिविशेषभाक् तद्वदित्यर्थः। अयं भावः। यस्मिन्स्थाने भगवतः पारमैश्वर्य्याविष्कारस्तत्र तस्य भक्तिर्विधिना प्रवर्त्तते तया तीव्रः प्रकाशः स्फाटिकनिकेतदीपवत् यत्र सत्यपि पारमैश्वर्ये माधुर्य्याविष्कारस्तत्र खलु रुच्या प्रवर्त्तते, तया मधुरः प्रकाशः कौरुविन्दनिकेतदीपवदिति धाम्नां तच्चिन्तकानां भक्तेश्च द्वैविध्यं साधितम् ॥३५॥

किक-अलौकिक आनन्दादि का बोध कराने पर भी उसके द्वारा व्यक्तिगत सादृश्य सर्वदा बोधित नहीं होता है। अतएव परज्ञानमय, विभु, परमेश्वर कभी भी असत् नाम तथा जात्यादि का विषय न हुए और न हो सकते हैं। सुतरां जीव ज्ञान से परमेश्वरज्ञान श्रेष्ठ है—यह प्रतिपादन हुआ है ॥ ३३ ॥

अच्छा ? धर्म्मिभूत ब्रह्म यदि जीव और जड़ात्मक प्रपञ्च से विलक्षण है तब "यह निखिल संसार ही ब्रह्म है" इस प्रकार के अभेद-वाक्य-समूह की संगति किस प्रकार हो सकती है ? उसे कहते हैं कि यह उपदेश सर्वत्र भगवदीयत्व ज्ञान के लिये जानना चाहिए। यह समुदाय विश्व भगवान् का पाद अर्थात् एकांश बोलने से जिस प्रकार विश्व का भगवदीयत्व बोध होता है, ठीक उसी प्रकार उक्त वाक्य भी भगवदीयत्व का बोध कराता है। समुदाय ही भगवत् सम्बन्धीय है—इस प्रकार का ज्ञान होने पर द्वेष नहीं रहता है। द्वेष रहित मन ही भगवद्भाव-युक्त होता है। यह सकलवाक्य समस्त वस्तु में अनुरक्त होने का उपदेश नहीं करता है। क्योंकि निर्हीनत्व-बुद्धि उक्त राग का बाधक है ॥ ३४ ॥

अब भक्ति-वैचित्र्य के लिये भजनीयहरि का भानवैचित्र्य निरूपण करते हैं। नहीं तो भक्ति वैचित्र्य नहीं हो सकता है। यह भानवैचित्र्य फिर स्थान का अनादि प्रभृति के द्वारा अनादिसिद्ध है। "जो एक होकर भी बहुरूप से प्रकाशित होता है" इत्यादि श्रुति का आश्रय कर स्थान का बहुत्व होने पर भी नाना स्थान में स्थानिभूत एक ही ब्रह्म प्रकाशित होता है—ऐसा कहा गया है। इस नाना प्रकार के प्रकाश से भगवान् के प्रकाश का तारतम्य है किंवा नहीं ? इस प्रकार के संशय उठने पर वस्तु की ऐकता के वश तथा समान शब्द बुद्धि वेद्यत्व (बोध) के कारण तारतम्य नहीं है—इस प्रकार के पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं ॥—

यद्यपि हरि एक स्वरूप हैं तो भी उनके प्रकट स्थानों का, सकल धाम के, भक्तों के, ऐश्वर्य्य तथा माधुर्य्य के प्रकाश के वश शान्त, दास्य, सख्य प्रभृति भावों के तारतम्य के अनुसार उनके प्रकाश का तारतम्य होता है। जैसा

उपपत्तेश्च ॥ ३६ ॥

एवं सति यथा क्रतुरित्यादि वाक्यमुपपद्यते नान्यथा। तथा चैकस्य भावतारतम्यं स्थानतारतम्याद्युक्तम् ॥३६॥

अथ भगवतः सर्व्वपरत्वमुच्यते। ततोऽन्यस्य परत्वे तत्र भक्तिर्नोद्भवेत्। तथाहि श्वेताश्वतरैर्वेदाहमेतमित्यादिना सर्व्वतो वरिष्ठं ब्रह्मरूपं निरूप्य ततो यदुत्तरतरमित्यादिना तस्मादपि परं वस्त्वस्तीति दर्शितम्। तत्र संशयः। उपास्याद् ब्रह्मणः परं वस्त्वस्ति न वेति। शब्दस्वारस्यादस्तीति प्राप्ते—

तथान्यप्रतिषेधात् ॥ ३७ ॥

तथा ब्रह्मैव सर्व्वस्माच्छ्रेष्ठं न ततोऽन्यत् किञ्चित्। कुतः ? अन्येति। "यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित्" इति। तैरेव तदन्यस्य श्रेष्ठस्य निराकरणात्। अयमर्थः। "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय" इति महापुरुषज्ञानममृतस्य पन्थास्ततो नान्योऽस्तीत्युपदिश्य तत्प्रतिपादनाय यस्मात्परं नापरमस्तीत्यादिना तस्यैव परत्वं तदन्यस्य तदसम्भवं चोपपाद्य "ततो यदुत्तरतरं तद्रूपमनामयं यत्र तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापि यन्ति" इति प्रागुक्तमेव निगमयन्ति, न तु ततोऽपि श्रेष्ठं वस्त्वस्तीति वदन्ति। तथा सति तेषां मृषाभासितापत्तेः। एवं च स्वयमाह—"मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय" इति ॥ ३७ ॥

कि एक ही प्रदीप स्फटिक तथा कुरुविन्द मन्दिर में चाकचिक् और अरुण रूप से तारतम्य को प्राप्त होता है, जिस प्रकार शब्द एक ही रूप होकर शंख, मृदंग और वंश प्रभृति में मन्द्रत्व, मधुरत्वादि तारतम्य भाव को धारण करता है। इसका भावार्थ यह है जहाँ भगवान् के परम-ऐश्वर्य्य का आविष्कार होता है, वहाँ विधि के द्वारा भक्ति प्रवर्त्तित होती है, एवं उससे स्फटिकमन्दिर में दीप की भाँति प्रकाश की कुछ तीव्रता देखने में आती है। और जहाँ परम ऐश्वर्य्य रहता हुआ भी माधुर्य्यभाव का आविष्कार है, वहाँ भक्ति रुचि के द्वारा प्रवर्त्तित होती है। उस से कौरविन्द मन्दिर में प्रदीप की भाँति प्रकाश की मधुरता लक्षित होती है। इस प्रकार धाम, भक्त, तथा भक्ति का वैचित्र्य साधित हुआ है ॥ ३५ ॥

इस प्रकार कर्म्म के अनुसार फलबोधक वाक्य-समूह उपपन्न हुए हैं। नहीं तो अन्य प्रकार से संगति नहीं हो सकती। अतएव स्थान-तारतम्य के हेतु एक ही ब्रह्म का भान तारतम्य युक्त है ॥ ३६ ॥

अब भगवान् का सर्वपरत्व बतलाया जाता है। उनसे अन्य कोई पर होने पर भगवान् में भक्ति नहीं हो सकती। श्वेताश्वतर में "वेदाहमेतत्" इत्यादि वाक्य के द्वारा ब्रह्म-स्वरूप को सर्वश्रेष्ठ रूप से निर्देश पूर्वक "ततो यदुत्तरतरम्" इत्यादि वाक्य के द्वारा उनसे भी श्रेष्ठ वस्तु है—इस प्रकार कहा है। यहाँ संशय है कि उपास्यब्रह्म से श्रेष्ठ वस्तु है किंवा नहीं है ? शब्द स्वारस्य के वशतः है ऐसा बोला जा सकता है। इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के खण्डनार्थ परसूत्र की अवतारणा करते हैं।—

उपास्य ब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ है, उससे और कोई श्रेष्ठ नहीं है। क्योंकि "जिनसे पर अपर अन्य कोई नही है, जिनसे क्षुद्र भी कोई नहीं वृहत् भी नहीं हैं" इत्यादि श्रुति सकल ही उपास्यब्रह्म से अन्य के श्रेष्ठत्व का निराकरण करते हैं। इसका तात्पर्य्य यह है—"मैंने इन महान्, आदित्यवर्ण, तम से अतीतपदार्थ पुरुष को जाना है, उनके जानने पर अमृतत्व का लाभ होता है, पुरुषार्थ प्राप्ति का दूसरा उपाय नहीं है, महापुरुष का ज्ञान ही अमृतलाभ का एकमात्र पन्था है, उनसे पर कोई नहीं है" इत्यादि वाक्य-समूह के द्वारा ब्रह्म का श्रेष्ठत्व उपपादन कर श्रुति कहती है कि "जो सकललोक, उनका सबसे अधिक अनामय रूप अवगत करते हैं, वे सब अमृतत्व को प्राप्त होते हैं। अन्य सब दुःख को प्राप्त करते हैं। इत्यादि वचनों के द्वारा ब्रह्म की अपेक्षा श्रेष्ठवस्तु का उपदेश नहीं किया

अथोपास्यसान्निध्यं वक्तुं तस्य व्याप्तिर्निरूप्यते। अन्यथा सन्निहिते तस्मिन्ननुत्साहाद्भक्तेः शैथिल्यं स्यात्। "एको वशी सर्व्वगः कृष्ण ईड्य" इत्यादि श्रूयते। तत्र ध्येयो हरिः परिच्छिन्नो व्यापको वेति संशये मध्यमाकारस्यानुभवात् प्रपञ्चान्यस्य तस्य तद्व्यावृत्तत्वावश्यम्भावाच्च परिच्छिन्न इति प्राप्ते—

अनेन सर्व्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥ ३८ ॥

अनेन परेण पुंसा मध्यमाकारेणापि सर्व्वगतत्वमवाप्तम्। मध्यमाकार एव सर्व्वव्यापीति। कुतः? आयामेति। आयामशब्दो व्याप्तिवाची। आदिशब्दादविचिन्त्यत्वधर्म्मयोगस्तद्बोधिका युक्तिश्च। तत्र "एको वशी सर्व्वगः कृष्ण ईड्य" इत्युत्तरवाक्यात् "यच्च किञ्चिज्जगत्सर्व्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्व्वं व्याप्य नारायणः स्थित" इति तैत्तिरीयकवाक्याच्च मध्यमस्यैव विभुत्वम्। मध्यमाकारस्यैव मम सर्व्वस्मात्परस्य सर्व्वव्यापित्वमचिन्त्यैश्वर्य्यशक्तियोगादिति स्वयमुक्तम्। "मया ततमिदं सर्व्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना। मत्स्थानि सर्व्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः। न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरमि"ति। न च प्रपञ्चान्यस्य तत्प्रदेशवृत्तेः परिच्छेदः। बहिरन्तश्च व्याप्तिश्रुतेः। अतस्तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पिरिति निदर्शितम्। तस्मादुपास्यो हरिः सर्व्वग इति सिद्धम्। निरूपितं चेत्थं दामोदरचरिते। तादृशस्यापि तथात्वे युक्तिश्च पुराभिहिता। अर्भकौकस्त्वादित्यस्य व्याख्याने ॥३८॥

अथ सर्व्वफलदत्वं तस्योच्यते। इतरथादातरि किञ्चिद्दातरि वा तस्मिन्कार्पण्यादुपस्फुरणेन भक्तेरनुदयः

गया है। यदि ऐसा ही उपदेश है तब वे वचन सब मिथ्या हो जाते हैं। भगवान् ने गीता में स्वयं ही कहा है- "हे धनञ्जय! मुझसे परतर अन्य कोई वस्तु नहीं है" ॥ ३७ ॥

इसके अनन्तर उपास्यदेव का सान्निध्य बताने के लिये उसकी व्याप्ति का निरूपण करते हैं। ब्रह्म वस्तु यदि व्यापक नहीं होती तब उसका असान्निध्य के हेतु भक्ति उदय की सम्भावना शिथिल हो सकती है। श्रुति में कहा है "एक श्रीकृष्ण वशी, सर्वग ईड्य" इत्यादि। वहाँ ध्येय श्रीकृष्ण परिच्छिन्न किंवा व्यापक हैं-इस प्रकार के संशय में मध्यमाकार रूप से अनुभव के हेतु-प्रपञ्च से अतिरिक्त ब्रह्म वस्तु को उससे अवश्य व्यावृत्त बोलने पर वे परिच्छिन्न होते हैं इस प्रकार पूर्वपक्षीय सिद्धान्त के उत्तर में कहते हैं।—

परमेश्वर का मध्यमाकार होने पर भी आयाम शब्दादि से सर्वगत्व स्थिर हो रहा है। वे मध्यमाकार होने पर भी सर्वव्यापक हैं। क्योंकि उक्त आयामादि शब्दों से व्याप्ति का ही प्रतिपादन होता है। आदि शब्द से अचिन्त्यधर्म्मयोग तथा उसको बोध कराने वाली युक्तियाँ लब्ध हो रही हैं। एक श्रीकृष्ण वशी, सर्वग, ईड्य" इति उत्तर वाक्य से "इस जगत् में जो कुछ देखने में तथा सुनने में आता है, उन सब में श्रीनारायण व्यापक रूप से अवस्थान करते हैं" इस तैत्तिरीय के वचनानुसार मध्माकार का ही विभुत्व सिद्ध होता है। भगवान ने स्वयं ही-सबसे मध्यमाकार होने पर मेरा सर्वव्यापित्व अचिन्त्य-ऐश्वर्य्य शक्ति योग से होता है"-ऐसा कहा है। "अव्यक्त मूर्त्ति स्वरूप मुझसे यह समस्त विधृत हो रहा है, समस्त भूत मेरा ही आश्रय कर रहते हैं, अर्थात् मुझमें समस्त हैं, मैं किसी में नहीं हूँ। निष्कर्ष यह है कि मैं किसी को आश्रय कर नहीं रहता हूँ। इस मेरे योगैश्वर्य्य को देखो" इत्यादि। प्रपञ्चान्यत्व-प्रयुक्त भगवान का प्रदेशवृत्ति के द्वारा परिच्छेद स्वीकार नहीं होता है। श्रुति में भगवान् की वहिर्व्याप्ति और अन्तर्व्याप्ति दोनों ही कही गयी हैं। जैसा कि तिल में तैल तथा दही में नवनीत अन्तर्व्याप्ति तथा बहिर्व्याप्ति विशिष्ट है ब्रह्म भी-ठीक उसी प्रकार भीतर-बाहर व्याप्त है। अतएव उपास्य हरि सर्व्वग है-यह सिद्ध हुआ है। दामोदर लीला में इस का निरूपण किया गया है। माता यशोदा के दामबन्धन व्यापार में भगवद् विग्रह का अपरिच्छिन्नत्व व्यक्त है। "अर्भकौकस्त्वात्" इस सूत्र के व्याख्यान में उसकी युक्ति भी दिखलाई गयी है ॥ ३८ ॥

स्यात्। तथा हि—"पुण्येन पुण्यं लोकं नयति" इति श्रुतं बृहदारण्यके। तत्र स्वर्गादिफलं यागादेः परेशाद्वेति वीक्षायामन्वयव्यतिरेकसिद्धेर्यागादेरेव तत्फलमिति प्राप्ते—

फलमत उपपत्तेः ॥ ३९ ॥

स्वर्गादिरूपं यागादिफलमतः परेशादेव। कुतः? उपपत्तेः। तस्यैव नित्यस्य सर्व्वज्ञस्य सर्व्वशक्तेः महोदारस्य यागादिनाराधितस्य कालान्तरिततत्तत्फलप्रदत्वमुपपद्यते। न तु जडस्य क्षणध्वंसिनः कर्म्मण इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

अत्र प्रमाणमाह— **श्रुतत्वाच्च ॥ ४० ॥**

"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणम्"। "स वा एष महानज आत्मा अन्नादो वसुदानः" इति तस्यैवाभ्युदयफलप्रदत्वं श्रूयते। दातुर्यजमानस्य। रातिः फलप्रदम् ॥ ४० ॥

मतान्तरमाह— **धर्म्मं जैमिनिरत एव ॥ ४१ ॥**

अतः परेशादेव धर्म्मं जैमिनिर्म्मन्यते। यस्मात्फलं तत्कर्म्मैश्वराद्भवति। "एष एव साधु कर्म्म कारयति" इत्यादिश्रुतेः। तथा चान्वयव्यतिरेकाभ्यां कर्म्मण एव फलार्पकत्वे सिद्धे न तदीश्वरस्य स्वीकार्य्यम्। तस्य कर्म्मजनकत्वेनोपक्षीणव्यापारत्वात्। ननु कर्म्मणः क्षणविनाशिनः कालान्तरभाविफलानुपपत्तिः। अभावाद्भावोत्पत्त्यसम्भवादिति चेन्न। विनश्यदपि कर्म्म स्वकालमेवापूर्व्वमुत्पाद्य विनश्यति। तदपूर्व्वं कालान्तरे कर्म्मानुरूपं फलं पुरुषाय भोक्त्रे दास्यतीति कर्म्मैव फलप्रदमिति ॥ ४१ ॥

अब भगवान् का सर्वफलदातृत्व कहा जाता है। भगवान यदि सर्वफलदाता नहीं होते अथवा किञ्चित् दाता होते तब तो उनमें कार्पण्यादि सकल दोष आ पड़ते हैं, जिससे फिर उनमें भक्ति का उदय नहीं हो सकता है। बृहदारण्यक में "पुण्य कर्म्म के द्वारा पुण्यलोक प्राप्ति"-ऐसा कहा गया है। वहाँ स्वर्गादि फल का यागादि से अथवा परमेश्वर से लाभ होता है इस प्रकार के संशय उठने पर अन्वय-व्यतिरेक से यागादि से उसका लाभ है-इस प्रकार के पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं।—

स्वर्गादिफल तथा यागादिफल का परमेश्वर से ही लाभ होता है। क्योंकि नित्य, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, महोदार परमेश्वर ही यागादि कर्म्म के द्वारा आराधित होकर कालान्तर में फल को प्रदान करते हैं-यह युक्तिसिद्ध है। जड़, क्षणध्वंसि कर्म्म कभी दानकर्त्ता नहीं हो सकता है ॥ ३९ ॥

उस विषय में प्रमाण देते हैं। श्रुति ही उसका प्रमाण है। "विज्ञान स्वरूप तथा आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही निज उपासकों को अपनी अपनी उपासना के अनुसार फल प्रदान करता है" इत्यादि श्रुति ब्रह्म का ही फलदातृत्व प्रमाणित करती है ॥ ४० ॥

जैमिनि ऋषि के मत में परमेश्वर से धर्म्म की उत्पत्ति है। जिस कर्म्म से फल की उत्पत्ति है वह कर्म्म ईश्वर से भी उत्पन्न होता है। "परमेश्वर साधु कर्म्म कराते रहते हैं" इस प्रकार श्रुति में देखा जाता है। अन्वय व्यतिरेक के द्वारा कर्म्म का साक्षात् सम्बन्ध में फलदातृत्व सिद्ध होने से ईश्वर का फलदातृत्व अस्वीकार्य्य होता है। ईश्वर सम्बन्धी व्यापार कर्म्म उत्पादन कर उपक्षीण हो जाता है। सुतरां उनका कर्म्मफलदान अयुक्त है। अभाव से भाव की उत्पत्ति असम्भव होने के कारण क्षणध्वंसी कर्म्म से कालान्तरभावी फल की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, ऐसा कहना नितान्त अयुक्त है। क्योंकि कर्म्म विनाशी होने पर भी अपने स्थितिकाल में अपूर्व अर्थात् अदृष्ट का उत्पादन कर विनष्ट हो जाता है। यह अदृष्ट ही कालान्तर में भोक्ता पुरुष को कर्म्मानुसार फलप्रदान करता है। अतएव अदृष्टोत्पादक कर्म्म को फलप्रद बोला जाता है ॥ ४१ ॥

स्वमतमाह— **पूर्व्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥ ४२ ॥**

शङ्काच्छेदाय तुशदः। पूर्व्वोक्तं परेशमेव भगवान् बादरायणः फलप्रदं मन्यते। कुतः ? हेत्विति। "पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पापं" इति तस्यैव फलहेतुत्वव्यपदेशादित्यर्थः। कर्म्मणः करणत्वेनोपक्षयाच्च । कर्म्मसत्तापि ब्रह्मायत्ता इत्युक्तं। "द्रव्यं कर्म्म च कालश्च" इत्यादौ। तेन ब्रह्मैव कर्म्मप्रवर्त्तकं सिद्धम्। यत्तु विनश्यदपि कर्म्मेत्यादि समाहितं तन्मन्दम् । काष्ठलोष्ट्रवदचेतनस्यादृष्टस्य तत्राक्षमत्वात्तस्याश्रवणाच्च । ननु यज्ञस्य देवार्चनत्वात्तदर्चितानां देवतानां फलार्पकत्वमस्त्विति चेत् उच्यते। परदेवतया प्रयोज्यास्तास्तदर्पयन्तीति स्वीकार्य्यं-मन्तर्यामिब्राह्मणात्। अतः सैव तदर्पिका। एवमेवाह भगवान् पुण्डरीकाक्षः—"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्। स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् इति। एवं च यागादिभिराराधितोऽभ्युदयफलं ददातीत्युक्तम् । भक्त्या तोषितस्तु स्वपर्य्यन्तं सर्व्वमिति वक्ष्यति पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति । तदित्थं जन्ममरणादिदुःखालयत्वरूपप्रपंचदोषोक्त्या निखिलनिर्दोषकीर्त्तनेन च निखिलनियामकत्वविशुद्धचिद्विग्रहत्वादिपरमात्मगुणगणनिरूपणेन च ब्रह्मतृष्णैव तदितरवितृष्णापूर्व्विका तत्प्राप्तिहेतुरिति पादाभ्यां दर्शितं भवति ॥ ४२ ॥

॥ इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रभाष्ये तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥३॥ २ ॥

अब निजमत कहते हैं। यहाँ शङ्काच्छेद के लिये "तु" शब्द है। भगवान बादरायण पूर्वोक्त परमेश्वर को ही कर्म्मफल के दाता मानते हैं। "परमेश्वर जीव को पुण्य के द्वारा पुण्यलोक तथा पाप के द्वारा पापलोक प्रदान करते हैं" इस प्रकार शास्त्र का वचन है। कर्म्म का करणत्व के कारण उपक्षय हो जाना अवश्यम्भावी है। कर्म्म की-सत्ता भी ब्रह्म के अधीन है-ऐसा "द्रव्यं कर्म्म च कालश्च" इत्यादि वचन में कहा गया है। अतएव ब्रह्म ही कर्म्म का प्रवर्त्तक है-यह सिद्ध हुआ है। "कर्म्म अदृष्ट के द्वारा फलप्रदाता है" ऐसा कहना नितान्त असंगत है। काष्ठ लोष्ट्रादि की भाँति अचेतन अदृष्ट उस विषय में नितान्त अक्षम है। तथा वह अशास्त्रीय है। यज्ञ में अर्चित देवतागण ही फलदाता है-ऐसा नहीं कह सकते हो। क्योंकि अन्तर्य्यामिब्राह्मण में-"परदेवता के द्वारा प्रयोजित होकर वे सब फलदान करते हैं" इस प्रकार की उक्ति है। इसलिये परदेवता ही कर्म्मफल के दाता हैं। भगवान् पुण्डरीकाक्ष ने गीता में ऐसा ही कहा है। "जो जो भक्त जिस जिस देवता की श्रद्धा से अर्च्चना करने की इच्छा करता है, मैं ही उस उस भक्त को उस विषय में अचलाश्रद्धा को प्रदान करता हूँ। वह भक्त उस श्रद्धा से युक्त होकर उसकी आराधना कर उससे कामनाओं को प्राप्त करता है। उन सबका विधायक मैं हूँ"। इस प्रकार परमेश्वर ही यागादिकों से आराधित होकर अभ्युदय फल को देते हैं-यह सिद्ध हुआ। "पुरुषार्थोऽतः शब्दात्" इस सूत्र में आगे-"भगवान भक्ति के द्वारा तुष्ट होकर अपने आप तक को भी दान कर देते हैं"-इस प्रकार कहा गया है। इस तरह इन दोनों पादों में प्रपञ्च के जन्म मरण रूप दुःखमय दोष-समूह के कथन द्वारा तथा निखिलनिर्दोष सकल कीर्त्तन के साथ निखिल-नियामकत्व विशुद्ध चिन्मयविग्रहत्वादि परमात्मा के गुण समूह के निरूपण द्वारा ब्रह्म से ईतर वस्तु में वितृष्णा पूर्वक ब्रह्मतृष्णा ही भगवत्प्राप्ति का हेतु है इसका निरूपण किया गया है ॥

इति गोविन्दभाष्य के अनुवाद में तृतीय अध्याय का द्वितीयपाद समाप्त।

॥ तृतीयः पादः ॥

परया निरस्य मायां गुणकर्म्मादीनि यो भजति नित्यम्। देवश्चैतन्यतनुर्मनसि ममासौ परिस्फुरतु कृष्णः ॥०॥

भगवद्गुणोपासनाऽस्मिन्पादे प्रदर्श्यंते। इयमत्र प्रक्रिया। स्वयंरूपे परब्रह्मणि पुरुषोत्तमे अनादिसिद्धानि विचित्राणि रूपाणि वैदूर्य्यमणाविव नित्याविर्भूतानि विभान्ति । तत्तद्रूपविशिष्टोऽसौ निर्व्विशेषशुद्धिपूर्त्तिभागिति विज्ञाय तेष्वेकतमेन निजाभीष्टेन रूपेण विशिष्टो येनोपास्यते तेन तदन्यतमेन रूपेण विशिष्टे तस्मिन्पठिता गुणाः स्वोपास्ये पठिताश्चेदुपसंहार्य्या एव। येन तु मनःप्रभृतीनि विभूतिरूपाणि ब्रह्मेत्युपास्यन्ते तेन शाखान्तरस्थास्तत्तदुपासनप्रकरणपठिता एवोपसंहार्य्या नेतरे तद्रूपमधिकृत्य तेषां पाठात्। अपरे त्वेवमाहुः । इदमेव पारम्योपेतं ब्रह्मात्मस्थितांस्तत्तद्भावान् अभिनेतृदिव्यनटवत् प्रकाश्य तत्तन्नामभाक तत्तद्भावावच्छेद एव तत्तद्गुणकर्म्माण्याविष्करोतीत्येकत्र श्रुतानामन्यत्रोपसंहारः सम्भवतीति । नन्वेकस्मिन्प्रकाशे श्रुता गुणा अन्यस्मिंश्चिन्त्याः स्युरेकस्यैव तथातथाभावेन प्राकट्यात्। ननु माधुर्य्यैश्वर्य्यभोगशान्तितपःक्रौर्य्यादीनां मिथो विरोधात् वंशशंखारिशरचापादेर्मीनादौ श्रृङ्गपुच्छसटादंष्ट्रादेश्च नृलिङ्गे विभावने, "योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते। किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा" इति स्मृतिव्याकोपाद्विद्वदनुभवानुपलम्भाच्च नोपसंहारो युक्त इति चेत् अत्रोच्यते। गुणानामुपसंहार्य्यत्वमुपासनायामुपादेयत्वम्। एकस्मिन्नुपासने पठितानामन्यस्मिन्नपठितानां तेषां तत्र चिन्तनं सत्त्वेन धीमात्रं वा। आद्यं स्वनिष्ठानामन्तिमं त्वेकान्तिकानामिति यावत्। परस्मिन् पादे स्वनिष्ठादयस्त्रिविधा विद्याधिकारिणो दर्शयिष्यन्ते। तेषु प्रायेणाधिकृताः स्वनिष्ठाः सर्व्वेषु रूपेषु समप्रीतयः। ते हि सर्व्वत्र सर्व्वान् गुणानुपसंहरन्ति । न चैकस्मिन्ननेकविरुद्धगुणचिन्तनमसमञ्जसम् । समयभेदेन वैदूर्य्यमणाविवैकत्र

जो निज पराख्यशक्ति के द्वारा त्रिगुणमयी माया का निरासन कर नित्य गुण-कर्म्मादिकों को स्वीकार करते हैं, वे ज्ञानविग्रह भगवान् श्रीकृष्ण पक्षान्तर में श्रीकृष्णचैतन्य विग्रहधारी श्रीहरि मेरे हृदय में स्फूर्त्तिलाभ करें ॥ ० ॥

इस पाद में भगवान के गुण-उपासनादि प्रदर्शित होंगे। इसकी प्रक्रिया यह है कि स्वयंरूप, परब्रह्म, पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण में वैदूर्य्यमणि की भाँति अनादिसिद्ध, युगपद् विचित्र, नित्य-आविर्भूत सकल रूप प्रकाशमान रहते हैं। निर्विशेष शुद्धि-पूर्त्तिशाली भगवान इन सकल रूपों से विशिष्ट हैं। इस प्रकार जान कर जो इन सकल रूपों में से निज-अभीष्ट किसी एक-रूप-विशिष्ट अपनी इष्ट देवता की उपासना करते हैं, उनका कर्त्तव्य यह है कि-वे उससे अन्यतम रूप विशिष्ट स्वरूप में पठित गुण-समूह, अपने उपास्य स्वरूप में, यदि नही भी कहे गये हों तो भी, सब ग्रहणीय हैं-ऐसा सिद्धान्त करें और जो मन प्रभृति विभूतिरूप ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे सब शाखान्तरस्थ उन २ प्रतीकोपासना-प्रकरण-पठितरूपों का अपनी प्रतीकोपासना में उपसंहार करें तथा अन्य अर्थात् उन उन प्रतीक-उपासना प्रकरण में अपठित रूपों का उपसंहार नहीं करें। क्योंकि प्रतीक उपासना में जिस प्रकार रूपों का पाठ है-ऐसा ही ग्रहण करना उचित है। अपर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि एक ही परब्रह्म अभिनयकारी दिव्य नट की भाँति अपने में स्थित उन उन भावों का प्रकाश कर उन उन नाम से अभिहित होते हैं उन सब गुण-कर्म्मादिकों का आविष्कार करने के कारण एक ही स्थान में श्रुत रूप का अन्यत्र भी उपसंहार सम्भव है। पूर्वपक्षी कहते हैं-

अच्छा, एक ही प्रकाश में श्रुत सकल गुण अन्य प्रकाश में चिन्तनीय हैं क्योंकि एक ही स्वरूप का उस उस भाव से प्राकट्य है। माधुर्य्य,ऐश्वर्य्य, भोग, शान्ति, तप और क्रौर्य्यादिकों के परस्पर विरोध के कारण वंश,शंख, चक्र, शर तथा चाप आदिक मीन चिह्नधारी भगवान् में और शृंग, पुच्छ, सटा, द्रंष्टादि नरलिंगधारी भगवान् में चिन्तवन करने वाले का "जो आत्मस्वरूप को अन्यथा प्रतिपादन करता है, वह आत्म- अपहारी चौरतुल्य तथा समस्त पाप करने वाला है" इत्यादि स्मृति-उक्त दोष का श्रवण तथा उस विषय में विद्वद्जन के अनुभव के अ-

तस्मिन् रूपभेदानां ग्रहीतुं शक्यत्वात्। परिनिष्ठिता निरपेक्षाश्चोभयेऽप्येकान्तिनो विषमप्रीतयः। ते हि स्वेष्टरूपे भिव्यक्तानेव गुणान् विचिन्तयन्ति पश्यन्ति च। तदन्यरूपाभिव्यक्तांस्तेभ्योऽन्यांस्तु तस्मिन् सत्त्वेन ज्ञातानपि न चिन्तयन्ति न च पश्यन्ति। तेषां तत्रानभिव्यक्तेरनभीष्टत्वाच्चेति पराधिकरणे व्यक्तीभविष्यति। योऽन्यथेति तु चिन्मात्रवादिक्षेपकम्। किञ्च "तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं" इति ब्रह्मगुणानां मुमुक्षुमृग्यत्वाभिधानात् "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन" इति गुणवेदिनोऽभयफलोक्तेश्च सगुणे ब्रह्मणि शास्त्रतात्पर्यम्। आनुवादिका व्यवहारिकाश्च गुणा इति तु कल्पनैव। मानान्तराप्राप्तानामनुवादासम्भवात् व्यवहारिकपदादर्शनाच्च। "वाचं धेनुमुपासीत" इत्यादिवदुपासनायै गुणाः कल्प्या इति च दुर्धीरेव। तथा "सत्यात्मेत्येवोपासीत" इत्यत्रापि तदापत्तेः। "आनन्दादयः प्रधानस्य" "व्यतिहारे विंशिषन्ति हीतरवत्" इत्यत्रानन्दादेर्जीवेशाभेदस्य चोपास्यत्वेऽपि तात्त्विकत्वस्वीकाराच्च। निर्गुणवाक्यं तु प्राकृतगुणनिषेधकमित्युक्तम्। गुणानां गुण्यभेदाभ्युपगमाच्च न किञ्चिच्चोद्यम्। ध्येया गुणा द्वेधा बोध्याः। अङ्गिनिष्ठत्वादङ्गनिष्ठत्वाच्चेति स्फुटीभावि। तत्रादौ गुणोपसंहारसिद्धये भगवतः सर्व्ववेदवेद्यत्वं निगद्यते। तथा हि निखिलानि साधनवाक्यान्यत्र विषयः। तत्र स्वशाखोक्तैः साधनैर्ब्रह्म वेद्यमुत सर्व्वशाखोक्तैस्तैरिति संशये प्रतिशाखमर्थभेदात् स्वशाखोक्तैस्तैरिति प्राप्ते—

भाव के कारण तादृश उपसंहार अयुक्त है। इसके उत्तर में कहते हैं—

गुणों का उपसंहार उपासना में परम उपादेय है। एक उपासना में पठित गुणों का अन्य उपासना में अपठित गुणों में चिन्तन तात्विक है किम्वा धारणामात्र है? इसका उत्तर यही है कि उभय संगत है। स्वनिष्ठ अधिकारी के पक्ष में सबका चिन्तवन उचित है,परन्तु एकान्ती-अधिकारी के लिये उस प्रकार का चिन्तवन उचित नहीं है। उनके पक्ष में इन सब गुणों का अस्तित्व बोध मात्र ही यथेष्ट है। आगे चतुर्थपाद में स्वनिष्ठादि तीन प्रकार के अधिकारी कहे जायेंगे। उनमें से स्वनिष्ठ सकल अधिकारी समस्त रूप में प्रीतिविशिष्ट हैं। वे सब सकल आविर्भाव में सकल गुणों का चिन्तवन करते हैं। एक व्यक्ति में अनेक विरुद्ध गुणों का चिन्तवन असमञ्जस है इस प्रकार नहीं कह सकते हो। समय भेद में वैदूर्य्यमणि की भाँति एक आविर्भाव में रूपों का भेद-ग्रहण संगत है। परिनिष्ठित तथा निरपेक्ष ये दोनों एकान्ती भक्त विषमप्रीति युक्त हैं वे सब निज अभीष्ट देवता में आविर्भूत-गुणों का दर्शन व चिन्तवन करते हैं। वे अपरापर आविर्भाव स्वरूप में अभिव्यक्त अपर गुण समूह मौजूद हैं, ऐसा जानकर भी उनका दर्शन वा चिन्तवन नहीं करते हैं। क्योंकि वह गुण-समूह उनका अनभीष्ट हैं यह परवर्त्ती अधिकरण में व्यक्त होगा। और भी "उपास्य देवता के जो समस्त गुण हैं वे सब अन्वेषणीय हैं" इस प्रकार अभिधान के हेतु मुमुक्षु व्यक्ति तादृश उपादेय ब्रह्म के समस्त गुणों का अभिधान करेंगे। "ब्रह्मानन्द अनुभूत होने पर कहीं भी भय की सम्भावना नहीं है" इस प्रकार गुणवेत्ता के अभयफल की उक्ति सगुण ब्रह्म में ही शास्त्र का तात्पर्य्य प्रकाश करती है। गुण का अनुवाद तथा व्यवहार प्राप्त भेद काल्पनिक है अर्थात् निर्गुणवादीगण ब्रह्म में आनुवादिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार के गुणों का काल्पनिक भेद स्वीकार करते हैं। फलतः जिसका एक भी भिन्न मानान्तर प्राप्त नहीं होता है उसका अनुवाद भी असम्भव है। व्यावहारिक पद तो शास्त्र में नहीं देखा जाता है। अतएव उक्त मत हेय है। तो भी "वाक्य रूपी धेनु की उपासना करें" इत्यादि देखकर जो सब उपासना के लिये गुणों की कल्पना को स्वीकार करते हैं, वे अभेदकल्पनावादी अति अज्ञ हैं। इस प्रकार कल्पना स्वीकार करने पर "आत्मा की ही उपासना करें" इत्यादि स्थल में भी गुणों की कल्पना करनी पड़ती है। "प्रधान के व्यतिहार में अर्थात् आनन्द के साथ जड़ के व्यतिहार में जीव के सदृश आनन्दादिक परमेश्वर में विशेष होते हैं"। इस सूत्र में जीव से अभिन्न आनन्दरूप ब्रह्म का उपास्य रूपत्व बोलने पर भी इस उपा-

सर्व्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥ १ ॥

इहान्तशब्दो निश्चयार्थः। "उभयोरपि दृष्टोऽन्तः" इत्यत्र तथा प्रत्ययात्। सर्व्ववेदनिर्णयोत्पाद्यज्ञानं ब्रह्म। कुतः? चोदनेति। आदिशब्दाद्युक्तिर्गृह्यते, "आत्मेत्येवोपासीत" इत्यादिविधेस्तद्युक्त्युक्तेश्च सर्व्वत्र साम्यात्। यथा माध्यन्दिनानां विधिरेष दृष्टस्तथा काण्वानां च ॥ १ ॥

ननु क्वचिद्विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति क्वचन "यः सर्व्वज्ञः सर्व्वविदि"त्येवं प्रतिशाखमर्थभेदान्नैकाधिकारिविषयाः सर्व्वशाखाः स्युरिति चेत्तत्राह—

भेदादिति चेन्नैकस्यामपि ॥ २ ॥

नैवम्। एकस्यामपि शाखायां "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", "आनन्दो ब्रह्म" इत्यादिदर्शनात्। तथा च सर्व्वत्र तैस्तैः शब्दैरेकमेव ब्रह्मस्वरूपमभिहितं, अतो न विरोधः ॥ २ ॥

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च ॥ ३ ॥

"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इति विधेस्तथात्वेन सर्व्वसाधारण्येन प्रवृत्तेः "वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना" इति स्मृतेश्च। समाचारे सर्व्वस्मिन् कर्म्मणि सत्यां शक्तौ सर्व्वेषामधिकाराच्च। स्मृतिश्चैवमाह। "सर्व्ववेदोक्तमार्गेण कर्म्म कुर्वीत नित्यशः। आनन्दो हि फलं यस्माच्छाखाभेदो ह्यशक्तिजः। सर्व्वकर्म्मकृती यस्मादशक्ताः सर्व्वजन्तवः। शाखाभेदं कर्म्मभेदं व्यासस्तस्मादचीक्लृपदिति"। तथा च सर्व्वशाखोक्तैः साधनैर्ब्रह्म वेद्यं सत्यां शक्ताविति स्थितम् ॥ ३ ॥

सना का तात्त्विकत्व स्वीकार किया गया है। वास्तविक काल्पनिक गुण की काल्पनिक उपासना नहीं कही गयी है। निर्गुणवाक्य प्राकृतगुणनिषेध पर है यह पहले कहा गया है। ये समस्त गुण गुणी से भिन्न नहीं हैं। अतएव सगुणविषय में कुछ बोलने का अवसर नहीं रहा है। चिन्तनीय गुण-समूह दो प्रकार के हैं-अंगिनिष्ठ और अंगनिष्ठ। यह सब आगे व्यक्त होगा। अब पहले गुणोपसंहार सिद्धि के लिये भगवान् का सर्ववेद-वेद्यत्व कहा-जाता है। यहाँ स्वशाखा में उक्त साधन के द्वारा ही ब्रह्म वेद्य है किम्वा समस्तशाखा में उक्त साधन के द्वारा वेद्य है इस प्रकार के संशय होने पर पूर्वपक्ष यह होता है कि प्रत्येक शाखा का ही अर्थभेद प्रयुक्त स्वशाखा में उक्त साधन के द्वारा ही वह वेद्य है। इसके उत्तर में कहते हैं—

यहाँ अन्तशब्द निश्चयार्थ है। "उभयोरपि दृष्टोऽन्त" यहाँ अन्त शब्द का इसी प्रकार अर्थ देखने में आता है। समस्त वेदनिर्णय उत्पाद्य ज्ञान ही ब्रह्म है। क्योंकि सकल विधिवाक्य सर्वत्र एकरूप हैं। आदिशब्द के द्वारा युक्ति का भी ग्रहण है। "आत्मा की ही उपासना करें" इत्यादि वेदवाक्य में जो विधि तथा युक्ति का प्रयोग किया गया है, सर्वत्र उनका साम्य देखने में आता है। जिस प्रकार माधन्दिनों की यह विधि है, उस प्रकार काण्वों का भी है। अतएव समस्त वेद में जो ज्ञान का निर्णय किया गया है वह ब्रह्म है-ऐसा स्थिर हुआ ॥ १ ॥

अच्छा? कहीं तो ब्रह्म को विज्ञान-आनन्दस्वरूप, कहीं भी सर्वज्ञ, सर्ववित् रूप से कहा गया है। इससे प्रतिशाखा का अर्थभेद देखा जाता है। अतएव समस्त शाखा एक ही अधिकारी के पक्ष में है-इस प्रकार नहीं बोला जावे—इस पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं।—

ऐसा नहीं है। क्योंकि एक ही शाखा में भी इस प्रकार अर्थभेद देखने में आता है। एक ही शाखा में कहीं तो सत्य-ज्ञान-अनन्त स्वरूप और कहीं आनन्दस्वरूप करके अभिहित होता है। एकशाखा निष्ठ सकल पुरुष जिस प्रकार उस शाखागत भेद की मीमांसा करते हैं उसी प्रकार सर्वशाखागत भेद की मीमांसा करनी होगी।

व्यतिरेके दृष्टान्तमाह— **सववच्च तन्नियमः ॥ ४ ॥**

सवाः सप्त सौर्य्यादयः शतौदनपर्य्यन्ता होमविशेषाः यथाथर्व्वणिकानामेव नियम्यन्ते तदुक्तैकाग्निसम्बन्धात्, एवं ब्रह्मोपासना सार्व्ववैद्यानामिति। सलिलवच्चेति पाठे तु यथा प्रतिबन्धाभावे सर्व्वाणि सलिलानि समुद्रं प्रयान्ति तथा सर्व्वाण्यपि वचांसि ब्रह्मावेदयन्तीति नियमः शक्त्यपेक्षया। "यथा नदीनां सलिलं शक्त्या सागरतां व्रजेत्। एवं सर्व्वाणि वाक्यानि पुंशक्त्या ब्रह्मवित्तये" इति स्मरणात् ॥ ४ ॥

वाचनिकमाह— **दर्शयति च ॥ ५ ॥**

"सर्व्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" इति श्रुतिः सर्व्ववेदवेद्यत्वं श्रीहरेर्दर्शयति। चशब्दः सत्यां शक्तावित्याह। तथा च शक्तैः सर्व्वशाखोक्तैः साधनैर्ब्रह्मोपास्यं, अशक्तैस्तु स्वशाखोक्तैस्तैरिति सर्व्ववेदवेद्यं तत्। यद्यपि "तत्तु समन्वयात्" इत्यनेनैतत् प्राग्वर्णितं तथाप्यत्र गुणोपसंहारोपयोगाय विधान्तरेण प्रपञ्चितम्। स्थैर्य्यफलकत्वाच्च पौनरुक्तं न दोषः ॥ ५ ॥

यदर्थं सर्व्ववेदवेद्यत्वं समर्थितं तमिदानीं गुणोपसंहारं दर्शयति। तथा हि—अथर्व्वशिरःसु क्वचिद्गोपरूपं

समस्त शाखा में एक ही ब्रह्म स्वरूप का अभिधान है। अतएव उसमें कोई विरोध नहीं है ॥ २ ॥

स्वाध्याय का उस प्रकार से तथा समाचार में अधिकार के कारण इस प्रकार मीमांसा करनी होगी। स्वाध्याय अर्थात् वेद का अध्ययन करें यह विधिसकल वेद के अध्ययन में प्रयुक्त है। यह सर्वसाधारण के लिये प्रवृत्ति है। स्मृति में भी कहा है—"द्विजाति रहस्य के साथ समस्त वेद का अध्ययन करें"। आचार सम्बन्ध में ही ऐसी विधि है। शक्ति अनुसार सकल कार्य्य में अधिकार देखा जाता है। स्मृति भी इस प्रकार कहती है—समस्त वेदोक्त मार्ग के द्वारा ही नित्य कर्म्म करें। समस्त कार्य्य का फल ही आनन्द है। तो भी जो शाखाभेद वा अधिकार-भेद देखा जाता है, वह सब अशक्ति पक्ष में जानना चाहिए। सकल शाखा तथा सकल कर्म्म में सबका अधिकार है। अशक्त के लिये शाखाभेद तथा क्रियाभेद की कल्पना है। इसलिये जिस की शक्ति है वह समस्त शाखा में उक्त साधन के द्वारा ही ब्रह्म को जानेगा—यह स्थिर हुआ है ॥ ३ ॥

व्यतिरेक में दृष्टान्त देते हैं।—सब की तरह यह नियम है ऐसा जानना चाहिए। सौर्य्यादि से लेकर शतौदन-पर्य्यन्त सातें होम विशेष सब हैं। अथर्व्व शाखा में उक्त एकाग्नि सम्बन्ध-प्रयुक्त आथर्व्वणिकों का जिस प्रकार नियम है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्म-उपासना में सकल वेद की विधि है। यदि "सरवत्" स्थान पर "सलिलवत्" इस प्रकार पाठ किया जाता है तब उसका अर्थ—जिस प्रकार प्रतिबन्ध-अभाव से समस्त सलिल ही समुद्र में गमन करता है, उस प्रकार समस्त वेदवाक्य ब्रह्मज्ञान में पर्य्यवसित होता है। यह नियम शक्ति की अपेक्षा करके होता है। स्मृति में भी कहा है—समस्त नदी का जल जिस प्रकार शक्ति के अनुसार सागर में मिलता है, ठीक उसी प्रकार निखिल वेदवाक्य ही पुमर्थ शक्ति के अनुसार ब्रह्म ज्ञान में पर्य्यवसान को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

उस विषय में वाचनिक प्रमाण दिखाते हैं। वेद में इस प्रकार के सकल वाक्य दृष्ट होते हैं। समस्त वेद जिनका पद व्यक्त करते हैं" इत्यादि श्रुति श्रीहरि का सर्ववेदवेद्यत्व प्रदर्शन करती है। च शब्द से शक्ति रहने पर ऐसा बोध होता है। अतएव शक्ति होने पर मनुष्य सर्वशाखोक्त साधन के द्वारा ब्रह्म की उपासना करेंगे। और जो अशक्त हैं वे केवल स्वशाखा उक्त साधन के द्वारा ही उनकी उपासना करेंगे। अतएव ब्रह्म सर्ववेदवेद्यत्व है—स्थिर हुआ। यद्यपि "तत्तु समन्वयात्" इस सूत्र में पहले यह विषय प्रतिपादन किया गया है तो भी यहाँ पर गुणोपसंहार के उपयोगार्थ यह प्रकारान्तर से फिर प्रपञ्चित हुआ है। इससे सिद्धान्त की स्थिरता हुई है। इसलिये इसमें पुनरुक्त दोष नहीं है ॥ ५ ॥

तमालश्यामलं पीतवासः कौस्तुभभूषणं पिच्छावतंसं वंशकमनीयं गोगोपगोपीविशिष्टं गोकुलाधिदैवतं ब्रह्मस्वरूपं पठ्यते। "तदु होवाच हैरण्यो गोपवेशमभ्राभं" इत्यादिना। क्वचिज्जानकीमण्डितवामभागं कोदण्डकरं दशास्यादिरक्षोघ्नमयोध्याधिपं तत् पठ्यते। "प्रकृत्या सहितः श्यामः पीतवासा जटाधरः। द्विभुजः कुण्डली रत्नमाली धीरो धनुर्द्धर" इत्यादिना। क्वचिदतिकरालवक्त्रं वित्रासितद्रुहिणादिकं नृसिंहवपुस्तत्पठ्यते। तन्मन्त्रस्थभीषणपद-व्याख्याने "अथ कस्मादुच्यते भीषणमिति। यस्माद्यस्य रूपं दृष्ट्वा सर्व्वे लोकाः सर्व्वे देवाः सर्व्वाणि भूतानि भीत्या पलायन्ते स्वयं यतः कुतश्चिन्न बिभेति। भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्य्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम" इत्यनेन। ऋचि तु त्रिविक्रमरूपं पठ्यते। "विष्णोर्नु कं वीर्य्याणि प्रावोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि। यो अस्कम्भयदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगाय" इति। अत्र द्रव्यदेवताभेदात् यागभेदवत् गुणभेदादुपासनानि भिन्नानीति प्रतीयते। इह संशयः। एकस्मिन्नुपासने श्रुता गुणाः परस्मिन्नुपसंहार्य्या न वेति। एकत्र पठितैर्गुणैर्विद्योपकारकत्वसम्भवादितरत्रोक्तास्ते नोपसंहार्य्याः फलानतिरेकाद्विरोधाच्चेति प्राप्ते—

उपसंहारोऽर्थभेदाद्विधिशेषवत् समाने च ॥ ६ ॥

चशब्दोऽवधारणे। उपासने समाने सति शुद्धब्रह्मैकविषयत्वेन तुल्यरूप एव सत्येकत्रोक्तानां गुणानां इतरत्रोपसंहारः कार्य्यः। कुतः? अर्थाभेदात्। अर्थस्य ब्रह्मलक्षणस्योपास्यस्य सर्व्वत्राभेदादैक्यात्। अत्र दृष्टान्तो विधीति। विधिशेषाणामग्निहोत्रादिधर्म्माणां क्वचिदुक्तानामन्यत्रानुक्तानां च तेषां यथा भवेदुपसंहारस्तदेवेदमग्निहोत्रादि कर्म्म

जिसके लिये ब्रह्म के सर्ववेदवेद्यत्व का समर्थन किया जाता है, अब उन गुणोपसंहार का प्रदर्शन दिखलाया जाता है। अथर्व्वशिरोभाग उपनिषद् में—गोपालरूप, तमालश्यामल, पीतवसन, कौस्तुभधारी, मयूरपुच्छावतंस, वंशीधारी, गोगोप-गोपी विशिष्ट, गोकुल-अधिदेव कहकर ब्रह्मस्वरूपका पाठ है। ब्रह्माजी ने भी कहा है—"ब्रह्म श्रीहरि गोपवेशधारी और नवीननीरदवर्ण हैं"। कहीं जानकी मण्डितवामभाग, कोदण्डकर, दशाननादिक राक्षसों का निहन्ता, अयोध्याधिपति कह कर पाठ किया गया है। तो कहीं पर प्रकृतिमण्डित, श्यामलकान्ति, पीतवसन, जटाधारी, द्विभुज, कुण्डलविभूषित, रत्नमालाधारी, धीर तथा धनुर्द्धर कह कर अभिहित हैं। किसी जगह वे फिर करालवदन, ब्रह्मादि देवों को भी भयद, नरसिंह रूप से कहे गये हैं। यहाँ नृसिंहमन्त्र में स्थित भीषणशब्द की व्याख्या इस प्रकार है—ब्रह्म श्रीहरि किस लिये भीषण करके कहे गये हैं? इसके उत्तर में कहते हैं।—

जिनका रूप देखकर समस्त लोक, सकल देवता, समस्त भूत भय से पलायन करते हैं, जो स्वयं किसी का भय नहीं करते हैं, जिनके भय से वायु बहता है, जिनके भय से भीत होकर सूर्य्य उदित होता है, जिनके भय से इन्द्र, चन्द्र तथा मृत्यु धावित होते हैं वे अवश्य भीषण होंगे। कहीं उनके त्रिविक्रम-वामन रूप का पाठ है। विष्णु के पराक्रम का कौन निर्देश कर सकता है? जो पृथिवी की रजःकणों की गणना में समर्थ हैं वे भी चरण के द्वारा स्वर्ग, मर्त्य, पाताल तथा अन्तरिक्ष के आक्रमणकारी उन विष्णु की इयत्ता नहीं कह सकते हैं। यहाँ द्रव्य तथा देवता भेद से याग-भेद की तरह गुण-भेद से उपासना का भेद प्रतीत होता है। यहाँ संशय यह है कि—एक ही उपासना में श्रुत गुण-समूह अपर उपासना में ग्रहणीय हैं किम्वा नहीं हैं? एकस्थान में पठित गुणों से विद्या का उपकार होता है। अतएव अन्यत्र उक्त गुणों का उपसंहार करना आवश्यक नहीं है। उससे फल का अनतिरेक तथा विरोध आ पड़ता है। इस प्रकार पूर्वपक्षीय सिद्धान्त के खण्डन के लिये परवर्त्ती सूत्र की अवतारणा करते हैं—

"च" शब्द अवधारण में जानना चाहिए। अर्थ के अभेद के बश उपासना समान होने पर विधिशेष की तरह उपसंहार कर्त्तव्य है। एकमात्र शुद्ध ब्रह्म विषयक होने के कारण उपासना अवश्य तुल्यरूप है। उपासना समान होने पर उपसंहार का कर्त्तव्य होता है। उपास्य ब्रह्म एक ही है। उपास्य एक ही होने के कारण उपासना समान हुई है।

सर्व्वत्रेति तद्वत् । अथर्व्वशिरसि "यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान्, ये मत्स्यकूर्म्माद्यवतारा भूर्भुवः स्वस्तस्मै नमो नमः" इति श्रीरामचन्द्रे मत्स्यादिरूपत्वमुपसंहृतम् । "एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति" इति श्रीकृष्णे रामादित्वम् । "नमस्ते रघुवर्य्याय रावणान्तकराय च" इत्याद्या स्मृतिरप्येवमाह । इत्थमन्यत्र चान्यत् ॥ ६ ॥

ननु "आत्मेत्येवोपासीत" इत्यादिवाक्यादन्यथात्वमुपसंहारस्य प्रतीतमिति चेत्तत्राह—

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात ॥ ७ ॥

अन्यथात्वं गुणोपसंहाराभावः स चात्मेत्येवेति वाक्यात् प्रतीयते इति चेन्न । कुतः ? अविशेषात् । एते गुणा नोपास्या इति विशेषवचनाभावात् । एवं सत्येवकारोऽप्यनात्मत्वमेव निवर्त्तयति न तु गुणान्तराणि । न हि राजैव दृष्ट इत्युक्तौ तदीयं छत्रादि व्यावर्त्त्यते । तस्माद् यथाशक्तिगुणाश्चिन्त्या इति सिद्धस्तदुपसंहारः । इदमुक्तं भवति । परस्मिन् ब्रह्मणि वैदूर्य्यवदनादिसिद्धानि बहूनि रूपाणि सन्ति । तत्तद्रूपविशिष्टं तत्पूर्णं शुद्धं च भवति । क्वचित् कृत्स्नान् गुणान् प्रकटयति क्वचित्त्वकृत्स्नानिति तत्त्ववित् तत्सर्व्वरूपे तस्मिन् यत्र क्वापि पठितान् गुणान् विचिन्तयेदिति स्वनिष्ठस्य तदुपसंहारो निरूपितः ॥ ७ ॥

अथैकान्तिनोऽधीतबहुशाखा अपि परिशीलितस्वेष्टोपनिषदस्तद्व्यक्तानेव गुणान् ध्यायन्ति न तु ज्ञातानप्यन्यानिति पूर्व्वापवादेनारभ्यते । इह श्रीगोपालादितापन्यो विषयः । तत्रैवं सन्देहः । एकान्त्युपासने सर्व्वगुणोपसंहारः स्यान्न वेति । सम्भवति सामर्थ्ये श्लाघ्यत्वात् स्यादेवेति प्राप्ते—

अतएव गुणों का उपसंहार होना कोई दोष नहींहै । विधिशेष ही उसका दृष्टान्त है । जिस प्रकार सर्व्ववेदोक्त विधिशेष अग्निहोत्रादि धर्म्मों का कहीं पर उल्लेख तथा अन्यत्र कहीं पर अनुल्लेख होने पर भी उनका उपसंहार कर्त्तव्य होता है, ठीक उसी प्रकार अनुल्लेखित गुण-समूह ही उपसंहार्य्य होते हैं । अथर्वोपनिषद् में–"जो रामचन्द्र वे ही भगवान् वे ही मत्स्य-कूर्म्मादिक अवतार हैं उनको नमस्कार" इत्यादि स्थल में श्रीरामचन्द्र में मत्स्य-कूर्म्मादिकों का उपसंहार हो रहा है । "जो एक होकर भी बहुधा प्रकाशित होते हैं" यहाँ श्रीकृष्ण में रामादिकों का उपसंहार है । "रघुकुल शिरोमणि रामचन्द्र को नमस्कार" इत्यादि स्मृति में इस प्रकार कहा गया है । इसी प्रकार से अन्यत्र भी जानना चाहिए ॥ ६ ॥

अच्छा ? आत्मा की ही उपासना करें" इत्यादि वाक्य से उपसंहार की अन्यथा प्रतीति होती है, ऐसा कहने पर उसका उत्तर–"आत्मा की उपासना करें" इत्यादि वाक्य से उपसंहार की अन्य प्रकार से प्रतीति नहीं होती है। क्योंकि उस विषय में कोई विशेष वचन नहीं दीखता है । अन्यथात्व शब्द का अर्थ गुणोपसंहार का अभाव है। विशेष बोलने से "गुण उपास्य" इस प्रकार वाक्य है । "ये सब गुण उपास्य नहीं हैं" इस प्रकार के विशेष वचन का अभाव है । "आत्मा की उपासना करें" इस वाक्य से गुण के उपसंहार का निषेध नहीं हो रहा है । क्योंकि गुणोपसंहार का निषेध सूचक कोई वाक्य वेद में नहीं है । इसलिये "आत्मेत्येव" यहाँ एव शब्द अनात्मवस्तु का निषेध (निवर्त्तन) करता है, गुणान्तर का नहीं करता है ।"राजा ही दृष्ट हो रहा है" ऐसा बोलने पर राज सम्बन्धी छत्रादि दृष्ट नहीं होते हैं–यह नहीं है। अतएव यथा शक्ति गुणों की चिन्ता करें–यही स्थिर हुआ । यहाँ पर कहा जाता है–परब्रह्म में वैदूर्य्यमणि की तरह अनादिसिद्ध अनन्तरूप विद्यमान रहते हैं । भगवान् इन सकलगुणों के विशिष्ट होने पर भी स्वयं पूर्ण-शुद्धस्वरूप हैं । वे कहीं पर समस्त गुणों का प्रकाश करते हैं और कहीं असमस्त गुणों का प्रकाश करते हैं । इसलिये तत्वज्ञव्यक्ति सर्व्वरूप उन उपास्य भगवान् में समस्त शाखोक्त सकल गुणों का ही चिन्तवन करेंगे । यह स्वनिष्ठ का गुणोपसंहार निरूपित हुआ है ॥ ७ ॥

अब एकान्ती बहु शाखा अध्ययन करके भी निज इष्ट सकल-उपनिषदों के अनुशीलन पूर्व्वक उन-उन व्यक्त

न वा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वादिवत् ॥ ८ ॥

वेति निश्चये । ये यस्मिन्रूपे एकान्तिनस्ते तदन्यरूपव्यक्तान् गुणान्नोपसंहरन्ति । यथा कृष्णादिरूपैकान्तिनो नृसिंहादिनिष्ठान् सटादंष्ट्राभीषणत्वादीन् । यथा च नृसिंहाद्येकान्तिनः कृष्णादिनिष्ठान् वंशवेत्रचन्द्रकादीनिति । कुतः ? प्रेति । प्रकरणं प्रकृष्टक्रिया । तदेकतात्पर्य्या भक्तिरिति यावत् । तस्या भेदाद्विशेषादित्यर्थः । स्वनिष्ठभक्तेरेकान्तिभक्तिर्गाढावेशाद्वरीयसी । दृष्टान्तमाह पर इति । यथाऽदित्यान्तर्वर्त्ति हिरण्मयपुरुषैकान्तिनः स्वोपास्ये तस्मिन् परोवरीयस्त्वादीन् गुणानुद्गीथनिष्ठानपि नोपसंहरन्ति तद्वत् । परस्मात्परश्च वरश्च वरीयानिति परोवरीयानुद्गीथस्तस्य भावस्तत्त्वं तदादिवदित्यर्थः ॥ ८ ॥

ननूभयेषां ब्रह्मोपासकादिसंज्ञा समैवात् एकान्तिभिरपि स्वनिष्ठैरिव सर्व्वे गुणाः सर्व्वत्र चिन्त्याः स्युः यथा विप्रसंज्ञानां गायत्र्युपासना निर्व्विशेषा दृष्टेति चेत्तत्राह—

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥ ९ ॥

शङ्कानिवारकस्तुशब्दः । संज्ञैक्यात सर्व्वगुणोपसंहारो युक्त इत्यत्र यदुत्तरं तत्तु न वा प्रकरणभेदादित्यनेनैवोक्तम् । सामान्यसंज्ञापेक्षया विशेषभूतैकान्तितायाः श्रैष्ठ्यान्न तैस्ते सर्व्वे विचिन्त्या इत्यर्थः । इतरथा श्रैष्ठ्यक्षतिः । रूपविशेषाभिशक्तचित्तत्वेन ह्येकान्तिनः साधारणेभ्यः स्वनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठा भवन्ति । न च निखिलगुणानुपसंहर्त्तुं

गुणों का ध्यान करते हैं । वे अन्य गुणों का ज्ञान होने पर भी उन का चिन्तवन नहीं करते हैं इस प्रकार के सिद्धान्त का स्थापन करने के लिये पूर्व्वपक्ष के साथ अन्य प्रकरण का आरम्भ करते हैं । गोपालतापिनी प्रभृति श्रुति-समूह इस प्रकार विचार का विषय है । यहाँ संशय होता है कि एकान्ती-उपासना में सकल गुणों का उपसंहार है किम्वा नहीं है ? सामर्थ्य होने पर प्रशंसनीय होने के कारण उपसंहार कर्त्तव्य है–इस प्रकार पूर्व्वपक्षीय सिद्धान्त के निराकरणार्थ कहते हैं ।—

प्रकरण का भेद प्रयुक्त "परोवरीयस्त्व" प्रभृति की भाँति एकान्त भक्ति का सर्व्वगुणोपसंहार कर्त्तव्य नहीं है। "वा" शब्द निश्चय में है । जो, जिस रूप में एकान्ती हैं, वे उससे अन्य रूप में व्यक्त गुणों का उपसंहार नहीं करते हैं। श्रीकृष्णादि कमनीय रूप का एकान्तीभक्त श्रीनृसिंहादिनिष्ठ सटादंष्ट्रादि भीषण भाव का तथा श्रीनृसिंहनिष्ठ भक्त श्रीकृष्णादिनिष्ठ वंशी-वेत्र-मयूरपुच्छादि मधुर भाव का चिन्तवन नहीं करते हैं । प्रकरण-भेद से ऐसा जानना चाहिए । प्रकरण का अर्थ प्रकृष्टक्रिया अर्थात् भक्ति का भेद है । वह एकमात्र तात्पर्य्य है और यह तात्पर्य्यार्थ है। तात्पर्य्य के विशेष से–यह निर्गिलतार्थ है । स्वनिष्ठभक्ति से एकान्तभक्ति गाढ़ आवेशता के कारण श्रेष्ठ है । आदित्यान्तर्व्वर्त्ती हिरण्मय पुरुष में एकान्त भक्त जिस प्रकार निज उपास्य पुरुष में परत्वादि उद्गीथादिनिष्ठ सकल गुणों का उपसंहार नहीं करते हैं, ठीक उसी प्रकार एकान्तीभक्त सकल अन्य गुणों का उपसंहार नहीं करते हैं। पर से पर वर से वरीयान् इति परोवरीयान् उद्गीथ उसका भाव अर्थात् तत्व, तदादिवत् है यह अर्थ होता है ८ ॥

अच्छा ? स्वनिष्ठ और एकान्ती दोनों ही ब्रह्मोपासक हैं । अतएव स्वनिष्ठ भक्तों की भाँति एकान्तीभक्तों के द्वारा सर्व्वत्र सकल गुण ही चिन्तनीय हैं । जिस प्रकार विप्रनाम धारी सबका ही गायत्री की उपासना निर्विशेष है, उसी प्रकार समस्त भक्तों का निर्विशेष होवे–इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के उत्तर देते हैं ।—

शङ्का निवारण के लिये "तु" शब्द है । संज्ञा के ऐक्यवश सबका ही समस्त गुणों का उपसंहार युक्त होवे–इस प्रकार की आपत्ति के पश्चात् पूर्वसूत्र ही दिया गया है । सामान्यसंज्ञा की अपेक्षा से विशेषभूत एकान्तभक्त के श्रेष्ठत्व के कारण वे सकल गुणों का चिन्तवन करेंगे–इस प्रकार का सिद्धान्त नहीं हो सकता है । ऐसा कहने

स्वनिष्ठोऽपि क्षमः । "विष्णोर्नु कं वीर्य्याणि प्रावोचमि"त्यादिश्रुतेः । "नान्तं गुणानामगुणस्य जग्मुर्योगेश्वरा ये भवपाद्ममुख्या" इत्यादिस्मरणाच्च । संज्ञैक्यस्य हेतोरन्वयव्यभिचारं दर्शयति अस्तीति । प्रमितभेदेष्वपि परोवरीयो हिरण्मयाद्युपासनेषूद्गीथोपासनमिति संज्ञैक्यमस्तीत्यर्थः । तथा च स्वनिष्ठाः सर्व्वान् गुणानुपसंहृत्योपासीरन्नेकान्तिनस्तु गुणविशेषानित्यधिकरणाभ्यां निर्णीतम् ।। ६ ।।

अथ बाल्यादीन् गुणान् भगवत्युपसंहर्त्तुमारभते । तास्वेव "कृष्णाय देवकीनन्दनाय ॐ तत्सत् भूर्भुवःस्वस्तस्मै वै नमो नम" इति । कृष्णशब्दस्तु तमालनीलत्विषि यशोदास्तनंधये रूढिरिति नामकौमुदीकाराः । "ॐ चिन्मयेऽस्मिन् महाविष्णौ जाते दाशरथे हरौ । रघोः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थित" इति चैवमादिषु बाल्यादयो ब्रह्मधर्म्मा श्रूयन्ते । स्मर्य्यन्ते च तथा स्मृतिषु । ते किं चिन्त्या न वेति वीक्षायां तैर्विग्रहे न्यूनाधिक्यभावापत्तेरैकरस्यश्रुतिव्याकोपान्न चिन्त्या इति प्राप्ते—

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ।। १० ।।

बाल्यादिधर्म्मिणस्तस्य भगवतो व्याप्तेर्विभुत्वाद्बाल्यादिना तद्भावाभावात् समञ्जसं तत्र तदित्यर्थः । प्रपञ्चितं चैतदनेन सर्व्वगतत्वमित्यादिना । न चैवं जन्माख्यो विकारः । "अजायमानो बहुधा विजायत" इति पुरुषसूक्तात् । जनिशून्यस्यैवाभिव्यक्तिमात्रं जन्मेति तदर्थः । चकारात् "रसो वै सः" इति रसात्मकत्वश्रवणात् । स्वोपासकानां यादृशेन रूपेण लीलारसानुभवस्तादृशं रूपमचिन्त्यया शक्त्या प्रकटयतीति समुच्चितम् । तदुपासकाश्च नित्यमुक्तादयोऽनन्ताः । "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय" इत्यादि श्रुतिसिद्धा बोध्याः । एक एव नानावयांसि तत्तदुपासकेषु युगपद्व्यनक्ति । सुरमनुष्यासुरेषु दशाब्दतैव नानार्थानित्यन्ये । तथा च बाल्यादिमतोऽपि विभुत्वेनैकरस्याच्चिन्त्यास्तत्र बाल्यादय इति ।। १० ।।

ननु बाल्यादिकर्म्मणामपि भगवद्धर्म्मत्वान्नित्यत्वं तेषु तत्तत्परिकरयोगेन च भाव्यमिति वाच्यम् । तत्रैकस्य तत्परिकरस्य पूर्व्वोत्तरभावेनानेककर्म्मसम्बन्धोऽभिमतः । पूर्व्वस्य कर्म्मणो नित्यत्वे तत्सम्बन्धिनः परिकरस्यापि तत्र नित्यसम्बन्धो वाच्यः । तमन्तरा तत्स्वरूपासिद्धेः । एवं सत्युत्तरकर्म्मसम्बन्धस्तस्य दुरुपपादः । उत्तरस्मिन्सम्बन्धे स्वीकृते तु पूर्व्वस्य नित्यत्वं व्याहन्येत । नित्यत्वे चोत्तरकर्म्मसम्बन्धिनस्तस्यान्यत्वं भवेत् । तदिदमनुभवेन शास्त्रेण च विरुध्यते । तथा कर्म्म खलु पूर्व्वापरिभूतांशं प्रत्यंशमप्यारम्भसमाप्तिभ्यां सिद्धयद्वीक्ष्यते । ते विना न तत्स्वरूपं सिद्धयेत् । न च तेन क्रमेण रसानुभवः । ततः कथं तन्नित्यत्वम् । चित्रलिखितवत् सदैकरस्ये हि नित्यता प्रतीता । किञ्च प्रकाशभेदैरारम्भे प्रत्येकं बहुत्वात् स्यादविच्छेदः । पृथगारम्भादन्यत्वं तु दुर्निवारम् । ततश्च तदेवेदमिति प्रतीत्यनुदयात् कथं तन्नित्यत्वं प्रत्येतव्यं । तस्मात्कर्म्मनित्यत्वमसमाधेयमित्येवं प्राप्ते तन्त्रेणोत्तरमाह—

सर्व्वाभेदादन्यत्रेमे ।। ११ ।।

ये हरितत्परिकरास्तत्कर्म्मांशा वा पूर्व्वस्मिन्काले कर्म्मणि वा सन्ति त एवेमेऽन्यत्रोत्तरस्मिन् कर्म्मणि काले वा स्युरिति मन्तव्यम् । कुतः ? सर्व्वाभेदात् । सर्व्वेषां पूर्व्वोत्तरवर्त्तिनां हरितत्परिकरप्रकाशानां तत्कर्म्मांशानां वा भेदा-

---

पर एकान्तियों के श्रेष्ठत्व की हानि होती है । कोई विशेषरूप में जिनका चित्त एकान्त आसक्त है वे एकान्तीभक्त हैं । इसलिये ही वे सब स्वनिष्ठभक्तों से श्रेष्ठ हैं । स्वनिष्ठभक्त भगवान् के निखिलगुणों के उपसंहार में समर्थ नहीं हैं–ऐसा श्रुति में कहा है । "विष्णु के समस्त प्रभाव वर्णन करने में कोई समर्थ नहीं है । ब्रह्मादि योगेश्वरगण भी अगुण पुरुष विष्णु का अन्त नहीं पाते हैं" इत्यादि स्मृति का वचन है । संज्ञा के ऐक्य के कारण अस्ति शब्द से अन्वय-व्यभिचार दिखाते हैं । प्रमिति का भेद रहने पर भी "परोवरीय"तथा"हिरण्मयादि" उभय प्रकार की उपासना को ही उद्गीथ उपासना कहते हैं । उभय उपासना में उद्गीथ रूप संज्ञा का ऐक्य रहने पर भी जिस प्रकार क्रिया भेद को अवश्य स्वीकार करना होता है, ठीक उसी प्रकार स्वनिष्ठभक्त-समूह समस्तगुणों का उपसंहार कर उपासना करेंगे तथा एकान्तीभक्तगण विशेष गुणों के ही उपसंहार से उपासना करेंगे–यह अवश्य स्वीकार्य्य है । इसलिये इस अधिकरण में यह निर्णीत हुआ है ।। ६ ।।

अब भगवान् में बाल्यादि गुणों का उपसंहार कहते हैं । गोपालतापिनी में–"कृष्णाय देवकीनन्दनाय ओं तत्सत् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः" इति । तमालश्यामल, यशोदास्तनन्धय में कृष्ण शब्द की रूढ़वृत्ति है । इस प्रकार नामकौमुदीकार कहते हैं । "ओं चिन्मयेऽस्मिन् महाविष्णौ जाते दाशरथौ हरौ" इत्यादि राममन्त्र से ब्रह्म में नित्य बाल्यादि धर्म्म समूह सुनने में आते हैं । स्मृतियों में भी इस प्रकार देखा जाता है । अब इन सकल वयः सम्बन्धि गुणों का चिन्तन उचित है किम्वा नहीं है–इस प्रकार के संशय उठने पर इन सब धर्म्मों के चिन्तन से विग्रह में न्यून-आधिक्य भावापत्ति तथा ऐकरस्य श्रुति का बाध होने के कारण चिन्तन नहीं हो–इस प्रकार के पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं ।—

ब्रह्म बाल्यादि धर्म्म विशिष्ट होनेपर भी व्यापकहै अतएव उसके बाल्यादिभावका न्यूनाधिक्य भावसे अभाव होने के कारण समस्त सामञ्जस्य हो रहाहै ।"सर्वगतत्वम्"इत्यादि वाक्यके द्वारा पहले विचार होगया है । इससे जन्मादि विकार की आपत्ति नहीं हो सकती है । "परमेश्वर अजायमान होकर भी बहुधा जन्म ग्रहण करते हैं" इस प्रकार पुरुषसूक्त-मन्त्र में पाठ है । उसके अर्थ में-अभिव्यक्ति मात्र ही उनका जन्म है वास्तविक उनका जन्म नहीं है । चकार से "रसो वै स" इससे उनके रसात्मकत्व का श्रवण है । निज उपासकों को जिस प्रकार लीलारस का अनुभव होता है, परमेश्वर निज अचिन्त्यशक्ति के द्वारा उस प्रकार के रूप का प्राकट्य करते हैं–ऐसा बोध हो रहा है । परमेश्वर के नित्यमुक्तादिक उपासक सकल अनन्त हैं । "वह विष्णु का परमपद है जिसे ज्ञानिगण दिव्यदृष्टि से देखते हैं" इत्यादि श्रुति से सिद्ध है । परमेश्वर एक होने पर भी उन उन उपासकों के लिये युगपत् नाना वयस का प्राकट्य करते हैं । अपर व्यक्ति कहते हैं–सुर-मनुष्य तथा असुर में दशाब्द की तरह नाना अर्थ का प्रकाश करते हैं । बृहदारण्यक में प्रजापति ने सुर-मनुष्य-असुरों को दशाब्द करके कहा है । अतएव परमेश्वर बाल्यादिविशिष्ट होने से विभुत्व के द्वारा एकरस होने के कारण उनमें बाल्यादिगुण-समूह चिन्तनीय हो रहे हैं ।। १० ।।

अच्छा ? बाल्यादि कर्म्मों का नित्यत्व होने के कारण उन उन परिकरों में वह चिन्तनीय हो रहा है । यहाँ एक ही परिकर का पूर्व उत्तर भाव से अनेक कर्म्म का सम्वन्ध अभिमत है । पूर्व्व कर्म्म के नित्य होने के कारण तत्सम्बन्धी परिकर का उसमें नित्य सम्बन्ध बोलना चाहिए । नहीं तो उस स्वरूप की असिद्धि हो सकती है । इस प्रकार होने पर पूर्व्व परिकर का उत्तर कर्म्म में सम्वन्ध होना कठिन हो जाता है । और यह भी है कि उत्तर कर्म्म में पूर्व्वपरिकर का सम्बन्ध स्वीकार करने पर पूर्व्व कर्म्म के नित्यत्व की हानि हो सकती है । पूर्व्वकर्म्म का नित्यत्व स्वीकार करने पर उत्तर कर्म्म सम्बन्धी परिकर का अनित्य सिद्ध होता है । इस प्रकार शास्त्र तथा अनुभव दोनों विरुद्ध हो रहे हैं । कर्म्म के दो अंश हैं—पूर्व्व तथा अपर । वे प्रत्येक आरम्भ तथा समाप्ति से सिद्ध होते हैं । आरम्भ और परिसमाप्ति के विना कर्म्म सिद्ध नही होता है । उक्त क्रम से रसानुभव नहीं होता है । तब वह किस प्रकार नित्य हो सकता है । चित्रलिखित की भाँति सर्वदा एकरस वस्तु में नित्यत्व की प्रतीति होती है । प्रकाशभेद स्वीकार करने पर भी प्रत्येक प्रकाश बहु होने के कारण प्रत्येक आरम्भ में अविच्छेद देखा जाता है । जिसका पृथक आरम्भ होता है, उसका अन्यत्व अर्थात् भेद दुर्निवार है । अनन्तर वह ही यह है–इस प्रकार प्रतीति नहीं होने के कारण उस का नित्यत्व किस प्रकार हो सकता है ? अतएव कर्म्म के नित्यत्व का समाधान असम्भव होता है—इस प्रकार पूर्व्वपक्ष प्राप्त होने पर उसके उत्तर में कहते हैं—

भावादित्यर्थः। एकस्य हरेर्बहुत्वं "एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति" "एकानेकस्वरूपाय" इति श्रुतिस्मृतिसिद्धम्। एकस्य तत्परिकरस्य च तन्मन्तव्यम्। भूमविद्यायां मुक्तस्य तदुक्तेः। महिष्युद्वाहादौ तथा स्मरणात् च। तुल्यात्मनां कर्म्मणां कालभेदेनोदितानामप्यैक्यम्। "द्विः पाकोऽनेन कृतो न तु द्विधा पाकः कृत" इति विद्वत्प्रतीतेः। "द्विर्गोशब्दोऽयमुच्चरितो न तु द्वौ गोशब्दौ" इति शब्दैक्यवत्। इत्थं च श्रीहरेस्तज्जनानां तद्धाम्नां च प्रकाशबाहुल्यात्तद्विशेषैः कर्म्मणामारम्भात् समाप्तेश्च पृथगारब्धानां तेषामैक्याच्च स्वरूपनित्यत्वे सिद्धे। तत्क्रमानुभवहेतुको विचित्ररसोदयश्चैतेनैव व्याख्यातः। न चैतदमूलं "यद्गतं भवच्च भविष्यच्च" इति बृहदारण्यकात् "एको देवो नित्यलीलानुरक्तः" इत्यथर्व्ववाक्यात्, "जन्म कर्म्म च मे दिव्यं" इत्यादिभगवद्वाक्याच्च। ईदृक्प्रत्ययः खलु तत्कृपयैव। "यावानहं यथा भावो यद्रूपगुणकर्म्मकः। तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्" इति तदुक्तेः। तस्मान्नित्यं तत्कर्म्मेति। किञ्च स्वरूपेण चिच्छक्त्या च कृतं कर्म्म नित्यं, तेन प्रकृतिकालाभ्यां च कृतं त्वनित्यम्। तच्च स्वर्गादिकमेवान्यथा लयोक्तिव्याकोपः ॥ ११ ॥

अथेदं विचारयति। वेदान्तेषु पूर्णानन्दादयो ब्रह्मधर्म्माः श्रूयन्ते। ते सर्व्वेषु तदुपासनेषूपसंहार्य्या न वेति वीक्षायामनारभ्याधीतानामुपसंहारे प्रमाणाभावादारभ्याधीतानामेवोपसंहारः। सर्व्वगुणोपसंहारस्यानियमाच्च। तस्मान्नोपसंहर्य्योस्त इति प्राप्ते—

आनन्दादयः प्रधानस्य ॥ १२ ॥

प्रधानस्य धर्मिणः परमात्मनो ये पूर्णानन्दबोधस्वाश्रितवात्सल्यादयो धर्म्माः श्रूयन्ते ते सर्व्वत्रोपसंहार्य्यास्तत्तृष्णाहेतुत्वात् ॥ १२ ॥

जो हरि, उनके जो परिकर तथा उनका जो कर्म्मांश समूह पूर्व्वकर्म्म वा पूर्व्वकाल में हैं, वे ही ये अन्यत्र उत्तर कर्म्म वा उत्तरकाल में रहते हैं–ऐसा जानना जाहिए। क्योंकि उनका भेद नहीं है। समस्त पूर्व्व-उत्तरवर्त्ती हरि, तथा उनके परिकर प्रकाश अथवा उनके कर्म्मांश का भेदाभाव है। "जो एक होकर बहुधा प्रकाशित होते हैं""एक होकर भी अनेक स्वरूप" इत्यादि श्रुति-स्मृति से एक ही हरि का बहुत्व सिद्ध होता है। उसी प्रकार परिकरों को भी जानना चाहिए। भूमविद्या में मुक्तजीव-सम्बन्ध में बहुत्व कहा गया है। द्वारकालीला में महिषिविवाहादिक के समय एक ही तत्व का युगपत् बहु प्रकाश होना दिखलाया गया है। एक प्रकार के कर्म्म काल-भेद से बहु उक्त होने पर भी उनका ऐक्य स्वीकार किया जाता है। "इस व्यक्ति ने दो पाक किये"–ऐसा बोलने पर एक ही पाक दो प्रकार से बोधित होता है। उससे पृथक् पृथक् दो पाक का बोध नहीं होता है। दो गोशब्द उच्चारित होने पर गोशब्द का दो बार उच्चारण का बोध होता है किन्तु दो गौ का बोध नहीं है। इस प्रकार श्रीहरि, उनके परिकर तथा धामों का प्रकाश बाहुल्य-विशेष के द्वारा कर्म्म-समूह का आरम्भ तथा समाप्ति पृथक् आरब्ध कर्म्मसमूह के ऐक्य के हेतु स्वरूप सिद्ध और नित्यत्व सिद्ध है। इसलिये ही उस क्रमानुभव के हेतु विचित्ररसोदय की व्याख्या हुई है। यह अमूलक नहीं है।"यद्गतं भवच्च भविष्यच्च"प्रभृति बृहदारण्यकश्रुति तथा"जन्म कर्म्म च मे दिव्यं"प्रभृति गीता का बचन ही उसका प्रमाण है। "एको देवो नित्यलीलानुरक्तः" इत्यादि अथर्व्ववेद का वाक्य भी है। इस प्रकार की प्रतीति उनकी कृपा से ही होती है। मैं जैसा हूँ, मेरा जिस प्रकार भाव है, मैं जैसा रूप-गुण-कर्म्म का हूँ उनका यथार्थ तत्वज्ञान का लाभ मेरे अनुग्रह से होता है–इस प्रकार भगवान् ने भी कहा है। अतएव भगवान् का कर्म्म नित्य है। भगवान् निजरूप चिच्छक्ति के द्वारा जो कर्म्म करते हैं वह नित्य है तथा प्रकृति और-काल से जो किया जाता है वह अनित्य है। स्वर्गादि अनित्य कर्म्म का दृष्टान्त है। स्वर्गादि को अनित्य नहीं कहते पर प्रलयोक्ति व्यर्थ हो जाती है॥ ११॥

आनन्दमयस्य श्रीविष्णोः प्रियशिरस्त्वादयो धर्म्माः श्रुताः।"तस्य प्रियमेव शिरः" इत्यादिना। तेऽपि सर्व्वत्रोपसंहार्य्या न वेति विषये आनन्दादीनां सर्व्वत्रोपसंहार्य्यत्वाभिधानात्तेषामप्यानन्दत्वाविशेषात् स्यात्सर्व्वत्रोपसंहार इति प्राप्ते—

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥ १३ ॥

प्रियशिरस्त्वादीनां धर्म्माणामप्राप्तिः सर्व्वत्रोपसंहारो न स्यात्। आनन्दमयस्य विष्णोः पुरुषविधस्य पक्षिरूपत्वाभावात्। किञ्च तस्मिन् वाक्ये प्रमोदमोदशब्दाभ्यामानन्दगतावुपचयापचयौ वृद्धिह्रासौ प्रतीतौ। तौ च भेदे सति सम्भबेताम्। न चैवमस्ति। स्वगतभेदस्यापि प्रत्याख्यानात्। तस्मान्नोपसंहार्य्यास्ते ॥ १३ ॥

इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥ १४ ॥

तस्माद्वा एतस्मादित्यादिना सोऽकामयतेत्यादिना भीषास्मादित्यादिना च तस्माद्वाक्यात् प्रागूर्द्ध्वं च ये प्रियशिरस्त्वादिभ्य इतरे विभुत्वचित्सुखत्वजगत्कारणत्वपारमैश्वर्य्यादयस्तस्यानन्दमयस्य ब्रह्मणो धर्म्माः पठ्यन्ते ते तूपसंहार्य्या एव। कुतः ? अर्थेति। फलैक्यादित्यर्थः। वेदान्तोदितैर्वीर्यसम्भूतिसर्व्वसौहृदशरणत्वमोचकत्वादिभिश्चिन्तितैर्गुणैर्यो मोक्षलक्षणोऽर्थस्तस्यैव एतैरपि तथाभूतैः सम्भवादित्यर्थः ॥ १४ ॥

ननु आनन्दमयस्य ब्रह्मणः पक्षिभावेन रूपकं किमर्थम्। अन्यत्र हि-आत्मानं रथिनं विद्धीत्यादिभिरुपासकस्य तच्छरीरादेश्च रथिरथादिभावेन रूपकमुपास्त्युपकरणशरीरेन्द्रियादिवशीकारार्थं दृष्टम्। न चात्र तादृशं किञ्चित् फलं दृश्यते। न हि फलमनुद्दिश्य तथात्वेन रूपके वेदस्य प्रवृत्तिर्युक्ता वक्तुमित्याशङ्क्य तस्य फलमाह—

अव इसका विचार किया जाता है। वेदान्तशास्त्र में पूर्णानन्दादिक सकल ब्रह्मधर्म्म श्रवण करने में आते हैं। वे सब धर्म्म उनकी उपासना में उपसंहार्य्य हैं किम्वा नहीं हैं–इस प्रकार के संशय में–आरम्भ नहीं करते हुए अधीतगुणों का उपसंहार कर्त्तव्य है–ऐसा प्रमाण प्राप्त नहीं है। आरब्ध का ही उपसंहार होता है। विशेष करके समस्त गुणों के उपसंहार का कोई नियम नहीं है। अतएव इन सकल धर्म्मों का उपसंहार अकर्त्तव्य है–इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं।—

धर्म्मिभूत सर्व्वप्रधान परमात्मा के पूर्णानन्द, पूर्णज्ञानबोधक स्वाश्रित भक्तवात्सल्यादिक धर्म्म-समूह का उपसंहार कर्त्तव्य है। क्योंकि उससे ब्रह्मतृष्णा की वृद्धि होती है॥ १२॥

"शिर उनका प्रिय" इत्यादि वेदवाक्य से आनन्दमय विष्णु के प्रियशिरस्त्वादि धर्म्म सुनने में आते हैं। इन सवका सर्वत्र उपसंहार कर्त्तव्य है किम्वा नहीं है–इस प्रकार के संशय में–वे सव धर्म्म आनन्दत्वादि से पृथक् नहीं हैं। जिससे आनन्दादि का सर्वत्र उपसंहार है। अतएव उनका भी उपसंहार कर्त्तव्य है इस तरह के पूर्वपक्ष का–उत्तर–"प्रियशिरस्त्व" प्रभृति सकल धर्म्म का उपसंहार सर्वत्र नहीं करना होगा। आनन्दमय विष्णु का पुरुषाकारत्व प्रयुक्त पक्षित्व वास्तविक नहीं है। विशेष करके उक्त वाक्य में मोद और प्रमोद इन दोनों शब्दों के द्वारा क्रम से आनन्द के उपचय और अपचय, वृद्धि और ह्रास रूप से प्रतीयमान होते हैं। भेद रहने पर ही इस प्रकार सम्भव है। किन्तु ब्रह्म का जब स्वगत भेद पर्य्यन्त का भी प्रत्याख्यान हो रहा है तब उन सकल अनित्य काल्पनिक रूप-गुणों का उपसंहार नहीं करना है॥ १३॥

"तस्माद्वा एतस्मात्""सोऽकामयत""भीषास्मात्" प्रभृति वाक्यों के द्वारा वेद में"प्रियशिरस्त्व"प्रभृति के व्याख्यान के पश्चात् विभुत्व,चित्सुखत्व,जगत्कारणत्व और पारमैश्वर्य्यादिक जो सकल ब्रह्म धर्म्म कहे गये हैं,उनका ही उपसंहार कर्त्तव्य है। क्योंकि वेदान्तकथित वीर्य्य, सम्भूति, सर्वसुहृत्त्व, शरण्य और मोचकत्व प्रभृति गुणों के द्वारा उसका मोक्षलक्षण अर्थ प्राप्त होता है। फल के ऐक्य के कारण उन गुणों का ही उपसंहार कर्त्तव्य है॥ १४॥

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥ १५ ॥

प्रयोजनस्यान्यस्याभावादाध्यानायैव रूपकोपदेशः कृतः। आध्यानं सम्यगनुचिन्तनं। अयमर्थः। ब्रह्मविदाप्नोति परमित्युपक्रान्तमेकं ब्रह्म स्वयंरूपत्वेन विलासत्वादिना च द्वेधाऽवतिष्ठते। तच्च स्वयंभगवान्नारायणवासुदेव-सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धसंज्ञं स्वरूपतो गुणतो नामादितश्च विभुचित्सुखात्मकं स्थूलधियामादौ दुर्विभाव्यमतस्तदेक-मानन्दमयं ब्रह्म प्रियमोदादिरूपेण विभज्य शिरःपक्षादिभावेन रूपयित्वोपदिश्यते तेषां सुबोधत्वाय। इत्थं च तस्य बुद्ध्यारोहणे सति वेदनशब्दोदितं ध्यानं सम्यग् भवति। यथा ह्यन्नमयस्य पुरुषस्यास्य देहस्य शिरः पक्षादिरूप-केण बुद्धावारोहणं "तस्येदमेव शिरः" इत्यादिना यथा च प्राणमयमनोमयविज्ञानमयानां तथारूपकेण तत् क्रियते "तस्य प्राण एव शिरः" इत्यादिभिः तथैवैतेभ्योऽर्थान्तरभूतस्यानन्दमयस्य च पुरुषस्य तेन तत् "तस्य प्रियमेव शिरः" इत्यादिना। तथा च पञ्चावयवविशुद्धब्रह्मोपलक्षणार्थत्वात्तेषां सर्व्वत्रोपसंहारो नेति सुष्ठूपपा-दितम्। न चैकमेव ब्रह्म पञ्चावयवमित्यमूलम्। "एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति" इति "एकं सन्तं बहुधादृश्य-मानं" इति "स शिरः स दक्षिणः पक्षः स उत्तरः पक्षः स आत्मा स पुच्छं" इति च श्रुत्यन्तरात्। "शिरो नारायणः पक्षो दक्षिणः सव्य एव च। प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च सन्देहो वासुदेवकः। नारायणोऽथ सन्देहो वासुदेवः शिरोऽपि वा। पुच्छं सङ्कर्षणः प्रोक्त एक एव तु पञ्चधा। अङ्गाङ्गित्वेन भगवान् क्रीडते पुरुषोत्तमः। ऐश्वर्य्यान्न विरोधश्च चिन्त्यस्तस्मिन् जनार्दने। अतर्क्ये हि कुतस्तर्कस्त्वप्रमये कुतः प्रमा" इति स्मरणाच्च ॥ १५ ॥

अच्छा? आनन्दमय ब्रह्म का पक्षिभाव से रूपक वर्णन किस लिये है? अन्यत्र आत्मा को रथी तथा शरीर को रथ रूप से जो रूपक दिया गया है, उसका कारण देखा गया है। उससे उपासना के उपकरण रूप उपासक के शरीरादि का वशीभूत करना उद्देश्य होता है। यहाँ उस प्रकार का कोई फल नहीं देखा जाता है। फल नहीं होने से वेद अयथा ऐसे रूपक का प्रयोग क्यों करेगा। अतएव उसका फल परवर्त्ती सूत्र से निर्देश कराते हैं—

जब अन्य किसी प्रकार का प्रयोजन नहीं देखा जाता है, तब सम्यक् अनुचिन्तन ही उक्त रूपक का उद्देश्य है। इसका अर्थ—"ब्रह्मविद् परतत्व का प्राप्त होते हैं" ऐसा बोलने पर ब्रह्म रूप हरि, स्वयंरूप तथा विलासरूप से नित्य दो प्रकार का अवस्थान करते हैं—यह प्रतीत होता है। स्वयंरूप से भगवान् तथा विलासरूप से नारायण, वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध प्रभृति आख्या को धारण करते हैं। वे स्वरूपतः गुणतः तथा नामादितः विभु चित् सुखात्मक हैं। स्थूलबुद्धि वालेको वे दुर्विभाव्य हैं। अतएव उनके सुख बोधके लिये वे दुर्विभाव्य तत्व आनन्दमय परब्रह्म हरि प्रियमोदादिरूप में विभागक्रम से पक्ष्यादिरूपक से उपदिष्ट हुए हैं। इस प्रकार चिन्ता करते करते जब उनकी बुद्धि में ब्रह्म आरूढ़ हो जाता है, तब वेदन शब्द वाच्य ध्यान सम्यक् प्रकार से होता है। जिस प्रकार बुद्धि प्रवेशार्थ अन्नमय पुरुष इस देह का "शिरः पक्षादि" रूपक से वर्णन है। जिस प्रकार "प्राणमय-मनोमय-विज्ञानम-यादि शब्दों का "उनका प्राण ही शिर है" इत्यादिवाक्य से रूपक दिया गया है, ठीक उसी प्रकार आनन्दमय पुरुष का "उनका प्रिय ही शिर" इत्यादि वाक्य से वर्णन है। उक्त पञ्च अवयव से विशुद्ध ब्रह्म का ही उपलक्षण है। सुतरां उन सब अंग का पृथक् उपसंहार नहीं होगा। एक ही ब्रह्म पञ्च अवयव विशिष्ट है, वह अमूलक नहीं है। "एकोऽपि सन" प्रभृति वेद वाक्य उसका प्रमाण है। श्रुत्यन्तर में भी वह ही शिर, दक्षिणपक्ष, उत्तरपक्ष, आत्मा तथा पुच्छरूप से कहा गया है। शिर-नारायण, प्रद्युम्न-अनिरुद्ध दोनों पक्ष, देह वासुदेव, पुच्छ संकर्षण हैं। एक ही ब्रह्म पञ्चधा विभक्त हो रहा है। पुरुषोत्तम भगवान् इस प्रकार अंगांगि रूप से क्रीड़ा करते हैं। पूर्णैश्वर्य्य के कारण उनमें उस प्रकार अगांगि भाव का कोई विरोध नहीं है। "अतर्क्य पुरुष में तर्क कहाँ हो सकता है तथा अप्रमेय में प्रमा कहाँ है"? इत्यादि स्मृतिवाक्य भी प्रमाण है ॥१५॥

आत्मशब्दाच्च ॥ १६ ॥

आत्मानन्दमय इति तस्यात्मशब्देन निर्देशादात्मनः पक्षिवत्पुच्छादिकमसम्भवीत्यतः सौबोध्याय रूपकमात्रं तदित्यवगम्यते ॥ १६ ॥

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥ १७ ॥

ननु "अन्योऽन्तर आत्मा वा प्राणमयः" इत्यादिषु जडाणुचेतनेष्वप्यात्मशब्दस्य प्रयोगात्" अन्योऽन्तर आत्मान-न्दमयः" इत्यत्र तस्य विभुचेतनपरत्वं कथं निश्चितमिति चेदिहोच्यते। तत्रात्मशब्दः परमात्मानमेव विभुचेतनं गृह्णाति इतरवत्। "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्यादिवाक्ये यथा। एतच्च कुतः? उत्तरात्। "सोऽका-मयत बहु स्यां" इत्यादिकादानन्दमयात्मविषयादुत्तरस्माद्वाक्यादित्यर्थः। न चानन्दमयात्मनः परमात्मत्वाभावे तदि-दमभिध्यानं सङ्गच्छेत। तस्य तदसाधारणत्वात् ॥ १७ ॥

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ॥ १८ ॥

ननूत्तरवाक्यात्तत्रात्मशब्देन विभुचेतनो निश्चेतुं न शक्यते। पूर्व्वत्र प्राणमयादिषु जडाणुचेतनेष्वात्मशब्दा-न्वयादिति चेत्स्यात्तत्रात्मशब्देन विभुचेतनस्य परमात्मनो निश्चयः स्यादेव। कुतः? अवेति। पूर्व्वं "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः" इति तस्यैव बुद्ध्यावधारितत्वात्। इतरथानन्दमयविषयकमभिध्यानवचनं पीड्येत। प्राणमया-दिष्वात्मस्ववतीर्णाऽपि पूर्व्वावधारिता परमात्मबुद्धिरानन्दमय एव विश्राम्यति। तदन्यस्यात्मनोऽनिरूपणात्। तस्मादरुन्धतीदर्शनन्यायमाश्रित्य पूर्व्वपूर्व्वपरित्यागेनोत्तरत्रैव तस्मिंस्तद्बुद्धेः पर्य्यवसितिरत उत्तरस्माद्वाक्यात्तस्य तत्परत्वं निश्चेयमिति सर्व्वं निरवद्यम् ॥ १८ ॥

आत्मा आनन्दमय इत्यादि के द्वारा ब्रह्म का आत्मशब्द से निर्देश है। उसके पक्षी की भाँति पुच्छादि अस-म्भव है। सुतरां स्थूलबुद्धि व्यक्तियों को सुख बोध के लिये इस प्रकार के रूपक का वर्णन है ॥ १६ ॥

अच्छा? "अन्य अन्तरात्मा प्राणमय" इत्यादि वाक्यों में जड़, अणु अर्थात् मन, चेतन अर्थात् जीव इन सब में आत्मशब्द के प्रयोग के कारण "अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः" इत्यादि स्थल में उसके विभुचेतनत्व का किस प्रकार निश्चय हो सकता है—इस प्रकार की शङ्का के निरासार्थ कहते हैं।—

वहाँ आत्मशब्द "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्यादि वाक्य की भाँति विभुचेतनत्व परमात्मा को ही बोध कराता है। क्योंकि उत्तरवाक्य में उसने "बहु होऊँगा" इस प्रकार कामना की इत्यादि आनन्दमय आत्म-विषयक उत्तरवाक्य से परमात्मा का बोध हो रहा है। आनन्दमय आत्मा का परमात्मत्व नहीं होने से अर्थ की संगति नहीं होती है। ईश्वर में ही असाधारण शक्ति हो सकती है ॥ १७ ॥

अच्छा? उत्तरवाक्य बल से आत्मशब्द के द्वारा विभुचेतनत्व का निश्चय नहीं कर सकते हो। क्योंकि पूर्व-वाक्य में प्राणमयादि जड़, अणु मन, चेतन जीव में आत्म शब्द का अन्वय है। इस प्रकार नहीं बोला जा सकता है। क्योंकि उक्त वाक्य में आत्म शब्द के द्वारा विभुचेतन परमात्मा का ही निश्चय हो रहा है। उसके पूर्व्ववर्त्ती वाक्य में जब "इस आत्मा से आकाशादि की उत्पत्ति" कही गयी है, तब आत्मा शब्द से परमात्मा का ही बोध होता है। नहीं तो आनन्दमय विषयक अभिधान सूचक वाक्य की बाधा प्राप्त होती है। प्राणमयादि आत्मा में पूर्वा-वधारित परमात्म बुद्धि अवतारित होनेपर भी आनन्दमय में ही उसका शेष विश्राम देखा जाता है। अतएव अरु-न्धती दर्शन न्याय का आश्रय कर पूर्व्व पूर्व्व के परित्याग-क्रम से उत्तरवर्त्ती आनन्दमय में ही पर्य्यवसान होता है।

अथ पितृत्वादीन् धर्म्मानुपसंहर्त्तु मारभते ।"माता पिता भ्राता निवासः शरणं सुहृद्गतिर्नारायण"इति श्रूयते। जितन्ते स्तोत्रेऽप्येवं स्मरन्ति । "पिता माता सुहृद्बन्धुर्भ्राता पुत्रस्त्वमेव मे । विद्या धनंच कामश्च नान्यत्किंचि-त्वया विना" इत्याद्येऽध्याये । "जन्मप्रभृति दासोऽस्मि शिष्योऽस्मि तनयोऽस्मि ते । त्वं च स्वामी गुरुर्माता पिता च मम माधव" इति मध्येऽन्ते च । तत्रैवं संशयः । पितृत्वपुत्रत्वसखित्वस्वामित्वरूपं धर्म्मजातं भगवति चिन्त्यं न वेति । आत्मेत्येवोपासीतेति श्रुतेर्न चिन्त्यमिति प्राप्ते—

कार्य्याख्यानादपूर्व्वम् ॥ १९ ॥

पूर्व्वं पूर्णानन्दत्वादि । तत्सदृशमपूर्व्वं पितृत्वादि । तच्चिन्त्यमेव तत्तदुपासकैः । कुत, ? कार्य्याख्यानात्। कार्य्यस्य तत्तद्भाववश्यतालक्षणस्य फलस्य "भावग्राह्यमनीडाख्यं" इत्यनेनाभिधानादित्यर्थः । आह चैवं श्रीभगवान् । "येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्ट" इति । तस्मात् पूर्णानन्दत्वादिवत् पितृत्वादिकमपि तस्मिन् विचिन्त्यं भावुकैः। आत्मेत्येवेत्येतत्तु प्रागेव समाहितम्॥ १९ ॥

अथ विग्रहत्वं ब्रह्मण्युपसंहर्त्तुमारभते । "आत्मेत्येवोपासीत" "आत्मानमेव लोकमुपासीत" इति क्वचित्पठ्यते, क्वचित्तु "तदु होवाच हैरण्यो गोपवेशमभ्राभं तरुणं कल्पद्रुमाश्रितं तदिह श्लोका भवन्ति सत्पुण्डरीक" इत्यादि "चिन्तयंश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः" इत्यन्तम् । इह संशयः । आत्ममात्रत्वेनात्मविग्रहत्वेन वोपासनया मुक्तिरिति । किं प्राप्तम् । आत्ममात्रत्वेनोपासनयेति । तस्यैवैकरस्यात् । एकरसात्मोपासनया खलु मुक्तिरुक्ता । विग्रहस्य तु मिथो विलक्षणचक्षुरादिवैशिष्ट्येनानैकरस्यान्नासौ तदुपासनयेत्येवं प्राप्ते—

इसलिये उत्तरवाक्य से ही उक्त शब्द का परमात्मपरत्व अवधारण करना यथायुक्त है। इससे समस्त निर्दोष हो जाता है ॥ १८ ॥

अब पितृत्वादि धर्म्म के उपसंहार आरम्भ करते हैं—श्रुति में श्रीनारारण को माता, पिता, भ्राता, निवास, शरण, सुहृत् और गति करके निर्देश किया गया है। जितन्तस्तोत्र के प्रथम अध्याय में भी ऐसा कहा गया है। "आप ही पिता, माता, सुहृत्, बन्धु, भ्राता, पुत्र, विद्या, धन, तथा काम हैं। आप के बिना अन्य कोई गति नही है। मध्य तथा अन्तिम अध्याय में भी-"जन्म से ही मैं दास हूँ, शिष्य हूँ, तनय हूँ। आप स्वामी, गुरु, माता, पिता हैं" इत्यादि वचन हैं। यहाँ संशय यह है कि पितृत्व, पुत्रत्व, सखित्व, और स्वामित्व प्रभृति सकल धर्म्म भगवान् में चिन्तनीय हैं किम्वा नहीं हैं। "आत्मा की ही उपासना करें" इत्यादि श्रुति के अनुसार उस प्रकार की चिन्ता का प्रयोजन नहीं है—इस प्रकार के सिद्धान्त का उत्तर देते हैं —

पूर्व्वोक्त पूर्णानन्दादि एवं उसके सदृश शेषोक्त पितृत्वादि समस्त धर्म्म उन उन उपासकों से चिन्तनीय हैं। क्योंकि "परमेश्वर भाव ग्राह्य हैं" इत्यादि वचनों से उस उस भाववश्यता लक्षण फल का अभिधान सुनने में आता है। श्रीभगवान् ने कहा है-"मैं जिन का प्रिय, आत्मा, सुत, सखा, गुरु, सुहृत् देव तथा इष्ट हूँ" इत्यादि। अतएव पूर्णानन्दादि गुण की भाँति पितृत्वादि समस्त गुणों का चिन्तवन भावुकों का कर्त्तव्य है। "आत्मा की उपासना करें" इत्यादि वाक्य का समाधान पहले किया गया है ॥ १९ ॥

अनन्तर भगवान् के विग्रहत्वरूप धर्म्म का उपसहार दिखाते हैं।—कहीं कहीं पाठ है-"आत्मा की उपासना करें" "आत्मलोक की उपासना करें" इत्यादि। कहीं "गोपालवेश, अभ्राभ, तरुण, कल्पवृक्षाश्रित, सत्पुण्डरीकनयन श्रीकृष्ण की चिन्ता के द्वारा मुक्तिलाभ करता है" इत्यादि वाक्य देखने में आते हैं। यहाँ संशय है कि उपास्य वस्तु आत्ममात्र अथवा आत्मविग्रह है। परमेश्वर एकरस है तथा एकरस रूप आत्मा की उपासना से मुक्ति सुनने में आती है। अतएव आत्ममात्र वस्तु की उपासना करने का बोध हो रहा है। सकल विग्रह परस्पर

समान एवं चाभेदात् ॥ २० ॥

अप्यर्थे चशब्दः । एवमपि चक्षुरादीनां वैलक्षण्येन भानेऽपि समान एकरसः स एव हिरण्यप्रतिमादिवद् भगवान् बोध्यः । कुतः ? अभेदात् । चक्षुरादीनामात्मानतिरेकादित्यर्थः । तस्माद्विग्रहभूतात्मोपासनयैव मोक्षः। एवं च चिन्तयंश्चेतसेत्यादिवाक्यव्याकोपः । "सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्त्तयः" इति स्मृतिस्तु वैचित्र्या विभातस्य तद्विग्रहस्यैकरस्यमाह । अरूपवदित्यनेन चिन्तितमप्येतद्विधान्तरेण चिन्तितम् । कृपालुराचार्य्यो दुष्प्रवेशमर्थमसकृद्विमृशति सुप्रवेशत्वाय ॥ ० ॥

तदेवं साक्षाद्रूपेषु भगवदाविर्भावेषु तत्तद्गुणोपसंहृतिरुक्ता । अथ जीवभूतेष्वावेशावतारेषु सा विमृश्यते। "अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तं होवाच" इति । "तं मां भगवान् शोकस्य पारं तारयतु"इति चैवमादि छान्दोग्यादौ पठितम् । अत्र भगवतो ज्ञानशक्त्यादिनिजधर्म्मैराविष्टाः कुमारादयो जीवास्तस्यावेशा भवन्तीति भगवच्छब्दात् प्रतीयते । तेषु तद्भक्तैर्निखिलभगवद्धर्म्मा उपसंहार्या न वेति संशये विकल्पं स्थापयति। तत्रादौ विधिपक्षमाह—

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ॥ २१ ॥

अन्यत्र भगवदाविष्टेषु कुमारादिष्वेवं निखिलतद्धर्म्मोपसंहारो भवति । कुतः ? सम्बन्धात् । अयः पिण्डेषु वह्नेरिव तेषु तस्यावेशात् ॥ २१ ॥

अथ निषेधपक्षमाह—

न वाऽविशेषात् ॥ २२ ॥

न तेषु निखिलभगवद्धर्म्मोपसंहारो भवति । कुतः ? अविशेषात् । सत्यपि तदावेशे जीवत्वलक्षणे धर्म्मे

में विलक्षण हैं। चक्षुः आदिक इन्द्रियविशिष्ट विग्रह एकरस न होकर अनेकरस हैं। अतएव तादृश विग्रह की उपासना में मुक्ति नहीं हो सकती है–इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के खण्डनार्थ कहते हैं—

अपि अर्थ में "च"शब्द है। हिरण्मय प्रतिमा का जिस प्रकार समस्त अंग ही हिरण्मय है, उसी प्रकार भगवद्विग्रह के अन्तर्गत चक्षुः प्रभृति सकल इन्द्रियाँ परस्पर विलक्षण रूप से प्रतीयमान होने पर भी उनको समान तथा अभिन्न करके स्वीकार करना होगा। चक्षुः प्रभृति सकल इन्द्रियाँ आत्मा से अतिरिक्त नहीं हैं। सुतरां विग्रहभूत आत्मा की उपासना से मोक्ष को स्वीकार करना होगा। इस प्रकार स्वीकार नहीं करने पर "चित्त के द्वारा कृष्ण की चिन्ता करें" इत्यादि वाक्य का विरोध घटता है। "सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्त्तयः" इत्यादि स्मृतिवाक्य समूह भी विचित्र भाव से विराजित भगवद्विग्रह का ऐकरस्य करके वर्णन करते हैं। "अरूपवत्" इस सूत्र के द्वारा इस विषय का पहले चिन्तन होने पर भी पुनर्वार प्रकारान्तर से इसका विचार किया गया है। कृपालु आचार्य्य उत्तमरूप में प्रवेश के लिये कठिन अर्थ का बार बार विचार करते हैं ॥ २० ॥

इस प्रकार साक्षात् स्वरूप भगवद् आविर्भाव में उन उन गुणों का उपसंहार कहा गया है। अनन्तर जीवभूत आवेश अवतारों में उसका विचार करते हैं। "हे भगवन् मुझे ब्रह्म का अध्ययन कराइये" ऐसा बोल कर देवर्षि नारद सनत्कुमार के निकट गमन कर कहने लगे "हे भगवन्! मैं उपसन्न हूँ आप मुझको शोक से मुक्त करें"–इत्यादि वाक्य छान्दोग्य में देखे जाते हैं। इस वाक्य में निविष्ट भगवत् शब्द से ऐसा प्रतीत हो रहा है कि भगवान् के ज्ञान-शक्ति प्रभृति के द्वारा आविष्ट सनत्कुमारादि जीव-समूह उनका आवेश है। इन सब आवेश अवतार के उपासक-गण निज उपास्य उन उन अवतारों में भगवान् के निखिल धर्म्मों का उपसंहार करेंगे किम्वा नहीं? इस प्रकार के संशय होने पर पहले विधिपक्ष को कहते हैं। इन समस्त आवेश अवतारों में "लौहपिण्ड में वह्नि की भाँति" भगवान् का सम्बन्ध रहने के कारण निखिल भगवद्धर्म्म का उपसंहार कर्त्तव्य है ॥ २१ ॥

विशेषाभावात् । वाशब्दात्तत्प्रेष्ठत्वादिना तत्रादरविशेषात् ॥ २२ ॥

दर्शयति च ॥ २३ ॥

तं मां भगवानित्याद्या श्रुतिस्तदाविष्टस्यापि श्रीनारदस्य जिज्ञासुतां दर्शयति । अतो न तत्र सर्व्वधर्म्मोपसंहारः ॥२३॥

सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥ २४ ॥

संभृतिश्च द्युव्याप्तिश्च तयोः समाहारस्तथा । एतच्च तेषु नोपसंहार्य्यम् । इह पूर्व्वोक्तं हेतुमतिदिशति अत इति । जीवत्वादेवेत्यर्थः । अयमर्थः । राणायनीयानां खिलेषु पठ्यते । "ब्रह्मज्येष्ठा वीर्य्या संभृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान । ब्रह्मभूतानां प्रथमं तु जज्ञे । तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्द्धितुं कः" इति । अत्र वीर्य्यसंभृतिद्युव्याप्तिप्रमुखो ब्रह्ममहिमा प्रकीर्त्तितः । न स तेषु जीवेषूपसंहार्य्यस्तस्य परेशसाधारणत्वादिति ॥ २४ ॥

अनुपसंहारे हेत्वन्तरमाह—

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ॥ २५ ॥

कुमाराद्युपाख्यानेष्वितरेषां सर्व्वभूतोपादानत्वसर्व्वनियामकत्वादीनां धर्म्माणामनाम्नानाच्च न तेषु सर्व्वतद्धर्म्मोपसंहारः । व्यतिरेकी दृष्टान्तः पुरुषेति । पुरुषसूक्तेषु चशब्दात् गोपालतापन्यादिषु यथा ते निरूप्यन्ते न तथा तदुपाख्यानेष्वित्यर्थः । इदमत्र निष्कृष्टम् । ईशाविष्टेषु तप्तायःपिण्डवदंशद्वयमस्ति । ये वन्ह्यंशमिवेशांशं पश्यन्ति ते निखिलतद्धर्म्मांस्तेषु भावयन्ति । ये खल्वयोऽंशमिव जीवांशं ते तु न । किंतु तत्प्रेष्ठत्वादीन् धर्म्मांस्तेषु चिन्तयन्ति । ईशस्तु स्वप्रेष्ठानुवृत्तिपरितुष्टस्तान् स्वीकरोति । श्रीभागवतादिभिरपि शास्त्रैस्तेषु भगवदादिशब्दाः प्रयुज्यन्ते । जीवधर्म्माश्च दैन्याभिधानेन प्रकाश्यन्ते । तत्राप्येवमेव सङ्गतिरिति ॥ २५ ॥

अब निषेधपक्ष कहते हैं। इन सब शक्ति-आवेश अवतारों में समस्त भगवच्छक्ति वा धर्म्म का उपसंहार कर्त्तव्य नहीं है। क्योंकि वे सब भगवान् के आवेश होने पर भी जीवत्वलक्षण धर्म्म के द्वारा अन्य जीव के साथ उनमें कोई विशेषता नहीं हैं। "वा"शब्द से भगवान् के प्रेष्ठत्व होने के कारण वे सब आदर का पात्र हैं ॥ २२ ॥

"तं मां भगवान्" इत्यादि श्रुति में भगवदाविष्ट नारद जी की जिज्ञासुता प्रदर्शित है। अतएव आवेश अवतारों में सकल धर्म्म का उपसंहार कर्त्तव्य नहीं है ॥ २३ ॥

संभृति अर्थात् पूर्णता, द्युव्याप्ति अर्थात् सर्व्वव्यापकता–ये दोनों गुण आवेश अवतारों में उपसंहृत नहीं हो सकते हैं। क्योंकि जीव होने के हेतु उनमें इन दोनों का अभाव है। इसके अर्थ की स्पष्टता राणायनीयों के खिल नामक ग्रन्थ के पाठ से होता है कि ब्रह्म ज्येष्ठ,वीर्य्यवत्, तथा पूर्ण है। वह ही पहले लोक विस्तार की रचना करते है, उस आदिपुरुष ब्रह्म के साथ कौन स्पर्द्धा करने में समर्थ होता है ? यहाँ वीर्य्य, पूर्णता तथा द्युव्याप्ति प्रभृति ब्रह्म महिमा कही गयी है। इन सब महिमा का जीवरूप आवेश में उपसंहार नहीं हो सकता है। क्योंकि यह सब परेश परक है ॥ २४ ॥

अनुपसंहार में हेत्वन्तर कहते हैं। पुरुषविद्या में ईश्वर सम्बन्ध में सर्वभूतोपादानत्व तथा सर्वनियामकत्वादि कहे गये असाधारण गुण-समूह कुमारादि में उपसंहार्य्य नहीं हो सकते हैं। वे सब और में नहीं कहे गये हैं। गोपालतापनी प्रभृति में परमेश्वर सम्बन्ध में ही ये सब गुण कहे हुए हैं किन्तु कुमारादि उपाख्यान में नहीं कहे गये हैं। इसका निष्कर्ष यह है कि ईश्वराविष्ट कुमारादि में तप्तलौहपिण्ड की भाँति दो अंश हैं। जो वन्हि-अंश की तरह ईश्वरांश दर्शन करते हैं, वे निखिल ईश्वर-धर्म आवेश-समूह में उपसंहार करते हैं। और जो लौहांश की-भाँति जीवांश मात्र देखते हैं, वे उनमें उन सब धर्मों का चिन्तवन नहीं करते हैं किन्तु भगवान् के प्रियतमत्वादि

स्वशाखोक्तगुणविशिष्टं ब्रह्मोपास्यमित्युक्तम् । अथ तदुक्ता अपि केचिद्गुणा मुमुक्षुणा नोपास्या इत्युच्यते । "अग्ने त्वं यातुधानस्य भिन्द तं प्रत्यञ्चमर्च्चिषा विध्य मर्म्म" इति श्रुतमथर्व्वणि । इह वेधादिगुणजातमुपास्यं न वेति संशये दुष्टनिग्रहस्यापेक्षत्वादुपास्यमिति प्राप्ते—

वेधाद्यर्थभेदात् ॥ २६ ॥

नेत्यनुवर्त्तते । वेधादिकं तेनोपास्यं न । कुतः ? अर्थभेदात् । अर्थः फलम् । हिंसात्मके तस्मिन्निवृत्ताधिकारादित्यर्थः । यदुक्तं श्रीभगवता । "अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवमि"ति । "निवृत्तं कर्म्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत्" इति च ॥ २६ ॥

श्वेताश्वतराः पठन्ति । "ज्ञात्वा देवं सर्व्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः । तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्य्यं केवलमाप्तकामः" इति । अत्र देवज्ञानाद्देहगेहादिममतापाशहानिर्भवति । जन्ममृत्युकृतक्लेशाभावात् तत्प्रहाणिश्चेति शास्त्रेण देवज्ञानमहिमोक्तेः । ततो ज्ञातयाथात्म्यस्य तस्य देवस्याभिध्यानान्निरन्तरविचिन्तनाद्देहभेदे लिङ्गक्षये सति चान्द्रब्राह्मोभयापेक्षया तृतीयं भागवतं पदं देवज्ञो विन्दति । कीदृशं तत् ? विश्वैश्वर्य्यं पूर्णविभूतिकम् । केवलममायिकम् । तत आप्तकामः पूर्णमनोरथो भवतीति । अत्र शास्त्रीयज्ञानगम्यत्वं देवस्योक्तम् । तच्चिन्तनं नियतमैच्छिकं वेति वीक्षायां परिनिष्ठाविवृद्धया मनोनिवेशहेतुत्वान्नियतं तदिति प्राप्ते—

धर्म का चिन्तवन करते हैं। ईश्वर भी निज प्रियजन की अनुवृत्ति के द्वारा प्रसन्न होकर उनको स्वीकार करते हैं। भागवतादि शास्त्र में कुमारादि में भगवन् शब्द का प्रयोग किया गया है तथा दैन्योक्ति के साथ उनका जीवधर्मकथित है–इस प्रकार की संगति करनी होगी ॥ २५ ॥

स्वशाखोक्तगुणविशिष्ट ब्रह्म उपास्य है–यह कहा गया है। उन उन शाखाओं में उक्त कुछ गुण मुमुक्षुव्यक्ति से उपास्य नहीं हैं, अब यह कहा जाता है। "हे अग्नि तुम यातुधान का भेद करो, तुम्हारे तेजः के द्वारा उसका मर्म भेद करो" इत्यादि पाठ अथर्व्वण में है। यहाँ जीव का दुःखदायी वेधादि गुण-समूह उपास्य हैं किंवा नहीं हैं इस प्रकार के संशय में दुष्टनिग्रह रूप प्रयोजन के कारण वे उपास्य हैं–इस प्रकार पूर्वपक्ष उठाकर उत्तर देते हैं—

नकार का अनुवर्त्तन है। जीव का कष्टदायी सकल वेधादि गुण उपास्य नहीं हैं। क्योंकि उसमें अर्थभेद अर्थात् फल का भेद है। मुमुक्षुव्यक्ति निवृत्ति में अधिकारी है, हिंसात्मक कर्म में अधिकारी नहीं है। भगवान् ने स्वयं ही कहा है–"मत्परायण व्यक्ति अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षान्ति, आर्जव प्रभृति निवृत्ति कर्म का आश्रय करें तथा प्रवृत्ति कर्म का त्याग करें ॥ २६ ॥

श्वेताश्वतर में पाठ है–"परमेश्वर को जानने पर सकल पाश नष्ट हो जाते हैं। क्लेशों के क्षीण होने पर जन्म-मृत्यु का अभाव होता है। उनके अभिध्यान के द्वारा शरीर क्षय होने पर केवल विश्वैश्वर्य्यरूप तृतीय भागवत्पद की प्राप्ति होती है जिससे समस्त कामनाएें पूर्ण हो जाती हैं" यहाँ ईश्वर के ज्ञान से देह-गेहादि ममता रूप पाश की हानि होती है। जन्म-मृत्युकृत क्लेश के अभाव होने से ही उक्त पाश का उच्छेद होता है–इस प्रकार शास्त्रजात ईश्वर महिमा कही गयी है। तदनन्तर यथार्थतत्व ज्ञान पूर्वक ईश्वर के निरन्तर विचिन्तन के द्वारा लिंगदेह का क्षय होने पर चान्द्र और ब्राह्म इन दोनों की अपेक्षा से तृतीय भागवत् पद का लाभ होता है। वह पद विश्वैश्वर्य्य अर्थात् पूर्ण विभूतिविशिष्ट तथा केवल अर्थात् अमायिक है। उससे जीव आप्तकाम अर्थात् पूर्णमनोरथ हो जाता है। यहाँ परमेश्वर का शास्त्रीयज्ञान गम्यत्व कहा गया है। भगवान का वह चिन्तन नियत है अथवा ऐच्छिक है ?–इस प्रकार का संशय होने पर परिनिष्ठा-विवृद्धि के द्वारा मनोनिवेश के कारण उसको नियत कहा जाना चाहिए। इस प्रकार पूर्व्वपक्षीय सिद्धान्त का उत्तर करते हैं ॥—

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् ॥ २७ ॥

पूर्व्वपक्षनिरासार्थस्तुशब्दः । देवज्ञानेन पाशहानौ सत्यां देवानुरक्तस्य विदुषः तच्छास्त्रगम्यत्वरूपदेवधर्म्मचिन्तनं कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवदुक्तम् । यथा नियतस्वाध्यायानन्तरं कुशग्रहणपूर्व्वकमाच्छन्देन सम्यगीषद्वेच्छया स्तुत्युपगानं भवति तद्वत् तद्धर्म्मचिन्तनम् । तस्याभिध्यानादित्यनेन तथैव व्यञ्जनादित्यर्थः । तत्र हेतुरुपायनेति । उपायनं सामीप्यलाभस्तदनुरक्तिरिति यावत् । तच्छब्दस्तदावेदि वाक्यम् । तच्छेपत्वात्तदनुयायित्वात् सर्व्वेषां वाक्यानाम् । यदुक्तं "तमेव धीरः" इत्यादि । "पूर्त्तेन तपसा यज्ञैर्दानैर्योगैः समाधिना । ब्राह्मं निश्रेयसं पुंसां मत्प्रीतिस्तत्त्वविन्मतं" इत्यादि । तस्मादैच्छिकं तच्चिन्तनम् । अयं भावः । दुरधिगमार्थकश्रुतियुक्तिभ्यां दुष्करस्तत्रापि बहुविषयकत्वेन बहुशाखश्च तत्त्वविमर्शः । स चानन्दरूपभगवद्विभावनोपनतमार्द्दवे तदेकानुरक्ते चेतसि नावृत्तिमर्हति कार्कश्यकरत्वात् । किंतु वैयुत्थानिक एव कदाचित्तद्भावानुभावतया प्रवर्त्तत इति ॥२७॥

तत्र युक्ति प्रमाणं चाह—

सांपराये तर्त्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ॥ २८ ॥

संपरायो भगवान् संपरायन्ति तत्त्वान्यस्मिन्निति व्युत्पत्तेः । तद्विषयकः प्रेमा सांपरायः कथ्यते । तत्र भव इत्यण् स्मरणात् । तस्मिन् सत्यैच्छिकस्तत्त्वविमर्शो न नियतः । कुतः ? तर्त्तव्याभावात् । तदानीं तेन तरणीयस्य छेद्यस्य पाशस्याभावात् । तथा ह्यन्ये वाजसनेयिनः पठन्ति । "तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्व्वीत ब्राह्मणः । नानुध्यायेद्बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्" इति । एवमेवोक्तं श्रीभगवता । "तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः । न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह" इति ॥ २८ ॥

पूर्व्वपक्ष के निरासार्थ "तु" शब्द है । देवज्ञान से पाश हानि होने पर देव-अनुरक्त विद्वान का कुशाच्छन्दस्तुति के उपगान की तरह शास्त्रगम्य रूप देवधर्म्म का चिन्तन कहा गया है । जिस प्रकार नियत स्वाध्याय के अनन्तर कुश ग्रहण पूर्वक सम्यक् इच्छानुसार अथवा इषत् इच्छानुसार स्तुतिगान किया जाता है, ठीक उसी प्रकार "उनका अभिध्यान" शब्द प्रयोग से सम्यक इच्छानुसार वा किञ्चिद् इच्छानुसार देवधर्म्म का चिन्तवन होता है। उन का सामीप्यलाभ अर्थात् उनकी अनुरक्ति इसका हेतु है । तत् शब्द का अर्थ तदावेदि वाक्य है ।"तच्छेपत्वात्" शब्द का अर्थ उनके अनुयायित्व के कारण होता है । "तमेव धीर" "पूर्त्तेन तपसा यज्ञैः" इत्यादि वाक्यों में इस प्रकार अर्थ ही व्यक्त हो रहा है । अतएव देवचिन्तन ऐच्छिक अर्थात् रागानुग है । सूत्र का भाव यह है कि दुरधिगमार्थ श्रुति तथा युक्ति के द्वारा तत्वनिर्णय सुदुष्कर है । और यह भी बहु विषय होने के कारण बहुशाखा युक्त है । आनन्दस्वरूप भगवान् के विभावन के द्वारा मृदुताप्राप्त तथा भगवान् में एकमात्र अनुरक्त चित्त में यह तत्वविचार संगत नहीं हो सकता है । क्योंकि उससे चित्त कर्कश हो उठता है । किन्तु यह तत्वविचार वाह्यदशा में कभी कभी तत्त्ववित्प्रसंग से उस भाव के अनुभाव रूप में प्रवृत्त होता है ॥ २७॥

इस में युक्ति और प्रमाण दिखाते हैं । भगवान् में प्रेम होने पर पाश नहीं रहता है अतएव उनका चिन्तन ऐच्छिक है । जिसमें समस्त तत्व मिलित होते हैं वह सम्परायण है । सम्पराय शब्द से भगवान् का ही बोध है। भगवत् विषयक प्रेम ही साम्पराय है । साम्पराय अर्थात् भगवान् में प्रेम होने पर भगवत्तत्व-चिन्तन फिर वैध नहीं हो सकता है क्योंकि उस समय तरणीय पाश नहीं रहता है । पाश ही रहने पर विधि आवश्यक है जब पाश ही नहीं तब विधि की आवश्यकता क्यों है । अतएव प्रेमीभक्त का भगवच्चिन्तन ऐच्छिक अर्थात् रागयुक्त है। वाजसनेयी भी कहती है–"ब्राह्मण धीर उनको ही जानकर प्रज्ञा करें । अनेक शब्द का अनुध्यान नहीं करें क्योंकि वे सब ग्लानिकर होते हैं"। श्री भगवान् ने भी ऐसा ही कहा है–"मदात्म, मद्-भक्तियुक्त योगिगण के लिये ज्ञान-वैराग्य प्रायः श्रेयस्कर नहीं होते हैं" । ज्ञान-वैराग्य जन्म मृत्यु पाश का नाशक अवश्य हैं । जब भगवद् प्रेमी को उस पाश का एकान्त अभाव है, तब ज्ञान-वैराग्य की आवश्यकता क्यों रही ? तो भी भक्ति का अंगीभूत ज्ञान-वैराग्य वर्जनीय नहीं हैं । इसलिये "प्रायः" शब्द दिया गया है ॥ २८ ॥

ब्रह्मोपासनं गुणवदित्युक्तम् । तदिदानीं द्विविधमिति दर्शयितुमारभते । "तदु होवाच हैरण्यो गोपवेशमभ्राभं" इत्यादि "प्रकृत्या सहितः श्यामः" इत्यादि "स वा अयमात्मा सर्व्वस्य वशी सर्व्वस्येशानः" इत्यादि च श्रूयते । अत्र क्वचिन्माधुर्य्यज्ञानप्रवृत्ता रुचिभक्तिस्तत्प्राप्तिहेतुः प्रतीयते । क्वचित्त्वैश्वर्य्यज्ञानप्रवृत्ता विधिभक्तिश्चेति । ततश्च विषयवैलक्षण्येन तत्तद्भक्तेरपि वैलक्षण्यात् कतमा सा तद्धेतुरित्यनिश्चयात्तल्लिप्सोस्तत्र प्रवृत्त्यसम्भवः स्यादिति प्राप्ते—

छन्दत उभयाविरोधात् ॥ २९ ॥

मण्डूकप्लुत्या नेत्यनुवर्त्तते । छन्दतस्तादृशसत्प्रसङ्गानुयायिभगवत्सङ्कल्पादिवोभयविधानां जीवानामुभयविधायां भक्तावास्थेति न प्रवृत्त्यसम्भवः । एवं कुतः ? तत्राहोभयेति । उभयविधयोर्वाक्ययोरनुरोधादित्यर्थः । अयं भावः । अनादिसिद्धद्विविधभगवद्गुणोपासना खलु तन्नित्यपार्षदवृन्दादारभ्य साधकेभ्यः सुरसरित्प्रवाहवत् प्रचरति । तस्माद्विश्ववर्त्तिनां जीवानां यादृच्छिके सत्प्रसंगे सति तद्देशिकसदुपास्येषु स्वगुणेषु भक्तिरसिकः श्रीहरिः सत्प्रसङ्गिनस्तान् प्रवर्त्तयितुमिच्छति ते तु तेन वर्त्मना तमनुवर्त्तन्त इति । अनुग्राही साधकस्तु मध्यमो ग्राह्यः । "ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च । प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः" इत्युक्तेः । इत्थं च श्रीहरौ वैषम्याद्यप्रसङ्गः ॥ २९ ॥

ब्रह्म की उपासना गुणविशिष्ट है–यह पहले कहा गया है । अब वह उपासना दो प्रकार की है–इसे कहते हैं। परमेश्वर को कहीं "गोपवेश, नीरदकान्ति, प्रकृति समन्वित और कहीं आत्मा, वशी, नियन्ता" रूप से कहा जाता है । पहले माधुर्य्यज्ञान से प्रवृत्त रुचिभक्ति को, शेषोक्त स्थल में ऐश्वर्य्य ज्ञान से प्रवृत्त विधिभक्ति को उनकी प्राप्ति का हेतु है यह प्रतीत किया जाता है । अतएव विषय वैलक्षण्य के कारण भक्ति का वैलक्षण्य दृष्ट होता है । उक्त दोनों प्रकार की भक्ति के मध्य में से कौन भक्ति भगवत्प्राप्ति का साधन रूप है–इसका निश्चय नहीं होने से दोनों में से किसी एक में प्रवृत्ति असम्भव हो रही है–इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं—

मण्डूकप्लुति के अनुसार नकार का अनुवर्त्तन है । छन्द से जीवों की उक्त दोनों प्रकार की भक्ति में विश्वास रहने के कारण दोनों में प्रवृत्ति का होना असम्भव नहीं है । दोनों प्रकार वाक्य के अनुरोध से जानना चाहिए। ऐश्वर्य्य और माधुर्य्य दोनों ही भक्ति के पोषक हैं । इसलिये उभय प्रकार से भक्ति की प्रवृत्ति है । इसका तात्पर्य्य यह है कि अनादिसिद्ध ऐश्वर्य्य और माधुर्य्य इन द्विविध भगवद्गुणों की उपासना भगवान् के नित्य पार्षदवृन्द से आरम्भकर साधकजीव पर्य्यन्त गंगाप्रवाह की तरह चली आ रही है । इसलिये भक्तिरसिक श्रीहरि विश्ववर्त्ती जीवों को (यादृच्छिक) जिस प्रकार से सत्प्रसंग के लाभ होने पर गुरु के द्वारा उपदिष्ट सत् उपास्य अपने गुणों में उन जीवों को प्रवृत्त करने की इच्छा करते हैं तब वे सब जीव गुरु-उपदिष्ट मार्गानुसार उसका अनुवर्त्तन करते हैं । भक्त तीन प्रकार के हैं । उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ । उनमें अनुग्राही साधक मध्यम हैं । श्रीभागवत में कहा है–ईश्वर में, भक्तों में, मूढ़व्यक्तियों में तथा शत्रु में जो यथाक्रम से प्रेम, मैत्री, कृपा और उपेक्षा रखते हैं वे सब मध्यम भक्त हैं । ऐश्वर्य्यदर्शी-विधिमार्गप्रिय अनुग्राही सकल भक्त मध्यमभक्त हैं । भेददर्शन ही मध्यमत्व का कारण है । भक्तानुग्रह के अनुसार प्रवृत्ति होने के कारण भगवान में वैषम्यादि दोष का अप्रसंग है ॥२९॥

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः || ३० ||

एवं स्वीकारे सति गतेस्तत्प्राप्तेरुभयथार्थवत्त्वम्। माधुर्य्यगुणकभगवत्कर्म्मतया पारमैश्वर्यगुणकतत्कर्म्मकतया च सार्थत्वम्। अर्थः पुरुषार्थः पुरुषोत्तमस्तद्वैशिष्ट्यमित्यर्थः। अन्यथेत्थमस्वीकारे विरोधस्तयोर्वाक्ययोर्व्याकोपापत्तिः स्यात्। हि शब्दस्तयोः समं प्रामाण्यं सूचयति। न चोपसंहारसूत्रादुभयोः प्राप्त्योर्व्यतिकरः। एकान्तिषु स्वेष्टेतरगुणाप्रकाशात्। वक्ष्यति चैवमुपरिष्टात्। व्यतिरेकस्तद्भावेत्यादि || ३० ||

अथ रुचिभक्तेः श्रैष्ठ्यं प्रतिपादयति। विधिवर्त्मनानुवृत्तः श्रेष्ठ उत रुचिवर्त्मनेति संशये विधिपरिष्कारेणाभ्यर्हणाद् विधिवर्त्मनानुवृत्तः श्रेष्ठ इति प्राप्ते—

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् || ३१ ||

रुचिवर्त्मना हरिं भजन्नुपपन्नः श्रैष्ठ्यमुपेतस्तस्मिन्नुपपत्तियुक्तो वा। कुतः? तदिति। तत् तादृशस्वभक्तैकरतत्वं लक्षणं यस्य स चासावर्थश्च माधुर्य्यगुणकः पुरुषोत्तमः। तस्योपलब्धेः स्वाधीनत्वेन लाभादित्यर्थः। दृष्टान्तेन विशदयति लोकेति। लोके यथा सर्व्वाधिकस्यापि राज्ञः स्वजनानुवृत्तिरसिकस्य कश्चिज्जनस्तदेकहितनिपुणस्तं स्वाधीनं कुर्वन् प्रशस्यते तद्वत्। न च प्रभोः पारतन्त्र्यं दोषः। तादृशस्य स्वीयस्नेहाधीनताया गुणत्वात्। अयं भावः। पुरुषोत्तमः खलु प्रीतिरसिको रुचिभक्तेषु स्वमाधुर्यं प्रकाश्य तदनुरक्तैस्तैः कृतं स्वार्पणं स्वीकुर्वन् परिक्रीतस्तान् तत्प्रीत्या प्रधानीकरोति स्वसमनुभवाय। तमन्यथा तथानुभवितुं न ते प्रभवः। यदाह श्रीमान् शुकः। "नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः। ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह" इत्यादि। यद्यपि सर्व्वभक्तसाधारणी तस्य वश्यता तथापि एषु तस्याः पराकाष्ठेति सर्व्वश्रैष्ठ्यसिद्धिः। तस्माद्रुचिवर्त्मनाऽनुवृत्तः श्रेयानिति || ३१ ||

अथेदमुपासनमेकानेकाङ्गतया द्विविधमिति दर्शयितुमारभते। अथर्व्वशिरःसु "ॐ मुनयो ह वै ब्रह्माणमूचुः" इत्यादिना "सकलं परं ब्रह्म" इत्यन्तेनाष्टादशार्णस्वरूपं निरूप्य पठ्यते। "एतद्यो ध्यायति, रसति भजति, सोऽमृतो भवति" इति। तत्र संशयः। ध्यानादीनि समुदित्य मोक्षसाधनानि प्रत्येकं वेति तान्युक्त्वामृतत्वोक्तेः समुदित्येति प्राप्ते—

अनियमः सर्व्वेषामविरोधाच्छब्दानुमानाभ्याम् || ३२ ||

ध्यानादीनां सर्व्वेषां समुदितानां मुक्तिसाधनतेति न नियमः किंतु प्रत्येकं तत्साधनतेति। कुतः? शब्दानुमानाभ्यां सह, तस्याः श्रुतेरविरोधात्। "चिन्तयंश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः। पञ्चपदं पञ्चाङ्गं जपन् द्यावाभूमी सूर्य्याचन्द्रमसौ साग्नि" इति "तद्रूपतया ब्रह्म सम्पद्यते" इत्यादिश्रुत्या "कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्"। "एकोऽपि कृष्णाय कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथैर्न तुल्यः। दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय" इत्यादि स्मृत्या च साकमेतद्यो ध्यायतीत्यादिश्रुतेर्व्विरोधाभावात्। इतरथा प्रतिभक्तिमुक्तिविरोधिकाभ्यां ताभ्यां सहासौ विरुध्येत। इत्थं च सोऽमृतो भवतीत्यस्य ध्यायतीत्यादिषु प्रत्येकं सम्बन्धः। समुदितानां तथात्वे तु कैमुत्यं व्यक्तम्। उपलक्षणमदः श्रवणादीनां नवानां च। ननु ध्यानोक्तरैव मुक्तिः श्रूयते। "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः"

दोनों प्रकार की भक्ति से ही भगवान् की प्राप्ति होती है। उभय की ही सार्थकता है। ऐश्वर्य्य एवं माधुर्य्य भाव से दोनों में तारतम्य होने पर प्राप्ति का तारतम्य है। ऐश्वर्य्य और माधुर्य्य दोनों भगवान् के गुण हैं। विधि भक्ति के द्वारा ऐश्वर्य्यात्मक भगवान् की प्राप्ति तथा रागभक्ति के द्वारा माधुर्य्यात्मक भगवान् की प्राप्ति होती है। दोनों प्रकार की प्राप्ति में ही भगवत् सम्बन्धी कर्म्म रहने के कारण दोनों ही सार्थक हैं। अर्थ शब्द पुरुषार्थ बोधक है। पुरुषार्थ अर्थात् पुरुषोत्तम। सुतरां पुरुषोत्तम प्राप्ति ही उसका साफल्य है। ऐसा स्वीकार नहीं करने पर उभय प्रकार का शास्त्रवचन वृथा हो जाता है। "हि" शब्द के द्वारा दोनों का समान प्रामाण्य कहा जाता है। उपसंहार सूत्र के द्वारा उभय प्रकार की प्राप्ति का एकरूपत्व निर्णय नहीं किया गया क्योंकि दोनों प्रकार की प्राप्ति तथा साधन का तारतम्य अपरिहार्य्य है। एकान्तीभक्तों में निज इष्ट से अन्य गुणों का प्रकाश नहीं है। यह सब आगे "व्यतिरेकस्तद्भाव" इत्यादि सूत्र में कहेंगे || ३० ||

अब रुचिभक्ति का श्रेष्ठत्व कहते हैं। विधि मार्ग का अनुवर्त्तन श्रेष्ठ है किम्वा रुचिमार्गानुवर्त्तन? इस प्रकार के संशय उठने पर वैधीभक्ति की उपासना विधि के द्वारा परिमार्जित है। सुतरां वह श्रेष्ठ है–इस प्रकार पूर्व्वपक्षीय मत के खण्डनार्थ कहते हैं–रुचिमार्ग के द्वारा हरिभजनकारी भक्त श्रेष्ठ हैं क्योंकि माधुर्य्यगुणशाली, रुचिभक्त में रत स्वयं पुरुषोत्तम ही उस भक्ति में ग्रहणीय हैं। उस भक्तिके द्वारा तादृश पुरुषोत्तम ही स्वाधीनरूप से लब्ध होते हैं। इस सम्बन्ध में लौकिक दृष्टान्त भी देखा जाता है। तदेक हितकारी में निपुण कोई व्यक्ति जिस प्रकार सर्वाधिक स्वजन में रसिक महाराज को वश में लाकर प्रशंसा का पात्र बनता है, ठीक उसी प्रकार रुचिभक्त भगवान् के अनुवर्त्तन के द्वारा उन्हें वशीभूत कर प्रशंसापात्र बनता है। इससे प्रभु में पारतन्त्र्य दोष नहीं आ सकता है। भक्त के लिये जो स्नेह है वह उनका एक प्रधानगुण है। इसका भाव यह है कि पुरुषोत्तम प्रीतिरसिक हैं। इच्छानुसार अनुरक्त निज भक्तों में निज माधुर्य प्रकाश पूर्वक उनके द्वारा सर्व्वस्व अर्पण को स्वीकार कर उन की प्रीति से परिक्रीत होकर निज अनुभव के लिये उनको प्रधानता प्रदान करते हैं। उसके बिना वे उनको उस रूप से अनुभव करने का सामर्थ्य नहीं रख सकते हैं। श्रीशुकदेव ने कहा है कि "गोपिकासुत श्रीकृष्ण, भक्तिमान् व्यक्तियों के लिये जिस प्रकार सुलभ हैं, आत्मभूत-ज्ञानियों के पक्ष में उस प्रकार सुलभ नहीं हैं"। यद्यपि भगवान् की वश्यता सर्व्वभक्तों में साधारण है तो भी रुचिभक्त-समूह में उसकी पराकाष्ठा है। अतएव रुचिमार्गानुवृत्त भक्त ही श्रेष्ठ होता है || ३१ ||

अब भगवान् की यह उपासना एकांग तथा अनेकांगरूप से दो प्रकार की है–इसे बोलने के लिये प्रकरणान्तर का आरम्भ करते हैं। अथर्व्वोपनिषद् में पाठ है–"मुनिगण ब्रह्मा जी से कहते हैं–अष्टादशाक्षर मन्त्रस्वरूप परब्रह्म का ही ध्यान करें, जप करें, भजन करें। जो इस प्रकार करता है, वह मुक्त हो जाता है" इत्यादि। यहाँ संशय है कि ध्यान आदिक समस्त अंग ही मोक्ष का साधन है अथवा एक एक अंग ही पृथक् रूप से मोक्ष का साधन है? जब सबका निर्देश करा कर ही पश्चात् मोक्ष को कहा जाता है तब समस्त समवेत ही मोक्ष का साधन हैं–इस प्रकार के पूर्व्वपक्षीय सिद्धान्त के उत्तर में कहते हैं।—

सब के ही अनुष्ठान से मोक्ष होता है–ऐसा कोई नियम नहीं है किन्तु प्रत्येक की पृथक् साधनता भी देखने में आती है। इसमें अन्यान्य श्रुति-स्मृति के साथ पूर्वोक्त श्रुति का कोई विरोध नहीं होता है। "श्रीकृष्ण का मन-मन में चिन्तन करने से जीव मुक्तिलाभ करता है" "पञ्चपद पञ्चांग मन्त्र का जप करने से जीव पृथिवी-आकाश-चन्द्र-सूर्य्य अग्नि में सम्पन्न होकर ब्रह्मसम्पत्ति का लाभ करता है" इत्यादि श्रुति तथा "श्रीकृष्ण कीर्त्तन से जीव–भवबन्धन से मुक्त होता है तथा परब्रह्म का लाभ करता है"। "भगवान् श्रीहरि के उद्देश्य में कृत एक ही प्रणाम दश अश्वमेध यज्ञ से भी श्रेष्ठ है। दशाश्वमेधी पुनर्जन्म लाभ करता है किन्तु कृष्णप्रमाणी का पुनर्जन्म नहीं है" इत्यादि स्मृति का "अष्टादशाक्षर मन्त्र स्वरूप परब्रह्म का ध्यान करें" इत्यादि स्मृति के साथ कोई विरोध नहीं घटता है। अविरोध स्वीकार नहीं करने से प्रत्येक भक्ति-मुक्ति बोधक श्रुति-स्मृति के साथ उसका विरोध घटता है। अतएव ध्यानादि प्रत्येक साधन के साथ इस अमृतत्वलाभ का सम्बन्ध जानना चाहिए। समुदाय के साथ सम्बन्ध में कैमुत्य न्याय व्यक्त होता है। अर्थात् एक ही साधन का मुक्तिदायकत्व होने पर समस्त साधन का मुक्तिदायकत्व अवश्यम्भावी स्थिर होता है। "जो ध्यायति" यह श्रुति श्रवणादि नौ प्रकार के साधन का उपलक्षण है अर्थात् श्रवण

इत्यादिषु। कथमत्र जपाद्युत्तरा साम्भुपगतेति चेदुच्यते। जपादिकं ध्यानं च मिथोऽनुस्यूतम्। जपादौ ध्यानं ध्याने च जपादीति प्रागुक्तं सुस्थिरम् ॥ ३२ ॥

ननु ब्रह्मविद्यायां सत्यां विमुक्तिरित्ययुक्तम्। सिद्धविद्यानामपि ब्रह्मरुद्रेन्द्रादीनां चिरं प्रपञ्चावस्थितिभगवत्प्रातिकूल्यादिदर्शनादिति चेत्तत्राह—

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥ ३३ ॥

न खलु सर्व्वेषां ब्रह्मविदां विद्यासिद्धौ सत्यां विमुक्तिरित्यस्माभिरुच्यते। किंतु येषां सञ्चितस्य कर्म्मणो विद्यया विनाशः, क्रियमाणस्य तया विश्लेषः, शरीरारम्भकस्य तु तस्य भोगेन संक्षयस्तेषामेव तस्यां सेति। ब्रह्मादीनां त्वाधिकारिकाणां विनष्टविश्लिष्टसञ्चितक्रियमाणकर्म्मणामप्यधिकारारम्भकं कर्म्म यावदधिकारं न क्षीयतेऽतस्तेषां तावत्प्रपञ्चेऽवस्थितिर्भवेत्। तदारम्भकस्य तस्य समाप्तौ तु ते विमुच्य परं पदं विशन्तीति। इदं तु बोध्यं। अचिराधिकारा मघवादयोऽधिकारान्ते चिराधिकारं ब्रह्माणं गच्छन्ति। तदधिकारान्ते तस्मिन् विमुक्ते तेन सह विमुच्यन्त इति। वक्ष्यति चैवम्। "कार्य्यात्यये तदध्यक्षेणे"त्यादिना। भगवति तेषां प्रातिकूल्यं तु तल्लीलापोषात् तदिच्छानुगुणमेवेत्यदोषः। विषयावेशोऽप्येषामाभासरूप एव विद्यानिष्ठत्वात्। तस्मादधिकारिभिन्नानां तत्त्वविदां विद्याधिगमे विमुक्तिरिति न कापि शङ्का ॥ ३३ ॥

अथास्थौल्यादिधर्म्मानुपसंहर्त्तु मारभते। "एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणवह्रस्वं" इत्यादि

कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्च्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन इन नौ प्रकार के साधनों में से कोई भी एक साधन मुक्तिदान में समर्थ है। अच्छा? "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादि श्रुति में ध्यान के ही पश्चात् मुक्ति का श्रवण है। किन्तु यहाँ जपादि के पश्चात् वही मुक्ति कही गयी है। उसका सामञ्जस्य किस प्रकार होगा उसके उत्तर में कहते हैं—जपादि तथा ध्यान परस्पर दृढ़ सम्बन्ध-युक्त है। जपादि ध्यान के साथ तथा ध्यान जपादि के साथ अनस्यूत (संसर्गित) है। अतएव पूर्वोक्त सिद्धान्त स्थिर हुआ है ॥ ३२ ॥

अच्छा? ब्रह्मविद्या होने पर मुक्ति होती है—इस प्रकार नहीं बोल सकते है। सिद्धविद्य ब्रह्म-रूद्र प्रभृति देवताओं का चिरकाल तक प्रपञ्च में अवस्थान तथा भगवत् प्रातिकूल्यभावादि देखने में आता है। उसके उत्तर में कहते हैं।—

समस्त ब्रह्मविद्या वालों का ब्रह्मविद्या-लाभ होने पर मुक्ति होती है—ऐसा नहीं है। तब जिनका ब्रह्मविद्या के द्वारा सञ्चित कर्म्म का नाश, क्रियमाण कर्म्म से विश्लेष तथा भोग के द्वारा शरीरारम्भ कर्म्म का क्षय हो गया है, उनको ही ब्रह्मविद्यालाभ के पश्चात् वह मुक्ति होती है। जिनको वह नहीं हुआ है उनको अधिकार पर्य्यन्त अवस्थान करना पड़ेगा। ब्रह्मादि अधिकारियों का इन समस्त कर्म्मों का जब तक अधिकार है तब तक क्षय नहीं होने के कारण उनको अधिकार पर्य्यन्त अपेक्षा करनी होती है। इसलिये ही प्रपञ्च में उनका अवस्थान रहता है। ये सब कार्य्य परिसमाप्त हो जाने पर वे सब मुक्त वा परमपद का लाभ करते हैं। यहाँ यह जानना कि अचिर-अधिकारी इन्द्रादिक देवतागण अधिकार के अन्त में चिराधिकारी ब्रह्मादि देवता में सम्पन्न होते हैं पश्चात् उनके-साथ उनका अधिकार का अन्त होने पर वे विमुक्त होते हैं। "कार्यात्यये तदध्यक्षेण" इत्यादि सूत्र में आगे यह विषय परिस्फुट होगा। भगवान् में उनका जो प्रतिकूलभाव देखने में आता है वह उनकी लील-पोषण के लिये उन की इच्छा के अनुसार होने के कारण दोषावह नहीं है। उनका विषयावेश भी आभास रूप है क्योंकि वे सब विद्यानिष्ठ हैं। अतएव अधिकारीभिन्न तत्वविदों की विद्याधिगम से विमुक्ति होती है। इस प्रकार बोलने से कोई क्षति नहीं है ॥ ३३ ॥

श्रूयते। "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं" इत्यादि च। "इह भवति वीक्षा। अक्षरशब्दितपरब्रह्मविषयाः स्थौल्यादिप्रतिषेधबुद्धयः सर्व्वासूपासनासु नेया न वेति। समान एवं चाभेदादित्यत्र विग्रहात्मकब्रह्मोपासनाया निरूपणात्तादृशे ब्रह्मण्येतासामसम्भवान्नेति प्राप्ते—

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत् तदुक्तम् ॥ ३४ ॥

तुशब्दात्पूर्व्वपक्षो निवर्त्यते। अक्षरब्रह्मसम्बन्धिनीनां आसामस्थौल्यादिधियां सर्व्वासु तास्ववरोधः संग्रहः कार्य्यः। कुतः? सामान्येति। "सर्व्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" इति श्रुतेः। सर्व्वत्रोपास्यस्य ब्रह्मस्वरूपस्य सामन्यादैकरूप्यात्। तत्र विग्रहेऽस्थौल्यादीनां भावाच्च। अयं भावः। ज्ञात्वा देवमित्यादिश्रुतेर्ज्ञानान्मोक्षः। तच्च ज्ञानं तमसाधारण्येन गृन्हीयान्नतु साधारण्येन। अन्यत्रातिप्रसङ्गात्। ततश्चास्थौल्यादिविशेषितविभुज्ञानानन्दाभिन्नविग्रहरूपत्वेन ज्ञानमसाधारण्याय स्यात्तदितरनिखिलभेदानुमापकत्वात्। इत्थं च सकलहेयप्रत्यनीकत्वं तद्विग्रहस्य सिद्धम्। "स वै न देवासुरमर्त्यतिर्य्यङ् न स्त्री न षण्डो पुमान्न जन्तुः। नायं गुणः कर्म्म न सन्न चासन् निषेधशेषो जयतादशेषः" इति स्थौल्यादिविहीनत्वेनाभ्यर्थितं वस्तु तादृग्विग्रहात्मनाविर्भूतमिति स्मर्य्यते "हरिराविरासीत्" इति। अत्रैतादृशाविर्भावमर्थयमाने गजेन्द्रे येन रूपेणाविर्भूतं तत्खलु तादृगेव भवेदिति विस्फुटं तत्त्वम्। इतरथा ज्ञानमात्रं तच्चेतस्यवभासेत। इह प्रापञ्चिकं देवत्वादि प्रतिषिध्यते। स्वरूपनिष्ठं देवत्वं पुरुषत्वं चास्त्येव तथैव प्राकट्यात्। गुणानां प्रधानानुगामित्वे निदर्शनं औपसदवदिति। उपसदाख्यकर्म्माङ्गभूतमन्त्रवदित्यर्थः। यथा जामदग्न्येऽहीने पुरोडाशिनीषूपसत्स्वग्नेर्वेर्होत्रमित्यादिकाः पुरोडाशप्रदानमन्त्राः सामवेदपठिता अपि प्रधानानु-

---

इसके अनन्तर अस्थौल्यादि धर्म्मों का उपसंहार आरम्भ करते हैं। श्रुति में कहा गया है—"हे गार्गि! वह अक्षर पुरुष अस्थूल, अनणु और अह्रस्व है। पराविद्या के द्वारा उस अक्षर पुरुष की प्राप्ति होती है। वह अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, अचक्षु तथा अश्रोत्र है। यहाँ संशय है कि अक्षर शब्द कथित परब्रह्म विषयक स्थौल्यादिनिषेधक बुद्धि-समूह उपासना में उपसंहार्य हैं किम्वा नहीं हैं। "समान एवञ्चाभेदात्" इस सूत्र में विग्रहात्मक ब्रह्म की उपासना निरुपित हुई है। तादृश ब्रह्म में असम्भावना-प्रयुक्त इन सबका उपसंहार नहीं हो सकता है। इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के खण्डनार्थ कहते हैं—

"तु" शब्द से पूर्व्वपक्ष का निराकरण होता है। अक्षरब्रह्मसम्बन्धिनी अस्थौल्यादिबुद्धि-समूह का ब्रह्मोपासना में संग्रह करना होता है। क्योंकि "सर्व्वे वेदा यत् पदमामनन्ति" इस वाक्योक्त उपास्य ब्रह्म का सर्व्वत्र सामान्य अर्थात् एकरूप है। और यह भी है विग्रह में अस्थौल्यादि कहे गये हैं। इसका तात्पर्य यह है कि "ज्ञात्वा देवम्" इत्यादि श्रुति के द्वारा जो ज्ञान से मुक्ति की प्रतीति होती है, यह ज्ञान उनको असाधारण रूप से ग्रहण करता है साधारण भाव से नहीं है। साधारणभाव से ग्रहण ऐसा बोलने पर अन्यत्र अतिप्रसंग हो सकता है। विभुज्ञानानन्द से अभिन्न विग्रह का अस्थौल्यादिगुणविशिष्टता के रूप में जो ज्ञान है वह ब्रह्म-स्वरूप ज्ञान है तथा वह असाधारण है। क्योंकि यह ज्ञान ब्रह्मस्वरूप का ब्रह्म से इतर समस्त पदार्थ से भेद कराता है। इस प्रकार ब्रह्म विग्रह का निखिल हेय-वस्तु से विशेषत्व सिद्ध हुआ है। अप्राकृत श्रीविग्रह में प्राकृत हेय गुण सम्भव नहीं है। ऐसा कहा गया कि—वे देवता, असुर, नर, पशु, पक्षी, स्त्री, नपुंसक, पुरुष, जन्तु, गुण, कर्म्म, सत्, असत् कुछ भी नहीं हैं। वे स्वयं अशेष विशेष होकर भी निषेध का शेष हैं। गजेन्द्र ने जब इस प्रकार के आविर्भाव की प्रार्थना की तब उसकी प्रार्थना के अनुसार ही भगवान् उस समय आविर्भूत हुए होंगे। नहीं तो गजेन्द्र के मन में ज्ञान मात्र का आविर्भाव होता। भगवान् के अप्राकृत श्रीविग्रह में प्रपञ्च देव-मनुष्यादिकों का निषेध है। तो भी उनमें जो देवत्व-मनुष्यत्वादि की प्रतीति है वह स्वरूपनिष्ठ है। क्योंकि इस प्रकार प्राकट्य देखा जाता है। गुणों

गामितया याजुर्वेदिकैरध्वर्य्यु भिरभिसम्बध्यन्ते । तत्प्रदानस्य तत्कार्य्यत्वात् । एवं क्वाचित्कयोऽपि तद्बुद्धय: प्रधानेनाक्षरेण सह सर्व्वत्र सम्बध्यन्ते । तासां तदनुगामित्वादिति । तदुक्तं विधिकाण्डे ।"गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोग:" इति ॥ ३४ ॥

ननु तादृक् विग्रहत्वादिधर्म्मजातमिव "सर्व्वकर्म्मा सर्व्वगन्ध:" इत्यादि प्रतिपन्नं सर्व्वकर्म्मत्वादिकमप्यवश्यं सर्व्वत्र चिन्त्यं स्यादिति चेत्तत्राह—

इयदामननात् ॥ ३५ ॥

इयदेव तादृक् विग्रहत्वादिगुणवृन्दमेव तस्यावश्यं सर्व्वत्र चिन्तनीयम् । कुत: ? आमननात् । आमननमाभिमुख्येन चिन्तनं तस्मात् । इयता गुणजातेन तस्यानुचिन्तनं भवेदतस्तदवश्यमनुचिन्त्यम् । सर्व्वकर्म्मत्वादिकं तु चिन्तितस्वरूपे तस्मिन्ननुवर्त्तेत तस्मान्न तच्चिन्ता नियतेति ॥ ३५ ॥

अथ स्वात्मकाधिष्ठानत्वं धर्म्ममुपसंहर्त्तु मारभते । मुण्डके श्रूयते । "य: सर्व्वज्ञ: सर्व्वविद् यस्यैष महिमा भुवि सम्बभूव दिव्ये पुरे ह्येष संव्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठित:" इत्यादि "ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठं"इत्यन्तम् । तत्र संशय: । संव्योमशब्दाभिहितं ब्रह्मपुरं किं सामर्थ्यैश्वर्य्यपर्यायस्तन्महिमैव भवेदुत विचित्रप्रासादगोपुरप्राकारादिरूपं तदिति । किं प्राप्तम् तादृशस्तन्महिमैव तदिति । "स भगव: कस्मिन्प्रतिष्ठित" इति । स्वे महिम्नि"इति स्वमहिमाधारत्वश्रवणात् । तस्मान्महिमैव पुरत्वेन निरूपित: संव्योमशब्दितश्च स: । तस्यानन्त्यात् । न खलु विभोरधिष्ठानं सम्भवेदित्युक्तं ब्रह्मैवेत्यादिना । एवं प्राप्ते पठति—

का प्रधान में अनुगामित्व है । औपसद उसका उदाहरण है । औपसद् अर्थात् कर्म्माङ्गभूत मन्त्र जिस प्रकार प्रधान कर्म्म का अनुगमन करता है ठीक उसी प्रकार भगवान् के गुणसमूह प्रधान गुण के अनुगामी हैं । "अग्नेर्वेहोंत्रम्" इत्यादि पुरोडाश प्रदान मन्त्र-समूह सामवेद में पठित होने पर भी यजुर्वेदीगण इन सब मन्त्रों को प्रधान मन्त्र का अनुगामी कह करके पाठ करते हैं । क्योंकि इन सब मन्त्रों के द्वारा ही पुरोडाश प्रदान करना होता है । अतएव प्रधान अक्षर के साथ अन्यत्र पठित अन्य गुण सकल का सम्बन्ध है । सकल अप्रधान प्रधान के ही अनुगामी होते हैं । विधिकाण्ड में कहा है"मुख्य गुण का व्यतिक्रम होने पर तदर्थत्व-प्रयुक्त मुख्य के साथ वेद संयोग करना होता है" इत्यादि ॥ ३४ ॥

अच्छा ? उस प्रकार विग्रहत्वादि धर्म्म समूह की भाँति "सर्व्वकर्म्मा सर्व्वगन्ध" इत्यादि श्रुति से प्रतिपन्न सर्व्वकर्म्मत्वादि ब्रह्म में चिन्तनीय हों–इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष का उत्तर देते हैं ।—

परमेश्वर का तादृश विग्रहत्वादि गुण-वृन्द सर्व्वत्र अवश्य चिन्तनीय हैं । उससे उनका आभिमुख्य-लाभ किया जाता है । इस प्रकार गुण समूह से उनका अनुचिन्तन होता है । अत: वह अवश्य कर्त्तव्य है । सर्वकर्म्मत्वादि सकल धर्म्म चिन्तनीयस्वरूप में अनुवर्त्तन करना चाहिए । इसलिये वह चिन्ता नियत नहीं है ॥ ३५ ॥

अब स्वात्मकाधिष्ठानत्व धर्म्म का उपसंहार करते हैं ।—मुण्डकश्रुति में कहा है–"जो सर्व्वज्ञ, सर्व्ववित् जिनकी महिमा इस पृथ्वी में दृष्ट है । वे आत्म प्रतिष्ठित संव्योम नामक दिव्यपुर में वास करते हैं"इत्यादि । अन्त में भी कहा"ब्रह्म ही यह विश्व है वरिष्ठ है" इत्यादि । वहाँ संशय है कि संव्योमशब्द से अभिहित ब्रह्मपुर क्या सामर्थ्य-ऐश्वर्य्य पर्य्यायी महिमा विशेष है किम्वा विचित्र प्रासाद-गोपुर-प्राकारादि विशिष्ट पुरी विशेष है ?"भगवान् निज महिमा में ही अधिष्ठित हैं" इत्यादि श्रुतिवाक्य से उसको आध्यात्मिक भगवन्महिमा कह करके स्थिर किया जाता है । अतएव महिमा ही का पुरी रूप से वर्णन किया गया है । महिमा ही संव्योमपुर है और यह अनन्त है । परमेश्वर विभु हैं सुतरां उनका अधिष्ठान सम्भव नहीं है । आकार-विभूति आदिक समन्वित प्राकृतगुण-विशिष्ट

अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मन: ॥ ३६ ॥

अन्तरा संव्योमपुरमध्ये स्वात्मनो भूतग्रामवद्विभाति । स्वात्मन: स्वीयत्वेन वृतस्य भक्तस्येत्यर्थ: । "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य:" इत्यादि श्रुते: । तत्रत्यं वस्तुजातं सर्व्वं ब्रह्मात्मकमपि पृथिव्यादिनिर्म्मितवत् स्फुरतीत्यर्थ: । वच्छब्देन भूतग्रामत्वं तस्य निरस्तम् । किंतु स्वात्मकत्वमुक्तम् । "ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् पश्चाच्च । ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेणाधश्चोर्द्ध्वं प्रसृतम् । ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठं' इति । यथा विज्ञानानन्दे परमात्मनि पाणिपादनखरकुन्तलादिमयं वैचित्र्यं तद्भक्तस्य स्फुरति तथा तदात्मभूते तल्लोकेऽपि भूतोयादिरूपं तदित्यर्थ: । एकमपि विचित्रं चन्द्रकादिवद्विभातीति ॥ ३६ ॥

अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥ ३७ ॥

अन्यथा भेदाभावे सत्यधिष्ठानाधिष्ठातृभेदानुपपत्तिरिति चेन्नैष दोष: । कुत: ? उपदेशान्तरवदुपपत्ते: । "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" इत्याद्युपदेशान्तरे यथा सत्यप्यभेदे विशेषबलाद्भेदकार्य्यमुपपद्यते तद्वदित्यर्थ: ॥३७॥

लोकलोकिनोरुपास्यभावं सममिति व्यञ्जयति—

व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् ॥ ३८ ॥

"आत्मानमेव लोकमुपासीत्" इत्याद्या: श्रुतयो हि यस्माल्लोकत्वेन परमात्मानं विशिंषन्ति परमात्मत्वेन लोकं, च अतो व्यतिहार: सिद्ध: । परमात्मैव लोको, लोक: परमात्मेति । इतरवत् यथेतरा: सत्पुण्डरीकनयनमित्याद्या:

पदार्थ का अधिष्ठान होता है । जब भगवान् अप्राकृतवस्तु हैं, तब उनका अधिष्ठान कहाँ है । उनकी महिमा ही उनका आधार है । इस प्रकार पूर्व्वपक्षीय सिद्धान्त का उत्तर देते हैं ।—

स्वीय भक्तों की दृष्टि में भगवान् का अधिष्ठान रूप संव्योमपुर, प्राकृतभूत निवास की तरह प्रतीव होता रहता है । "जिसको वे वरण करते हैं अर्थात् कृपापात्र रूप से अंगीकार करते हैं "वह उनको लाभ करता है" इत्यादि श्रुति में निजभक्तों के निकट इस प्रकार की प्रतीति सुनने में आती है । संव्योमपुर स्थित समस्त वस्तु ब्रह्मात्मक अर्थात् विशुद्ध चित् स्वरूप होने पर भी पृथिव्यादि भौतिक वस्तु के सदृश प्रकाशमान होती हैं । सादृश्य-वाचक वत् शब्द के प्रयोग से उसका भौतिकत्व निरस्त हो रहा है । वह स्वात्मकत्व अर्थात् भगवदात्मक कहा गया है । "उस पुर का सम्मुख–पश्चात्–दक्षिण-उत्तर-अध:- ऊर्द्ध्व समस्त ही ब्रह्म रूप हैं" "वह विश्व ब्रह्म ही है वरिष्ठ है" इत्यादि श्रुति वाक्य से उक्त पुर का ब्रह्मात्मकत्व स्थिर हुआ है । जिस प्रकार विज्ञान आनन्दरूप परमात्मा में पाणि-पाद-नख-कुन्तलादिमय विचित्र स्वरूप भक्तगणों के सम्बन्ध में स्फुरित होता है ठीक उसी प्रकार ब्रह्मात्मक उनके लोक में भूमि जलादिरूप का स्फुरण होता है । वह एक होकर भी मयूरपुच्छ की तरह विचित्र रूप से प्रतिभात होता है ॥ ३६ ॥

इस प्रकार ब्रह्म और उनके अधिष्ठान का भेद अस्वीकार करने पर अधिष्ठान तथा अधिष्ठाता उपपन्न नहीं होता है । यह सत्य है, किन्तु उसमें कोई दोष नहीं हो रहा है । क्योंकि "ब्रह्म का आनन्द जानना होगा" इस प्रकार उपदेश से भेद की प्रतीति नहीं होने पर भी जिस प्रकार विशेष बल के द्वारा भेद उपपन्न होता है, ठीक उसी–प्रकार अधिष्ठान और अधिष्ठाता का स्वरूप से भेद नहीं रहने पर भी विशेषबल से भेदकार्य्य की उपपत्ति जाननी होगी ॥ ३७ ॥

अब लोक तथा लोकी के उपास्यभाव का समत्व दिखलाते हैं । "आत्मरूप लोक की उपासना करें" इत्यादि श्रुतियाँ परमात्मा को लोकरूप से लोक को परमात्मा रूप से उपदेश करती हैं । अतएव परमात्मा ही आत्मलोक

"साक्षात्प्रकृतिपरोऽयमात्मा गोपालः" इत्याद्याश्च श्रुतयो विग्रहं परमात्मत्वेन विशिंषन्ति परमात्मानं च विग्रहत्वेनेति तद्वत्। तथा चानन्दचिद्विग्रहो हरिरचिन्त्यशक्त्या स्वयं विचित्रस्तादृशलोकरूपश्च स्वभक्तस्य स्फुरति नान्यस्येति। तद्वत्सोऽपि ध्येय इति सिद्धम् ॥ ३८ ॥

अथोक्तार्थस्थैर्य्याय इदमारभ्यते । विशेषबोधकानि वचांसि विषयः। विशेषा मायिकाः स्वाभाविका वेति संशयः। "नेह नानास्ति किंचन", अथात आदेशो नेति नेति" इत्यादि श्रवणान्मायिकास्त इति प्राप्ते पठ्यते—

सैव हि सत्यादयः ॥ ३९ ॥

पराऽस्य शक्तिरित्यादौ विष्णुशक्तिः परेत्यादौ च मायेतरा वह्नयुष्णतेव स्वाभाविकी या पराख्या स्वरूपशक्तिरुक्ता सैव हि यस्मात् सत्यादयो विशेषा भवन्त्यतस्तेन मायिका अपि त्वात्मानुबन्धिनः स्युरित्यर्थः। सत्यादीनां गुणानां परात्वे वक्ष्यमाणावायतनौ हेतू द्रष्टव्यौ । अतएव "नेह नानास्ति किंचन" इत्युक्तम्। अथात इत्याद्यर्थस्तु प्राग्विवृतः । आदिशब्दात् शौचदयाक्षान्त्यादयः सार्व्वज्ञसार्व्वैश्वर्य्यानन्दसौन्दर्य्यादयश्च बोध्याः । अतएव श्रीमान् पराशरो भगवच्छब्दस्य शुद्धो महाविभूतिधर्म्मी परमात्मा वाच्य इत्युक्त्वा सम्भर्त्तृत्वादीन् पूर्णैश्वर्य्यादींश्च धर्म्मान् व्यस्तसमस्तभूतस्य तस्य वाच्यानवोचत्। समस्तस्य तस्य पुनरशेषज्ञानादीन् धर्म्मान वाच्यानभ्यधात्। "शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि शब्दयते । मैत्रेय भगवच्छब्दः सर्व्वकारणकारणे" इत्यादिना। "सम्भर्त्तेति तथा भर्त्ता भकारोऽर्थद्वयान्वितः । नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथामुने ॥ ऐश्वर्य्यस्य समग्रस्य वीर्य्यस्य यशसः

तथा आत्मलोक ही परमात्मा-इस प्रकार के व्यतिहार से अभेद की प्रतीति होती है। जिस प्रकार "सत्पुण्डरीकनयन" प्रभृति तथा "साक्षात् प्रकृति पर यह आत्मा गोपाल" प्रभृति श्रुतियाँ विग्रह को परमात्मा रूप से तथा परमात्मा को विग्रह रूप से निर्देश करती हैं, ठीक उसी प्रकार उनको लोक सम्बन्ध में जानना चाहिए। अतएव-आनन्द चिद्विग्रह श्रीहरि ही निज अचिन्त्यशक्ति के द्वारा निज भक्त के निकट विचित्र तादृश लोकरूप को व्यक्त करते हैं। भक्त-भिन्न अन्य के निकट नहीं है। अतः परमेश्वर की तरह उनका धाम भी ध्येय वस्तु है-यह सिद्ध हुआ ॥ ३८ ॥

अब उक्त विषय के स्थिरीकरण के लिये प्रकरणान्तर का आरम्भ करते हैं। वेशेषबोधक सकलवाक्य इस विचार का विषय हैं। जिन विशेषों के द्वारा परब्रह्म श्रीहरि उनके धाम तथा उनके विग्रह से भिन्न रूप से बोधित होते हैं, वह सब विशेष मायिक हैं किम्वा स्वाभाविक हैं ? अब इसमें संशय यह है कि "नेह नानास्ति किञ्चन" "नेति नेति" इत्यादि वेदवाक्यों के श्रवण से मायिक करके प्रतीत होते हैं-इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष का खण्डन करते हैं—

"परास्य शक्तिः" इत्यादि तथा "विष्णुशक्तिः परा" इत्यादि श्रुति स्मृति में वह्नि की उष्णता की भाँति माया से भिन्न परा नाम्नी परमेश्वर की स्वाभाविकी अर्थात् स्वरूपानुबन्धिनी शक्ति का श्रवण है। इस शक्ति से ही सत्यादिक विशेष की प्रतीति होती है। परमेश्वर के वे सब धर्म्म अमायिक अर्थात् स्वरूपानुबन्धी हैं। सत्यादिगुणसमूह का परात्व विषय में वर्त्तमाण आयतन दोनों हेतु हैं। इसलिये "नेह नानास्ति किञ्चन" यह कहा गया है। "अथातः" इत्यादि का अर्थ पहले विवृत हो गया है। आदि शब्द से शौच, दया, क्षान्ति तथा सार्वज्ञ्य, सर्वैश्वर्य्य, आनन्द, सौन्दर्य्य, माधुर्य्य प्रभृति जानने चाहिएँ। इसलिये ही महर्षि पराशर ने-शुद्ध, महाविभूतिशाली, परमात्मा ही भगवत् शब्द वाच्य है-इस प्रकार कह कर पश्चात् संभर्तृत्वादि तथा पूर्णैश्वर्यादि समस्त धर्म्मों को व्यस्त समस्तभूत भगवत् शब्द का वाच्य कह करके निर्देश किया है। फिर अशेष ज्ञानादि धर्म्म को इन समस्त भगवत् शब्द का वाच्य रूप से निर्देश करते हैं। उनकी उक्ति इस प्रकार है-"हे मैत्रेय! भगवत् शब्द शुद्धमहाविभूतिसंज्ञक सर्वकारण कारण परब्रह्म में शब्दित है। भगवत् शब्द के अन्तर्गत भकार के दो अर्थ हैं। संभर्त्ता और

श्रियः ॥ ज्ञानवैराग्ययोश्चापि षण्णां भग इतीङ्गना ॥ वसन्ति यत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि। स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः ॥ ज्ञानशक्तिबलैश्वर्य्य" इत्यादिना च। तथा च तत्स्वरूपाभिन्ना परैव तत्र सत्यादयो विशेषा भवन्तीति ध्येयं धर्म्मिनिर्भेदमिति सिद्धम् ॥ ३९ ॥

अथ श्रीवैशिष्ट्यं गुणमुपसंहर्त्तुमारम्भः। "श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ" इति यजुषि श्रूयते। इह श्री रमादेवी। लक्ष्मीर्भागवती सम्पदित्येके । श्रीर्वाग्देवी, लक्ष्मीस्तु रमादेवीत्यपरे । अथर्वशिरसि च "कमलापतये नमः रमामानसहंसाय गोविन्दाय नमो नमः" इति "रमाधाराय रामाय" इति चैवमादि । अत्र भवति वीक्षा श्रीरियं प्राकृतत्वादनित्योत परात्वान्नित्येति। "अथात आदेशो नेति नेति" इति परमात्मनि निःशेषविशेषप्रतिषेधात् न तत्र श्र्यादिरूपः कश्चिद्विशेषः सम्भवी। किंतु स्वीकृतमायो विशुद्धसत्त्वमूर्त्तिस्तादृश्यापि श्रिया युज्यते इत्यनित्या तस्य श्रीरिति प्राप्ते—

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥ ४० ॥

सैवेति पूर्व्वतोऽनुवर्त्तते। सैव परैव श्रीः सती तत्र प्रकृत्यस्पृष्टे संव्योम्नि तस्मादितरत्र प्रपञ्चान्तर्गते तत्प्रकाशे च स्वनाथस्य परमात्मनः कामादि वितनोतीति नित्यश्रीकः सः। कामोऽत्र शृङ्गाराभिलाषः। आदिना तदनुगुणा-तत्परिचर्य्या च। श्रीः परैवेति। कुतः ? आयेति। आयाद्व्याप्तेः। तनाद्भक्तमोक्षानन्दविस्ताराच्च। उभयत्र सत्यादिवदिति दृष्टान्तः। आदिना परैक्यवाक्यं गृह्यते। तत्र परास्य शक्तिरित्यादौ स्वाभाविकीति परमात्माभेदाभिधानात्

भर्त्ता। गकार का अर्थ नेता, गमयिता और स्रष्टा है। भगशब्द के द्वारा समग्र ऐश्वर्य-वीर्य-यश-श्री-ज्ञान और वैराग्य ये छै धर्म्म बोधित होते हैं। भूतात्म अखिलात्मा रूप जिन अव्यय पुरुष में सकल भूत वास करते हैं और जिनका अखिल भूत में वास है वे अव्यय ही वकार का अर्थ है। भगवान् अशेष ज्ञान-शक्ति-बल-ऐश्वर्य्य-वीर्य-तेज विशिष्ट हैं। उनमें हेयगुणों का सम्पर्क नहीं है। भगवत् स्वरूप से अभिन्न-पराशक्ति ही सत्यादिविशेष है। अतएव भगवान में धर्म्मी और धर्म्म का अभेद स्थिर हुआ है ॥ ३९ ॥

इसके अनन्तर भगवान् में श्रीविशिष्टतारूप गुण का उपसंहार बतलाते हैं। यजुर्व्वेद में भगवान् की "श्रीश्च लक्ष्मीश्च पत्न्यौ" इत्यादि वाक्य से श्री तथा लक्ष्मी नाम से दो पत्नी कही गयी हैं। यहाँ श्री रमादेवी तथा लक्ष्मी भागवती सम्पत् हैं-ऐसा कोई कहते हैं। श्री वागदेवी तथा लक्ष्मी रमादेवी है ऐसा भी दूसरे कोई कोई कहते हैं। "कमलापतये नमः" "रमामानसहंसाय गोविन्दाय नमो नमः" "रमाधाराय रामाय" इत्यादि सकल-वाक्य अथर्व्वोपनिषद् में देखने में आते हैं। यहाँ संशय यह है कि श्री प्राकृतत्व-प्रयुक्त अनित्य है अथवा पराशक्ति के कारण नित्य है ? "अथातः आदेशो नेति नेति" इत्यादि श्रुतिवाक्य के द्वारा परमात्मा में निःशेष विशेष का निषेध होने के कारण उनमें श्री प्रभृति कोई विशेष सम्भव नहीं है। किन्तु विशुद्ध सत्वमूर्त्ति भगवान् जब माया समन्वित होते हैं, तब उनमें श्री का योग हो सकता है। इससे उनकी श्रीशक्ति अनित्य है-यह प्रतिपन्न हो रहा है। उसके खण्डनार्थ कहते हैं।—

"सैवेति" पूर्व से अनुवर्त्तन है। वह श्रीरूपा शक्ति परा शक्ति है। वह प्रकृति से अस्पृष्ट परव्योम धाम में रहती है तथा भगवान् जिस समय प्रपञ्च-वैभव में निज धाम का प्रकाश अर्थात प्राकट्य कराते हैं तब वहाँ निजनाथ परमात्मा नारायण की कामादि के विस्तारार्थ अनुगता होती है। इसलिये भगवान् नित्य श्रीयुक्त हैं। यहाँ काम शब्द का अर्थ रिरंसा अर्थात् शृंगाराभिलाष है। आदि शब्द से उसकी अनुगत-उनकी परिचर्या है। आय अर्थात् प्राप्ति, तन अर्थात् भक्तमोक्षानन्दविस्तार इन दोनों कारणों से श्री का परात्व सिद्ध है। उभय स्थल में सत्यादि की भाँति यह दृष्टान्त है। आदि पद के द्वारा परा के साथ ऐक्य युक्त वाक्य का ग्रहण है। वहाँ "परास्य शक्तिः" इत्यादि स्थल में स्वाभाविकी शब्द के द्वारा परमात्मा के साथ अभेद कथन होने के

परा विभ्वी सैव हीति ज्ञानकारुण्यादिरूपत्वोक्तेर्मोक्षदा च। तदभेदादेव श्रीश्च तथा। स्मृतञ्चैवं श्रीविष्णुपुराणे। "नित्यैव सा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी। यथा सर्व्वगतो विष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम" इति। "आत्मविद्या च देवि त्वं विमुक्तिफलदायिनी" इति च। न च भेदे सतीदं द्वयं शक्यं वक्तुमपसिद्धान्तापत्तेः। श्रियः परैक्यं च स्मृतं तत्रैव। "प्रोच्यते परमेशो यो यः शुद्धोऽप्युपचारतः। प्रसीदतु स नो विष्णुरात्मा यः सर्व्वदेहिनां" इति। अत्र परैव मेति विस्फुटम्। आयादीनि प्रकृतेर्न सम्भवन्तीति तदन्यत्वं श्रियः सुव्यक्तम्। तस्मात्परैव श्रीरतो नित्या सेति ॥ ४० ॥

ननु परैव चेत् श्रीस्तर्हि तद्भक्तेर्विलोपापत्तिः। न हि स्वस्मिन् स्वभक्तिः सम्भवेदिति चेत्तत्राह—

आदरादलोपः ॥ ४१ ॥

सत्यप्यभेदे विचित्रगुणरत्नाकरत्वेन स्वमूलत्वेन च श्रियः परस्मिन्नादरात्तद्भक्तेरलोपः। न खलु वृक्षमनाद्रियमाणा शाखाऽस्ति न च चन्द्रं तत्प्रभा। तद्भक्तिश्चोक्तश्रुतिभ्यः प्रतीयते। "श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या लब्ध्वाऽपि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टं" इत्यादिस्मृतिभ्यश्च ॥ ४१ ॥

ननु रतिविषयाश्रयभावेनालम्बनविभावभेदे सति शृङ्गाराभिलाषः सम्भवेत्। निर्भेदे तु तत्त्वे नासौ सम्भावयितुं शक्य इति चेत्तत्राह—

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ४२ ॥

उपस्थितमिति भावे निष्ठा। यद्यपि शक्तितदाश्रययोरस्त्यभेदस्तथापि शक्त्याश्रयस्य पुरुषोत्तमत्वेन शक्तेश्च

कारण परा विभुत्व सम्पना है-यह स्थिर हुआ है। ज्ञान-कारुण्यादिरूप उक्ति के द्वारा परा मोक्षदा है-यह बोध होता है। श्री परा से अभिन्ना है सुतरां परा जिस प्रकार की श्री है उसी प्रकार की है। विष्णुपुराण में कहा है-"विष्णु की श्री अनपायिनी, नित्या तथा जगन्माता है। विष्णु जिस प्रकार सर्व्वगत हैं, वह भी उस प्रकार सर्व्वगता है। "हे देवि! तुम आत्मविद्यास्वरूपिणी तथा विमुक्ति फल को देनेवाली हो"इत्यादि। परमात्मा तथा श्री का भेद रहने पर इस प्रकार वाक्य दोनों की संगति नहीं हो सकती है। अतएव भेद अपसिद्धान्त है। उक्त स्मृति में श्री तथा परा का ऐक्य कहा गया है।"जो स्वयं शुद्ध होकर भी उपचार के वश परमेश हैं। अर्थात् जो पराशक्ति मा अर्थात् श्री है उनके स्वामी हैं-इस प्रकार अभिहित होते हैं तथा जो समस्त देहियों के आत्मारूप हैं, वे विष्णु मेरे लिये प्रसन्न होवें"। यहाँ परा ही श्री है-यह स्पष्ट व्यक्त है। आय और तनु प्रकृति से नहीं हो सकते हैं। इसलिये श्री का उससे अन्यत्व व्यक्त हो रहा है। अतएव परा ही श्री है। सुतरां वह नित्या है ॥ ४० ॥

अच्छा? परा वस्तु ही यदि श्री हुई तब तो उसकी भक्ति के विलोप की आपत्ति उठ सकती। क्योंकि अपने में भक्ति सम्भव नहीं है-इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष उठने पर उसकी मीमांसा करते हैं।—यद्यपि श्री परा है तथा परमेश्वर से अभिन्ना है तो भी विचित्र गुणरत्नाकर अपने मूलतत्व के कारण परमेश्वर में उसका आदर अवश्यम्भावी होने से भक्ति विलोप होने की सम्भावना नहीं है। इस प्रकार की शाखा कभी नहीं रह सकती है जो कि वृक्ष का आदर नहीं करती हो, अथवा कभी ऐसी प्रभा नहीं होती है जो कि चन्द्र का आदर नहीं रखती है। विशेष करके पूर्वोक्त श्रुति से श्रीदेवी की परमेश्वर में भक्ति देखने में आती है। "स्वयं श्री देवी तुलसी के साथ जिनके पादपद्म का पराग की कामना करती है" इत्यादि स्मृति-वाक्य-समूह हैं ॥ ४१ ॥

अच्छा? विभाव दो प्रकार का है। आलम्बन तथा उद्दीपन। आलम्बन भी फिर दो प्रकार का है। आश्रय तथा विषय। विषय श्रीकृष्ण, आश्रय भक्त। जहाँ इस प्रकार भेदादिक हैं वहाँ ही रिरंसा अर्थात् शृंगाराभिलाष उदित होता है। निर्भेद तत्व में उसकी सम्भावना नहीं हो सकती है। इसके उत्तर में कहते हैं—

युवतीरत्नत्वेनोपस्थितौ सत्यां स्वारामत्वपूर्त्त्याद्यनुगुणं कामादि समुदेत्यतः सिद्धं तत्। इदं कुतः? तद्वचनात्। "यो ह वै तु कामेन कामान् कामयते सकामी भवति। यो ह वै त्वकामेन कामान् कामयते सोऽकामी भवति" इत्यथर्व्वशिरसि तादृशकामाद्यभिधानादित्यर्थः। अकामेनेति सादृश्ये नञ्। कामतुल्येन प्रेम्णेत्यर्थः। तेनात्मानुभवलक्षणेन विषयकामाना खलु स्वारामत्वं पूर्णतां च नातिक्रामतीति। स्वात्मकश्रीस्पर्शादुद्यानन्दस्तु स्वसौन्दर्य्यवीक्षणादेरिव बोध्यः। एतदुक्तं भवति। पराख्यस्वरूपशक्तिविशिष्टं खलु परतत्त्वं श्रुत्यादिषु प्रतिपन्नं स्वप्राधान्येन स्फुरत्तत् पुरुषोत्तमसंज्ञम्। पराख्यशक्तिप्राधान्येन स्फुरत्तु धर्म्मादिसंज्ञम्। परैव खलु ज्ञानसुखकारुण्यैश्वर्य्यमाधुर्य्याद्याकारेण स्फुरन्ती धर्म्मरूपा। शब्दाकारेणाह्वयोक्तिरूपा। धराद्याकारेण धामरूपा। ल्हादिनीसारसमवेतसंविदात्मकयुवतीरत्नत्वेन तु राधादिश्रीरूपा चेति सामस्त्येन परेत्युक्ता। तथा चाभेदे सत्यपि विशेषविजृम्भितेन भेदकार्य्येण विभाववैलक्षण्यविभानात्तदभिलाषः सिद्ध इति। धर्म्मादिरूपता तु न पश्चात्तनी किंतु अनादिसिद्धिमतीति न कापि क्षतिरस्ति। तस्मात्परं तत्त्वं श्रीमदेव ध्येयं तज्जनानुयायिभिः ॥ ४२ ॥

तत्रैव श्रूयते। "तस्मात् कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत् तं रसेत् तं भजेत् तं यजेत् इति ओं तत्सत्" इति। अत्र संशयः। श्रीकृष्णत्वेन गुणेन श्रीहरेरुपासनं नियतं न वेति। अवधारणस्वारस्यात्तेन तन्नियतमिति प्राप्ते—

तन्निर्द्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग् ह्यप्रतिबन्धः फलम् ॥ ४३ ॥

तेन निर्द्धारणेनानियमः श्रीकृष्णत्वेनैव धर्म्मेण श्रीहरिरुपास्यो नान्येन श्रीरामत्वादिना इति नियमो नेत्यर्थः।

उपस्थित यहाँ भाव में निष्ठा है। यद्यपि शक्ति और उसका आश्रय दोनों में अभेद है तो भी शक्ति का-आश्रय पुरुषोत्तम स्वरूप में तथा शक्ति स्त्रीरत्नस्वरूप में उपस्थित होने के कारण पुरुष का स्वात्मारामत्व तथा पूर्त्ति प्रभृति के अनुगुण कामादिक का उदय सिद्ध होता है। अथर्वोपनिषद् में ऐसा वचन है-"जो काम-सहकार से कामना करते हैं, वे कामी होते हैं और जो अकाम से कामना करते हैं, वे अकामी कहे जाते हैं" इत्यादि वाक्यों में तादृश काम का कथन है।"अकामेन"इस शब्द का अर्थ काम सदृश प्रेम के साथ है। सादृश्य में नञ् है। आत्मानुभवलक्षण प्रेम सहकार से कामना कभी आत्मारामत्व और पूर्णत्व का अतिक्रम नहीं करती है। निज शक्तिरूप श्री के स्पर्श से जो महान् आनन्द होता है, वह निज सौन्दर्य्यादिक दर्शन से आनन्द की तरह जानना चाहिए। इससे यह बोध हो रहा है कि-परतत्व भगवान् पराख्य स्वरूपशक्ति विशिष्ट हैं। यह श्रुत्यादिक में प्रतिपन्न है। वह परतत्व जब स्वप्राधान्य में स्फुरित होता है तब पुरुषोत्तम संज्ञा को धारण करता है तथा जब पराख्यशक्ति के प्राधान्य को लेकर उसमें स्फुरित होता है, तब धर्म्मादिक संज्ञा को धारण करता है। पराशक्ति स्वयं ही ज्ञान, सुख, कारुण्य, ऐश्वर्य्य और माधुर्य्य प्रभृति आकार में स्फुरित होकर धर्म्म रूप से प्रकाश को प्राप्त होती है। वह शक्ति फिर जब शब्दाकार से स्फुरित होती है तब नामरूपा, धरित्री आकार में स्फुरित होकर धाम रूपा तथा ह्लादिनीसार समवेत सम्बिदात्मक युवती रत्नरूप में स्फुरित होकर श्रीराधादिरूपा बन जाती है। इनका-समुदाय पराशक्ति कहा जाता है। स्वरूपतः भेद नहीं रहने पर भी विशेष विजृम्भित भेद कार्य्य के द्वारा विभाव का वैलक्षण्य विभावित से पूर्वोक्त शृङ्गारादि अभिलाष सिद्ध होता है। श्री की वह धर्म्मादिरूपता पश्चात् हुई अर्थात् उत्पन्न हुई-ऐसा नहीं है। क्योंकि वह अनादिसिद्धा है। अतएव उसमें कोई दोष का अवकाश नहीं है। इस लिये भक्तसम्प्रदाय उस परतत्व का श्री समन्वित करके चिन्तन करते हैं ॥ ४२ ॥

गोपालतापनी में ऐसा सुना जाता है। "अतएव श्रीकृष्ण ही परदेवता हैं उनका ध्यान करें, उनमें रति करें, उनका भजन करें, उनका ही यजन करें" इत्यादि। यहाँ संशय है कि श्रीकृष्ण स्वरूप में श्रीहरि की उपासन नियत है किम्वा नहीं है? अवधारण स्वारस्य के कारण नियत है-इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के खण्डनार्थ कहते हैं—

श्रीकृष्णत्वं यशोदास्तनन्धयत्वे सति विभुविज्ञानानन्दवस्तुत्वम्। एवं कुतः ? तद्दृष्टेः। "यत्रासौ संस्थितः कृष्णस्त्रिभिः शक्त्या समाहितः। रामानिरुद्धप्रद्युम्नै रुक्मिण्या सहितो विभुः। चतुःशब्दो भवेदेको ह्योंकारस्यांशकैः कृतः" इति तत्रैव श्रीकृष्णात्मभूतानां बलदेवादीनामपि तद्वदुपास्यत्वप्रतीतेरित्यर्थः। तर्हि कृष्ण एवेत्यवधारणं विफलम्। तत्राह पृथगिति। हि यस्मात्तत्फलं पृथगस्तीत्यर्थः। किं तदित्याह। अप्रतिबन्धेति। देवतान्तरपारम्यस्य श्रीकृष्णोपास्तिप्रतिबन्धस्य विनिवृत्तिस्तदित्यर्थः। तथा च शक्तौ रुचौ च सत्यां समुच्चित्योपासनं तदभावे तु तेनैवेति स्थिरम् ॥ ४३ ॥

अथ गुरुगम्यत्वं गुणमुपसंहर्त्तुमारभ्यते। विद्याप्रदेशेषु श्रूयते। "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" इति श्वेताश्वतरोपनिषदि। आचार्य्यवान् पुरुषो वेदेति। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेदिति"चान्यत्र। इह संशयः। गुरुलब्धाच्छ्रवणादितः फलं गुरुप्रसादसहितात्तस्माद्वेति। तत्र श्रवणादितः फलाभिधानात् किं तत्प्रसादेनेति प्राप्ते–

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ ४४ ॥

यथा प्रसन्नेन गुरुणा ब्रह्माप्तिहेतुः श्रवणादिसाधनं दत्तं तथैव तत्प्राप्तिरूपं फलं भवति। न तु श्रवणादिमात्रेणेत्यावश्यकम्। तद्गुर्व्वनुग्रहावेक्षणमुक्तम्। प्रशब्दः प्रसादं व्यञ्जयति। आह चैवम् श्रीभगवानरविन्दाक्षः। आचार्य्योपासनं शौचमिति। तथा च तदनुग्रहसहिताच्छ्रवणादितस्तत्प्राप्तिरिति ॥ ४४ ॥

अथ स्वप्रयत्नो बलवान् श्रीगुरुप्रसादो वेति सन्देहेऽकृते प्रयत्ने तत्प्रसादस्याकिंचित्करत्वात् स्वप्रयत्नो बलवान् इति प्राप्ते—

श्रीकृष्णरूप से ही उपासना करें ऐसा कोई निर्द्धारित नियम नहीं है अर्थात् श्रीकृष्णरूप से उपासना करें श्रीरामादि रूप से नहीं–इस प्रकारका कोई नियम नहीं देखा जाता है। श्रीकृष्णत्वका अर्थ विभु विज्ञानानन्द होकर भी यशोदास्तनपानकारी श्रीकृष्ण स्वरूप है। श्रुति में देखा जाता है–त्रिशक्ति समन्वित परतत्व ही श्रीकृष्ण हैं। वे श्रीरुक्मिणी बलदेव-प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के साथ लीला करते हैं। एक प्रणव चार अंशो से श्रीरुक्मिणी प्रभृति रूप में विराजमान है। उक्त श्रुति में श्रीकृष्ण के आत्मभूत श्रीबलदेवादि का भी उनकी भाँति उपास्यत्व प्रतीत हो रहा है। अतएव "कृष्ण एव" इस वाक्यान्तर्गत "एव" शब्द अवधारणार्थ है ऐसा बोलना विफल होता है। क्योंकि यहाँ "एव"शब्द का अर्थ अन्यरूप है। देवतान्तर के श्रेष्ठत्व निरास के द्वारा श्रीकृष्ण उपासना के प्रतिबन्धन को हटाना उसका सिद्धान्त है। अतएव शक्ति वा रुचि होने पर तादृश व्यूह की उपासना करना कोई दोष नहीं है। यदि सामर्थ्य नहीं है तो केवल उनकी ही उपासना करें–यह स्थिर हुआ ॥ ४३ ॥

अब गुरुगम्यत्व गुण का उपसंहार करते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में विद्याप्रकरण में कहा गया है। "जो गुरु में देवता की भाँति भक्ति रखता है यह सब अर्थ उसके हृदय में उदय प्राप्त करता है"। अन्यत्र भी–"जो आचार्य्य की सेवा करते हैं, वे ही ज्ञान प्राप्त करते हैं"। "ब्रह्म को जानने के लिये गुरु के निकट गमन करें"। यहाँ संशय है कि गुरु के निकट शास्त्रश्रवण करने से फललाभ है किम्बा गुरु कृपा से ज्ञान-लाभ है ? श्रवण से ही फल होता है इस प्रकार के वचन से गुरुप्रसाद की कोई अपेक्षा नहीं है। ऐसे सिद्धान्त का उत्तर देते हैं।—

जिस प्रकार गुरु प्रसन्न होकर ब्रह्म-प्राप्ति के हेतुरूप श्रवणादि साधन को प्रदान करते हैं,ठीक उसी प्रकार गुरुप्रसाद से ही भगवत्प्राप्ति रूप फल-लाभ होता है। केवल श्रवणादिमात्र से फल-लाभ नहीं होता है। फल गुरु-अनुग्रह की अपेक्षा करता है। भगवान् स्वयं ही आचार्य्यसेवा करने को कहते हैं। अतएव गुरुप्रसाद के साथ श्रवणादि साधन से ब्रह्म-प्राप्ति होती है ॥ ४४ ॥

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥ ४५ ॥

ऋषभादिभ्यो ब्रह्मश्रुतवता सत्यकामेन "भगवांस्त्वेव मे कामं ब्रूयात्"इति श्रीगुरुः प्रार्थ्यते। तथाग्निभ्यः श्रुतविद्येनोपकोशलेन चेत्यादिच्छान्दोग्यादिदृष्टगुरुप्रसादनलिङ्गबाहुल्यात्तत्प्रसादनमेव बलिष्ठम्। तर्हि तावतालमित्यपि न मन्तव्यम्। किं तर्हि तदपि श्रवणादि च कर्त्तव्यम्। "यस्य देवे परा भक्तिः" "श्रोतव्यो मन्तव्यः" इत्यादि श्रुतेः। "गुरुप्रसादो बलवान् न तस्माद्बलवत्तरम्। तथापि श्रवणादिश्च कर्त्तव्यो मोक्षसिद्धये" इति स्मृतेश्च ॥४५॥

एवं गुणादिविशिष्टस्य भगवत उपासनाद्देशिकानुग्रहसहकृतात् फलमित्यापादितम्। अथैतद्विरोधिवाक्यार्थसमाधिना परिपुष्यते। गोपालतापन्यां मुनिभिः सर्व्वाराध्यत्वादिगुणकं वस्तु पृष्टः पद्मयोनिस्तथात्वेन श्रीकृष्णमुद्दिश्य तत्प्राप्तिहेतुं तद्भक्तिमुपदिशति। तदुत्तरत्र च। "तस्मादेव परो रजसे"ति सोऽहमित्यवधार्य्य गोपालोऽहमिति भावयेत्। "स मोक्षमश्नुते स ब्रह्मत्वमधिगच्छति स ब्रह्मविद्भवति" इत्यादि पठ्यते। इह सोऽहमित्यभेदाभ्यासो दृश्यते। अत्र संशयः। परापरात्मस्वरूपैक्यविषयेयं सोऽहमिति भावना किंवा पूर्व्वोपदिष्टाया भक्तेरेव कश्चन प्रकार इति शब्दस्वारस्यात्तद्विषयासौ मोक्षहेतुरिति प्राप्ते—

पूर्व्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात् क्रियामानसवत् ॥ ४६ ॥

पूर्व्वस्या भक्तेरेव विकल्पो यः सोऽहमिति भावः। कुतः ? प्रेति। "भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्ये-

---

अब निज चेष्टा बलवान् है किम्बा गुरुकृपा बलवान् है–इस प्रकार के सन्देह होने पर प्रयत्न-हीन व्यक्ति को अन्य-प्रसाद कार्य्यकर नहीं होता है, सुतरां निज प्रयत्न ही बलवान् है–ऐसा स्थिर होने पर उसके समाधानार्थ सूत्रान्तर का स्थापन करते हैं।—

वेद में अनेक स्थल पर गुरुप्रसाद को ही बलवान् कहा है। सत्यकाम ने ऋषभादि के निकट ब्रह्मविषयक अनेक बातें श्रवण करने पर भी "भगवांस्त्वेव मे कामं ब्रूयात्" इत्यादिक से उनकी प्रसन्नता की प्रार्थना की थी। उपकोशल ने भी अग्नि के निकट अनेक उपदेश ग्रहण करने पर भी परिशेष में उनके प्रसाद भिक्षा की थी। अतएव गुरुप्रसाद ही बलिष्ठ होता है। इस प्रकार गुरुप्रसाद बलिष्ठ होने पर भी निज चेष्टा का शैथिल्य करना अनुचित नहीं है। पूर्व्वोक्त "यस्य देवे परा भक्ति यथा देवे तथा गुरौ" "श्रोतव्यो मन्तव्यः" इत्यादि वाक्य से गुरुकृपा तथा श्रवणादि दोनों की आवश्यकता है। स्मृति में भी कहा है कि यद्यपि गुरुप्रसाद बलवत्तर है तो भी मोक्षसिद्धि के लिये श्रवणादि की चेष्टा कर्त्तव्य है ॥ ४५ ॥

इस प्रकार गुरुकृपासहकृत गुणादिविशिष्ट भगवान् की उपासना का मुक्तिफलत्व प्रतिपादित हुआ है। अब इस विषय को विरोधि वाक्य-समूह के द्वारा समाधान कर पुष्ट करते हैं।

गोपालतापनी श्रुति में कहा गया है कि एक समय मुनिगण के द्वारा "सर्वाराध्यत्व" प्रभृति गुण-समूह किसका है"–यह ब्रह्माजी से पूछा गया। ब्रह्मा जी ने उनको "श्रीकृष्ण ही तादृश गुणशाली हैं"–ऐसा उपदेश देकर–भक्ति ही कृष्णप्राप्ति का एकमात्र साधन है—यह कहा था। आगे और भी कहा है–"रजो गुण से अतीत जो है सो मैं हूँ"ऐसा स्थिर कर "यह मैं वह गोपाल हूँ" इस प्रकार चिन्तन करें। जो इस प्रकार चिन्तन करेगा वह मोक्ष-लाभ करेगा, वह ही ब्रह्म भाव को प्राप्त होगा, वह ही ब्रह्मज्ञ होगा" इत्यादि। यहाँ "सो मैं हूँ" इस प्रकार का अभेदाभास देखा जाता है। यहाँ पर संशय है कि यह परमात्मा के साथ जीवात्मा की अभेदभावना स्वरूपगत ऐक्य विषयक है किम्बा पूर्व्व-उपदिष्ट भक्ति का कोई प्रकार विशेष है ? शब्दस्वारस्य के हेतु स्वरूपगत ऐक्य है–इस प्रकार का पूर्व्वपक्ष स्थिर होने पर उसका समाधान करते हैं।—

उक्त अभेदभावना पूर्व्वकथित भक्ति का ही विकल्प अर्थात् प्रकार विशेष है। प्रकरणबल से यह प्राप्त हो

नामुस्मिन् मनः कल्पनमेतदेव नैष्कर्म्यं" इति तस्याः पूर्व्वं प्रकृतत्वात् "सच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगे तिष्ठति" इति तथैवोपसंहाराच्च प्रकारविशेष एव नार्थान्तरमित्यत्र दृष्टान्तः क्रियेत । क्रिया परिचर्याऽर्चनादिरूपा । मानसं च ध्यानम् । ते यथा भक्तेरेव प्रकारौ, तथा सोऽहमिति भावोऽपि पूर्व्वोपदिष्टाया भक्तेः प्रकारविशेषो भवतीति। रागाद्भयाच्च गाढावेशे सति सोऽहमिति भावोऽभ्युदेति। कृष्णोऽहमिति सिंहोऽहमिति च । एतदुक्तं भवति। पूर्व्वविभागे "कः परमो देवः" इत्यादिना सर्व्वाराध्यत्वसंसारनिवर्त्तकत्वसर्व्वाश्रयत्वसर्व्वकारणत्वगुणकं परमार्थ-वस्तु मुनिभिः पृष्टो ब्रह्मा "श्रीकृष्णो वै परमं दैवतं"इत्यादिना तत्तद्गुणकताद्दशवस्तुत्वं श्रीकृष्णस्याभिध्यायैतद्यो ध्यायतीत्यादिना तच्चिन्तनतज्जपादिरूपया भक्त्या संसारभयनिवृत्तिं दर्शयति । पुनश्च "ते होचुः किं तद्रूपं" इत्यादिना भजनीयस्य तस्य तद्भक्तेश्च विशेषप्रश्ने तैः प्रवर्त्तिते "तदु होवाच हैरण्यो गोपवेशमभ्राभं" इत्यादिना सपरिकरं तत्स्वरूपमुपवर्ण्य रस्यं पुना रसनमित्यादिना जप्यमुपदिश्य भक्तिरस्य भजनमित्यादिना भक्तिस्वरूपं निरूप-यति । अथोंकारेणान्तरितं यो जपतीत्यादिना जपेन तेन प्राप्यं तत्स्वरूपं फलमुक्त्वा तच्च तमेकं गोविन्दमित्या-दिना ज्ञानसुखात्मकं भवतीति निर्णयान्तेऽपि "तस्माच्छ्रीकृष्ण एव परो देवः" इति तथैवोपसंहरति । उत्तरविभागे तु "तत्प्रेष्ठा गोप्यस्तेन सह विहृत्य पृष्टेन तेनाज्ञप्तास्ता वरान्नेन दुर्व्वाससं मुनिं भोजयामासुरित्येकदा हीत्या-दिना प्रकीर्त्त्यते । अथ तुष्टेन तेन दत्ताशीभिस्ताभिः श्रीकृष्णतत्त्वं पृष्टः स मुनिस्तल्लीलाया लोकविलक्षणत्वं विवक्षुरयं हि श्रीकृष्ण इत्यादिना तस्य सर्व्वकारणत्वविशुद्धस्नेहवश्यस्वभावत्वनित्यतत्कान्तत्वादिकमाचष्टे अथ सा होवाचेत्यादिना तस्य जन्मकर्म्ममन्त्रधामानि ताभिः पृष्टो मुनिः पूर्व्वार्थ एवाभ्यासलिङ्गेन तात्पर्य्यं निर्णेतुं

भक्ति का अर्थ भगवान् का भजन है। ऐहिक और पारत्रिक निखिल उपाधि के निरासन के द्वारा भगवान् में मनः कल्पना भजन है। यह निष्काम कर्म है। यह भक्ति पहले कही गई है। उपसंहार में भी "सच्चिदानन्द एकरस भक्ति योग में अवस्थान करें" इस प्रकार की उक्ति है। अतएव वह भक्ति का प्रकार विशेष है, अर्थान्तर नहीं है। दृष्टान्त-परिचर्य्या- अर्च्चनादि क्रिया मानस अनुस्मरण के तुल्य "वह सो मैं हूँ" भावना भक्ति का प्रकार विशेष है। अनु-राग और भय से गाढ़ आवेश होने पर 'सो मैं हूँ' इस प्रकार एकात्म भाव होता है। अनुराग से 'मैं कृष्ण' इस प्रकार की उपास्य में ऐक्य तथा भय से 'में सिंह' इस प्रकार की ऐक्य प्रतीति होती है। पूर्वोक्त ब्रह्म-मुनि संवाद का तात्पर्य्य यह है कि पूर्वविभाग में "कौन परमदेव है, तथा सर्वाराध्यत्व, संसारनिवर्त्तकत्व, सर्वाश्रयत्व, सर्व्व-कारणत्व प्रभृति गुणशाली परमार्थतत्व वस्तु है" ?–इस विषय से जिज्ञासित होकर ब्रह्माजी कहते हैं "श्रीकृष्ण ही परम देवता" "ये सकल गुण उनका" इत्यादि। फिर कहते हैं "जो उनका ध्यान करेगा" इत्यादि। इससे श्रीकृ-ष्णचिन्तनरूप और तज्जपादिरूप भक्ति का ही संसारभयनिवारणत्व कहा गया है। पुनर्व्वार एकत्र ही श्री कृष्ण और उनके भक्तों के सम्बन्ध में प्रश्न के द्वारा जिज्ञासित होकर "गोपवेश, अभ्राभ" इत्यादि बोलते हैं। इस वाक्य के द्वारा सपरिकर भगवत्स्वरूप का वर्णन है। फिर रस्य प्रभृति वाक्य के द्वारा उनका नाम जप तथा भजन भक्ति है इस प्रकार से उनका भजन रूप भक्ति के उपदेश तथा भक्ति के स्वरूप का निरूपण करते हैं। अनन्तर "ओंकार के द्वारा संपुट करके जो व्यक्ति उनका नाम जप करेगा" इत्यादि वाक्य के द्वारा जप के द्वारा ही भगवत्प्राप्ति का फल कह कर "उन एक गोविन्द को" इत्यादि वाक्य के द्वारा यह फल ज्ञान सुखात्मक है इस प्रकार कहा है। परि-शेष में श्रीकृष्ण ही परदेवता हैं इस प्रकार उपसंहार किया है। उत्तर विभाग में–श्रीकृष्ण ने निजप्रियतमा गोपां-गना के साथ विहार करने के समय उनके द्वारा किसी विषय की जिज्ञासा देख कर इन्हें दुर्वासा के निकट जाने को आदेश दिया। तदनुसार गोपीगण ने दुर्व्वासाजी को उत्तम अन्न भोजन करा कर जब प्रसन्न किया तब वे वर-दान करने में उन्मुख हुए। गोपियों ने उनके निकट श्रीकृष्णतत्व की जिज्ञासा की। मुनि भी कृष्णलीला के लोक

ब्रह्मनारायणोपाख्यानमुपक्षिपति "स होवाच तां ही"त्यादिना। तत्र च श्रीकृष्णस्य पूर्णत्वं संसारतारकत्वम् । तस्य मथुराख्यमधिष्ठानं तच्च ब्रह्मात्मकं चक्राधारकं वनैरनेकैरुल्लसदिति निरूप्य तस्मादेव परो रजसेति सोऽहमि-त्यादिना तदभेदो भावो मोक्षहेतुरित्यभिधीयते। स चोक्तहेतोर्भक्तेरेव पूर्व्वोपदिष्टायाः प्रकारभेदो भवितुं युक्तः। तस्मादश्रुप्रलयादिवत्तद्विशेषोऽयम्। "अहमस्मि""ब्रह्माहमस्मि" इति तैत्तिरीयकादिदृष्टः अभेदव्यपदेशास्तु तदायत्त-वृत्तिकत्वादिभिर्भेदे एव सति सङ्गच्छेतेति पुरैवाभिहितम् ॥ ४६ ॥

सोऽहमिति भावो भक्तेरेव प्रकारविशेषो मन्तव्यो न तु परापरात्मस्वरूपैक्यानुसंधिरित्यत्र हेत्वन्तरमाह—

श्रुति देशाच्च ॥ ४७ ॥

तत्रैवोत्तरत्र "यथा त्वं सह पुत्रैश्च यथा रुद्रो गणैः सह। यथा श्रियाभियुक्तोऽहं तथा भक्तो मम प्रियः" इति पद्मयोन्यादेः पुत्रादिसाहित्यवत् स्वस्य स्वभक्तसाहित्यातिदेशात् । चशब्दात् "ध्यायेन्मम प्रियो नित्यं स मोक्षम-धिगच्छति"। "स मुक्तो भवति तस्मै स्वात्मानं च ददामि" इति तत्परवाक्यं गृहीतम्। तत्र नित्यप्रियत्वस्वात्म-दानसम्प्रदानत्वादि तद्भक्तस्योच्यते। तदेतच्च तदैक्ये न सम्भवेत् । तस्माच्च तद्विशेषोऽसावित्यधिगन्तव्यम्। इत्थं च श्रीरामतापन्यादिदृष्टोऽपि सोऽहमिति भावो व्याख्यातः। तथा च देशिकानुग्रहसहकृतात् भगवदुपासना-द्विमुक्तिरिति न कापि क्षतिरिति ॥ ४७ ॥

शास्त्रज्ञानपूर्व्वकमुपासनं विद्योच्यते। तया मुक्तिरित्येतत् परिष्कर्त्तुमारभ्यते । तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनायेति पुरुषसूक्ते तमेव विद्वानमृत इह भवतीत्यादि चा-

विलक्षणत्व बोलने के अभिलाषी होकर कहने लगे कृष्ण ही सर्व्वकारण, विशुद्ध, स्नेहवश तथा गोपियों के नित्य-कान्त हैं। तब गोपियों ने श्रीकृष्ण का जन्म-कर्म्म-मन्त्र और ध्यान पूछे। मुनि ने भी पूर्व अर्थ को अभ्यासलिंग के द्वारा दृढ़ करने के लिये तथा तात्पर्य निर्णयार्थ "स हो वाच तां ही"त्यादि वाक्य के द्वारा ब्रह्म नारायण उपाख्यान कहने लगे। यहाँ श्रीकृष्ण को पूर्ण तथा संसारतारकत्व कहकर और मथुरा उनका अधिष्ठान, वह अधिष्ठान चक्र के ऊपर अवस्थित, ब्रह्मात्मक तथा विविध वनों में सुशोभित है–ऐसा वर्णन किया है। पश्चात् रजोगुण से अतीत जीवात्मा का ब्रह्म के साथ अभेद भाव ही मोक्ष का हेतु है–इस प्रकार का उपदेश दिया। अतएव यह ऐक्यभावना पूर्वोक्त भक्ति के प्रकार विशेष से युक्त है। अश्रु-प्रलयादि जिस प्रकार भाव के ही स्फूर्त्ति-विशेष है, ठीक उसी प्रकार उक्त एक्यभाव चिन्ताविशेषमात्र है। तैत्तिरीयकादि उपनिषद् में इस प्रकार "अहमस्मि" "ब्रह्माहमस्मि" आदिक अभेद बोधक सकल वाक्य ब्रह्मायत्त अर्थात् ब्रह्म के अधीन होने के कारण ब्रह्म से अभिन्न इत्यादि ब्रह्मायत्तवृत्ति के द्वारा भेद में अभेद बुद्धि का निर्णय करते हैं। यह पहले कहा गया है ॥ ४६ ॥

"सोऽहं" यह भाव भक्ति का प्रकार विशेष है इसमें पर-अपरात्मक स्वरूपैक्यज्ञान अर्थात् परमात्मा जीवात्मा ऐक्य रूप ज्ञान नहीं है। इसमें अपरहेतु दिखाते हैं।—

गोपालतापनी में भगवान् ने ब्रह्मा से कहा है। "पद्मयोने ! तुम जिस प्रकार प्रीति युक्त पुत्रों के साथ सर्व्वदा अवस्थान करते हो, रुद्र जिस प्रकार निज गणों से नियत अवस्थान करते हैं, मैं भी उस प्रकार निज प्रिय भक्तों के साथ नियत अवस्थान करता रहता हूँ।" यहाँ भगवान् का भक्तसाहित्यत्व प्रदर्शित है। चकार शब्द से "मेरा प्रिय भक्त मेरा ही नित्य ध्यान कर मोक्ष लाभ करता है। मैं उस को आत्म पर्य्यन्त दान कर देता हूँ" इत्यादि परवाक्य का ग्रहण है। यहाँ नित्य प्रियत्व, स्वात्मदान प्रभृति भक्त-सम्बन्ध में कहे गये हैं। स्वरूप का ऐक्य होने पर इस प्रकार भक्ति असम्भव है। अतएव वह भक्ति का प्रकार विशेष है। इस प्रकार रामतापनी प्रभृति उपनिषदों में जो सकल अभेद पर वाक्य हैं, उनकी संगति होती है। अतएव गुरुकृपा के साथ भगवान् की उपासना से ही विमुक्ति होती है–ऐसा बोलने पर कोई हानि नहीं हैं ॥ ४७ ॥

न्यत्र पठ्यते। तत्र कर्म्म मोक्षहेतुरुत समुच्चिते विद्याकर्म्मणी किंवा विद्येति संशयः। किं प्राप्तं कर्म्मेति। शेषत्वात् पुरुषार्थत्वेति षट्सूत्रीनिर्णयात्। विद्या तु तच्छेषो भवेत् समुच्चिते विद्याकर्म्मणी वा तद्धेतुर्न तु तयोरेकतरं तं विद्याकर्म्मणी इति श्रवणात्। यदुक्तं उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणो गतिः। तथैव कर्म्मज्ञानाभ्यां मुक्तो भवति मानव इति। विद्या वा तद्धेतुः। तमेव विदित्वेत्यादिश्रवणात्। तस्मादनिर्णयोऽस्तु। एवं प्राप्ते ब्रवीति—

विद्यैव तु तन्निर्द्धारणात् ॥ ४८ ॥

तुशब्दः शङ्काच्छेदार्थः। विद्यैव मोक्षहेतुर्न तु कर्म्म। न च समुच्चिते विद्याकर्म्मणी। कुतः? तदिति। तमेव विदित्वेत्यादौ तस्यास्तत्त्वावधारणात्। विद्याशब्देनह ज्ञानपूर्व्विका भक्तिरुच्यते। "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्व्वीत" इत्यादौ तादृश्यास्तस्यास्तत्त्वाभिधानात्। स्मृतिश्चोभयत्र विद्याशब्दं प्रयुंक्ते। "विद्याकुठारेण शितेन धीरः" इति "राजविद्या राजगुह्यं" इति च। तस्मादसौ तन्त्रेण ते द्वे गृह्णीयात्। कौरवशब्दवत् मीमांसकशब्दवच्च। पूर्व्वो धार्त्तराष्ट्रपाण्डवौ परस्तु कर्म्मविद्ब्रह्मविदौ यथा गृह्णाति ॥ ४८ ॥

स च मोक्षो विद्यया बहिःसाक्षात्कारेणैवेत्याह—

दर्शनाच्च ॥ ४९ ॥

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" इति मुण्डके तेनैव तद्वीक्षणादित्यर्थः ॥ ४९ ॥

शास्त्र ज्ञान पूर्वक उपासना का नाम विद्या है। वर्त्तमान-तादृशी विद्या के द्वारा मुक्ति होती है-इस विषय का परिष्कार करते हैं। "उन को जानने से ही मुक्ति होती है, गति के लिये और मार्ग नहीं है" इस प्रकार का पुरुष-सूक्त में पाठ है। अन्यत्र भी-"उनको जानने पर अमृत होना पड़ता है"इस प्रकार के वाक्य हैं। यहाँ संशय यह है कि कर्म्म, किम्वा विद्या-कर्म्म उभय, किम्वा केवल विद्या ही मोक्ष का हेतु है?"जनकादि राजर्षिगण कर्म्म के द्वारा ही सम्यक् सिद्धि को प्राप्त हुए" इत्यादि स्मृतिवाक्य से कर्म्म ही मुक्ति का हेतु होता है। विद्या इस कर्म्म का शेष भाग है अतएव कर्म्म से पृथक् वस्तु नहीं है। षटसूत्री में इस प्रकार निर्णीत है। फिर"पक्षिगण जिस प्रकार उभय पक्षों के साहाय्य से आकाश में उड़ते हैं उसी प्रकार मनुष्य कर्म्म और विद्या उभय साधन के द्वारा मोक्ष लाभ करता है" इस प्रकार के वाक्य से दोनों का ही मोक्ष साधनत्व स्थिर होता है। "उनको जानने पर मृत्यु का अतिक्रमण किया जा सकता है" इत्यादि वेदवचनों से एकमात्र विद्या को ही मोक्षसाधन रूप से निश्चय किया जाता है इस प्रकार अनिश्चित के समाधानार्थ परसूत्र की अवतारणा करते हैं।—

"तु" शब्द शङ्काच्छेद के लिये है। विद्या ही मोक्ष का हेतु है। कर्म्म नहीं है। किम्वा विद्या-कर्म्म उभय मिलकर नहीं हैं। विद्याशब्द से ज्ञान पूर्वक भक्ति का बोध होता है। "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्व्वीत" इस वाक्य में विद्या का ज्ञान पूर्वकत्व कहा गया है। स्मृति ने भी ज्ञान-भक्ति उभय स्थल में विद्या शब्द का प्रयोग किया है। "विद्याकुठारेण शितेन धीरः" इति "राजविद्या राज-गुह्यम्"इत्यादि। अतएव यह विद्याशब्द कौरवशब्द की भाँति है जैसे कौरव शब्द जिस प्रकार कौरव और पाण्डव दोनों का बोध होता है तथा मीमांसक शब्द से जिस प्रकार कर्म्म-मीमांसक और ब्रह्ममीमांसक दोनों का बोध है, ठीक उसी प्रकार तन्त्र से ज्ञान और भक्ति उभय का बोध है॥४८॥

वह मोक्ष विद्या के द्वारा वहिःसाक्षातकार से ही होता है इसे कहते हैं। प्रकृति से पर भगवत्साक्षात्कार ही मोक्ष है। मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि भगवान् का साक्षात्कार होने पर हृदय की ग्रन्थि अर्थात् उसके सकल

नन्वेवं कर्म्मणा मुक्तिरिति, ज्ञानकर्म्माभ्यां मुक्तिरिति च शास्त्रं विरुद्धं स्यात्। तत्राह—

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥ ५० ॥

न खलु विद्यैव मुक्तिहेतुरित्यस्य शास्त्रस्य ताभ्यां बाधः शक्यः। कुतः? श्रुत्यादिति। तमेव विदित्वेत्यादेः सावधारणायाः श्रुतेर्बलिष्ठत्वात्। आदिशब्दो लिङ्गयुक्ती संगृह्णाति। "इन्द्रोऽश्वमेधाच्छतमिष्ट्वापि राजा ब्रह्माणमीडयं समुवाचोपसन्नः। न कर्म्मभिर्न धनैर्नापि चान्यैः। पश्येत्सुखं तेन तत्त्वं ब्रवीहि" इति लिङ्गं, "नास्त्यकृतः कृतेन" इति युक्तिश्च। शेषत्वादिषट्सूत्री तु सूत्रकृद्भिरेव प्रत्याख्यास्यते। अधिकोपदेशात् त्वित्यादिभिः। विद्यया-सर्व्वकर्म्मनिर्मूलनिरूपकवाक्यसंग्रहाय च शब्दः। तं विद्येत्यादिश्रुतिस्तु तैरेव समाधास्यते। विभागः शतवदिति। तस्मात्विद्यैव मोक्षहेतुरिति स्थिरम् ॥ ५० ॥

अथ सद्गम्यत्वं गुणमुपसंहरति। "अतिथिदेवो भव" इति तैत्तिरीयके श्रुतम्। तत्र संशयः। सदुपासनं मोक्षके न वेति। गुरुप्रसादसहितादीशोपासनादेव मोक्षसम्भवादलं सदुपासनेनेति प्राप्ते—

अनुबन्धादिभ्यः ॥ ५१ ॥

अनुबन्धो महदुपासनानिर्बन्धः। देवभावेन तदुपासनमित्यर्थः। तस्माच्च तदनुग्रहान्मोक्षः। इतरथेत्थं न ब्रूयात्। स्मरन्ति चैवं तत्त्वविदः। "रहूगणैतत् तपसा न याति न चेज्यया निर्व्वपणाद् गृहाद्वा। न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्य्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकं" इत्यादिभिः। आह चैवं श्रीभगवान्-"न रोधयति मां योगो न सांख्यं

कषायों का भेदन हो जाता है, समस्त संशयों का उच्छेद हो जाता है तथा सञ्चित प्रारब्ध उभय प्रकार के कर्म्म का क्षय होता है॥४९॥

अच्छा? कर्म्म से मुक्ति है अथवा कर्म्म और ज्ञान दोनों से मुक्ति है-इस प्रकार कहने वाले विरुद्ध शास्त्र का समाधान किस प्रकार होगा उसे कहते हैं।—विद्या ही मोक्ष का हेतु है-यह शास्त्र पूर्वोक्त कर्म्म-ज्ञान ही मुक्ति का हेतु इस शास्त्र से बाधित नहीं होता है। क्योंकि "उनको जानने से मुक्ति होती है"इत्यादि निश्चयात्मक वाक्य-प्रयोग-कारिणी श्रुति ही बलवती है। आदि शब्द से लिंग तथा युक्ति का समुच्चय है। "इन्द्र ने एकशत अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान कर इन्द्रत्वलाभ किया" पश्चात् स्तवनीय ब्रह्मा के निकट उपस्थित होकर कहने लगा-कर्म्म-धन आदि अन्य किसी से सुख नहीं मिलता है, अतएव तत्व उपदेश कीजिये"यहाँ कर्म्मी इन्द्र ने ज्ञानी ब्रह्मा के निकट कर्म्म द्वारा मोक्ष फल लाभ नहीं है-इस प्रकार जो इंगित किया है वह लिंग है। "नास्त्यकृतः कृतेन" इस श्रुति में कर्म्म के द्वारा नैष्कर्म्म्य सिद्धि नहीं होती है"यह युक्ति है।"शेषत्वात्"इत्यादि षटसूत्री तथा"अधिकोपदेशात् तु"इन सूत्रों की व्याख्या में सूत्रकार स्वयं ही कर्म्म का प्रत्याख्यान करेंगे। सूत्रोक्त "च" शब्द के द्वारा विद्या से ही समस्त कर्म्म निर्म्मूल होते हैं-इस प्रकार निरूपित वाक्य का संग्रह है। "तं विद्या" इत्यादि श्रुति का समाधान सूत्रकार के द्वारा होगा। अतएव विद्या ही मोक्ष का हेतु है-यह स्थिर हुआ ॥ ५० ॥

अब सद्गम्यत्व गुण का उपसंहार दिखाते हैं। "अतिथि देवो भव" इति तैत्तिरीयक में पाठ है। यहाँ संशय है कि साधु-उपासना अर्थात् साधुसेवा से मुक्ति होती है किम्वा नहीं? गुरुकृपा के सहित भगवत् उपासना ही-मोक्ष का हेतु स्थिर हुआ है, अतः साधुसेवा का प्रयोजन क्या है। इसके उत्तर-अनुबन्ध शब्द का अर्थ है महत् उपासना निर्बन्ध। देवभाव से अतिथिसेवा परम कर्त्तव्य है। उनके अनुग्रह से ही मोक्ष होता है। नहीं तो श्रुति में इस प्रकार नहीं कहा जाता। तत्वविद्गण कहते हैं-"हे रहूगण! तपस्या, ईज्या, संन्यास, वेदपाठ, जल, अग्नि और सूर्य्य की पूजा के द्वारा जो फल लाभ नहीं होता है, उसका केवल साधुओं के पादरज अभिषेक से लाभ हो जाता है"। यह जड़भरत का वचन है। भगवान् ने उद्धवजी से कहा"समस्त संगच्छेदकारी साधुसंग जिस प्रकार

धर्म्म उद्धव । न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त्तं न दक्षिणा । व्रतानि यज्ञाश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः । यथाऽवरुन्धे सत्सङ्गः सर्व्वसङ्गापहो हि माम्" इत्यादिभिः । अत्र स्वयं स्वतत्त्वमुपदिश्यापि सत्सङ्गमादिशतीति तस्यान्तरङ्गसाधनतां बोधयति । आदिशब्दात्ततीर्थसेवातदन्यनिन्दापरित्यागश्च ग्राह्यौ । "शुश्रुषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः । स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्" । "हरिरेव सदाराध्यः सर्व्वदेवेश्वरेश्वरः । इतरे ब्रह्मरुद्राद्या नावज्ञेया कदाचन" इत्यादि स्मृतिभ्यः । अत्राहुः । देशिकसत्प्रसङ्गस्यापीशहेतुकत्वात् तदनुग्रह एव मोचकोऽस्तु । शुभादृष्टं तु न तत्प्रसङ्गहेतुः । तस्यापि तद्धेतुकत्वात् । सर्व्वा च प्रवृत्तिरीशहेतुकेति "परात्तु तच्छ्रुते"रित्यनेन निर्णीतम् । तस्माद्देशिकाद्यनुग्रहस्यापि मुक्तिकारणत्वकल्पनमयुक्तमिति । अत्रोच्यते । यद्यपि देशिकादेरनुग्रहेऽपीशहेतुकत्वं सम्भाव्यं तथापि तस्यापि तत्र हेतुता मन्तव्या । कृतप्रयत्नापेक्षस्त्वित्यादिसूत्रनिर्णयात् । किंच स्वभक्तवश्येन हरिणा स्वानुग्रहशक्तिः प्रायेण तेभ्यो दत्ताऽस्ति, अतस्तेषामेव तत्र स्वातन्त्र्यम् । तैरनुगृहीते तु जने सोऽपि तमनुप्रवर्त्तयतीति सर्व्वाणि वाक्यानि सास्पदानि स्युर्वैषम्याद्यपनयश्चेति ॥ ५१॥

यथा क्रतुरित्यादिश्रुतौ संशयः । इदं ब्रह्मोपासनं देशिकाद्युपास्तिसहितं स्वतारतम्यात् फलतारतम्यहेतुर्भवेन्न वेति । "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इत्यादौ विशेषाश्रवणात् न तद्धेतुर्भवेत् । न हि नानाविधैर्वर्त्मभिरुपेयं नगरं तदुपेतृभिर्वैविध्येन दृष्टमिति शक्यं वक्तुमित्येवं प्राप्ते—

प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत् दृष्टिश्च तदुक्तम् ॥ ५२ ॥

"विज्ञाय प्रज्ञां कुर्व्वीत" इति द्वे प्रज्ञे दृष्टे । तत्रैका शाब्दी, अन्या तूपासना । तस्याः पृथक्त्वं भेदः ।

मुझको बाध्य करता है उस प्रकार योग, सांख्य, धर्म्म, स्वाध्याय, तपस्या, त्याग, ईष्टापूर्त्त, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, सकल-वेद, तीर्थ समूह, नियम, यमादिक बाध्य नहीं करते हैं" । यहाँ भगवान् के द्वारा स्वयं ही अपने तत्व का उपदेश करने में सत्संग का उपदेश करने के कारण उसका अन्तरंग साधनत्व बोध होता है । आदि शब्द से तीर्थसेवा तथा दूसरे की निन्दा नहीं करना यह आ जाता है । स्मृति में कहा है–"श्रद्धायुक्त सेवाभिलाषी पुरुष की पुण्यतीर्थवास से महत्सेवा के द्वारा वासुदेव की कथा में रति होती है । सर्वदेवेश्वर श्रीहरि सदा आराध्य हैं । ब्रह्म-शिवादि देवताओं की अवज्ञा नहीं करनी चाहिये"। यहाँ पूर्व्वपक्षी बोलते हैं कि–गुरु और सत्प्रसंगलाभ में भगवान् का अनुग्रह ही कारण है । अतएव उसको मोक्ष का हेतु बोला जाना चाहिए । समस्त प्रवृत्ति भगवान को हेतु करके ही होती है–यह "परात्तु तच्छ्रुतेः" इति सूत्र में निर्णय किया गया है । सुतरां देशिकादि अनुग्रह को मुक्ति का कारण कह कर कल्पना करना अयुक्त है । उसके उत्तर में कहते हैं–यद्यपि भगवान् की इच्छा कार्य्य मात्र में कारण है तो भी गुरुप्रसादादि को अवश्य ही कारण मानना होगा । "कृतप्रयत्नापेक्षस्तु" इत्यादि सूत्र में यह निर्णीत हुआ है । अधिक किन्तु भक्ताधीन श्रीहरि निज अनुग्रह शक्ति को प्रायः भक्तों को प्रदान कर देते हैं । अतएव अनुग्रह विषय में साधुओं का स्वातन्त्र्य ही स्वीकार्य्य है । "साधुगण के द्वारा अनुगृहीत जन में भगवान् अपने अनुग्रह का प्रकाश करते रहते हैं" इत्यादि सकल वाक्य के द्वारा सबका समाधान तथा वैषम्यादि का दूरीकरण हुआ है ॥ ५१ ॥

"यथा क्रतु" इत्यादि श्रुतिवाक्य में सन्देह है । गुरुप्रसाद के साथ ब्रह्मोपासना का निज तारतम्य के अनुसार फल-तारतम्य होगा किम्वा नहीं ? "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इत्यादि वाक्य में विशुद्ध होकर परमसाम्यप्राप्ति के श्रवण में फल का कोई विशेष नहीं देखा जाता है । अतएव उसके तारतम्य सम्भव नहीं हैं । नानाविध मार्गों के द्वारा यदि किसी एक नगर में गमन किया जाता है तो जो व्यक्ति ने जिस मार्ग से गमन किया है, उसका जो दर्शन है, वह अन्य मार्ग में गमन करने वाला के दर्शन से कुछ विशेष नहीं है । अतएव उक्त उपासना विशेष में

तद्वदेव तदुपासकानां तद्दृष्टिर्भवति । तदुक्तमिति । यथा क्रतुरित्यादौ तत्तारतम्यमुक्तमित्यर्थः । तथाचोपासनानुयायिभगवद्दर्शनं ततो विमुक्तिरिति । साम्यपारम्यं तु नैरञ्जन्यांशेन बोध्यम् ॥ ५२ ॥

स्यादेतत् । न च विद्यया विना दृष्टिर्नापि दृष्टिं विना विमुक्तिरित्युक्तम् । तदुभयमयुक्तं भगवत्प्राकट्यावसरे विद्याशून्यैरपि तद्दृष्टेर्लाभात् दृष्टिमद्भिरपि विमुक्तेरलाभादिति चेत्तत्राह—

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ॥ ५३ ॥

अपिरवधारणे । सामान्यात् साधारण्येन योपलब्धिर्दृष्टिस्तस्या न मोचकत्वम् । यथा मृत्युमात्रस्य तन्नास्ति । किं तर्हि सामान्यदृष्टेः फलं तत्राह लोकापत्तिरिति । यथा सुदर्शनस्य विद्याधरस्य लब्धसामान्यदृष्टेर्यथा च नृगस्य राज्ञो लोकापत्तिः फलमुक्तम् । ननु सैव मुक्तिरिति चेत्तत्राह न हीति । न खलु लोकापत्तिः सेत्यर्थः । स्मृतिश्च । "सामान्यदर्शनात् लोका मुक्तिर्योग्यात्मदर्शनात्" इति । अयं भावः । दृष्टिः खलु द्वेधा । आवृतविषयाऽनावृतविषया चेति । तत्राद्या पुण्योद्रेकेण जायमाना तत्प्रभावेन स्वर्गादिलोकान् प्रापयति । अन्तिमा तु ब्रह्मविद्यया लिङ्गभङ्गे सति परमप्रेष्ठत्वचित्सुखविग्रहविषयतया जायमाना विमोचयतीति सर्व्वं सङ्गतिमत् । यत्तु हतिकालिकं तद्वीक्षणं मोचकं वदन्ति, तत्रापि तच्चक्रादिस्पर्शमहिम्ना लिङ्गपर्य्यन्तविनाशात् । ततः प्रियत्वादिना तद्दृष्टेः सेति बोध्यम् । इतरथा बहुवाक्यव्याकोपापत्तिः ॥ ५३ ॥

ब्रह्म प्राप्ति रूप फल की कोई विशेषता नहीं हो सकती है इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष का उत्तर देते हैं ।—

"विज्ञाय प्रज्ञां कुर्व्वीत" इस वाक्य में दो प्रज्ञा व्यक्त हो रही हैं–ऐसा देखा जाता है । एक शाब्दी, दूसरी उपासना । उस के भेद के अनुसार उपासक का भी प्राप्यसाक्षात्कार का भेद होता रहता है । इसलिये ही वेद में क्रतु के अनुसार फल का भेद कहा गया है । अतएव उपासना के अनुसार भगवद्दर्शन को भी उसी प्रकार मुक्ति रूप जानना चाहिए । साम्य और पारम्य नैरञ्जन्यांश में है अर्थात् उपासक के उपासना की निर्मलतादि के अनुसार उसका फल सिद्ध होगा–यह स्थिर सिद्धान्त है ॥ ५२ ॥

फिर आशङ्का करते हैं–विद्या के बिना भगवत्साक्षात्कार नहीं होता है तथा साक्षात्कार नहीं होने पर मुक्ति नहीं है—इस प्रकार का सिद्धान्त असंगत है । क्योंकि भगवान् जब प्रकटलीला स्वीकार करते हैं तब उस समय विद्या विहीन व्यक्ति का दर्शन लाभ देखा जाता है और भी अनेक व्यक्ति ऐसे दीखते हैं कि ज्ञानलाभ करने पर भी उनकी मुक्ति नहीं होती है—इस प्रकार की आशङ्का के निराकरणार्थ कहते हैं ।—

"अपि" अवधारण में है । केवल मृत्यु होने पर जिस प्रकार मुक्ति नहीं होती है, ठीक उसी प्रकार सामान्यरूप उपलब्धि (दर्शन) से मुक्ति नहीं है । सामान्य दर्शन का फल क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—सामान्य दर्शन प्राप्त सुदर्शन विद्याधर तथा नृगराज के समान स्वर्गादि फल का लाभ होता है । स्वर्गादिक लोक-प्राप्ति को मुक्ति नहीं कहा जा सकता है । स्मृति में भी कहा है कि "सामान्य रूप भगवद्दर्शन से लोकादिप्राप्ति तथा मुक्तिफलोत्पादन योग्य विशेष रूप भगवद्दर्शन से मुक्ति होती है" । इसका तात्पर्य्य यह है कि दर्शन दो प्रकार का है–आवृतविषय तथा अनावृतविषय । पुण्य के उद्रेक से प्रथमदर्शन अर्थात जिसमें विषयतत्व आवृत रहता है । वह प्रकार वाह्य दर्शन कहा जाता है । उससे स्वर्गादिक की प्राप्ति होती है । अन्तिम दर्शन अर्थात ब्रह्मविद्या के द्वारा लिंगशरीर का नाश होने पर परमप्रेष्ठत्व तथा चित्सुख-विग्रह प्रभृति धर्म्मविशिष्ट रूप में तत्वदर्शन है । वह आन्तरदर्शन है उससे मुक्ति होती है । प्रकटलीला में असुर संहार के समय असुरगण भगवान् के दर्शन से मुक्त होते हैं । भगवान् के चक्रादि के स्पर्श प्राप्त होने पर उनका लिंग शरीर नाश हो जाता है । उसका नाश हो जाने पर असुरों की दृष्टि का आवरण उन्मुक्त हो जाता है अतएव उनका उसी समय मोक्ष सिद्ध होता है । नहीं तो अनेक

विद्यया दर्शनात् विमुक्तिरित्येतत् द्रढयितुमारम्भः । मुण्डके काठके च श्रूयते । "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुधा श्रुतेन । यमैवेष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वां" इति । अत्र संशयः । भगवत्कृताद्वरणादेव तत्साक्षात्कार उत विरक्तिविरक्तियुक्ततद्भक्तिहेतुकादेव तस्मादिति । शब्दस्वारस्यात् केवलादेव तद्वरणात्स इति प्राप्ते —

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥ ५४ ॥

शब्दस्य वरणैकलभ्यत्वबोधकस्य तस्य वाक्यस्य ताद्विध्यं भक्तिलभ्यत्वबोधनपरत्वं परेण तदव्यवधिना वाक्येन च शब्दाद्वाक्यान्तरेण च गम्यतेऽतो वरणादेव तत्साक्षात्कार इति तस्य नार्थः । एतदुक्तं भवति । "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात् । एतैरुपायैः यतते यस्तु विद्वान् तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम" इति परवाक्यं मुण्डकेऽस्ति । इहैतैरुपायैरिति बलाप्रमादादिसाधनक्रमो निर्दिष्टः । बलं खलु भक्तिरेव तादृक् । "वशे कुर्व्वन्ति मां भक्ताः सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा" । "पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया" इति वाक्यैकार्थ्यात् । "नाविरतो दुश्चरितान् नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्" इति परवाक्यं काठके । इह सदाचारनिरतो जितेन्द्रियो हरिं ध्यायंस्तमनुभवतीति क्रमेण साधनान्यभिहितानि । तथा च परवाक्यैकार्थ्यात् पूर्व्वत्र भक्तिहेतुकमेव वरणमवसीयते । किंच वरणेनैव लभ्य इति पूर्व्ववाक्यार्थः । तत्र प्रेष्ठ एव वरणीयो वाच्यो नाप्रेष्ठः । प्रेष्ठत्वं च स्वस्मिन् भक्तिमत एव नाभक्तस्येति । यदुक्तं स्वयमेव—"तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते । प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः" भक्तीत्यादिवाक्यान्तरेण चैतदेवम् । इतरथा तद्व्याकुप्येत् । वैषम्यादि च भगवतीति । ननु वृतेनैव निर्व्वन्धः कुतस्तत्राह भूयस्त्वादिति । तुरवधारणे । तत्साक्षात्कारं प्रति वरणस्यातिबहुत्वात् स इत्यर्थः । वरण धानेन स यद्भवतीति । अयमत्र क्रमः । प्रथमतस्तावत्सतां प्रसङ्गः सेवा च । तया स्वपरात्मस्वरूपसम्बन्धबो ततस्तदितरवैतृष्ण्यपूर्व्विका तद्भक्तिः । तया प्रेष्ठत्वेन वरणम् । ततस्तत्साक्षात्कृतिरिति ॥५४॥

दास्यसख्यादिभावाः प्रारम्भादेव परमे व्योम्नि हरिमुपासते तत्रैव तं द्रक्ष्यन्तीति मतम् । अथ केचित् शान्तिभावास्तमादौ जाठरादावुपासत इति दर्श्यते । अत्र जाठरादिवाक्यानि विषयः । जाठरादौ हरिरुपास्यो न वेति संशयः । प्राकृते तस्मिन्नसत्वान्नोपास्यः किन्त्वप्राकृते परमे व्योम्न्येव नित्यं सत्त्वात् तत्रैवोपास्य इति प्राप्ते—

एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥ ५५ ॥

एके केचिच्छाखिनः शरीरे देहे जाठरे हृदि ब्रह्मरन्ध्रे चेत्यर्थः आत्मनो विष्णोरुपासना कार्य्येति मन्यन्ते । कुतः भावात् । तत्रापि तस्य सत्त्वादित्यर्थः । अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्व्वतं व्रजेत्" इति न्यायात् । प्रसादितस्तु दास्यत्येव क्रमेण निजपदमिति तदभिप्रायः । स्मृतिश्चैवमाह । "उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम् । तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं पुनरिह यत्समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे" ॥ ५५ ॥

शास्त्र वाक्यों का विरोध घट सकता है ॥ ५३ ॥

विद्या के द्वारा भगवद्दर्शन होने पर मुक्तिलाभ होता है इस विषय को दृढ़ करने के लिये प्रकरणान्तर का आरम्भ करते हैं । मुण्डक और काठक श्रुति में कहा गया है कि "वह आत्मा प्रवचन-मेधा वा अनेक श्रवण के द्वारा लभ्य नहीं होता है किन्तु वह जिसको वरण करता है अर्थात् कृपापात्र रूप से ग्रहण करता है उसे ही लभ्य होता है । अर्थात् उसे निज स्वरूप दर्शन कराता है । यहाँ संशय है कि वरण के द्वारा ही उनका साक्षात्कार होता है अथवा ज्ञान-वैराग्य युक्त भक्ति के द्वारा ? शब्दस्वारस्य के हेतु वरण को ही साक्षात्कार के हेतु बोला जाना चाहिए इसका उत्तर देते हैं ।—

वेद में वरण शब्द के द्वारा भगवत्साक्षात्कार का तदेकलभ्यत्व बोधित नहीं हुआ है—ऐसा नहीं है किन्तु उसका तात्पर्य्य भक्तिलभ्यत्व बोध में जानना चाहिए । अर्थात् वरण को अनुग्रह का कारण बोलने पर उनमें भक्ति ही उन का दर्शन का कारण होता है—इस प्रकार बोध हो रहा है । परवर्त्तीवाक्य से "च" शब्द के द्वारा वाक्यान्तर से इस प्रकार का उपदेश हो रहा है । अतएव इन सकल वाक्यों का भगवद्दर्शन के कारण भगवत् अनुग्रह—इस प्रकार अर्थ नहीं हुआ है । मुण्डकोपनिषद् में—आत्मा बलहीनव्यक्ति, प्रमादी, तपस्वी, अवधूतचिह्नधारी व्यक्ति के द्वारा लभ्य नहीं होता है । जो विद्वान् इन सब उपायों के द्वारा यत्न करता है, वह ब्रह्म धाम में गमन करता है—इस प्रकार का वाक्यान्तर देखने में आया है । "इन सकल उपायों के द्वारा" बोलने पर बल और अप्रामादादिक साधन रूप से निर्देश किये जाते हैं । बल का अर्थ तादृशभक्ति । "सत् स्त्री जिस प्रकार सत्पति को वश में कर लेती है उस प्रकार भक्ति ही मुझको वश करती है" । "हे पार्थ परम-पुरुष अनन्य भक्तिलभ्य हैं" इन सकल वचनों से एक-वाक्यता होने के कारण बल शब्द से भक्ति ही बोध प्राप्त हो रही है । कठोपनिषद् में—जो दुःश्चरित, अशान्त, असमाहित है और जिसका मन स्थिर नहीं है वह प्रज्ञान के द्वारा भी परमेश्वर का प्राप्त नहीं होता है इत्यादि-वाक्यान्तर देखने में आता है । यहाँ "सदाचारनिरत, जितेन्द्रिय, श्रीहरि का ध्यान कर उनका दर्शन करता है" इस प्रकार वचन से साधन सकल क्रम से अभिहित हो रहे हैं । अतएव परवर्त्ती वाक्य के साथ एकार्थप्रयुक्त पूर्व-वाक्य में भक्तिहेतुक वरण ही प्राप्त अवशेष रहता गया है । और भी "वरण के द्वारा ही लभ्य" इस प्रकार निश्चयात्मक वाक्य से यह बोध हो रहा है कि श्रीकृष्ण के प्रियतम सकल वरणीय हैं अप्रियतम नहीं हैं । प्रियतम किन्तु भक्त भिन्न अभक्त नहीं हो सकता है । भगवान् ने स्वयं ही कहा है—चारि प्रकार साधक के मध्य में नित्ययुक्त ज्ञानी यदि एकान्तभक्त होता है तो वह सब से श्रेष्ठ है । एतादृश ज्ञानीगण हमारे प्रिय तथा हम भी उन ज्ञानियों का प्रिय इत्यादि । श्रद्धा-भक्ति तथा ध्यानयोग के द्वारा इत्यादि वाक्यान्तर से भी यह अर्थ कहा गया । उक्त वाक्य का इस प्रकार अर्थ नहीं करने से विरोध तथा भगवान् में वैषम्यादि दोष घटता है । "भगवान जिसको वरण करते हैं वह ही उनका लाभ करता है" इस प्रकार के निवन्ध का कारण यह है कि वरण भगवत् साक्षात्कार के अव्यवहित पूर्व्ववर्त्ती है । जिस क्रम से भगवत्साक्षात्कार का लाभ होता है वह यह है कि पहले साधुसंग और साधुसेवा, उससे निज स्वरूप और परमात्मस्वरूप दोनों का सम्बन्धज्ञान इसके अनन्तर तदितरवैतृष्ण्य पूर्विका भगवद्भक्ति उसके द्वारा प्रियता रूप से वरण, इसके अनन्तर तत्साक्षात्कार होता है ॥ ५४ ॥

दास्य-सख्यादि सकल भाव पहले से ही परमव्योम में हरि की उपासना करते हैं तथा वहाँ उनका दर्शन करते हैं—यह सम्मत है । अब शान्तभावापन्न कोई कोई योगी योगमार्ग से जाठरादि में उनकी उपासना करते हैं । यहाँ जाठरादि वाक्य ही विचार का विषय है । जाठरादि में श्रीहरि उपास्य हैं किम्वा नहीं हैं—यह संशय है । जाठरादि प्राकृत है । अनस्तित्व-प्रयुक्त उनमें भगवान् की उपासना नहीं हो सकती । वे अप्राकृत परव्योम धाम में नित्य विराजित हैं । अतएव वहाँ उनकी उपासना कर्त्तव्य है—इस प्रकार के पूर्व्वपक्षीय सिद्धान्त का उत्तर देते हैं ।—

कोई कोई शाखाध्यायी शरीर में अर्थात् जठर में, हृदय में अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में आत्मरूपी विष्णु की उपासना करते हैं क्योंकि वे सब कहते हैं कि उन सकल स्थानों में उनकी सत्ता है । इन सकल स्थानों में उपासित होने पर वे प्रसन्न होकर उपासकों को नित्यपद प्रदान करते हैं । "गृह में मधु यदि मिल जावे तो पर्वत में जाने की आवश्यकता क्या है" ? स्मृति में भी कहा है "हे अनन्त ! स्थूलबुद्धि सकल व्यक्ति ऋषिवर्त्म में तथा नाड़ीपद्धति हृदय दहर में आपकी उपासना करते हैं । और जो आगे उन्नत होकर आपके श्रेष्ठधाम परव्योम को प्राप्त होते हैं, उनको

विषया दर्त्यादिषु वाक्येषु माधुर्य्यगुणकमैश्वर्य्यगुणकं चोपासनमुक्तम्। तादृक् सत्प्रसङ्गानुयायीशसङ्कल्पात् न मेधया, जीवानां प्रवृत्तिस्तेन तेन प्राप्तिश्च तत्तद्गुणस्वरूपेति च्छन्दत उभयाविरोधादित्यादिभ्यां दर्शितम्। इह भगव। येनोपासनेन यद्गुणकं स्वरूपं ध्यातं तद्गुणकमेव तत्प्राप्तमुतास्ति ध्यातगुणाद्गुणातिरेक इति। उभय- तत्र ध्याने ध्येयैक्यात् गुणोपसंहारन्यायाच्चास्तीति प्राप्ते—

व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥ ५६ ॥

तुशब्दः शङ्काच्छेदार्थः। नास्ति गुणातिरेकः। कुतः तद्भावेति। तद्भावस्य ध्यानानुयायिगुणकत्वस्य तद्धर्म्मस्य भावित्वात्। प्राप्तावुद्देश्यत्वादित्यर्थः। उपलब्धिवत् ज्ञानवत्। यथा ज्ञात्वा ध्यातं तथैव प्राप्तावुदियात्। यद्यपि तद्विदुषां स्वोपास्येतरगुणाधारकत्वधीरस्ति तथापि तेषां तदितरेषां प्राप्तावनुदयो ध्यानाभावात्। इत्थं च यथाक्रतुश्रुत्यव्याकोपः ॥ ५६ ॥

तादृशेन तत्सङ्कल्पेनैव तत्र तथैव प्रवृत्तिस्तेन तेन तथा तथा प्राप्तिरित्यत्र दृष्टान्तत्वेन सूत्रमाह—

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥ ५७ ॥

तत्तदृत्विग्नियतकर्त्तव्येष्वग्न्याधानादिषु यज्ञाङ्गेषु यजमानेन सर्व्वे ऋत्विजोऽवबद्धाः। अवबन्धनं नामकरणमेव। अध्वर्य्युं त्वां वृणे, होतारं त्वां वृणे, उद्गातारं त्वां वृणे, इत्यादिरूपम्। तस्मादेव हेतोः सर्व्वकर्म्मनिपुणानामापि तेषामेकत्राधिकारो न तु सर्व्वत्रेति नियमः। तथाभूताश्च ते सर्व्वासु शाखासु विहितान्यङ्गानि

फिर प्रपञ्च में आकर मृत्युमुख में नहीं पड़ना होता है ॥ ५५ ॥

"क्रतु के अनुसार फल होता है" इत्यादि वाक्य में माधुर्य्य-गुणक और ऐश्वर्य्य-गुणक भेद से दो प्रकार की उपासना कही गयी है। "तेन प्राप्तिश्च तत्तद्गुणस्वरूपेण" और "छन्दत उभयाविरोधात्" ये दोनों सूत्रों में साधुसंगानुयायिनी ईश्वर-कल्पना से माधुर्य्य और ऐश्वर्य्य के अनुसार जीवों की प्रवृत्ति तथा प्राप्ति के भेद का वर्णन है। यहाँ संशय है कि जिस उपासना के द्वारा जिस गुण के साथ स्वरूप का ध्यान किया जाता है उसके द्वारा उस स्वरूप की प्राप्ति होती है ? अथवा ध्यानगुण से अतिरिक्त स्वरूप की प्राप्ति होती है ? ध्येयवस्तु के ऐक्य-प्रयुक्त होने के हेतु उभय प्रकार के ध्यान में ध्यातगुण से अतिरिक्त स्वरूप की प्राप्ति की सम्भावना स्थिर होने पर उसके उत्तर में बोलते हैं।—

"तु" शब्द शङ्काच्छेदार्थ है। ध्यान से अतिरिक्त गुण की प्राप्ति नहीं है। केवलध्यातगुण की ही प्राप्ति हो सकती है क्योंकि प्राप्ति में उसका उद्देश्य रहता है। जिस प्रकार ज्ञान से ध्यान किया जाता है, प्राप्ति में ठीक उसी प्रकार उदय होता है। यद्यपि ब्रह्मवेत्ताओं के उपास्य के अतिरिक्त गुणों के अस्तित्व का बोध रहता है, तो भी ध्यान का अभाव-प्रयुक्त प्राप्ति में ध्यानातिरिक्त गुण के उदय की सम्भावना नहीं दीखती है। इस प्रकार "क्रतु के अनुसार फल" इस श्रुति वाक्य की संगति हो सकती है ॥ ५६ ॥

तादृश उनके संकल्प के द्वारा ही उस उस स्थल में प्रवृत्ति होती है तथा उस-उस संकल्प के अनुसार ही उस प्रकार की प्राप्ति होती है इस विषय का दृष्टान्त दिखाने के लिये सूत्रान्तर की रचना करते हैं।—

अग्न्याधानादि यज्ञांग समूह में उस-उस ऋत्विक् का नियत कर्त्तव्य यजमान के द्वारा अध्वर्य्यु, होता, उद्गाता और ब्रह्मा के इच्छानुसार वरण किया जाता है। अवबन्धन का अर्थ नामकरण है। "अध्वर्य्यु तुमको वरण करता हूँ होता तुमको वरण करता हूँ उद्गाता तुमको वरण करता हूँ ब्रह्मा तुमको वरण करता हूँ" इत्यादिरूप हैं। इस कारण से सर्व कर्मनिपुण उनका निज निर्दिष्ट कर्म्म में ही अधिकार है, सर्व्वत्र नहीं है। अतः वे सब सर्व्वशाखाओं में विहित अंगसमूह को नहीं कर सकते हैं। प्रत्येक वेद में सकल अंग नियमित अर्थात् निर्दिष्ट किये

कर्त्तुं न प्रभवन्ति। हि यतः प्रतिवेदमङ्गानि नियमितानि ऋचा हौत्रं यजुषाध्वर्य्यवं साम्नौद्[illegible] ब्रह्मत्वमिति। अत्र यजमानेच्छैव यथर्त्विजां कर्म्मविशेषे दक्षिणाभेदे च प्रवर्त्तिका, तथा जीवानां त[illegible] तत्तत्स्वरूपे च तादृशीशेच्छैवेति ॥ ५७ ॥

अथोद्धवादीनां विमिश्रभावदर्शनादसन्तोषात् निदर्शनान्तरमाह—

मन्त्रादिवत् वाविरोधः ॥ ५८ ॥

तत्तद्विषयकभक्तिप्रवर्त्तनाय तादृशस्तत्सङ्कल्पो मन्त्रवत्। यथैक एव मन्त्रो बहुषु कर्म्मसु विनियुज्यते, कश्चित् द्वयोः, कश्चित्तु एकस्मिन्नेवेति तथैव विधानात्। आदिशब्दात् कालकर्म्मग्रहः। यथैक एव कालः क्वचित्कुसुमपत्रादेः क्वचित् निष्पत्रस्य च क्वचिद्बाल्यस्य क्वचित्तारुण्यस्य च हेतुः स्यादेवं वाविरोधः। तथा च यद्गुणकं यत्स्वरूपमुपास्यते तद्गुणकमेव मोक्षे स्फुरतीति चिन्तितगुणात् गुणान्तरातिरेको नेति सिद्धम् ॥ ५८ ॥

अथैतद्विचार्य्यते। "एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति" इति। "एकं सन्तं बहुधा दृश्यमानं" इति। "अथ कस्मादुच्यते ब्रह्म" इत्यादि च श्रूयते। अत्र वैदूर्य्यादिवत् भगवति मिथो विलक्षणानि बहूनि रूपाणि सन्ति। तैर्विशिष्टोऽसावेकोऽपि बहुरभिधीयते एवं गुणोऽपि प्रकारबाहुल्यात् तत्त्वमवसेयम्। इह संशयः। स्वरूपगतं गुणगतं च बहुत्वं श्रूयमाणं सर्व्वस्मिन्नुपासने चिन्त्यं न वेति। आनन्दादेरेव सर्व्वत्रापेक्षणात्। बहुत्वस्यैकस्मिन्नविरोधाच्च नेति प्राप्ते—

भूम्नः क्रतुवत् ज्यायस्त्वम् तथा हि दर्शयति ॥ ५९ ॥

भूम्नो बहुभावस्य यस्मात् सर्व्वेषु गुणेषु ज्यायस्त्वं क्रतुवत् सर्व्वत्र सहभावादतः सर्व्वत्रासौ चिन्त्यः।

गये हैं जैसे ऋक से होत्र, यजुः से अध्वर्य्यु, साम से उद्गात, अथर्व्व से ब्रह्मा इत्यादि। यहाँ जिस प्रकार यजमान की इच्छा ही कर्म्म-भेद से दक्षिणा-भेद में प्रवृत्ति के लिये कारण है, उसी प्रकार सकल जीवों की इच्छा के अनुसार माधुर्य्य तथा ऐश्वर्य्य स्वरूप में उपासना की प्रवृत्ति होती है ॥ ५७ ॥

अनन्तर उद्धवादिकों के ऐश्वर्य्य-माधुर्य्य-मिश्रितभाव दर्शन से अपरितोष हो उसके समाधानार्थ अन्य निदर्शन का प्रदर्शन करते हैं। उस-उस विषयक भक्ति-प्रवर्त्तन के लिये मन्त्र के समान उस प्रकार वह संकल्प जानना चाहिए। जिस प्रकार एक ही मन्त्र अनेक कर्म्म में कभी दो कर्म्मों में कभी एक कर्म्म में प्रयुक्त होता है, ठीक उसी तरह उद्धवादिकोंकी ऐश्वर्य्य-माधुर्य्यविषयक भक्ति के प्रवर्त्तन के लिये कभी ऐश्वर्य्य कामना से ऐश्वर्य्य में प्रवृत्ति कभी माधुर्य्य कामना से माधुर्य्य में प्रवृत्ति दीखती है। आदिशब्द से काल कर्म्म का ग्रहण है। जिस प्रकार एक ही काल कभी कुसुमपत्रादि का कभी निष्पत्रता का तथा कभी बाल्य का और कभी तारुण्य का कारण होता है, उसी प्रकार समझना चाहिए। इससे विरोध का सामञ्जस्य हो गया है। उपासक जिस गुण से जिस स्वरूप की उपासना करता है उस गुण की मोक्ष में स्फूर्त्ति होती है। अतएव चिन्तित गुणसे अतिरिक्त गुणान्तर नहीं है ॥ ५८ ॥

अब अन्य एक विचार उपस्थित करते हैं—"जो एक होकर भी बहुधा प्रकाशित होते हैं" "एक होकर बहु प्रकार दृश्यमान" "अनन्तर किस लिये ब्रह्म करके कहे जाते हैं" इत्यादि श्रुतियाँ सुनने में आती हैं। यहाँ भगवान् में वैदूर्य्यादि मणि की भाँति परस्पर-विलक्षण अनेक रूप हैं। उन सब रूपों से विशिष्ट वे एक होकर भी बहु रूप से कहे जाते हैं। प्रकार बाहुल्यता के कारण गुण का बहुत्व निश्चित होता है—यह सिद्धान्त है। इस विषय में—संशय यह है कि समस्त उपासना में स्वरूपगत और गुणगत बहुत्व का चिन्तन करना है किंवा नहीं। समस्त उपासना में आनन्द की अपेक्षा रहने के कारण तथा एक वस्तु में बहुत्व के विरोध के वश बहुत्वचिन्ता अयुक्त है—इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष का उत्तर देते हैं।—

विधया [illegible]ष्टोमस्य दीक्षाद्यवभृथान्तेष्वनुवृत्तेर्ज्यायस्त्वं, तथा सर्व्वत्र स्वरूपधर्म्मादिष्वनुवृत्तेर्भूम्नस्तत्प्रमाणन मेधया [illegible]ति । "भूमैव सुखं नाल्ये सुखमस्ति" इति श्रुतिरानन्दादेर्भूमाविनाभावं दर्शयन्ती तस्यानुचिन्तनं भगव[illegible]ानुज्ञापयतीत्यर्थः । येन विना कर्म्मनित्यत्वं न सिध्येत् ॥ ५६ ॥

अथ तेषु बहुषु रूपेषु उपासनमेकविधं विविधं वेति सन्देहे उपास्यस्वरूपाभेदादेकविधमिति प्राप्ते—

नाना शब्दादिभेदात् ॥ ६० ॥

तेषु रूपेषु नानैवोपासनं, प्रतिरूपं पृथक् तदित्यर्थः । कुतः ? शब्देति । तत्तद्वाचकानां नृसिंहादिशब्दानां मन्त्राणामाकारकर्म्मणां च वैलक्षण्यादित्यर्थः । स्मृतिश्च । "कृतं त्रेता द्वापरं च कलिरित्येषु केशवः । नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते" इति । तस्माद्भिन्ना पूजेति ॥ ६० ॥

नृसिंहादिपुरुषोत्तमरूपोपासनानि विभिन्नविधानीत्युक्तम् । अथ तानि तत्तदुपासकैः समुच्चित्यानुष्ठेयानि विकल्प्य वेति वीक्षायां नियमे हेत्वभावात् समुच्चित्येति प्राप्ते—

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ६१ ॥

तेषामनुष्ठाने विकल्प एव । यादृक् सत्प्रसङ्गानुयायिभगवत्सङ्कल्पादुपासनमुपलभ्यते तदेवानुष्ठेयं न त्वन्यदित्यर्थः । कुतः ? अविशिष्टेति । तेषां सर्व्वेषामविशिष्टं समानमेव मोक्षसाक्षात्कारलक्षणं फलमुक्तम् । एकेनैव तस्मिन् सिद्धे किमन्येनेत्यर्थ । यद्यपि तद्विदुषामित्यादिकं तु न विस्मर्त्तव्यं एकान्तिश्रैष्ठ्यदार्ढ्यात् पौनरुक्त्यं न दोषः ॥ ६१ ॥

सर्वत्र बहुत्व चिन्तनीय उचित है । क्योंकि परमेश्वर का यह बहुत्वभाव समस्त गुणों में श्रेष्ठगुण है । ज्योतिष्टोमादि क्रतु जिस प्रकार आरम्भ से अवभृथ स्नान पर्य्यन्त समस्त क्रतुविभाग में अनुवर्त्तन होकर ज्येष्ठ है,ठीक उसी प्रकार ईश्वर का यह भूमा गुण सकल गुणों में अनुवर्त्तित रहने के कारण सर्व्वश्रेष्ठ है । अब प्रमाण दिखाते हैं- "भूमा ही सुख, अल्प में सुख नहीं है" इत्यादि वाक्य से आनन्दादि के साथ भूमा का अविनाभाव अर्थात् नियतसम्बन्ध देखा जाता है । इस भूमा के विना कर्म्म का नित्यत्व नहीं सिद्ध हो सकता है ॥ ५६ ॥

अब उन सब बहु रूपों में उपासना एक प्रकार की है किम्वा नाना प्रकार की है-इस प्रकार का संशय उठाकर स्वरूप के अभेद के वश वह एक प्रकार है ऐसा स्थिर कर उसका खण्डन करते हैं ।—

इन सकल रूपों में उपासना एक प्रकार की नहीं है, बहु प्रकार की है । अर्थात् उपासना प्रत्येक रूप में पृथक् है । उपास्यवाचक नृसिंहादि शब्द-मन्त्र-आकार और कर्म्म के वैलक्षण्य के हेतु स्वरूपगत ऐक्य होने पर भी उपासना का भेद स्वीकार्य्य है । स्मृति में कहा गया है कि-भगवान् केशव सत्य-त्रेता-द्वापर और कलि इन युगभेद से नाना संज्ञा में, नाना आकार में, नाना रूप में, विविध विधान से पूजित होते हैं । अतएव पूजा विभिन्न है-यह स्थिर हुआ ॥ ६० ॥

नृसिंहादि पुरुषोत्तम रूप की उपासना विविध प्रकार की है-यह कहा गया है । अब उन-उन उपासकों के द्वारा ये समस्त उपासनाएँ किम्वा इनमें से कोई एक उपासना अनुष्ठित होगी-इस प्रकार के संशय उठने पर-नियम का कोई कारण नहीं होने से समस्त की ही हो-इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष का खण्डन करते हैं । फल का कोई विशेष नहीं रहने पर विकल्प ही अनुष्ठेय होता है । जिस प्रकार सत्संग के अनुयायी को भगवत्संकल्प से जिस प्रकार की उपासना लब्ध होती है, वह रूप ही अनुष्ठेय है । अन्य अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं रहती है । समस्त उपासना का मोक्ष-साक्षात्कारलक्षण फल एक रूप है । एक ही अनुष्ठान से यदि वह फल मिल सकता है तब अन्य अनुष्ठान की आवश्यकता क्या है ? यद्यपि "तद्विदुषाम्" इत्यादि सूत्र में यह विषय कहा गया है तो भी दृढ़ता के लिये

मोक्षफलकानि नृसिंहाद्युपासनानि तत्तदेकान्तिनां नित्यानीत्युक्तम् । अथ कीर्त्तिलोकजयसम्पत्त्या[illegible]पास्तयो बृहदारण्यकादौ पठ्यन्ते । तासां विकल्पः समुच्चयो वेति वीक्षायां ब्रह्मोपास्तित्वाविशेषात् पू[illegible] इति प्राप्ते—

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्व्वहेत्वभावात् ॥ ६२ ॥

काम्यास्तत्साक्षात्कारानपेक्षाः कीर्त्यादितदन्यफलास्ता यथाकामं सकामैस्तदुपासकैः समुच्चीयेरन्न वा । कुतः पूर्व्वेति । फलभेदादित्यर्थः । सति तत्तत्फलकामे सर्व्वास्ताः कार्य्याः । असति तु तस्मिन् कदाचिदपि नेत्यर्थः । इदमत्राकूतम् । यदि मुमुक्षुरपि कश्चित्फलान्तरमिच्छेत् तर्हि स तस्मै तत्प्रदं हरिमेवोपासीत न देवतान्तरम् । "अकामः सर्व्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परं" इत्यादि स्मृतिभ्यः । एतेन दशार्णाद्युपास्तयोऽपि व्याख्याताः । पूर्व्वानुमानं तु सोपाधिकं बोध्यम् ॥ ६२ ॥

एवमङ्गिगुणध्यानमभिधायेदानीमङ्गगुणानभिधातुमुपक्रमते । श्रीगोपालोपनिषदि पूर्व्वतापन्यवसाने तमेकं गोविन्दमित्यारभ्य समरुद्गणोऽहं परमया स्तुत्या तोषयामीति प्रतिज्ञाय ॐ नमो विश्वरूपायेत्यादिभिः पद्यैर्विधिर्हरिं स्तुवन् तन्मुखनेत्रादिष्वङ्गेषु मन्दस्मितकृपावीक्षणादीन् गुणान्निरदिक्षत् । इह संशयः । मन्दस्मितादयो मुखाद्यङ्गगुणाः पृथक् चिन्त्या न वेति । अङ्गिगुणध्यानेनैव पुमर्थसिद्धेः पृथक् तद्ध्यानेन फलानतिरेकाच्च ते न ध्येया भवन्तीति प्राप्ते—

पुनर्वार कहा जाता है । अतएव इसमें पुनरुक्ति दोष नहीं है ॥ ६१ ॥

मोक्षफलक नृसिंहादि उपासना उनके एकान्तभक्त के पक्ष में नित्य है-यह पहले कहा गया है । अनन्तर कीर्त्तिलोकजय-सम्पत्ति आदिक फलजनक जो सकल ब्रह्मार्च्चन का बृहदारण्यकादि श्रुति में पाठ हैं, उन सब में सबका अनुष्ठान कर्त्तव्य है किम्वा किसी एक का ? इस प्रकार का संशय उठाकर ब्रह्मोपासना के अविशेषत्व के वश पहले की भाँति विकल्प ही अनुष्ठेय हो-इस प्रकार पूर्व्वपक्ष स्थिर कर उसका उत्तर देते हैं ॥—

कीर्त्ति प्रभृति फल के लिये जो उपासना वह काम्य उपासना है । इस उपासना में भगवत्साक्षात्कार की अपेक्षा नहीं दीखती है । कामना के अनुसार फल का भेद अवश्य है । अतएव सकाम उपासक सकल कामना के अनुसार सकाम उपासना-समूह कर सकते हैं । यदि कामना नहीं रहती है, तब उनको किसी का अनुष्ठान नहीं करना चाहिये । इसका वास्तविक तत्व यह है कि मुमुक्षु कभी सकाम नहीं होता है तो भी यदि कभी किसी कामनाका उदय हो तो वह उसके लिये देवान्तर की उपासना नहीं कर श्रीहरि की ही उपासना करें । हरि उसको वह फल दे सकते हैं । स्मृति में कहा है-मुमुक्षुव्यक्ति अकाम ही हों किम्वा सकाम ही हों वह तीव्रभक्तियोग के द्वारा एकमात्र परपुरुष श्रीहरि की आराधना करें । इससे विक्षेप की सम्भावना नहीं है । इससे दर्श प्रभृति यज्ञीय उपासना की व्याख्या हुई है । पूर्वानुमान को सोपाधिक जानना चाहिए ॥ ६२ ॥

इस प्रकार अंगीगुण ध्यान कह कर अब अंगगुण-ध्यान का विचार करते हैं । भगवत्तत्व ही नित्य अंगी तथा उनके गुण सकल अंग हैं । यहाँ अंगी शब्द से श्रीविग्रह स्वरूप तथा अंगशब्द से उनके मुखादिक को जानना चाहिए । श्रीगोपालोपनिषद् पूर्वतापनी के अन्त में-"तमेकं गोविन्दं" इस प्रकार आरम्भ कर "मैं मरुद्गण के साथ उत्कृष्ट स्तव के द्वारा तुमको प्रसन्न करूँगा" इस प्रकार प्रतिज्ञा के द्वारा "नमो विश्वरूपाय" इत्यादि पद्यों से श्रीहरि का स्तव किया गया है । पश्चात् उनके मुख-नेत्रादि सकल अंगों में मन्दहास्य और कृपादृष्टि प्रभृति गुणों का निर्देश किया हुआ है । यहाँ संशय यह है कि मुखादिक अंग के मन्दहास्यादि गुणों का पृथक् चिन्तन उचित है किम्वा नहीं है । अंगिगुण ध्यान के द्वारा जब पुरुषार्थ सिद्ध होता है तब पृथक् रूप से अंगगुण का चिन्तवन का प्रयोजन क्या रहता है ? उससे विशेष कोई फल नहीं देखा जाता है । अतएव उसका ध्यान नहीं करना चाहिए-

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥ ६३ ॥

विषया ...
न मेधय... षु मुखादिषु यथाश्रयं भावश्चिन्तनं कार्य्यम्। यदङ्गं यस्य गुणस्याश्रयस्तत्र तस्य चिन्तनं विधेयमित्यर्थः। भगव...मन्दस्मितं प्रियभाषणं च, नेत्रयोः कृपावीक्षणं चेत्येवमादि ॥ ६३ ॥

शिष्टेश्च ॥ ६४ ॥

स्तुत्यन्ते "अथ हैवं स्तुतिभिराराधयामि तथा यूयं पञ्चपदं जपन्तः कृष्णं ध्यायन्तः संसृतिं तरिष्यथ" इति शिष्यान् प्रति विधिनाङ्गगुणध्यानोपदेशाच्च स स तत्र तत्र चिन्त्य इत्यर्थः ॥ ६४ ॥

ननु "यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी" इत्यत्र कृपावलोकमात्रमुक्तं नान्यत् किञ्चिदिति चेत्तत्राह—

समाहारात् ॥ ६५ ॥

तृतीयसूत्रात् नेत्याकृष्य सूत्रद्वये सम्बन्धनीयम्। तेनान्येषां संग्रहान्न किञ्चिदूनमित्यर्थः ॥ ६५ ॥

तत्र तत्रैव तस्य तस्य चिन्तनं कार्य्यमित्येतदाक्षिपति—

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥ ६६ ॥

"सर्व्वतः पाणिपादं तत्" इत्यादावङ्गेषु गुणसाधारण्यश्रवणात् तत्र तत्रैव तस्य तस्य चिन्तनमिति संभवतीत्यर्थः। "अङ्गानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति पश्यन्ति पान्ति कलयन्ति तथा जगन्ति" इत्यादिका स्मृतिरपि सर्व्वत्र सर्व्वगुणयोगं वक्तीति च शब्दात् ॥ ६६ ॥

निरस्यति—

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥ ६७ ॥

वेत्यवधारणे। अङ्गेषु गुणसाधारण्यं न चिन्त्यम्। कुतः, तत्सहेति। यस्मिन्नङ्गे यो गुणः पठितस्तत्सहभावोऽन्येषां गुणानां न श्रूयतेऽतो न तच्चिन्त्यं किन्तु यथाश्रयं भावनम्। सर्व्वतः पाणीत्यादिकं तु क्तिरस्तीत्येव निवेदयद्गतार्थम् ॥ ६७ ॥

दर्शनाच्च ॥ ६८ ॥

मुखादिष्वेव मन्दस्मितादीनां वर्णनं दृष्टमतश्च तथा ॥ ६८ ॥

॥ इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रभाष्ये तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥ ३ ॥

चतुर्थः पादः

श्रद्धावेश्मन्यास्तृते सच्छमाद्यैर्वैराग्योद्यद्वित्तिसिंहासनाढ्ये।
धर्म्मप्राकाराश्रिते सर्व्वदात्री प्रेष्ठा विष्णोर्भाति विद्येश्वरीयम् ॥

पूर्व्वस्मिन् पादे ध्यानोपासनादिशब्दवाच्या ब्रह्मविषया सपरिकरा विद्या दर्शिता। अथास्मिन् पादे तस्याः स्वातन्त्र्यं कर्म्मणस्तदङ्गत्वं तदधिकृतानां त्रैविध्यं चेत्येवमादयोऽर्थाः प्रकाश्यन्ते। तत्र क्रतुभेदात् विद्यार्थिनस्त्रेधा सम्भवन्ति। केचित् लोकवैचित्रीदिदृक्षवो वर्णाश्रमधर्म्मान् परिनिष्ठयाचरन्तः सनिष्ठा उच्यन्ते केचित्तु लोकसंजिघृक्षयैव तानाचरन्तः परिनिष्ठिताः। ते चैते चोभये साश्रमाः। परे तु प्राग्भवीयैर्धर्म्मैः सत्यतपोजपादिभिश्च विशुद्धा निरपेक्षाः। तत्र ते निराश्रमाः। इत्येवं त्रैविध्यं व्यक्तं भावि। तत्रादौ विद्यायाः स्वातन्त्र्यमुच्यते। "तरति शोकमात्मवित्" "ब्रह्मविदाप्नोति परं" इत्येवमादीनि वाक्यानि श्रूयन्ते। "एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्" इति काठके च। इह संशयः विद्या मोक्षस्यैव हेतुरुत स्वर्गादेश्चेति। विदुषोऽन्यत्र स्पृहाभावान्मोक्षस्यैवेति प्राप्ते—

इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष के उठने पर उसका निराकरण करते हैं।—

जो अंग जिस गुण का आश्रय है उस अंग में उस गुण का चिन्तवन करना उचित है। मुख में मन्दहास्य और प्रियभाषण, नेत्रद्वय में कृपावीक्षण प्रभृति अवश्य चिन्तनीय हैं ॥ ६३ ॥

स्तुति के अन्त में "मैं जिस प्रकार उनकी स्तुति के द्वारा आराधना करता हूँ, उस प्रकार तुम सब पञ्चपद का जप तथा श्रीकृष्ण का ध्यान कर संसार से तर जाओगे" इत्यादि शिष्यों के लिये इन सब अंगगुणों का ध्यान करने के उपदेश देने के कारण उस-उसका वहाँ-वहाँ चिन्तन करना कर्त्तव्य है ॥ ६४ ॥

अच्छा ? "यथा कप्यासम्" इत्यादि वाक्य में केवल कृपादृष्टि ही दिखलायी गई है। यहाँ अन्य कोई उपदेश नहीं किया गया है। अतएव उससे भिन्न अन्य किसी गुण का चिन्तवन नहीं किया जावे—उसके उत्तर में कहते हैं।—

यहाँ एकमात्र गुण की उक्ति के द्वारा अन्य गुण का उपसंहार किया गया है। तृतीयसूत्र से "न" को लाकर सूत्रद्वय में जोड़ना चाहिये। अतः उक्त श्रुति की न्यूनता नहीं होती है ॥ ६५ ॥

उस-उस स्थल में उस-उस गुण का चिन्तन कर्त्तव्य इस पर आक्षेप करते हैं।—

ब्रह्म के सकल अंगों में सकल गुणों का चिन्तवन किया जावे क्योंकि श्रुति में उनके सकल दिशा में पाणिपादादि का उल्लेख है। "सर्वतः पाणिपादं" इत्यादि। "च" शब्द से स्मृति में भी—परमेश्वर के सकल अंगों में सकल इन्द्रियों की वृत्ति वर्त्तमान रहती है। उनके सकल अंग ही जगत् का दर्शन-पालन और लय साधन करते हैं—ऐसा कहा गया है ॥ ६६ ॥

इसका निराकरण करते हैं। "वा" अवधारण में है। परमेश्वर के सकल अंगों में सकल गुणों का चिन्तवन नहीं किया जावेगा। क्योंकि जिस अंग में जिस गुण का उल्लेख देखा जाता है, अपर अङ्ग में उस गुण का उल्लेख कहीं नहीं देखा जाता है। अतएव सकल अंगों में सकल गुणों का चिन्तन नहीं होता है। आश्रय के अनुसार से ही भावना होती है। "सर्वतः पाणिपादंतत्" इत्यादि श्रुति का अर्थ यह है कि उनकी सर्वत्र सकल शक्ति ही विद्यमान है। अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं रहा ॥ ६७ ॥

विशेष करके भगवान् के मुखादि में मन्दहास्यादि का वर्णन देखा जाता है। अतएव वह स्वीकार्य्य है ॥ ६८ ॥

इति गोविन्द भाष्य का अनुवाद तृतीय अध्याय का तृतीयपाद ॥

सत् शमदमादि से विस्तृत, वैराग्य-उत्थित ज्ञान रूप सिंहासन से शोभायमान, निष्काम कर्म्म रूप प्राचीर से वेष्टित-श्रद्धारूप गृह में श्रीविष्णु की प्रियतमा, सर्वदात्री यह ईश्वरीविद्या विराजमाना है ॥ ० ॥

पूर्वपाद में ध्यान-उपासनादि शब्द वाच्य ब्रह्मविषया विद्या परिकरों के साथ प्रदर्शित की गयी है। अब इस पाद में उस विद्या का स्वातन्त्र्य, तथा कर्म्म का उसके अधीनत्व, उसके अधिकारियों का त्रिविधत्व ये सब अर्थ निरूपित होंगे। यहाँ क्रतुभेद से अर्थात् विलक्षणसंकल्प-भेद से तीन प्रकार के विद्यार्थी होते हैं। कुछ तो लोकवैचित्री दर्शन के इच्छुक होकर परिनिष्ठा के साथ वर्णाश्रमधर्म्म का आचरण करते हैं, वे स्वनिष्ठ नाम से अभिहित होते हैं। जो सब लोकसंग्रह की अभिलाषा से इन सकल धर्म्मों का आचरण करते हैं, वे परिनिष्ठित हैं। ये दोनों आश्रमी हैं। अपर जो जन्मान्तरीय धर्म्मों से तथा सत्य-तपो-जपादिकों से विशुद्ध हैं, वे निरपेक्ष हैं। वे आश्रमशून्य हैं। यह तीन प्रकार का विषय आगे व्यक्त होगा। पहले विद्या का स्वातन्त्र्य दिखाते हैं। श्रुति में—"आत्मविद् शोक से उत्तीर्ण होता है" "ब्रह्मविद् व्यक्ति परतत्व का लाभ करता है" इत्यादि सकल वाक्य देखने में आते हैं। कठोपनिषद् में भी कहा गया है—"इन अक्षरपुरुष को जानने पर जो जो इच्छा करता है वह उसे प्राप्त करता है"। यहाँ संशय यह है कि विद्या मोक्ष का हेतु है अथवा स्वर्गादि का हेतु है ? विद्वान् व्यक्ति की अन्यत्र

विद्यया [illegible] **पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ॥ १ ॥**
न मेधय[illegible]ऽपि पुरुषार्थोऽतो विद्यात एव स्यादिति भगवान् बादरायणो मन्यते। कुतः? शब्दात्। उक्तश्रुतेरित्यर्थः। भगव[illegible] परितुष्टो हरिः स्वभक्ताय आत्मानं ददाति। कर्दमादिवत् फलान्तरेच्छायां तु तयैव कर्म्मपरिकरतया त[illegible]चार्पयतीति ॥ १ ॥

अत्र जैमिनिः प्रत्यवतिष्ठते- **शेषत्वात् पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः ॥ १ ॥**
इज्यस्य विष्णोर्यजमानस्य स्वस्य च स्वरूपसम्बन्धौ विज्ञाय तदुक्तेषु तदाराधनात्मकेषु कर्म्मसु जीवः स्वयं प्रवर्त्तते। तैरसौ निवृत्तकल्मषोऽदृष्टद्वारा स्वर्गमोक्षरूपं फलं भजतीति विद्यायाः कर्म्मशेषत्वात्, तस्यां या फलश्रुतिः स पुरुषार्थवादः पुरुषसम्बन्ध्यर्थवादः स्यात्। यथान्येषु द्रव्यसंस्कारकर्म्मसु "यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति यदाऽङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते" "यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्म्म वा एतद् यज्ञस्य" इत्येवं-विधा फलश्रुतिरर्थवादस्तद्वदिति जैमिनिर्म्मन्यते। यदुक्तं द्रव्यसंस्कारकर्म्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यादिति। यावज्जीवं गृहिधर्म्मान् यज्ञादीननुतिष्ठतः शमदमाद्युपेतस्य ब्रह्मप्राप्तिः श्रूयते। "आचार्य्यकुलाद्वेदमधीत्य" इत्यादिना "ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते" इत्यन्तेन। स्मर्य्यते च। "वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्। विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणं" इति। एवमन्यच्च। त्यागवाक्यं तु कर्म्मानर्ह पङ्ग्वन्ध-विषयमिति ॥ २ ॥

इतोऽपि कर्म्माङ्गमात्मविद्येत्याह— **आचारदर्शनात् ॥ ३ ॥**
"जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे" "यक्ष्यमाणो ह वै भगवन्तोऽहमस्मि" इति बृहदारण्यकादिषु विद्वद्वरिष्ठानामपि कर्म्माचारवीक्षणात्। केवलया विद्यया पुमर्थसिद्धौ क्रियाप्रयासस्तेषां न स्यात्। अ[illegible] न्यायात् ॥३॥

तच्छ्रुतेः ॥ ४ ॥
यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति" इति छान्दोग्ये तस्याः कर्म्मशेषत्वश्रवणात्[illegible]

समन्वारम्भणात् ॥ ५ ॥
"तं विद्याकर्म्मणी समन्वारभेते पूर्व्वप्रज्ञा च" इति बृहदारण्यके विद्याकर्म्मणोः फलारम्भे साहित्यदर्शनादित्यर्थः ॥ ५ ॥

तद्वतो विधानात् ॥ ६ ॥
"ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मा दर्शपौर्णमासयोस्तं वृणीते" इति तैत्तिरीयके ब्रह्मज्ञानवतो ब्रह्मत्वेन वरणविधानात्। ब्रह्म-ज्ञानस्य आर्त्विज्याधिकारसम्पादकत्वात् कर्म्माङ्गा विद्येत्यर्थः ॥ ६ ॥

नियमाच्च ॥ ७ ॥
ईशावास्योपनिषदि "कुर्व्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेत् शतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे" इत्यात्मविदो यावज्जीवं कर्म्मानुष्ठाननियमाच्च। एतेन क्वचित् त्याजकवाक्यश्रवणात् विधानत्यागयो-र्विकल्प इत्यपास्तं, तस्य पङ्ग्वाद्यशक्तविषयत्वात्। "वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते" इति तैत्तिरीयक-श्रुत्या त्यागस्य विगीतत्वादिति ॥ ७ ॥

इत्थं विद्यायाः कर्म्माङ्गत्वात् फलसाधने स्वातन्त्र्यं नेति प्राप्ते निरस्यति—

स्पृहा नहीं रहने के कारण विद्या केवल मोक्ष का हेतु है-इस प्रकार कहा जावे तो उसका उत्तर देते हैं।—

भगवान् बादरायण के मत में विद्या से सकल पुरुषार्थ का लाभ होता है। पूर्वोक्त श्रुति में इसका प्रमाण है। भगवान् श्रीहरि विद्या के द्वारा प्रसन्न होकर निज भक्त को आत्मदान करते हैं। कर्द्दमादि की तरह फलान्तर की भी इच्छा होने पर कर्म्मपरिकर उस विद्या के द्वारा उसका भी दान करते हैं ॥ १ ॥

इस विषय में जैमिनी जी कहते हैं-"उपासकजीव उपास्य विष्णु तथा यजमान अपने का स्वरूप तथा दोनों का सम्बन्ध जान कर शास्त्रोक्त तद् आराधनात्मक कर्म्मों में प्रवृत्त होता है। वह उन कर्म्मों के द्वारा कल्मषों से निवृत्त तथा अदृष्ट के द्वारा स्वर्ग-मोक्षरूप फल को प्राप्त होता है। अतएव विद्या का कर्म्मशेष के हेतु उस में जो फल-श्रवण है वह पुरुषाकार से उत्पन्न होने के कारण पुरुषार्थवादमात्र है। पुरुष सम्बन्धी अर्थवाद को पुरुषार्थ-वाद कहते हैं। जिस प्रकार "यस्य पर्णमयी जुहू" इत्यादि फलश्रुति द्रव्य में, "यदाङ्क्ते" इत्यादि फलश्रुतिसंस्कार में "वर्म्म वा एतद् यज्ञस्य" इत्यादि फलश्रुति संस्कार में है, ठीक उसी प्रकार विद्या में जो फलश्रुति है, वह अर्थ-वाद मात्र है" यह जेमिनीजी का मत है। जैसा कि कहा है-"द्रव्य-संस्कार-कर्म्मों में परार्थ करके जो फलश्रुति है वह अर्थवाद है"। "यावज्जीवन यज्ञादि गार्हस्थ्य धर्म्म का अनुष्ठानकारी तथा आत्मशुद्धि के लिये शम-दमादि धारण करने वाला मनुष्य को ब्रह्मप्राप्ति सुनने में आती है। "आचार्य्यकुल से वेद अध्ययन कर" इत्यादि से-आरम्भ कर "वह ब्रह्मलोक प्राप्त होता है उसकी पुनरावृत्ति नहीं" इत्यादि पर्य्यन्त कथन में स्पष्ट है। स्मृति में भी कहा है-"वर्णाश्रम विहित सदाचार के द्वारा परमपुरुष विष्णु की आराधना होती है। भगवत् परितोष का अन्य मार्ग नहीं है" इस प्रकार अन्यत्र प्रमाण भी है। इससे कर्म्म का अनुष्ठान सुव्यक्त है। तो भी कर्म्म-परित्याग सूचक जो सकल वाक्य देखे जाते हैं वे कर्म्माक्षमी पंगु-अन्ध विषयक जानना चाहिए ॥ २ ॥

इससे आत्मविद्या को कर्म्मांग करके बोध किया जाता है। क्योंकि विद्वद्वरिष्ठ व्यक्तियों का भी कर्म्म में आच-रण देखा जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में-"विदेहराज जनक ऋषि ने बहु-दक्षिणायुक्त यज्ञ के द्वारा भगवान् यज्ञपुरुष की अर्च्चना की थी" इत्यादि कथन देखा गया है। यदि केवल विद्या के द्वारा पुरुषार्थ सिद्ध होता तो उनका कर्म्मों में प्रयास नहीं देखा जाता। गृह की कोण में यदि मधु मिल जावे तो पर्वत में उसके लिये जाना-व्यर्थ है—यह न्याय है ॥ ३ ॥

जो विद्या के द्वारा तथा श्रद्धा वा शास्त्र के द्वारा अनुष्ठित होता है वह बलवत्तर है। इससे विद्या का-कर्मशेषत्व अथवा कर्मांगत्व सुनने में आता है ॥ ४ ॥

विशेष विद्या और कर्म का साहित्य के बिना फल नहीं देखा जाता है। "तं विद्याकर्म्मणी समन्वारभेते पूर्व्वप्रज्ञा" इत्यादि बृहदारण्यक में पाठ है ॥ ५ ॥

ब्रह्मज्ञान सम्पन्न ब्राह्मण को ही दर्श और पौर्णमास यज्ञ में ब्रह्मा रूप में वरण करें-इत्यादि कथन तैत्तिरी-यक में देखने में आता है। "वरिष्ठो ब्रह्मा दर्शपौर्णमासयोस्तं वृणीत" इत्यादि। ब्रह्मज्ञान के द्वारा ही जब-ऋत्विक् कर्म्म में अधिकार होता है, तब विद्या कर्म्म का अंग है-यह स्थिर हुआ ॥ ६ ॥

ईशावास्योपनिषद् में कहा है-"कर्म करते-करते ही शतवर्ष पर्य्यन्त जीवनकाल अतिवाहित करें"। अतएव विद्वान् व्यक्ति यावज्जीवन कर्मानुष्ठान करें इस प्रकार नियम देखा जाता है। अतएव स्थल विशेष में कर्मत्याग का उपदेश देखकर विधान और त्याग का विकल्पपक्ष स्वीकार कर जो तर्क उठ सकता है, वह निरस्त हुआ है। त्यागसूचक सकल वाक्य केवल कर्म में अशक्त अन्ध-पंगु प्रभृति व्यक्ति पक्ष में जानने चाहिएँ। "वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद् वासयते" इति तैत्तिरीयकश्रुति में कर्मत्याग की निन्दा दीखती है ॥ ७ ॥

इस प्रकार विद्या का कर्म्मांगत्व के कारण फलसाधन में उसका स्वातन्त्र्य नहीं है-इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥ ८ ॥

विद्यया [illegible] न मेधय[illegible]ब्दात्पूर्व्वपक्षो व्यावृत्तः। कर्म्मणः सकाशादधिका तदुद्देश्यत्वेन तत्प्रधानभूता विद्येति मन्तव्यम्। कुतः [illegible]भगव[illegible]बादरायणस्योपदेशात्। न च तदुपदेशो विनिर्म्मूल इत्याह तद्दर्शनादिति। "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा [illegible]विविदिशन्ति ब्रह्मचर्य्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमभीप्सन्तः प्रव्रजन्ति" इति बृहदारण्यके विद्याफलकानि कर्म्माणि विधीयन्ते। जातायां च तस्यां तानि पुनः परित्याज्यन्ते। परत्र तेषां नैरर्थक्यात् साधनात् फलं किल प्रधानम् ॥ ८ ॥

यत्तु विद्वद्वरिष्ठानां कर्म्माचारदर्शनात् तच्छेषो विद्येत्युक्तं तन्निरासायाह—

तुल्यं तु दर्शनम् ॥ ९ ॥

तच्छेषत्वसम्भावनानिरासाय तुशब्दः। विद्यायाः कर्म्मानङ्गत्वेऽपि तुल्यं दर्शनमस्ति। "एतद्ध स्म वै विद्वांस आहुरृषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे एतद्ध स्म वै पूर्व्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं जुहवाञ्चक्रिरे एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्य्यं चरन्ति" इति तत्रैव विद्यानिष्ठानां कर्म्मत्यागदर्शनादनैकान्तिकं तल्लिङ्गमिति। कर्म्माचारदर्शनमप्यत्र न बाधकं सत्त्वशोधाय लोकसंग्रहाय चापेक्ष्यत्वात् ॥ ९ ॥

तच्छ्रुतेरिति निराह—

असार्व्वत्रिकी ॥ १० ॥

यदेव विद्ययेति श्रुतिरसार्व्वत्रिकी न सर्व्वविद्याविषया प्रकृतोद्गीथविद्याविषयत्वात्। तेन सर्व्वासां विद्यानां न कर्म्माङ्गतेति ॥ १० ॥

होने पर उसका खण्डन करने के लिये बादरायण जी परसूत्र में स्वमत दिखाते हैं।—"तु" शब्द से पूर्व्वपक्ष व्यावृत्त है। विद्या कर्म्म का पूर्व्ववर्त्ती तथा कर्म्म परवर्त्ती, विद्या का फल कर्म्म है—इस प्रकार सिद्धान्त सम्भव नहीं है क्योंकि कर्म्म से विद्या अधिक है। कर्म्म-साध्य होने के कारण विद्या का प्राधान्य है। बादरायणजी का उपदेश इसी प्रकार है। उनका यह उपदेश अमूलक भी नहीं है—क्योंकि बृहदारण्यक में "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति ब्रह्मचर्य्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव" इत्यादि कर्म्म को विद्याफल रूप से विधान किया गया है। इस विद्या की उत्पत्ति के पश्चात् कर्म्म के परित्याग करने का विधान कहा गया है। विद्या उत्पत्ति के पश्चात् कर्म्म का सार्थकत्व नहीं है। कर्म्म विद्या का साधन है। विद्या उसका फल है। साधन से फल श्रेष्ठ होने के कारण कर्म्म से विद्या श्रेष्ठ है ॥ ८ ॥

विद्वद्वरिष्ठों का कर्माचार दर्शन से विद्या को जो कर्मांग करके कहा गया है उसका निराकरण करते हैं। कर्मांग सम्भावना के निराकरणार्थ "तु" शब्द है। विद्या का कर्म के अंगत्व में भी समान प्रमाण देखा जाता है। "कावषेया ऋषिगण विद्या सम्पन्न होकर कहते हैं—"हम सब और क्यों अध्ययन करेंगे, क्यों यज्ञ करेंगे, पहले यज्ञादि किये हैं, अब तो आत्मज्ञान के द्वारा पुत्र-वित्तादि कामना का परित्याग कर भिक्षुचर्य्या करना चाहिये"। अतएव विद्यानिष्ठ उनका कर्मत्याग दर्शन से कर्मत्याग का विधान हो रहा है। तो भी विद्वानों का जो-कर्माचरण देखा जाता है वह लोकसंग्रहार्थ तथा अविद्वानों का चित्तशोधन के लिये जानना चाहिए। अधिकारभेद से कर्म का उद्देश्य भिन्न है ॥ ९ ॥

पूर्व्वपक्ष में पोषकश्रुति रहने पर भी यह श्रुति सार्वत्रिकी नहीं है। यह श्रुति उद्गीथविषया अर्थात् पद्धतिवि-

विभागः शतवत् ॥ ११ ॥

तं विद्याकर्म्मणीत्यत्र विद्याकर्म्मकृतस्य फलारम्भस्य विभागो द्रष्टव्यः। विद्ययैकं फलमारभ्यते कर्म्म[illegible]दिति। अत्र दृष्टान्तः शतेति। यथा धेनुच्छागविक्रयिणं शतमन्वेतीत्युक्तौ धेन्वा नवतिरूपा दीयन्ते छाग[illegible] दशेति शतस्य विभागस्तथेहाप्युभयोर्भिन्नफलत्वात् ॥ ११ ॥

तद्वतो विधानादिति प्रत्याचष्टे—

अध्ययनमात्रवतः ॥ १२ ॥

तत्र वेदाध्ययनमात्रनिष्ठस्यैव न तु ब्रह्मज्ञस्य ब्रह्मत्वेन वरणमतः कर्म्माङ्गत्वं तस्याः प्रत्युक्तमित्यर्थः। तथा हि ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मेत्यत्र ब्रह्मशब्दो वेदार्थको न तु परतत्त्वार्थकः तदात्मकत्वे नैष्कर्म्यश्रवणात्। ततश्चाविकृतशब्दरूपं वेदं विज्ञाय सर्व्वदा तदध्ययनमात्रं यः करोति, न तेन किञ्चिदिच्छति स ब्रह्मिष्ठ उच्यते प्रत्ययेनेष्टेनातथार्थबोधनादिति। ब्रह्मविदो ब्रह्मत्वेनानुमतिरत्र कर्म्मस्तुत्यर्थेति केचित्। नन्वध्ययनमात्रवतः कर्म्माधिकारो न तु ज्ञानवत इत्युक्तम्। अज्ञानस्य तदसम्भवात् अध्ययनस्य चार्थबोधपर्य्यन्तत्वात्। तथा च वेदान्तर्गतोपनिषत्सम्भूतात्मज्ञानस्यावर्जनीयत्वेन तस्याः पुनस्तदङ्गत्वमिति चेत् उच्यते। नहि शाब्दज्ञानिनो ब्रह्मवित्त्वं किंतु तदनुभाविन एव। न च मधु मधुरमिति शाब्दीप्रतीतिमुपेतस्तन्माधुर्य्यविद्भवति। तथा सति मत्ततादितत्कार्य्योदयप्रसङ्गात्। न चैवमस्ति। अत एव यद्वेत्थ तेन मोपसीदेति पृष्टेन नारदेन ऋग्वेदादिस्वाधीतमुक्त्वा "सोऽहं मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्"

षया है। अतएव समस्त विद्या का कर्मांगत्व नहीं है ॥ १० ॥

दोनों का समन्वय (मिलन) में फल की उत्पत्ति होने के कारण विद्या कर्म के अधीन है—इस प्रकार के सिद्धान्त का निराकरण करते हैं।—विद्या कर्म के समन्वय में फलोत्पत्ति का विभाग विचार करना उचित है। विद्या के द्वारा एक प्रकार का फल तथा कर्म के द्वारा अन्य प्रकार का फल होता है। जिस प्रकार धेनु और छाग (बकरी) विक्रय कर शतमुद्रा प्राप्त होंगे बोलने पर धेनु का मूल्य नब्बे तथा छाग का मूल्य दश समझा जाता है ठीक उसी प्रकार कर्म का दश तथा विद्या का नब्बे भाग जानना चाहिए ॥ ११

अच्छा ? ब्रह्मवित् व्यक्ति को सकल कर्म में ब्रह्मा का पद प्रदान करने की विधि है। अतएव विद्या कर्मांगत्व होवे—इस पूर्व्वपक्ष का निराकरण करते हैं।—यहाँ ब्रह्मवित् को वेदाध्ययन निष्ठ मात्र जानना चाहिए।—अतएव तादृश ब्रह्मज्ञ को ब्रह्मापद में वरण की विधि है। इससे विद्या के कर्मांगत्व का निषेध हो रहा है। "ब्रह्मिष्ठ ब्रह्मा" यहाँ ब्रह्म शब्द वेदार्थपर है परतत्वार्थ पर नहीं है। परतत्व जानने वाले का नैष्कर्म्यत्व सुना जाता है। अतएव वेद को अविकृतशब्द रूप से अवगत होकर जो सर्वदा वेदाध्ययन करता है तथा उससे कुछ इच्छा नहीं रखता है उसको ब्रह्मिष्ठ कहा जाता है। इष्ठन् प्रत्यय के द्वारा इस प्रकार अर्थ अवगत हो रहा है। कोई कोई कहते हैं कि तादृश ब्रह्मज्ञ व्यक्ति का ब्रह्मापद में वरण की जो विधि है, वह केवल कर्मप्रशंसा के लिये है। अच्छा ? जिसने केवल वेदाध्ययन किया है, यदि वह कर्म का अधिकारी है तो वह अधिकार भगवान् के सम्बन्ध में नहीं कहा गया है। अज्ञानी का अधिकार सम्भव नहीं है। अतएव अर्थबोध पर्य्यन्त ही अध्ययन का अर्थ करना उचित है। यदि ऐसा ही है तब वेदान्तर्गत उपनिषद् से समुत्पन्न ज्ञान का अवर्जनीयत्व होने के कारण पुनर्वार विद्या का कर्म्मांगत्व आ पड़ता है—ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि केवल शाब्दज्ञान से ब्रह्मज्ञ नहीं होता है। जिसने ब्रह्म का अनुभव किया है वह ब्रह्मज्ञ है। "मधु मधुर है" इस शब्दबोध से मधु का मधुरत्व नहीं जाना जाता है। मधुपान से उसका मधुरत्व जाना जाता है। यदि शब्दबोध से ही उसका मधुरत्व जाना जाता है—ऐसा कहोगे तब उसका मत्ततादि फल उत्पन्न होना चाहिये। किन्तु ऐसा तो नहीं होता है। पान से ही मत्तता आती है।

विद्यया [illegible] तथा च शाब्दज्ञानादन्यैवोपासना। भक्त्यनुभवपदवाच्या विद्या पुरुषार्थहेतुः। उक्तं च तैत्तिरीयके। न मेधर [illegible] ज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगात् यतयः शुद्धसत्वाः। ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यं-भगव [illegible]" इति। शाब्दज्ञानं तु वैराग्यमिव तत्परिकरभूतम्।"तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया। पश्यन्त्या-त्म [illegible] चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया" इति स्मृतेः। ननु कायवाङ्मनोव्यापाररूपा भक्तिः। तत्र मानसस्य ध्यान-स्यानुभवत्वं भवेत्। कायवाक्व्यापाररूपस्यार्च्चनजपादेस्तत्त्वं कथमिति चेदुच्यते। 'ल्हादिनीसारसमवेतसं-विद्रूपा भक्तिः सच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगे तिष्ठति" इति श्रुतेः। इतरथा भगवद्वशीकारहेतुरसौ न स्यात्। तथाभूतायास्तस्याः भक्तकार्य्यादिवृत्तितादात्म्येनाविर्भूतायाः क्रियाकारकत्वं चित्सुखमूर्त्तेः कुन्तलादिप्रतीकत्ववद्-वसेयम्। "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इति न्यायेनालौकिकेऽचिन्त्येऽर्थे तर्कस्तु निराकृतः ॥ १२ ॥

नियमाच्चेति प्रत्याह—

नाविशेषात् ॥ १३ ॥

यावज्जीवं विदुषः कर्म्मानुष्ठानं तया श्रुत्या नियन्तुमशक्यम्। कुतः अविशेषात्। "न कर्म्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" इति तैत्तिरीयकश्रुत्यपेक्षया तस्याः प्रामाण्ये विशेषाभावात्। आश्रमभेदेन तु श्रुतिद्वयं व्यवतिष्ठते ॥ १३ ॥

एवं चोद्यं परिहृत्य तद्वाक्यार्थमाह— स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥ १४ ॥

वेत्यवधारणे। विद्यास्तुत्यर्थमियं जावज्जीवं कर्म्मानुष्ठानानुमतिः ईशावास्यमिति तत् प्रकरणात्। ईदृशी

इसलिये देवर्षि नारदजी ने "तुम क्या जानते हो हमको कहो" इस प्रकार पृष्ट होकर निज अधीत ऋग्वेदादि का परिचय प्रदान पूर्व्वक अपने को मन्त्रवित् करके व्यक्त किया किन्तु ब्रह्मवित् नहीं कहा। उपासना शाब्दज्ञान से अन्य है। भक्ति और अनुभव प्रभृति पदवाच्य विद्या ही पुरुषार्थ का हेतु है। तैत्तिरीयक में इस प्रकार कहा गया है। "वेदान्त विज्ञान से अर्थ सुनिश्चितकारी, संन्यासयोग के द्वारा शुद्धान्तःकरण सकल यति अन्त में मुक्तिलाभ वा ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं। शाब्दज्ञान वैराग्य की तरह विद्या का परिकर है किन्तु विद्या नहीं है।"श्रद्धासम्पन्न मुनिगण ज्ञान-वैराग्य से युक्त-श्रुतगृहीत भक्ति के द्वारा आत्मा में आत्मा का दर्शन करते हैं" इत्यादि श्रुति का-वचन है। अच्छा? भक्ति काय-वाक्य और मन का व्यापाररूप है। उनमें से मन के व्यापाररूप ध्यान से अनुभ-वस्वरूप हो सकती है,किन्तु कायव्यापार अर्च्चनादि तथा वाक्य-व्यापार जपादि किस प्रकार अनुभव रूप हो सकते हैं? इसके उत्तर में कहते हैं।—भक्ति ल्हादिनीसारसमवेतसंवित् रूपा है। श्रुति में कहा है-"सच्चिदानन्दैकरस भक्तियोग में ठहरते हैं"। भक्ति को सच्चिदानन्दस्वरूप नहीं बोलने से उसके द्वारा भगवद् वशीकारत्व नहीं सिद्ध हो सकता है। वास्तविक भक्ति सच्चिदानन्द स्वरूप होकर भी भक्त के शरीरादि के साथ तादात्म्यापन्न होकर आविर्भूत होती है तथा यथोचित कार्य्य सम्पादन करती है। ज्ञानानन्दविग्रह में कुन्तलादि अंग प्रत्यंगरूप दैहिक स्वरूप की भाँति जानना चाहिए। "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इस न्याय के अनुसार अलौकिक अचिन्त्य विषय में तर्क का निषेध है॥ १२ ॥

"यावज्जीवन कर्म्म अनुष्ठेय है" यह जो कहा गया है, उसको लक्ष्य करके कहते हैं।—जिस प्रकार यावज्जीवन कर्मानुष्ठान पक्ष में श्रुति दीखने में आती है ठीक उसी प्रकार कर्म के त्याग सम्बन्ध में भी श्रुति दीखने में आती है। अतएव पूर्व्वोक्त श्रुति के द्वारा कर्मानुष्ठान का विधान बोल के विचार करना संगत नहीं है। "कर्म-धन-प्रजा और त्याग के द्वारा अमृतत्व लाभ नहीं किया जाता है" इत्यादि तैत्तिरीयक श्रुति से पूर्व्वोक्त श्रुति प्रामाण्य का वैशिष्ट्य नहीं देखा जाता है। आश्रम-भेद से उभयश्रुति की व्यवस्था करनी होगी॥ १३ ॥

खलु विद्या यन्महिम्ना सर्व्वदा कुर्व्वन्नपि कर्म्म न तेन विद्वान् विलिप्यते इति सा स्तूयते। "एवं [illegible] तोऽस्ति" इति वाक्यशेषोऽपि तथाह। तथा च कर्म्माङ्गा विद्येति निरस्तम् ॥ १४ ॥

एवं विद्यास्वातन्त्र्यमभिधायेदानीं महिमातिशयादपि तदुच्यते। "एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न क[illegible] वर्द्धते नो कनीयान्" इति वाजसनेयके श्रूयते। तत्र विद्याविशिष्टानां यथेष्टाचारः स्यान्न वेति संशये यथेष्टाचा[illegible] विहितत्यागेन प्रत्यवायसम्भवात् न स्यादिति प्राप्ते—

कामकारेण चैके ॥ १५ ॥

कामकारेण लोकानुग्रहफलेन स्वेच्छापूर्व्वककर्म्मानुष्ठानेन जायमानयोर्गुणदोषयोः सम्बन्धो ब्रह्मविदि न स्यादित्येतदर्थिकामेष नित्यो महिमेत्यादिश्रुतिमेके शाखिनो यत्पठन्त्यतः कामचारेऽपि प्रत्यवायास्पर्शात् स स्यादिति। ब्राह्मणो ब्रह्मानुभवी। अत्र विहिते कर्म्मण्यनुष्ठिते न गुणसम्बन्धस्त्यक्ते च तस्मिन्न दोषसम्बन्धोऽपि। पुष्करपत्रे वारिबिन्दोरिव तत्र कर्म्मणोऽश्लेषात् प्रदीप्तवह्नौ तृणमुष्टेरिव दोषस्य भस्मीभावाच्च। अतः पुरुषमाना सेति॥१५॥

एतमर्थं स्फुटयति— उपमर्दं च ॥ १६ ॥

"भिद्यते हृदयग्रन्थिः"इत्याद्या श्रुतिः "यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन" इति, "ज्ञानाग्निः सर्व्व-कर्म्माणि भस्मसात् कुरुते तथा" इति स्मृतिश्च विद्यया सर्व्वकर्म्मविनाशं दर्शयति। तस्माच्च तथा। अत्र सामि-भुक्तस्य प्रारब्धस्यापि तया विनाशे जाते तदुत्तरकालिकविहितत्यागो दोषो न स्यादिति न चित्रम्। ननु देहारम्भ-

---

इस प्रकार पूर्व्वोक्त वाद के परिहार पूर्व्वक उक्त श्रुति का वाक्यार्थ दिखाते हैं।—अवधारण में "वा" शब्द है। यावज्जीवन कर्म्मानुष्ठान का विधान विद्या की प्रशंसा के लिये है। ईशावास्यश्रुतिप्रकरण से इस प्रकार संगत किया जा सकता है। विद्या की महिमा ऐसी है कि यावज्जीवन कर्मानुष्ठान करने पर भी वह कर्मानुष्ठान विद्वान् व्यक्ति को लिप्त नहीं कर सकता है। "एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्तीति" वाक्यशेष से इस प्रकार बोध हो रहा है। अतएव विद्या का कर्मांगत्व निरस्त हुआ है॥ १४ ॥

इस प्रकार विद्या का स्वातन्त्र्य-निर्देश कर अब महिमा के अतिशय से उसके स्वातन्त्र्य को कहते हैं। वाजस-नेयक में कहा है-"ब्राह्मण की यह महिमा है जो कि कर्म्म से न बढ़ता है न घटता है"। यहाँ पर विद्वानों का यथे-च्छाचार घटता है किम्वा नहीं-इस प्रकार का संशय उठने पर यथेच्छाचार के द्वारा विहितत्याग से प्रत्यवाय की सम्भावना है अतएव यथेच्छाचार नहीं हो सकता है। इस प्रकार पूर्व्वपक्ष का उत्तर देते हैं।—

ज्ञानी व्यक्ति की दोषबुद्धि के द्वारा कर्म से निवृत्ति तथा गुणबुद्धि से प्रवृत्ति नहीं है। वह केवल लोकसंग्रह इच्छा से बालक की भाँति यथेच्छ कर्म करता है। इसलिये जायमान गुण-दोषों का सम्बन्ध उसमें नहीं रहता है इसी कारण से ही "एष नित्यो महिमा" इत्यादि श्रुति को एक शाखायें जो पढ़ती हैं, उस से कामाचार में भी प्रत्यवाय की सम्भावना नहीं दीखती है-यह जाना जाता है। ब्राह्मण का अर्थ ब्रह्मानुभवी है। यहाँ विहित कर्म्म के अनुष्ठान में गुण सम्बन्ध नहीं है और न विहित कर्म्म के त्याग में दोष सम्बन्ध ही है। पद्मपत्र में जिस प्रकार जलबिन्दु का संस्पर्श नहीं होता है, ठीक उसी प्रकार ज्ञानीव्यक्ति का भी जानना चाहिए। प्रदीप्त अग्नि में तृणमुष्टि की भाँति दोष-समूह भस्मीभूत हो जाते हैं अतएव ज्ञानी की यह महिमा है॥ १५ ॥

उस विषय को स्पष्ट करते हैं-"भिद्यते हृदयग्रन्थि" इत्यादि श्रुति तथा "जिस प्रकार अग्नि काष्ठ को भस्म कर देती है उसी प्रकार ज्ञानाग्नि सर्व कर्म को भस्मस्मात् कर देती है" इत्यादि स्मृति भी विद्या के द्वारा सञ्चित-प्रारब्ध समस्त कर्मों का नाश हो जाना बतलाती है। अतएव विद्या का आतिशय्य सिद्ध होता है। यहाँ जब अर्द्ध-

विद्यया [illegible]भोगं विना विनाशो नाङ्गीकृत इति चेदत्रोच्यते। यद्यपि सर्व्वाणि कर्म्माणि निर्दग्धुं विद्या समर्था न मेधरा[illegible] सम्प्रदायप्रचारार्थायेश्वरेच्छयैव देहारम्भकं कर्म्म न निर्दहति । तच्च दग्धपटादिवत् विद्वांसमनुवर्त्तत [illegible]रब्धस्य भोगनाश्यत्ववाक्योपपत्तिः। वक्ष्यति चैवं। "अनारब्धकार्य्ये एव तु पूर्व्वे तदवधेः" इति ॥१६॥

उद्ध्र्वरेतःसु च शब्दे हि ॥ १७ ॥

परिनिष्ठितविशेषेष्वेवोद्ध्र्वरेतःसु यतिषु महाविद्येषु यस्मात् यथेच्छं कर्म्माचारः शब्दे प्रतीयते अतः स्वतन्त्रा विद्येत्यङ्गीकार्य्यम्। शब्दः खलु वृहदारण्यकश्रुतिः। "तस्मात् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्व्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्व्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनंच निर्व्विद्याथ ब्राह्मणः केन स्यात् येन स्यात् तेनेदृशः" इति। निर्व्विद्य लब्ध्वा। "सक्ताः कर्म्मण्यविद्वांसो यथा कुर्व्वन्ति भारत। कुर्य्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्" इत्यादि तु प्रतिष्ठितपरिनिष्ठितगृहिविषयम्। तथा च कामचारेऽपि प्रत्यवायास्पर्शो विद्यामहिमेति ॥ १७ ॥

अस्याः श्रुतेर्जैमिनिमतेनार्थान्तरं दर्शयति—

परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॥ १८ ॥

नियमात् विहितकर्म्मणामेव स्वेच्छया करणं कामचार इत्येव श्रुत्यर्थः। हि यतः श्रुतिरेव विदुषः कर्म्मपरामर्शं करोति कर्म्मत्यागमपवदति च, तस्मादचोदना विद्वान् कर्म्माणि त्यजेदिति विध्यभाव इत्यर्थः। अयं भावः। "कुर्व्वन्नेवेह कर्म्माणि"इत्यादिश्रुत्या विदुषां कर्म्मविधानात् वीरहा वा इत्यादिश्रुत्या कर्म्मत्यागापवादाच्च तत्त्यागे

भुक्त प्रारब्ध कर्म का विद्या के द्वारा विनाश होना दिखलाया गया है तब उस उत्तरकालीन विहित कर्म त्याग में दोष का अभाव है-यह आश्चर्य्य नहीं है। अच्छा ? भोग के विना देहारम्भक कर्म्म का विनाश स्वीकृत नहीं होता है। अतएव उसका विनाश किस प्रकार बोला जा सकता है-ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि ऐसा कुछ नहीं है जो कि विद्या के द्वारा दग्ध नहीं हो सकता है। तो भी कहीं पर जो भोग के विना प्रारब्ध का नाश स्वीकार नहीं किया गया है, उसका तात्पर्य्य अन्यप्रकार का है। विद्या की समस्त कर्म्म-दहन में सामर्थ्य रहने पर भी विद्वान् व्यक्ति सम्प्रदाय के प्रचारार्थ ईश्वरेच्छा के अनुगामी होकर कभी कभी प्रारब्ध कर्म्म का नाश नहीं करते हुए उसका भोग करते रहते हैं। प्रारब्धकर्म दग्धपट की भाँति विद्वान् व्यक्ति का अनुवर्त्तन करता रहता है। प्रारब्ध का भोगविनाश्यत्व प्रतिपादक वाक्य-समूह की ऐसी ही संगती करनी पड़ेगी। यह विषय "अनारब्धकार्य्ये एव तु पूर्वे तदवधेः" इति सूत्र में आगे कहेंगे ॥ १६ ॥

परिनिष्ठितव्यक्तियों में ऊर्द्ध रेता यतियों का विद्योत्पत्ति में यथेच्छाचार शास्त्र में कहा गया है। अतएव-विद्या का स्वातन्त्र्य अंगीकार है। "तस्मात् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य"अर्थात् ब्रह्मज्ञव्यक्ति विद्या सम्पन्न होने पर यथेच्छ आचरण कर सकते हैं-इत्यादि वृहदारण्यक वाक्य उसका पोषक प्रमाण है। निर्विद्य शब्द का अर्थ लब्ध होकर है। गीता में भी कहा है।"विद्वान् लोकसंग्रहार्थ असक्त भावसे कर्म्मानुष्ठान करेंगे"। अतएव यहाँ इस प्रकार संगति करनी होगी कि-क्या यति और क्या गृही विद्वान् का स्वेच्छाचार में दोष स्पर्श नहीं है तो भी प्रतिष्ठासम्पन्न गृही लोक-संग्रह के लिये ईश्वर-इच्छा के अनुसार विहित कर्म का अनुष्ठान करेंगे। गीता का यह वचन इस शेषोक्त प्रतिष्ठासम्पन्न गृही विषयक है। वस्तुतः यति के कामाचार के सम्बन्ध में कोई कथा ही नहीं उठसकती है। वह समाजभुक्त नहीं है। अतएव कामाचार से प्रत्यवाय का अस्पर्श है यह विद्या की महिमा है॥१७॥

जैमिनी के मतानुसार इस श्रुति का अर्थान्तर प्रदर्शन करते हैं-वे कहते हैं कि नियम-प्रयुक्त विहित कर्म्मों का स्वेच्छानुसार अनुष्ठान कामचार है-यह श्रुति का अर्थ है क्योंकि श्रुति स्वयं ही ज्ञानी के कर्मानुष्ठान का विधान करती है तथा अनुष्ठान की निन्दा करती है। सुतरां विद्वान् कर्म्मत्याग करेंगे-यह विधि वाक्य नहीं है।

विधिर्न सम्भवेत्, युगपत् विधानत्यागयोर्विरोधात्। न च त्याजकवाक्यानां निर्विषयता, तेषां प[illegible] पयत्वेनोपपत्तेः। तथा च विदुषां श्रौतस्मार्त्तानि कर्म्माण्यङ्गीकृत्यैव तत्र "केन स्यात्" इत्यादि काम[illegible] त्वन्यथेति जैमिनिर्म्मन्यते इति ॥ १८ ॥

एवं तस्य वाक्यस्य जैमिनिमतानुसारेण सदाचारविधित्वमुक्त्वाथ स्वमते यथेच्छकरणानुज्ञां तावत् तदर्थं दर्शयति—

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥ १९ ॥

अनुष्ठेयमेव कर्म्म यथेच्छं किञ्चिच्चरणीयं किञ्चिच्च नेति भगवान् बादरायणो मन्यते। कुतः? साम्यश्रुतेः।"केन स्यात् येन स्यात् तेनेदृशः"इति श्रुत्या केनापि प्रकारेण वृत्तावपि ज्ञानिनः साम्यश्रवणादित्यर्थः। जैमिनिमतेन सर्व्वचरणपक्षे साम्योक्तिरनुवादमात्रं स्यात् विहितकर्म्मणां सर्व्वेषां चरणे साम्यसम्भवात्। केषांचित् परित्यागेऽपि साम्योक्तिरसम्भवनिवृत्त्यर्थत्वादुपपद्यत इति। कर्म्मपरामर्शस्य स्वनिष्ठविषयत्वादविज्ञमादाय वीरघातश्रुत्युपपत्तेश्च चोद्यं परिहृतम्। न च त्यागश्रुतेरशक्तविषयता तद्बोधकपदाभावात् न कर्म्मणा न प्रजयेत्यादौ मुक्त्यसाधनतया तत्त्यागावगमात् च ॥ १९ ॥

विधिर्वा धारणवत् ॥ २० ॥

केनस्यादित्यादिको विधिर्व्वा ज्ञानिविषयः धारणवत्। यथा वेदधारणं त्रैवर्णिकानां विधीयते एवं केन स्यादिति यथेच्छं कर्म्माचरणं ज्ञानिनामेव परिनिष्ठितानां विधीयते नान्येषामित्यर्थः। "शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनयाचरेत्। अन्यांश्च नियमान् ज्ञानी यथाहं लीलयेश्वरः" ॥ २० ॥

इसका तात्पर्य्य-"कुर्व्वन्नेवेह कर्म्माणि"इत्यादि श्रुति से विद्वानों का कर्म्मविधान तथा "वीरहा वा" इत्यादि श्रुति से कर्म्मत्याग की निन्दा होने के कारण कर्म त्याग में विधि कदापि सम्भव नहीं है। विधान और त्याग ये दोनों विरुद्ध एक समयमें नहीं हो सकते हैं। क्योंकि त्यागबोधक वाक्यों की निर्व्विषयता भी नहीं हो सकती है। क्योंकि वह सकल वाक्य अंध-पंगु इत्यादिक कर्म्म में अक्षम व्यक्तियों के पक्ष में उपपन्न होते हैं। विद्वानों का श्रौत-स्मार्त्त कर्म अंगीकार पूर्वक जो कामचार शब्द का व्यवहार है वह त्यागार्थ में संगत नहीं हो सकता है—इस प्रकार जैमिनी कहते हैं ॥ १८ ॥

इस प्रकार जैमिनी के मतानुसार उस वाक्य का सदाचारविधित्व कहकर अब स्वमत में यथेच्छाकरण की अनुज्ञा ही इस वाक्य का अर्थ है-इसे कहते हैं।—जिन सब कर्मों का विधान है, विद्वान् उनमें से जो इच्छा हों करें किम्वा जो इच्छा नहीं हो उसे नहीं करें यह भगवान् बादरायण का मत है। क्योंकि "केन स्यात् येन स्यात् तेनेदृश" इत्यादि श्रुति में येन केन प्रकार से वृत्ति हों—वह ज्ञानी का साम्य सुनने में आता है। जैमिनी ऋषि के मत में सर्वाचरण पक्ष में समानोक्ति अनुवाद मात्र है क्योंकि विहितकर्म के आचरण में सब का ही साम्य सम्भव होता है। किन्तु कुछ कुछ परित्याग के स्वीकार में असम्भावना-निवृत्त्यर्थ-प्रयुक्त समानोक्ति उपपन्न होती है। कर्म्मपरामर्श का स्वनिष्ठविषय होने के कारण अविज्ञपक्ष में वीरघात श्रुति उपपन्न होती है। अतएव विधि पक्ष परिहृत हुआ है। उक्त त्यागश्रुति को अशक्त विषयणी नहीं कह सकते हो क्योंकि ऐसा वेद में नहीं है। और भी "न कर्म्मणा न प्रजया" इत्यादि श्रुति में जो कुछ कहा गया है वह सब मुक्ति का असाधक होने के कारण त्यक्त किया गया है ॥ १९ ॥

"केन स्यात्"इत्यादि विधि ज्ञानविषयक है। उसे धारण की तरह जानना चाहिए। जिस प्रकार त्रैवर्णिक को वेदधारण की विधि देखने में आती है, उसी प्रकार "केन स्यात्" इत्यादि श्रुति में उक्त यथेच्छकर्म का आचरण-परिनिष्ठित ज्ञानियों का विधान है, यह कथन अशक्त पक्ष में नहीं है। स्मृति में कहा है कि ज्ञानी व्यक्ति शौच

विद्यया ... समादधाति—

न मेधरु... **स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्व्वत्वात् ॥ २१ ॥**

भगव... ज्ञानिनः स्तुतिमात्रमेवैतत् न तु विधिः। यथा प्रीतिपात्रं कञ्चित् प्रत्युच्यते यथेष्टं कुर्व्विति तेन तस्य स्तुतिरेव ...वात् न तु यथेष्टकृतिविधानं, तथैतदपि ज्ञानिनोऽपि कर्म्मविधिस्वीकारादिति चेन्न। कुतः ? अपूर्व्वत्वात्। ब्रह्मानुभविनि यथेष्टं कर्म्माचारस्य अपूर्व्वविधित्वात् न स्तुतिमात्रं तदित्यर्थः ॥ २१ ॥

भावशब्दाच्च ॥ २२ ॥

मुण्डके "प्राणो ह्येष सर्व्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान् भवते नातिवादी। आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः" इति भाववाचकशब्दोपेतात् वाक्यादित्यर्थः। भावो रतिः प्रेमा चेति पर्य्यायशब्दाः। अयं भावः। ब्रह्मरतस्य परिनिष्ठितस्य तत्समयालाभात् लोकसंग्रहायैव कथञ्चित् किञ्चित् कर्म्मानुष्ठानमिति स्वतन्त्रा ब्रह्मविद्या ॥ २२ ॥

अथ प्रकारान्तरेणाशङ्क्य समाधत्ते- **पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥ २३ ॥**

बृहदारण्यकादिषु "अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्य्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च" इति। "भृगुर्वै वारुणिर्वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्मेति"। "प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम" इति "जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस" इति चैवमादिभिरुपाख्यानैः श्रुतिभिर्ब्रह्मविद्या निरूप्यते। ताश्च पारिप्लवार्था उत ब्रह्मविद्या प्रतिपत्त्यर्था इति वीक्षायां पारिप्लवार्था इति विज्ञायते "सर्व्वाण्याख्यानानि पारिप्लवे शंसन्ति" इति श्रवणात्। शंसने च शब्दमात्रस्य प्राधान्येनार्थज्ञानस्य अतथात्वादाख्यानप्रति-

---

आचमन-स्नान प्रभृति समस्त कर्मविधि को अनुगत होकर नहीं करे अर्थात् ईश्वर की तरह लीला से अथवा इच्छा पूर्व्वक करे ॥ २० ॥

फिर आक्षेप उठाकर समाधान करते हैं।—उक्त वाक्य से ज्ञानी की स्तुतिमात्र है, विधि नहीं। जिस प्रकार प्रीतिपात्र को "जो इच्छा सो करो" इस प्रकार बोलने पर उसकी स्तुतिमात्र की जाती है, किन्तु यथेच्छाचार में अनुज्ञा नहीं दी जाती हैं ठीक उसी प्रकार ज्ञानियों के लिये कामचारोक्ति के द्वारा स्तुतिमात्र की जाती है किन्तु यथेच्छाचरण का विधान नहीं किया जाता है। ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि ब्रह्मानुभवी ज्ञानियों के पक्ष में उक्त यथेष्ट आचरण अपूर्वविधि है, स्तुतिमात्र नहीं है ॥ २१ ॥

मुण्डक में "प्राणो ह्येष सर्वभूतैर्विभाति विद्वान् भवते नातिवादी। आत्मक्रीड़, आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः" इत्यादि वाक्य में भाववाचक रति प्रभृति शब्द देखे जाते हैं। भाव-रति-प्रेम प्रभृति शब्द एक पर्य्यायवाची हैं। तात्पर्य्य यह है कि ब्रह्मरत परिनिष्ठित ज्ञानी का यावत् कर्मानुष्ठान में अवसर नहीं रहने के कारण केवल लोकसंग्रहार्थ किञ्चित् कर्म का अनुष्ठान कहा गया है। अतएव ब्रह्मविद्या स्वतन्त्र है ॥ २२ ॥

अब अन्य प्रकार की आशङ्का उठाकर समाधान करते हैं।—

बृहदारण्यकादि में "अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्य्ये" इत्यादि श्रुति वाक्य में जिन सकल उपाख्यान का वर्णन है, उससे ब्रह्मविद्या ही निरूपित की गयी थी। वे सकल श्रुति पारिप्लवार्थ अर्थात् अस्थिरार्थ हैं किम्वा ब्रह्मविद्याप्रतिपत्त्यर्थ है ? सकल उपाख्यान ही अस्थिर अर्थयुक्त अर्थात् संशय प्रकाश करते हैं इस कारण से पारिप्लवार्थ है। संशन में शब्दमात्र का प्राधान्य होने के हेतु तथा अर्थज्ञान में शब्दमात्र प्राधान्य का अन्यप्रकार होने के हेतु आख्यानयुक्त ब्रह्मविद्या मन्त्रार्थवाद की तरह अप्रयोजिकामात्र है। अतएव ब्रह्मविद्याके कर्म शेषत्व का प्रत्याख्यान नहीं

पन्ना ब्रह्मविद्या मन्त्रार्थवादार्थवदप्रयोजिकैवेति कर्म्मशेषता तस्या नाख्यातुं शक्यातः प्रधानता तु ... धर्मिण एवासिद्धेरिति चेन्न। कुतः ? विशेषितत्वात्। पारिप्लवमाचक्षीतेति प्रकृत्य तत्र प्रथमेऽहनि मनु... राजेति, द्वितीयेऽहनीन्द्रो वैवस्वतो राजेति, तृतीयेऽहनि यमो वैवस्वतो राजेत्याख्यानविशेषास्तत्र तत्र विनियु... तत्राख्यानसामान्यग्रहे दिवसविशेषे आख्यानविशेषविधिरनर्थकः स्यात्। ततश्च सर्व्वाणीति तत्प्रकरणपठितान्यव ज्ञेयानि। तस्मात् वेदान्ताख्यानानि पारिप्लवप्रयोगार्थानि नेत्यर्थः ॥ २३ ॥

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥ २४ ॥

तथा च वेदान्तोपाख्यानानामसति पारिप्लवार्थत्वे सन्निहितविद्याप्रतिपत्त्युपयोगित्वमेव न्याय्यम्। कुतः एकेति। "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः" इत्यादि सन्निहितविद्याभिरेकवाक्यतयोपबन्धात्। यथा "सोऽरोदीत्" इत्याद्युपाख्यानानां सन्निहितकर्म्मविधेः स्तुत्यर्थता, न तु पारिप्लवार्थता, तथैवेषां संनिहितविद्यास्तुत्यर्थता स्यात्। अयं भावः। स्वतन्त्रैव पुमर्थहेतुर्विद्या, यदस्यां महान्तोऽपि महता प्रयासेन प्रवर्त्तन्त, इति प्ररोचनोपयोगात् प्रज्ञासौकर्योपयोगाच्चोपाख्यानरीत्या विद्योपदेशः। तेन चाचार्यवान् पुरुषो वेदेति श्रुत्यनुग्रहश्च। तथा च स्वतन्त्रा सेति॥२४॥

अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥ २५ ॥

अतो विद्यास्वातन्त्र्यप्रतिपादनादेव हेतोस्तस्याः स्वफले प्रकाश्येऽग्नीन्धनादीनां यज्ञादिकर्म्मणां नास्त्यपेक्षेति ज्ञानकर्म्मसमुच्चयव्युदासः ॥ २५ ॥

इत्थं विद्यासामर्थ्योद्यभिधाय तदधिकारिणं लक्षयितुमारभते। "तमेतं वेदानुवचनेन" इत्यादि। "तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्" इति च श्रूयते बृहदारण्यके। अत्र यज्ञादि

किया जा सकता है। सुतरां उसका प्राधान्य दूर में चला जाता है क्योंकि धर्मी की सिद्धि नहीं होती है—इत्यादि पूर्वपक्ष असंगत है। कारण यह है कि वेद में पारिप्लवार्थ का निर्देश कर इससे प्रकरण का प्रारम्भ कर प्रथमदिवस में वैवस्वतमनु राजा, द्वितीयदिवस में इन्द्र वैवस्वत राजा, तृतीयदिवस में यम वैवस्वतराजा, इत्यादि विशेष विशेष आख्यान कहे गये हैं। यहाँ सामान्य रूप से समस्त आख्यान का ग्रहण करने पर दिन-विशेष में आख्यान विशेष की विधि अनर्थक हो जाती है। अतएव सर्वशब्द एक प्रकरण पठित उपाख्यान पर जानना चाहिए। सुतरां सकल वेदान्त आख्यान अस्थिरार्थ नहीं है ॥ २३ ॥

इस प्रकार वेदान्तोपाख्यान सकल यदि अस्थिरार्थ नहीं सिद्ध हुए तब सन्निहित विधि समूह के साथ एकवाक्य रूप उपनिबद्ध होने के कारण उनको इन सकल विधि का प्रतिपत्ति-उपयोगी बोलना युक्तियुक्त है। जिस प्रकार "उसने रोदन किया" इत्यादि समस्त उपाख्यान सन्निहित कर्मविधि की स्तुति के लिये कहे गये हैं, उनके अस्थिरार्थ नहीं कहे गये हैं, ठीक उसी प्रकार ये सकल उपाख्यान ही सन्निहित विद्या की स्तुति का प्रकाश करते हैं। इसका भाव यह है कि पुरुषार्थ हेतुभूत विधि स्वतन्त्रा है। महत्व्यक्तिगण भी प्रचुर प्रयास के द्वारा उसमें प्रवर्त्तित होते हैं। प्ररोचन तथा प्रज्ञासौकर्य्य के उपयोग के हेतु सकल विधि उपाख्यान रीति के अनुसार उपदिष्ट हो रही हैं। इसलिये ही "गुरुसेवारत पुरुष ब्रह्मज्ञान लाभ करता है" इस प्रकार श्रुति का अनुग्रह है। अतएव विद्या स्वतन्त्रा है ॥ २४ ॥

अतएव विधि के स्वातन्त्र्य प्रतिपादन के हेतु उसका निजफल सम्बन्ध में यज्ञादि कर्म की अपेक्षा नहीं होती है। इससे ज्ञान-कर्म का समुच्चय निरस्त हुआ है ॥ २५ ॥

इस प्रकार विधि का सामर्थ्यादि कह कर तदधिकारी का लक्षण आरम्भ करते हैं। बृहदारण्यक में "ब्रह्मज्ञ सकल व्यक्ति वेदानुवचन के द्वारा उस ब्रह्म को जानने की इच्छा करते हैं" इत्यादि और "शान्त, दान्त, उपरत,

विद्यया [illegible]द्याङ्गतया प्रतीयते। तदुभयमावश्यकं न वेति संशये आचार्य्यवान् पुरुषो वेदेत्यादिषु गुरूपसत्त्यैव न मेधरा[illegible]त्ययात् नेति प्राप्ते—

भगव[illegible]

सर्व्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतिरश्ववत् ॥ २६ ॥

तत[illegible] स्वफलप्रकाशे निरपेक्षापि विद्या स्वोत्पत्तौ सर्व्वापेक्षा सर्व्वान् यज्ञादिधर्म्मानपेक्षत इत्यर्थः। कुतः? यज्ञेति। तमेतमित्यादौ तस्मादेवमित्यादौ च विद्यार्थं यज्ञादेः शमादेश्च श्रवणादित्यर्थः। तत्र दृष्टान्तोऽश्वेति। यथा गतिनिष्पत्तये अश्वोऽपेक्ष्यते न तु निष्पन्नगतेर्ग्रामादिप्राप्तौ तद्वत्॥ २६॥

ननु यज्ञादिनैव विद्यादिसिद्धौ शमादिना किमिति चेत्तत्राह—

शमदमाद्युपेतस्तु स्यात् तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥ २७ ॥

तुद्वयं निश्चयशङ्काच्छेदयोः। यद्यपि यज्ञादिना विशुद्धस्य विद्या स्यात् तथापि विद्यार्थी शमादिभिरुपेत एव स्यात्। कुतः? तदङ्गतया तद्विधेः। तस्मादेवंविदित्यादिना विद्याङ्गतया शमादीनां विधानात् विहितानां तेषामवश्यमनुष्ठेयत्वाच्च। तथा च वाक्यद्वयस्थत्वादुभयं कार्य्यम्। तत्र यज्ञादि वहिरङ्गं शमादि त्वन्तरङ्गमिति विवेचनीयम्। आदिपदात्प्रागुक्तं सत्यादि चेत्यधिकारिलक्षणं दर्शितम्॥ २७॥

अथ विदुषां निषिद्धाचारं निवारयति। "यदि ह वा अप्येवंविन्निखिलं भक्षयीतैवमेव स भवतीति" श्रूयते। अत्र सन्देहः। विदुषः सर्व्वान्नभुक्तौ विधिरुताभ्यनुज्ञेति। सर्व्वान्नभुक्तेर्मानान्तरेणाप्राप्तेर्विदुषोऽसौ विधीयत इति प्राप्ते—

तितुक्षु-पुरुष श्रद्धान्वित होकर आत्मा में आत्मा का दर्शन करते हैं" इत्यादि पाठ है। यहाँ यज्ञादि तथा शमादि विद्या के अंगरूप से प्रतीयमान होते हैं। दोनों की आवश्यकता है किम्वा नहीं है—इस प्रकार का संशय उठने पर "आचार्य्यवान् पुरुषो वेद" इत्यादि श्रुति वाक्य के अनुसार गुरूपसत्ति के द्वारा ही विद्या की उत्पत्ति दर्शन से उन उभय का प्रयोजन नहीं है इस प्रकार पूर्व्वपक्ष स्थिर होने पर उसके उत्तर में कहते हैं।—

विद्या स्वफलदान में निरपेक्ष होने पर भी निज उत्पत्ति के विषय में यज्ञ प्रभृति समस्त धर्म्मों की अपेक्षा करती है क्योंकि "तमेतं वेदानुवचनेन" इत्यादि श्रुति में विद्योत्पत्ति के विषय में यज्ञादि तथा शमदमादि का श्रवण है। जिस प्रकार गमन में स्वतन्त्र अपेक्षा रहने पर भी अश्व प्रभृति की अपेक्षा देखी जाती है, ठीक उसी प्रकार विद्या की यज्ञादि में अपेक्षा रहती है। ग्रामादि प्राप्ति में गमनशेष व्यक्ति की उक्त अपेक्षा नहीं है। ठीक उसी प्रकार विद्या में फलप्राप्ति के पश्चात् यज्ञादिकों की अपेक्षा नहीं है॥ २६॥

अच्छा? यज्ञादि के द्वारा यदि विद्या की सिद्धि हुई तब शम-दमादिकों का प्रयोजन क्या है? इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष का उत्तर देते हैं।—सूत्र में दोनों "तु" शब्द निश्चय तथा शङ्काच्छेद के लिये हैं। यद्यपि यज्ञादि के द्वारा विशुद्ध व्यक्ति का विद्या सम्भव है तो भी विद्यार्थी शम-दमादि की अपेक्षा करें क्योंकि शम-दमादि विद्या के अंग हैं। विद्यार्थी शम दमादि सम्पन्न होकर ही विद्यार्ज्जन में चेष्टित होवे। "तस्मादेवंवित्" इत्यादि श्रुति के द्वारा शम-दमादि को विद्या का अंग करके विधान किया गया है। अतएव वे अनुष्ठेय अवश्य हैं। दोनों ही स्वतन्त्र रूप से स्थित होने के कारण अनुष्ठेय हैं। दोनों में से यज्ञादि बहिरंग तथा शमादि अन्तरंग साधन हैं ऐसा विवेचन करना है। आदि शब्द से पहले उक्त सत्यादि जानने चाहिएँ। इस प्रकार अधिकार का लक्षण कहा गया है॥ २७॥

इसके अनन्तर विद्वानों के निषिद्धाचार का निवारण करते हैं। श्रुति में "विद्वान्व्यक्ति निखिल वस्तु का भक्षण करें" इस प्रकार वाक्य देखा जाता है। यहाँ संन्देह है कि उक्त वाक्य से उनके सर्व्वान्न-भोजन में विधि कही गई है किम्वा वह अभ्यनुज्ञामात्र है। प्रमाणान्तर के द्वारा सर्व्वान्नभोजन की अप्राप्ति के कारण इसे अपूर्वविधि बोला

सर्व्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥ २८ ॥

चशब्दोऽवधारणे। अन्नालाभप्रयुक्तप्राणात्ययकाल एव सर्व्वान्नभक्षणे अभ्यनुज्ञैव। कुतः? तद[illegible] छान्दोग्ये "मटचीहतेषु कुरुषु" इति आरभ्य "न वा अजीविष्यमिमा न खादन्निति होवाच कामो म उद[illegible] इति चाक्रायणाचारवीक्षणादित्यर्थः। तत्रेयमाख्यायिका। इभ्योच्छिष्ठान् कुल्माषांश्चाक्रायणो नामर्षिः प्राणत्राणाय चखाद, जलप्रतिग्रहमिभ्येनाभ्यर्थितोऽप्युच्छिष्टभयात् यथेष्टं लाभाच्च न तज्जग्राह। पुनः परेद्युः स्वपरोच्छिष्टान् पर्य्युषितांस्तान् भक्षयामासेति। अन्यत्राप्येवमेव व्याख्येयम्॥ २८॥

अबाधाच्च ॥ २९ ॥

आपदि सर्व्वान्नभक्षणेऽनुमतिश्चित्तमदूषयता तेन ज्ञाने बाधाभावात्॥ २९॥

अपि स्मर्य्यते ॥ ३० ॥

"जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा" इति स्मृत्या च विपद्येव सर्व्वेषां सर्व्वान्नभुक्तिरुक्ता न तु सर्व्वदा। अतस्तस्यामनुमतिमात्रमेव न तु विधिः प्रतिषेधशास्त्राच्च॥३०॥

शब्दश्चातो कामचारे ॥ ३१ ॥

यस्मादापद्येव सर्व्वान्नभक्षेऽभ्यनुज्ञानमतोऽकामचारे विदुषा प्रवर्त्तितव्यम्। शब्दश्च "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्व्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" इति छान्दोग्यश्रुतिः कामचारं वारयति। तथा चापद्येव सर्व्वान्नाभ्यनुज्ञानादनापदि शास्त्रीयः समाचारः॥ ३१॥

पूर्व्वसन्दर्भे स्वनिष्ठादिभेदेन त्रेधा विद्याजुषो दर्शिताः। अथ तेषु लब्धविद्येषु वर्णाश्रमाचारः कथं स्यादित्येतत् व्यवस्थापयितुमारभ्यते। तत्र तावत् स्वनिष्ठः परीक्ष्यते। "पश्यन्नपीममात्मानं कुर्य्यात् कर्म्माविचारयन् यदात्मनः

जावे—इस प्रकार के पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं॥—

यहाँ "च" शब्द अवधारण में है। वह विधि नहीं है, अनुज्ञा मात्र है क्योंकि अन्न के अभाव में प्राणत्याग की सम्भावना के स्थल पर सर्वान्नभोजन देखा जाता है। छान्दोग्य में इस विषय पर एक उपाख्यान है। एक समय चाक्रायण नामक ऋषि ने प्राणत्याग की रक्षा के लिये चाण्डाल के उच्छिष्ट कुल्माष का भोजन किया था किन्तु उसका दत्त जल नहीं पान किया क्योंकि जल तो सर्व्वत्र मिलता है इसलिये नहीं पीया। अन्य दिवस भी निज भुक्तावशेष उच्छिष्टान्न का पुनर्व्वार भोजन किया था। अन्यत्र भी इसी प्रकार व्याख्या जाननी चाहिए॥ २८॥

आपत्काल में ज्ञानी को सर्व्वान्नभक्षण दोषावह नहीं होता है। ज्ञानी का चित्त स्वभावतः निर्मल रहता है। निर्मल व्यक्ति को किसी कर्म में बाधा नहीं है। इसलिये ज्ञानी को तादृश कामाचार में अभ्यनुज्ञा दृष्ट होती है॥२९॥

स्मृति में भी इस प्रकार अभ्यनुज्ञा है। पद्मपत्र में जल जिस प्रकार लिप्त नहीं होता, ठीक उसी प्रकार आपत् पड़ने पर सबका सर्व्वान्नभोजन कहा गया है, अन्यसमय में नहीं। इसलिये श्रुति में यह अनुमतिमात्र है, विधि नहीं है। क्योंकि इसका प्रतिषेध शास्त्र भी है॥ ३०॥

आपत्काल में जब सर्व्वान्नभक्षण का आदेशमात्र है तो विना आपत्काल के कामाचार में प्रवृत्त न होवें। छान्दोग्य में कहा गया है—"आहारशुद्धि से सत्वशुद्धि, सत्वशुद्धि से ध्रुवानुस्मृति तथा उससे समस्त बन्धन का मोचन है"। अतएव आपत्काल में सर्व्वान्नभोजन की अनुमति के हेतु अन-आपत्काल में शास्त्रीय आचरण का आश्रय है॥ ३१॥

पूर्व्वसन्दर्भ में स्वनिष्ठादि भेद से तीन प्रकार विद्याधिकारी दिखलाया गया है। उन सकल अधिकारियों के आप्तविद्य होने पर उनकी वर्णाश्रमव्यवस्था किस प्रकार ठहर सकती है? उस की व्यवस्था के लिये प्रकरणान्तर का

विद्यया [illegible]त्कर्षमाप्नुयात्" इति कौषारवश्रुतौ संशयः। लब्धविद्येन स्वनिष्ठेन कर्म्माणि कार्य्याणि न वेति। न मेधर[illegible]स्य तत्फलस्य प्राप्तत्वात् फलप्राप्तौ साधननिवृत्तेर्दृष्टत्वात् न कार्य्याणीति प्राप्ते—

भगव[illegible]

विहितत्वाच्चाश्रमकर्म्मापि ॥ ३२ ॥

त[illegible] अपिर्वर्णकर्म्मसमुच्चयार्थः। तेन स्ववर्णाश्रमकर्म्माणि कार्य्याणि। कुतः? विद्योपचितये। तं प्रति तेषां विहितत्वादेव ॥३२॥

ननु जातायामपि विद्यायां पुनः कर्म्मविधानात् किं ज्ञानकर्म्मणोः समुच्चयोभिमतो नेत्याह—

सहकारित्वेन च ॥ ३३ ॥

विद्यासहकारित्वेनैव तेन कर्म्माणि कार्य्याणि, न तु मुक्तिहेतुत्वेन। तमेव विदित्वेत्यादौ तस्या एव तत्त्वाभिधानात्। एतदुक्तं भवति। स्वनिष्ठेनादौ परमात्मानमुद्दिश्य स्वकर्म्माण्यनुष्ठितानि तेषु तदुद्देशेनैव विषोर्णादिवत् तद्विषया विद्या समभूत्। तैरसौ तामासाद्यापि तद्विवृद्धये तान्यनुतिष्ठति। सा च स्वोत्तराणि तानि न विनाशयत्यविरोधात्। किन्तु स्वर्गादिवैचित्रीमनुभावयितुं रक्षत्येव। "न ह्यस्य कर्म्म क्षीयते" इति बृहदारण्यकात्। न च तेषां तदनुभवफलकत्वात् काम्यत्वं, तेन तत्कामनयाननुष्ठानात्। स्वनिष्ठो विद्वान् ब्रह्म प्राप्नुवन्ननुसङ्गात् स्वर्गादिकमनुभवति। ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशतीति अत्र तृणस्पर्शवत्। स्वर्गाद्यानन्दानुभवपूर्व्वकं ब्रह्मप्रेप्सवे स्वनिष्ठाय विद्यैव स्वपरिकरकर्म्मद्वारा स्वर्गादिकमनुभावयति स्वद्वारा तु ब्रह्मपदमिति श्रुतिश्चैवमभिप्रैति तं विद्येत्याद्या। इत्थमेव तस्य संकल्पोऽपि बोध्यः। नैरपेक्ष्यपरीक्षायै क्वचित् स्वद्वारापि स्वर्गादिकमुपस्थापयति। "सर्व्वं ह पश्यः पश्यति" इत्यादिश्रुते। न चैवं तदधिगमन्यायविरोधः तस्य स्वनिष्ठेतरविषयत्वेनोपपत्तेः। स्वनिष्ठस्य स्वर्गाद्यर्पक-

---

आरम्भ करते हैं। पहले स्वनिष्ठ की परिक्षा होगी। "आत्मज्ञान लाभ करके भी अविचार में कर्म्म करें। उससे आनन्द की वृद्धि होगी" ऐसा कौषारव श्रुति का वचन है। यहाँ संशय है कि लब्धविद्य स्वनिष्ठ अधिकारी का कर्म्म कर्त्तव्य है किम्वा नहीं? फल की प्राप्ति होने पर साधन में निवृत्ति हो जाना लोक प्रसिद्ध है। अतएव कर्म्म कर्त्तव्य नहीं है इस प्रकार के पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं।—

"अपि" शब्द कर्म्म समुच्चयार्थ है। इसलिये स्ववर्णाश्रम कर्म्म-समूह कर्त्तव्य है। उससे विद्या की वृद्धि होती है। विद्यावृद्धि के लिये कर्त्तव्य-विधान दिया जाता है ॥ ३२ ॥

अच्छा? विद्या की उत्पत्ति होने के पश्चात् कर्मविधान देखा जाता है। क्या ज्ञान कर्म्म का समुच्चय अभिमत है? इस प्रकार के पूर्वपक्षीय प्रश्न का उत्तर देते हैं—नहीं हैं। ये समस्त कर्म्म विद्या के सहकारिभाव से-अनुष्ठेय हैं। मुक्ति-साधन में अनुष्ठेय नहीं है क्योंकि "तमेव विदित्वा" इत्यादि वाक्य में विद्या को ही मोक्षकारण के रूप में निरूपण किया गया है। इसमें यह कहा जाता है। स्वनिष्ठपुरुष पहले परमात्मा का उद्देश्य करके स्वकर्म्म का अनुष्ठान करता है। इन सकल कर्म्मों के मध्य में परमात्मा के उद्देश्य से विषोर्णादि की भाँति तद्विषया विद्या उत्पन्न होती है। पश्चात् उस विद्या की वृद्धि के लिये पुनर्वार ये कर्म्म-समूह अनुष्ठित होते हैं विद्या अविरोध के हेतु उत्तरवर्त्ती इन सब कर्म्मों का विनाश नहीं करती है, किन्तु स्वर्गादिवैचित्री का अनुभव कराने के लिये उनकी रक्षा करती है। बृहदारण्यक में भी कहा है—"पुरुष के तादृश कर्म्मों का क्षय नहीं होता है" स्वर्गादि अनुभव रूप फल को उत्पन्न करने के कारण इन सब कर्म्मों को काम्य कर्म्म नहीं बोला जा सकता है। क्योंकि स्वनिष्ठ कामना के साथ उनका अनुष्ठान नहीं करता है। वह ब्रह्म-प्राप्ति के समय आनुसंगिक रूप से स्वर्गादि का अनुभव करता है। जिस प्रकार ग्राम के लिये गमनकारी व्यक्ति तृण का स्पर्श करता हुआ गमन करता है, ठीक उसी प्रकार स्वनिष्ठ व्यक्ति स्वर्गादि सुख का अनुभव करता है। स्वर्गादिगत आनन्द के अनुभव के

पुण्यांशप्रारब्धांशौ तदितरस्य परिनिष्ठितादेस्तु प्रारब्धांशमेव विहायेतरत् सर्व्वं कर्म्म विनाशय[illegible] स्वतन्त्रा फलहेतुः कर्म्म तु तस्याः सहकारीति सिद्धम् ॥ ३३ ॥

अथ परिनिष्ठितः परीक्ष्यते। "आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावान्" इत्यादिश्रूयते। अत्र परिनिष्ठितस्य लो[illegible] वर्णाश्रमधर्म्माः कर्त्तव्यतया प्राप्ताः प्रीत्यर्थं श्रवणादयो भगवद्धर्म्माश्च। तेषामुभयेषां युगपत्प्राप्तौ किं ते क्रमेणानुष्ठेयाः किं वाद्यान् विहायोत्तरे ते इति सन्देहे युगपदनुष्ठानासम्भवात् विहितानां त्यागे दोषाच्चानिर्णयेन भाव्यमिति प्राप्ते—

सर्व्वथापि तत्र चोभयलिङ्गात् ॥ ३४ ॥

अपिरवधारणे। सर्व्वथैव स्वधर्म्मानुरोधमकृत्वैवेत्यर्थः। परिनिष्ठितेन तेन भगवद्धर्म्मा एवानुष्ठेया। स्वधर्म्मास्तु कथञ्चित् गौणकाले। एवं कुतस्तत्राह उभयेति। तमेवैकं जानथेत्यादि श्रुतिलिङ्गात्। "महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः। भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्। सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः। नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते" इत्यादि स्मृतिलिङ्गाच्च ॥ ३४ ॥

उपोद्बलकान्तरमत्राह—

अनभिभवं च दर्शयति ॥ ३५ ॥

"सर्व्वं पाप्मानं तरति, नैनं पाप्मा तरति, सर्व्वं पाप्मानं तपति, नैनं पाप्मा तपति" इति बृहदारण्यकश्रुतिः

साथ ब्रह्म-प्रवेशकारी पुरुष को विद्या ही निज परिकररूप कर्मादि के द्वारा स्वर्गादि सुख का अनुभव कराकर पश्चात् उसको अपने द्वारा ब्रह्मपद प्राप्त कराती है। "तं विद्या" इत्यादि श्रुति में ऐसा ही अभिप्राय व्यक्त हो रहा है। स्वनिष्ट का संकल्प ही इस प्रकार का होता है। नैरपेक्ष्यता की परीक्षा के लिये विद्या कभी कभी उसको स्वर्गादि में डाल देती है। श्रुति में कहा है—"ज्ञानी समस्त देखता है"। इससे तदधिगम न्याय का विरोध नहीं घटता है। कारण यह है कि वह न्याय स्वनिष्ट में ही उपपन्न होता है। विद्या उससे इतर परिनिष्ठितादि के प्रारब्धांश को बाद देकर उसके स्वनिष्ठ के स्वर्गादि अर्पक पुण्यांश तथा प्रारब्धांश कर्म्म का नाश कर देती है। अतएव विद्या स्वतन्त्र रूप से फलहेतु है तथा कर्म्म उसका सहकारीमात्र है—यह सिद्ध हुआ ॥ ३३ ॥

अब परिनिष्ठित की परीक्षा होती है। इस विषय में "आत्मक्रीड़ आत्मरति क्रियावान्" इत्यादि श्रुतिवाक्य देखा जाता है। यहाँ परिनिष्ठित के लोकसंग्रह के लिये वर्णाश्रमधर्म तथा प्रीति के लिये कर्त्तव्यरूप से प्राप्त श्रवणादि भगवद्धर्म्म प्राप्त हो रहे हैं। दोनों के युगपद् प्राप्त होने के कारण संशय यह उठता है कि वे क्रम से अनुष्ठेय हैं किम्वा आद्य का परित्याग कर उत्तर का अनुष्ठान होगा? युगपत् अनुष्ठान के असंभव होने के कारण तथा विहितों के त्याग में दोषापत्ति होने के कारण अनुष्ठान का निर्णय स्थिर नहीं हो रहा है इस प्रकार के पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं।—

"अपि" अवधारण में है। स्वधर्म्मानुरोध के परित्याग पूर्वक सर्वदा भगवद्धर्म का अनुष्ठान करना परिनिष्ठित का कर्त्तव्य है। स्वधर्मपालन गौणरूप से अर्थात् भगवद्धर्म के अविरोध से कर्त्तव्य है। श्रुति-स्मृति दोनों का यह उपदेश है। "तमेवैकं जानथ" इत्यादि श्रुतिलिंग है। गीता में भी कहा है—"हे पार्थ! जिन्होंने दैवी प्रकृति का आश्रय कर जन्म लिये हैं वे समस्त महात्मा हमको भूत सकल का आदि और अव्यय जानकर अनन्य मन से-हमारा भजन करते हैं। वे सर्वदा मेरा कीर्त्तन करते हैं तथा दृढ़व्रत होकर मेरा यजन करते हैं, भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं और नित्ययुक्त होकर मेरी उपासना करते हैं ॥ ३४ ॥

यहाँ और एक पोषक हेतु दिखाते हैं।—"सर्वं पाप्मानं तरति" इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति के द्वारा परिनिष्ठित

विद्यया तु स्वाश्रमधर्म्माकरणे तज्जन्यैर्दोषैः परिनिष्ठितस्यानभिभवं दर्शयति । अतस्तान् हित्वा त एव न मेधरा् थर्थः । वर्णाश्रमाचारेति श्रीविष्णुपुराणवाक्ये तु तादृशेन यत् तदाराधनं तदेव तत्तोषकरमित्येव भगवद्धर्म्म् ,न तु कर्म्मैव तदाराधनमिति । पूर्व्वत्र "यज्ञेशाच्युत गोविन्द माधवानन्त केशव । कृष्ण विष्णो हृषीके-शेत्याह राजा स केवलम् । नान्यज्जगाद मैत्रेय किञ्चित्स्वप्नान्तरेष्वपि । एतत् परं तदर्थं च विना नान्यदचिन्तयत् । समित्पुष्पकुशादानं चक्रे देवक्रियाकृते । नान्यानि चक्रे कर्म्माणि निःसङ्गो योगतापसः" इति भरते राज्ञि तदेकनिष्ठानिगदात् ॥ ३५ ॥

एवं साश्रमेषु विद्या दर्शिता तदुत्तरानुष्ठितिश्च । अथ निराश्रमेषु निरपेक्षेषु ते द्वे दर्श्येते । तत्रैव निराश्रमापि गार्गी ब्रह्मवित् पठ्यते । अथ वाचक्रव्युवाच । ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ताहमेनं याज्ञवल्क्यं द्वौ पश्नौ प्रक्ष्यामी-त्यादिना । इह संशयः । निराश्रमेषु विद्या सम्भवेन्न वेति विद्योत्पत्तिहेतुतया विश्रुतानामाश्रमधर्म्माणां तेष्व-भावान्नेति प्राप्ते—

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥ ३६ ॥

तुशब्दः कर्म्माग्रहनिरासार्थः । चकारो निश्चयार्थः । अन्तरा च विनैवाश्रमधर्म्मान् विद्यमानेष्वौत्पत्तिक-विरक्तिषु प्राग् भवानुष्ठितैर्धर्मैः सत्यतपोजपादिभिश्च परिशुद्धेषु तेष्वपि विद्या उदयते । कुतः ? "तद्दृष्टेः । तादृश्या गार्ग्या ब्रह्मवित्त्वदर्शनात् । अयं भावः । प्राग् भवीयानां धर्म्माणां फलोत्पत्तेः पूर्व्वमेव देहनिपातात् न फलसम्बन्धः, परत्र तु तैर्विशुद्धानां सत्सङ्गमात्रेण सविरागा साविर्भवतीति ॥ ३६ ॥

बलवता सत्सङ्गेन कषायपाके विद्या भवतीत्याह—

अपि स्मर्य्यते ॥ ३७ ॥

"पिवन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् । पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति

के भगवत् कथाश्रवणादि के अनुरोध से स्वाश्रमधर्म्म के अकरण से कोई दोष नहीं है—ऐसा निर्णय हुआ है। अतएव स्वाश्रम धर्म्म का परित्याग करके भी भगवद्धर्म्म का अनुष्ठान कर्त्तव्य हो रहा है । "वर्णाश्रमाचारवता" इत्यादि विष्णुपुराण वाक्य के द्वारा ऐसा जाना जाता है कि वर्णाश्रमाचारविशिष्ट परिनिष्ठित अधिकारी के लिये भग-वद्-परितोषार्थ भगवदाराधना एकमात्र उपाय है। भगवदाराधना कर्म्म से अतिरिक्त पदार्थ है। इस विष्णुपुराण के पहले ही "यज्ञेशाच्युत गोविन्द माधवानन्त केशवादि" वाक्य का जो पाठ है उससे परिनिष्ठित अधिकारी राजा भरत की भगवद् आराधना और तत्-उपयोगी कर्म्म के बिना अन्य कुछ कर्म्म नहीं–यह जाना जाता है। उसके द्वारा भरत जी की भी भगवदेकनिष्ठा दिखलायी जाती है ॥ ३५ ॥

इस प्रकार स्वाश्रम में विद्या तथा उसके उत्तरकालीन अनुष्ठान दिखलाये गये हैं। अब आश्रम बिहीन निर-पेक्ष अधिकारी के विद्या और अनुष्ठान प्रदर्शित किये जाते हैं। वेद में निराश्रम गार्गी ने ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के पश्चात् याज्ञवल्क्य जी से जो दोनों प्रश्न किये थे, उस विषय में संशय यह उठता है कि निराश्रम अधिकारी की विद्या सम्भव है किम्वा नहीं है ? आश्रमधर्म्म ही विद्योत्पत्ति का हेतु कहा जाता है। जो निराश्रम हैं, उनकी विद्या की सम्भावना नहीं है—इस प्रकार के पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं।—

कर्म्माग्रह निरास के लिये "तु" शब्द है और निश्चयार्थ में चकार है। आश्रमधर्म्म नहीं होने पर भी स्वभा-वतः विरक्त पुरुषों का पूर्वजन्म-अनुष्ठित धर्म्म तथा सत्य-तप-जपादि के द्वारा परिशुद्धता के वश विद्या का उदय होता है। गार्गी का उस अवस्था में ब्रह्मज्ञान देखा जाता है। इसका भाव यह है कि जन्मान्तरीय धर्म्मों की फ-लोत्पत्ति के पहले ही देह-पतन होने के कारण फलसम्बन्ध नहीं घटता है। परजन्म में इन धर्म्मों के द्वारा विशुद्ध चित्तों के सत्संगमात्र से ही विराग के साथ विद्या का आविर्भाव होता है ॥ ३६ ॥

तच्चरणसरोरुहान्तिकम्" इत्यादौ "रहूगणैतदित्यादौ" च । अपिः समुच्चये ॥ ३७ ॥

सत्सङ्गिषु निरपेक्षेषु परेशानुग्रहविशेषात् विद्या सुलभेत्याह—

विशेषानुग्रहश्च ॥ ३८ ॥

"मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् । कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च । तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्व्वकम् । ददामि बुद्धियोगं तं येन मां उपयान्ति ते" इति । तेषु तत् कृपाविशेषो दृष्टः । नैरपेक्ष्यं च तद्योगसातत्याद् व्यक्तम् ॥ ३८ ॥

साश्रमा याज्ञवल्क्यादयो निराश्रमाश्च गार्ग्यादयो विद्यावन्तो दर्शिताः । तेषु साश्रमाः श्रेष्ठा निराश्रमा वेति संशये वैदिकाश्रमधर्म्मसम्पन्नत्वात् ब्रह्मरतत्वाच्च साश्रमाः श्रेष्ठा इति प्राप्ते—

अतस्त्वितरत् ज्यायो लिङ्गाच्च ॥ ३९ ॥

शङ्कानिरासाय तुशब्दः । चशब्दोऽवधारणार्थः । अतः साश्रमत्वादितरन्निराश्रमत्वमेव ज्यायः श्रेष्ठं विद्या-साधनं मन्तव्यम् । कुतः ? लिङ्गात् । गार्ग्या महाविद्यत्वश्रवणात् लिङ्गादेव । अयं भावः । अनादिप्रवृत्तिशीलानां प्रवृत्तिसङ्कोचाय आश्रमाः शास्त्रेण विहिताः । अतस्तद्विधाने न तस्य तात्पर्य्यं किं तु तत्सङ्कोच एव । ता हि ब्रह्म-रतिप्रतिबन्धिका भवन्ति । ये तूपक्षीणप्रवृत्तयो ब्रह्मैकरतास्तेषां न किञ्चिदाश्रमैः फलमिति नैराश्रम्यं वरीयः । अत-एव जाबालोपनिषदि क्रमेणाश्रमान् विधाय पुनर्विरक्तस्य तमपनिनाय सांवर्त्तकादीनां ब्रह्मैकरतानां संन्यासं त्यागं चोक्तमेति । "अनाश्रमी न तिष्ठेत्तु दिनमेकमपि द्विजः" इत्यादिकं तु सामान्यविषयम् ॥ ३९ ॥

अब बलवान् सत्संग के द्वारा कषायपाक के अनन्तर विद्या की उत्पत्ति होती है—इसे कहते हैं। "पिवन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं" इत्यादि तथा "सत्सेवया दीर्घयापि जाता मयि दृढ़ा मतिः" इत्यादि स्मृतिवाक्यों से बलवान् साधुसंग से श्रवणादि के द्वारा कषायपाक होने पर विद्या की उत्पत्ति होती है यह सिद्ध हुआ। "अपि" शब्द समुच्चय में है ॥ ३७ ॥

निरपेक्षों की साधुसंग के द्वारा परमेश्वर के अनुग्रह विशेष से विद्या की सुलभता है—इसे कहते हैं।—

"जो मच्चित्त एवं मद्गतप्राण होकर साधुसंग के द्वारा मेरी कथा का कीर्त्तन कर प्रसन्न होते हैं, सतत मत्प-रायण भजनकारी उनको मैं अपने विद्यायोग को प्रदान करता हूँ, जिससे वे मुझको प्राप्त होते हैं" इत्यादि भगवान् के वचन से निरपेक्ष अधिकारी को साधुसंग से भगवत्कृपा तथा विद्यालाभ व्यक्त हो रहा है। साधुसंग के हेतु नैरपेक्ष्यत्व भी व्यक्त है ॥ ३८ ॥

साश्रमी याज्ञवल्क्यादि तथा निराश्रमी गार्गी प्रभृति का विद्यालाभ दिखलाया गया है। उन दोनों से साश्रमी श्रेष्ठ है किम्वा निराश्रमी श्रेष्ठ है ?–इस प्रकार का संशय उठने पर वेदोक्त आश्रमधर्म्म सम्पन्नता होने के कारण तथा ब्रह्म रत होने के कारण साश्रम ही श्रेष्ठ है इस प्रकार के पूर्वपक्ष का उत्तर हैं।—

शङ्का निरासार्थ "तु" शब्द है और "च" शब्द अवधारणार्थ है। निराश्रमधर्म्म ही विद्या का श्रेष्ठ साधन है। याज्ञवल्क्य से गार्गी के विद्याधिक्य के दर्शन के कारण साश्रम से निराश्रम का आधिक्य स्वीकार करना होगा। इसका भाव यह है कि अनादि प्रवृत्तिशील जीवों के प्रवृत्ति-संकोच के लिये शास्त्र के द्वारा आश्रमों का विधान है। अतएव शास्त्र का आश्रम-विधान में तात्पर्य्य नहीं है। उसका संकोच करना ही तात्पर्य्य है। सकल प्रवृत्ति ब्रह्म-रति का प्रतिबन्धक हैं। जिनकी प्रवृत्ति सम्यक् रूप से नष्ट हो गयी है तथा जो ब्रह्मैकरत हैं उनको आश्रम में-कोई फल नहीं है, अतएव निराश्रम ही श्रेष्ठ है। इसलिये जावालोपनिषद् में क्रम से आश्रमों का विधान देकर फिर विरक्तों को उनके परित्याग के लिये कहा गया है। साम्वर्त्तकादि ब्रह्मनिष्ठ पुरुषों का संन्यासाश्रम त्याग ही

विद्यया [illegible]ब्रह्मैकरतत्वेन निरपेक्षाणां निराश्रमाणां श्रैष्ठ्यमुक्तं न युज्यते तेषां सापेक्षतायाः सम्भवात्। न मेधस्[illegible]धना परित्यक्तस्य गृहादेराश्रमस्य पुनर्ग्रहो निन्द्यः तत्रैव शास्त्रात् तेषां तु पूर्व्वं तस्याप्राप्तेः, प्राप्तस्य भगव[illegible] परित्यागाद्वैदिकत्वेन श्लाघ्येष्वाश्रमधर्म्मेषु श्रद्धोदयाच्च पुनस्तत् स्वीकारेण तद्विक्षेपकतद्धर्म्मप्राप्त्या त[illegible]त्यसम्भवात् श्रैष्ठ्यं हीयेत। स्वनिष्ठादीनां तु नियताश्रमधर्म्मपरिमृष्टसत्त्वानामुत्तरोत्तरतच्चिन्तासन्तानादबाधं तदिति चेत्तत्राह—

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः ॥ ४० ॥

तुः शङ्काच्छेदाय। तद्भूतस्य नैरपेक्ष्येण ब्रह्मैकरतस्य नातद्भावस्तदेकरतिप्रच्युतिर्न भवतीति जैमिनेरपिना वादरायणस्य च मे मतम्। कुतः नियमेति। नियमादतद्रूपादभावाच्च। तदिन्द्रियाणां ब्रह्मतृष्णानियमितत्वात्। रूपं वासना। ब्रह्मान्यवासनाविनाशात् गार्ग्यादीनां गृहादिस्वीकाराभावात् चेत्यर्थः। स्मृतिश्चैवमाह। "कामादिभिरनाविद्धं प्रशांताखिलवृत्ति यत्। चित्तं ब्रह्मसुखस्पृष्टं नैवोत्तिष्ठेत कर्हिचित्" इत्यादिका। यद्यपि कर्म्मपरो जैमिनिस्तथापि नैरपेक्ष्यश्रुतिभीतः क्वचिदेवं मन्यते प्राग्भवानुष्ठितकर्म्मनिष्कल्मषः कश्चिदिहैवेदृशः स्यादिति॥४०॥

अथ स्वनिष्ठेभ्यः श्रैष्ठ्यं दर्शयति। ननु सर्व्वं ह पश्यः पश्यतीत्यादौ विद्यया स्वर्गादेरपि प्राप्तिश्रवणात्

देखा गया है। स्मृति में जो कहा है "आश्रमी होकर एक दिन भी नहीं रहे" वह सब साधारण मनुष्य के पक्ष में जानना चाहिए॥ ३९॥

फिर आशङ्का करते हैं कि इस प्रकार होने पर भी केवल ब्रह्मैकनिष्ठा रूप कारण देखकर निराश्रम निरपेक्ष अधिकारी का जो श्रेष्ठत्व निर्देश किया गया है वह संगत नहीं है क्योंकि उनकी सापेक्षता की भी सम्भावना दीखती है। यथा विधि गृहादि आश्रम के परित्यागी का पुनर्वार ग्रहण करना एक निन्दा की बात है। तादृशव्यक्ति की शास्त्र ने आत्मघाती कह करके निन्दा की है। उसका प्रायश्चित्त भी नहीं हो सकता है। निरपेक्ष स्वरूपतः दो प्रकार का है। एक तो वह जिससे कभी आश्रम को स्वीकार नहीं किया है। दूसरा वह जिसने आश्रम को ग्रहण कर विधि के साथ उसको त्याग दिया है। दोनों के ही पतन की सम्भावना है। आश्रमधर्म्म-समूह वैदिक होने के कारण प्रशंसनीय तथा प्रवृत्ति के आकर्षक हैं। निरपेक्ष निराश्रम यदि किसी दिवस आकृष्ट होकर आश्रम को स्वीकार करेगा तो उसकी भगवान् में रति का विक्षेप हो जावेगा। उससे उसका श्रेष्ठत्व भी क्षीण हो जावेगा। जो स्वनिष्ठ हैं, उनकी बुद्धि नियत आश्रम धर्म्म के अनुष्ठान के द्वारा परिमार्जित होने के कारण उत्तरोत्तर भगवान् की चिन्ता में रत हो जाती है। इस रति के विक्षेप की सम्भावना नहीं हैं। अतएव साश्रम से निराश्रम का श्रेष्ठत्व नहीं कह सकते हो। इस प्रकार पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं।—

"तु" शब्द शङ्काच्छेदन के लिये है। जो वास्तविक निरपेक्ष निराश्रम अधिकारी हैं, उनकी ब्रह्म के अतिरिक्त कहीं पर भी अपेक्षा नहीं होती है। वैदिक तथा प्रशंसनीय होने पर भी तादृक आश्रमधर्म्म में उनकी श्रद्धा नहीं हो सकती है तथा उनकी रति की प्रच्युति भी नहीं है-यह जैमिनि तथा बादरायण कहते हैं कि हमारा मत है। नियम, अतद्रूपता और अभाव ये तीनों प्रच्युति अस्वीकार के हेतु हैं। निरपेक्ष अधिकारी के सकल इन्द्रिय परतत्व में नियमित हैं। उनकी तद्रूपता अर्थात् ब्रह्मभिन्न अन्यविषय में वासना-शून्यता है। गार्गी प्रभृति निराश्रम अधिकारी का पुनर्वार आश्रम का अभाव है। स्मृति में भी इस प्रकार कहा गया है—"कामादि के द्वारा अनाविद्ध, प्रशान्तसमस्तवृत्तिशाली, ब्रह्मसुखस्पर्शकारी चित्त किसी समय विक्षिप्त नहीं होता है। यद्यपि जैमिनी कर्म्मपर है तो भी नैरपेक्ष्यश्रुति के भय से पूर्वजन्मानुष्ठित कर्म्म के द्वारा निष्कल्मषव्यक्ति के जन्मावधि नैरपेक्ष्य को स्वीकार करते हैं॥ ४०॥

तल्लब्धेन्द्रादिलोकभोगप्रसक्तानां तेषां ब्रह्मैकरतिर्विच्छिद्येतेत्याशङ्क्याह—

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात् तदयोगात् ॥४१॥

चोऽवधारणे। अपिरैहिकसुखसमुच्चये। आधिकारिकमिन्द्रादिपदं तेषां नैवाकाङ्क्ष्यम्। कुतः? पत[illegible] "आब्रह्मभुवनाल्लोका पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन" इत्यादिषु ततः पातस्मरणात् आरम्भतस्तत्स्पृहाभावाच्चेत्यर्थः। स्मृतिश्चात्र मृग्या। तथा च विद्यामहिम्ना तस्मिन्ननुवृत्तेऽपि तदिच्छाविरहात् न तेन तदेकरतिर्विच्छिद्यतेऽतो निर्बाधं तत्त्वमिति॥ ४१॥

अथ परिनिष्ठितेभ्यः श्रैष्ठ्यं दर्शयति—**उपपूर्व्वमपि त्वेके भावमशनवत् तदुक्तम् ॥४२॥**

अपिरवधारणे। तुर्विपरीतभावनाच्छेदे। एके आथर्व्वणिका निरपेक्षाणामुपपूर्व्वमुपासनमेवाभीष्टं तत्सिद्धं भावं चाशनवद्भोग्यं पठन्ति। भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रेत्यादि सच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगे तिष्ठतीति च। केचिद्भागवता यत्र क्वापि हरिमुपासीनास्तत्प्रमाणमेव सोऽश्नुते सर्व्वान् कामानित्यादिश्रुतत्रिपाद्गतानन्दभोगवदनुभवन्तीत्यर्थः। स्मृतिश्चैतदर्थिका मृग्या॥ ४२॥

तादृशानां सालोक्यसामीप्यलक्षणा मुक्तिरयत्नसिद्धेति तत्रैव हेत्वन्तरं व्यञ्जयति—

बहिस्तूभयथा स्मृतेराचाराच्च ॥ ४३ ॥

तुरवधारणे। प्रपञ्चे स्थिता अपि ते तस्मात् बहिरेव सन्तीति मन्तव्यम्। कुतः? उभयथेति। "विसृजति हृदयं न यस्य साक्षात् हरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः। प्रणयरसनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः" इत्यादिषु मणिस्वर्णवत् स्वामिभृत्ययोर्मिथः संश्लेषस्मरणात् तथाचाराच्च तैः सार्द्धम्। यदुक्तं भगवता।

अब स्वनिष्ठों से निरपेक्ष का श्रेष्ठत्व दिखाते हैं। अच्छा? "सर्वं ह पश्यः पश्यति" इत्यादि श्रुति में विद्या के द्वारा स्वर्गादिप्राप्ति के श्रवण के हेतु स्वर्गादिलाभ के पश्चात् इन्द्रादिलोक के भोग में आसक्त विद्वान् का ब्रह्मरति में विच्छेद हो—इस प्रकार की आशङ्का में कहते हैं।—"च" अवधारण में है और "अपि" ऐहिक सुख समुच्चय में है। अधिकार प्राप्त इन्द्रादिपद में उनकी आकांक्षा नहीं रहती है। क्योंकि उनमें पतन का भय है। ब्रह्मलोक पर्य्यन्त सकल लोकों का पतन है-यह गीता में कहा गया है। आरम्भ से ही उसमें उनकी स्पृहा नहीं रहती है। "न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं" इत्यादि सकल स्मृति देखें। अतएव विद्यामहिमा के द्वारा कहीं कहीं ये सकल भोग भक्तविशेष में अनुवृत्त होने पर भी उनमें उनकी इच्छा नहीं रहती है। अतएव ब्रह्मरति का विच्छेद नहीं होता है—इस प्रकार का सिद्धान्त निर्बाध है॥ ४१॥

अब परिनिष्ठित से निरपेक्ष का श्रेष्ठत्व दिखाते हैं। "अपि" अवधारण में है। विपरीतभावनोच्छेदनार्थ "तु" शब्द है। एक आथर्व्वणिक कहते हैं कि निरपेक्ष के निकट उपासना अभीष्ट होती है। उक्तभाव उनका भोजन की तरह भोग है। "भक्ति भजन है। उसके द्वारा सच्चिदानन्द भगवान् की प्राप्ति तथा उससे सुख लाभ है" इत्यादि। और भी कोई कोई ऐसे कहते हैं कि- 'भगवान् के सकल भक्त किसी किसी स्थान में उनकी उपासना करें उसी स्थान में भगवान् से प्रदत्त भोगों का भोग करते हैं। भगवान् जिस प्रकार त्रिपादगत आनन्द का भोग करते हैं, उस प्रकार भक्तगण अप्राकृत आनन्द का भोग करते हैं। स्मृति में ऐसा देख लेवें॥ ४२॥

तादृश निरपेक्ष भक्तों को सालोक्य-सामीप्यलक्षणा मुक्ति बिना यत्न से सिद्ध है। इसकी पुष्टि के लिये एक-दूसरा हेतु दिखाते हैं।—

"तु" शब्द अवधारण में है। निरपेक्ष भक्तगण प्रपञ्च में रहने पर भी प्रपञ्च के बाहिर अवस्थान करते हैं

विषया [illegible] शान्तं निर्व्वैरं समदर्शिनम्। अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यंघ्रिरेणुभिः" इत्यादिहेतुभ्यामन्तर्व्वहिश्च न मेधरा [illegible] समर्थितः। तथा च वैमुख्यमेव संस्मृतिहेतुस्तत्प्रणाशात् सिद्धा तेषां सेति ॥ ४३ ॥
भगव[illegible]लोकान्तसुखवैतृष्ण्यमुक्तम्। अथ साम्प्रतसुखवैतृष्ण्यमुच्यते। "भर्त्ता सन् भ्रियमाणो विभाति" इति श्रुतं त[illegible]रीयके। तत्र संशयः। निरपेक्षाणां देहयात्रा स्वप्रयत्नादुतेशप्रयत्नादिति तैस्तत् प्रयासस्यानुत्पाद्यत्वात् स्वप्रयत्नादेवेति प्राप्ते—

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥४४॥

स्वामिनः सर्वेश्वरादेव तेषां देहयात्रा सिध्यति। कुतः ? फलश्रुतेः। भर्त्तेत्यादौ तस्यैव तद्भर्तृत्वश्रवणात् इत्यात्रेयो मन्यते। "अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्य्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्"। "दर्शनध्यानसंस्पर्शैर्मत्स्यकूर्म्मविहङ्गमाः। स्वान्यपत्यानि पुष्णन्ति तथाहमपि पद्मज" इति तद्वाक्याच्च तैस्तत्प्रयासोऽनुत्पाद्य इति तु स्थूलं तेषां तथेच्छाविरहात् सत्यसङ्कल्पस्य तस्य तदभावाच्च। स्वदेहयात्रया तत्सेवनात् तस्याः फलत्वम्। अत उक्तं भ्रियमाण इति ॥ ४४ ॥

अथैतेषु तद्भर्तृत्वमेकान्तमिति दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ॥ ४५ ॥

इहेति शब्दः सादृश्ये। स्वामिनस्तस्य निरपेक्षस्वभक्तभरणमार्त्विज्यसदृशं ऋत्विक्कर्म्मतुल्यं भवति। हि

ऐसा मानना होगा। "जिन भक्तों ने प्रेम-रज्जु के द्वारा भगवान् के पाद पद्म को आबद्ध कर रखा है, भगवान् उसको कभी परित्याग नहीं करते हैं तथा वह भागवतप्रधान है"। इत्यादि शास्त्रवाक्य से मणि सुवर्णों की तरह-स्वामी भगवान् तथा भृत्य भगवद्दासों का परस्पर संश्लेष सिद्ध होता है तथा भक्तों के साथ उनका ऐसा आचरण भी देखा जाता है। भगवान् ने स्वयं कहा है-"मैं मेरे निरपेक्ष,मौन, शान्त, निर्व्वैर, समदर्शी भक्त का सदा अनुगमन करता हूँ" इत्यादि। दोनों हेतुओं से दोनों का अन्तर तथा बाहिर में परस्पर रूप से संश्लेष स्थिर होता है। वास्तविक भगवान् का वैमुख्य संसार का हेतु है। उनके सान्मुख्य के द्वारा वैमुख्य का नाश हो जाता है। अतएव उक्त सालोक्यादि मुक्ति सिद्ध होती है ॥ ४३ ॥
तादृश भक्तों का ब्रह्मलोकपर्य्यन्त सुखवैतृष्ण्य कहा गया है। अब ऐहिक सुख में वैतृष्ण्य दिखाते हैं। तैत्तिरीयक में कहा गया है "भगवान् स्वयं भर्त्ता होकर भी पालित की भाँति प्रकाश को प्राप्त होते हैं"। यहाँ संशय है कि निरपेक्ष की देहयात्रा निज प्रयत्न से किम्वा ईश्वर प्रयत्न से निर्वाहित होती है ? भगवान् भक्त के लिये प्रयत्न करें-ऐसा भक्त को स्पृहणीय नहीं है। अतएव निज प्रयत्न से शरीर निर्वाह होता है इस प्रकार पूर्वपक्षीय सिद्धान्त का खण्डन करते हैं—

स्वामी सर्व्वेश्वर से उनकी देहयात्रा सिद्ध होती है। "भगवान् स्वयं ही भर्त्ता हैं" इत्यादि तैत्तिरीय उपनिषद् में फलश्रुति दर्शन के कारण सर्व्वेश्वर से ही उनकी देहयात्रा होती है-यह आत्रेय मुनि का मत है। "जो सकल भक्त अनन्यभाव से मुझको चिन्ता करते हुए उपासना करते हैं, मैं उन सब भक्तों का योगक्षेम वहन करता हूँ"। जिस प्रकार मत्स्य दर्शन के द्वारा,कूर्म्म ध्यान कर, विहङ्गम स्पर्श के द्वारा निज अपत्य का पोषण करते हैं, ठीक उसी प्रकार मैं भी निज भक्त का पोषण करता हूँ" इत्यादि स्मृतिवाक्य से इस प्रकार की प्रतीति जाननी चाहिए। देहयात्रा के लिये भक्तों का निज प्रयास आवश्यक नहीं है-यह मोटी सी बात है। क्योंकि उस विषय में उनकी इच्छा नहीं दीख पड़ती है तथा सत्यसङ्कल्प भगवान् का उसके लिये कोई प्रयत्न भी नहीं होता है। भगवत्सेवा के द्वारा ही स्वदेहयात्रा निर्वाह करना भक्त का अभिप्राय है तथा यह ही श्रुत्युक्तफल है। इसलिये ही श्रुति में भ्रियमाण शब्द का व्यवहार किया गया है ॥ ४४ ॥

यतो देहयात्रादिसम्पादनाय तैर्भक्त्या स परिक्रीयते। "तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च। वि[illegible] त्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः" इत्यादिस्मृतेः। यजमानेनापि साङ्गाय कर्म्मणे दक्षिणया ऋत्विजः [illegible] औडुलोमेरस्य निर्गुणात्मवादित्वाद्भक्तिरिति रिक्ता भणितिः। तस्मान्निरपेक्षाः श्रेष्ठाः ॥ ४५ ॥

श्रुतेश्च ॥ ४६ ॥

"यां वै काञ्चन यज्ञ ऋत्विज आशिषमाशासत इति होवाचेति तस्मादु हैवं विदुद्गतो ब्रूयात् कं ते काममागायानि" इति ऋत्विकसम्पादितस्य कर्म्मणः यजमानगामि फलं दर्शयति। तस्माद्भगवतः स्वभक्तभरणं ऋत्विजो यजमानभरणसदृशं भवतीति भावः ॥ ४६ ॥

अथैषां विद्याप्त्यनन्तरमनुष्ठानं दर्शयति। "तस्मादेवंविच्छान्तो दान्तः" इत्यादि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादि च श्रूयते। अत्र शमादीनि ध्यानान्तानि ब्रह्मलिप्सोरनुष्ठेयान्युच्यन्ते। किमेतानि सर्व्वाणि निरपेक्षेणानुष्ठेयान्युत तत्स्वरूपगुणचरितानि स्मर्त्तव्यानीति सन्देहे सञ्जाताऽपि विद्या शमादीन् विना स्थैर्य्यं नोपगच्छेदतस्तानि चानुष्ठेयानीति प्राप्ते—

सहकार्य्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥ ४७ ॥

इह सहकार्य्यन्तराणि शमादीन्यभिधीयन्ते यज्ञादीनां शमादीनां च विद्यासहकारित्वेन पूर्व्वं निरूपणात्। तेषां विधिः साश्रमपक्षेण ग्राह्योऽपूर्व्वत्वात्, न तु निराश्रमपक्षेण तत्र स्वतः सिद्धेः। किंतु तत्स्वरूपादीनि तेन स्मर्त्तव्यानीति। तदिदमाह तृतीयं तद्वत इति। तत्प्रसादमात्रकामवतो निरपेक्षस्य तृतीयं मानसिकमेवानुष्ठेयं "मनसैवेदमाप्तव्यं" इति श्रुतेः। कायिकवाचिकयोः श्रवणमननयोर्वाऽपेक्षया मानसिकं ध्यानं तृतीयं भवति।

निरपेक्ष के लिये भगवान् का भर्तृत्व एकान्त है। उसे दृष्टान्त के साथ विवृत करते हैं। - यहाँ "इति" शब्द सादृश्य में है। स्वामी भगवान् के द्वारा निरपेक्ष निजभक्त का भरण ऋत्विक् कर्म्म के सदृश है क्योंकि भगवान् भक्ति के द्वारा परिक्रीत होकर भक्त का शरीर-निर्वाह कराते हैं। स्मृति में कहा है-"भक्तवत्सल भगवान् एकमात्र तुलसीपत्र वा एक गण्डूषपरिमित जल प्रदान-परिवर्त्त में आत्म प्रदान कर देते हैं। ऋत्विक् जिस प्रकार दक्षिणार्थ यजमान के निकट आत्मविक्रय कर देता है, उसी प्रकार भगवान् भक्त के निकट आत्मविक्रय कर डालते हैं।- औडुलोमि ऋषि ने निर्गुण आत्मवादी के कारण रिक्त भक्ति शब्द का व्यवहार किया है। अतएव निपपेक्षभक्त श्रेष्ठ है ॥ ४५ ॥

"यां वै काञ्चन" प्रभृति स्मृति में भी ऋत्विक् के द्वारा अनुष्ठित कर्म्म का फल यजमानगामी होता है-यह देखा गया है। यजमान दक्षिणा के द्वारा ऋत्विक् को वशीभूत करता है। भगवान् भक्तिवश हैं। अतएव भगवान् के कर्म्म में ऋत्विक् सादृश्य सिद्ध हुआ है ॥ ४६ ॥

इसके अनन्तर निरपेक्ष भक्तों की विद्योत्पत्ति के परवर्त्ती अनुष्ठान का निर्णय करते हैं। "तस्मात् एवंवित् शान्तो दान्तः" इत्यादि श्रुतिवाक्य से ब्रह्म प्रार्थी का शमादि से लेकर ध्यान पर्य्यन्त अनुष्ठेय जाने जाते हैं। ये-समस्त निरपेक्षभक्तों का अनुष्ठेय है अथवा उनके स्वरूप-गुण-चरित स्मरणीय हैं ? यहाँ इस प्रकार का संशय होता है। विद्या उत्पन्न होकर भी शमादि के बिना स्थिरता नहीं लाभ कर सकती है अतएव उन सकल का अनुष्ठान उचित है। इस प्रकार का पूर्व्वपक्ष प्राप्त होने पर उसका उत्तर देते हैं।—

यहाँ शमादि सहकारीसाधन रूप से कहे गये हैं। यज्ञादि और शमादि पहले विद्या के सहकारी करके निरूपित किये गये हैं। अपूर्व के कारण साश्रम पक्ष में उनकी विधि ग्रहणीय है। निराश्रम के पक्ष में नहीं है। क्योंकि

विद्यया [illegible]न्तो विध्यादिवदिति । यथा साश्रमस्य सन्ध्योपासनादिविधिरावश्यकस्तद्वत् । तस्मात् सञ्जातवि-न मेधरा[illegible] तत्स्वरूपादि विचिन्त्यमिति । न चास्य जपार्च्चनादिकं निवार्य्यते । ध्यानेनैव तस्यापि प्राप्तेः। तत्प्रधा-भगव[illegible]द्वयपदेशः । तदेवं त्रेधा विद्याजुषः सानुष्ठितयो निरूपिताः ॥ ४७ ॥

त[illegible] स्वनिष्ठादिषु त्रिषु विद्याभाक्त्वं निर्णीतम् । तस्य स्थैर्य्यायारम्भः । छान्दोग्यान्ते श्रूयते । "आचार्य्यकुलात् वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्म्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्म्मिकान् विदध-दात्मनि सर्व्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्य अहिंसन् सर्व्वाणि भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः । स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते" इति । अत्र गार्हस्थ्येनोपसंहारात् तदितरेषु विद्या न भवतीति प्रतीयते । क्वचित् क्वचित् त्यागोक्तिस्तु स्तुतिपरतया नेया । ईदृशं ब्रह्म यदर्थं सर्व्वं त्याज्यमिति । गृहस्थस्यैव यथोक्तानुष्ठा-तुर्ब्रह्मसम्पत्तिरित्युपसंहारस्य तात्पर्य्यग्राहकत्वादित्येवं प्राप्ते प्रतिविधत्ते—

कृत्स्नभावात् तु गृहिणोपसंहारः ॥ ४८ ॥

शङ्काच्छेदाय तुशब्दः । गृहस्थेनोपसंहारः तस्यैव यथोक्तकर्त्तुर्मुक्तिरित्यभिप्रैतीति नार्थः किंतु कृत्स्नभावादेव तेन सः । गृहस्थं प्रति बहुलायासा बहवः स्वाश्रमधर्म्माः कार्य्यत्वेनोपदिष्टाः । आश्रमान्तरधर्म्माश्च यथायथम-हिंसेन्द्रियसंयमादयः । ततश्च कृत्स्नानां धर्म्माणां तत्र सत्त्वात् तेनासौ न विरुध्यत इति । तथा च स्मृतिः । "भिक्षाभुजश्च ये केचित् परिव्राड् ब्रह्मचारिणः । तेऽप्यत्रैव प्रतिष्ठन्ते गार्हस्थ्यं तेन वै परं" इत्याद्या ॥ ४८ ॥

निराश्रम के शमादि अपने से ही सिद्ध होते हैं। अतएव निरपेक्ष भगवान् के स्वरूपादिकों का चिन्तवन करेंगे। इसलिये तत्प्रसाद मात्र के अभिलाषी निरपेक्ष के पक्ष में तृतीय मानसिक अनुष्ठान का निर्देश किया गया है। श्रुति में भी"ब्रह्म मानसलभ्य है"ऐसा कहा है। कायिक-वाचिक अथवा श्रवण-मनन इन की अपेक्षा से मानसिक ध्यान तृतीय कहा जाता है। साश्रम अधिकारी का जिस प्रकार सन्ध्योपासनादि की विधि आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार सञ्जातविद्य निरपेक्ष को भगवत्स्वरूपादि का स्मरण एकान्त आवश्यक है। इससे उनका जपार्च्चनादि का निषेध नहीं हो रहा है। ध्यान के द्वारा ही उनकी प्राप्ति होती है। अर्च्चन का प्रधान अंग ध्यान है। ध्यान प्रधान के कारण केवल ध्यान का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार त्रिविध अधिकारियों का स्व स्व अनुष्ठान निरूपित हुआ है॥ ४७॥

स्वनिष्ठादि त्रिविध अधिकारियों का विद्यालाभ निर्णय हुआ है। अब उसके स्थैर्य्य के लिये प्रकरणान्तर का आरम्भ करते हैं। छान्दोग्य के शेष भाग में सुना जाता है।"आचार्य्यकुल से वेदपाठ करके यथाविधि गुरुदक्षिणा दे गृह में प्रत्यागत होकर कुटुम्बमध्य में पवित्र प्रदेश में निजशाखा का अध्ययन करें तथा धार्म्मिक पुत्र उत्पादनान्तर निखिल इन्द्रिय आत्मा में प्रतिष्ठित करें। यज्ञ के बिना अन्य किसी कार्य्य में भूतहिंसा नहीं करें। जो यावज्जीवन इस प्रकार अतिवाहित करेगा उसको इस संसार में फिर नहीं आना होगा"इत्यादि। यहाँ गार्हस्थ्य धर्म्म में इस प्रकार उपसंहार होने के कारण उससे इतर नैष्ठिक ब्रह्मचारी प्रभृति की विद्या का सम्भव नहीं है-ऐसा प्रतीत हो रहा है। कहीं कहीं जो त्याग करने को कहा गया है, वह स्तुति पर जानना चाहिए। ब्रह्म ऐसी ही वस्तु है, जिसके लिये सकल ही त्याज्य होते हैं। यथा विधि कर्म्मानुष्ठान के पश्चात् गृहस्थ की ब्रह्म-सम्पत्ति मिलती है। इस प्रकार उपसंहार का तात्पर्य्य कहकर पूर्वपक्ष स्थिर होने पर उसके उत्तर में परसूत्र की अवतारणा करते हैं॥–

शङ्काच्छेदार्थ "तु" शब्द है। यथाविधि गार्हस्थ्य अनुष्ठाता की मुक्ति है, इस अभिप्राय से गृहस्थवाक्य के द्वारा उपसंहार किया गया–ऐसा नहीं किन्तु गृहस्थ धर्म्म में सकल भाव हैं, इसलिये ही इस प्रकार उपसंहार किया गया है। गृहस्थ के लिये बहुल आयाससाध्य बहुत स्वाश्रमधर्म्म कर्त्तव्य कह कर उपदेश दिये गये हैं। अहिंसा

यस्मादाश्रमान्तराणि श्रूयन्ते अतो धर्म्मकार्त्स्न्यादेव गार्हस्थ्येनोपसंहारो मन्तव्य इत्याह—

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥ ४९ ॥

मौनवदिति सिद्धं कृत्वोक्तम् । तत्रैव पूर्व्वत्र त्रयो धर्म्मस्कन्धाः । यज्ञोऽध्ययनं दानं प्रथमस्तप एव [illegible] ब्रह्मचर्य्याचार्य्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्य्यकुलेऽवसादयन् सर्व्वे एते पुण्यलोका भवन्ति "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" इति पठ्यते । तत्र "एतमेव विदित्वा मुनिर्भिवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमभीप्सन्तः प्रव्रजन्ति" इत्यत्र पारिव्राज्यस्येवेतरेषां नैष्ठिकादीनामप्युपदेशात् । तस्मात्तेन सः । बहुत्वं वृत्तिभूम्नेत्याहुः । एवं जाबालोपनिषदि चा-श्रमाश्चत्वारो विधीयन्ते । "ब्रह्मचर्य्यं समाप्य गृही भवेत् गृहीभूत्वा वनी भवेत् वनीभूत्वा प्रव्रजेत्, यदि वेतरथा ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा । अथ पुनरव्रती वा व्रती स्नातको वास्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरज्येत्तदहरेव प्रव्रजेत्"इत्यादिना । उत्तरत्र च परमहंसानामित्यादिना निरपेक्षाश्च पठ्यन्ते । तस्मात् गृहस्थेनोपसंहृतिर्धर्म्मबाहुल्यादेवेति सुष्ठूक्तम् यदहरेवेत्यादिना । विरागे सति गृहत्यागविधानाद्विशेषादुपसंहारेण तात्पर्य्यकल्पनं च निरस्तं । अनुरागविरागौ हि गृहारम्भतत्त्यागयोर्हेतू सर्व्वत्राभिलप्येते । तदेवं यथार्हं शमदमो-परतिभूषणेषु निराश्रमेषु च विद्याभ्युदेतीति निरूपितम् ॥ ४९ ॥

अथास्या रहस्यत्वमुच्यते । श्वेताश्वतराः पठन्ति । "वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पप्रचोदितम् । नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्राय नाशिष्याय वै पुनरिति । इह संशयः । विद्या यत्र क्वापि उपदेश्या न वेति । योग्यायोग्यविमर्शस्य कारु-

---

और इन्द्रियसंयमादि आश्रमान्तर का धर्म्म ही यथायथ गार्हस्थ्य धर्म्म में देखा जाता है। अतएव समस्त धर्म्म गार्हस्थ्य धर्म्म के मध्य में रहने के कारण कोई विरोध नहीं होता है। स्मृति में भी कहा है कि भिक्षु, परिव्राजक, और ब्रह्मचारी इन सबका धर्म्म गृहस्थ धर्म्म में प्रतिष्ठित है। अतएव गार्हस्थ्य श्रेष्ठ है॥ ४८॥

आश्रमान्तर के वाक्य-समूह सुनने में आते हैं। अतएव सकलधर्म्म गार्हस्थ्य में हैं। इसलिये इस प्रकार-उपसंहार करते हैं। उक्त उपसंहार का जो मन्तव्य है, इसे कहते हैं॥—

मुनिव्रत की भाँति सिद्ध करके कहा जाता है। वहाँ पहले तीन धर्म्मस्कन्ध हैं। उनमें से यज्ञ-अध्ययन और दान प्रथम। तप द्वितीय। ब्रह्मचर्य्य, आचार्य्यकुलवास तृतीय। ये सब पुण्यश्लोक होते हैं। "ब्रह्मनिष्ठ अमृतत्वलाभ करता है" श्रुति में इस प्रकार पाठ है। वहाँ "एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति एतमेव प्रव्राजिनो लोकमभीप्सन्तः प्रव्रजन्ति" इत्यादि परिव्राज की तरह इतर नैष्ठिकादियों का उपदेश है। सावित्र-ब्राह्म-प्राजापत्य बृहत् ये चार ब्रह्मचारी के भेद हैं। फेणप-उदुम्बर-वैखानस-बालखिल्य ये वनस्थ भेद हैं। कुटीचक-बहूदक-हंस-निष्क्रिय ये संन्यासी के भेद हैं। इस प्रकार वृत्ति प्रचुर से बहुत भेद हैं। और भी जाबालोपनिषद् में चार आश्रमों का विधान है। "ब्रह्मचर्य्य समापन कर गृही होवे, गृही होकर वनी होवे, वनी होकर संन्यास लेवें" ऐसा नहीं कर अर्थात् क्रम भेद कर, नहीं रहे। विरक्त होने पर अर्थात् गाढ़ उत्कण्ठा होने से जिसी किसी आश्रम से संन्यास लेने का सबको अधिकार है "अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वा अस्नातको वा" इत्यादि। अन्त में "परमहंसानाम्" इत्यादि से निरपेक्ष कहे जाते हैं। अतएव धर्म्मबाहुल्य के कारण गृहस्थ से ही उपसंहार है, अतः श्रुति ने सुन्दर कहा है "यदहरेव विरज्येत"इत्यादि। विराग होने पर गृहत्याग की विधि के कारण विशेष उपसंहार के द्वारा उसका तात्पर्य्य कल्पना निरस्त हुई। अनुराग-विराग ही गार्हस्थ्य और प्रव्रज्या के क्रम से मूलकारण हैं। अतएव यथायथ शम दमादिव्यक्ति साश्रमी हो किम्वा निराश्रमी हो, उसका विद्या में अधिकार है–यह निरूपित हुआ है॥४९॥

अब विद्या का रहस्य कहते हैं। श्वेताश्वतरश्रुतियाँ पढ़ती हैं। "वेदान्त में पुरातन परम गुह्य तत्व जो कहा गया है उसको अप्रशान्त पुत्र वा शिष्य के लिये नहीं दिया जावे" इति। उसमें संशय यह है कि यह तत्व सर्वत्र

विद्यया [illegible]त्तद्वता देशिकेन सर्व्वत्रासौ प्रकाश्येति प्राप्ते —

अनाविष्कुर्व्वन्नन्वयात् ॥ ५० ॥

न मेधरा[illegible] [illegible]विद्यामनाविष्कुर्व्वन्नेवोपदिशेत् । कुतः ? अन्वयात् । उक्तश्रुतौ तथैवोपदेशप्रतीतेरित्यर्थः । एवमेवाह भगवानरविन्दाक्षः । "इदं तेनातपस्काय नाभक्ताय कदाचन । न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति" इति उपदेशो हि योग्येष्वेव फलति नायोग्येषु । यस्य देवे पराभक्तिरित्यादि श्रुतेः । छान्दोग्ये च आत्माऽपहतपाप्मा इत्यादिना महेन्द्रविरोचनयोरुपदेशसाम्येऽपि विरोचनस्य तत्त्वज्ञानं नाभूदिति श्रवणात् । तथा च योग्येभ्य एव विद्योपदेश्या न त्वयोग्येभ्योऽपीति । योग्याश्च शास्त्रप्रतिपाद्यतत्पराः श्रद्धालवः ॥ ५० ॥

अथोत्पत्तिकालस्तस्याश्चिन्त्यते । अत्र नचिकेतो जावालादेरुपाख्यानं वामदेवस्य च विषयः । इह भवति संशयः । पूर्व्वोक्तसाधना विद्याऽस्मिन् जन्मनि सञ्जायते जन्मान्तरे वेति । तत्साधनेष्वनुष्ठीयमानेष्वस्मिन्नेव जन्मनि सञ्जायते । इहैव मे स्यादित्यनुसंधाय पुंसस्तत्र प्रवृत्तेरित्येवं प्राप्ते —

ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥ ५१ ॥

प्रतिबन्धेऽप्रस्तुते सति ऐहिकं विद्याजन्म प्रस्तुते तु तस्मिन् जन्मान्तरे तदित्यर्थः । कुतः ? तद्दर्शनात् । "मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नं । ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव" इत्याद्या श्रुतिरैकभविकीं विद्योत्पत्तिं दर्शयति । गर्भस्थ एव वामदेवः प्रतिपेदे इत्याद्या तु भवान्तरसञ्चितात् साधनजातात् भवान्तरे तदुत्पत्तिम् । एतदुक्तं भवति । कस्यचिदेव लघुप्रतिबन्धस्य साधनवीर्य्यविशेषात् तत्प्रति-

---

उपदेश्य है ? किम्वा नहीं है ? योग्य-अयोग्य विचार कर तत्व के उपदेश करने से करुणा की हानि होती है। इस लिये सर्वत्र उसका अर्पण उचित है इस प्रकार के पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं।—

विद्या को गोपन रूप से उपदेश करें क्योंकि उक्त श्रुति में ऐसी ही प्रतीति हो रही है। अरविन्दाक्ष भगवान् ने गीता में ऐसा ही कहा है। "अजितइन्द्रिय, अभक्त, श्रवणेच्छारहित व्यक्ति के लिये उस तत्व को अर्पण नहीं करें"। उपदेश योग्यपात्र में ही कार्य्यकरी होता है, अयोग्य में नहीं। श्रुति में भी कहा है-"जो गुरु तथा देवता में भक्तिसम्पन्न है उसमें ही विद्या की स्फूर्त्ति होती है। छान्दोग्य में भी देखा गया है।"आत्मापहतपाप्मा" इत्यादि स्थल में इन्द्र और विरोचन दोनों को समान रूप से तत्व का उपदेश किया गया है। उनमें से विरोचन को ही तत्व की स्फूर्त्ति हुई, तथा इन्द्र को नहीं हुई। अतएव योग्यपात्र में उपदेश का कर्त्तव्य है, अयोग्य में नहीं। शास्त्ररीति से भगवत्परायण श्रद्धासम्पन्न योग्यपात्र हैं॥ ५० ॥

अब विद्या का उत्पत्तिकाल विचार करते हैं। यहाँ नचिकेत-जावालादि तथा वामदेव का उपाख्यान विचार का विषय है। संशय यह है कि पूर्वोक्त विद्या इसी जन्म में ही उत्पन्न होती है किम्वा जन्मान्तर में ? साधन समूह-अनुष्ठित होने पर इसी जन्म में ही विद्या की उत्पत्ति होती है। "इसी जन्म में ही मेरी विद्या हों" इस प्रकार धारणा से पुरुषों की प्रवृत्ति होती है। अतएव इसी जन्म में ही विद्या की उत्पत्ति है—इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष का उत्तर देते हैं॥—

प्रतिबन्ध नहीं रहने पर इसी जन्म में ही विद्या की उत्पत्ति है। नहीं तो नहीं, क्योंकि वेद में इस प्रकार का वचन देखने में आता है। "मृत्युप्रोक्तांनचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां" इत्यादि श्रुति में एक जन्म में ही विद्योत्पत्ति दीखने में आती है। और भी "वामदेव ने गर्भस्थ अवस्था में ही विद्यालाभ किया" इत्यादि वचन के द्वारा जन्मान्तर सञ्चित साधन से जन्मान्तर में भी विद्योत्पत्ति दीखने में आई है। अतएव यह स्थिर होता है कि-लघु प्रतिबन्ध रहने पर साधन पराक्रम विशेष के द्वारा उसका क्षय हो जाने से इसी जन्म में विद्या की उत्पत्ति होती है। नचिकेता तथा रहूगण इसका दृष्टान्त है। किन्तु गुरुप्रतिबन्ध रहने पर यज्ञ-दान-तप और शमादि

बन्धपरिक्षये सत्यस्मिन् जन्मनि विद्योत्पद्यते । यथा नचिकेतसो यथा च सौवीरराजस्य । गुरुप्रतिब[illegible]नतपः शमदमादिभिरुत्पद्यमानाऽपि विद्या क्रमेण तत्परिक्षयापेक्षया भवान्तर एवेति । एवमेवोक्त[illegible] "अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः" इत्यादिना "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिं" इत्यन्त[illegible] भाविकाभिसन्धिरपि न नियतः । इहामुत्र वा मे स्यादित्येवमपि तस्य दर्शनात् । तस्मादस्मिन् परस्मिन् वा ज[illegible] विद्योदयः प्रतिबन्धक्षयानन्तरमेवेति सिद्धम् ॥ ५१ ॥

अथ विद्यासम्पत्तौ मोक्षस्यावश्यकत्वं दर्शयति । "तमेव विद्वानमृत इह भवति" "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति" इति श्रूयते । अत्र यच्छरीरे विद्योदिता तस्यैव प्राते मोक्षः स्यात् तदन्यस्य वेति संशये, हेतौ सति कार्य्यस्यावश्यकत्वात् तस्यैव पाते सतीति प्राप्ते —

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ॥ ५२ ॥

यथा विद्यासाधनसम्पन्नस्य मुमुक्षोः विद्यालक्षणे फले अस्मिन्नेव जन्मनीति न नियमः किंतु प्रतिबन्धपरिक्षयोत्तरमेव सेति तथा विद्यासम्पन्नस्य तस्य मोक्षलक्षणेऽपि फले तस्यैव पाते सतीति न नियमः किन्तु प्रारब्धपरिक्षयोत्तरमेव स इति । तथा च प्रारब्धाभावे तस्यैव पाते सति तु प्रारब्धे तदन्यस्येति न पाक्षिको मोक्षः । कुतः ? तदिति । आचार्य्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये" इति छान्दोग्ये प्रारब्धक्षयोत्तरं विद्यावतो मोक्षावस्थाविनिश्चयादित्यर्थः । स्मृतिश्चैवमाह । "विद्वानमृतमाप्नोति नात्र कार्य्या विचारणा । अवसन्नं यदारब्धं कर्म्म तत्रैव गच्छति । न चेत् बहूनि जन्मानि प्राप्यैवान्ते न संशयः" इति । यद्यपि विद्यया सर्व्वकर्म्मपरिक्षयः स्यात् तथापीश्वरेच्छया प्रारब्धांशस्तिष्ठेदित्युक्तम् । वक्ष्यते च । पदाभ्यासोऽध्यायपूर्त्यै ॥ ५२ ॥

जनयित्वा वैराग्यं गुणैर्निबध्नाति मोदयन् भक्तान् । यस्तैर्विद्धोऽपि गुणैरनुरज्यति सोऽस्तु मे हरिः प्रेयान् ॥

॥ इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रभाष्ये तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ३ ॥ ४ ॥

के द्वारा उसका परिक्षय करने में विलम्ब होता है। अतएव जन्मान्तर की अपेक्षा करती है। इसलिये ही गीता में कहा-"श्रद्धासम्पन्न व्यक्ति किसी प्रकार योगभ्रष्ट होने पर जन्म-जन्मान्तर साधन के द्वारा प्रतिबन्ध क्षय हो जाने से परागति का लाभ करता है"। एक जन्म अर्थात् इसी जन्म में ही विद्या की उत्पत्ति हो जावे-इस प्रकार के संकल्प करने का कोई नियम नहीं है। इसी जन्म में हो अथवा अन्य जन्म में हो, मेरा विद्यालाभ होवे-इस प्रकार का ही संकल्प देखा जाता है। अतएव इसी जन्म में हो वा पर जन्म में हो, यदि प्रतिबन्ध नहीं होता है तब विद्योत्पत्ति होती है यह सिद्ध हुआ॥ ५१ ॥

अब विद्यासम्पत्ति में मोक्ष की आवश्यकता है उसे दिखाते हैं। श्रुति में कहा है-उनको जानने पर विद्वान्-अमृत होता है तथा मृत्यु का अतिक्रमण करता है" इत्यादि। यहाँ संशय है कि जिस शरीर में विद्या की उत्पत्ति होती है, उस शरीर में किम्वा उस शरीर का पतन हो जाने पर मोक्ष होता है ? कार्य्य की आवश्यकता के हेतु शरीर का पतन हो जाने पर मोक्ष सिद्ध होता है-इस प्रकार के पूर्व्व पक्ष का उत्तर देते हैं॥—

जिस प्रकार विद्यासाधन सम्पन्न, मुमुक्षुव्यक्ति को विद्यालक्षण फल की उत्पत्ति इस जन्म में हो किम्वा परजन्म में हो ऐसा कोई नियम नहीं है, ठीक उसी प्रकार प्रारब्धक्षय होने से ही मोक्ष होता है, इस विषय में शरीर का पतन वा अपतन होने पर-ऐसा कोई नियम नहीं है। यदि प्रारब्ध प्रतिबन्धक नहीं रहे तब उस देह के पतन से मुक्ति होती है। यदि प्रारब्ध प्रतिबन्धक रहे तो मुक्ति देहान्तर की अपेक्षा करती है। मोक्ष स्वाधीन है पाक्षिक नहीं है। "आचार्य्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये" इति छान्दोग्य में प्रारब्धक्षय से ही विद्वान् का मोक्ष होता है-ऐसा बोध होता है। स्मृति में भी कहा है-"प्रारब्ध का क्षय होने पर ही विद्वान् अमृतत्वलाभ करता है। इस सम्बन्ध में कोई विचार नहीं उठाना चाहिए। यदि प्रारब्ध रहे तब मुक्ति बहु

॥ चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमपादः ॥

[illegible]त्त्वा विद्यौषधं भक्तान् निरवद्यान् करोति यः। दृक्पथं भजतु श्रीमान् प्रीत्यात्मा स हरिः स्वयम् ॥

विद्याफलविचारोऽयमध्यायः। यद्यप्यत्र कतिपयैः सूत्रैरादितः साधनविचारोऽस्ति तथापि फलप्राधान्यात् फलाध्यायो भण्यते।"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादि श्रूयते। एतद्विहितस्य श्रवणादेरावृत्तिः कार्य्या न वेति संशये सकृदनुष्ठितादग्निष्टोमादेः स्वर्गादिवत् सकृत् कृतादपि श्रवणादेरात्मदर्शनं स्यादतो नेति प्राप्ते—

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥

श्रवणादेरावृत्तिरावश्यकी। कुतः ? असकृदिति। स य एषोऽणिमा, ऐतदात्म्यमिदं सर्व्वं, तत्सत्यं, स आत्मा, तत्त्वमसीति श्वेतकेतुं प्रति नवकृत्वः कथनात्। न च सकृत्कृतेन कृतः शास्त्रार्थ इति न्यायविरोधः। तस्यादृष्टफलविषयत्वात्। अत्रात्मसाक्षात्कारलक्षणस्य दृष्टफलस्य सम्भवात् वैतुष्यदृष्टफलकावघातादिवत् फलपर्य्यन्तं श्रवणाद्यावर्त्तनीयमिति ॥ १ ॥

जन्म की अपेक्षा करती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है"। यद्यपि विद्या के द्वारा सर्वकर्म्म का परिक्षय है तो भी ईश्वरेच्छा के अनुसार कहीं कहीं प्रारब्धांश रहता है, यह भी कहा गया है। इसमें जो कुछ बोलना है वह आगे बोलेंगे। यहाँ पद की पुनरावृत्ति अध्यायपूर्त्ति के लिये जाननी चाहिए ॥ ५२ ॥

जो वैराग्य उत्पादन पूर्वक आनन्दविधानार्थ भक्तों को निजगुणों से आकृष्ट करते हैं तथा जो स्वयं भक्तों के गुण से आकृष्ट हैं वे श्रीहरि मेरे प्रियतम होवें ॥

इति गोविन्दभाष्यानुवाद में तृतीय अध्याय का चतुर्थपाद ॥

जो विद्यारूप औषधि प्रदान के द्वारा सकल भक्तों को अविद्यारोग से रहित करते हैं, वे सुखमय शोभायमान स्वयं श्रीहरि मेरे दृष्टिगोचर हों ॥ ० ॥

इस अध्याय में विद्या का फल विचार किया जावेगा। यद्यपि इस अध्याय के पहले कतिपय (कुछ) सूत्रों के द्वारा साधन का विचार किया गया है तो भी फलविचार के प्रधान होने के कारण इस अध्याय को फलाध्याय कहा जावेगा। श्रुति में "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" अर्थात् "आत्मा का दर्शन करना होगा" इत्यादि वचन हैं। अब संशय यह है कि वेदान्त विहित श्रवणादि का पुनः पुनः अनुष्ठान कर्त्तव्य है किम्वा नहीं ? जिस प्रकार अग्निष्टोमादि यज्ञ के एक ही बार के अनुष्ठान से स्वर्गादिलाभ होता है, ठीक उसी प्रकार श्रवणादि के एक ही बार अनुष्ठान से आत्मदर्शन होना चाहिए—इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष का उत्तर देते हैं ॥—

श्रवणादि की पुनः पुनः आवृत्ति-आवश्यक है क्योंकि "स य एषोऽणिमा, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत् सत्यं, स आत्मा, तत्त्वमसीत्यादि सकल श्रुतियाँ श्वेतुकेतु के लिये नौ बार कही गयी हैं। शास्त्र में एकबार व्युत्पत्ति होने पर फिर उसकी आवृत्ति का प्रयोजन नहीं है—इस प्रकार के न्याय के साथ विरोध नहीं होता है क्योंकि यह न्याय-अदृष्ट फल विषयक है किन्तु यहाँ आत्मसाक्षात्कारलक्षण दृष्ट फल की सम्भावना के हेतु धान को जिस प्रकार तुष रहित करने पर्य्यन्त बारबार अवघात करना होता है, उसी प्रकार आत्मसाक्षात्कार पर्य्यन्त पुनः पुनः श्रवणादि की आवृत्ति कर्त्तव्य है ॥ १ ॥

लिङ्गाच्च ॥ २ ॥

"तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार" इति भृगोरावृत्तिलिङ्गाच्च सा सिद्धा। इयमावृत्तिर्वि[illegible] सत्त्वापेक्षयेति बोध्यम् ॥ २ ॥

अथ तत्रैव विचारान्तरम्। इदमुपासनमीश्वरबुद्ध्याऽऽत्मबुद्ध्या वेति। "जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशं" इति श्रुतेरीश्वरबुद्ध्येति प्राप्ते—

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ ३ ॥

तुशब्दोऽवधारणे। स ईश्वर आत्मेत्येवोपास्यः। यत्कारणं तमात्मत्वेनोपगच्छन्ति तत्त्वज्ञाः "येषां नोऽयमात्मायं लोकः" इत्यादिना, तथा शिष्यानपि ग्राहयन्ति च "आत्मेत्येवोपासीत" इत्यादिना। इहात्मशब्देन पुरुषाकारं विज्ञानानन्दस्वरूपं विभुवस्तु बोध्यते। स्वसत्ताप्रदत्वादिना स्वात्मभूतमित्यपरे। यत्तु जीवस्यैवाविद्याविनिर्मुक्तस्य ब्रह्मत्वादात्मधिया तच्चिन्तनमित्याह तदसत् प्रागेव प्रत्याख्यानात् ॥ ३ ॥

छान्दोग्यादौ "मनो ब्रह्मेत्युपासीत" इत्यादीन्युपासनानि श्रूयन्ते। तत्र संशयः। ईश्वरवत् मन आदावात्मधीः कार्य्या न वेति। मनो ब्रह्मेत्यभेदप्रतीतेः कार्य्येति प्राप्ते—

न प्रतीके न हि सः ॥ ४ ॥

न खलु प्रतीके मन आदौ तद्धीः कार्य्या। हि यस्मात् प्रतीके ईश्वरो न भवति। किंतु तस्याधिष्ठानमेवेति। स्मृतिश्च। "खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः" इत्याद्या। तथा च सप्तम्यर्थे प्रथमेयमिति सिद्धान्तः ॥ ४ ॥

"वरुणनन्दनभृगु ब्रह्मज्ञान लाभ करके भी पुनर्वार पिता वरुण के पास उसकी आलोचना के लिये गये" इसी प्रकार महज्जन के आचरण लिंग से श्रवणादि की आवृत्ति बारंबार कर्त्तव्य है। अपराध रहने पर उसके क्षय के लिये यह आवृत्ति का विधान जानना चाहिए। जहाँ अपराध नहीं है वहाँ एक बार आवृत्ति से ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाता है ॥ २ ॥

अब वहाँ अन्य एक विचार उठता है कि यह ईश्वर की उपासना महाप्रबल-सर्वनियन्ता-दुर्द्धर्ष इत्यादि ईश्वर बुद्धि से किम्वा विभु-चैतन्य-आनन्द-पुरुषोत्तम इत्यादि आत्मबुद्धि से होती है ? "जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशं"-इत्यादि श्रुति से ईश्वर-बुद्धि के द्वारा प्राप्त होने पर उसका निवारण करते हैं।—

"तु" शब्द अवधारण में है। वे ईश्वर आत्मबुद्धि से ही उपास्य हैं। क्योंकि तत्वज्ञ व्यक्तिगण "नोऽयमात्मायं लोकः" इत्यादि रूप से परमेश्वर के कारणभूत आत्मा की उपासना करते हैं तथा "आत्मेत्येवोपासीत" इत्यादि वाक्य से शिष्यों को भी इस प्रकार उपदेश कराते हैं—ऐसा देखा जाता है। यहाँ आत्म शब्द से नित्यैश्वर्य्य माधुर्य सम्पन्न पुरुषाकार विज्ञानानन्दस्वरूप विभु वस्तु बोध हो रहा है। अपर कोई कोई कहते हैं कि निज सत्ताप्रद वृत्ति के हेतु ईश्वर आत्मभूत हैं। अविद्या से विनिर्मुक्त अतएव ब्रह्मभूत जीव आत्मबुद्धि से ईश्वर की अर्थात् निज की उपासना करें—यह उक्ति नितान्त असत् है। पहले इसका खण्डन किया गया है ॥ ३ ॥

छान्दोग्य में "मन ब्रह्म की उपासना करें" इत्यादि उपासना सुनने में आती है। यहाँ संशय यह है कि ईश्वर की तरह मन प्रभृति में आत्मबुद्धि करना उचित है किम्वा नहीं ? मनो ब्रह्म यह अभेद प्रतीति के कारण कर्त्तव्य है—इस प्रकार के पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं।—

मन प्रभृति इन्द्रिय में आत्मबुद्धि नहीं करना चाहिये। क्योंकि इन्द्रिय कभी ईश्वर नहीं होता है। किन्तु इन्द्रिय ईश्वरज्ञान का अधिष्ठान अर्थात् आधारमात्र हैं। स्मृति में भी कहा है—"आकाश, वायु, अग्नि, जल, मही, ज्योति

विषया [illegible]रीतात्मदृष्टिः प्रतीके प्रतिषिद्धा। अथ तस्मिन्नीश्वरे ब्रह्मदृष्टिः कार्य्या न वेति विचार्य्यते । ईश्वरेन मेधरा [illegible]ब्दवन्ति वाक्यानि विषयः। अत्र विहिता ब्रह्मदृष्टिर्न कार्य्या पूर्व्वमात्मदृष्ट्यवधारणादिति प्राप्ते—

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ५ ॥

[illegible] ईश्वरे तस्मिन्नात्मदृष्टिरिव ब्रह्मदृष्टिश्च नित्यं कार्य्या। कुतः ? उत्कर्षात् । अनन्तकल्याणगुणोपस्थापकत्वेन तस्याः श्रैष्ठ्यात्। श्रुतिश्च "अयमात्मा ब्रह्म सर्व्वानुभूतिः" इत्युभयं दर्शयति । अथ कस्मादुच्यते ब्रह्मेत्यादिना तथैव निर्व्वक्ति च ॥ ५ ॥

"चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षुषः सूर्य्योऽजायत । श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत" इति पुरुषसूक्ते श्रूयते। अत्र भगवच्चक्षुरादिष्वादित्यादिहेतुताबुद्धयः प्रतीयन्ते। ताः कार्य्या न वेति वीक्षायां पङ्कजादिप्रख्येष्वतिसुकुमारेषु तेषूग्रहेतुताबुद्धीनामनर्हत्वान्न कार्य्येति प्राप्ते—

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥ ६ ॥

पूर्व्वपक्षनिरासार्थश्चशब्दः। विष्णोश्चक्षुरादिष्वङ्गेषु तद्बुद्धयः कार्य्याः। कुतः उपपत्तेः। ताभिरुत्कर्षसिद्धेः। सूर्य्यजनकचक्षुष्ट्वादिकं हि तदुत्कर्षकं भवति। तादृशानामपि तेषां तद्धेतुता तु श्रौतत्वादलौकिकत्वाच्च प्रतिपत्तव्या॥६॥

"त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य। ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्व्वाणि भयावहानि" इति श्वेताश्वतरैः पठ्यते। तत्रेदमासनविधानमावश्यकं न वेति संशये मानसव्यापारं स्मरणं प्रति देहस्थितिविशेषस्यानुपयोगात् नावश्यकमिति प्राप्ते—

सकल,जीवसमूह, सकल दिशा, वृक्षादि, नदी, समुद्र, ये सब परमेश्वर का शरीर हैं। अतएव सबको प्रणाम करें" इत्यादि। "मनो ब्रह्म" इस श्रुति में मनो शब्द से सप्तमी के स्थान में प्रथमा विभक्ति है। अर्थात् मन में ब्रह्म की उपासना कर्त्तव्य है ॥ ४॥

ईश्वर में आत्मदृष्टि जो दिखलायी गयी है उसका इन्द्रिय में निषेध किया गया है। अब ईश्वर में ब्रह्मदृष्टि कर्त्तव्य है किम्वा नहीं ? इसका विचार किया जाता है। जब पहले ईश्वर में आत्मदृष्टि का निर्णय किया गया है तब उन में ब्रह्मदृष्टि नहीं हो सकती है-इस प्रकार के पूर्वपक्ष उठने पर उसका खण्डन करते हैं।—

ईश्वर में आत्मदृष्टि की भाँति ब्रह्मदृष्टि करना नित्य कर्त्तव्य है क्योंकि ईश्वर अनन्तकल्याणगुणमय वस्तु होने के कारण सर्वश्रेष्ठ हैं। तादृश उत्कर्ष प्राप्त वस्तु में ब्रह्मदृष्टि अवश्य कर्त्तव्य है। श्रुति भी "अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूति" इत्यादि वाक्यों के द्वारा आत्मदृष्टि-ब्रह्मदृष्टि दोनों को दिखाती है। तथा 'कस्मादुच्यते ब्रह्म' इत्यादि वाक्य से ब्रह्म को ही कहती है ॥ ५॥

अच्छा ? ईश्वर के मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ है, चक्षु से सूर्य्य हुए हैं, श्रोत्र से वायु और प्राण, मुख से अग्नि हुए हैं। इत्यादि पुरुषसूक्त से भगवान् के मन आदिक इन्द्रियों के सूर्य्यादि कारण रूप से प्रतीयमान होते हैं। यहाँ संशय यह उठता है कि इस प्रकार चिन्ता करना उचित है किम्वा नहीं है ? पंकजादि की तरह सुकुमार इन्द्रियों में इस प्रकार उग्रता-बुद्धि असंगत है—इस पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं।—

पूर्वपक्ष निरासार्थ "च" शब्द है। विष्णु के चक्षु: आदिक इन्द्रियों में वह बुद्धि कर्त्तव्य है क्योंकि उससे उन का उत्कर्ष सिद्ध होता है। भगवान् के नयनादि इन्द्रियाँ सुकुमार होने पर भी लोकातीत वस्तु हैं तथा श्रुति सिद्ध भी हैं। सूर्य्यादि जनकस्वरूप तीव्र भाव उनमें संगत होता है। क्योंकि उससे उनकी ईश्वरता रूप उत्कर्ष सिद्ध हो जाता है ॥ ६॥

अच्छा ? "मस्तक-ग्रीवा तथा शरीर का निम्नांश समान तथा सरल भाव में स्थापन पूर्वक इन्द्रिय-समूह को

आसीनः सम्भवात् ॥ ७ ॥

आसीनः कृतासन एव श्रीहरिं स्मरेत्। कुतः ? तस्यैव तत्सम्भवात् । शयनोत्थानगमनेषु चि[illegible] दुर्व्वारत्वात् तदसम्भवः ॥ ७ ॥

"ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्" इत्यादिभिस्तल्लिप्सोर्ध्यानं तैः पठ्यते। तच्च कृतासनस्य सम्भवति नान्यस्येत्याह—

ध्यानाच्च ॥ ८ ॥

विजातीयप्रत्ययान्तराव्यवहितमेकचिन्तनं ध्यानम्। तच्च स्वापादिमतो न सम्भवेदतः कृतासन इति ॥८॥

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ ९ ॥

चोऽवधृतौ। छान्दोग्ये निश्चलत्वमेवापेक्ष्य ध्यायतेः प्रयोगः "ध्यायतीव पृथिवी" इति। अतो लिङ्गादप्यासीनः स्यात्। ध्यायति कान्तं प्रोषितरमणीति लोकेऽपि ॥ ९ ॥

स्मरन्ति च ॥ १० ॥

"शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः। नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्। तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः। उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये। समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः। सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्" इत्यादिषु ध्यातॄणां देहेन्द्रियमनसां नैश्चल्यं स्मरन्ति। तच्चासनाद्विना न सम्भवेदतः सासनेनैव भाव्यमिति तथैवोक्तम् ॥ १० ॥

मन के साथ आत्मा में सन्निवेशित कर योगी ब्रह्मरूप उडुप के द्वारा इस भयावह संसार समुद्र से पार हो जाता है" इत्यादि श्रुति वाक्य से भगवान् की उपासना में आसन विधान आवश्यक कहा गया है। यहाँ संशय यह होता है कि ईश्वर उपासना में आसन विधान की आवश्यकता है किम्वा नहीं ? मानसव्यापार रूप स्मरण विशेष में देह स्थिति रूप आसन की आवश्यकता नहीं है—इस प्रकार के पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं।—

कृत आसन होकर ही हरि का स्मरण करें। उससे ही हरिस्मरण बन जाता है। अन्यत्र शयन-उत्थान-गमनादि के समय चित्त में विक्षेप रहता है। अतएव उस समय हरिस्मरण नहीं होता है ॥ ७॥

श्रुति में "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्" इत्यादि वाक्य से आत्मदर्शन इच्छुक व्यक्ति को ध्यान की आवश्यकता कही गयी है। वह कृतासन व्यक्ति को सम्भव होता है, अन्य को नहीं। अब उसे कहते हैं।—

विजातीय प्रत्ययान्तर से रहित अव्यवधान भाव से किसी एक वस्तु का चिन्तन ध्यान है। शयन-उत्थान-गमनादिकारी को प्रतिबन्धक रहता है। अतएव उन समयों में ध्यान नहीं हो सकता है इसलिये कृतासन होकर ही ध्यान करें ॥ ८॥

अवधारण में "च" शब्द है। छान्दोग्य में "ध्यायतीव पृथिवी" इत्यादि स्थल पर निश्चलता की ही अपेक्षा कर "ध्यै" धातु का प्रयोग है। इस लिंग (चिह्न) से आसन की व्यवस्था प्राप्त हो रही है। लोक में भी प्रोषितभर्तृका नायिका कान्त का ध्यान करती है-इस प्रकार का प्रयोग देखने में आता है ॥ ९॥

स्मृति में भी कहा है—पवित्र देश में अनतिउच्च-अनतिनिम्न आसन कर ऊपर मृगचर्म्म-वस्त्रादि रख स्थिरभाव से उस पर बैठें। इसके अनन्तर इन्द्रियादिकों का निरोध कर अन्तःकरण शुद्धि के लिये एकाग्रचित्त से योगाभ्यास करें। शरीर का मध्यभाग, ग्रीवा और मस्तक सरल समानभाव से स्थापन पूर्वक किसी ओर दृष्टि न देकर केवल निज नासिका के अग्रभाग में दृष्टि रखें इत्यादि। यहाँ ध्यानकारी को देह-इन्द्रिय की निश्चलता रखने को कहा गया है। वह निश्चलता आसन के विना सिद्ध नहीं हो सकती है। अतएव आसन के द्वारा ही परमेश्वर

विषया [illegible]मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादिषु प्रागुक्तेषु वाक्तेषु विचारान्तरम्। उपासनेऽस्मिन् दिग्देशकालनियमः न मेधरा[illegible]त्तायां वैदिके कर्म्मणि तन्नियमस्य दर्शनादुपासनस्य च वैदिकत्वाविशेषादिति प्राप्ते—

भगव[illegible]

तद[illegible]

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ११ ॥

यत्र दिगादौ चित्तैकाग्रता स्यात् तत्रैवोपासीत हरिं नास्त्यत्र दिगादिनियम इत्यर्थः। कुतः अविशेषात् तद्वदत्र विशेषस्याश्रवणात्। स्मृतिश्चैवमाह। "तमेव देशं सेवेत तं कालं तामवस्थितिम्। तानेव भोगान् सेवेत मनो यत्र प्रसीदति। न हि देशादिभिः कश्चित् विशेषः समुदीरितः। मनः प्रसादनार्थं हि देशकालादिचिन्तनं इति। नन्वस्ति देशविशेषनियमः। "समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः। मनोऽनुकूले न तु चक्षुःपीडने गुहानिवाताश्रयणे नियोजयेत्" इति श्वेताश्वतरोक्तेस्तीर्थसेवाया मोक्षहेतुत्वप्रतिपादनाच्चेति चेत् सत्यं, सत्युपद्रवे तीर्थमप्यसाधकं, असति तु तस्मिन् साधकतमं तत्। अत उक्तं "मनोऽनुकूले" इति ॥ ११ ॥

"स यो हैतत् भगवन् मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत" इति षट्प्रश्न्यां "यं सर्व्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च" इति नृसिंहतापन्यां च श्रूयते। अन्यत्र च "एतत् सामगायन्नास्ते", "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः" इत्यादि। इह मुक्तिपर्य्यन्तं मुक्त्यन्तरं चोपासनमुक्तम्। तत् तथैव भवेदुतमुक्तिपर्य्यन्तमेवेति संशये मुक्तिफलत्वात् तत्पर्य्यन्तमेवेति प्राप्ते—

आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम् ॥ १२ ॥

आप्रायणात् मुक्तिपर्य्यन्तमुपासनं कार्य्यमिति। तत्रापि मोक्षे च। कुतः ? हि यतः श्रुतौ तथा दृष्टम्। श्रुतिश्च

का ध्यान कहा गया है ॥ १० ॥

अब "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः" इत्यादि पहले कहे गये वाक्यों के सम्बन्ध में विचारान्तर उठता है कि इस उपासना में दिक्-देश-काल का कोई नियम है किम्वा नहीं ? वैदिककर्म्मों में इन सब नियमों का उल्लेख होने के कारण तथा उपासना तादृक वैदिक कर्म्म होने के हेतु उसमें उन नियमों का प्रयोजन होवें इस प्रकार की आशङ्का निराकरण करते हैं —

जिस प्रकार देश-दिक्-कालादि में चित्त की एकाग्रता हो वहाँ ही दिक्-देश काल उपासना में अवलम्बनीय है। चित्त-एकाग्रता ही प्रधान है। स्थानादिकों का कोई नियम नहीं है। स्मृति में भी कहा है-"उस देश, उस काल, उस अवस्थान, उन भोगों का सेवन करे जिससे मन की स्थिरता हो। देशादि का कोई विशेष उल्लेख नहीं है।- मन प्रसादन के लिये ही देश-कालादि की व्यवस्था है"इत्यादि। अच्छा ? देशविशेष का नियम अवश्य है। श्रुति में कहा है—"शर्करा-अग्नि-वालुकादि विवर्जित समान पवित्र देश में, मनोऽनुकूल उत्तम तीर्थों में, एकान्त पर्वत कन्दरा में मन को नियोजित करें"। इस प्रकार श्रुतिवचन से तीर्थ-सेवा ही मोक्षकारण है–ऐसा प्रतिपादन होने के हेतु देश-विशेष का नियम स्वीकृत होवें–ऐसा नहीं है। उपद्रव रहने पर तीर्थ भी असाधक हो जाता है। क्योंकि उपद्रव के अभाव से ही तीर्थ साधकतम होता है। इसलिये "मनोऽनुकूल" कहा गया है। सुतरां जहाँ मन का अनुकूल हो तथा कोई बाधा-विघ्न नहीं होवें वह स्थान ही आश्रयणीय है। इस विषय में कोई विशेष नियम नहीं है ॥ ११ ॥

अच्छा ? "स यो हैतत् भगवन् मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत"इति षठप्रश्नी उपनिषद् में "यं सर्व्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च" इति नृसिंहतापनी में अन्यत्र भी "एतत् साम गायन्नास्ते, तद्विष्णोः परमं पदं, सदा पश्यन्ति सूरयः" इत्यादि पाठ है। यहाँ किसी किसी श्रुति में मुक्ति पर्य्यन्त, कहीं कहीं मुक्ति के पश्चात् भी उपासना का उपदेश देखा जाता है। अतएव दोनों का संशय उठने पर जब मुक्ति ही उपासना का फल है तब

दर्शिता। "सर्व्वदैनमुपासीत यावद्विमुक्तिः"। "मुक्ता अपि ह्येनमुपासते" इति सौपर्णश्रुतौ। तत्र तत्र च य[illegible] मुक्तैरुपासनं न कार्य्यं विधिफलयोरभावात्। सत्यं तदा विध्यभावेऽपि वस्तुसौन्दर्य्यबलादेव तत्प्रवर्त्त[illegible] दग्धस्य सितया पित्तनाशेऽपि सति भूयस्तदा स्वादवत्। तथा च सार्व्वाहिकं भगवदुपासनं सिद्धम् ॥ १२ ॥

एवं विद्यासाधनं विचार्य्य तत्फलमिदानीं विचारयति। छान्दोग्ये "यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त[illegible] मेव विदि पापं कर्म्म न श्लिष्यते" इति। "तद्यथैषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्व्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" इति च श्रूयते। इह संशयः। क्रियमाणसञ्चितपापे भोगेन क्षयणीये उत विद्याप्रभावात् तयोरश्लेषविनाशौ स्याता- मिति। नाभुक्तं क्षीयते कर्म्म कल्पकोटिशतैरति। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म्म शुभाशुभं" इति स्मृतेस्तेनापि ते भोगेन क्षपणीये। एवं सति श्रुत्यर्थस्तु तद्विदां प्राशस्त्यं लक्षयतीति प्राप्ते—

तदधिगमउत्तरपूर्व्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥ १३ ॥

तस्य ब्रह्मणोऽधिगमस्तदधिगमः। ब्रह्मविद्येत्यर्थः। तस्यां सत्यामुत्तरस्य क्रियमाणस्य पापस्याश्लेषः। पूर्व्वस्य तु सञ्चितस्य विनाशो भवति। कुतः तदिति। यथेत्यादिभ्यां वाक्याभ्यां तयोस्तथाविधानादित्यर्थः। न हि श्रुतेऽर्थे सङ्कोचः शक्यः कर्तुम्। नाभुक्तमित्यादिकं त्वज्ञविषयतया युक्तिमत् ॥ १३ ॥

वृहदारण्यके श्रूयते "उभे उ हैवैष एते तरत्यमृतः साध्वसाधुनीति। अत्रोभयोः पुण्यपापयोस्तीर्णतोच्यते। भवेदिह संशयः। उत्तरपूर्व्वयोरघयोरिव पुण्ययोरपि तयोरश्लेषविनाशौ स्यातां नवेति। पुण्ययोस्तौ न स्यातां

मुक्ति होने पर्य्यन्त ही उपासना कर्त्तव्य है-इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष का उत्तर देते हैं।—

मोक्षपर्य्यन्त उपासना का कर्त्तव्य तो है ही है, तो भी मोक्ष के पश्चात् उपासना की कर्त्तव्यता है। क्योंकि- "सर्वदैनमुपासीत यावद्विमुक्तिः" "मुक्ता अपि ह्येनमुपासते" इत्यादि सौपर्णश्रुति में मुक्ति के पश्चात् उपासना का आवश्यक देखा गया है। विधि तथा फल के अभाव के कारण मुक्तों से उपासना अकर्त्तव्य है ऐसा जो कहा गया है, सो ठीक है। परन्तु वहाँ विधि के अभाव तथा फल की आवश्यकता नहीं रहने पर भी वस्तु के सौन्दर्य्य के बल से उपासना में प्रवृत्ति होती है। पीतदग्धव्यक्ति का मिश्री भक्षण से पित्तनाश हो जाने पर भी जिस प्रकार उसका मिश्रीभक्षण में प्रवृत्ति रहती है, ठीक उसी प्रकार भगवान् की उपासना सब समय में हो सकती है यह सिद्ध हुआ ॥ १२ ॥

इस प्रकार विद्या साधन का विचार कर वर्त्तमान में उसके फल का विचार करते हैं। छान्दोग्य में-"पद्मपत्र जिस प्रकार जल से निर्लिप्त रहता है उसी प्रकार तत्वज्ञानी पाप कर्म्म से निर्लिप्त रहता है"। "तुला जिस प्रकार अग्नि से भस्मीभूत हो जाती है ठीक उसी प्रकार ज्ञानी का निखिल पाप विनष्ट हो जाता है। यहाँ संशय है कि क्रियमाण तथा सञ्चित पाप भोग के द्वारा नष्ट करना होता है किम्वा विद्या के प्रभाव से उन दोनों का अश्लेष (निर्लेप) तथा विनाश होता है ? स्मृति में कहा गया है कि "विना भोग के कोटिकल्प में भी उसका क्षय नहीं है। कृतकर्म्म का शुभा-शुभ फल अवश्य भोक्तव्य है" इत्यादि वाक्य से भोग से ही उनका क्षय होता है। श्रुति में विद्या के प्रभाव से जो अश्लेष विनाश कहे गये हैं वह ज्ञानियों के प्रशंसार्थ हैं। इस प्रकार के पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं।—ब्रह्मविद्या प्राप्त होने पर उत्तर क्रियमाण पाप का अश्लेष तथा पूर्व सञ्चित पाप का विनाश हो जाता है क्योंकि "यथा पुष्कर" इत्यादि दोनों वाक्यों से उनको ऐसा ही कहा गया है। श्रुति के अर्थ में संकोच नहीं होता है। "नाभुक्तं" इत्यादि वाक्य अज्ञ विषयक है ॥ १३ ॥

बृहदारण्यक में सुना जाता है। "उभे उ है वैष एते तरत्यमृतः साध्वसाधुनीति" इत्यादि। यहाँ लब्धब्रह्मानु- भव व्यक्ति का क्रियमाण तथा सञ्चित उभय प्रकार के पुण्य-पाप उत्तीर्ण होना कहा गया है। यहाँ संशय है

विद्यया [illegible] सहाविरोधात्। किंतु ते भोगेनैव क्षपणीये। तथा च प्रतिबन्धसत्त्वात् विद्यायां सत्यां विमुक्तिरिति न मेधस[illegible] एवं प्राप्ते प्रागुक्तमतिदिशति—

इतरस्याप्येवमश्लेषः पाते तु ॥ १४ ॥

[illegible] इतरस्योत्तरपूर्व्वरूपस्य पुण्यस्याप्येवं पापवदश्लेषो विनाशश्च विद्यया भवति। न च पुण्यं वैदिकत्वात् तया सहाविरुद्धम्। स्वफलहेतुत्वेन तत्फलप्रतिबन्धात्। न च तद्वस्तुतः शुद्धम्। "सर्व्वे पाप्मानोऽतो निवर्त्तन्ते" इति छान्दोग्ये। तत्रापि पाप्मशब्दप्रयोगात्। अत एव "यथैधांसि समिद्धोऽग्निः" इत्यादौ सञ्चितकर्म्ममात्रक्षयः स्मर्य्यते। तथा च पापयोरिव पुण्ययोश्च तौ सिद्धौ। वक्तव्यमाह पाते त्विति। तुर्निश्चये। प्रारब्धनाशे सति मुक्तिरेवेति न रिक्तं तद्वचः ॥ १४ ॥

सञ्चितयोः पापपुण्ययोरुभयोर्विद्यया विनाशे तत्कृतस्य देहस्यापि तदैव नाशापत्तिस्ततो ब्रह्मविदामुपदेशाद्यसम्भव इत्याशङ्कां परिहर्तुमधिकरणमारभते। तथा हि सञ्चिते पापपुण्ये द्विविधे। अनारब्धफले आरब्धफले चेति। तयोर्द्विविधयोरपि विनाशः स्यादुतानारब्धफलयोरेवेति विषये उभे उ हैवेत्यादौ विशेषाश्रवणात् विद्यायाः सर्व्वत्र तौल्यात् तयोर्द्विविधयोरपीति प्राप्ते—

अनारब्धकार्य्ये एव तु पूर्व्वे तदवधेः ॥ १५ ॥

तुशब्दः शङ्काच्छेदार्थः। पूर्व्वे सञ्चिते पापपुण्ये अनारब्धकार्य्ये अनुत्पादितफले एव विद्यया विनश्यतो न त्वारब्धकार्य्ये चोत्पादितफले। कुतः? तदवधेः। "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये" इति श्रुतेः। "त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयोर्गुणविगुणान्वयांस्तर्हि देहभृतां च गिरः" इति स्मृतेः। परेशेच्छायाः प्रारब्धनाशावधि-

---

उत्तर-पूर्व पापों की तरह उत्तर-पूर्व पुण्यों का अश्लेष-विनाश होते हैं किम्बा नहीं हैं? वैदिकत्व के कारण विद्या के साथ अविरोध रूप पुण्य का अश्लेष-विनाश न होकर भोग के साथ क्षय होगा। प्रतिबन्धक रहने पर भी विद्या की उत्पत्ति से मुक्ति होती है यह अयौक्तिक है। इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर उसका उत्तर देते हैं।—

उत्तर-पूर्व पुण्य का भी विद्या के द्वारा पाप की तरह अश्लेष विनाश होता है। पुण्य वैदिकत्व के कारण उस का विद्या के साथ विरोध नहीं है-ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि स्वर्गादिक पुण्य का फल है तथा विद्या का फल मोक्षादिक है। अतएव मोक्ष का प्रतिबन्धक स्वर्गादि है। वास्तविक पुण्य शुद्ध नहीं है। "सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्त्तन्ते" इत्यादि छान्दोग्य वचन में पुण्य को भी पापों के मध्य में कहा गया है। नहीं तो पाप्म शब्द का प्रयोग नहीं होता। "यथैधांसि समिद्धोऽग्निः" इत्यादि गीता के वचन में सञ्चित कर्म्म मात्र का क्षय देखा जाता है। अतएव पापों की तरह अनारब्ध प्रारब्ध पुण्यों का भी अश्लेप-विनाश सिद्ध हुआ है। "तु" शब्द निश्चय में है।—अतएव प्रारब्ध के नाश होने पर मुक्ति होती है-यह वचन अयौक्तिक नहीं है ॥ १४ ॥

सञ्चित पुण्य पाप दोनों का विद्या के द्वारा विनाश होने पर पाप पुण्यकारी देह की नाशापत्ति होती है। तब ब्रह्मविद्या का उपदेश असम्भव हो जाता है-इस प्रकार की आशङ्का उठाकर उसके परिहार के लिये अधिकरणान्तर का आरम्भ करते हैं। सञ्चित पाप पुण्य दो प्रकार के हैं। अनारब्धफल तथा आरब्धफल। विद्या के उदय से उन दोनों का विनाश होता है अथवा केवल अनारब्धफल का विनाश है?-इस प्रकार के संशय होने पर श्रुति में उभे उ है वेत्यादि वाक्य से कोई विशेष अभिधान नहीं है। विद्या की सर्वत्र समानता है। अतएव उन दोनों का विनाश होवे-इस प्रकार के पूर्वपक्ष की संगति का उत्तर देते हैं।—

"तु" शब्द शङ्काच्छेदनार्थ है। पूर्व सञ्चित पाप-पुण्य में अन उत्पादितफल तथा अनारब्धकार्य्य का ही विद्या के द्वारा नाश होता है किन्तु उत्पादित फल तथा अनारब्ध कार्य्य का नाश नहीं है क्योंकि "तस्य तावदेव-

भूतत्वश्रवणादित्यर्थः। एतदुक्तं भवति। अतिबलिष्ठा खलु विद्या सर्व्वकर्म्माणि निरवशेषाणि [illegible] वह्निरिव विविधान्येधांसीति। यद्यपि वाक्यात् प्रतीतं तथापि ब्रह्मविदां देहस्थितिदर्शनात् तदारम्भक[illegible]शादिप्रचारिण्या तदिच्छयैव तिष्ठेदिति स्वीकार्य्यम्। एवं च सति मण्यादिप्रतिबन्धशक्ते र्वह्नेरिव [illegible] किञ्चित् कर्म्मादाहकत्वेऽपि न कापि क्षतिरिति। यत्तु वदन्ति आरब्धफलकर्म्माशयमनाश्रित्य विद्योत्पत्तिर्नोपपन्ना। आश्रिते तु तस्मिन् कुलालचक्रवत् प्रवृत्तवेगस्य तस्य भवेदेव वेगनाशापेक्षा। यथा वेगक्षये च चक्रं स्वयं शाम्येदेवं फलेऽतीते तदारम्भकं कर्म्म नश्यतीति। तन्न। अतिबलीयस्यास्तस्याः सर्व्वाणि तानि प्रसह्य निर्मूलयन्त्यास्तदिच्छां विना क्वचिदप्यवष्टम्भो न स्यात्। न हि गुरुतरशिलानिपाते चक्रं पुनर्भ्रमितुमलम्। तस्मात् प्रागुक्तमेव सुष्टु ॥ १५ ॥

विदुषः पुरातनं पुण्यं नश्यतीत्युक्तेः काम्यवन्नित्यकर्म्मणोऽपि विनाशः प्राप्तस्तन्निरासायेदमारभ्यते। "उभे उ हैवैष एते तरति" इत्यत्र काम्यवन्नित्यकर्म्माण्यग्निहोत्रादि विद्यया विनश्यति न वेति विषये वस्तुशक्तेर्बिहन्तुमशक्यत्वात् तदिव विनश्यतीति प्राप्ते—

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्य्यायैव तद्दर्शनात् ॥ १६ ॥

शङ्काच्छेदाय तुशब्दः। विद्योदयात् प्रागनुष्ठितं नित्याग्निहोत्रादि तत्कार्य्याय विद्यारूपाय फलाय भवति। कुतः? तद्दर्शनात्। "तमेतं वेदानुवचनेन" इत्यादौ तथाऽवगमादित्यर्थः। तथा च नित्याग्निहोत्रादिभिन्नं पुरातनं पुण्यं कर्म्म विनश्यतीत्ययमितरस्याप्येवमिति सूत्रार्थः। तस्य नित्यस्य विनाशो नाभिधीयते जनितफलत्वात्। न

चिरं यावन्न विमोक्ष्ये" इस श्रुति तथा "त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयोः" इस स्मृति के अनुसार परमेश्वर की इच्छा ही प्रारब्धनाश की अवधि रूप कही गई है। यद्यपि बलवती विद्या प्रदीप्त अग्नि की भाँति निरवशेष रूप से समस्त कर्म्म का दहन कर सकती है तो भी ब्रह्मविदों की देह-स्थिति के दर्शन से कर्म्म-उपदेश के प्रचार में अभिलापवाली ईश्वर इच्छा से उसकी स्थिति स्वीकार करनी होगी। यदि ऐसा ही है तब मणिप्रभृति प्रतिबन्धक से अग्नि की शक्ति की भाँति विद्या जो किञ्चित् कर्म्म का दहन नहीं करती है उसमें उसकी कोई हानि नहीं है। कोई कोई कहते हैं। आरब्धफल-कर्म्माशय देह का आश्रय नहीं करने से विद्या का उदय नहीं है। फिर जिस देह में प्रारब्धफल का आरम्भ हुआ है,उस देह का आश्रय करने पर भी विद्योत्पत्ति के सम्बन्ध में कुलालचक्र की तरह कर्म्मवेग की निवृत्ति की अपेक्षा देखने में आती है। जिस प्रकार वेग-क्षय होने से चक्र स्वयं ही स्थिर हो जाता है, ठीक उसी प्रकार फलावसान में कर्म्म की स्वयं ही निवृत्ति हो जाती है, तब विद्या की शक्ति प्रकाशित होती है। किन्तु यह युक्ति संगत नहीं है क्योंकि विद्या अति बलवती है। वह समस्त वेग की निवृत्ति कर सकती है। भगवदिच्छा के बिना वह अन्य किसी से स्थिर वा रुद्ध नहीं होती है। गुरुतर प्रस्थर के पतन से जिस प्रकार चक्र का वेग नहीं रह सकता है, ठीक उसी प्रकार विद्या के उदय में कर्म्म की निवृत्ति अवश्य स्वीकार करनी होगी। अतएव ईश्वर की इच्छा से ही देह स्थिति संगत है ॥ १५ ॥

तत्वज्ञ का पुरातन पुण्य नाश हो जाता है-इस वचन से काम्यकर्म्म की भाँति नित्य कर्म्म का भी विनाश होवे इस प्रकार की आशङ्का के परिहारार्थ इस अधिकरण का आरम्भ किया जाता है। "उभे उ है वेप" इत्यादि श्रुति में जिस प्रकार कहा गया है उसके अनुसार काम्य के समान नित्यकर्म्म अग्निहोत्रादि भी विद्या के द्वारा विनाश होवे क्योंकि विद्या की शक्ति का कोई रोध नहीं कर सकता है-इस प्रकार के पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं।—

शङ्काच्छेदार्थ "तु" शब्द है। विद्योदय के पहले अनुष्ठित नित्य अग्निहोत्रादि कर्म्म विद्यारूप फल कार्य्य के लिये होते हैं क्योंकि "तमेतं वेदानुवचनेन" इत्यादि श्रुति में इसी प्रकार कहा गया है। अतएव नित्यकर्म्म के भिन्न

विद्यया [illegible]स्य ध्यानादेरिव वापत्तीणस्य तस्यास्ति नाशव्यवहारः। "कर्म्मणा पितृलोकः"इत्यादि बृहदारण्य-न सेधर[illegible]शनाशस्तु स्यादेव ॥ १६ ॥

[illegible]पदेशादिप्रवर्त्तकेनेश्वरसङ्कल्पेनैव विदुषां प्रारब्धयोः पुण्यपापयोः स्थितिर्दशिता। अथ केषाञ्चिन्निरपे-[illegible] विनैव भोगात् तयोर्विनाशः स्यादिति प्रदर्श्यते। "तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुप-[illegible]प्रिया दुष्कृतं" इति कौषीतकिनः पठन्ति "तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः प्रापकृत्यां" इति तु शाट्यायनिनः। अत्र संशयः। प्रारब्धयोरपि तयोर्भोगं विनापि विनाशः प्रतीतः स क्वचित् स्यान्न वेति। भोग्यैकस्वभावत्वात् तमन्तरासो न स्यादिति प्राप्ते—

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ॥ १७ ॥

ब्रह्मैकरतानां परमातुराणां केषांचिन्निरपेक्षाणां विनैव भोगमुभयोः प्रारब्धयोः पापपुण्ययोर्विश्लेषः स्यात्। तत्र हेतुरन्येति। हि यस्मात् अत ईश्वरेच्छया स्थितारब्धनिरुपकश्रुतेरन्या च श्रुतिरेकेषां शाखायां पठ्यते। तत्सुकृतदुष्कृते इत्याद्या तस्य पुत्रा दायमित्याद्या च। अयं भावः। ज्ञानभोगाभ्यां कर्म्मविनाशं प्रकाशयन्त्या श्रुत्या सहैतस्याः श्रुतेरविरोधाय विषयभेदोऽवश्यं वाच्यः। न चैषा काम्यकर्म्मविषया। तदधिगमादिसूत्राभ्यां प्रारब्धातिरिक्तयोर्निखिलयोः पापपुण्ययोर्विनाशनिरूपणात्, पापकृत्यायां काम्यत्वाभावाच्च। तस्मादतिप्रेयसां स्वं द्रष्टुमार्त्तानां केषांचित् भक्तानां स्वाप्तिविलम्बमसहिष्णुरीश्वरस्तत्प्रारब्धानि तदीयेभ्यः प्रदाय तान् स्वान्तिकं नयतीति विशेषाधि-

---

अन्य पुरातन कर्म्म का विनाश होता है–यह सूत्र का अर्थ है। नित्यकर्म्म का विनाश नहीं है। वह केवल फलउत्पादन मात्र कर शान्त रहता है। गृहदाह से तपायमान व्यक्ति यदि ध्यान के द्वारा दाह को बुझावे तब दाह शांत नहीं होता है। जलादि के क्षेपण से ही वह शान्त होता है। "कर्म्मणा पितृलोकः" इत्यादि बृहदारण्यक वचन से स्वर्गप्रदकारी अंश अवश्य स्वीकार्य्य है ॥ १६ ॥

विद्या उपदेशादि प्रवर्त्तनकारी ईश्वर संकल्प से ही विद्वानों की प्रारब्ध पुण्य-पापों की स्थिति दिखलाई गई है। अनन्तर किन्हीं किन्हों निरपेक्ष अधिकारियों का भोग के बिना ही उनका विनाश होता है–इसे दिखाते हैं। "तत्वज्ञ व्यक्ति के सुकृत-दुष्कृत उभय नष्ट हो जाते हैं। विद्वान् व्यक्ति के सुकृत को उसके प्रिय ज्ञातिगण भोग करते हैं–तथा दुष्कृति को अप्रियज्ञातिसमूह भोग करते हैं"इत्यादि कौषीतकीब्राह्मण में पाठ है।"उनका पुत्रगण दाय भोग करते हैं, सुहृत्सकल सुकृत भोग करते हैं, तथा शत्रुगण दुष्कृत भोग करते हैं"। इस प्रकार शाट्यायनीगण पाठ करते हैं। यहाँ संशय है कि प्रारब्ध पुण्य-पापों का भोग के बिना नाश प्रतीत होता है। यदि भोग ही उनका स्वभाव है तब भोग के बिना उनका नाश स्वीकार नहीं किया जाता है–इस प्रकार के पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं।—

ब्रह्म में एकमात्र रत परम उत्कण्ठित कोई कोई निरपेक्ष विद्वानों का बिना ही भोग के उभय प्रारब्ध के पाप-पुण्यों का विश्लेष होता है। ईश्वर की इच्छा से स्थित आरब्ध निरूपक श्रुति के द्वारा यह सिद्ध होता है। अन्य-श्रुति भी एकशाखा में पाठ करती है"तत् सुकृतदुष्कृते"इत्यादि। इसका भाव यह है–ज्ञान तथा भोगके द्वारा कर्म्म विनाश होता है–इस प्रकार बोलने वाली श्रुति के साथ "भोग के बिना प्रारब्ध कर्म्म का क्षय होता है" इस प्रकार बोलने वाली श्रुति का जो विरोध घटता है उसके समन्वय के लिये विषय भेद अवश्य स्वीकार करना होगा। वह श्रुति काम्यकर्म्म विषयणी नहीं हो सकती है क्योंकि विद्या के द्वारा प्रारब्ध के बिना निखिल कर्म्म का समूलनाश होता है, यह "तदधिगमात्" इत्यादि सूत्र में पहले निरूपित हो गया है। विशेष पाप कर्म्म का काम्यत्व नहीं स्वीकार हो सकता है। अतएव अतिप्रिय, अपने को दर्शन के लिये अतिआतुर किसी भक्त को निज दर्शनदान विलम्ब से असह्य होकर श्री भगवान् उनके प्रिय लोकों को उसके प्रारब्ध का पुण्य तथा अप्रियलोकों को प्रारब्ध का पाप

करणे वक्ष्यते। तैश्च तेषां भोगात् तानि भोग्यस्वभावानीति स्वकृतसंस्था च सिद्धेति। ननु [illegible]कृताभ्यागमप्रसङ्गाच्च नैतद्युक्तमिति चेन्न ईश्वरत्वेनान्यथा विधाने सामर्थ्यात्। तस्मात् केषांचित् [illegible] विनैव भोगात् प्रारब्धानि विश्लिष्यन्तीति ॥ १७ ॥

तेषां तान्यन्यगामीनि भवेयुरित्यत्रासम्भावनानिरासायाह—

यदेव विद्ययेति हि ॥ १८ ॥

"यदेव विद्यया करोति"इत्याद्या श्रुतिर्जीवज्ञानसम्बन्धात् कर्म्मणि वीर्य्यातिशयं दर्शयति। हि यस्मात् अतो विद्यासामर्थ्याप्रतिबन्धरूपात् पारमेश्वरात् प्रसादान्निर्भोगारब्धाभावरूपोऽतिशयो जीवेऽपि क्वचिद् भवेदिति न चित्रम् ॥१८॥

ततः किं तदाह—

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ सम्पद्यते ॥ १९ ॥

प्राप्तव्यपार्षदशरीरादितरे स्थूलसूक्ष्मशरीरे क्षपयित्वा विहायाथ पार्षदवपुःप्राप्त्यनन्तरं भोगेन "सोऽश्नुते सर्व्वान् कामान्" इत्यादि श्रुत्युक्तेन सम्पद्यते सम्पन्नो भवतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

॥ इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयपादः

मन्त्राद्यस्य पराभूताः परा भूतादयो ग्रहाः। नश्यन्ति स्वलसत्तृष्णाः स कृष्णः शरणं मम ॥ ० ॥

परस्मिन् पादे देवयानं पन्थानं विवक्षुरस्मिन् पादे विदुषो देहादुत्क्रान्तिप्रकारं विचारयति। छान्दोग्ये श्रूयते।

प्रदान कर अपने समीपस्थ रखते हैं। विशेषाधिकरण में इसका वर्णन करेंगे। उन ज्ञातियों के द्वारा उनके सुकृतादिकों का भोग होने पर प्रारब्ध-सुकृतादिक भोग से नष्ट होते हैं–ऐसा कहने वाले आपकी मर्य्यादा भी ठहरती है। अच्छा? पाप-पुण्यों की अलङ्कार की तरह मूर्त्ति नहीं है। वे किस प्रकार प्रदान योग्य होंगे–इस प्रकार की शङ्का नहीं कर सकते हो क्योंकि ईश्वर सब कुछ कर सकते हैं अतएव किसी किसी परम आतुर भक्तों का बिना ही भोग के प्रारब्ध का क्षय होता है–यह सिद्ध हुआ है ॥ १७ ॥

निरपेक्ष भक्तों का प्रारब्ध किस प्रकार अन्यगामी हो सकता है? इस प्रकार की आशङ्का का निराकरण करते हैं।—"जो विद्या के द्वारा किया जाता है वह अतिशय वीर्य्यशाली होता है" इत्यादि श्रुति जीव-ज्ञानसम्बन्ध से कर्म्म में अतिशय पराक्रम दिखलाती है। विद्या स्वतन्त्रा है। प्रारब्धरक्षारूप विधि उसको वशीभूत नहीं कर सकती है। उसमें भी फिर परमेश्वर का प्रसाद है। फिर किसकी सामर्थ्य है जो कि उस पराक्रम को रोक सकें। इस प्रकार विद्या ही परमेश्वर के प्रसाद सहकार से प्रारब्धनाश के द्वारा जीव का मोक्ष सम्पादन करती है। इसमें विचित्र क्या है ॥ १८ ॥

अवशेष में जो है उसको कहते हैं।—तादृश जीव प्राप्तव्य पार्षद शरीर से अतिरिक्त स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर के विनाश पूर्वक पार्षद शरीर प्राप्त होकर "निखिल काम भोग करता है" इत्यादि श्रुति के कथन के अनुसार निखिल भोगसम्पन्न होता है ॥ १९ ॥

गोविन्दभाष्य का अनुवाद में चतुर्थ अध्याय का प्रथमपाद समाप्त हुआ ॥

जिनके मन्त्र के बल से देह-इन्द्रियादि बलवान् भूतसमूह पराभूत होकर नष्ट हो जाते हैं अर्थात् जिनके मन्त्र का जप कर जीव पार्षद स्वरूप को धारण करता है, वे भक्त पोषणकारी श्रीकृष्ण मेरे शरण हों ॥ ० ॥

परवर्त्तीपाद में देवयान मार्ग बोलने के अभिप्राय से इस पाद में विद्वानों के देह से उत्क्रमण का विचार–

विद्यया [illegible] पुरुषस्य प्रयतो वाङ्‌ मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां" इति । तत्र न मेधग[illegible] मिह वृत्त्या वाक्सम्पत्तिरुत स्वरूपेणेति मनसो वाक्प्रकृतित्वाभावाद्वागादीनां मनोऽधीनवृत्तिकत्वाच्च [illegible] प्राप्ते—

[illegible]

वाङ्‌ मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥

स्वरूपेणैव मनसि वाक् सम्पद्यते । कुतः ? उपरतायां वाचि मनसः प्रवृत्तिदर्शनात् । वाङ्‌ मनसि सम्पद्यते इति शब्दाच्च । इतरथा शब्दस्वारस्यभङ्गः । न च मानान्तरेण तत्र वागवगम्यते येन वृत्तिसम्पत्तिः कल्प्यतेति भावः । ननु मनसो वाक्प्रकृतित्वाभावान्न तत्र तस्याः स्वरूपसम्पत्तिः, किंतु वृत्तिसम्पत्तिरेव स्यादप्रकृतावपि वारिणि वह्निवृत्तिसम्पत्तिदर्शनादिति चेदुच्यते । मनसा वाक् संयुज्यते न तु संलीयत इति । अर्थादप्रकृतावपि तस्मिन् स्वरूपसंयोगो भवतीति ॥ १ ॥

अत एव सर्व्वाण्यनु ॥ २ ॥

यतो वाचो मनस्येव संयोगो नाग्नौ, अतः सर्व्वाणि श्रोत्रादीन्यपि तत्रैव संयुज्यन्त इति मन्तव्यम् । अनु वाक् सम्पत्त्यनन्तरम् । प्रश्नोपनिषदि श्रूयते । "तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैर्यच्चित्तस्तेनैष प्राण आयाति" इति । "यथा गार्ग्य मरीचयोऽस्तं गच्छतोऽर्कस्य सर्व्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डले एकीभवन्ति ताः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत् सर्व्वं परे देवे मनस्येकीभवति" इति ॥ २ ॥

मनः प्राण इति विचारयति । मनश्चन्द्रे प्राणे वा सम्पद्यत इति संशये "मनश्चन्द्रं" इति श्रुतेश्चन्द्र इति प्राप्ते—

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ ३ ॥

तत्सर्व्वेन्द्रियसहितं मनः प्राणे सम्पद्यते । कुतः "मनः प्राणे" इत्युत्तरस्मात् वाक्यात् । "यत्रा[illegible] मृतस्याग्निं वागप्येति" इत्यादि वाक्यं तु स्वार्थपरं न भवतीत्युक्तं भगवता सूत्रकारेणैव । अग्न्यादिगति[illegible] चेन्न भाक्तत्वादिति ॥ ३ ॥

प्राणस्तेजसीत्यत्र विचारः । स सेन्द्रियमनाः प्राणः किं तेजसि सम्पद्यते किंवा जीवे इति वीक्षायां प्राणस्तेजसीत्युक्तेस्तेजस्येवेति प्राप्ते—

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ४ ॥

स प्राणोऽध्यक्षे देहेन्द्रियाद्यधिष्ठातरि जीवे सम्पद्यते । कुतः तदिति । बृहदारण्यके "तद्यथा राजानं प्रयियासन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूता ग्रामण्य उपसमीयन्त्येवं हैवं विदं सर्व्वे प्राणा उपसमीयन्ति । यत्रैतदूर्द्ध्वोच्छ्वासी भवति" इति प्राणस्य सेन्द्रियस्य जीवोपगामित्वादि श्रवणादित्यर्थः । न चैवं प्राणस्तेजसीति श्रुतिविरोधः, जीवेन संयुज्य पश्चात् तेजसीति वक्तुं शक्यत्वात् । गंगया संयुज्य सागरं गच्छन्ती यमुना तं गच्छतीति शक्यते वक्तुम् ॥४॥

तेजसीत्येतद्विचार्य्यते । स प्राणो जीवस्तेजसि सम्पद्यते उत संहतेषु भूतेष्विति संशये प्राणस्तेजसीत्युक्तेस्तेजस्येवेति प्राप्ते—

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥

"जीवः पञ्चसु भूतेषु सम्पद्यते । न केवले तेजसि । कुतः तत्रैव जीवस्याकाशमयो वायुमयस्तेजोमय आपोमयः पृथिवीमयः" इति सर्व्वभूतमयत्वश्रवणात् ॥ ५ ॥

करते हैं । छान्दोग्य में सुना जाता है । "हे सौम्य ! इस पुरुष के गमन समय में वाक्य मन में सम्पन्न होता है, मन प्राण में, प्राण तेज में तथा तेज परदेवता में सम्पन्न होता है" । यहाँ संशय यह है कि क्या वृत्ति के द्वारा वाक् मन में सम्पन्न होता है अथवा स्वरूप से ? मन का वाक् प्रभृति प्रकृतित्व नहीं देखा जाता है । केवल वागादिवृत्ति को मन के अधीन होना देखा गया है । अतएव वे सब निज निज वृत्ति के द्वारा ही मन में सम्पन्न होते हैं इत्यादि पूर्वपक्ष संगति का उत्तर देते हैं ।—

वाक् स्वरूप से ही मन में सम्पन्न होती है क्योंकि वाक् की उपरति होने पर मन की प्रवृत्ति देखने में आती है । "वाक् मन में सम्पन्न होती है" इस प्रकार श्रुति में उक्ति है । नहीं तो शब्द का स्वारस्य भंग होता है । भाव यह है कि वाक् की वृत्ति मन में सम्पन्न होती है । इस प्रकार का प्रमाणान्तर नहीं दीखता है जिससे तुम वृत्ति की कल्पना करते हो । अच्छा ? मन का वाक् प्रकृतित्व के अदर्शन के हेतु उसकी स्वरूपसम्पत्ति नहीं हैं किन्तु अप्रकृति जल में जिस प्रकार अग्नि की वृत्ति लीन होती है, ठीक उसी प्रकार वृत्ति सम्पत्ति की सम्भावना होवे-इस प्रकार नहीं कह सकते हो । क्योंकि मन में वाक् का संयोग होता है, किन्तु उसमें लय नहीं होता है । अतएव अनप्रकृतिक होने पर भी मन में वाक्य की स्वरूप सम्पत्ति ही बोली जाती है ॥ १ ॥

वाणी का संयोग मन में होता है अग्नि में नहीं है । अतएव वाक्सम्पत्ति के अनन्तर श्रोत्रादि भी मन में संयोजित होते हैं यह मानना होता है । प्रश्नोपनिषद् में सुना जाता है । "देह से उत्क्रमण के पश्चात् तेज उपशान्तकारी जीव मन में सम्पद्यमान इन्द्रियों के साथ जन्मलाभ करता है, प्राण भी मन के साथ आगमन करता है" इत्यादि । "अस्तप्राप्त सूर्य्य की मरीचियाँ जिस प्रकार उस तेजोमण्डल सूर्य्य में एकीभूत हो जाती हैं और फिर उदय के समय पुनर्वार प्रकाशित होती हैं, ठीक उसी प्रकार इन्द्रियवृत्तियाँ समस्त इन्द्रियों के राजा प्रधान मन में एक हो जाती हैं" इत्यादि ॥ २ ॥

अब मन प्राण में सम्पन्न होता है इसका विचार करते हैं । मन चन्द्रमा में किम्बा प्राण में सम्पन्न होता है-इस प्रकार के संशय होने पर "मनश्चन्द्रमिति" श्रुति के अनुसार मन चन्द्रमा में सम्पन्न होता है-इस प्रकार के पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं ।—

समस्त इन्द्रियों के साथ मन प्राण में सम्पन्न होता है । "मनः प्राणे" इति इस उत्तरकाल श्रुति वाक्य से निर्णय होता है । कहीं कहीं "मृतव्यक्ति के वागादि अग्नि में सम्पन्न होते हैं" इस प्रकार वाक्य है । उसका अर्थ अन्य प्रकार है । सूत्रकार ने स्वयं ही कहा है, अग्न्यादि में गति मुख्य नहीं है गौण है ॥ ३ ॥

अब प्राण में तेज-इसका विचार करते हैं । वह प्राण इन्द्रिय तथा मन के साथ तेज में सम्पन्न होता है अथवा जीव में ? इस प्रकार के संशय होने पर "प्राणस्तेजसि" इति वचन के अनुसार उसकी तेज में सम्पन्नता होवें इस प्रकार के पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं ॥—

वह प्राण देह तथा इन्द्रियादिकों का अधिष्ठाता जीव में सम्पन्न होता है क्योंकि श्रुति में ऐसा ही कहा गया है । बृहदारण्यक में "जिस प्रकार राजा के गमनोद्यत होने पर अंगरक्षक, योद्धावर्ग, सारथिसमूह, सेनापति सकल उनका अनुगमन करते हैं, ठीक उसी प्रकार प्राण इन्द्रियवर्ग के साथ जीव में अनुगमन करता है । इससे प्राण का जीवोपगामित्व सिद्ध हुआ है । "प्राण तेज में सम्पन्न होता है" इत्यादि श्रुति के साथ उसका कोई विरोध नहीं होता है क्योंकि प्राण जीव के साथ सम्पन्न होकर पश्चात तेज में सम्पन्न होता है-ऐसा बोलना पड़ता है । गंगा के साथ मिलित होकर यमुना सागर में जाती है-ऐसा बोलने के लिये यमुना सागर के लिये जाती है-ऐसा भी बोला जाता है ॥ ४ ॥

तेज में इसका विचार करते हैं । जीव प्राण के साथ तेज में सम्पन्न होता है अथवा सहत भूतों में ? इस-प्रकार के संशय में "प्राणस्तेजसि" इति वचन से तेज में ही सम्पन्न होता है-इस प्रकार के पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं-

नैकस्मिन् दर्शयतो हि ॥ ६ ॥

विषया [illegible] न मेधस [illegible] न्तेजस्येव जीवस्यावस्थानं न मन्तव्यम् । हि यस्मादेतमर्थं प्रश्नप्रतिवचने निरूपयतः । प्रतिपादितं चैत- [illegible] तदन्तरप्रतिपत्तावित्यादिना प्राक् । तथा च तेजः प्रभृतिषु भूतेषु प्राणसम्पत्तिर्जीवद्वारेति सिद्धम् ॥ ६ ॥

[illegible] अथ तस्मिन्नेव वाक्ये विमर्शान्तरम् । इयमुत्क्रान्तिरज्ञस्यैव भवेद्विज्ञस्यापि वेति संशये "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" इति बृहदारण्यकश्रुत्या विज्ञस्यात्रैवामृतत्वाभिधानेनोत्क्रान्त्यभावादज्ञस्यैवेतिप्राप्ते —

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥ ७ ॥

आद्यश्चोऽवधारणे । अज्ञस्य विज्ञस्य च समानैवोत्क्रान्तिरासृत्युपक्रमादागत्यारम्भान्नाडीप्रवेशात् प्रागित्यर्थः । तत्प्रवेशदशायां त्वस्ति विशेषः । अज्ञस्य नाडीशतेनोत्क्रम्य गतिर्विज्ञस्य तु शताधिकया । तथा हि छान्दोग्याः पठन्ति । "शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वगन्या उत्क्रमणे भवन्ति" इति । एतच्छ्रुत्यैकार्थेन "तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं" इत्यादिश्रुतावपि मूर्द्धन्यनिष्क्रमणं विज्ञविषयमन्यच्चाविज्ञविषयं बोध्यम् । यत्तु विज्ञस्यात्रैवामृतत्वश्रवणं तत्किल देहसम्बन्धमनुपोष्यादग्ध्वैव पूर्वोत्तराघविश्लेषविनाशरूपं यदुक्तम् ॥ ७ ॥

उक्तं विषदयति—

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ८ ॥

अदग्धशरीरसम्बन्धस्य विज्ञस्य निष्पापरूपं तदमृतत्वं मन्तव्यम् । कुतः ? आपीतेरिति । आब्रह्मसाक्षात्कारात् शरीरसम्बन्धलक्षणस्य संसारस्योक्तेरित्यर्थः । तत्साक्षात्कारः खलु देवयानेन यथा संव्य[illegible] वेदान्तेषु प्रसिद्धम् ॥ ८ ॥

जीव पञ्चभूतों में सम्पन्न होता है, केवल तेज में नहीं। क्योंकि "जीव आकाशमय, वायुमय, तेजोमय, जलमय, तथा पृथिवीमय" इत्यादि वचन के अनुसार जीव का सर्वभूतमयत्व स्थिर होता है ॥ ५ ॥

केवल तेज में ही जीव का अवस्थान नहीं मानना चाहिए। क्योंकि "हि यस्मादेतमर्थं" इस प्रश्न और उसके उत्तर से जीव का पञ्चभूतमयत्व निरूपित है। "तदनन्तर प्रतिपत्तौ" इत्यादि सूत्र में उसका प्रतिपादन पहले किया गया है। अतएव प्राण का तेजः प्रभृति भूतों में सम्मिलन जीव के द्वारा स्थिर हुआ है ॥ ६ ॥

अब उस वाक्य में एक अन्य विचार उठता है। मृत्यु के पश्चात् स्थूलदेह परित्याग के समय यह उत्क्रान्ति अज्ञ जीव की होती है अथवा विद्वान् की ? "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते" इत्यादि श्रुति से विज्ञव्यक्ति का ही अमृतत्व का अभिधान होने के कारण उत्क्रान्ति का अभाव है अतएव अज्ञव्यक्ति का उत्क्रमण संगत है-इस प्रकार के पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं —

प्रथम चकार अवधारण में है। नाड़ी प्रवेश के पहले अज्ञ तथा विज्ञ दोनों का ही उत्क्रमण समान है केवल नाड़ी प्रवेश की दशा में भेद हो जाता है। अज्ञव्यक्ति एकशत नाड़ी के द्वारा गमन करता है किन्तु विज्ञ एकशत नाड़ियों से अतीत एक उर्द्ध प्राप्त मूर्द्धन्यनाड़ी के द्वारा गमन करता है। छान्दोग्य में पाठ है कि जीव के हृदय में एक अधिक सौ नाड़ियाँ हैं। इनमें से केवल एक नाड़ी मूर्द्धदेश पर्य्यन्त होती है। जो व्यक्ति इस नाड़ी के द्वारा उत्क्रमण करता है, वह अमृतत्व लाभ करता है। अन्य नाड़ियाँ संसार-गमन का द्वार रूप हैं"। इस छान्दोग्य-श्रुति से तथा "होतस्य हृदयस्याग्रम्" इत्यादि श्रुति से विद्वान् व्यक्ति का सुषुम्ना नामक मूर्द्धन्य नाड़ी के द्वारा और अज्ञ का अपर नाड़ियों के द्वारा गमन सिद्ध होता है। विज्ञ का उत्क्रमण के पहले जो अमृतत्व सुना जाता है वह देहसम्बन्ध परित्याग पूर्वक तथा पूर्वोत्तर पाप का विनाश रूप कार्य्य सम्पादन नहीं करता हुआ जानना चाहिए। यह पहले कहा गया है ॥ ७ ॥

सूक्ष्मप्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ९ ॥

नात्र विदुषः शरीरसम्बन्धो दग्धः । सूक्ष्मं शरीरं यदनुवर्त्तते । कुतः प्रमाणेति । देवयानवर्त्मना गन्[illegible] विदुषः "तं प्रति ब्रूयात् सत्यं ब्रूयात्" इति चन्द्रमसा सम्वादवचनेन शरीरसद्भावो ह्युपलभ्यते । अतोऽदग्धदेहसम्बन्धस्यैव तदमृतत्वम् ॥ ९ ॥

नोपमर्देनातः ॥ १० ॥

अतो हेतो "यदा सर्वे" इति श्रुतिर्देहसम्बन्धोपमर्देनामृतत्वं वक्तुं न प्रभवति ॥ १० ॥

तस्यैव चोपपत्तेरूष्मा ॥ ११ ॥

मृत्योः प्राक् स्थूलदेहे यः संस्पर्शेनोष्मोपलभ्यते सोऽस्य सूक्ष्मस्यैव देहस्य धर्म्मो न तु स्थूलस्य । कुतः उपपत्तेः । तद्युक्तताद्वियुक्तयोर्जीवन्मृतदेहयोरुष्मोपलम्भानुपलम्भाभ्यां सूक्ष्मदेहस्यैवायमुष्मेति युक्तेरित्यर्थः । मानान्तराय चशब्दः । तथा चोष्मानुमितसूक्ष्मदेहयुक्तो विज्ञोऽपि उत्क्रामतीति ॥ ११ ॥

अथाशङ्क्य समाधत्ते—

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥ १२ ॥

विदुष उत्क्रान्तिर्न स्यात् । "अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" इति बृहदारण्यके तस्य तत् प्रतिषेधादिति चेन्नात्र देहात् प्राणनिष्क्रान्तिर्न प्रतिषिद्धा किंतु शारीराज्जीवादेव । देहात्तु तस्यासौ दर्शितास्ति ॥ १२ ॥

उस विषय को स्पष्ट करते हैं। जिसका शरीर सम्बन्ध दग्ध नहीं हुआ ऐसे विज्ञ का पापराहित्य भाव ही अमृतत्व जानना चाहिए क्योंकि ब्रह्मसाक्षात्कार पर्य्यन्त ही शरीरसम्बन्ध लक्षण संसार कहा गया है। वह साक्षात्कार निश्चय देवयान पथ के द्वारा संव्योमपद में जाकर ही होता है, यह वेदान्तों में प्रसिद्ध है ॥ ८ ॥

इस प्रपञ्च लोक में शरीर सम्बन्ध दग्ध नहीं होता है। सूक्ष्म शरीर का अनुवर्त्तन अवश्य रहता है। देवयान पथ के द्वारा विद्वान् के गमनकाल में "तं प्रति ब्रूयात् सत्यं ब्रूयात्" इत्यादि चन्द्रमा वचन प्रमाण से देहसम्बन्ध उपलब्ध होता है। अतएव अदग्धदेहसम्बन्ध विद्वान् का अमृतत्व निर्णय हुआ है ॥ ९ ॥

इसलिये ही "यदा सर्वे विमुच्यन्ते" इत्यादि श्रुति में देहसम्बन्ध दग्ध के द्वारा अमृतत्व नहीं कहा गया है। अर्थात् देहसम्बन्ध रहते हुए भी विद्वान् का निष्पापत्व सम्पन्न होता है-यह स्थिर सिद्धान्त है ॥ १० ॥

मृत्यु के पहले स्थूल देह में स्पर्श वश जो उष्णता अनुभव होती है वह सूक्ष्मदेह का है स्थूलदेह का नहीं है क्योंकि जीवित अवस्था में जब उष्णता की उपलब्धि है मरण के पश्चात् नहीं है तब युक्ति के द्वारा यह स्थिर होता है। मानान्तर के लिये "च" शब्द है। अतएव उष्णता अनुमित सूक्ष्मदेह के साथ विज्ञ का भी अज्ञ की तरह उत्क्रमण में समान भाव है-यह सिद्ध है ॥ ११ ॥

अब आशङ्का उठाकर समाधान करते हैं। विद्वान् की उत्क्रान्ति नहीं है। "अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैवसन् ब्रह्माप्येति" इति बृहदारण्यक श्रुति के अनुसार यह सिद्ध होता है। ऐसा नहीं है। वहाँ देह से प्राण की उत्क्रान्ति का निषेध नहीं हुआ है किन्तु शरीर सम्बन्धि जीव से निषेध हुआ है। देह से प्राण का उत्क्रमण सर्वत्र देखा गया है ॥ १२ ॥

स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥ १३ ॥

विषया [illegible] न मेधस [illegible] वदितव्यम्। हि यस्मादेकेषां माध्यन्दिनानां शारीरात् प्राणोत्क्रान्तिप्रतिषेधः स्पष्टो दृश्यते। "न [illegible] प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति"इति। अत्रैवेति पुरः प्राप्ये ब्रह्मण्येवेत्यर्थः। [illegible] काण्वास्नाये आर्त्तभागप्रश्ने विद्वत्प्राणानुत्क्रान्तिपरं याज्ञवल्क्योत्तरं दृश्यते तत्किल परमार्त्तकान्तिपरतया [illegible]म्। यच्च निर्विशेषब्रह्मात्मैक्यध्यायिनोऽनुत्क्रान्तिपरं तदित्याह तन्मन्दं तदर्थावेदकपदादर्शनात् निर्विशेषत्वा-द्यसिद्धेश्च ॥ १३ ॥

स्मर्य्यते च ॥ १४ ॥

"ऊद्र्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्वा सूर्य्यमण्डलम्। ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिं" इति स्मृतिश्च विदुषो मूर्द्धन्यनाड्योत्क्रान्तिमाह। तथा च विदुषोऽप्युत्क्रान्तिरस्तीति सिद्धम् ॥ १४ ॥

सेन्द्रियग्रामः सप्राणो जीव उत्क्रान्तिकाले तेजःप्रभृतिषु सूक्ष्मभूतेषु सम्पद्यते इत्यभिहितम् सैषा सम्पत्तिर्विज्ञस्य न सम्भवेदित्याशङ्क्य परिहृतं च। अथेदं विमृश्यते। विदुषो वागादयः प्राणास्तद्वपुर्भूतानि सूक्ष्मभूतानि च स्वस्वहेतौ सम्पद्यन्ते परमात्मनि वेति संशये "यत्रास्य पुरुषस्य" इत्यादि श्रुतेः स्वस्वहेताविति प्राप्ते—

तानि परे तथा ह्याह ॥ १५ ॥

तानि तेजः परस्यामित्यत्र तेजःशब्दितानि वागादिप्राणभूतानि परे सर्व्वात्मभूते ब्रह्मणि सम्पद्यन्ते तस्यैव सर्व्वोपादानत्वात्। कुतः ? हि यस्मात् "तेजः परस्यां देवतायां" इति श्रुतिरेव तथाह। यत्रास्येत्यादिकं तु जहत्-स्वार्थमित्यभाणि प्राक् ॥ १५ ॥

इसमें कोई विवाद नहीं है। माध्यन्दिन शाखा में शारीर जीव से प्राण की उत्क्रान्ति स्पष्ट रूप से निषेध है। "न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीति"। अर्थ-उससे प्राण का उत्क्रमण नहीं है। प्राण उसमें लीन होता है। ब्रह्मभूत का ब्रह्म में पर्य्यवसान है। यहाँ "एव" शब्द से प्राप्य ब्रह्म में पर्य्यवसान दृष्ट होता है। काण्वाम्नाय में आर्त्तभाग के प्रश्न पर याज्ञवल्क्य के उत्तर से जो विद्वान् को प्राण का अनुत्क्रमण देखा जाता है वह परम आर्त्त एकान्त भक्तों के विषय में जानना जाहिए। निर्विशेष ब्रह्म के साथ आत्मा का ऐक्य ध्यानकारी व्यक्तियों के प्राण के उत्क्रमण का निषेध है—यह मत असंगत है क्योंकि उस प्रकार अर्थ-जनाने वाला पद वेद में नहीं देखा जाता है। विशेष करके निर्विशेषवाद असिद्ध होता है ॥ १३ ॥

"इन सकल नाड़ियों के मध्य में एक नाड़ी मूर्द्धा पर्य्यन्त उर्द्ध भाव में अवस्थित है। जीव इस नाड़ीमार्ग में सूर्य्यमण्डल भेद कर ब्रह्मलोक को जाता है" इत्यादि स्मृति भी विद्वान् का मूर्द्धन्य नाड़ी के द्वारा अतिक्रमण-कहती है। अतएव विद्वान् की उत्क्रान्ति सिद्ध हुई है ॥ १४ ॥

इन्द्रियवर्ग तथा प्राण के साथ उत्क्रमणकाल में जीव तेजः प्रभृति सूक्ष्मभूतों में सम्पन्न होता है-यह कहा गया है। यह मिलन विज्ञ का न होवे-इस प्रकार की आशङ्का उठाकर उसका परिहार भी किया गया है। अब अन्य एक विचार करते हैं। विद्वानों का वागादि इन्द्रिय, प्राण, शरीर में सूक्ष्मभूत सकल-निज निज कारण में सम्पन्न होते हैं अथवा परमात्मा में सम्पन्न होते हैं ? इस प्रकार का संशय उठने पर "यत्रास्य पुरुषस्य" इत्यादि श्रुति के अनुसार निज निज कारण में सम्पन्न होते हैं-इस प्रकार के पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं।—

"तानि तेजः परस्याम्" इत्यादि श्रुति के अनुसार वागादि इन्द्रियाँ, प्राण तथा भूतसमूह सर्वात्मभूत परब्रह्म में सम्पन्न होते हैं क्योंकि ब्रह्म ही सबका उपादान है। श्रुति में ही "यस्मात् तेजः परस्यां देवतायामिति" कहा है। "यत्रास्य पुरुषस्य" प्रभृति श्रुतियाँ जहत्स्वार्थ विषयक हैं-यह पहले कहा गया है ॥ १५ ॥

अथ तत्रैव पुनर्विमर्शान्तरम्। या खलु परमात्मनि विद्वत्प्राणादिसम्पत्तिरुक्ता सा किं वाङ्मनस[illegible]गापत्तिः किं "यथा नद्यः स्यन्दमाना: समुद्र" इत्यादिवत् तादात्म्यापत्तिरिति सन्देहे पूर्व्वस्वारस्यात् [illegible] तद्वत् संयोगापत्तिरिति प्राप्ते—

अविभागो वचनात् ॥ १६ ॥

अचिन्त्यशक्तिविशिष्टे परमात्मनि प्राणादेरविभागस्तादात्म्यापत्तिः। कुतः ? वचनात्। षष्ठे प्रश्ने "एव[illegible] वास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति" इति प्राणादीनां कलानां परमात्मनि सम्पत्तिमभिधाय पुनर्भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽमृतोभवति" इति [illegible] नामरूपभेद-स्योक्तेः। अयं भावः। स्थूलशरीरादुत्क्रान्तस्य जीवस्य विदुषः सूक्ष्मं शरीरं विद्यया विप्लुष्टकारीषपिण्डवज्जीवा-मप्यनुवर्त्तते। अथाण्डाद् विनिष्क्रान्तस्य तस्याष्टमावरणे प्रकृतौ तद्विकारभूतं सूक्ष्मं तद्विलीयते। स तु विशुद्धः प्राप्तब्राह्मवपुः प्रकृत्यापाश्रयेण तेन ब्रह्मणा सह संयुज्यत इति ॥ १६ ॥

अथ विद्वदुत्क्रान्तौ प्रतिज्ञातं विशेषं दर्शयितुमारम्भः। शतं चैका चेति वाक्ये शताधिकया विदुषो गतिर-न्याभिस्तु अविदुष इत्येष नियमो युक्तो न वेति सन्देहे नाडीनामतिसौक्ष्म्यात् बाहुल्याच्च दुर्विवेचनतया पुरुषेण ग्रहीतुमशक्यत्वान्न युक्तः। "तयोद्र्ध्वमायन्नमृतत्वमेति" इति यादृच्छिकोत्क्रान्त्यनुवादो भविष्यतीत्येवं प्राप्ते—

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॥ १७॥

विज्ञः शताधिकया सुषुम्नयैव नाड्या निष्क्रामति। न चेयं नाडी तेन विवेक्तुमशक्या भवेत्। यदयं विद्यासाम-

---

अब वहाँ और एक विमर्श उठता है। परमात्मा में विद्वानों की प्राणादिसम्पत्ति जो कही गई है, वह क्या वाणी का मन में मिलन की तरह संयोगमात्र है किम्वा नदियों का समुद्र मिलन की भाँति तादात्म्यभाव है ? पूर्व-पक्ष के स्वारस्य के कारण तथा अविशेष अभिधान के हेतु संयोग ही युक्त है—इस प्रकार पूर्व्वपक्षीय संगति का उत्तर देते हैं।—

अचिन्त्यशक्तिविशिष्ट परमात्मा के साथ प्राणादि का अविभाग अर्थात् तादात्म्यापत्ति सिद्ध है क्योंकि षष्ठ प्रश्न में "इस प्रकार इस पुरुष के प्राणादिकलासमूह पुरुष को प्राप्त होकर लीन होते हैं" इत्यादि वाक्य से प्राणादि क-लाओं का परमात्मा में संयोग कह कर पुनः "भिद्यते चासां नामरूपे पुरुष" इति वचन से नाम रूप का भेद कहा गया है। इसका भाव-स्थूलशरीर से उत्क्रान्त पुरुष का सूक्ष्मशरीर भी विद्या के द्वारा विप्लुष्ट होकर जीर्णकारी-षपिण्ड की भाँति जीव का अनुगामी होता रहता है। जब जीव ब्रह्माण्ड के सप्तावरण का भेद कर अष्टम आवरण प्रकृति में जाता है तब वह सूक्ष्मशरीर प्रकृति में लीन होता है। उस समय जीव प्रकृति से विमुक्त तथा विशुद्ध होकर अप्राकृत ब्रह्म प्राप्ति योग्य देह पाकर ब्रह्म में मिल जाता है ॥ १६ ॥

अब विद्वानों की उत्क्रान्ति में विशेष ज्ञात विषय को दिखाते हैं। पूर्वकथित "शतञ्चैका च नाड्यः" इत्यादि वाक्य में शताधिक (शतातीत) एक नाड़ी के द्वारा विद्वान् की गति तथा एकशत नाड़ी के द्वारा अविद्वान् की गति निर्णय की गयी है। अब यह युक्त है किम्वा नहीं है-इस प्रकार का सन्देह उठता है। नाड़ियाँ अति सूक्ष्म तथा बहु होने के कारण उनका विवेचन कर उनके द्वारा पुरुष का गमन करना असम्भव हो उठता। अतएव यह युक्त नहीं है। और भी "इस नाड़ी के द्वारा ऊर्द्ध गत व्यक्ति अमृतत्व का लाभ करता है" इत्यादि वचन में कोई एक विशेष नाड़ी के नाम का उल्लेख नहीं है अतएव जिस किस एक नाड़ी का आश्रय कर उर्द्ध गमन करने से मुक्ति

...हार्दानुगृहीतो भवति। विद्योपासना तस्याः सामर्थ्यात् प्रभावात् । विद्याशेषभूता या गतिराति-
विषया ... प्राप्तिस्तस्याः स्मृतिसातत्याच्च । हार्देन हृदयमंदिरेण हरिणाऽनुकम्पितो भवतीत्यर्थः । ततश्च तस्यो-
न मेधरा ... क्रिकरणस्योच्चिक्रमिषोर्जीवस्योकः स्थानं हृदयमग्रज्वलनं प्रकाशिताग्रं भवति । स तु जीवस्तत्प्रकाशित-
भगव... ...हेन श्रीहरिणा प्रकाशितं द्वारं शताधिकया नाडया मूलं यस्मै तादृशः सन् तां नाडीं विजानातीति । तया
... गतियुक्तेति ॥ १७ ॥

छान्दोग्ये "अथ यत्रैतस्मात् शरीरादुत्क्रामत्येतैरेव रश्मिभिरुर्द्ध्वमाक्रमते । स ओमिति वा होह म्रियते स यावत् क्षिप्येत् मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषां तदेष श्लोकः । शतं चैका च" इत्यादि श्रूयते। इहैतद्गम्यते मूर्द्धन्यनाडया निष्क्रम्य रश्म्यनुसारी सन् गच्छतीति । तत्र संशयः । अहन्येव मृतस्य रश्म्यनुसारित्वमुत निश्यपीति । निशि रविरश्म्यभावात् मृतस्य तदिति प्राप्ते—

रश्म्यनुसारी ॥ १८ ॥

यदा कदापि मृतो विद्वान् रश्म्यनुसारी सन् गच्छति । विशेषाश्रवणादिति शेषः ॥ १८ ॥

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ॥ १९ ॥

ननु रात्रौ रविरश्म्यभावात् तदानीं मृतस्य न तदनुसारित्वमिति चेन्न । कुतः ? सम्बन्धस्येति । शिरारश्मि-सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वात् । यावद्देहोऽस्ति तावत् तत्सम्बन्धश्चेति । यदा कदापि मृतस्य तद्घटते । अतश्च

ग्रीष्मक्षपासु देहज्वालोपलभ्यते । अन्यदा तु शीतप्रतिबन्धान्नेति । न चेदं यौक्तिकमित्याह दर्शयति ... ष्मादादित्यात् प्रतायन्ते तास्सु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते ते अमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः" ... ग्यश्रुतिस्तथा दर्शयति । "संसृष्टा वा एते रश्मयश्च नाडयश्च नैषां विभागो यावदिदं शरीरमतः एतैः ... क्रमते एतैः प्रवर्त्तते" इति श्रुत्यन्तरं च । तथा च विदुषस्तदनुसारित्वं नियतमिति ॥ १९ ॥

अथेदं विचार्य्यते । दक्षिणायने मृतेन विदुषा विद्याफलं प्राप्यते न वेति । उत्तरायणस्य ब्रह्मलोकमार्गत्वेन श्रुति स्मृत्योः पाठात् भीष्मादीनां तत्प्रतीक्षादर्शनाच्च नेति प्राप्ते—

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥ २० ॥

अतो विद्यायाः पाक्षिकफलत्वाभावात् तया प्रतिबन्धककर्म्मणां परिक्षयाच्च दक्षिणेऽप्ययने मृतो विद्वान्प्राप्नो-त्येव विद्याफलं पूर्व्वपक्षस्तु मन्दः । उत्तरायणशब्देनातिवाहिकदेवताया वक्ष्यमाणत्वात् । भीष्मप्रतीक्षायाः पितृ-दत्तस्वच्छन्दमृत्युताख्यापनार्थत्वेनाचारपालनार्थत्वेन वा अदूषकत्वाच्चेति ॥ २० ॥

ननु "यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः । प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ" इत्युपक्रम्य "शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते । एकया यात्यनावृत्तिमन्यया वर्त्तते पुनः" इत्युपसंहृतं भगवता । तत्र कालप्राधान्येनोपक्रमादहरादिकालविशेषा मोक्षाय निर्दिष्टाः प्रतीयन्ते । ततश्च रात्रौ दक्षिणायने च मृतस्याविशेषो-ऽसौ न भवेदितीमां शङ्कां परिहरति—

होती है-इस प्रकार अनिर्दिष्ट अनुवाद की संगति होती है ऐसी पूर्वपक्षीय संगति का उत्तर देते हैं ।—

विद्वव्यक्ति एकशत नाडी के अतिरिक्त रविरश्मि के साथ एकीभूत सुषुम्ना नामक एक विशेष नाड़ी के द्वारा गमन करता है। इस नाड़ी का विवेचन उसके लिये असम्भव नहीं रहता है क्योंकि विद्वान् विद्या की सामर्थ्य के द्वारा भगवत् कृपा से उस समय उस नाड़ी को जान लेता है। उत्क्रमण के समय उस नाड़ी को पहिचानने में उस को कोई कष्ट नहीं होता है। स्मृति में भी कहा है विद्याशेषभूता गति लाभ होने पर अतिवाहक देवतागण उस विद्वान् पुरुष को उस पद में ले जाते हैं। उस समय वागादिइन्द्रियाँ उपसंहृत हो जाती हैं अतएव विद्वान् के लिये श्रीहरि कृपा से हृदयमन्दिर का द्वार प्रकाशमान हो जाता है। विद्वान् व्यक्ति श्रीहरि की कृपा से प्रकाशमान उस नाड़ी को पहिचान लेता है तथा उसके द्वारा ब्रह्मलोक गमन करता है। अतएव विद्वानों का सुषुम्नामार्ग में गमन युक्त है ॥ १७ ॥

छान्दोग्य में-"यह जीव जब शरीर से उत्क्रमण करता है तब रविरश्मि के द्वारा ऊर्द्ध गमन करता है। मृत्यु के पश्चात् जब तक मन का वेग है, तब तक आदित्य रश्मि के द्वारा गमन करता है। यह रविरश्मि विद्वानों का मोक्षद्वार तथा अविद्वानों का निरोधकारक है"-यह श्लोक है। "शतञ्चैका" इत्यादि श्रुति में ऐसा ही सुना जाता है। इससे यह जाना जाता है कि विद्वान् मूर्द्धन्य नाडी के द्वारा निष्क्रान्त होकर रविरश्मि के अनुसार ऊर्द्ध गमन करता है। यहाँ संशय यह होता है कि दिवस में मृत्यु होने पर रविरश्मि के अनुसार वह घटता है किम्वा रात्रि में मृत्यु होने पर वह घटता है। रात्रि में रविरश्मि के अभाव के कारण दिवस में ही वह प्राप्ति होगी-इस प्रकार के पूर्व्वपक्ष का उत्तर देते हैं कि विद्वान् व्यक्ति रात्रि हो अथवा दिवस हो जब कब मृत्यु प्राप्त होता है तब रविरश्मि के अनुसार गमन करता है। दिवा-रात्रि का कोई विशेष उल्लेख नहीं है ॥ १८ ॥

रात्रि में रविरश्मि का अभाव के हेतु उस समय मृत्यु घटने पर रविरश्मि का सम्बन्ध नहीं घटता है-इस प्रकार की युक्ति असंगत है, क्योंकि जब तक शरीर है, तब तक रविरश्मि का सम्बन्ध रहता है। शिरा में रश्मि का सम्बन्ध जब तक देह है, तब तक है। जब कभी भी मृत्यु होती है तभी वह घटती है । इसलिये ही ग्रीष्म काल की

रात्रि में देह पर ज्वाला उठती है। शीत काल में शीत के प्रतिबन्धक होने के कारण नहीं उठती है । यह केवल युक्ति साध्य है-ऐसा नहीं है। छान्दोग्य में इसका प्रमाण भी है। "ये सब रश्मियाँ आदित्य से प्रसृत होती हैं, नाड़ी में इनका सम्बन्ध रहता है। फिर ये सब नाड़ी से निष्क्रान्त होकर सूर्य्य में सम्बन्ध प्राप्त होते हैं। "जब तक यह शरीर रहता है तब तक देह के साथ इन रश्मियों का विच्छेद नहीं घटता है। अतएव जीव इनके साथ गमन तथा आगमन करता है" इस प्रकार श्रुत्यन्तर का भी प्रमाण है। अतएव विद्वान् का रश्मि-अनुसारित्व-नियत है ॥ १९ ॥

अब इसका विचार करते हैं कि दक्षिणायन में मृत्यु होने पर विद्वान् को विद्याफल मिलता है किम्वा नहीं मिलता है ? श्रुति-स्मृति में उत्तरायण को ही ब्रह्मलोकमार्ग कह करके पाठ दिया गया है, भीष्मपितामह ने भी उत्तरायण की प्रतीक्षा की थी। इस प्रकार के पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं।—

विद्या का पाक्षिकफल अभाव है। अर्थात् विद्वान्व्यक्ति जिस किसी समय में मृत्यु प्राप्त क्यों नहीं हो, उन्हें विद्या का फल प्राप्त होता है। विशेष करके विद्या के द्वारा प्रतिबन्धक कर्म्म के क्षय हो जाने के कारण विद्वान्-व्यक्ति दक्षिणायन में मृत्यु प्राप्त होकर भी विद्या का फल लाभ करता है। अतएव पूर्वपक्ष मन्द है। यहाँ उत्तरा-यण शब्द से अतिवाहिक देवता की विवक्षा है यह आगे कहेंगे। भीष्म ने जो अपेक्षा की थी वह पिता के द्वारा दी हुई स्वच्छन्दमृत्यु को जनाने के लिये किम्वा उसे आचार प्रतिपालनार्थ जानना चाहिये ॥ २० ॥

अच्छा ? "जिस समय गमन करने पर आवृत्ति नहीं है तथा जिस समय गमन करने पर आवृत्ति है उस समय को मैं कहता हूँ" इत्यादि उपक्रम कर "जगत् में शुक्ल कृष्ण दो नित्य गति हैं उनमें से एक से अनावृत्ति तथा अपर से पुनरावृत्ति होती है" इस प्रकार उपसंहार में भगवद्गीता में भगवान् ने स्वयं कहा है। वहाँ काल को ही प्रधान कर उपक्रम किया गया है। अतएव वहाँ दिवसादि समय विशेष मोक्ष के लिये निर्दिष्ट किया हुआ है। अतः रात्रि तथा दक्षिणायनादि में जो मरण है, वह दिवस तथा उत्तरायणादि के साथ अन्य प्रकार का है-इस प्रकार शङ्का का समाधान करते हैं।—

योगिनः प्रति स्मर्य्यते स्मार्त्ते चैते ॥ २१ ॥

विषया [illegible] न मेधरा [illegible] ब्रह्मनिष्ठान्प्रति हेया चन्द्रगतिरुपादेया त्वर्च्चिरादिगतिस्तत्र स्मर्य्यते। यदेते स्मार्त्ते स्मृत्यर्हे भवत: [illegible] पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन" इत्युक्तेः। ततश्च नात्र विदुषः कालविशेषो नियन्तव्यः। कालप्र- [illegible] क्रमस्तु नास्ति। अग्न्यादेः कालत्वासम्भवात्। किन्त्वातिवाहिका देवास्ते तत्तच्छब्दैरभिधीयन्ते। वक्ष्यति [illegible] भगवान् सूत्रकारः आतिवाहिकास्तल्लिङ्गादिति। "दिवा च शुक्लपक्षश्च उत्तरायणमेव च। मुमूर्षतां प्रशस्तानि विपरीतन्तु गर्हितं" इत्यादिकं तु भवत्यज्ञविषयम्। विज्ञः खलु यत्र क्वापि त्यजन्न वपुरुपैति हरिम्॥ २१॥

॥ इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः॥

तृतीयः पादः

य: स्वप्राप्तिपथं देवः सेवनाभासतोऽदिशत्। प्राप्यं च स्वपदं प्रेयान् ममासौ श्यामसुन्दरः॥

पादेऽस्मिन् ब्रह्मलोकप्रापणः पन्थाः प्राप्यं च ब्रह्मस्वरूपं निरूप्यते। छान्दोग्ये "अथ यदु चैवास्मिन् शव्यं कुर्व्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्य्यमाणपक्षमापूर्य्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासान् तान् मासेभ्यः सम्वत्सरं सम्वत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते" इत्यर्चिः प्रथमः पन्थाः श्रूयते। कोषीतकीब्राह्मणे "स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकं" इत्यग्निः प्रथमः। बृहदारण्यके तु "यदा ह वै पुरुषोऽस्मात् लोकात्प्रैति स वायुमाग-

---

गीता में ब्रह्मनिष्ठ योगियों के लिये चन्द्रगति हेय तथा अर्च्चिरादिगति को उपादेय कह करके स्पष्ट किया गया है। गीता के अन्यस्थान में "हे पार्थ! ये दोनों गति को जानने पर योगी कभी मोह को प्राप्त नहीं होता है"-ऐसा ही कहा गया है। विद्वान् व्यक्ति का कोई कालविशेष का नियम नहीं है-इस वचन से स्पष्ट हो जाता है। काल प्राधान्य करके उपक्रम नहीं हुआ है क्योंकि "अग्निर्ज्योतिरहः शुक्ल" इत्यादि श्लोकोक्ति में अग्न्यादि के कालत्व की सम्भावना नहीं है। सुतरां उन सब शब्दों से अतिवाहिक देवतागण का बोध हो रहा है। भगवान् सूत्रकार ने आगे कहा भी है। "आतिवाहिकास्तल्लिङ्गादिति"। "दिवस, शुक्लपक्ष, उत्तरायण प्रभृति कालविशेष मुमुर्षुओं के पक्ष में प्रशस्त हैं। उनसे विपरीत रात्रि प्रभृति गर्हित हैं" यह वचन अज्ञ अर्थात् अविद्वान् परक है। विज्ञ व्यक्ति जिस किसी समय भी देह त्याग क्यों नहीं करे वह अवश्य ही हरिचरण लाभ करता है॥ २१॥

॥ इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयपादस्यानुवादं समाप्तम्॥

जो भक्ति का आभासमात्र से ही प्रसन्न होकर जीव को निज धाम गमन का मार्ग तथा प्राप्य निज चरण युगल को प्रदान करते हैं वे श्यामसुन्दर देव मेरे परमप्रिय हों॥ ०॥

इस पाद में ब्रह्मलोक गमन का मार्ग तथा प्राप्य ब्रह्मस्वरूप का निरूपण करते हैं। छान्दोग्य में कहा गया है- ब्रह्मोपासकों का मरण होने पर उनके पुत्र वा शिष्यादि उनका शव सम्बन्धि संस्कार करें वा नहीं करें वे सब निज अक्षय उपासना फल से अर्चिरादिमार्ग के द्वारा हरिधाम को जाते हैं। वे पहले अर्च्चिरादि देवता, पश्चात् अहरादिदेवता, उसके पीछे पक्षाभिमानी देवता, उससे उत्तरायणादि अभिमानी देवता, तदनन्तर वत्सराभिमानी देवता, उसके पश्चात् आदित्य, आदित्य से चन्द्रमा, चन्द्रमा से विद्युतलोक में गमन करते हैं। यहाँ अवस्थान समय में ब्रह्मलोक से समागत अमानव पुरुष उन उपासकों को ब्रह्मलोक में ले जाते हैं। यह देवपथ है। इस मार्ग में गमन कर वे ब्रह्म प्राप्त होते हैं इसलिये इस मार्ग को ब्रह्मपथ भी कहते हैं। इस मार्ग से ब्रह्मप्राप्त विद्वान् का फिर

च्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन ऊर्द्ध्वं आक्रमते स आदित्यमागच्छति" [illegible] प्रथमः। क्वचित्सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति" इति सूर्य्यरूपश्च श्रुतः। एवमन्यत्रान्यादृशश्च। इह [illegible] किमयं नानाविधो ब्रह्मलोकमार्गः किंवा नाना श्रुत्युक्तपर्व्वकोऽर्च्चिरादिरेक एवेति। भिन्नप्रकरण [illegible] धृत्यनुरोधाच्च नानाविध इति प्राप्ते—

अर्च्चिरादिना तत्प्रथितेः॥ १॥

सर्व्वोऽपि विद्वानर्च्चिःप्रथमेनैव वर्त्मना ब्रह्मलोकं व्रजति। कुतः? तत्प्रथितेः। "तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते ते अर्चिषं" इति पञ्चाग्निविद्याप्रकरणस्थेन वचसा विद्यान्तरशालिनामप्यर्च्चिरादिनैव पथा गत्युपदेशादित्यर्थः। "द्वावेव मार्गौ प्रथितावर्च्चिरादिर्विपश्चिताम्। धूमादिः कर्म्मिणां चैव सर्व्ववेदविनिर्णयात्" इति स्मृतिश्च। एवं सति यत्र विसदृशः पन्थाः श्रूयते तत्र गुणोपसंहारवदनुक्तानां समावेशः प्रकरणभेदेऽपि विद्यैक्यात्। एवं चावधृतिरपि रश्मिप्राप्तिपरैव। अन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गः॥ १॥

इदानीं वाक्यान्तरपठितस्य वाय्वादेरर्च्चिमार्गे सन्निवेशः स्यादित्येतत् प्रदर्शयितुमारम्भः। "स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं" इत्यत्र श्रूयमाणो वायुरर्च्चिरादिपथे सन्निवेश्यो न वेति वीक्षायां क्रमाश्रवणात् कल्पकाभावाच्च नेति प्राप्ते—

इस मानवलोक में आगमन नहीं है। यह अर्चि का प्रथम मार्ग सुना जाता है। कौषीतकीब्राह्मण में भी कहा गया है-मृतव्यक्ति (विद्वान्) इस देवयानमार्ग में आगमन कर पहले अग्निलोक, पश्चात् वायुलोक, वायुलोक से वरुणलोक, उससे इन्द्रलोक, इन्द्रलोक से प्रजापतिलोक होकर ब्रह्मलोक में गमन करता है। यहाँ पहले अग्निलोक का कथन है। बृहदारण्यक में कहा गया है "पुरुष जब इस लोक से गमन करता है तब वह पहले वायुलोक में गमन कर विहार करता है पश्चात् रथचक्र के छिद्र की भाँति वायु दत्त छिद्र के द्वारा आदित्यलोक में गमन करता है" यहाँ पहले वायुलोक का कथन है। कहीं पर "सूर्य्य के द्वारा विरजा में जाते हैं" ऐसा कहा गया है। इस प्रकार नाना स्थान में नाना प्रकार गमन मार्ग बतलाया गया है। अब यहाँ संशय है कि क्या ब्रह्मलोक गमन का मार्ग अनेक प्रकार का है अथवा एक ही अर्च्चिरादिपथ को नाना प्रकार से श्रुति में कहा गया है? भिन्न भिन्न प्रकरण में वे सब कहे जाने के कारण तथा "अथैतैरेव" इति अवधृति के अनुरोध के कारण वे सब नाना प्रकार होवें- इस प्रकार के पूर्वपक्ष का उत्तर करते हैं-सकल विद्वान् ही पहले अर्च्चिरादिमार्ग का अवलम्बन कर ब्रह्मलोक में गमन करते हैं। "तद् य इत्थं विदुः ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते ते अर्च्चिषम्" इत्यादि पञ्चाग्निविद्या प्रकरण उक्त वचन से विद्यान्तरशालियों का भी अर्च्चिरादिमार्ग के द्वारा गमन कथन है। ब्रह्मतर्क में कहा गया है कि- "दो मार्ग प्रसिद्ध हैं, ज्ञानियों का अर्च्चिरादिमार्ग तथा कर्म्मियों का धूमादिपथ। यह समस्त वेद का मत है"। अतएव जहाँ जहाँ विसदृश पथ सुनने में आयेगा वहाँ वहाँ गुणोपसंहार की भाँति अन उक्त वचनों का भी समावेश करना होगा क्योंकि प्रकरण भेद होने पर भी विद्या एक है। इस प्रकार समस्त वाक्य का रश्मि-प्राप्तिपरत्व है-ऐसी अवधारणा करनी होगी नहीं तो वाक्यों में भेदप्रसंग आ जायेगा॥ १॥

अब वाक्यान्तर पठित वायु आदिक का अर्च्चिरादिमार्ग में किस प्रकार सन्निवेश है उसे दिखाने के लिये परवर्त्ती प्रकरण का आरम्भ करते हैं। "वह व्यक्ति इस देवयान पथ को प्राप्त होकर अग्निलोक में तत्पश्चात् वायुलोक में गमन करता है" इत्यादि वाक्य में श्रूयमाण वायु का अर्च्चिरादिमार्ग में सन्निवेश हो सकता है किम्वा नहीं? इस प्रकार की आशङ्का उठाकर क्रमराहित्य तथा कल्पक का अभाव प्रयुक्त होने के कारण उसमें सन्निवेश नहीं हो-इस प्रकार पूर्वपक्ष संगति का उत्तर देते हैं।—

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ २ ॥

विषया [illegible] न मेधरा [illegible]स्यादावब्दात्सम्वत्सरात् परमादित्यात् पूर्व्वं वायुं निवेशयन्ति । कुतः ? अविशेषेति । स वायुलोक-भगव[illegible]णोपदिष्टस्य "यदाह वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति" इत्यादौ "स वायुमागच्छति" इति सूर्य्यात्पूर्व्ववर्त्ति-त[illegible]कारत्वेणोपदेशादित्यर्थः । एवं सति मासेभ्यो देवलोकादादित्यमिति वृहदारण्यकोक्तो देवलोकोऽपि वायुरेव [illegible]। "योऽयं पवन एष एव देवानां गृह" इति देवनिवासस्थानत्वेनोक्तेः । अपरे त्वाहुः देवलोकोऽपि वर्त्मपर्व्व-विशेषः । स च सम्वत्सरात्परत्र पूर्व्वत्र च वायोर्निवेश्यः । न तु माससम्वत्सरयोर्मध्ये तयोः सम्बन्धप्रसिद्धेः । तथा च सम्वत्सरादित्ययोर्मध्ये देवलोकवायुलोकौ सन्निवेश्याविति ॥ २ ॥

"स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं" इत्यत्र विचारः । इह श्रुतो वरुणलोकोऽर्चिरादिपर्व्वतया सन्नि-वेश्यो न वेति विषये वायोरिवास्य व्यवस्थापकाभावान्नेति प्राप्ते —

तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात् ॥ ३ ॥

"चन्द्रमसो विद्युतं" इत्युक्तायास्तडितोऽध्युपरिष्टादसौ वरुणो निवेश्यः । कुतः ? सम्बन्धात् । तडिद्वरुणयोः सम्बन्धसत्वात् । विद्युत्पूर्व्विका हि वृष्टिर्भवति । यथा हि विशाला विद्युतस्तीव्रस्तनितनिर्घोषा जीमूतोदरे नृत्यन्त्य-थापः प्रपतन्ति विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वै"इति श्रवणात् । स्वसम्बन्धिवृष्टिगतनीराधिपतित्वेन वरुणस्य तडिता सम्बन्धः प्रसिद्धः । वरुणादुपरि तु इन्द्रप्रजापत्योर्निवेशः । स्थानान्तराभावात् पाठसामर्थ्याच्च । तदेवमर्चिरादि-प्रजापत्यन्ता द्वादशपर्व्वा त्रयोदशपर्व्वा वा ब्रह्मलोकपद्धतिरिति सिद्धम् ॥ ३ ॥

अथार्चिरादिविचारान्तरं अर्चिरादयो वर्त्मचिह्नान्युतार्चिरादिव्यक्तय आहोस्विद्विदुषां गमयितार इति सन्देहे

पूर्वोक्त अर्च्चिरादि वाक्य में संवत्सर के आगे तथा आदित्य के पहले वायु शब्द का सन्निवेश होता है क्यों कि "स वायुलोकं" यहाँ अविशेष में उपदिष्ट वायु शब्द का "यदा हवै पुरुषोऽस्मात् लोकात्" इत्यादि वाक्य में उक्त आदित्य का पूर्ववर्त्तिरूप में विशेष करके उपदेश है। इस प्रकार होने पर "मासेभ्यो देवलोकादादित्यं" इत्या-दि वृहदारण्यक-उक्त देवलोक भी वायु जानना होगा। "यह पवन देवताओं का गृह" इत्यादि स्थल में देवलोक को इस प्रकार कहा गया है। कोई कोई कहते हैं कि देवलोक पथ का सोपान विशेष है। यह देवलोक संवत्सर के आगे तथा वायु के पहले सन्निवेशित होगा। मास तथा संवत्सर के मध्य में वह नहीं रह सकता है। उनका परस्पर सम्बन्ध प्रसिद्ध है। अतएव संवत्सर तथा आदित्य के मध्य में देवलोक वायुलोक सन्निवेशित हुए हैं ॥ २ ॥

इसके अनन्तर "स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं" इति यहाँ इसका विचार होता है। यहाँ श्रुत-वरुणलोक का अर्च्चिरादि के पर्व्व रूप से सन्निवेश होगा किम्वा नहीं ? वायु की भाँति इसका व्यवस्थापक के अभाव के कारण सन्निवेश न हो इस प्रकार संगति का उत्तर देते हैं।—

चन्द्रमा के आगे जो विद्युत कहा गया है उस विद्युत् के आगे वरुण शब्द का सन्निवेश होता है। विद्युत् वरुण का परस्पर सम्बन्ध है। विद्युत् होने पर वृष्टि होती है। वेद में कहा गया है-"जब मेघ के उदर में विशाल विद्युत् तथा भयानक शब्द नृत्य करता है तब वर्षा होती है" इत्यादि। विद्युत् के पश्चात् जल होता है और इस जल का अधिपति वरुण है। अतएव विद्युत् के साथ वरुण का सम्बन्ध अति प्रसिद्ध है। वरुण के आगे इन्द्र और प्रजापति का निवेश है। क्योंकि उनके प्रवेश का और स्थान नहीं है तथा ऐसा ही पाठ देखा जाता है। इस प्रकार अर्च्चिरादि से लेकर प्रजापति पर्य्यन्त द्वादश पर्व्व हुए हैं। कोई कोई वायुतथा देवलोक को भिन्न भिन्न कह करके त्रयोदश पर्व्व कहते हैं। ब्रह्मलोक में गमन की पद्धति इस प्रकार जाननी चाहिए ॥ ३ ॥

अब इस विषय में अन्य एक विचार उठता है। पूर्वोक्त अर्च्चिरादि बारह पर्व्व चिन्ह विशेष हैं किम्वा व्यक्ति

वर्त्मचिह्नानीति तावत् प्राप्तं तच्चिह्नसारूप्येण निर्देशात् । तथाहि लोका निर्दिशन्ति पुराग्निर्गत्य गिरिं ततो घोषमिति । तत्तद्व्यक्तयो वा वाचनिकत्वात् । एवं प्राप्ते —

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥ ४ ॥

आतिवाहे पुरुषोत्तमेन नियुक्तास्तेऽर्च्चिरादयो देवा भवन्ति, न तु तानि ताश्चेति प्रतिपत्तव्यम्। तल्लिङ्गात् । आतिवाहिकलिङ्गं गन्तॄणां गमयितृत्वं तस्मात् "तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति" इत्यन्[illegible] श्रुतस्य पुरुषस्य गमयितृत्वावगमात् तत्साहचर्य्यादर्चिरादीनामपि तन्मन्तव्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥

चिह्नव्यक्तिपक्षयोरसिद्धेश्चैवं स्वीकार्य्यमित्याह—

उभयव्यामोहात् तत्सिद्धेः ॥ ५ ॥

रात्र्यादिषु मृतस्याहरादिसम्बन्धाभावादर्चिरादीनामनवस्थितेर्न मार्गचिह्नत्वम् । जडत्वेन नेतृत्वायोगाच्च न तत्तद्व्यक्तित्वमित्युभयपक्षव्यामोहात् तस्य श्रुतिसिद्धेश्च तेषामातिवाहिकत्वमित्यर्थः ॥ ५ ॥

पुरुषोत्तमेन प्रयुक्तोऽमानवः पुरुषोऽर्चिःपर्य्यन्तमागत्योपासकान्नयत्युत विद्युत्पर्य्यन्तमिति संशये भूपर्य्यन्तागतैः पार्षदैरजामिलादेर्नयनादर्चिःपर्य्यन्तमिति प्राप्ते—

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ६ ॥

ततो विद्युत्प्राप्त्यनन्तरं वैद्युतेन विद्युत्पर्य्यन्तागतेन तत्पार्षदेन विद्वान् ब्रह्म प्राप्यते । कुतः ? तच्छ्रुतेः । "चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति" इति तच्छ्रवणात् । वरुणादीनां तु तत्सहकारित्वेन

विशेष है ? अथवा ब्रह्मलोक प्राप्त कराने वाले देवता विशेष हैं ? चिह्न के साथ सादृश्य के वश उनको मार्ग का चिह्न विशेष स्थिर किया जाता है। लोक में भी दृष्टान्त देखा गया है। जैसा कि किसी एक गन्तव्य स्थान पर जाना हो तब कोई एक नदी, उसके पीछे कोई एक पर्वत, उसके पीछे कोई एक ग्राम इत्यादि चिह्न देखकर गमन किया जाता है। किम्वा वाचनिक के कारण वे सब व्यक्तिविशेष हैं। इस प्रकार के पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर उसके उत्तर में कहते हैं !—

पुरुषोत्तम के द्वारा अतिवाह कार्य्य में नियोजित वे सब अर्च्चिरादि देवतागण हैं। वे सब चिह्न वा व्यक्ति-विशेष नहीं हैं क्योंकि आतिवाहिक शब्द से गमनकारी पुरुष का वाहक बोध होता है। ये आतिवाहिक सकल दे-वता विद्वान् पुरुष को ब्रह्मलोक में ले जाते हैं। सुतरां "तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति" इसके अनुसार श्रुत पुरुष को गमयिता होने के कारण वह अमानव दूतों का सहकारी करके सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

चिह्न और व्यक्तिविशेष इन दोनों पक्षों की असिद्धि के लिये ऐसा स्वीकार करना होगा-इस उद्देश्य में कहते हैं-

रात्रि में मरने वाला का दिवसादि के सम्बन्ध का अभाव होने के कारण अर्च्चिरादि की अनवस्था घटती है। अतएव वे सब चिह्नरूप नहीं हो सकते हैं। और भी जड़ता के वश नेतृत्व की असम्भावना के हेतु वे सब व्यक्तिविशेष नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार उभय पक्ष असंगत हो गये हैं। विशेषतः श्रुति प्रसिद्ध होने के कारण वे सब देवता करके स्थिर हुए ॥ ५ ॥

पुरुषोत्तम के द्वारा प्रयुक्त अमानव पुरुष अर्च्चिः स्थान पर्य्यन्त आकर उपासकों को ले जाते हैं अथवा विद्यु-त्पर्य्यन्त आकर ले जाते हैं ? इस प्रकार के संशय में "भूतल पर्य्यन्त आकर अजामिलादि को ले गये थे" इसलिये उनका अर्च्चिःपर्य्यन्त आकर ले जाना सिद्ध है-इस प्रकार पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं ॥—

अनन्तर विद्युत्प्राप्ति के पश्चात् पार्षदगण विद्युत्पर्य्यन्त आकर उपासकों को ब्रह्मलोक में ले जाते हैं। क्योंकि-

[illegible] पद्धतिः साधारणी। अजामिलस्य विशेषत्वात् तथात्वं असाधारणमिति बोध्यम् ॥ ६ ॥

विद्यया [illegible] माख्याय गम्यं वक्तुमाह। स एतान् गमयतीति विषयवाक्यम्। तत्र बादरिमतं तावदुच्यते। अयमन मेधरा [illegible] न् परमेव ब्रह्म गमयतीत्युत कार्य्यं चतुर्म्मुखाख्यमिति वीक्षायां ब्रह्मशब्दस्य परस्मिन्नेव मुख्यत्वात् [illegible] त्यमृतत्वश्रवणाच्च परमेवेति प्राप्ते—

कार्य्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ७ ॥

कार्य्यमेव ब्रह्म गमयतीति बादरिर्मन्यते कुतः ? अस्येति। अस्य कार्य्यस्यैकदेशित्वात् गतिरुपपद्यते। न तु सर्व्वदेशस्य परस्येति भावः ॥ ७ ॥

विशेषितत्त्वाच्च ॥ ८ ॥

"प्रजा पतेः सभां वेश्मप्रपद्ये" इति छान्दोग्यश्रुत्या विशेषितत्वाच्च कार्य्यमेव गमयतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥ ९ ॥

"स एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावन्तो वसन्ति। तेषां इह न पुनरावृत्तिरस्ति" इति बृहदारण्यके योऽयमपुनरावृत्तिव्यपदेशः स तु सामीप्याभिप्रायेण भविष्यति। विद्वांसः कार्य्यं ब्रह्म प्राप्य तेन सह तदव्यवहितं परं ब्रह्म प्राप्नुवन्ति। ततः पुनर्नावर्त्तन्त इति ॥ ९ ॥

कदेत्यपेक्षायामाह—

कार्य्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥ १० ॥

कार्य्यस्य चतुर्म्मुखलोकपर्य्यन्तस्याण्डस्यात्यये विलये सति तदध्यक्षेण चतुर्म्मुखेन सहातः कार्य्यात् चतुर्म्मुखात् परं ब्रह्म प्राप्नोति। सह प्राप्तौ हेतुरभीति। ब्रह्मविदाप्नोति परमित्युपक्रम्य सोऽश्नुते [illegible] सह ब्रह्मणा" इति तदुक्तेरित्यर्थः। अत्र ब्रह्मणा चतुर्म्मुखेन सहेत्यर्थः ॥ १० ॥

स्मृतेश्च ॥ ११ ॥

"ब्रह्मणा सह ते सर्व्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदं" इति स्मर[illegible] तथा चार्चिषमित्यादावर्चिरादयः समिष्ठा हिरण्यगर्भं प्रापयन्तीति बादरिमुनेः सिद्धान्तः ॥ ११ ॥

तत्रव जैमिनेर्मतमाह—

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥ १२ ॥

परमेव ब्रह्म तद्ध्यातॄन् स गमयतीति जैमिनिर्मन्यते। कुतः ? मुख्यत्वात्। ब्रह्मशब्दस्य तदभिधायकत्वात्। न च गत्यनुपपत्तिः, स्वभक्तानां सर्व्वोपाधिविनिवृत्तिपूर्व्वकस्वपदाप्तिख्यातये भगवता यथागत्यनुमननात् ॥ १२ ॥

दर्शनाच्च ॥ १३ ॥

दहरविद्यायामथ "य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय" इत्यादि श्रुतम्। एषा गतिः परब्रह्मकर्म्मिकैव। गन्तव्यस्य तस्यामृतत्वादिधर्म्मदर्शनात्, गन्तुः स्वरूपाभिनिष्पत्तिदर्शनात् च। न चैतत् सर्व्वं कार्य्यब्रह्मपक्षे सङ्गच्छेत। नापि तस्यैतत् प्रकरणं, किंतु परस्यैवेति। काठकेऽपि शतं चेत्यादिना गतिः पठिता, साऽपि परकर्म्मिकैवामृतत्वश्रुतेरन्यत्र धर्म्मादिति तस्यैव प्रकरणात् च ॥ १३ ॥

किञ्च—

न च कार्य्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ॥ १४ ॥

प्रतिपत्तिर्ज्ञानम्। अभिसन्धिरिच्छा। न हि विदुषो ज्ञानपूर्व्विका इच्छा कार्य्यब्रह्मविषयाऽस्ति अपुमर्थत्वात्

श्रुति में "चन्द्रमसो विद्युतं" इत्यादि वाक्य से विद्युत्पर्य्यन्त आगमन का कथन है। वरुणादि उनके सहकारीमात्र हैं। यह पद्धति साधारणी है। अजामिल को ले जाना विशेष नियम है ऐसा जानना चाहिए ॥ ६ ॥

इस प्रकार गति कहकर गम्य का निर्देश करते हैं। "स एतान् गमयति" यह विषय वाक्य है। अब बादरिमत पहले कहते हैं। "अयममानवः पुमान् परमेव ब्रह्म गमयति" इत्यादि वाक्य से परब्रह्म धाम में अथवा चतुर्म्मुख ब्रह्मा के लोक में ले जाना बताया है ? यह शंका होने पर ब्रह्मशब्द परब्रह्म में मुख्य रूप से व्युत्पन्न है। विशेषतः उससे उर्द्ध लोक में गमनकारी को अमृतत्व का लाभ होता है–ऐसा सुना जाता है। अतएव परब्रह्मधाम का बोध होता है—इस प्रकार के पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं ॥—

बादरि नामक ऋषि के मत में ब्रह्मलोक-गमन बोलने पर चतुर्म्मुख ब्रह्मा का लोक समुझा जाता है क्योंकि अपरिच्छिन्न परब्रह्मधाम में गमन असम्भव है। इस कार्य्य के एकदेशीत्व होने के कारण परिच्छिन्न प्राप्त कार्य्य रूप ब्रह्मधाम में अर्थात् चतुर्म्मुख ब्रह्मा जी के धाम में गमन संगत है ॥ ७ ॥

विशेष "प्रजापति की सभा में प्राप्त होता है" इत्यादि छान्दोग्य श्रुति से कार्य्य ब्रह्म का कथन है ॥ ८ ॥

"स एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावन्तो वसन्ति। तेषां इह न पुनरावृत्तिरस्ति" अर्थात् वह अमानव पुरुष विद्युल्लोक में आकर ब्रह्मलोक को ले जाता है, वे श्रेष्ठ सब विद्वान् ब्रह्मलोक में भगवच्छक्तिनिष्ठ हो वास करते हैं, फिर उनकी प्रपञ्च में आवृत्ति नहीं है" इत्यादि वृहदारण्यक में जो पुनरावृत्ति के-निषेध का व्यपदेश है, उसे सामीप्य अभिप्राय से जानना चाहिए। सकल विद्वान् कार्य्यब्रह्म को प्राप्त होकर उनके साथ उनसे अव्यहित अर्थात् व्यवधान रहित परब्रह्म को प्राप्त होते हैं, उससे फिर नहीं फिरते हैं ॥ ९ ॥

किस समय परब्रह्मलोक को गमन करते हैं–इसे कहते हैं।—चतुर्म्मुख ब्रह्मा के लोक पर्य्यन्त ब्रह्माण्डप्रलय प्राप्त होने पर उसके अध्यक्ष ब्रह्मा जी के साथ परब्रह्म को प्राप्त होते हैं। "ब्रह्मवित् परधाम को प्राप्त होता है" इत्यादि आरम्भकर "वह ब्रह्मा के साथ समस्त कामना को भोग करता है" इत्यादि वेद शास्त्र में कहा गया है। यहाँ "ब्रह्मणा" शब्द का अर्थ चतुर्म्मुख ब्रह्मा के साथ जानना चाहिए ॥ १० ॥

स्मृति में भी कहा है–"प्रलय होने पर वे सब ब्रह्मा जी के साथ परम पद को प्राप्त होते हैं"। "अर्च्चिषम्" इत्यादि वाक्य से अर्च्चिरादि सकल देवता उपासक पुरुष को चतुर्म्मुख ब्रह्माजी के लोक को ले जाते हैं–यह बादरिमुनि का सिद्धान्त है ॥ ११ ॥

इस विषय में जैमिनी ऋषि का मत दिखाते हैं। स अमानव पुरुष उन उपासकों को परब्रह्म को ही प्राप्त कराता है ऐसा जैमिनी जी मानते हैं। ब्रह्मशब्द की मुख्यवृत्ति परब्रह्म में है। भगवान् ने निजभक्त को समस्त उपाधि विनिवृत्ति पूर्वक निजपद लाभ कराने के लिये ऐसी गति का अनुमोदन किया है ॥ १२ ॥

दहर विद्या में भी "यह उपासक जीव इस शरीर से उत्क्रान्त होकर ब्रह्मलोक में गमन करता है" ऐसा वचन दृष्ट होता है। यह गति परब्रह्मविषयिणी है। गन्तव्यकारी का अमृतत्वादि धर्म्म के दर्शन होने के कारण तथा स्वरूप की अभिनिष्पत्ति-दर्शन के कारण यह गमन परब्रह्म विषयक है। यह सब कार्य्य कार्य्यब्रह्म पक्ष में नहीं देखा जाता है। और भी है कि यह प्रकरण कार्य ब्रह्म सम्बन्धी नहीं है किन्तु परब्रह्म सम्बन्धी है। काठक में "शतञ्च" इत्यादि वाक्य में जो गति कही गई है वह परब्रह्मविषयिणी है। वह भी परब्रह्म सम्बन्धी प्रकरण है। वहाँ भी–अमृतत्वादि धर्म्म का श्रवण है ॥ १३ ॥

और भी कहते हैं। प्रतिपत्ति का अर्थ ज्ञान, अभिसन्धि अर्थात् इच्छा। विद्वान् की ज्ञान पूर्विका जो इच्छा है वह कार्य ब्रह्म विषयिणी नहीं है क्योंकि उसमें उसका पुमर्थ नहीं होता है। अतएव वह इच्छा परब्रह्मविषयक

विषया [illegible]षयैव । यद्विषया सा भवेत् तदेव प्राप्यं तत्क्रतुन्यायात् । तथा वामानवः पुरुषः पुरुषोत्तममेव न मेधग[illegible]यतीति जैमिनेः सिद्धान्तः ॥ १४ ॥

भगव[illegible]ाणो [illegible]मतमाह—

तत्[illegible] अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा च दोषात् तत्क्रतुश्च ॥ १५ ॥

[illegible]नामाद्युपासकाः प्रतीकालम्बनास्तद्भिन्नाः सनिष्ठादयो ब्रह्मोपासका अप्रतीकालम्बनास्तान् सर्व्वान् नयतीति भगवान् बादरायणो मन्यते । कार्य्योपासकान् परोपासकान् वा नयतीत्यन्यतरनियमं न स्वीकरोतीत्यर्थः । कुतः ? उभयथेति । मतद्वयेऽपि विरोधादित्यर्थः । आद्ये परं ज्योतिरित्यादिविरोधः, द्वितीये तु पञ्चाग्निविद्यावतामर्चिरादिगतिविरोधः । तत्क्रतुन्यायोऽप्येतमर्थं दर्शयति यथा क्रतुरित्यादिना । नामादिप्रतीकोपासकानां तु नार्चिरादिना परप्राप्तिः तत्क्रतुविरहात् । किंतु शब्दशास्त्रादिलक्षणनामादिषु स्वातन्त्र्यादिप्राप्तिर्भवति । "स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य कामचारः" इत्यादि छान्दोग्यवाक्यात् । पञ्चाग्निविद्यावतां तेन वर्त्मना सत्यलोकप्राप्तिस्तु स्वात्मानुसन्धिप्रभावात् । तदुपर्य्यपीतिन्यायेन तल्लोके तेषां ब्रह्मविद्यासिद्धेः । तद्वर्त्मना गतानामनावृत्तिश्रुतिः सङ्गता ॥ १५ ॥

अथ निरपेक्षाणां केषांचित् स्वयं भगवतैव स्वपदप्राप्तिरभिधीयते । "एतद्विष्णोः परमं पदं ये नित्योद्युक्ताः संयजन्ते न कामान् तेषामसौ गोपरूपः प्रयत्नात् प्रकाशयेदात्मपदं तदैव ओङ्कारेणान्तरितं यो जपति गोविन्दस्य पञ्चपदं मनुं तं तस्यैवासौ दर्शयेदात्मरूपं तस्मात् मुमुक्षुरभ्यसेन्नित्यशान्त्यै" इति । इह संशयः । निरपेक्षा अप्यातिवाहिकैरेव परं पदं विशन्ति स्वयं भगवता वेति । द्वावेव मार्गावित्यादौ ब्रह्मविदामर्चिरादिगतिविनिर्णयात् तेऽपि तैरेव तद्विशन्ति । श्रुतिश्च । भगवतो हेतुकर्तृत्वं विवक्षत्यविरुद्धमेवं प्राप्ते ब्रवीति—

है । "तत् क्रतु" इति न्याय से इच्छा जिस प्रकार की होती है उसकी प्राप्ति भी वैसी ही होनी चाहिए । अतएव अमानव पुरुष उपासकों के लिये पुरुषोत्तम के पास ले जाता है यह जैमिनी जी का सिद्धान्त है ॥ १४ ॥

अब निजमत कहते हैं कि–नामादि उपासक प्रतीकाश्रय पुरुष तथा उनसे भिन्न सन्निष्टादि ब्रह्मोपासक अप्रतीकाश्रय पुरुष हैं उन सबको परधाम में ले जाते हैं–ऐसा भगवान् बादरायण मानते हैं । इस विषय में कार्य्योपासकों वा परब्रह्मोपासकों को लेते हैं–ऐसा कोई अन्य नियम नहीं है । पूर्वोक्त दोनों मतों में ही विरोध है । प्रथमपक्ष में "परं ज्योतिः" इत्यादि वाक्य के साथ द्वितीयपक्ष में पञ्चाग्निविद्याविशिष्ट व्यक्ति के अर्च्चिरादि गति बोधक वाक्यसमूह के साथ विरोध घटता है । तत् क्रतु न्याय भी इसी अर्थ को दिखाता है "यथाक्रतु" इत्यादि के द्वारा जानना चाहिए । नामादि प्रतीकोपासकों की अर्च्चिरादि से परप्राप्ति नहीं है क्योंकि उनको "तत् क्रतु" का अभाव है । परन्तु शब्द शास्त्रादि लक्षण नामादि में स्वातन्त्र्य-प्राप्ति है । "जो नाम ब्रह्म की उपासना करता है वह नाम की जहाँ तक गति है, उस पद को लाभ करता है" इत्यादि छान्दोग्यश्रुति में इस प्रकार कथन है । पञ्चाग्निविद्या वाले व्यक्तियों के मध्य में जो सब आत्मानुसन्धान के द्वारा प्रभावशाली हुए हैं, वे ही सब अर्च्चिरादिमार्ग के द्वारा सत्यलोक में गमन करते हैं, अन्य नहीं करते हैं । "उसके ऊपर ब्रह्मलोक है" इत्यादि न्याय-युक्ति से उस लोक में उनकी ब्रह्मविद्या की सिद्धि देखने में आती है । अतएव अर्च्चिरादिमार्ग के द्वारा अनावृत्ति संगत है ॥१५॥

इसके अनन्तर निरपेक्ष किसी किसी की स्वयं भगवान् के द्वारा ही निजपद प्राप्ति होती है—इसे कहते हैं । "यह विष्णु के परमपद है, जो निष्कामभाव से नित्य युक्त हो इस विष्णु के परमपद की अर्च्चना करते हैं, गोपालरूपी भगवान् उन को यत्न के साथ शीघ्र ही आत्मपद प्रदान करते हैं । जो ओंकार से सम्पुटित गोविन्द के पञ्चपद मन्त्र का जप करता है, भगवान् उसको आत्मरूप प्रदर्शन कराते हैं । अतएव मुमुक्षुगण नित्य शान्ति के

विशेषं च दर्शयति ॥ १६ ॥

ब्रह्मविदामातिवाहिकैस्तत्प्राप्तिरित्येतत् सामान्यम् । ये खलु निरपेक्षाः परमार्तास्तेषां तु स्वयं भ[illegible]प्तिविलम्बमसहिष्णुना सेति विशेषोऽस्ति । तं श्रुतिर्दर्शयति एतद्विष्णोरित्यादिना । 'ये तु सर्व्वाणि [illegible] संन्यस्य मत्पराः । अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् । भ[illegible] चिरात्पार्थमय्यावेशितचेतसां" इति स्मृतेश्च । तदैव तेषां तनुभंगस्तनुयोगश्चेति च शब्दात् । न चार्चिरादिनिरपेक्षा गतिर्नास्तीति शक्यं वदितुम् । "नयामि परमं स्थानमर्चिरादिगतिं विना । गरुडस्कन्धमारोप्य यथेच्छमनिवारित" इति वाराहवचनात् । तस्माद् यथोक्तमेव सुष्ठु ॥ १६ ॥

॥ इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

अकैतवे भक्तिसवेऽनुरज्यन् स्वमेव यः सेवकसात् करोति ।
ततोऽतिमोदं मुदितः स देवः सदा चिदानन्दतनुर्धिनोतु ॥

अस्मिन्पादे मुक्तानां स्वरूपनिरूपणपूर्व्वकमैश्वर्य्यभोगादि निरूप्यते । प्रजापतिवाक्ये श्रूयते । "एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्मात् शरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः" इति । अत्र संशयः । किं देवादिरूपवत् साध्येन रूपेण सम्बन्धः स्वरूपाभिनिष्पत्तिरुत स्वाभाविकस्याविर्भाव इति । किं प्राप्तम् ।

लिये इसका अभ्यास नित्य करते हैं इत्यादि । यहाँ संशय है कि निरपेक्ष भक्तगण आतिवाहिक देवताओं के साथ परम पद लाभ करते हैं अथवा स्वयं भगवान् के द्वारा उसे प्राप्त करते हैं ? "परमपद प्राप्ति के दो ही मार्ग हैं" इत्यादि श्रुति में ब्रह्मविद्गण की अर्च्चिरादि गति के निर्णय के हेतु वे सब अर्च्चिरादिदेवताओं के साथ परम पद में प्रवेश करते हैं–ऐसा बोलना उचित है । विशेषतः भगवान् के द्वारा कर्त्तृत्व विरुद्ध है–इस प्रकार का पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर उसके उत्तर में कहते हैं ।—

ब्रह्मविद्गणों की आतिवाहिकों के द्वारा परमपद प्राप्ति–यह सामान्य पर है । और जो सब निरपेक्ष, परम–आर्त्तभक्तगण हैं, उनकी परमपद प्राप्ति के विलम्ब के असहनकारी स्वयं भगवान् के द्वारा परमपद प्राप्ति होती है वह एक विशेष नियम है । "एतद् विष्णो"रित्यादि वाक्य से उस विशेषता को श्रुति दिखाती है । स्मृति में भी कहा है । "जो सब समस्त कर्म्म मुझमें न्यास कर मत्परायण हो अनन्य योग से मदावेश चित्त के द्वारा मेरा ध्यान तथा उपासना करते हैं, मैं शीघ्र ही उन सब का मरणशाली संसार सागर से उद्धार करता हूँ" इत्यादि । "च" शब्द से उस समय उनका शरीरभंग तथा शरीरयोग होता है । अर्थात् लिंग शरीर का नाश तथा अप्राकृत दिव्य सेवोपयोगी पार्षद शरीर का लाभ होता है । अर्च्चिरादि निरपेक्ष गति नहीं है–ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि–वराहपुराण में ऐसा वचन है "मैं मेरे एकान्तभक्त को अर्च्चिरादिगति के बिना ही गरुड़ जी के कन्धे पर बिठा कर यथेच्छाक्रम से परमस्थान निज धाम को ले आता हूँ" । अतएव उक्त विषय सुसंगत हुआ है ॥ १६ ॥

इति गोविन्दभाष्यानुवाद में चतुर्थ अध्याय का तृतीयपाद ।

जो फलाभिसन्धि रहित अकैतव भक्ति महायज्ञ में सन्तुष्ट होकर अपने को भक्ताधीन कर लेते हैं तथा भक्तों को परम प्रसन्नता का प्रदान करते हैं, वे विज्ञान सुखघन–मूर्त्ति श्रीगोविन्द सर्वदा हम सबको सन्तोष करें ॥०॥

इस पाद में मुक्तपुरुषों का स्वरूप निरूपण पूर्वक ऐश्वर्य्य भोगादि का निरूपण करते हैं । प्रजापति वाक्य में

विषया [illegible] सम्बन्ध इति । अभिनिष्पत्तिवचनात् । अन्यथा तद्वचनं व्यर्थं स्यात् । मोक्षशास्त्रं च पुमर्थावबोधि न मेधर [illegible] स्वाभाविकरूपसम्बन्धस्तन्निष्पत्तिरुच्यते, स्वाभाविकस्य स्वरूपस्य प्रागपि सतः पुमर्थाप्रतीतिः । तस्मात् भगव [illegible] सम्बन्धः सेति प्राप्ते—

तद [illegible]

सम्पद्याविर्भावः स्वेनशब्दात् ॥ १ ॥

ज्ञानवैराग्यनिषेवितया भक्त्या परं ज्योतिरुपसम्पन्नस्य जीवस्येह कर्म्मबन्धविनिर्मुक्तगुणाष्टकविशिष्टस्वरूपोदयलक्षणोऽवस्थानविशेषः स्वरूपाविर्भावः कथ्यते । कुतः ? स्वेनशब्दात् । स्वेनेति स्वरूपविशेषणादित्यर्थः । आगन्तुकरूपपरिग्रहेऽनर्थकं तत् स्यात् । असत्यपि तस्मिन् तस्य स्वकीयरूपत्वसिद्धेः । न चाभिनिष्पत्तिवचनं व्यर्थम् । इदमेकं सुनिष्पन्नमित्यादिष्वाविर्भावेऽपि तच्छब्दवीक्षणात् । न च तस्य पूर्व्वं सतः पुमर्थत्वं न प्रतीतं तादृगवस्थायाः पूर्व्वमनुदयात् । न चात्रोपायवैयर्थ्यं तदुदयार्थत्वेन सार्थक्यात् । यत्तु स्वप्रकाशचिन्मात्रस्यात्मनः परं ज्योतिरुपसम्पन्नस्य निवृत्तनिखिलप्रकृत्यध्यासदुःखतयावस्थितिस्तन्निष्पत्तिरित्याहुस्तन्न "रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" इति मुक्तावानन्दातिशयश्रवणात् ॥ १ ॥

ननु परं ज्योतिरुपसम्पन्नस्य मुक्तिः कस्मादवगम्यते तत्राह—

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥

स्वरूपाभिनिष्पन्नोऽयं मुक्त एव । कुतः ? प्रतिज्ञानात् । पूर्व्वत्र य आत्मेति प्रकृतस्य जीवस्य "एतं त्वेव ते

सुना जाता है–"इस प्रकार यह संप्रसाद जीव इस शरीर से उठकर पर ज्याति को सम्पन्न हो निज स्वरूप में अवस्थान करता है । वह उत्तम पुरुष है" इत्यादि । यहाँ संशय है कि क्या देवादिरूप की तरह साध्यरूप में सम्बन्ध स्वरूप अवस्थान है किम्वा स्वाभाविक स्वरूप का आविर्भाव है ? अभिनिष्पत्ति वचन के दर्शन से साध्यरूप में सम्बन्ध वोलना चाहिए नहीं तो वह वचन ही मिथ्या होता है तथा मोक्षशास्त्र के पुरुषार्थबोध का व्याघात होता है । यदि स्वाभाविक स्वरूप में सम्बन्ध अभिनिष्पत्ति का अर्थ किया जाता है तब तो पहले जो था ऐसे स्वाभाविक रूप के लाभ में पुरुषार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती है । इसलिये साध्यरूप में सम्बन्ध वह है–इस प्रकार का पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर उसके उत्तर में कहते हैं ।—

ज्ञान-वैराग्य निसेवित भक्ति के द्वारा परज्योति उप प्राप्त जीव का कर्म्मबन्धन-विनिर्म्मुक्त अष्टगुणविशिष्ट स्वरूप उदय लक्षण अवस्थान विशेष का नाम स्वरूप आविर्भाव-ऐसा कहा जाता है क्योंकि वेद में "स्वेन" अर्थात् निज शब्द का प्रयोग देखा गया है । स्वेन शब्द स्वरूप पद का विशेषण है । आगन्तुक किसी एक रूप के परिग्रह को स्वीकार करने पर "स्वेन" यह शब्द अनर्थक हो जाता है । विशेष करके "स्वेन" यह शब्द नहीं होने पर भी केवल स्वरूप-पद के द्वारा ही स्वकीय-रूपत्व की सिद्धि हो सकती है । अभिनिष्पत्ति शब्द भी व्यर्थ नहीं होता है क्योंकि "इदमेकं सुनिष्पन्नं" इत्यादि स्थल में आविर्भाव में ही निष्पत्ति का अर्थ प्रसिद्ध है । पहले था इस लिये स्वरूपप्राप्ति पुरुषार्थ नहीं है–ऐसा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उस प्रकार अवस्था के पहले उदय नहीं था । यहाँ उपाय अर्थात् साधन की व्यर्थता स्वीकार नहीं की जा सकती है, जिससे कि उसके द्वारा अनुदित फल के उदय में ही उसकी सार्थकता देखी जाती है, तो भी कोई कोई स्वप्रकाश चिन्मात्र परज्योतिः स्वभावप्राप्त आत्मा की निखिल प्रकृति के द्वारा अध्यासरूप दुःख की निवृत्ति की अवस्थिति को निष्पत्ति कहते हैं उसकी संगति नहीं हो सकती है क्योंकि "वह जीव रस स्वरूप ब्रह्म का लाभ कर आनन्दमय होता है" इत्यादि श्रुति में मुक्तिकाल में आनन्दातिशय का श्रवण है ॥ १ ॥

अच्छा ? परज्योतिः स्वभाव प्राप्त जीव की मुक्ति किस प्रकार जानी जा सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है—

भूयोऽनुव्याख्यास्यामि" इत्यादिभिर्जागराद्यवस्थात्रयविनिर्मुक्ततया प्रियाप्रियहेतुभूतकर्म्मनिर्मितशरी[illegible] च व्याख्यातुं प्रजापतिना प्रतिज्ञातत्वात् । तस्मात् कर्म्मसम्बन्धतन्निर्म्मितशरीरादिविनिर्मुक्तस्य [illegible] पावस्थितिरिह स्वरूपाभिनिष्पत्तिः सैव मुक्तिरिति ॥ २ ॥

परं ज्योतिरुपसम्पत्युत्तरा तन्निष्पत्तिरुक्ता । तत्रैव विमर्शान्तरम् । किमत्रादित्यमण्डलमेव तज्ज्यो[illegible] ब्रह्मेति सन्देहे तन्मण्डलमिति प्राप्तम् । तद्विभिद्य ब्रह्मप्राप्तेः श्रवणात् । अर्चिरादिके पथि यदादित्यलोकशब्दना[illegible] तत्राह—

आत्मा प्रकरणात् ॥ ३ ॥

आत्मैव तज्ज्योतिर्नत्वादित्यमण्डलं । कुतः ? प्रकरणादिति । यद्यपि ज्योतिःशब्दः साधारणस्तथाप्येषः प्रस्तावादात्मनोऽभिधायी । देवो जानाति मे मन इत्यत्र युष्मदर्थस्येव देवशब्दः । इहात्मशब्दो ज्ञानानन्दरूपं विभुवस्तु प्रतिपादयति । अतति प्रकाशते इति, अत्यते गम्यते विमुक्तैरिति, अतति व्याप्नोतीति च व्युत्पत्त्या तस्य सिद्धेः । उपनिषच्छब्दवदस्यानेकार्थबोधकत्वं । तच्च वस्तु पुरुषाकारमिति स्वीकार्य्यम् । स उत्तमः पुरुष इति विवरणात् । यदुपसम्पन्नं परंज्योतिः स तूत्तमः पुरुषो हरिरिति तदर्थः ॥ ३ ॥

अथ तत्रैवेदं विमृश्यते । संव्योमपुरस्थं परं ज्योतिरुपसम्पन्नो मुक्तस्तत् सालोक्येन तिष्ठेदुत तत्सायुज्येनेति सन्देहे नृपपुरं प्रविष्टस्य लोके तथास्थितिदृष्टेस्तत्सालोक्येनेति प्राप्ते—

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

तदुपसम्पन्नः सोऽविभागेन तत्सायुज्येनैव तिष्ठतीति मन्तव्यम् । कुतः ? दृष्टत्वात् । "यथा नद्यः स्यन्दमानाः

स्वरूप अभिनिष्पन्न जीव को मुक्त कहा जाता है क्योंकि प्रजापति वाक्य में पहले "जो आत्मा" इस प्रकार उपक्रम कर उसकी "इन सकल अवस्थाओं की पुनर्वार व्याख्या करेंगे" इस प्रकार प्रतिज्ञा के पश्चात् जागरादि अवस्था त्रय से विनिर्म्मुक्त तथा प्रिय-अप्रिय हेतु भूत कर्म्मनिर्म्मित शरीर से विनिर्म्मुक्त के रूप से जीव की मुक्तावस्था की व्याख्या की गयी है । अतएव कर्म्मसम्बन्ध तथा उससे निर्म्मित शरीरादि से विनिर्म्मुक्त हो स्वाभाविक स्वरूप में अवस्थान स्वरूप अभिनिष्पत्ति है और उसका नाम ही मुक्ति है ॥ २ ॥

परज्योतिः स्वभाव प्राप्ति के पश्चात् वह निष्पत्ति कही गई है । वहाँ और एक परामर्श उठता है कि–यहाँ ज्योतिः शब्द आदित्यमण्डल है किम्वा परब्रह्म ? इस प्रकार के सन्देह में आदित्यमण्डल है–ऐसा प्राप्त होता है क्योंकि आदित्यमण्डल को भेद करके ही ब्रह्मप्राप्ति कही गई है और विशेष करके अर्चिरादिमार्ग में आदित्यलोक का स्पष्ट कथन है । इस प्रकार पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं ॥—

आत्मा ही वह ज्योति है, आदित्यमण्डल नहीं है । यद्यपि ज्योतिःशब्द से आदित्यमण्डल का साधारण बोध है तो भी प्रस्ताव के अनुसार यहाँ आत्मा का ही बोध हो रहा है । "देव मेरे मन को जानते हैं" यहाँ जिस प्रकार देव शब्द युस्मद् अर्थ अर्थात् आप मेरे मन को जानते हैं–ऐसा बोध होता है, ठीक उसी प्रकार ज्योतिः शब्द से आत्मा का बोध है । यहाँ आत्मा शब्द से ज्ञानानन्दरूप विभुवस्तु का प्रतिपादन है । जो प्रकाश स्वभावक तथा मुक्तों का लब्ध, व्यापक है–इस प्रकार की व्युत्पत्ति के द्वारा आत्मशब्द का ऐसा अर्थ सिद्ध होता है । उपनिषद् शब्द की तरह आत्मशब्द अनेक अर्थ पर है । यह आत्मवस्तु फिर पुरुषाकार है–ऐसा अवश्य स्वीकार करना होगा । "वह उत्तम पुरुष" इस प्रकार का विवरण शास्त्रसिद्ध है । वह परम ज्योतिरूप पदार्थ ही उत्तम पुरुष श्रीहरि है यह उस वाक्य का तात्पर्य है ॥ ३ ॥

अब उक्त वाक्य में अन्य एक परामर्श उठता है । संव्योमपुर स्थित परज्योतिः स्वरूप प्राप्त मुक्त जीव केवल सालोक्य लाभ करता है किम्वा उसका ब्रह्म के साथ सायुज्य घटता है ?–इस प्रकार के सन्देह उठने पर नृपपुर

विधया [illegible]छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यं" इति मुण्डके न मेधस[illegible]णात्। सायुज्यं किल सहयोग एव। "य एवं विद्वानुदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमानं गत्वा-[illegible]युज्यं गच्छति" इत्यादितैत्तिरीयकात्। सालोक्यादिकं तु तस्यैव प्रकारः न चैवं विरहेऽव्याप्तिः। [illegible]स्फूर्त्या महिमसंयोगेन च तत्सत्वात्। न च दृष्टान्तेन स्वरूपाभेदः शक्यः। नीरे नीरान्तरस्यैकीभाव-व्यवहारेऽप्यन्तर्भेदस्य सत्त्वात् इतरथा वृद्धयाद्यनापत्तिः ॥ ४ ॥

अथ मुक्तस्य भोगान्निरूपयिष्यता तद्धेतुभूतः सत्यसङ्कल्पत्वादिगुणगणो दिव्यविग्रहश्च निरूपणीयः। तत्रादौ गुणा निरूप्यन्ते। तथा हि परं ज्योतिरुपसम्पन्नः केनचित् गुणगणेन विशिष्ट आविर्भवति उत चिन्मात्र एव सन् किं वोभयाविरोधात् उभयविधस्वरूपः सन्निति विषये जैमिनेर्म्मतं तावदाह—

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ५ ॥

ब्राह्मेण ब्रह्मणा निर्वृत्तेन अपहतपाप्मत्वादिना सत्यसंकल्पत्वान्तेन गुणगणेन विशिष्टः सन्नाविर्भवति। कुतः उपेति। प्रजापतिवाक्ये तस्य गुणगणस्य जीवेऽप्युपन्यासात्। आदिशब्दात्तद्गुणप्रयुक्ता मुक्तव्यवहारा जक्षण-क्रीडनादयः। तेभ्यस्तेन विशिष्टं मुक्तस्वरूपमेवाविर्भवतीति जैमिनिर्म्मन्यते। स्मृतिश्चैवमाह "यथा न ह्रीयते ज्योत्स्ना" इत्यादिना ॥ ५ ॥

प्रवेशी व्यक्ति का जिस प्रकार सालोक्य देखा जाता है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्म सालोक्य होवे–इस प्रकार के पूर्वपक्ष की संगति करते हैं।—

ब्रह्म उपसम्पन्न जीव अविभाग से ब्रह्मसायुज्य भी लाभ करता है क्योंकि वेद में ऐसा ही देखा जाता है। मुण्डकोपनिषद् में कहा है–"जिस प्रकार नदियाँ बहती हुई समुद्र में नाम रूप छोड़कर मिल जाती हैं, ठीक उसी प्रकार विद्वान् नाम रूप छोड़कर परात्पर दिव्यपुरुष में सायुज्य लाभ करता है। यहाँ सायुज्य शब्द का अर्थ सह-योग है। तैत्तिरीयक में भी कहा गया है कि "जो विद्वान् इस प्रकार अवगत होकर उत्तरायण में मृत्यु को प्राप्त होता है, वह देवताओं की महिमा प्राप्त होकर आदित्य के साथ सायुज्य गति का लाभ करता है"। सालोक्यादिक सायुज्यमूलक मुक्ति के प्रकार विशेष हैं। अर्थात् सायुज्यप्राप्तव्यक्ति का उस लोक में अवस्थान सालोक्य, ब्रह्म रूप प्राप्ति सारूप्य, ब्रह्म के निकट अवस्थान सामीप्य, समान ऐश्वर्य्यादि प्राप्ति सार्ष्टि—इस प्रकार अवान्तर फल जानना चाहिए। सायुज्य दो प्रकार का है, सम्भोगसायुज्य तथा विरहसायुज्य। सम्भोगसायुज्य स्पष्ट है। विरह सायुज्य में भी उसकी अव्याप्ति नहीं है। विरहसायुज्य में भी अन्तर स्फूर्त्ति तथा महिमा संयोग होने के कारण उसकी स्थिति है। समाधि परायण व्यक्ति को विरह रसास्वादन के समय में भी सालोक्य अवस्थान सहज में उपलब्ध होता है। नदी का समुद्र के सायुज्य दृष्टान्त प्रदर्शित होने पर भी वास्तविक सायुज्य प्राप्ति में जीव और ब्रह्म के अभेद की आशङ्का नितान्त अकर्त्तव्य है। जल में जलान्तर के एकीभाव के व्यवहार में भी उनका अन्तर्गत भेद अवश्य रहता है। जल में जलान्तर का मिलन होना उनके अभेद का ज्ञापक हो तो उस मिलन में जल का ह्रास वा वृद्धि नहीं होती। अतएव जल में जल का मिलन हो जाने पर भी भीतर भेदभाव रहता ही है ॥ ४ ॥

अब मुक्तपुरुष के भोगों का निरूपण करते हुए पहले उनके हेतुभूत सत्यसंकल्पादि गुण-समूह तथा दिव्य-विग्रह का निरूपण करते हैं। प्रथम गुणों का निरूपण किया जाता है। परज्योति सम्पन्न जीव गुण-विशिष्ट होकर आविर्भूत होता है किम्वा केवल चिन्मय होकर अथवा अविरोध उभय प्रकार स्वरूप से आविर्भूत है ?—इस प्रकार के सन्देह में पहले जैमिनी ऋषि का मत कहते हैं। ब्रह्मसम्पन्न जीव अपहत पाप्मत्व से लेकर सत्यसंकल्प पर्य्यन्त गुणों से विशिष्ट होकर आविर्भूत होता है क्योंकि प्रजापति वाक्य में ऐसा बोध होता है कि ईश्वर के

चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥ ६ ॥

ब्रह्मज्ञानाद्विप्लुष्टाविद्यो मुक्तश्चिद्रूपे ब्रह्मण्युपसम्पन्नश्चिन्मात्रेणाविर्भवति। कुतः ? तदिति[illegible] द्वितीयस्मिन्मैत्रेय्युपाख्याने। "स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरे अयमात्मा[illegible] कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" इति चैतन्यमात्रत्वेनावधारणात्। अत एव निर्गुणचैतन्यं जीवस्वरूपमित्य[illegible] अपहतपाप्मादयः शब्दास्त्वविद्यात्मकेभ्यो विकारसुखादिभ्यो धर्म्मेभ्यस्तस्य व्यावृत्तिं बोधयन्तः कथञ्चित्तत्रैव नेया इत्यौडुलोमिर्मन्यते ॥ ६ ॥

अथ स्वमतमाह—

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ ७ ॥

एवमपि चिन्मात्रस्वरूपत्वनिरूपणे सत्यपि तस्मिंस्तस्य गुणाष्टकस्याविरोधं भगवान् बादरायणो मन्यते। कुतः ? उपन्यासेत्यादेः। प्रजापतिवाक्ये तदुपन्यासात् प्रमाणात्तस्य पूर्व्वस्य जैमिन्युक्तस्यापि तत्र सत्त्वात्। श्रुतित्वाविशेषेणोभयोर्वाक्ययोः समप्रामाण्यादुभयविधरूपत्वं मुक्तस्येति सिद्धान्तः। अत्र प्रज्ञानघन एवेति श्रुतेर्निर्गुणचिन्मात्र जीवस्वरूपमित्यर्थो बादरायणस्याभिमतः। एवमप्यविरोधमित्युक्तेः। न चैवमवधारणबाधः। सर्व्वांशेन जडव्यावृत्त-स्वप्रकाशोऽयमात्मेति तस्माद्वाक्यादेव सुव्यक्तेः। न चेदृशेऽपि जीवे वाक्यान्तरावगतस्य तस्य गुणाष्टकस्य सम्बन्धो विरुध्यते। यथा कार्त्स्न्येन रसघनेऽपि सैन्धवघने दृगादिग्राह्या रूपकाठिन्यादयो न विरुध्येरन्निति। तस्मादपहतपा-प्मत्वादिना गुणाष्टकेन विशिष्टो ज्ञानस्वरूपो जीव आविर्भवतीति ॥ ७ ॥

अथ मुक्तस्य सत्यसङ्कल्पत्वं निरूपयति। छान्दोग्ये "स तत्र पर्य्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा

गुण-समूह मुक्तजीव में उपन्यस्त हैं। सूत्रोक्त आदि शब्द के द्वारा ब्रह्म-गुण आहार-विहारादिक भी मुक्त पुरुष में व्यवहार बोध्य हैं। उन गुणों से विशिष्ट मुक्तस्वरूप का आविर्भाव होता है—यह जैमिनी जी का मत है। स्मृति में भी कहा है कि "जिस प्रकार ज्योत्स्ना घटती नहीं है"। इस वाक्य के द्वारा ऐसे तात्पर्य्य का बोध होता है ॥५॥

औडुलोमि का मत यह है कि–ब्रह्मध्यान के द्वारा अविद्याविनिर्म्मुक्तजीव चिद्रूप ब्रह्म में सम्पन्न हो चिन्मात्र स्वरूप में आविर्भूत होता है क्योंकि बृहदारण्यक में द्वितीय मैत्रेयी के उपाख्यानमें कथित "स यथा सैन्धवघनोऽन-न्तरोऽवाह्यः" इत्यादि श्रुति में प्रज्ञानघन शब्द के द्वारा जीव के चैतन्यमात्रस्वरूप की अवधारणा हो रही है अत-एव निर्गुण चिन्मात्र ही जीव का स्वरूप है–ऐसा जाना जाता है। अपहतपाप्मत्वादि गुणों के द्वारा अविद्याविनि-र्म्मुक्त जीव की केवल प्रकृति विकारभूत सुखदुःखादि की व्यावृत्ति जाननी चाहिए ॥ ६ ॥

अब निजमत को दिखाते हैं। बादरि ऋषि कहते हैं कि पूर्वोक्त प्रकार से जीव का चिन्मात्रस्वरूप निर्णीत होने पर उसके सत्यसंकल्पत्वादि गुणाष्टक का सम्बन्ध होना कोई विरोध नहीं है क्योंकि प्रजापति के वाक्योक्त निर्गुण चिन्मात्रस्वरूप तथा जैमिनी-उक्त गुणाष्टक ये दोनों मुक्तजीव में सम्भव होते हैं। उभय स्थान में श्रुति दीखती है, उभय श्रुति ही हैं, दोनों में कोई विशेष नहीं है, अतएव उभय ही समान प्रमाण है। फलतः मुक्तजीव का उभय प्रकार स्वरूप सिद्ध है। "प्रज्ञान घन एव" इत्यादि श्रुतिबल से निर्गुण चिन्मात्र ही जीव का स्वरूप है यह बाद-रायण जी का अभिमत है। अविरोध उक्ति से इस प्रकार सिद्धान्त किया जाता है। इसमें अवधारणा की कोई-बाधा नहीं होती है। इस वाक्य से आत्मा का सर्वांश में जड़ का व्यावृत्त स्वप्रकाश स्वरूप स्पष्ट व्यक्त हो रहा है। इससे वाक्यान्तर से अवगत जीव के गुणाष्टक सम्बन्ध का भी विरोध प्राप्त नहीं होता है। जैसा कि सैन्धवरस घनीभूत होने पर इन्द्रियग्राह्य काठिन्यादि गुणविशिष्ट होता है, तथा उसमें कोई विरोध का अवकाश नहीं है, ठीक उसी प्रकार जीव अपहतपाप्मत्वादि के द्वारा ऐश्वर्य्यादि गुणाष्टक विशिष्ठ हो आविर्भूत होता है—इसमें भी कोई विरोध नहीं है ॥ ७ ॥

न मेधगः [illegible] लोके विषया [illegible]” इति श्रूयते। तत्र संशयः। मुक्तस्य ज्ञात्यादिप्राप्तिः प्रयत्नान्तरादुत सङ्कल्पमात्रादिति। लोके [illegible]त्यसङ्कल्पतयोक्तानामपि कार्य्यसङ्कल्पे प्रयत्नान्तरसापेक्षत्वदर्शनात् तत्सहितादेव सङ्कल्पात् तत्प्राप्तिरिति

सङ्कल्पादेव तच्छ्रुतेः ॥ ८ ॥

[illegible]ल्पमात्रादेवास्य तत्प्राप्तिः। कुतः? तच्छ्रुतेः। “स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति। तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते” इति पूर्व्वत्र तन्मात्रादेव तत्प्राप्तिश्रवणात्। इतरथावधारणस्य बाधः। प्रज्ञानघन एवेत्यत्र धर्म्मावेदकात् वाक्यान्तरात् तस्य व्यवस्थापनम्। न च तद्वत् सापेक्षत्वावेदकं वाक्यान्तरं पश्यामः। एषा स्वसुखैश्वर्य्यप्रधाना मुक्तिः सेवारसास्वादलुब्धैर्नापेक्ष्येति तद्धेयत्ववचनान्युपपद्येरन्निति ॥८॥

अथ सत्यसङ्कल्पस्य मुक्तस्य पुरुषोत्तमैकाश्रयत्वं दर्शयति। मुक्तः पुरुषोत्तमादन्येन नियम्यो न वेति सन्देहे तदन्येन नियम्यः स्यात् परसद्मगतत्वात् राजसद्मगतवदिति प्राप्ते—

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ९ ॥

अतः पुरुषोत्तमानुग्रहाविर्भावात् सत्यसङ्कल्पत्वादेव हेतोर्मुक्तोऽनन्याधिपतिश्च भवति। नास्त्यन्यः पुरुषोत्तमादधिपतिर्य्यस्य सः। तदेकाश्रयः सन् दीव्यतीति। इतरथा संसारविशेषापत्तिः स्यात्। अस्य सत्यसङ्कल्पत्वं स्वात्मभूतमपि पुरुषोत्तमोपासनादाविर्भूतमतोऽसौ तमेवानन्तानन्दं स्वाश्रितवत्सलमनुकम्पयन् प्रमोदते। स च मुक्तमानन्दयतीति विवक्ष्यति दर्शयतश्चैवमित्यादिना। तदंशो जीवस्तस्य कर्त्तृत्वभोक्तृत्वे तस्मादेवेति प्राक् प्रदर्शितम्। अतः

अब मुक्त जीव के सत्यसंकल्पत्व का निरूपण करते हैं-छान्दोग्य में कहा गया है कि “जीव ब्रह्मपुर में इच्छानुसार आहार करता है, इच्छानुसार स्त्री, विमान और ज्ञातियों के साथ क्रीड़ा करता है” इत्यादि। यहाँ संशय यह उठता है कि-मुक्त पुरुष की ज्ञाती प्रभृति की प्राप्ति यत्न के द्वारा होती है किम्वा संकल्पमात्र से? सत्यसंकल्प राजादिकों के कार्य्यसंकल्प में प्रयत्नान्तर की अपेक्षा रहती है-ऐसा देखा गया है। अतएव मुक्तपुरुष का भी प्रयत्न के साथ वह संकल्प हो—इस प्रकार के प्रतिवाद का निरासन करते हैं—

मुक्तजीव के संकल्पमात्र से ही सब की प्राप्ति है—ऐसा स्वीकार करना होगा क्योंकि उस विषय में श्रुति का प्रमाण देखा जाता है। श्रुति में कहा गया है कि “वह यदि पितृलोक की कामना करता है तब उसके संकल्पमात्र से ही पितृलोक की उत्पत्ति होती है। वह उनके साथ सम्पन्न होकर आनन्दानुभव करता है” इत्यादि। संकल्पमात्र से ही उसके सबकी प्राप्ति सुनने में आती है। नहीं तो अवधारण का बाध होता है। प्रज्ञानघन पदार्थ की स्वाभाविकी सिद्धि ऐसी है। वेद में प्रयत्नान्तर सापेक्षत्व वाक्यान्तर नहीं है। अतएव प्रज्ञानघन पदार्थ की स्वाभाविक सामर्थ्य से इस प्रकार व्यवस्था हुई है। और यह भी है कि मुक्तपुरुष की इस प्रकार इच्छा है ऐसा वाक्य वेद में नही दीखता है। अधिक सेवारसास्वाद में लुब्ध मुक्तपुरुष उस स्वसुखैश्वर्य्य प्रधान मुक्ति को अपेक्षा नहीं करते हैं। विशेष करके मुक्ति का इस प्रकार हेयत्व बोधक वचन-समूह शास्त्र में देखा जाता है ॥ ८ ॥

अब मुक्तपुरुष सत्यसंकल्प होने पर भी एकमात्र पुरुषोत्तम का आश्रय रखते हैं यह दिखलाया जाता है। उन का पुरुषोत्तम से भिन्न और कोई नियामक है किम्वा नहीं है-इस प्रकार के सन्देह उठने पर राजगृह प्राप्त पुरुष जिस प्रकार उस पुर के कर्म्मचारियों के द्वारा नियमित होते हैं उसी प्रकार ब्रह्मपुर-परम गृह में अवस्थित मुक्तपुरुष उस पुर के अन्यों के द्वारा नियमित होवे-इस प्रकार की आपत्ति उठाकर उसका समाधान करते हैं—

मुक्तपुरुष पुरुषोत्तम के अनुगृहीत सत्यसंकल्प के कारण अनन्याधिपति होते हैं। अनन्याधिपति का अर्थ है कि उनका पुरुषोत्तम से अन्य अधिपति नहीं है, अर्थात् एकमात्र पुरुषोत्तम हीं जिनके नियामक हैं। मुक्तजीव-पुरुषोत्तम के आश्रय में रहकर क्रीड़ा करते हैं। नहीं तो उनको संसारविशेष की आपत्ति उठ सकती है। जीव

सत्यसंकल्पादेव मुक्तोऽनन्याधिपतिर्नास्त्यन्योऽधिपतिरस्येति विधिनिषेधायोग्यो भवति। तद्योग्यत्वे [illegible] विहन्येतेत्येके ॥ ९ ॥

अथ मुक्तस्य दिव्यविग्रहयोगं दर्शयति। तत्रैव संशयः। परंज्योतिरुपसम्पन्नस्य मुक्तस्य विग्र[illegible] नास्त्याहोस्वित् यथेच्छमस्ति च नास्ति चेति। तत्र तावत् बादरिमतमाह—

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥

मुक्तस्य विग्रहाद्यभावं बादरिर्म्मन्यते। विग्रहादिकं खलु अदृष्टसृष्टम्। तदानीमदृष्टाभावात्तन्न सम्भवेत्। कुतः? आह ह्येवम्। हि यस्माच्छान्दोग्यश्रुतिरेवमाह “न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति। अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः” इति विग्रहादियोगे दुःखस्यापरिहार्यत्वमुक्त्वा “अस्मात् शरीरात् समुत्थाय” इत्यादिना तस्य तत्राविग्रहत्वमुच्यते। “देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनां” इति स्मृतेश्च ॥ १० ॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥

मुक्तस्य विग्रहादिभावं जैमिनिर्म्मन्यते कुतः? विकल्पेति। “स एकधा भवति द्विधा त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादश स्मृतः। शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिः” इति भूमविद्यायां तस्य विविधकल्पश्रवणात्। न हि विविधविग्रहतामन्तरा बहुत्वमणुपरिमाणस्य तस्याञ्जसमवकल्प्येत। न चैतदवास्तवमिति शक्यं शङ्कितुं मोक्षप्रकरणस्थत्वात्। एवं सत्यं शरीरमिति त्वदृष्टविग्रहाद्यभावपरम्। वक्ष्यमाणस्मृतेश्च॥११॥

का सत्यसंकल्प निज आत्मभूत होने पर भी पुरुषोत्तम की उपासना से वह आविर्भूत होता है। अतएव मुक्तजीवगण केवल अनन्त आनन्द स्वरूप, आश्रित जन-वत्सल पुरुषोत्तम की सेवा करते हुए आनन्दानुभव करते हैं। परमेश्वर भी उन मुक्तों को आनन्द प्रदान करते रहते हैं यह “दर्शयतश्चैवं” इत्यादि सूत्र में कहा जावेगा। जीव ईश्वर का विभिन्नांश रूप अंश है उसका कर्त्तृत्व भोक्तृत्व ईश्वराधीन है-यह पहले कहा गया है। अतएव सत्यसंकल्प के कारण मुक्तपुरुष अनन्याधिपति तथा विधि निषेध से अतीत है-ऐसा जानना चाहिए। विधि निषेध का योग होने पर सत्यसंकल्प नहीं सिद्ध होता है ॥ ९ ॥

अब मुक्त का दिव्यविग्रह योग दिखाते हैं। वहाँ संशय यह है कि-परज्योति उपसम्पन्न मुक्त का विग्रहादिक है किम्वा नहीं है? अथवा यह विग्रहादिक यथेच्छ रहता है किम्वा नहीं रहता है? इस प्रकार का संशय उठाकर पहले इस विषय में बादरि जी का मत दिखाकर समाधान करते हैं-बादरी जी के मत में मुक्तपुरुष को विग्रहादिक का अभाव है। विग्रहादिक अदृष्ट सृष्ट पदार्थ हैं। मुक्ति की अवस्था में अदृष्ट का अभाव है अतएव विग्रहादिक नहीं हो सकते हैं क्योंकि छान्दोग्य श्रुति में ऐसा कहा है। “उस समय प्रिय-अप्रिय का योग नहीं रहने पर जीव अशीर से अवस्थिति करता है”। यहाँ विग्रहादि योग से दुःख का निवारण अवश्य अपरिहार्य्य है-ऐसा दिखाकर “इस शरीर से समुत्थान कर” इत्यादि स्थल में पुनर्वार अविग्रह का निर्देश किया है। स्मृति में भी कहा है कि-मुक्तजीव देहादि विहीन होकर वैकुण्ठ का वासी होता है ॥ १० ॥

जैमिनी के मत में मुक्त का विग्रहादिभाव है। क्योंकि श्रुति में विविध विकल्प का श्रवण है। “मुक्त जीव कभी एक, कभी दो, कभी तीन, इस प्रकार पाँच, सात, नौ, ग्यारह, शत, सहस्र आदि बहुत आकार धारण करता है” ऐसा भूमविद्या में विविध विकल्प का श्रवण है। विविध विग्रह के विना अणुपरिमाणक तादृश जीव का बहुत्व असम्भव हो जाता है। यह अवास्तविक है—ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि मोक्षावस्था प्रकरण में ही बहुत्वरूप देखा जाता है। अतएव वेद में जहाँ जहाँ मुक्तपुरुष को शरीर रहित कहा गया है,वहाँ उसकी अदृष्टसृष्ट -जड़ातुयन्त्रित विग्रह का अभाव अर्थात् प्राकृत शरीर का अभाव जानना चाहिए। वक्ष्यमाण स्मृति प्रमाण से यह

विद्यया [illegible]ाह— **द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥ १२ ॥**

न मेधा[illegible]सङ्कल्पत्वादेव हेतोरुभयविधं मुक्तं भगवान् बादरायणो मन्यते उभयविधवाक्यदर्शनात्। तमविग्रहं [illegible] स्वीकरोतीत्यर्थः। द्वादशाहवत्। तथा द्वादशाहस्य यजमानेच्छयानेकयजमानकत्वे सत्रत्वमेकयजमा- [illegible]नत्वं च न विरुध्यते । तथा स्वेच्छयाविग्रहत्वं सविग्रहत्वं च मुक्तस्येत्यर्थः । इदमत्र तत्वम्। मुक्ताः खलु ब्रह्मविद्यया संछिन्नपिधानाः सत्यसङ्कल्पाश्च भवन्ति। तेषु ये विग्रहादिलिप्सवस्ते सङ्कल्पादेव तद्वन्तः स्युः। स एकधेत्यादिश्रुतेः। ये तु न तादृशास्ते किल न तद्वन्तः। अशरीरं वावेत्यादि श्रुतेः । ये ब्राह्मणवपुषा नित्यं ब्रह्मानुवृत्तिमिच्छन्ति तेषां तु तच्चिच्छक्तिमयं तदाविर्भवतीति किल नित्यं तद्वन्तस्तदनुवर्त्तन्त इति मन्तव्यम्। बृहदारण्यके"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्"इत्यादिश्रवणात्।"स वा एष ब्रह्मनिष्ठ इदं शरीरं मर्त्यमतिसृज्य ब्रह्माभिसम्पद्य ब्रह्मणा पश्यति ब्रह्मणा श्रृणोति ब्रह्मणैवेदं सर्व्वमनुभवति" इति माध्यन्दिनायनश्रुतेश्च। "वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्व्वे वैकुण्ठमूर्त्तयः"इति स्मृतेश्च। आसाधनसमयादेव सङ्कल्पो बोध्यः। यथाक्रतुश्रुतेः "गच्छामि विष्णुपादाभ्यां विष्णुदृष्ट्यानुदर्शनं"इत्यादि पूर्व्वस्मरणात्"मुक्तस्यैतद् भविष्यति"इत्येवं स्मृतेश्च ॥१२॥

भोगहेतवो धर्म्मा दिव्यदेहयोगाश्च निरूपिताः। भोगश्च "सोऽश्नुते सर्व्वान्कामान्" इत्यादि श्रुतिसिद्धः। स चोभयथापि स्यादिति वक्तुं प्रारम्भः। तत्रैवं संशयः। मुक्तस्य भोगः सम्भवेन्नवेति। देहेन्द्रियादिविरहात् न सम्भवेत् यद्ययं योगी मन्तव्यस्तदाप्यानन्दपूर्णस्य तस्य तत्तृष्णानुदयात् न स युक्त इति प्राप्ते—

सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

अब अपने मत को दिखाते हैं—सत्यसंकल्पत्व के कारण मुक्त के दोनों प्रकार भगवान् वादरायण मानते हैं। उभय प्रकार के वाक्य का दर्शन होने से वे मुक्त का अविग्रह तथा सविग्रह दोनों को स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार यजमान के इच्छानुसार-अनेक यजमान होने पर द्वादशाहयज्ञ को सत्र तथा एक जन यजमान होने पर उसे अहीन बोला जाता है। किन्तु दोनों ही द्वादशाह यज्ञ हैं। ठीक उसी प्रकार मुक्तपुरुष के सम्बन्ध में संकल्प के वश सविग्रह और अविग्रह उभय स्वीकार्य्य हो सकता है। इसका तत्व यह : है कि मुक्तपुरुष अवश्य ब्रह्मविद्या के द्वारा-अविद्या आवरण का छेदन कर सत्यसंकल्प होते हैं। उनमें से जिनका साधन काल से सेवासंकल्प रहता है वे संकल्प से ही विग्रह विशिष्ट होते हैं। वहाँ "स एकधा" इत्यादि श्रुति प्रमाण घटता है। और जो संकल्प नहीं रखते हैं वे निराकारलोभ से विग्रहविहीन होते हैं। "अशरीरं वाव" इत्यादि श्रुति इसका प्रमाण है। जो ब्रह्म-शरीर के द्वारा नित्य ब्रह्मानुवृत्ति की इच्छा करते हैं, उनका मुक्तावस्था में चिच्छक्तिमय देह का आविर्भाव होता है। वह अनुवर्त्तन नित्य है। बृहदारण्यक में पाठ है कि "जहाँ इसका समस्त आत्मा ही हो जाता है तब वहाँ किस से कौन देखा जा सकता है" इत्यादि। माध्यन्दिनायनश्रुति में भी कहा है—"वह यह ब्रह्मनिष्ठ पुरुष इस मनुष्य शरीर का त्याग कर ब्रह्म की प्राप्ति कर ब्रह्म के द्वारा देखता है, ब्रह्म के द्वारा सुनता है, ब्रह्म के द्वारा ही समस्त अनुभव करता है" इत्यादि। स्मृति में भी कहा है—"जहाँ वैकुण्ठ मूर्त्ति वाले सकल पुरुष वास करते हैं" तथा "मैं विष्णु पादों से गमन करता हूँ, विष्णु दृष्टि से मेरा दर्शन होता है" इत्यादि वाक्य से साधनकालीन संकल्प ही मुक्तावस्था में अविग्रह किम्वा सविग्रह का निदान करके देखा जाता है। साधनकाल में जो जो संकल्प किया जाता है, वह मुक्तावस्था में कार्य्यकारी हो जाता है ॥ १२ ॥

मुक्त का भोग हेतु रूप सकल धर्म्म तथा दिव्य देहयोग निरूपित हुए हैं। "वह समस्त कामनाओं का भोग करता है" इत्यादि वाक्य से उनका भोग श्रुति सिद्ध है। अब वह भोग सविग्रह तथा अविग्रह उभय स्थल में है-

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥

न च विग्रहाभावे भोगासम्भवः। तत्र सन्ध्यवत्तस्योपपत्तेः। सन्ध्यं स्वप्नः । तत्र यथा तनुं [illegible] एवमिहापि स उच्यते ॥ १३ ॥

सविग्रहत्वे तु पुष्कलभोग इत्याह—

भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥

भावे विग्रहसत्वे जाग्रद्वद्भोगः। पूर्व्वपक्षस्तु भोक्तव्यस्य रसादेर्भगवत्प्रसादत्वेन स्पृहणीयत्वादेव न युक्तः। तृप्तस्यापि हरेर्भक्तेच्छया भोगेच्छादयः। मुक्तस्य तु तत्प्रसादे भोग्ये भक्त्यैव स्पृहोदय इति बोध्यम् ॥ १४ ॥

अथ मुक्तस्य सार्व्वज्ञ्यं प्रकाशयति। "न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखितां सर्व्वं ह पश्यः पश्यति सर्व्वमाप्नोति सर्व्वशः" इति छान्दोग्ये सर्व्वंवस्तुविषयकं ज्ञानं मुक्तस्योक्तम्। तद्युज्यते न वेति संशये प्राज्ञेनात्मनेत्यादिश्रवणात् न युक्तमिति प्राप्तौ—

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥ १५ ॥

प्रदीपस्य यथा प्रभयानेकदेशावेशस्तद्वत् प्रसृतया प्रज्ञयाऽनेकार्थावेशो मुक्तस्य भवति। तथाहि श्वेताश्वतरोक्ता श्रुतिर्दर्शयति। "प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी" इति । तस्मादीशान्निमित्तात् जीवस्य पुराणी प्रज्ञा प्रसृता भवतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

ननु मुक्तौ सार्व्वज्ञ्यं न युक्तम्। प्राज्ञेनात्मनेति श्रुत्या तत्र विशेषज्ञानप्रतिषेधादिति चेत्तत्राह—

इसको कहते हैं। वहाँ यह सन्देह है कि मुक्त का भोग सम्भव है किम्वा नहीं है ? देहेन्द्रिय से रहित योगीपुरुष का भोग सम्भव नहीं है तथा सविग्रह मुक्त पुरुष के भी पूर्णानन्दत्व होने के कारण भोग में तृष्णा का अभाव है। इसलिये वहाँ भोगेच्छा सम्भव नहीं है इस प्रकार पूर्वपक्षीय सिद्धान्त के समाधानार्थ परवर्त्ती सूत्र की अवतारणा करते हैं —

विग्रह के अभाव से भोग असम्भव-ऐसा नहीं है। स्वप्न में जिस प्रकार शरीर का सम्बन्ध नहीं रहने पर भी भोग सम्भव होता है, ठीक उसी प्रकार अविग्रह मुक्तपुरुष के मानसभोग का सुख विद्यमान रहता है ॥१३॥

किन्तु सविग्रह में पुष्कल भोग होता है-इसे कहते हैं।—सविग्रह मुक्तपुरुष का भोग जाग्रत् अवस्था की तरह स्थूलरूप है। आनन्द पूर्ण जीव की भोग तृष्णा नहीं रहती है यह पूर्वपक्ष का मत ठीक है परन्तु भगवान् के प्रसादरूप भोक्तव्य रसादिक भोग के लिये मुक्तपुरुष की भी भोगेच्छा असम्भव नहीं है। जिस प्रकार आप्तकाम-भगवान् के भक्तेच्छा के अनुसार भोगेच्छादिक होते हैं, ठीक उसी प्रकार मुक्तपुरुष का भगवान् के प्रसाद से भोग करने में स्पृहा का उदय रहता है ऐसा जानना चाहिए ॥ १४ ॥

अब मुक्तपुरुष की सार्वज्ञ्यता दिखाते हैं।—"न पश्यो मृत्युं पश्यति" इत्यादि वेद वाक्य में मुक्त जीव का सर्ववस्तु विषयक ज्ञान कहा जाता है। वह यथा युक्त है किम्वा नहीं है ?—इस प्रकार के सन्देह उठने पर "प्राज्ञेनात्मना" इत्यादि श्रुति से वह युक्त नहीं है इस प्रकार के पूर्वपक्ष का खण्डन करते हैं —

प्रदीप जिस प्रकार प्रभा के द्वारा अनेक देश में प्रकाश करता है, ठीक उसी प्रकार मुक्त का ईश्वरकर्त्तृक प्रसृत प्रज्ञा के द्वारा अनेक अर्थों में आवेश होता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है कि "ईश्वर से मुक्तजीव की स्वाभाविक पुरातन प्रज्ञा प्रसृता होती है ॥ १५ ॥

अच्छा ? मुक्ति में सार्वज्ञ्यत्व अयुक्त है। "प्राज्ञेनात्मना" इस श्रुति वाक्य से वहाँ विशेष ज्ञान का प्रतिषेध

स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ १६ ॥

विद्यया ... न मेधस्य ... मुक्तस्य विशेषज्ञानं वारयितुमलम्। यत् स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्ष्यं तत्। स्वाप्ययः सुषुप्तिः सम्प... ...। छान्दोग्ये "स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपीतीत्याचक्षते" "वाङ् मनसि सम्पद्यते" इति च ... हि यतः श्रुत्यैव स्वापोत्क्रमयोर्जीवस्य निःसंगत्वमाविष्कृतं मुक्तौ सार्व्वज्ञ्यं च। तत्रैव नाह खल्वयमेवं ... प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमिवापीतो भवति। नाहमत्र भोग्यं पश्यामि" इति स्वापे निःसंज्ञत्वमुक्त्वा तत्रैव वाक्ये मुक्तमधिकृत्य "स वा एष एतेन दिव्येन चक्षुषा मनस्येतान्कामान्पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके" इति तस्य सार्व्वज्ञ्यमुक्तं। उत्क्रमे निःसंज्ञत्वन्त्येतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति" इत्यभिहितम्। विनश्यति न पश्यतीत्यर्थः। तथा च मुक्तः सर्व्वज्ञो भवतीति ॥ १६ ॥

"अथ य इह आत्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्व्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। स यदि पितृलोककामो भवति"इत्यादि श्रुतं तत्रैव। इह भवति संशयः। मुक्तो जगत्कर्त्ता स्यान्नवेति। परमसाम्याप्तेः सत्यसङ्कल्पतायाश्चोक्तेः स्यादिति प्राप्ते—

जगद्व्यापारवर्ज्जं प्रकरणादसन्निहितत्वात् ॥ १७ ॥

स यदीत्याद्यवगतो मुक्तसर्गो यतो वा इमानीत्याद्यवगतं निखिलचिदचित्सृष्टिस्थितिनियमनरूपं ब्रह्मैकान्तं जगद्व्यापारं विहाय बोध्यम्। कुतः? प्रेति। यतो वा इत्यादेः ब्रह्मैव प्रकृत्य पाठात्। न चानुकर्षणाकर्षणाभ्यां मुक्तस्य तत्प्राप्तिरित्याह असन्निति। मुक्तस्य तत्सानिध्याभावान्न ताभ्यां सेत्यर्थः। इतरथा "जन्माद्यस्य यतः" इति ब्रह्मत्वलक्षणं न ब्रूयात्। अनेकेश्वरता चानिष्टापद्येत तस्मान्न मुक्तो जगद्व्यापारीति ॥ १७ ॥

है-इस प्रकार के पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं —

यह वाक्य मुक्त के विशेष ज्ञान का निवारण नहीं कर सकता है क्योंकि श्रुति में केवल सुषुप्ति तथा उत्क्रान्तिकाल में जीव के विशेष ज्ञान का निषेध है। परन्तु मुक्तावस्था के लिये कुछ नहीं कहा गया है। "स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपीतीत्याचक्षते" इत्यादि छान्दोग्य में सुना जाता है। निःसन्देह श्रुति के द्वारा सुषुप्ति तथा उत्क्रान्ति-अवस्था में जीव के निःसंगत्व का तथा मुक्ति अवस्था में सार्वज्ञत्व का निर्द्धार किया गया है। वहाँ श्रुति में "निश्चय वह यह प्रत्यात्मान को नहीं जानता है" इत्यादि वाक्य के द्वारा सुषुप्ति काल में निःसंगत्व कहकर उस वाक्य में फिर मुक्त का अधिकार कर "स वा एष एतेन दिव्येन चक्षुषा मनस्येतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके" इत्यादि वाक्य से उसके सार्वज्ञत्व का निर्णय किया गया है। उत्क्रान्ति समय में भी "एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति" इस प्रकार निःसंगत्व होना कहा है। यहाँ विनश्यति शब्द का अर्थ नहीं देखता है। अतएव मुक्त का सार्वज्ञत्व सिद्ध हुआ है॥ १६ ॥

इसके अनन्तर "जो यहाँ आत्मा को जानकर गमन करता है वह समस्त कामनाओं को प्राप्त होता है, उसका समस्त लोकों में कामचार होता है, वह यदि पितृलोक की कामना करता है तब उसे पितृलोक मिलता है" इत्यादि श्रुति का वचन है। यहाँ संशय यह है कि मुक्त जगत्कर्त्ता है किम्वा नहीं है? परम साम्यप्राप्ति, तथा सत्यसंकल्पता के कथन से मुक्त जगत्कर्त्ता है-इस प्रकार के पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं —

"वह यदि" इत्यादि वचन से जो मुक्तसर्ग अवगत हो रहा है वह निखिल-चित्-अचित् जगत् के सृष्टि-स्थिति नियमन रूप जगद्व्यापार ब्रह्म-कार्य्य के बिना जानना चाहिए। "जिससे ये सब जगत्" इत्यादि विषय ब्रह्मपरक है। जगत् व्यापार कार्य्य को छोड़कर ही और समस्त कार्य्य में मुक्त की सामर्थ्य है। अनुकर्षण तथा आकर्षण के द्वारा भी मुक्त की वह प्राप्ति नहीं हो सकती है। मुक्त को उसका सान्निध्य नहीं है। नहीं तो "जन्माद्यस्य यतः"

ननु "सर्व्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति" इत्यादि तैत्तिरीयके "स स्वराड् भवति तस्य सर्व्वेषु ... भवति" इति छान्दोग्ये च सर्व्वदेवाराध्यत्वादैश्वर्य्यस्योपदेशात् मुक्तस्तादृशः स्यादिति चेत्तत्राह—

प्रत्यक्षोपदेशान्नेति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्योक्तेः ॥ १८ ॥

प्रत्यक्षेण श्रुत्यैव मुक्तस्य जगद्व्यापारोक्तेस्तस्य तद्वर्जनं न युक्तमिति चेन्न। कुतः? आधिकारिकेति। ... दयो ह्याधिकारिकास्तेषां मण्डलानि लोकास्तत्स्था भोगाः परेशानुगृहीतस्य मुक्तस्य भवन्तीति तयोच्यते। यथा ... मारनारदादेस्तेष्वप्रतिहता गतिस्तत्स्वामिसत्कारश्च स्मर्य्यते। तथा च तद्विभूतिभूतान् कार्य्यान्तरगतान्भोगान् मुक्तस्तदनुमहाद्व्रजतीति तत्र तत्राभिधानात् न तद्व्यापारी सः ॥ १८ ॥

ननु मुक्तश्चेत् कार्य्यान्तरगतान्भोगान्भुंक्ते तर्हि संसारितो न विशेषस्तेषां विनाशित्वादिति चेत्तत्राह—

विकारावर्त्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥ १९ ॥

विकारे प्रपञ्चे जन्मादिषट्के वा न वर्त्तते इति विकारावर्त्ति निरवद्यं ब्रह्मस्वरूपं तद्गुणभूतं ब्रह्मादिकं च। तत्तद्विषयया विद्यया तत्तदावृत्तिपरिक्षयान्मुक्तस्तदनुभवंस्तिष्ठतीति न किञ्चिदूनम्। हि यतः कठश्रुतिर्मुक्तस्य तथा स्थितिमाह। "पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रतेजसः। अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते" इति। स्वरूपावरिकयावृत्त्या विमुक्तो विद्वान् गुणावरिकया तया विमुच्यते इत्यर्थः। तथा च द्विविधावृत्तिविमुक्तस्तत् साक्षा-

---

यह ब्रह्म लक्षण सूत्र नहीं कहा जाता। और यह भी है कि मुक्त का जगत्कर्तृत्व स्वीकार करने पर अनेक ईश्वरता की आपत्ति उठ सकती है जिससे महान् अनिष्ट आ सकता है। अतएव मुक्तजीव जगद्व्यापारी नहीं है॥१७॥

अच्छा! "समस्त देवता उसे बलि प्रदान करते हैं" इत्यादि तैत्तिरीयक में तथा "वह स्वराट् होता है उसका समस्त लोकों में कामचार होता है" इत्यादि छान्दोग्य में समस्त देवताओं का आराध्य होने के कारण मुक्त के परमैश्वर्य्य का उपदेश है, अतएव मुक्त का जगत्कर्तृत्व सिद्ध होता है-इस प्रकार के पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं-

श्रुति में मुक्तजीव के जगत्व्यापार का साक्षात् रूप से कथन है। अतएव मुक्त का जगत्कर्तृत्व निषेध नहीं होना चाहिए-ऐसा नहीं कह सकते हो,क्योंकि चतुर्मुखादि अधिकारक लोक-समूह तथा लोकसम्बन्धी सकलभोग ईश्वर के अनुग्रह से ही मुक्त को सिद्ध होते हैं। जैसा कि सनकादि ऋषियों की यथेच्छाक्रम से अप्रतिहत गति के द्वारा उन सकल धामों में गमन तथा उन उन लोकों के अधिकारियों से पूजादि का पुराणादि में कथन है। अतएव मुक्तपुरुषगण भगवान् के अनुग्रह से ही उनके विभूतिरूप ब्रह्माण्डादिगत भोगों का भोग करते हैं-इस प्रकार का जहाँ तहाँ वर्णन होने के कारण मुक्तगण जगद्व्यापारी नहीं हैं॥ १८॥

अच्छा? यदि मुक्त कार्य्यान्तर्गत भोगों को भोगते हैं तब संसारी से उनमें कोई विशेषता नहीं रहती है क्योंकि वे भोग-समूह तो विनाशशील ही हैं, इस प्रकार के पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं॥—

मुक्तपुरुषों में प्रपञ्चान्तर्गत जन्म,स्थिति,वृद्धि, अपक्षय, परिणाम तथा नाश ये छै विकार नहीं हैं। भगवद्विषया विद्यावृत्ति के द्वारा अविद्या के नाश हो जाने के कारण वे सब निरवद्य ब्रह्मस्वरूप होकर उन सब विषयों का भोग करते हैं,उससे उनकी कोई हानि नहीं है। कठश्रुति ने मुक्त की उस प्रकार स्थिति कही है।"सर्वज्ञ एकादश द्वार से युक्त शरीररूप अन्तःपुर में अर्थात् हृत्कमल में स्थित श्रीहरि का ध्यान कर शोकरहित होजाता है"इत्यादि। स्वरूप आवरण वृत्तिसे विमुक्त हो गुणावरण वृत्तिसे मुक्त होजाता है यह तात्पर्य्य है। दो प्रकार आवृत्तिसे विमुक्त होकर भगवान् का साक्षात्कार कर विराजमान होता है, अतएव वह अक्षयपुरुषार्थशाली हो जाता है। तात्पर्य्य यह है कि जीव के स्वरूपावृत्ति तथा गुणावृत्ति ये दो आवरण हैं। चित्स्वरूप जीव का जड़ाभिमान स्वरूपावृत्ति है तथा स्वाभाविकी भगवद्रति का विषयरति में पर्य्यवसान हो जाना गुणावृत्ति है। तत्वज्ञान के द्वारा स्वरूपावरण

[illegible] पुमर्थभाक् स इति । इयमावृत्तिर्मेघमालेव जीवदृष्टिगतैव बोध्या न तु ब्रह्मगता । "विलज्ज-
विघया [illegible] तुमीक्षापथेऽमुया । विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः" इति स्मरणात् । न हि मेघमालया
न मेघ[illegible] ॥ १६ ॥

भगव[illegible] सङ्कल्पादिगुणकचिदानन्दस्वरूपजीवसाक्षात्कारस्य पुमर्थत्वादलं ब्रह्मसाक्षात्कारप्रयासेनेति चेत्तत्राह—

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ २० ॥

यद्यपि मुक्तो जीवस्तादृशस्तथाप्यात्मनासौ नानन्तानन्दशाली भवति तस्याणुत्वात् किंतु ब्रह्मणैव तस्यापरि-मितानन्दत्वादिति श्रुतिस्मृती दर्शयतः । "रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" इति श्रुतिः । भूम्नि मत्वर्थीयः । "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च । शाश्वतस्य च धर्म्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च" इति स्मृतिश्च ॥ अल्पधनो हि महाधनमाश्रित्य सम्पन्नो भवतीति युक्तिश्च शब्दात् ॥ २० ॥

ननु "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति"इति श्रवणादात्मनैव मुक्तस्तादृशः स्यात् ततः किमीश्वरेण । अणुत्वं तु तस्य बुद्धिगतं क्वचिदुपचरितमिति चेत्तत्राह—

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥ २१ ॥

चशब्दोऽवधारणे । मण्डूकप्लुत्या पूर्व्वतो नेत्यनुवर्त्तते । "सोऽश्नुते सर्व्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इति मुक्तस्य भोगमात्रे भगवत्साम्यवचनात् लिङ्गादेव स्वरूपसाम्यं वाक्यार्थो न भवतीत्यर्थः । चोद्यन्तु प्राक् परिहृतं ।

का तथा परेशानुशीलन से गुणावरण का क्षय होता है । इन दोनों आवरणों से मुक्त होने पर भगवत्साक्षात्कार होता है इसके अनन्तर अक्षय पुरुषार्थ का लाभ होता है । जीव इन दोनों आवरणों में आकर सकुण्ठ भाव को प्राप्त हो जाता है । यह आवरण मेघमाला की तरह जीवदृष्टिगत है । परब्रह्मगत नहीं है । अर्थात् मेघ जिस प्रकार दर्शक के चक्षु का आवरण कर उसके दृष्टिमार्ग से सूर्य्यप्रकाश का निवारण करता है, किन्तु सूर्य्य का आवरण नहीं करता है, ठीक उसी प्रकार माया जीव की ज्ञानशक्ति को ढककर उसके लिये परमेश्वर साक्षात्कार का निवा-रण करती है, परन्तु परमेश्वर को नहीं ढकती है । स्मृति में कहा है—"विलज्जप्राप्त माया जिनके समक्ष नहीं ठहर सकती है" । माया को लज्जा होने का कारण यह है कि वह जीव को निजवृत्ति से आच्छादित करती है ॥ १६ ॥

अच्छा ? सत्यसंकल्पादिगुण युक्त चिदानन्द स्वरूप जीव साक्षात्कार का पुरुपार्थ है । ब्रह्मसाक्षात्कार प्रयास की आवश्यकता क्या है ? इस प्रकार के पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं —

यद्यपि मुक्तजीव ऐसा ही है तो भी वह निज से अनन्त आनन्दशाली नहीं हो सकता है क्योंकि उसका स्वरूप अणु परिमाणक है । परन्तु ब्रह्म के द्वारा ही उसका अपरिमित आनन्दलाभ होता है—यह श्रुति-स्मृति दिखाते हैं । श्रुति में कहा है "यह रस को प्राप्त होकर आनन्दलाभ करता है" । यहाँ रस शब्द का अर्थ प्रचुर अनन्त आनन्दशाली रसमय भगवान हैं । स्मृति में भी कहा है । "अमृत, अव्यय, शाश्वतधर्म्मी ऐकान्तिक सुख-रूप ब्रह्म का भी मैं आश्रय हूँ । अर्थात् ब्रह्म मेरी कान्तिरूप है तथा मैं घनीभूत आनन्द सागर हूँ । अल्पधनी ही महाधनी के आश्रय से सम्पन्नशाली होता है—यह युक्ति "च" शब्द से जाननी चाहिए ॥ २० ॥

अच्छा ? "निरञ्जन होकर परम साम्यता को प्राप्त करता है"इत्यादि श्रवण से मुक्त अपने से ही ऐसा होता है फिर ईश्वराधीनत्व स्वीकार की आवश्यकता क्या है । अणुत्व उसका बुद्धिगत उपचारमात्र बोला जा सकता है, इस प्रकार के पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं —

"च" शब्द अवधारण में है । मण्डूकप्लुति न्याय से नकार का पूर्वसूत्र से अनुवर्त्तन है । "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता"इति यह मुक्त का भोगमात्र में भगवत् साम्यतापरक वचन है । परन्तु जीव और

अनेन स्वरूपनिर्णयान्त्यसूत्रेण जीवब्रह्मणो भोगमात्रेणैव साम्यं ब्रुवन् शास्त्रकृत्तयोः स्वरूपसा[illegible] वास्तवमित्युपादिशत् ॥ २१ ॥

अथ मुक्तस्य सार्व्वदिकं भगवत्साान्निध्यं वक्तुमारम्भः । अत्र भगवल्लोकप्राप्तिवाक्यानि विषयः । त[illegible] तत्प्राप्तिलक्षणा मुक्तिः क्षय्या स्यादक्षय्या वेति । लोकत्वाविशेषात् स्वर्गादिव तस्मात् पातसम्भवात् क्षय्ये[illegible] प्राप्ते—

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥ २२ ॥

भगवदुपासनया तदवगतिपूर्व्वया तल्लोकं गतस्य न तस्मादावृत्तिर्भवति । कुतः ? शब्दात् । "एतेन प्रतिपद्य-माना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते" । "स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते । न च पुनरावर्त्तते" इति श्रुतेः । "मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् । नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः । आब्रह्मभुव-नाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन । मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते" इति स्मृतेश्च । न च सर्व्वेश्वरः श्रीहरिः स्वाधीनमुक्तं स्वलोकात्कदाचित् पातयितुमिच्छेत् मुक्तो वा कदाचित् तं जिहासेदिति शक्यं शङ्कितुम् । "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः" । "साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्" इत्यादिषु द्वयोर्मिथः स्नेहाति-शयाभिधानात् । "ये दारागारपुत्राप्तान्प्राणान् वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे । धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति । मुक्तसर्व्वपरिक्लेशः पान्थः स्वशरणं यथा" इत्यादिषु भजदत्यागसङ्कल्प-भजनीयैकसंरतिस्मरणात् निर्दोषाच्च । एतदुक्तं भवति । सत्यवाक् सत्यसङ्कल्पः स्वाश्रितवात्सल्यवारिधिः सर्व्वे-

---

ब्रह्म में सार्वकालिक स्वरूपगत तथा सामर्थ्यगत वैलक्षण्य नित्य रहता है । यह वाक्यार्थ स्वरूपसाम्य-परक नहीं है । पहले 'स्वात्मनोश्चोत्तरयोः'इस सूत्र की व्याख्या में इसका परिहार हुआ है । इस स्वरूप निर्णयक अन्त्यसूत्र से शास्त्रकार जीव-ब्रह्म के भोगमात्र में साम्यता कहते हुए स्वरूपगत तथा सामर्थ्यगत परमार्थ वैलक्षण वास्तविक है—ऐसा उपदेश करते हैं । क्लेशाभाव तथा आनन्दांश में मुक्तपुरुष का परमेश्वर के साथ साम्य है परन्तु अन्य विषय में भेद है । अतएव भोगांश में साम्य रहने पर भी स्वरूप तथा सामर्थ्यांश में भेद अवश्य है ॥ २१ ॥

इसके अनन्तर मुक्त का सर्वदा भगवत् सान्निध्य कहने का आरम्भ करते हैं । इस प्रकरण में भगवल्लोक-प्राप्ति के वाक्य समूह विषय है । वहाँ संशय यह है कि भगवत्प्राप्तिलक्षणा मुक्ति अनित्य है किम्वा नित्य है ? लोकत्व अविशेष के कारण स्वर्ग से पतन की तरह वह अनित्य होता है—इस प्रकार के पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं —

भगवत्तत्वज्ञान-पूर्विका भगवदुपासना के द्वारा तल्लोकगत जीव की उस लोक से फिर आवृत्ति नहीं है क्योंकि श्रुति-स्मृति में ऐसा ही कहा गया है । श्रुति में यथा—"इस प्रकार ब्रह्मलोक प्राप्त होकर फिर इस मानव लोक को नहीं आते हैं" । "वह इस प्रकार यावत् आयु रह कर ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है फिर वहाँ से नहीं फिरता है" इत्यादि । गीता में भी कहा है—"परमसिद्धि प्राप्त महात्मागण मुझ को प्राप्त होकर दुःखपूर्ण, नश्वर पुनर्जन्म को फिर नहीं प्राप्त होते हैं । हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक पर्य्यन्त समस्त भुवन पुनरावृत्तिक हैं । मुझको प्राप्त होने पर फिर पुनर्जन्म नहीं है" इत्यादि । सर्वेश्वर श्रीहरि स्वाधीन मुक्तजीव को निजलोक से कभी गिराने की इच्छा नहीं करते हैं न मुक्तपुरुष कभी भगवान् को परित्याग करना चाहते हैं । अतएव इस विषय में शङ्का का अवसर कहाँ है । "मैं ज्ञानी के अत्यर्थ प्रिय हूँ, ज्ञानी भी मेरा अत्यन्त प्रिय है" "साधुगण मेरा हृदय तथा मैं साधुओं का हृदय हूँ" इत्यादि स्थल में दोनों का परस्पर स्नेहातिशय देखा जाता है । "जो स्त्री-गृह-पुत्र-बन्धु-धन-प्राण समस्त को ति-लाञ्जली देकर मेरे शरण में आते हैं, मैं उनको किस प्रकार परित्याग कर सकता हूँ?" "पवित्रात्मा पुरुष श्रीकृष्ण-पाद मूल को नहीं छोड़ता है । सर्वक्लेश से विमुक्त पान्थ जिस प्रकार निज शरण में आता है" । इत्यादि स्थल में भगवान् के भक्त का अपरित्याग तथा भक्त की भगवान् में एकमात्र संरति स्पष्ट ही कही गई है । इसका तात्पर्य्य

विद्यया [illegible] निमित्तपरित्यक्तसर्व्वविषयाणां स्ववैमुख्यकरीमविद्यां निर्धूय ताननतिप्रियान् निजांशान् स्वान्ति-[illegible]चिदपि न जिहासति। जीवश्च सुखैकान्वेषी सुखाभासाय तुच्छेषु तेष्वनुरज्यन् व्यतीतासंख्येयज-न्मेषु [illegible] उपलब्धात् सद्गुरुप्रसादात् विदितनिजांशिस्वरूपस्तदितरनिस्पृहस्तदनुवृत्तिपरिशुद्धस्तमनन्तानन्दचि-[illegible] दाभिमुखं सुहृत्तमं निजस्वामिनं प्राप्य कदाचिदपि तद्विच्युतिं नेच्छतीति शास्त्रादेवाधिगतमतः शास्त्रै-[illegible]थैव तत्तदास्थेयमिति। सूत्राभ्यासः शास्त्रसमाप्तिद्योतनार्थः ॥ २२ ॥

समुद्धृत्य यो दुःखपङ्कात् स्वभक्तान् नयत्यच्युतश्चित्सुखे धाम्नि नित्ये।
प्रियान् गाढरागात् तिलार्द्धं विमोक्तुं न चेच्छत्यसावेव सुज्ञैर्निषेव्यः॥
श्रीमद्गोविन्दपदारविन्दमकरन्दलुब्धचेतोभिः। गोविन्दभाष्यमेतत् पाठ्यं शपथोऽर्पितोऽन्येभ्यः॥
विद्यारूपं भूषणं मे प्रदाय ख्यातिं निन्ये तेन यो मामुदारः।
श्रीगोविन्दः स्वप्ननिर्दिष्टभाष्यो राधाबन्धुर्बन्धुराङ्गः स जीयात्॥

इति श्रीमद्गोविन्दभाष्ये ब्रह्मसूत्रव्याख्याने चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः।

॥ सम्पूर्णमिदं वेदान्तदर्शनम् ॥

यह है कि सत्यवाक्-सत्यसङ्कल्प-निजआश्रित-वात्सल्यसागर सर्वेश्वर श्रीहरि समस्त विषय परित्यागकारी निजभक्तों की निजवैमुख्यकरी अविद्या को निर्धूत कर अतिप्रिय-निजअंशरूप उनको अपने निकट में लाकर कभी परित्याग नहीं करते हैं। जीव भी सुख का अन्वेषण करता हुआ सुखाभास देख तुच्छ जड़ प्राकृतवस्तु में रज्यमान हो असंख्य जन्म अतिवाहित के पश्चात् भाग्यबल से सद्गुरुप्रसाद के वश निज-अंशी भगवान् के स्वरूपतत्व को अवगत करता है। इसके अनन्तर भगवान् से इतर सकल विषय में निस्पृह होकर भगवदनुवृत्ति के द्वारा परिशुद्ध हो उन अनन्त आनन्द चित्घनस्वरूप निजस्वामी को सुहृत्तम रूप से प्राप्त होकर फिर उनकी विच्युति नहीं चाहता है। यह सब शास्त्रों से जाना जाता है। अतएव शास्त्र का शरण लेकर उसी प्रकार अवस्थान करें। सूत्र की पुनरावृत्ति शास्त्र समाप्ति के द्योतन के लिये है ऐसा जानना चाहिए॥ २२ ॥

जो श्री अच्युत निजभक्तों को दुःखरूप पंक से उद्धार कर निज चित् सुख स्वरूप नित्यधाम में ले जाते हैं तथा जो निज भक्तों को तिलार्द्ध के लिये भी अनुराग वश परित्याग नहीं करते हैं वे भगवान् श्रीगोविन्द विद्वानों के उपास्य हैं॥

श्रीमद् गोविन्द पदारविन्द के मकरन्द में लुब्धचित्त वाले व्यक्तिगण इस गोविन्दभाष्य का पाठ करें। अन्य के लिये शपथ है कि वे इसका पाठ न करें॥

जो उदार पुरुषोत्तम मुझे विद्या रूप भूषण का प्रदान कर अर्थात् विद्याभूषण नाम से मेरी जगत् में जिन्होंने प्रसिद्धि की तथा स्वप्न में दर्शन देकर इस भाष्य का निर्देश किया है, वे राधापति त्रिभंगमनोहर श्रीगोविन्द जय युक्त होवें॥

॥ गोविन्दभाष्यानुवाद में चतुर्थ अध्याय का चतुर्थपाद समाप्त ॥

अनुवादक—कृष्णदास, कुसुमसरोवरवाले।

स्थान—मालसर [गुजरात] श्री सत्यनारायण जी के मन्दिर में भाद्रपद पूर्णिमा संवत् २०१० में इस गोविन्दभाष्य का अनुवाद समाप्त हुआ।

श्रीमद् गौरगोविन्दानन्द भागवतस्वामिपादस्य

मीमांसापत्रम्

मुख्येन सम्प्रदायित्वं सम्प्रदायविदां नये। सम्प्रदायिगुरोर्दीक्षा-मन्त्रग्रहणतो भवेत् ॥ १ ॥
शिष्टपरम्पराचार्य्योपदिष्ट-मार्गं एव हि। सम्प्रदाय इति ख्यातः सुधीभिः सम्प्रदायिभिः ॥ २ ॥
शिष्टत्वं नाम चाम्नाय-प्रामाण्याभ्युपगन्तृता। वेदानां विष्णुपारम्यात् शिष्टो वैष्णव उच्यते ॥ [illegible]
अतत्परस्परत्वेन वैष्णवत्वं न सिद्धयति। अवैष्णवोपदिष्टेनेत्यादि-शास्त्र-प्रकोपणात् ॥ ४ ॥
तस्मात् शिष्टानुशिष्टानां परम्परां रिरक्षिषुः। स्वनिःश्वसितवेदोऽपि गौरो माध्वमतं गतः ॥ ५ ॥
सर्वजगद्गुरुः श्रीमद्गौराङ्गो लोकशिक्षया। पुरीश्वरं गुरुं कृत्वा स्वीचक्रे सम्प्रदायकम् ॥ ६ ॥
कश्चिन्मतविशेषोऽपि निरस्तस्तत्त्ववादिनाम्। श्रीमद्गौराङ्गदेवेन सम्प्रदायस्य तेन किम् ॥ ७ ॥
सम्प्रदायैकदीक्षाणां मिथः किञ्चिन्मतान्तरात्। शाखाभेदो भवेन्मात्रं सम्प्रदायो न भिद्यते ॥ ८ ॥
रामानन्दी यथा रामानुजीयान्तर्गतो भवेत्। निम्बार्कसम्प्रदाये च हरिव्यासादयो यथा ॥ ९ ॥
गौडीयस्तत्त्ववादी च तथा माध्वमतं गतौ। नह्यत्र बाधकः कश्चित् दृश्यते तत्त्ववित्तमैः ॥ १० ॥
तुष्यत्विति मतेनापि सम्प्रदायविनिश्चये। स्वीकृतं साधकत्वेन चेत् साध्यादिविवेचनम्।
तथाप्यत्यन्तभेदो न श्रीगौरमाध्वयो र्मते ॥ ११ ॥
मध्वमते च या मुक्तिः साध्यत्वेन प्रकीर्त्तिता। विष्ण्वंघ्रि-प्राप्तिरूपा सा भाष्यकृद्भिः प्रदर्शिता ॥ १२ ॥
साधनं चार्पितं कर्म्म जीवाधिकारभेदतः। स्वीकृतमपि मध्वेन भक्तेः श्रैष्ठ्यं बहुस्तुतम् ॥ १३ ॥
प्रमाणं भारतं मात्रं मध्वमतेऽनृतं वचः। यत्तेन त्रिविधं प्रोक्तं मुख्यं शब्दप्रमाणकम् ॥ १४ ॥
श्रीमन्नर्त्तकगोपालसेवा येन प्रतिष्ठिता। इष्टत्वेन कथं तस्य निर्णीतो द्वारकापतिः ॥ १५ ॥
निश्चितो द्वारकाधीशो यद्यपि वा क्षतिः कुतः। यो नन्दनन्दनः कृष्ण स एव द्वारकापतिः ॥
स्वरूपयोर्द्वयोरैक्यं कृष्णत्वमविशेषतः ॥ १६ ॥
लीलाभिमान-भेदेन पूर्णतमश्च पूर्णकः। न तु स्वरूपतो भेदस्तयोरस्ति कथञ्चन ॥ १७ ॥
भेदाभेदमतं यच्चाचिन्त्याख्यं कीर्त्यते बुधैः। श्रीचैतन्यमताभिज्ञैः तच्च मध्वमतेङ्गितम् ॥ १८ ॥
जीवानां ब्रह्मवैजात्ये गुणांशत्वादभिन्नता। प्रतियोगित्वभेदत्वे चिन्मात्रत्वात्तदेकता ॥ १९ ॥
तद्व्याप्यत्व-तदायत्त-वृत्तिकत्वादि-हेतुतः। सामानाधिकरण्यञ्च गोस्वामिमध्वयोः समम् ॥ २० ॥
विचारमात्रनैपुण्यं शक्तिशक्तिमतोरिह। गौरकृपोद्भवोऽचिन्त्यवादो गोस्वामिभिः स्मृतः।
तत्त्वनिर्द्धारणे मुख्यः कारणवाद उच्यते ॥ २१ ॥
पराख्य-शक्तिमद्ब्रह्म निमित्तकारणं भवेत्। उपादानन्तु तद्ब्रह्म जीवप्रधान-शक्तियुक्।
इति कारणवादेऽपि ह्युभयोर्मतयोः समम् ॥ २२ ॥
श्रीगोविन्दाभिधं भाष्यं प्रमाणं यदि मन्यते। प्रमेयरत्नसिद्धान्त-निष्कृष्टा तत्समाहृतिः ॥ २३ ॥
वक्ति श्रीगौरसम्मतिं मध्वः प्राहेत्युपक्रमे। यदि वोपेक्ष्यते कैश्चित् तर्ह्यर्द्धकुक्कुटीनयः ॥ २४ ॥

* श्रीश्री गौडीयवैष्णवसाहित्ये श्रीहरिदासदासमहोदयेन धृतम् *

—: श्रीमाध्वगौडेश्वरगुरुपरम्परा :—

...ीमनाथ
|
...श्रीब्रह्मा
|
...—श्रीनारद
|
४—श्रीव्यास
|
५—श्रीमध्वाचार्य्य
|
६—श्रीपद्मनाभाचार्य्य
|
७—श्रीनरहरि
|
८—श्रीमाधव (द्विज)
|
९—श्रीअक्षोभ
|
१०—श्रीजयतीर्थ
|
११—श्रीज्ञानसिन्धु
|
१२—श्रीमहानिधि
|
१३—श्रीविद्यानिधि
|
१४—श्रीराजेन्द्र
|
१५—श्रीजयधर्म्ममुनि
|
१६—श्रीपुरुषोत्तम
|
१७—श्रीव्यासतीर्थ
|
१८—श्रीलक्ष्मीपति
|
१९—श्रीमाधवेन्द्रयति
|
श्रीईश्वरपुरी श्रीश्रीनित्यानन्दप्रभु श्रीअद्वैतप्रभु
|
श्रीमहाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यदेव — श्रीगौरीदासपण्डित
|
श्रीहृदयचैतन्य
|
श्रीश्यामानन्दप्रभु
|
श्रीरसिकानन्दमुरारि
|
श्रीनयनानन्दगोस्वामी
|
श्रीराधादामोदर पण्डित
|
गोविन्दभाष्यकार

—:श्रीगोविन्ददासः—

अथवा नामान्तर श्रीबलदेवविद्याभूषणजी

श्रीराधादिभिरात्मशक्तिनिकरैरुद्वीक्ष्यमाणेक्षणः
श्रीरूपादिमधुव्रताश्रितपदद्वन्द्वारविन्दासवः ।
गोविन्दः शरदिन्दुसुन्दरमुखः सद्रक्षणैकव्रती
पूर्णब्रह्मतयोदितः श्रुतिगणैः श्रीमान् स जीयात् प्रभुः ॥

(सूक्ष्मटीका)

देवकिनन्दन नन्दकुमार वृन्दावनाञ्चन गोकुलचन्द्र ।
कन्दफलाशन सुन्दररूप नन्दितगोकुल वन्दितपाद ॥
इन्द्रसुतावक नन्दकहस्त चन्दनचर्च्चित सुन्दरीनाथ ।
इन्दीवरोदर-दल-नयन मन्दरधारिन् गोविन्द वन्दे ॥

श्रीमध्वाचार्य्यविरचिते द्वादशस्तोत्रे ।

ॐ स्वयंभगवते श्रीश्रीमत्कृष्णचैतन्यचन्द्राय नमोनमः

गोविन्दभाष्याधिकरणमालिका

सूत्र	अधिकरण
१ ओं अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ···	जिज्ञासाधिकरणम् १
२ ओं जन्माद्यस्य यतः ···	जन्माद्यधिकरणम् २
३ ओं शास्त्रयोनित्वात् ···	शास्त्रयोनित्वाधिकरणम् ३
४ ओं तत्तुसमन्वयात् ···	समन्वयाधिकरणम् ४
५ ओं ईक्षतेर्नाशब्दम् ···	ईक्षत्यधिकरणम् ५
१२ ओंआनन्दमयोऽभ्यासात् ···	आनन्दमयाधिकरणम् ६
२० ओं अन्तस्तद्धर्म्मोपदेशात् ···	अन्तरधिकरणम् ७
२२ ओं आकाशस्तल्लिङ्गात् ···	अकाशाधिकरणम् ८
२३ ओं अतएवप्राणः ···	प्राणाधिकरणम् ९
२४ ओं ज्योतिश्चरणाभिधानात् ···	ज्योतिरधिकरणम् १०
२८ओंप्राणस्तथानुगमात् ···	इन्द्रप्रतर्दनाधिकरणम् ११

इति ब्रह्मसूत्रे प्रथमपादेऽधिकरणानि समाप्तानि ।

—

अथ ब्रह्मसूत्रे द्वितीयपादेऽधिकरणप्रधानसूत्राणि ।

★

सूत्र	अधिकरण
१ओंसर्वत्रप्रसिद्धोपदेशात् ···	सर्वत्रप्रसिद्धाधिकरणम् १
९ ओं अत्ताचराचरग्रहणात् ···	अत्ताधिकरणम् २
११ ओंगुहांप्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ···	गुहाधिकरणम् ३
१३ ओंअन्तर उपपत्तेः ···	अन्तराधिकरणम् ४
१८ ओंअन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्म्म व्यपदेशात्	अन्तर्याम्यधिकरणम्५
२१ओंअदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ···	अदृश्यत्वाधिकरणम्६
२५ ओं वैश्वानरसाधारण-शब्दविशेषात्	वैश्वानराधिकरणम् ७

इति ब्रह्मसूत्रे द्वितीयपादेऽधिकरणानि समाप्तानि ।

—

अथ ब्रह्मसूत्रे तृतीयपादेऽधिकरणप्रधानसूत्राणि ।

★

सूत्र	अधिकरण
१ ओं द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ···	द्युभ्वाद्यधिकरणम् १
८ ओं भूमासम्प्रसादादध्युपदेशात् ···	भूमाधिकरणम् २
१० ओं अक्षरमम्बरान्तधृतेः ···	अक्षराधिकरणम् ३
१३ ओंईक्षतिकर्म्मव्यपदेशात् ···	ईक्षतिक[illegible]
१४ ओं दहर उत्तरेभ्यः ···	दहराधिकर[illegible]
२४ ओं शब्दादेव प्रमितः ···	प्रमिताधिकरणम् [illegible]
२६ओंतदुपर्य्यपिबादरायणःसम्भवात् ···	देवताधिकरणम्७
३३ओंभावन्तुबादरायणोऽस्तिहि ···	देवाधिकाराधिकरणम्८ (भावाधिकरणमितिकेचित्)
३४ ओंशुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि	अपशूद्राधिकरणम् ९
३९ ओं कम्पनात् ···	कम्पनाधिकरणम् १०
४१ ओं आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्	अर्थान्तरत्वाधिकरणम् ११

इति ब्रह्मसूत्रे तृतीयपादेऽधिकरणानि समाप्तानि ।

—

अथ ब्रह्मसूत्रे चतुर्थपादेऽधिकरणप्रधानसूत्राणि ।

★

सूत्र	अधिकरण
१ ओंअनुमानिकमप्येकेषामितिचेन्नशरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च	आनुमानिकाधिकरणम् १
८ ओंचमसवदविशेषात् ···	चमसाधिकरणम् २
११ ओंनसंख्योपसंग्रहादपि-नानाभावादतिरेकाच्च	संख्योपसंग्रहाधिकरणम् ३
१४ ओंकारणत्वेनचाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः	कारणत्वाधिकरणम् ४
१६ ओंजगद्वाचित्वात् ···	जगद्वाचित्वाधिकरणम् ५
१९ ओंवाक्यान्वयात् ···	वाक्यान्वयाधिकरणम् ६
२३ ओंप्रकृतिश्च प्रतिज्ञा-दृष्टान्तानुपरोधात्	प्रकृत्याधिकरणम् ७
२८ओंएतेन सर्वे व्याख्याता-व्याख्याताः	सर्वव्याख्याताधिकरणम्८

इति ब्रह्मसूत्रे चतुर्थपादेऽधिकरणानि समाप्तानि ।

—

[illegible]ध्याये ब्रह्मसूत्रे प्रथमपादेऽधिकरण-प्रधानसूत्राणि

★

[illegible]काशदोषप्रसङ्ग इति चेन्ना-[illegible]वकाशदोषप्रसङ्गात् — स्मृत्यधिकरणम् १
[illegible]ोग: प्रत्युक्त: … योगप्रत्युक्त्यधिकरणम् २
[illegible]ओंनविलक्षणत्वादस्य तथात्वञ्च शब्दात् — विलक्षणत्वाधिकरणम् ३
१२ ओंएतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याता: — शिष्टापरिग्रहाधिकरणम् ४
१४ ओंतदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य: — आरम्भणाधिकरणम् ५
२१ ओंइतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्ति: — इतर व्यपदेशाधिकरणम् ६
२२ ओंअधिकन्तु भेदनिर्देशात् … अधिकाधिकरणम् ७
२७ ओंश्रुतेस्तुशब्दमूलत्वात् … शब्दमूलाधिकरणम् ८
३० ओंसर्वोपेताच तद्दर्शनात् … सर्वोपेताधिकरणम् ९
३१ ओंविकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् — विकरणत्वाधिकरणम् १०
३३ ओंलोकवत्तुलीलाकैवल्यम् — लीलाकैवल्याधिकरणम् ११
३४ ओंवैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति — वैषम्यनैर्घृण्याधिकरणम् १२
३५ ओं न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् — नकर्माविभागाधिकरणम् १३
३६ ओंउपपद्यते चाभ्युपलभ्यतेच — भक्तपक्षपाताधिकरणम् १४
३७ ओंसर्वधर्म्मोपपत्तेश्च … सर्वधर्म्मोपपत्त्यधिकरणम् १२

इति ब्रह्मसूत्रे प्रथमपादेऽधिकरणानि समाप्तानि ।

अथद्वितीयोऽध्याये ब्रह्मसूत्रे द्वितीयपादेऽधिकरण-प्रधानसूत्राणि

★

१ ओंरचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् — रचनानुपपत्त्यधिकरणम् १
११ ओंमहद्दीर्घवद्वाह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् — महद्दीर्घाधिकरणम् २
१८ ओंसमुदायउभयहेतुकेऽपि तदप्राप्ति: — समुदायाधिकरणम् ३
२८ ओंनाभाव उपलब्धे: … अभावाधिकरणम् ४
३२ ओंसर्वथानुपपत्तेश्च … सर्वथानुपपत्त्यधिकरणम् ५
३३ ओंनैकस्मिन्नसम्भवात् … एकस्मिन्नसम्भवाधिकरणम् ६
३७ ओंपत्युरसामञ्जस्यात् … पत्यधिकरणम् ७
४२ उत्पत्त्यसम्भवात् … उत्पत्त्यसम्भवाधिकरणम् ८

इति ब्रह्मसूत्रे द्वितीयपादेऽधिकरणानि समाप्तानि ।

अथ द्वितीयोऽध्याये ब्रह्मसूत्रे तृतीयपादेऽधिकरण-प्रधानसूत्राणि

★

१ ओं न वियदश्रुते: … वियदधिकरणम् १
२ ओंअस्ति तु … वियदुत्पत्त्यधिकरणम् २
५ ओंप्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्य: — प्रतिज्ञाहान्यधिकरणम् ३
७ ओंएतेन मातरिश्वाव्याख्यात: … मातरिश्वाधिकरणम् ४
८ ओंअसम्भवस्तु सतोऽनुपपते: … असम्भवाधिकरणम् ५
९ ओंतेजोऽतस्तथा ह्याह … तेजोऽधिकरणम् ६
१० ओं आप: … अबधिकरणम् ७
११ ओंपृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्य: — पृथिव्यधिकरणम् ७
१२ ओंतदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्स: — तदभिध्यानाधिकरणम् ९
१५ ओंचराचरव्यपाश्रयस्तुस्यात्तद्व्यपदेशोऽभाक्तस्तद्भावभावित्वात् — चराचरव्यपाश्रयाधिकरणम् १०
१६ ओंनात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्य: … आत्माधिकरणम् ११
१७ ओं ज्ञोऽतएव … ज्ञाधिकरणम् १२
१८ ओंउत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् — उत्क्रान्तिगत्यधिकरणम् १३
२६ ओं पृथगुपदेशात् … पृथगुपदेशाधिकरणम् १४
३० ओं नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमोवान्यथा — नित्योपलब्ध्यनपलब्धिप्रसङ्गाधिकरणम् १५
३१ ओं कर्त्ताशास्त्रार्थवत्त्वात् … कर्त्रधिकरणम् १६
४१ ओं अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके — अंशाधिकरणम् १७
४४ ओंप्रकाशादिवन्नैवंपर: … मत्स्याद्यधिकरणम् १८
४९ ओंअदृष्टानियमात् … अदृष्टानियमाधिकरणम् १९

इति ब्रह्मसूत्रे तृतीयपादेऽधिकरणानि समाप्तानि

अथ द्वितीयोऽध्याये ब्रह्मसूत्रे चतुर्थपादेऽधिकरण-प्रधानसूत्राणि

★

१ ओंतथा प्राणा: … प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् १
६ ओंहस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् … हस्तादयाधिकरणम् २
७ ओंअणवश्च … प्राणाणुत्त्वाधिकरणम् ३
८ ओंश्रेष्ठश्च … प्राणश्रेष्ठाधिकरणम् ४
९ ओं न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् … वायुक्रियाधिकरणम् ५
१० ओंचक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्य: — जीवोपकरणत्वाधिकरणम् ६
१२ ओंपञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते — पञ्चवृत्त्यधिकरणम् ७
१३ ओंअणुश्च … श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम् ८
१४ ओंज्योतिराद्यधिष्ठानन्तु तदामननात् — ज्योतिराद्यधिकरणम् ९
१७ ओंतइन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् — इन्द्रियाधिकरणम् १०
२० ओंसंज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तुत्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् — संज्ञामूर्त्तिक्लृप्त्यधिकरणम् ११

इति ब्रह्मसूत्रे चतुर्थपादेऽधिकरणानि समाप्तानि ।

अथ तृतीयोऽध्याये ब्रह्मसूत्रे प्रथमपादेऽधिकरण-प्रधानसूत्राणि

★

१ ओंतदनन्तरप्रतिपत्तौ रंहतिसम्परिष्वक्त: प्रश्ननिरूपणाभ्यां — तदनन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् १
८ ओंकृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्याम् — कृतात्ययाधिकरणम् २
१४ ओंसंयमनेत्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौतद्गतिदर्शनात् — [illegible]
२३ ओंतत्स्वाभाव्यापत्तिरुपपत्ते: — तत्स्वाभाव्याप[illegible]
२४ ओंनातिचिरेण विशेषात् … नातिचिरा[illegible]
२५ ओंअन्याधिष्ठितेपूर्ववदभिलापात् — अन्याधिष्ठित[illegible]

इति ब्रह्मसूत्रे प्रथमपादेऽधिकरणानि समाप्तानि ।

अथतृतीयोऽध्याये ब्रह्मसूत्रे द्वितीयपादेऽधिकरण-प्रधानसूत्राणि

★

१ ओंसन्ध्ये सृष्टिराहहि … सन्ध्याधिकरणम् १
४ ओंसूचकश्चहिश्रुतेराचक्षते चतद्विद: … स्वप्नाधिकरणम् २
६ ओंदेहयोगाद्वासोऽपि … देहयोगाधिकरणम् ३
७ ओंतदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च — तदभावाधिकरणम् ४
९ ओंस एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्य: — कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम् ५
१० ओंमुग्धेऽर्द्धसम्पत्ति: परिशेषात् … मुग्धाधिकरणम् ६
११ ओं न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि — उभयलिङ्गाधिकरणम् ७
१४ ओंअरूपवदेव तत्प्रधानत्वात् … अरूपवदाधिकरणम् ८
१८ ओंअतएवचोपमासूर्यकादिवत् … उपमाधिकरणम् ९
२३ ओंतदव्यक्तमाहहि … अव्यक्ताधिकरणम् १०
२४ ओंअपिसंराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् — संराधनाधिकरणम् ११
२८ ओंउभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् — अहिकुण्डलाधिकरणम् १२
३२ ओंपरमत: सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्य: — पराधिकरणम् १३
३५ ओंस्थानविशेषात् प्रकाशादिवत् — स्थानविशेषाधिकरणम् १४
३७ ओंतथान्यप्रतिषेधात् … अन्यप्रतिषेधाधिकरणम् १५
३८ ओंअनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्य: — सर्वगतत्वाधिकरणम् १६
३९ ओंफलमतउपपत्ते: … फलाधिकरणम् १७

इति ब्रह्मसूत्रे द्वितीयपादेऽधिकरणानि समाप्तानि ।

[illegible]ध्याये ब्रह्मसूत्रे तृतीयेपादेऽधिकरण-
प्रधानसूत्राणि

★

[illegible]वेदान्तप्रत्ययं [illegible]द्यविशेषात् — सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् १
[illegible]हारोऽर्थाभेदाद्वि-धिशे[illegible]वत्समाने च — उपसंहाराधिकरणम् २
[illegible] ओं नवाप्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वादिवत् — पराधिकरणम् ३
१० ओं व्याप्तेश्चसमञ्जसम् ··· व्याप्त्यधिकरणम् ४
११ ओं सर्वाभेदादन्यत्रेमे ··· सर्वभेदाधिकरणम् ५
१२ ओं आनन्दादयः प्रधानस्य ··· आनन्दाद्यधिकरणम् ६
१३ ओं प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरूपचयापचयौ हि भेदे — प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्त्यधिकरणम् ७
१६ ओं कार्य्याख्यानादपूर्वम् ··· अपूर्वाधिकरणम् ८
२० ओं समानएवञ्चाभेदात् ··· समानाधिकरणम् ९
२६ ओं वेधाद्यर्थभेदात् ··· वेधाद्यधिकरणम् १०
२७ ओं हानौतूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् — हान्यधिकरणम् ११
२९ ओंछन्दतउभयाविरोधात् ··· उभयाविरोधाधिकरणम् १२
३१ ओंउपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् — उपपन्नाधिकरणम् १३
३३ ओं अनियमः सर्वेषामविरोधाच्छब्दानुमानाभ्याम् — अनियमाधिकरणम् १४
३४ ओं अक्षरधियांत्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् — अक्षराध्यधिकरणम् १५
३६ ओंअन्तराभुतग्रामवत्स्वात्मनः ··· अन्तराधिकरणम् १६
३९ ओं सैवहिसत्यादयः ··· सत्याद्यधिकरणम् १७
४० ओं कामादीतरत्रतत्रचायतनादिभ्यः — कामाद्यधिकरणम् १८
४२ ओंतन्निर्द्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्ह्यप्रतिबन्धः फलम् — तन्निर्द्धारणानियमाधिकरणम् १९
४४ ओं प्रदानवदेव तदुक्तम् ··· प्रदानाधिकरणम् २०
४५ ओं लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धिबलीयस्तदपि — लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् २१
४६ ओं पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात् क्रियामानसवत् — पूर्वविकल्पाधिकरणम् २२
४८ ओं विद्यैव तु तन्निर्द्धारणात् ··· विद्याधिकरणम् २३
५१ ओं अनुबन्धादिभ्यः ··· अनुबन्धाद्यधिकरणम् २४
५२ ओं प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टिश्च तदुक्तम् — प्रज्ञान्तरपृथक्त्वाधिकरणम् २५
५४ ओं परेणचशब्दस्यताद्विध्यं भूयस्त्वात् त्वनुबन्धः — ताद्विध्याधिकरणम् २६
५५ ओं एकआत्मनः शरीरे भावात् — शरीरे भावाधिकरणम् २७
५६ ओं व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्नतूपलब्धिवत् — व्यतिरेकाधिकरणम् २८
५९ ओं भूम्नःक्रतुवत्ज्यायस्त्वं तथाहिदर्शयति — भूमिज्याधिकरणम् २९
६० ओंनानाशब्दादिभेदात् ··· नानाविद्योपासनाधिकरणम् ३०
६१ ओं विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ··· विकल्पाधिकरणम् ३१
६२ ओंकाम्यास्तुयथाकामंसमुच्चीयेरन्नवापूर्वहेत्वभावात् — काम्याधिकरणम् ३२
६३ ओंअङ्गेषुयथाश्रयभावः ··· आश्रयभावाधिकरणम् ३३

इति ब्रह्मसूत्रे तृतीयपादेऽधिकरणानि समाप्तानि

— —

अथ तृतीयोऽध्याये ब्रह्मसूत्रे चतुर्थपादेऽधिकरण-
प्रधानसूत्राणि

★

१ ओं पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः — पुरुषार्थाधिकरणम् १
८ ओं अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवंतद्दर्शनात् — अधिकाधिकरणम् २
१५ ओं कामकारेण चैके ··· कामकाराधिकरणम् ३
२६ ओं सर्वापेक्षाच यज्ञादिश्रुतिरश्ववत् — सर्वपेक्षाधिकरणम् ४
२८ ओं सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्ययेतद्दर्शनात् — सर्वान्नानुमत्यधिकरणम् ५
३२ ओंविहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ··· आश्रमकर्माधिकरणम् ६
३४ ओंसर्वथापितत्रवोभयलिङ्गात् ··· भगवद्धर्माधिकरणम् ७
३६ ओं अन्तराचापितुतद्दृष्टेः ··· विधुराधिकरणम् ८

३९ ओं अतस्त्वितरज्ज्यायोलिङ्गाच्च ··· ज्यायाधिकरणम् ९
४१ ओं नचाधिकारिकमपिपतनानुमानात्तदयोगात् — अधिकारिकाधिकरणम् १०
४४ ओं स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ··· स्वाम्यधिकरणम् ११
४७ ओंसहकार्य्यान्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् — सहकार्यान्तरविध्याधिकरणम् १२
४८ ओं कृत्स्नभावात् तु गृहिणोपसंहारः — गार्हस्थ्याधिकरणम् १३
५० ओं अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ··· अनाविष्काराधिकरणम् १४
५१ ओं ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् — ऐहिकाधिकरणम् १५
५२ ओं एवंमुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः — मुक्तिफलाधिकरणम् १६

इति ब्रह्मसूत्रे चतुर्थपादेऽधिकरणानि समाप्तानि।

——

अथ चतुर्थोऽध्याये ब्रह्मसूत्रे प्रथमपादेऽधिकरण-
प्रधानसूत्राणि

★

१ ओं आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ··· आवृत्त्यधिकरणम् १
३ ओं आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च — आत्मत्वोपासनाधिकरणम् २
४ ओं न प्रतीके न हि सः ··· प्रतीकाधिकरणम् ३
५ ओं ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ··· ब्रह्मदृष्ट्याधिकरणम् ४
६ ओं आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः — आदित्यादिमत्यधिकरणम् ५
७ ओं आसीनः सम्भवात् ··· आसीनाधिकरणम् ६
११ ओं यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ··· एकाग्रताधिकरणम् ७
१२ ओं आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम् — आप्रायणाधिकरणम् ८
१३ ओं तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् — तदधिगमाधिकरणम् ९
१४ ओंइतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ··· इतराधिकरणम् १०
१५ ओं अनारब्धकार्य्ये एव तु पूर्वे तदवधेः — अनारब्धाधिकरणम् ११
१६ ओं अग्निहोत्रादि तु तत्कार्य्यायैव तद्दर्शनात् — [illegible]
१७ ओं अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ··· निर[illegible]

इति ब्रह्मसूत्रे प्रथमपादेऽधिकरणानि समा[illegible]

——

अथ चतुर्थोऽध्याये ब्रह्मसूत्रे द्वितीयपादेऽ[illegible]
प्रधानसूत्राणि

★

१ ओं वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ··· वागधिकरणम् १
३ ओं तन्मनः प्राण उत्तरात् ··· मनोऽधिकरणम् २
४ ओं सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ··· अध्यक्षाधिकरणम् ३
५ ओं भूतेषु तच्छ्रुतेः ··· भूताधिकरणम् ४
७ ओं समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य — आसृत्युपक्रमाधिकरणम् ५
१५ ओं तानि परे तथाह्याह ··· वागादिलयाधिकरणम् ६
१६ ओं अविभागो वचनात् ··· अविभागाधिकरणम् ७
१७ ओं तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया — तदोकोऽधिकरणम् ८
१८ ओं रश्म्यनुसारी ··· रश्म्यधिकरणम् ९
२० ओं अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ··· दक्षिणायनाधिकरणम् १०

इति ब्रह्मसूत्रे चतुर्थपादेऽधिकरणानि समाप्तानि।

——

अथ ब्रह्मसूत्रे चतुर्थोऽध्याये तृतीयपादेऽधिकरण-
प्रधानसूत्राणि

★

१ ओंअर्च्चिरादिना तत्प्रथितेः ··· अर्च्चिराद्यधिकरणम् १
२ ओंवायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ··· वाय्वधिकरणम् २
३ ओंतडितोऽधिवरुणः सम्बन्धात् ··· वरुणाधिकरणम् ३
४ ओं आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् आतिवाहिकाधिकरणम् ४
६ ओं वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ··· वैद्युताधिकरणम् ५
७ ओं कार्य्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ··· कार्य्याधिकरणम् ६
१० ओं कार्य्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् — कार्य्यात्ययाधिकरणम् ७

विषया [illegible]म्बना- [illegible]ायण न मेघ[illegible] [illegible]बात्तत्क्रतुश्च	अप्रतीकालम्बनाधिकरणम् ८
[illegible]दर्शयति ···	विशेषाधिकरणम् ६

[illegible] सूत्रे चतुर्थपादेऽधिकरणानि समाप्तानि।

———

[illegible]थ [illegible]तुर्थोऽध्याये ब्रह्मसूत्रे चतुर्थपादेऽधिकरण-प्रधानसूत्राणि

★

१ ओं संपद्याविर्भावः स्वेनशब्दात्	संपद्याविर्भावाधिकरणम् १
२ ओं मुक्तः प्रतिज्ञानात् ···	मुक्ताधिकरणम् २
३ ओं आत्मा प्रकरणात् ···	आत्माधिकरणम् ३
४ ओंअविभागेन दृष्टत्वात्	अविभागेनदृष्टत्वाधिकरणम् ४
५ ओं ब्राह्मेणजैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ····	ब्राह्माधिकरणम् ५
८ ओं सङ्कल्पादेव तच्छ्रुतेः ···	सङ्कल्पाधिकरणम् ६
६ ओं अतएवचानन्याधिपतिः ··	अनन्याधिपत्यधिकरणम् ७
१३ओं तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ···	तन्वभावाधिकरणम् ८
१५ ओं प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति	प्रदीपाधिकरणम् ६
१७ ओं जगद्व्यापारवर्जं-प्रकरणादसन्निहितत्वात्	जगद्व्यापारवर्जाधिकरणम् १०
२२ ओं अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्	अनावृत्त्यधिकरणम् ११

इति ब्रह्मसूत्रे चतुर्थोऽध्याये चतुर्थपादेऽधिकरणानि समाप्तानि

— —

अथ ब्रह्मसूत्रपाठेऽध्यायसंख्या।

अथ तत्तदध्यायपादसूत्रसंख्या

अध्याये	१पादे	२पादे	३पादे	४पादे	अध्यायसंकलितानि
प्रथमे	३१	३३	४३	२८	१३५
द्वितीये	३७	४५	५१	२२	१५५
तृतीये	२८	४२	६८	५२	१६०
चतुर्थे	१६	२१	१६	२२	७८

अध्यायचतुष्के संकलितानि सूत्राणि ·· ५५८

तत्तदध्यायपादाधिकरणसंख्या

अध्याये	१पादे	२पादे	३पादे	४पादे	अध्यायसंकलितानि
प्रथमे	११	७	११	८	३७
द्वितीये	१५	८	१६	११	५३
तृतीये	६	१७	३३	१६	७२
चतुर्थे	१३	१०	६	११	४३

अध्यायचतुष्के संकलिततान्यधिकरणानि २०५

अध्यायचतुष्केऽधिकरणप्रधानसूत्राणि···२०५ गौणसूत्राणिच ३५३

अचिन्त्यभेदाभेदवादे अचिन्त्यसम्बन्धि प्रमाणानि

श्रीभागवते (३।३३।३) "अतर्क्यसहस्रशक्तिः"।

श्रीविष्णुपुराणे (१।३।१-२)

"निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः। कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते॥
शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः। यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः॥
भवन्ति तपसां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता॥"

टीकाकार श्रीधरपादेण—"अचिन्त्यं तर्कासहं यज्ज्ञानं कार्य्यान्यथानुपपत्तिप्रमाणकं तस्या गोचराः सन्ति। यद्वा अचिन्त्या भिन्नाभिन्नत्वादिविकल्पैश्चिन्तयितुमशक्याः केवलमर्थापत्तिज्ञानगोचराः सन्ति। यद्वा एवं योजना—सर्वेषां भावानां पावकस्योष्णता शक्तिवदचिन्त्यज्ञानगोचराः शक्तयः सन्त्येव। ब्रह्मणः पुनस्ताः स्वभावभूताः स्वरूपादभिन्नाः शक्तयः॥"

शारीरकभाष्ये—(२।१।२७) "लौकिकानामपि मणिमन्त्रौषधिप्रभृतीनां देश-कालनिमित्तवैचित्र्यवशाच्छक्तयो विरुद्धानेककार्य्यविषया दृश्यन्ते ता अपि तावन्नोपदेशमन्तरेण केवलेन तर्केणावगन्तुं शक्यन्ते। [illegible] सहाया एतद्विषया एतत् प्रयोजनाश्च शक्तय इति, किमुत अचिन्त्यप्रभावस्य ब्रह्मणो रूपं विना [illegible] पौराणिका—अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य [illegible]

([illegible])

गोविन्दानन्दकृतरत्नप्रभाटीकायां—"यदा लौकिकानां प्रत्यक्षदृष्टानामपि शक्तिरचिन्त्या, तदा [illegible]गम्यस्य ब्रह्मणः किमु वक्तव्यम्"।

लघुभागवतामृते—

"अतोऽचिन्त्यात्मशक्तिं तां मध्येकृत्यात्र दुर्घटः। कोन्वर्थः स्याद्विरुद्धोऽपि तथैवास्या ह्यचिन्त्यता।
सा च नानाविरुद्धानां कार्य्याणामाश्रयान्मता। श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् इति च ब्रह्मसूत्रकृत्"॥

मुण्डके—"बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च [illegible] सूक्ष्मतरं विभाति"।

माण्डूक्योपनिषदि—"अचिन्त्यः स आत्मा स विज्ञेयः"

कैवल्योपनिषदि—"हृत् पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम्। अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम्॥"(१।६) "अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः पश्याम्यचक्षुः स शृणोम्यकर्णः॥"(२।२१)

सुबालोपनिषदि—"अचिन्त्यरूपं दिव्यं सर्वेश्वरमचिन्त्यमशरीरं निहितं गुहायाममृतं विभ्राजमानमानन्दं तं पश्यन्ति विद्वांसः"॥ (८ ख०)

गीतायाम्—"सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्"॥ (८।६)

टीकाकार श्री[illegible]—"[illegible]चिन्त्यरूपम्।"

[illegible]"॥—"अत्र [illegible]त्वादिना तत्तत्समावेशाद्यनुपपत्तिश्च शक्तेरचिन्त्यत्वेनैव पराहता।"

लघुभागवतामृते—"एकत्वञ्च पृथक्त्वं च तथांशत्वमुतांशिता। तस्मिन्नेकत्र नायुक्तमचिन्त्या[illegible]शक्तितः"॥

चैतन्यचरितामृते—"एइ मत गीताते ह पुनः पुनः कय। सर्वदा ईश्वरतत्त्व अचिन्त्यशक्ति हय॥
आमि त जगते वसि, जगत् आमाते। ना आमि जगते वसि, न आमि जगते॥
अचिन्त्य ऐश्वर्य्य एइ जानिह आमार। एइ त गीतार अर्थ कैल परचार"॥ (५।८८।६०)

विरोधभञ्जिका—अचिन्त्यशक्तिः—

लघुभागवतामृते—"विरोधभञ्जिकाशक्तियुक्तस्य सच्चिदात्मनः। वर्त्तन्ते युगपद्धर्माः परस्परविरोधिनः"॥

अस्मिन् अचिन्त्यभेदाभेदविषये मध्वाचार्य्यचरणानां सम्मति अपि दृश्यते।

अचिन्त्यभेदाभेदसिद्धान्ते श्रीगोविन्दभाष्यकारस्य वचनानि।

१—इदमत्र तत्त्वं। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश इति श्रुतेस्त्रिशक्ति ब्रह्म। "विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा। अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते" इति स्मृतेश्च। तस्य निमित्तत्वमुपादानत्वञ्चाभिधीयते। तत्राद्यं पराख्यशक्तिमद्रूपेण द्वितीयन्तु तदन्यशक्तिद्वयद्वारैव॥ (अ०१।पा०४ सू०२६)

२—यथैकस्मिंश्चित्राम्बरे नीलपीतादयो गुणाः स्वस्वप्रदेशेष्वेव दृष्टा न तु ते व्यतिकीर्य्यन्ते यथा चैकस्मिन् देहिनि वाल्यादयो देहधर्म्मा देहे काणत्वादयः करणधर्म्माश्च करणगणे विज्ञायन्ते न त्वात्मनि। एवमपुमर्थविकारा ब्रह्मशक्तिधर्म्माः शक्तिगताः स्युर्नतु ब्रह्मणि शुद्धे प्रसज्येरन्निति॥अ०२। पा०१।सू० ६॥

३—लोके यथा दण्डिनः पुरुषाभेदेऽप्यस्ति दण्डपुरुषयोः स्वरूपतो भेदस्तथा शक्तिमतो ब्रह्मणः शक्त्यभेदेऽपि शक्तिब्रह्मणोः सोऽस्तीति न क्षतिः॥ अ० २। पा० १। सू० १३॥

... जीवप्रकृतिशक्तिमद् ब्रह्म जगदुपादानं तदात्मकमुपादेयञ्चेति सिद्धम्। एवं कार्य्यावस्थत्वे- विरया ... योगादप्रच्युतपूर्वावस्थञ्चावतिष्ठते ॥ "ओं नमो वासुदेवाय तस्मै भगवते सदा। व्यतिरिक्तं न येषु ... रिक्तोऽखिलस्य यः" इत्यादि स्मृतेः ॥ अ० २। पा० १। २० सूत्रे ॥

... कन्त्यवस्तुस्वभावस्य तदेकगम्यत्वात्। तत्र यथा कृत्स्नेन स्वरूपेण सृज्यन्ते स्वरूपांशेन वा व्यव- ... र्नावकाशस्तथां प्रकृतेऽपीति। तस्मात् यथाश्रुतमेव स्वीकार्य्यम् ॥ अ०२। पा०१।२८ सूत्रे ॥

... शक्तिविशिष्ट एव परमात्मा। कुतः तद्दर्शनात्। "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां य एकोऽवर्णो बहुधा ... योगात्" "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" इत्यादिश्रुतिषु तथा दर्शनात्। विष्णुशक्तिः पराः प्रोक्तेत्यादिका ... तस्तूक्ता। अचिन्त्याश्चैताः। अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिरात्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्तिरित्यादिस्मृतिभ्यः। तथा चाविचिन्त्यशक्तियोगाद् ब्रह्मणः कर्त्तृत्वं युज्यत एवेति। सत्यमित्यादिषु स्वरूपं परामृष्टम्। देवात्मेत्यादिषु तु तस्य शक्तय इति। तस्मात् शक्तिमदेव ब्रह्मस्वरूपम्। अ० २। पा० १। ३० सूत्रे।

७—"चतुर्णामेषां ब्रह्मशक्तित्वादेकं शक्तिमद् ब्रह्म त्यद्वैतवाक्येऽपि संगतिः"। (अस्य भाष्यस्य प्रारम्भे)

भाष्यपीठके—न खलु पराभ्युपगतनिर्व्विशेषचैतन्यमात्रवदत्र ब्रह्मस्वरूपं स्वीकुर्म्महे किन्तु स्वरूपशक्तिमदेव शक्तिश्च स्वरूपानतिरेकिण्यपि तद्विशेषतयावभासते अन्यथा तस्य शक्तिरिति व्यपदेशासिद्धेः ॥

तस्मादविचिन्त्यत्वमेव शरणमिति सन्तोष्टव्यम् ॥ विशेषस्त्ववश्यं स्वीकार्य्यः। स च भेद प्रतिनिधिर्भेदा-भावेऽपि भेदकार्य्यस्य धर्म्मधर्म्मिव्यवहारस्य सत्यादिशब्दापर्य्यायतायाश्च निर्व्वर्त्तकः। इतरथा सत्ता सती भेदो भिन्नः कालः सर्वदास्ति देशः सर्व्वत्रेत्यवाधितव्यवहारानुपपत्तिः ॥

प्रमेयरत्नावल्यां—(प्रथमप्रमेये)

अचिन्त्या शक्तिरस्तीशे योगशब्देन योच्यते। विरोधभञ्जिका सा स्यादिति तत्त्वविदां मतम् ॥१०॥
न भिन्ना धर्म्मिणो धर्म्मा भेदभानं विशेषतः। यस्मात्कालः सर्वदास्तीत्यादिधीर्विदुषामपि ॥११॥
विष्णोः स्युः शक्तयस्तिस्रस्तासु या कीर्त्तिता परा। सैव श्रीस्तदभिन्नेति प्राह शिष्यान् प्रभुर्महान् ॥१२॥

सिद्धान्तदर्पणे प्रथमप्रभायाम्—

स मूलं किल सर्वस्य न मूलं तस्य विद्यते। अचिन्त्यशक्तिसम्बन्धाद् वेदरूपो विभात्यसौ ॥ २० ॥

श्रीलविश्वनाथचक्रवर्त्तिना—सारार्थदर्शिन्याम्।

"चिद्रूपत्वेन शक्तिमत्वेन वा ऐक्यात् तयोर्भेदेऽप्यल्पमात्रः स्वल्पभेदो वर्तत एवेति भावः। अतस्ततः परमेश्वरादत्यन्तभिन्न एव जीव इति कल्पना अपार्था व्यर्था"।

तत्र—"तत्पदार्थवत्त्वम्पदार्थयोर्ज्ञानं सूर्य्योपमस्य भगवतो बाह्यप्रभोपमा जीवा अतएव ततो भिन्नत्वेनाभिन्नत्वेनापि व्यपदिश्यन्ते।"

चैतन्यचरितामृतटीकायाम्—

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास। कृष्णेर तटस्थाशक्ति भेदाभेदप्रकाश ॥
"भेदाभेद" व्यष्टिरूपेण भेदः समष्टिरूपेण अभेदः इत्यर्थः।

श्रीजीवचरणैः परमात्मसन्दर्भे—

"तस्मान्निर्विकारादिस्वभावेन सतोऽपि परमात्मनोऽचिन्त्यशक्त्यादिना परिणामादिकं भवति चिन्तामण्य-यस्कान्तादीनां सर्वार्थप्रसवलोहचालनादिवत् ॥"

विनीत—
कृष्णदास।

श्री श्रीपरमहंस माधवदास जी महाराज की
★ संक्षिप्त-जीवनी ★

इस संसार में शान्तपरायण, प्रभुप्रिय, सन्तगण बसन्त ऋतु की भाँति सर्वप्रकार से परोप... विचरण करते हैं तथा हजारों जीवों को प्रभु के प्रिय बना कर उन के साम्मुख्य पहुचाय देते हैं। वे ... सागर का पार कराने के लिये कर्णधार रूप होते हैं। हम यहाँ पर एक महान् सन्त पुरुष का संक्षिप्त जीवन च... प्रेमी सज्जनों के निकट उपस्थित करते हैं। जिन की सत्कीर्त्ति-पताका गुजरातदेश नर्म्मदा तट में फहर रही है। वे श्री परमहंस माधवदास जी महाराज हैं।

आपका जन्म बंगदेश कृष्णनगर तथा नवद्वीप के आस पास किसी एक ग्राम में आनुमानिक सम्वत् १८५६ में हुआ था। आप के पूर्वाश्रम का नाम श्रीयादव मुखोपाध्याय है। बाल्यकाल से ही आप ने पठन पाठन ... द्वारा समय बिताया तथा उस समय वे महान् शिक्षित करके प्रसिद्ध हुए। उनका हस्ताक्षर बहुत सुन्दर रहा। अँग्रेजीभाषा में भी उन का प्रचुर अधिकार रहा। कलिकत्ता के किसी मेसनरी स्कूल में उनकी अँग्रेजी शिक्षा हुई थी। विद्याध्ययन के समय उनकी साधन क्रिया (नित्यचर्य्या) इस प्रकार की थी-आप नित्य ब्रह्ममुहूर्त्त में उठकर स्नानादि कर प्रभु की प्रार्थना करते थे। साढे आठ से लेकर दश बजे तक शिक्षाभ्यास कर उस के उपरान्त स्कूल के लिये जाते थे। वे अपने मुख से अपनी उसी अवस्था के अभ्यस्त एक अंग्रेजी कविता सुनाते थे।

"छोटी अवस्था का समय ... जाना"। बाल्यकाल से ही उन का तीव्र वैराग्य दिखाई पड़ता था। विवाह के लिये माता पिता ने निश्चय किया ... से वह न हो सका। विवाह के लग्न आने का मुहूर्त्त में उन की माता का हठात् देहान्त हो गया। विवाह के लिये जो सब द्रव्य इकट्ठा किया गया था, उन सब द्रव्यों को माता का मृत्युसंस्कार में लगा दिया गया। उन का नित्यसिद्ध भक्तिबीज वैराग्य जल से सिञ्चित होकर अङ्कुरित होने लगा। प्रभु की इच्छा तो उन्हें संसार से निर्म्मुक्त कर परम भक्त बनाने की। उसे अन्यथा कौन कर सकता है। पिता ने पुनर्व्वार विवाह का आयोजन किया। परन्तु अब के बार भी ऐसा हुआ। हठात् पिता जी का भी वैकुण्ठ गमन हो गया। द्वितीय वार विवाह के उपलक्ष में जो द्रव्य इकट्ठे हुए थे, उन को भी पिता जी के मृत्यु संस्कार में लगाय दिये। उस समय उन्होंने विवाह न करने की भीष्मप्रतिज्ञा की। उन का वैराग्य जल तीव्रतारूप से उछल उठा। उस के उपरान्त उन को कुचविहार राज्य से पहले पुलिस विभाग में पश्चात् विचार विभाग में उच्च अधिकार पद मिला। उस विचार विभाग में भी ऐसा एक धर्म्मसंकट आ पड़ा, जिससे कि वे उच्च पदवी का त्याग कर अधिकन्तु संसाराश्रम छोड़ परमार्थ राज्य के पथिक बने। उस समय उन की उम्र लगभग ३३ वर्ष की थी। गृह त्याग कर नवद्वीप धाम के आस पास भ्रमण करते हुए घोड़ामारा पहुँचे तथा बाबा भक्तिचरणदास जी जो बड़े आखाड़ा के महन्त श्रीगोविन्ददास जी महाराज के शिष्य थे, उनके साथ साक्षात् हुआ। उनसे आप ने मन्त्रदीक्षा तथा वैष्णव वेष लिया। तब से वे माधवदास जी नाम से विख्यात हुए। वहाँ कुछ दिवस निवास कर उस के उपरान्त भ्रमण करते हुए श्रीनीलाचल में पहुँचे तथा वहाँ के आस पास प्रदेशों में घूमने लगे। उस समय उन का वैराग्य की तीव्रता दिखाई पड़ती थी। केवल एक ही वस्त्र में आप समय बिताते थे। भगवान् की बिरहदशा तथा उदासीनता उनके श्रीअङ्ग में छाय जाती थी। उस समय वे किसी के साथ आलाप नहीं करते थे तथा निरन्तर एकान्त में वास करने की चेष्टा रखते थे। गुजरातदेश में रहने के समय उन की अवस्था ८० वर्ष से अधिक थी। ३३ वर्ष की अवस्था में उन्होंने गृहत्याग किया। बीच में ४७ वर्ष का समय कहाँ किसी प्रकार

[illegible] पाङ्ग नहीं ज्ञात हो सकता है। वे अपने श्रीमुख से स्वयं कहते थे कि गृहत्याग के पश्चात् [illegible] समय आसाम-तिब्बत-हिमालय के प्रदेशों में भ्रमण कर योगसिद्धियाँ प्राप्त की। आप प्रेम- [illegible] साधक थे। तो भी हठयोग-मन्त्रयोगादि साधन में आप की परमसिद्धता रही। आप की अन्न- [illegible] भी थी। इन सब सिद्धियों की साधना में आप का विशेष परिश्रम नहीं उठाना पड़ता था। इस [illegible] बालब्रह्मचारी, त्याग-वैराग्य की मूर्त्ति, निरभिमानी, आसक्ति रहित तथा निरन्तर सेवापरायण [illegible] धीरता के साथ एक ही संग तीन कल्प अर्थात् ३६ वर्ष पर्य्यन्त सुदृढ़ योगचर्य्या में विताया था। [illegible] के पास कोलावा जिला में कनकेश्वर पहाड़ पर १२॥ वर्ष यावत् आप ने प्रेमयोग की साधना की। वहाँ [illegible] वे केवल निजहस्त से उत्पादित "लाल मिर्च" का भोजन कर शरीर धारण करते थे। वहाँ लता-पत्ताओं में कुञ्ज बनवाकर उस में निज सेवा विग्रह नटवर जी का स्थापन कर विविध भावमय भावना से सेवा करते थे। उन्होंने तीन बार चार धाम की पैदल यात्रा की। आप इस प्रकार साधुओं के साथ फिरते थे। जहाँ पर आप विराजमान हो जाते थे, वहाँ हजारों साधुओं का जमघट हो जाता था। वे अपनी योगसिद्धियों को सर्व्वदा गुप्त रखते थे क्योंकि आप स्वयं परम प्रेमी भक्त साधक हुए तथा उन सिद्धियों को भक्ति का बाधक, परम असार समझते थे। तो भी शरीर धारण में भोजन की भाँति जीवों के उपकार में उन का उपयोग करते थे। वे सब उपयोग व्याकुल हृदय वालों को सान्त्वना दे कर शीतल कराने में, क्षुधार्त्त दरिद्र नारायणों को भोजन-वस्त्रादि दान में, व्याधि पीड़ितों को स्वस्थ करा देने में प्रयोजित होते थे। एक बार आप ने जीवदया के आवेश में आकर इस प्रकार कहा था-"मैं क्या करूँ, मैं तो प्रभु के दास का दास हूँ। मेरे पास जो भी कुछ है उन्हें लेओ।"

आप ने कई बार मृत-प्राय व्यक्तियों को जीवन दान दिया, हजार-पाँच सौ साधुओं के साथ जमात रूप से उत्तर भारत में घूमने के समय जो दो एक घटना हुईं उन्हें कहते हैं—

१—एक समय कराँची में आप का जमात पड़ा हुआ था। साथ में हजारों सन्त रहें। एक धनी सेठ ने आकर महाराज से कहा—महाराज! आप इतने धन गृहस्थों से क्यों खींचते हैं। अपनी कुछ करामाती दिखाइये जिस से आप ही आप धन आ जायगा तथा सब का समाधान आप ही हो सकता है। महाराज ने उदार स्वभाव से कहा, अच्छा ऐसा ही होगा। सात दिवस व्यापी विशाल उत्सव हुआ। कराँची नगर के तथा आस पास के समस्त साधु-सन्त इकट्ठे हुए। अत्यन्त धूम-धाम के साथ उत्सव हुआ तथा साधु-सन्त और कराँची की समस्त जनता अवारित महाप्रसाद भोजन करने लगे। इतने पर भी भण्डार अटूट रहा। सब कोई आश्चर्य्यान्वित हुए, सेठ की भी नास्तिकता जाती रही।

२—कच्छ माँडवीबन्दर में किसी वणिकपुत्र की जल में डूब कर मृतप्राय अवस्था हो गई थी। वैद्यों की समस्त चेष्टा विफल हो गई। सेठ ने जाकर महाराज के चरण में गिर कर प्रार्थना की। महाराज ने "प्रभु इच्छा करेंगे तो जी सकता है" ऐसा कह कर अपने प्राण का विनिमय करते हुए जल छींटा देकर जीवन दान दिया। सब कोई विस्मित हुए। तब से वह बालक और उस के पिता-माता-कुटुम्ब-परिवार वैष्णव हो गये।

३—सिन्धदेश में किसी एक स्थान पर कलेक्टर साहिब की कोठी के पास एक विस्तृत मैदान में आप का जमात पड़ा था। साधुओं का उत्सव-कीर्त्तन-कोलाहल साहिब की स्त्री के लिये असह्य हो उठा। रात को मेरी निद्रा नहीं आती है ऐसा कह कर वहाँ से जमात को हटा दिया। जमात तो चल दिया, परन्तु कलेक्टर साहिब की स्त्री को कोई मारात्मक व्याधि हो गई। सब ने कलेक्टर से कहा—महाराज से आप का अपराध हो गया है। आप जाय कर उन से क्षमा माँगिये। साहिब ने महाराज के पास जाकर चरणों में गिर कर क्षमा प्रार्थना की। महाराज ने कहा—गोपाल जी की इच्छा। समस्त भूमि उन्हीं की है। तुम तो निमित्तमात्र हो। साधुओं का अ-

पमान तो हुआ ही है। करुणामय प्रभु अवश्य उस की क्षमा करेंगे। तुम घर जाओ। [illegible] अच्छी हो जायेगी। साहिब ने घर पर जाकर पत्नी को अच्छी हो जाने को देखा और [illegible]

(४) उस कलेक्टर साहिब की पत्नी का इस प्रकार संवाद पाकर असिष्टेंट कमिश्नर [illegible] आश्चर्य्य होकर परमहंस जी की महिमा जानने के लिये साधुरूप से गुप्तभाव में जमात में [illegible] उसे नूतन जान कर पकड़ लिया तथा बाँध कर रखा और प्रभात होने पर महाराज के [illegible] महाराज उस को पहिचान गये तथा छुड़वाय दिया। वह महाराज का बड़ा भक्त हुआ। बाद में [illegible] कष्टमखाता का कलेक्टर हुआ था।

इस प्रकार भ्रमण करते हुए नर्मदा के तट में चाँदोद नामक स्थान पर श्रीरामानुज सम्प्रदाय के [illegible] विष्णुदास जी के आश्रम में आये। उस समय आप अकेला रहे। उन के प्रेम से उन्हें कुछ दिवस [illegible] पड़ा तथा उन को किसी कारण से अन्नपूर्णा की सिद्धि दिखानी पड़ी। वहाँ कुछ सन्तों ने ईर्षा [illegible] साथ ७००-८०० साधुओं को भेज दिये। परन्तु भण्डार में केवल २०० साधुओं का भोजन आयोजित था। [illegible] इच्छा से समस्त साधुओं का समाधान हो गया। तो भी भण्डार अटूट रहा। अब वे इस प्रकार नर्म्मदा के [illegible] पर भ्रमण करते करते मालसर आये। वहाँ की "टेकरी" उन की परम प्रिय लगी। वहाँ आप ने आसन [illegible] उस समय उन की बाहिर की चेष्टा अवधूत की भाँति थी। वे ललाट में तिलक तथा समस्त बदन में गोपीचन्दन [illegible] का लेपन करते थे। हजारों तपस्वी सन्त-महन्त वहाँ इकट्ठे हो जाते थे, सन्त सेवा ही उन का प्रधान ध्येय [illegible] उच्छृङ्खल साधुओं को आप अपने प्रभाव के द्वारा कभी शासन करते थे। कभी वा प्रभु भजन में उन के चित्त को अभिनिवेश [illegible] आदर के साथ प्रचुर भोजनों से तृप्त कर प्रसन्न कराते थे। उन साधुओं को [illegible] नियुक्त कर देते थे। इस प्रकार साधुओं को अपने वश में रखते रहे। उन के सच्चरित्र-उदारमय जीवन के द्वारा वह स्थान परम महत्ता को प्राप्त हो गया तथा स्थान की प्रसिद्धि देश विदेश में सर्व्वत्र फैल गई।

परमहंस जी की सरलता अति अद्भुत थी। बालकों से लेकर वृद्ध पर्य्यन्त, पठित, अपठित, आस्तिक, नास्तिक, पापी, विषयी, प्रमादी, प्राचीन आधुनिक संस्कार प्राप्त व्यक्ति, सब को समान भाव में देखते थे तथा सब से मिलते थे। शाक्त-शैव-जैन-नास्तिक-ज्ञानी-कर्म्मी-धर्म्मी सब में उन का समान भाव था। वे उदारता की पराकाष्ठा में पहुँच गये थे। संसार में सब प्रकार के व्यक्ति, समस्त सम्प्रदाय के सन्त-महन्त उन का संग प्राप्त करने के लिये उत्सुक रहते थे। अन्न वस्त्रों के दान में उन का पात्रापात्र विचार नहीं था। जो कोई आर्त्त होकर उन के पास पहुँचते थे, वे उन को यथायोग्य अन्न-वस्त्र प्रदान के द्वारा सेवा करते थे। एक समय आनुमानिक सन् १९१७ में बम्बई में आप पधारे। माधवबाग में आप की स्थिति हुई। वहाँ हजारों अतिथियों को सम्मान मिला। किसी एक सेठ ने कहा-महाराज! सब को अन्न, वस्त्र देने का आवश्यक क्या है? उस से हजारों अकर्म्मी पैदा हो जावेंगे। आप ने उस के उत्तर में कहा-देखिये! अन्न-वस्त्र सेवा में पात्रापात्र का विचार नहीं किया जाता है। अन्न-वस्त्रों से अतिथियों की सेवा गृहस्थ तथा साधुओं का भी परम कर्त्तव्य है। कोई भी जीव यदि आर्त्त होकर आवेगा अर्थात् क्षुधा-पीड़ित-शीतपीड़ित होता हुआ आता है, तो भगवान ने उसे भेजा, ऐसा समझ कर उस की सेवा करना उचित है। जो कोई उन्हें उद्यमशून्य कह कर तिरस्कार करने को चाहते हैं, वे अज्ञ हैं क्योंकि यदि उन में शक्ति रहती तो वे माँगने को क्यों आते। सेठ जी! तुम निश्चय समझना कि जो कोई साधु-सन्त-भिखारी तुम्हारे पास आते हैं, वे सब भगवान् के द्वारा प्रेरित होकर तुम्हारी भक्ति परीक्षा के लिये आते हैं।

...ी प्रकार उन्होंने १६५६ सम्वत् में जब देशव्यापी महान् दुर्भिक्ष समय था, उस समय दरिद्र विश... ...पात्र अन्न वस्त्रों के द्वारा सेवा की। अन्नपूर्णा सिद्धि का चमत्कार तो कभी किसी का अभिमान नाश के न सेवक... ...समय आसा... थे। भगवत्परिचर्य्या में उन की स्वाभाविक भावना और अयाचित वृत्ति रही। प्रभु प्रेरणा से ... साधक थे। ...कुछ द्रव्य आ जाता था, उसे वे निःसंकोच होकर साधु सेवा में लगा देते थे। ब्राह्मण-सेवा, अतिथी-त... ...भी थी। ...ा के आश्रम, ठाकुर मन्दिर में अधिकांश द्रव्य लग जाता था। वहाँ आप ने अनेक साधुओं को ... बालब्रह्म... "साधुसुधारिणी" नामक सभा की स्थापना की। सन् १६०६ में उस का अधिवेशन हुआ था।

...श्रीरंग... मालसरग्राम नर्म्मदा के तट पर है। बि, बि, एण्ड, सि, आई रैलवे का मीआगाम जंकशन से मालसर ... के पा... ...यन्त गायकवाड लाईन का शेष स्टेशन है। पहले यह स्थान एक मैदान रूप था। अब वह नन्दनवन बन गया है। भगवान् के भक्तों का भक्तिकुञ्ज हो गया है। पहले उन्होंने वहाँ एक छोटे से मन्दिर में सत्यनारायण जी तथा "षड्भुजगौरांगमहाप्रभु" की स्थापना की। पश्चात् १६७५ सम्वत् में गौर कान्ति नटवर स्वरूप का विराजमान कराकर सेवा करने लगे। भ्रमणकाल में साथ में सेवा के लिये श्रीगोपीनाथ विग्रह रहा। उस समय विशालमन्दिर बना जो कि आज विराजमान है।

वह आश्रम परम मनोहर मानो नर्म्मदा महारागी का हास्यरूप हो रहा है। वहाँ दर्शनीय मन्दिर, आस पास की पुष्पवाटिका, सन्तनिवास, सज्जन गृहस्थों का निवासस्थान, गौशाला से स्थान अति शोभायमान है। "माधव-विजयपाठशाला" नामक संस्कृत विद्यालय है। परमहंस जी महाराज की वृहत्समाधि मन्दिर है। गौशाला "माधव गौशाला" नाम से ख्यात है।

वहाँ आस पास के लगभग तीन सौ ग्राम में आप का सेवकाना था। अभी भी मालसर अस्थान के अधीन में लगभग २०।२५ अस्थान मौजूद हैं। परमहंस जी महाराज का तिरोधान का समय सम्वत् १६७७ माघ वदी एकादशी गुरुवार है। उन्हीं के तिरोधान उत्सव के उपलक्ष में पञ्चमी से लेकर द्वादशी पर्य्यन्त सात दिवस विशाल महोत्सव होता है।

—❀—

महन्त श्रीनरसिंहदास जी महाराज—

बम्बई पञ्चमुखी हनुमान जी स्थान के आप वर्त्तमान श्री महन्त हैं। आप बड़े सरलस्वभाव के तथा अनन्य साधुसेवी हैं। चार सम्प्रदाय के सन्त महन्तों में आप का आदरणीय स्थान है। बम्बई सरीके वृहत् नगरी में इस समय सन्त-महन्तों की सेवा का एकमात्र स्थान पञ्चमुखी हनुमानजी स्थान है। माध्वगौड़ेश्वर सम्प्रदाय के साधुसेवी महन्तों में आप का प्रमुख स्थान है। आप रोगी-दुःखी साधुओं की दवा-पथ्यादि उपचारों से बड़ी प्रसन्नता के साथ सेवा में तत्पर रहते हैं। श्री १०८ गूदड़बाबा कृष्णदास जी के द्वारा उस अस्थान की स्थापना हुई थी। आप ने लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले "श्रीगोपालगुरुजी" वृन्दावन से बम्बई में पधार कर पञ्चमुखी-हनुमान जी की स्थापना की तथा अपने भजन और विद्वत्ता के प्रभाव से उस अस्थान को जाग्रत किया। आप का जन्म उत्कलदेश में था, आप माध्वगौड़ेश्वर सम्प्रदाय के उस समय अच्छे विद्वान् और भजनानन्दी साधु रहे।

—कृष्णदास।